समाजशास्त्र के सिद्धान्त

लेखक
विद्या भूषण, एम० ए०, पी-एच० डी
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग
राजकीय विद्यालय, हिसार

डी० आर० सचदेव, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (लंदन)
अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला

किताब महल
इलाहाबाद, दिल्ली, पटना, नागपुर

आमुख

यह पुस्तक अंग्रेजी भाषा में पूर्वप्रकाशित हमारी पुस्तक 'An Introduction to Sociology' का हिन्दी संस्करण है। परन्तु यह केवल अनुवाद मात्र नहीं है। पुस्तक की लिपि को मौलिक रूप दिया गया है तथा अनुवादित पुस्तकों की क्लिष्ट एवं सुसंस्कृत भाषा से बचकर चालू, परन्तु साहित्यिक भाषा का प्रयोग किया गया है। विषयों का चयन इस प्रकार से किया गया है कि समाजशास्त्र के सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर समुचित सामग्री छात्र वर्ग को प्राप्त हो सके। वैसे समाजशास्त्र पर हिन्दी भाषा में अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, परन्तु ये पुस्तकें किसी विश्वविद्यालय विशेष के द्वारा विभिन्न कक्षाओं के लिए निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई हैं। ऐसी कोई पुस्तक हिंदी भाषा में उपलब्ध नहीं है जिसमें समाजशास्त्र के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर भारतीय समाज के संदर्भ में सामग्री दी गई हो। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक एक अभाव की पूर्ति करती है।

लेखकों का ऐसा कोई दावा नहीं कि उन्होने समाजशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष में अपनी ओर से कोई कुछ नया जोड़ा है। उन्होने तो समाजशास्त्र के अनेकानेक ग्रंथों, रिपोर्टों एवं पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी सामग्री को एक जगह समेटा, व्यवस्थित किया और एक सुनिश्चित रूप दिया है। समाजशास्त्र के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध जो भी सामग्री उन्हें जहाँ भी मिल सकी है, उन्होंने प्राप्त की है और उसे इस पुस्तक के माध्यम से अपने पाठकों को सौंपा है। आशा है कि इस रूप में प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों एवं सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने वाले अभ्यर्थियों के लिए अवश्य ही उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध होगी।

—लेखक

विषय-सूची

प्रथम खण्ड : भूमिका

द्वितीय खण्ड : समाज

अध्याय पृष्ठ-संख्या

प्रथम खण्ड

भूमिका

[INTRODUCTORY]

"व्यक्तियों को सही सिद्धान्तों से अनुप्राणित कर देना, उन्हें अपने लक्ष्य एवं साधन बुद्धिमत्तापूर्वक चयित करने के योग्य बना देता है ताकि वे घोर निराशा की ओर ले जाने वाले मार्गों से बच सकें।"

(To imbue people with correct theories may make them choose their goals and means wisely so as to avoid the roads that end in terrific disappointment.)

—Arnold Brecht,

अध्याय १

समाजशास्त्र की परिभाषा एवं विषय-क्षेत्र

[DEFINITION AND SCOPE OF SOCIOLOGY]

'सोशियोलॉजी' (sociology) शब्द १८३९ में फ्रांसीसी विद्वान् आगस्ट काम्टे (Auguste Comte) द्वारा गढ़ा गया था। समाजशास्त्र का एक पृथक् विषय के रूप में अध्ययन संयुक्त राज्य अमेरिका में १८७६ में, फ्रांस में १८८९ में, ग्रेट ब्रिटेन में १९०७ में, पोलैण्ड एवं भारत में प्रथम महायुद्ध के बाद, मिस्र एवं मैक्सिको में १९२५ में तथा स्वीडन में १९४७ में आरम्भ हुआ।

१. समाजशास्त्र क्या है ?
(What is Sociology ?)

समाजशास्त्र अर्वाचीन सामाजिक विज्ञान है। 'सोशियोलॉजी' शब्द लैटिन शब्द 'सोसायटस' (societus) एवं यूनानी शब्द 'लोगस' (logos) को मिलाकर बना है। 'सोसायटस' का अर्थ है 'समाज' तथा 'लोगस' का अर्थ है 'अध्ययन' अथवा 'विज्ञान'। अतएव समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ 'समाज का विज्ञान' हुआ। प्रो० गिन्सबर्ग (Prof. Ginsberg) ने इसकी परिभाषा, 'समाज अर्थात् मानवीय अन्तः-क्रियाओं एवं अन्तःसम्बन्धों के ताने-बाने का अध्ययन' के रूप में की है।[1] दूसरे शब्दों में, समाजशास्त्र समूहों में मनुष्य के व्यवहार अथवा मनुष्यों के मध्य अन्तःक्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन है जिनके द्वारा मानव-समूह की गतिविधियाँ संचालित होती हैं।

समाजशास्त्र की आवश्यकता (Need for a science of sociology)

मानव-जीवन की विशिष्टतम विशेषता उसका सामाजिक स्वरूप है। जीवित रहने के लिये सभी मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ अन्तःक्रिया करते हैं। महान् यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कहा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है"। उसका स्वभाव और आवश्यकताएँ दोनों ही उसे समाज में रहने के लिये प्रेरित करते हैं। समाज में मनुष्य का व्यवहार दो शक्तियों, भौतिक एवं सामाजिक, द्वारा निर्धारित होता है। मनुष्य अनादि काल से ही इन शक्तियों को समझने एवं नियंत्रित करने का प्रयत्न करता आया है। यह स्वाभाविक ही था कि मनुष्य ने सामाजिक घटनाओं की अपेक्षा प्राकृतिक घटनाओं को समझने तथा उन पर नियंत्रण पाने का प्रयत्न प्रारम्भ में ही किया जिसमें उसे सफलता भी मिली, क्योंकि प्राकृतिक घटनाएँ स्थूल थी और वह

1. "...the study of society, that is, of the web or tissue of human inter-actions and inter-relations." —Ginsberg, *The Study of Society*, p. 436.

उन्हे एक निष्पक्ष दर्शक के रूप मे अच्छी प्रकार देख और परख सकता था। फिर भी मानव प्राचीन काल से ही अपने सामाजिक पर्यावरण का पर्यवेक्षण एवं उससे उत्पन्न समस्याओं को समझने का प्रयत्न करता रहा है। परन्तु इन प्रारम्भिक चरणों मे मानव ने समाज का नही, अपितु समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जिससे विभिन्न सामाजिक विज्ञानों, यथा इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, मानवविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का जन्म हुआ। यद्यपि मोटे तौर पर ये सभी सामाजिक विज्ञान सामाजिक घटना-वस्तु का वर्णन करने के कारण परस्पर-संबंधित तथा अन्योन्याश्रित हैं, तथापि प्रत्येक विज्ञान मानव-आचरण के किसी विशिष्ट पक्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखकर उस पक्ष का विशेषीकृत अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, इतिहास मानव से संबंधित असाधारण घटनाओं का लेख है; अर्थशास्त्र धन के उत्पादन एवं उपभोग से संबंधित गतिविधियों का वर्णन करता है; राजनीतिविज्ञान राजनीतिक गतिविधियो एवं संस्थाओ का वर्णन करता है; मानव-विज्ञान आदिम युग में मानवीय संस्थाओ एवं क्रियाओं का अध्ययम है; मनोविज्ञान मानव-आचरण के स्रोतों, उन भावनाओं एवं उद्देश्यों का जो मानसिक एवं शारीरिक क्रिया को प्रभावित करते हैं, का अध्ययन करता है। ये सामाजिक विज्ञान विभिन्न दृष्टिकोणो से समाज का एकागी चित्र ही हमारे सामने रखते हैं, परन्तु उसकी व्यापक पूर्णता एवं उपयोगिता का समग्र चित्र प्रस्तुत नही करते। अतः एक ऐसे सामान्य विज्ञान की आवश्यकता को महसूस किया गया जो समाज का उसके समग्र रूप में अध्ययन करे। इसी हेतु समाजशास्त्र का निर्माण हुआ। इस प्रकार समाजशास्त्र का उदय उस समय हुआ जब यह महसूस किया गया कि मानव-ज्ञान की अन्य शाखाएँ मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का पूर्ण चित्र प्रस्तुत नही करती।

एक ओर, समाजशास्त्र संश्लिष्टात्मक (synthetic) अनुशासन है जो विभिन्न अनुशासनों के निष्कर्षों को केन्द्रीय दृष्टिकोण से संगृहीत करने का प्रयत्न करता है; दूसरी ओर, यह एक विश्लिष्टात्मक एवं विशेषीकृत विज्ञान है, जिसमें शोध का अपना अलग क्षेत्र है। समाजशास्त्र अनिवार्यतः और मूलतः सामाजिक सम्बन्धों के उस ताने-बाने, जिसे समाज कहते हैं, से संबंधित है। कोई अन्य विज्ञान इस विषय को अपने अध्ययन का मूल विषय नही बनाता। समाजशास्त्री के रूप में, हम सामाजिक सम्बन्धों में केवल इसीलिए रुचि नहीं रखते कि वे आर्थिक अथवा धार्मिक हैं, अपितु इसीलिए रखते हैं कि वे सामाजिक हैं। समाजशास्त्र का केन्द्रबिंदु सामाजिकता (socialness) है। हमें यह भी जान लेना चाहिये कि समाज का अध्ययन करते समय हम समाज मे घटित हो रही प्रत्येक बात का अध्ययन नहीं करते, क्योंकि इसमें तो सभी मानवीय क्रियाओं एवं ज्ञान का समावेश हो जायगा। उदाहरणार्थ, हम धर्म का धर्म के, कला का कला के अथवा राज्य का राज्य के रूप में अध्ययन नही करते, अपितु इनका अध्ययन उन शक्तियो के रूप में करते है जो सामाजिक सम्बन्धो को बनाये एवं नियंत्रित रखती हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र की इन सब समस्याओं मे रुचि हो सकती है, परन्तु ये मूलतः इसके अध्ययन का विषय हैं। मूल रूप मे इसके अध्ययन का विषय मनुष्य का दूसरे मनुष्यों के साथ है। यह अपना ध्यान उन सम्बन्धों की ओर केन्द्रित रखता है जो निश्चित

रूप से सामाजिक हैं और यही तथ्य इसे अन्य सामाजिक विज्ञानों से विलग रूप प्रदान करता है, चाहे इसका उनके साथ कितना निकटवर्ती सम्बन्ध क्यों न हो। सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र का प्रमुख विषय है।

समाजशास्त्र की परिभाषाएँ (Definitions of sociology)

समाजशास्त्र क्या है ? इस प्रश्न को पूर्ण रूप से समझने के लिये यह उचित होगा कि प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई कुछ परिभाषाओं का अवलोकन किया जाय। कुछेक प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) 'समाजशास्त्र सामाजिक घटना, वस्तु अथवा समाज का विज्ञान है।'[1]
—एल० एफ० वार्ड

(ii) 'समाजशास्त्र की विषय-वस्तु मानवीय मस्तिष्कों की अन्तःक्रिया है।'[2]
—एल० टी० हाबहाउस

(iii) 'समाजशास्त्र मानवीय अन्तःक्रियाओं एवं अन्तःसम्बन्धों, उनकी दशाओं एवं परिणामों का अध्ययन है।'[3]
—गिन्सबर्ग

(iv) 'समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक समूहों, उनके आन्तरिक रूपों अथवा संगठन की विधियों, उन प्रक्रियाओं का, जो संगठन के इन रूपों एवं समूहों के मध्य सम्बन्धों को स्थिर या परिवर्तित करती हैं, वर्णन करता है।'
—जानसन, एच० एम०

(v) 'समाजशास्त्र एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान है जो मनुष्यों के परस्पर व्यवहार, सामाजिक मेल-जोल की प्रक्रियाओं, मेल-मिलाप एवं पृथकत्व को अध्ययन का केन्द्र मानता है।'
—वॉन वीज

(vi) 'समाजशास्त्र मनुष्यों एवं मानवीय पर्यावरण के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन है।'
—एच० पी० फेयरचाइल्ड

(vii) 'समाजशास्त्र मानवीय सम्बन्धों के बारे में वैज्ञानिक ज्ञानपुंज है।'
—जे० एफ० क्यूबर

(viii) 'समाजशास्त्र समाज-सम्बन्धी ज्ञान का समुच्चय है। इसमें समाज को उच्चतर बनाने के ढंगों का वर्णन होता है। यह सामाजिक नीतिशास्त्र, सामाजिक दर्शनशास्त्र है, परन्तु इसे सामान्यतया समाज का विज्ञान कहा जाता है।'
—डब्ल्यू० एफ० आगबर्न

---

1. 'Sociology is the science of society or social phenomena.'—L. F. Ward.

2. 'The subject-matter of sociology is the inter-action of human minds.' —L. T. Hobhouse.

3. 'Sociology is the study of human inter-actions and interrelations, their conditions and consequences.'—M. Ginsberg.

(ix) 'समाजशास्त्र मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। यह उन नियमों को जानने का प्रयत्न करता है जो मानव-व्यवहार को प्रभावित करते हैं, इसलिए नहीं कि ये उसके सुबोध व्यक्तिगत अस्तित्व का परिचय देते हैं, अपितु इसलिए कि ये मनुष्य के द्वारा समूह बनाये जाने तथा ऐसे समूहों के कारण अन्तः-सम्बन्धों पर प्रभाव डालते हैं।' —सिमस

(x) 'समाजशास्त्र सामूहिक व्यवहार का विज्ञान है।' —पार्क एवं बर्गेस

(xi) 'सामान्य समाजविज्ञान मनुष्यों के इकट्ठा रहने का सिद्धान्त है।' —टानी

(xii) 'समाजशास्त्र वैज्ञानिक विधि द्वारा प्राप्त मानव के सामाजिक व्यवहारों से सम्बन्धित सामान्यीकरण का अध्ययन है।' —सुंडबर्ग आदि

(xiii) 'विस्तृत अर्थ में समाजशास्त्र जीवित प्राणियों के सामुदायिक जीवन से उत्पन्न अन्त.क्रियाओं का अध्ययन है।' —गिलिन एवं गिलिन

(xiv) 'समाजशास्त्र समूहों में मनुष्य के व्यवहार का वर्णन करता है।' —यंग

(xv) 'समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का अर्थपूर्ण बोध कराने का प्रयत्न करता है।' —मैक्स वेबर

(xvi) 'समाजशास्त्र उन विधियों का अध्ययन है जिनमें सामाजिक अनुभव अन्तवैयक्तिक प्रेरणा द्वारा मनुष्यों को विकसित होने, प्रबुद्ध होने एवं दबाने में कार्य करते हैं।' —बोगार्डस

(xvii) 'समाजशास्त्र सामाजिक जीवन की संरचना का वैज्ञानिक अध्ययन है।' —यंग एवं मैक

(xviii) 'समाजशास्त्र उस सामग्री के अपरिपक्व पुंज का, जो हमें समाज का ज्ञान कराता है, नाम है।' —आर्थर फेयरचैल्ड

(xix) 'समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो का समन्वयात्मक एवं सामान्यीकृत विज्ञान है।' —आर्नाल्ड ग्रीन

(xx) 'समाजशास्त्र मानव-समाज के संरचनात्मक स्वरूपों से सम्बन्धित वर्णनात्मक एवं विश्लिष्टात्मक अनुशासन है।' —जी० डंकन मिचैल

(xxi) 'समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों, उनके प्रकारों, विभिन्नता, उनको प्रभावित करने वाले तत्वो एवं उनसे प्रभावित व्यवहार का वैज्ञा- निक अध्ययन है।' —टी० एबैल

(xxii) 'समाजशास्त्र सामाजिक जीवन की संरचना एवं उसके कार्यों का विज्ञान है।' —जान डब्लू० बीनेट

(xxiii) 'समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्ररूपों एवं अनेक प्रकार के अन्तःसम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।'

—पी० ए० सोरोकिन

(xxiv) 'समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्व का विज्ञान है।' —दुर्खीम

(xxv) 'समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है।'

—गिडिंग्स

उपर्युक्त परिभाषाओ के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र की परिभाषा के बारे में समाजशास्त्रियों ने विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये हैं। ये दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं—

(i) समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।
(ii) समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान है।
(iii) समाजशास्त्र समूहों में मानव-व्यवहार का अध्ययन है।
(iv) समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया का अध्ययन है।
(v) समाजशास्त्र मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन है।
(vi) समाजशास्त्र सामाजिक समूहों अथवा सामाजिक व्यवस्था (social *system*) *का अध्ययन है।*

इन सभी दृष्टिकोणों मे यह विचार सामान्य रूप से निहित है कि समाजशास्त्र का सम्बन्ध मानवीय सम्बन्धों से है। इसकी विषय-वस्तु व्यक्ति नही, अपितु समाज है, यद्यपि व्यक्ति को समाज के वर्णन में भुलाया नही जा सकता।

२. समाजशास्त्र के विज्ञान का विकास
(Development of the Science of Sociology)

समाजशास्त्र—एक अर्वाचीन विज्ञान (Sociology—a science of recent origin)—एक विज्ञान के रूप मे और विशेषतया अध्ययन के पृथक् विषय के रूप में समाजशास्त्र का जन्म हाल ही में हुआ है। मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, 'विज्ञान-परिवार में पृथक् नाम तथा स्थान सहित क्रमबद्ध ज्ञान की प्रायः सुनिश्चित शाखा के रूप में समाजशास्त्र को शताब्दियों पुराना नहीं, बल्कि दशाब्दियों पुराना माना जाना चाहिए।' अधिक स्पष्टतया १८३७ में फ्रांसीसी दार्शनिक व समाजशास्त्री आगस्त काम्टे (Auguste Comte) ने 'समाजशास्त्र' शब्द को जन्म दिया और समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र और इसके अध्ययन की प्रणाली निर्धारित की। इसी कारण काम्टे को 'समाजशास्त्र का जन्मदाता' माना जाता है। उसने मानव-समाज की प्रकृति और उसके जन्म तथा विकास के नियमों तथा सिद्धान्तों की खोज करने के लिए कठिन परिश्रम किया। उसने अपनी प्रमुख रचना विध्यात्मक दर्शनशास्त्र (Cours de Philosophic—Positive Philosophy) में एक पृथक् सामाजिक शास्त्र के निर्माण की आवश्यकता की ओर संकेत किया है जो सामाजिक घटनाओं

की व्याख्या एवं विश्लेषण करे। पहले उसने इसे 'सामाजिक भौतिकशास्त्र' (social physics) और बाद में 'समाजशास्त्र' नाम दिया। काम्टे और उनके समय के दूसरे सामाजिक चिन्तकों के अनुसार तमाम सामाजिक बुराइयों का मूल समाज-सम्बन्धी अज्ञान है और उसका विश्वास था कि उस समय प्राकृतिक विज्ञानों में अत्यधिक लाभकारी सिद्ध हो रही वैज्ञानिक विधि से प्राप्त किया हुआ समाज-सम्बन्धी ज्ञान एक अच्छे समाज के विकास को सम्भव बना देगा। उन्होंने भविष्यवाणी की कि ज्योंही मानव एक सामाजिक विज्ञान का विकास कर लेगा, त्योंही वह अपने सामाजिक भाग्य का स्वामी बन जायगा।

यूनानी (The Greeks)—यद्यपि यह सत्य है कि जिस रूप मे समाजशास्त्र आज हमारे सामने है, वह रूप उसे आज से कुछ समय पहले ही मिला है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सन् १८३७ के पहले मानवीय सम्बन्धों या मानवीय व्यवहारो की व्याख्या करने का कोई प्रयत्न ही नही किया गया था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सामाजिक घटनाओं को समझने का प्रयत्न बहुत प्राचीन काल से किया जाता रहा है, परन्तु वह प्रयत्न आनुमानिक अधिक और वैज्ञानिक कम था।

सामाजिक जीवन के बारे में सुव्यवस्थित ढंग से सोचने का प्रथम प्रयास यूरोप में यूनानी दार्शनिक प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) और उसके बाद उसके शिष्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) ने किया। प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic) में नगरीय समुदाय के सभी पहलुओं का विश्लेषण किया गया है और अरस्तू की 'एथिक्स' (Ethics) और 'पॉलिटिक्स' (Politics) पुस्तकों में कानून, समाज और राज्य के व्यवस्थित अध्ययन का प्रथम मुख्य प्रयास दिखाई पड़ता है। परन्तु यूनानी दार्शनिकों के दृष्टिकोण में एक त्रुटि यह थी कि उन्होंने राज्य से पृथक् समुदाय (community) की कल्पना नहीं की, अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन को उन्होंने राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत मान लिया था। इसके अतिरिक्त, यद्यपि अरस्तू ने सामाजिक सम्बन्धों के प्रति अपने गुरु प्लेटो की अपेक्षा अधिक वास्तविक दृष्टिकोण अपनाया, परन्तु उनकी खोजों मे एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का ही रूप अंकित मिलता है। उन्होंने अपनी बुद्धि का प्रयोग एक आदर्श की सृष्टि में किया, सामाजिक जीवन के कारण को ढूँढने मे नही। क्योंकि वे अपनी सामाजिक विधियों का खण्डन या मण्डन करते थे, इसलिए उनकी सामाजिक जीवन-सम्बन्धी तथ्यों की व्याख्या पक्षपातपूर्ण थी। प्लेटो ने सामाजिक संगठन की जटिलता (complexity) का बहुत अधिक निम्न अनुमान लगाया। उसकी योजना में, प्रत्येक वस्तु सुनियोजित थी, परन्तु सामाजिक जीवन में कुछ भी योजनानुसार घटित नहीं होता है। अरस्तू का दर्शन क्योंकि यथावत् (status quo) का पक्षपाती था, इसलिए इसका रूप नितान्त रूढ़िवादी था। समाज के प्राकृतिक आधार को सिद्ध करने के लिए अरस्तू ने जो एकमात्र तर्क उपस्थित किया, वह समाज का अस्तित्व था। उसने समाज की व्यवस्था स्वयं इसके रूप में की।

रोम-निवासी (The Romans)—रोम के लेखकों मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिसरो (Cicero) है, जिसने अपनी 'De Officus' के माध्यम से यूरोप के लिए दर्शनशास्त्र, राजनीति, कानून तथा समाजशास्त्र सम्बन्धी यूनानी ज्ञान-भाण्डार के

द्वार खोल दिये। परन्तु रोम-निवासी यूरोप को मुख्यत कानून-सम्बन्धी ज्ञान देने में ही व्यस्त रहे, अतः वे कानून के अतिरिक्त समाज के गैर-कानूनी पक्षों की ओर अधिक ध्यान नही दे पाये। यहाँ तक कि वे राज्य और समाज के बीच अन्तर भी स्पष्ट नही कर पाये। उन्होने किसी मूल सामाजिक दर्शन की रचना नहीं की।

वितण्डावादी (The Scholastics)—इसके पश्चात् का काल वितण्डावादी विचारधारा से प्रभावित और अनुप्राणित था। वितण्डावादियो ने बिब्लिकल (biblical) मान्यता को स्थापित किया कि मानव भगवान् की विशिष्ट रचना है। यह ईश्वर के नियमों के अतिरिक्त अन्य किन्ही नियमो से आबद्ध नही है। पादरी लोग उस ईश्वर के पार्थिव प्रतिनिधि हैं, जिन्हें उस ईश्वर ने अपने कानून की व्याख्या करने और अपनी इच्छा को क्रियान्वित करने का अधिकार दे रखा है। उस समय का सामाजिक विधान ईश्वर-स्वीकृत विधान था। जो उसे परिवर्तित करने की बात सोचता था, उसे काफिर माना जाता था। ज्ञानवादी दर्शन रूढ़िवादी दर्शन था और इसने सामाजिक मान्यताओं को धार्मिक व्यवस्था प्रदान की थी। वितण्डावादियों की यह मान्यता कि मनुष्य समाज को परिवर्तित नही कर सकता, झूठी सिद्ध कर दी गई है, क्योंकि मानव निरन्तर अपने समाज को परिवर्तित करते रहे हैं।

आधुनिक (The Moderns)—सोलहवीं शताब्दी में राज्य तथा समाज का अन्तर स्पष्ट किया गया। लेखकों ने जीवन की समस्याओं को अधिक यथार्थ स्तर पर समझा। इनमें सबसे प्रसिद्ध हाब्स (Hobbes) और मैकियावेली (Machiavelli) थे। मैकियावेली की पुस्तक 'दी प्रिंस' (The Prince) राज्य तथा राज्य-मर्मज्ञता का एक यथातथ्य अध्ययन है और उसमे मुख्यत: राज्य को सफलतापूर्वक चलाने के सिद्धान्तों का वर्णन है; इन सिद्धान्तों को उसने ऐतिहासिक आँकड़ों के आधार पर निर्मित किया था। सर थामस मूर (Sir Thomas More) इस युग का एक अन्य प्रसिद्ध लेखक था, जिसने सन् १५१५ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'यूटोपिया' (Utopia) में, एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का चित्रण और दैनिक जीवन की सामाजिक समस्याओं का वर्णन किया है। वास्तविक जीवन कैसा होना चाहिए, इस बात को बताने के लिए मूर ने जिस शैली में आदर्श जीवन का चित्रण किया है, उस शैली का अनुकरण अन्य लेखकों ने भी अपनी पुस्तकों में किया, जैसे थामस कैम्पेवेला (Thomas Campavella) ने अपनी पुस्तक 'सिटी आफ दी सन' (City of the Sun), सर फ्रंसिस बेकन (Francis Bacon) ने अपनी पुस्तक 'न्यू एटलाण्टिस' (New Atlantis) और जेम्स हैरिंग्टन (James Harrington) ने अपनी पुस्तक 'दी कामनवैल्थ आफ नेशन्स' (The Commonwealth of Nations) में।

सामाजिक घटना-वस्तु की वैज्ञानिक खोज की दिशा में अपनी महत्वपूर्ण देन के लिए इटली के लेखक विको (Vico) और फ्रांसीसी लेखक मांटेस्क्यू विशेष उल्लेखनीय हैं। विको ने अपनी पुस्तक 'दि न्यू साइन्स' (The New Science) में कहा है कि समाज कुछ निश्चित कानूनों या नियमों के अधीन होता है। इन कानूनों को यथातथ्य निरीक्षण तथा परीक्षण द्वारा ही समझा जा सकता है। मांटेस्क्यू ने अपनी विख्यात पुस्तक 'दि स्पिरिट आफ लाज' (The Spirit of Laws) में इस

बात का विश्लेषण किया है कि बाह्य तत्व, विशेषतया जलवायु, मानव-समाज के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। मान्टेस्क्यू के अनुसार, "कानून राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक है और उनसे जिस भावना का पता लगता है, उसकी व्याख्या उन सामाजिक तथा भौगोलिक अवस्थाओं को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए, जिनमें लोग रह रहे हों।" जलवायु सामाजिक जीवन का मुख्य निर्णायक है। मान्टेस्क्यू के निष्कर्ष कल्पनात्मक दार्शनिकों की अपेक्षा कुछ अच्छे थे, परन्तु उसका दोष यह था कि उसने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित समग्र सत्यता को एक ही आधार पर समझाने का प्रयत्न किया। अरस्तू के समान वह भी इसी रूढ़िवादी परिणाम पर पहुँचा कि 'जो है', वह अवश्य 'रहना चाहिए'।

आगस्त काम्टे (Auguste Comte)—तत्पश्चात् आगस्त काम्टे का युग आया। उसे समाजशास्त्र का जन्मदाता कहना ठीक ही है, क्योंकि उसने एक ऐसे विज्ञान की स्थापना का प्रयत्न किया, जिसके अन्तर्गत समग्र मानव-जीवन व मानवीय गतिविधियाँ सम्मिलित थी। वह आधुनिक युग का पहला विचारक था, जिसने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि सामाजिक जीवन की दिशाएँ एकता के सूत्र में बँधी हुई हैं और यह भी बताया कि यह एकता विकासोन्मुख है। उसके अनुसार—मानव सामाजिक विकास की तीन अवस्थाओं धार्मिक, आदिभौतिक और वैज्ञानिक के द्वारा आगे बढ़ता जाता है। जहाँ तक प्राकृतिक घटना-वस्तु के चिन्तन का प्रश्न है, मानव अब वैज्ञानिक अवस्था को प्राप्त कर चुका है, परन्तु उसका समाज-सम्बन्धी चिन्तन अभी तक आधिभौतिक अवस्था में ही है। सौभाग्य से आधिभौतिक अवस्था लगभग पूर्ण हो चुकी है और मानवता वैज्ञानिक अवस्था की दहलीज पर है। हाँ, काम्टे पर्याप्त आशावादी था।

जीववैज्ञानिक (The Biologists)—डार्विन की पुस्तक 'ओरिजन आफ स्पेशीज' (Origin of Species) के प्रकाशित होने के उपरान्त समाजशास्त्र के विकास की दिशा में पर्याप्त अध्ययन किया गया। डार्विन का सिद्धान्त है कि 'बलिष्ठः अतिजीवितः' (survival of the fittest)। इसी के आधार पर जीवन के सम्पूर्ण रूप विकसित हुए हैं। आधुनिक युग के सर्वाधिक प्रतिभाशाली अंग्रेज विद्वान् हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने 'बलिष्ठः अतिजीवितः' तथा प्राकृतिक चयन के सिद्धान्तों को समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रयुक्त किया। यह कहा जा सकता है कि उसकी समाजशास्त्र-सम्बन्धी रचनाओं ने समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विषय का स्थान प्रदान किया। स्पेन्सर ने तमाम विज्ञानों को एक प्ररूप में समन्वित करने और एक मूल नियम जिसके द्वारा प्राकृतिक और सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या हो सके, को खोजने का प्रयत्न किया। उसके प्रमुख सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त यह है कि जीवों के समान ही सामाजिक घटना-वस्तु भी सरल तथा समरूप से जटिल तथा विषम रूप की ओर धीरे-धीरे विकसित होती है। आदिम मानव उसके लिए साधारण मानव-प्रकार था जिससे सभ्य मानव विकसित हुआ। उसकी दूसरी महत्वपूर्ण देन तथाकथित जैविक सिद्धान्त (organic analogy) है जिसमे उसने समाज की समानता मानवीय शरीर से दिखलाई है। ऐसी देनों के कारण स्पेन्सर

समाजशास्त्र की जीवविज्ञान-विचारधारा में अग्रिम स्थान रखता है। उसने समाज की प्राकृतिक घटना-वस्तु के रूप में व्याख्या करके सामाजिक तथ्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए भूमिका तैयार कर दी।

मनोवैज्ञानिक (The Psychologists)—हरबर्ट स्पेन्सर के अनुयायियों की संख्या बहुत थी और जीवविकास-सम्बन्धी उनका सिद्धान्त १९वीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित रहा, परन्तु २०वीं शताब्दी के आरम्भ में सामाजिक घटना-वस्तु के सम्बन्ध में उसकी जैविक व्याख्या के स्थान पर मनोवैज्ञानिक व्याख्या की स्थापना हुई। यह दिखाने के प्रयत्न किये गये कि समाज का विकास किस प्रकार मानव-मन के विकास पर निर्भर है। इङ्गलैंड में ग्राहम वैलेस (Graham Wallace), मैक्‌डूगल (Mc-Dougal) और हाबहाउस (Hobhouse) ने और अमरीका में वार्ड (Ward), गिडिंग्स (Giddings), कूले (Cooley), मीड (Meed) और डीवी (Dewey) ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामाजिक विकास की व्याख्या अपने-अपने ढङ्ग तथा अपने-अपने क्षेत्रों में की।

दुर्खीम (Durkheim) समाज की वास्तविकता पर बल देने वाला प्रथम आधुनिक लेखक था। उसने सामाजिक वास्तविकताओं पर बल दिया तथा समाजशास्त्र को मनोविज्ञान से अलग पृष्ठभूमि प्रदान की। उसके अनुसार, सामाजिक तथ्य बाह्य होते हैं जो मानव-व्यवहार को सीमित करते हैं। उसने समाजशास्त्र के अध्ययन को नवीन दिशा प्रदान की।

जर्मन समाजशास्त्री (German Sociologists)—जर्मन समाजशास्त्रियों, यथा वान वीजे (Von Weise), टानी (Tonnie), वीर कान्ट (Vier Kandt), सिमल (Simmel) एवं मैक्स वेबर (Max Weber) ने भी समाजशास्त्र के विकास को काफी प्रभावित किया है। सिमल ने समाजशास्त्र की स्वरूपात्मक (formal) विचारधारा का विकास किया है।

समाजशास्त्र : एक पृथक् विज्ञान (Sociology: a distinct science)—समाजशास्त्र अब एक पृथक् विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है, जिसका विषय सामाजिक घटना-वस्तु का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना है। इसने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित निश्चित ज्ञान संगृहीत कर लिया है। समाजशास्त्र का परम उद्देश्य सामाजिक जीवन का सुधार है। यह आशा की जाती है कि सामाजिक जीवन के अन्तर्निहित नियमों एवं प्रक्रियाओं के ज्ञान से विभूषित व्यक्ति अपने समाज का अपनी इच्छानुसार निर्माण करने में अधिक योग्य सिद्ध हो सकेंगे। ऐसा ज्ञान मानवीय कार्यों को प्रभावित करने में भी सहायक सिद्ध होगा। समाजशास्त्र का कालान्तर में अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति विकसित एवं उन्नत होना निश्चित है।

३. समाजशास्त्र एक विज्ञान है, जिसकी पृथक् विषय-सामग्री है
(Sociology a Science with its own Subject-matter)

समाजशास्त्र पृथक् विषय-सामग्री वाला विज्ञान ही नहीं है, बल्कि सब सामाजिक विज्ञानों की जननी है (Sociology is not only a science with its own subject-matter but the mother of all social sciences)—आश्चर्य की बात है कि कुछ

आलोचकों का कथन है कि समाजशास्त्र की अपनी कोई अलग विषय-वस्तु नहीं है, अपितु यह विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का पिटारा है। यह तर्क दिया जाता है कि अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञान विशिष्ट विज्ञान हैं तथा समाजशास्त्र इन विज्ञानों के विशेषज्ञों द्वारा दी गयी बातों तथा मूल कल्पनाओं का संग्रह मात्र है। यह कहा जा सकता है कि यह विचार नितान्त भ्रामक है, क्योंकि आज समाजशास्त्र पृथक् विषय-सामग्री वाला एक विज्ञान ही नहीं है, अपितु इसने वह उच्च पद प्राप्त कर लिया है जो इसे सभी सामाजिक विज्ञानों की जननी बना देता है। अन्य सामाजिक विज्ञानों में समाजशास्त्र के स्थान की व्याख्या करते हुए मैकाइवर (MacIver) ने ठीक ही कहा है कि "समाजशास्त्र में अन्य सामाजिक शास्त्रों *का वैसा ही स्थान है जैसा किसी समुदाय (community) में समिति (association)* का होता है। विशिष्ट सामाजिक विज्ञान जीवन के समितीय (associational) स्वरूपों के विज्ञान हैं, अतएव वे उस सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हो सकते जो समाजशास्त्र के लिये सुरक्षित है।"

समाजशास्त्र का एक पृथक् विषय है, इसके विरुद्ध आलोचना (*Criticism against sociology having subject-matter of its own*)—तीन आधारों पर इस बात की आलोचना की गई है कि समाजशास्त्र पृथक् विषय-सामग्री वाला शास्त्र है—

(१) **समाजशास्त्र सामाजिक तत्व-सम्बन्धी विविध अध्ययनों का संकलन मात्र है** (Sociology is merely an assemblage of miscellaneous studies having social content)—पहला तर्क यह दिया जाता है कि समाजशास्त्र सामाजिक तत्व लिये हुए विविध अध्ययनों का संकलन मात्र है। इसका उत्तर यह है कि समाजशास्त्र में जिन विविध अध्ययनों का संकलन किया जाता है, यदि उनका अध्ययन अन्य शास्त्रों में नहीं किया गया है तो समाजशास्त्र निश्चय ही उनका अध्ययन करके उपयोगी कार्य करता है। इस बात से इन्कार करना सम्भव नहीं है कि सामाजिक संस्थाओं, यथा परिवार, सम्पत्ति, धर्म एवं राज्य, सामाजिक रीति-रिवाजों, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक वर्गों तथा राष्ट्रीय व प्रजातीय समूहों, सामाजिक आदतों, फैशन, गरीबी, अपराध, आत्महत्या तथा सामाजिक नियंत्रण के तत्वों आदि के बारे में समाजशास्त्र ने अत्यन्त उपयोगी सामग्री इकट्ठी की है। इनमें से किसी भी विषय का पर्याप्त विवेचन किसी अन्य शास्त्र में नहीं किया जाता। समाजशास्त्र का यह दावा है कि इसकी विषय-वस्तु अन्य शास्त्रों से पृथक् है, इस तथ्य से यह और भी दृढ़ हो जाता है कि समाजशास्त्र मनुष्य के इतिहास, उसकी सफलताओं तथा उसके जीवविज्ञान का अध्ययन उनके विशुद्ध रूप में नहीं करता, बल्कि उस घटना-वस्तु के रूप में करता है, जहाँ तक वे मनुष्य के अन्तःसम्बन्धों पर प्रभाव डालते हैं या उनसे प्रभावित होते हैं।

(ii) **समाजशास्त्र की विषय-सामग्री अनेक सामाजिक विज्ञानों में विभाजित है** (The subject-matter of sociology is parcelled out to a number of social sciences)—समाजशास्त्र की अपनी कोई पृथक् विषय-सामग्री नहीं है, इस सम्बन्ध में दूसरा आक्षेप यह है कि समाजशास्त्र का कोई विशिष्ट क्षेत्र नहीं है,

क्योंकि इसकी विषय-सामग्री अनेक सामाजिक विज्ञानों, यथा अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, मानवविज्ञान, इतिहास, विधिशास्त्र आदि में विभाजित है। जहाँ तक उपर्युक्त विषयों का सम्बन्ध है, यह आक्षेप उचित नहीं है। परन्तु यदि यह आक्षेप ठीक भी हो तो इन अलग-अलग शास्त्रों का होना इस बात की मनाही नहीं करता कि कोई ऐसा सामान्य शास्त्र नहीं होना चाहिये, जिसका कार्य इन शास्त्रों के अलग-अलग निष्कर्षों को सम्बद्ध करना एवं सामाजिक जीवन की अधिक सामान्य स्थितियों का वर्णन करना हो। जिस प्रकार वनस्पतिविज्ञान, शरीरविज्ञान एवं जन्तुविज्ञान का अस्तित्व एक सामान्य विज्ञान जीवविज्ञान (biology) की उपयोगिता को निर्मूल नहीं करता, उसी प्रकार अलग-अलग सामाजिक विज्ञानों का होना समाजशास्त्र जैसे सामान्य विज्ञान के अस्तित्व को अनुपयोगी सिद्ध नहीं करता। समाजशास्त्र का उद्देश्य मानवीय सम्बन्धों तथा सामाजिक जीवन का समग्र रूप मे अध्ययन करना है। वस्तुतः सामाजिक विज्ञान आज संख्या में इतने अधिक तथा अपनी-अपनी विषय-वस्तु की व्याख्या मे इतने विस्तृत हैं कि एक सामान्य सामाजिक विज्ञान की आवश्यकता को बेकार नहीं कहा जा सकता, बल्कि अधिकाधिक महत्वपूर्ण ही कहा जायगा।

(iii) समाजशास्त्र अन्य शास्त्रों से उधार लेता है (Sociology borrows from other social sciences)—समाजशास्त्र की अपनी विषय-सामग्री न होने के सवध में तीसरा आक्षेप यह है कि यह दूसरे शास्त्रों से विषय उधार लेता है और बिना परिश्रम के हर बात का ज्ञान प्राप्त करने का यह सरल उपाय है। परन्तु यह आक्षेप तर्कसंगत नहीं है। विज्ञान का अनिवार्य स्वभाव यह है कि यह केवल उधार लेने से ही विकसित होता है। हम जानते हैं कि जीवविज्ञान का विकास रसायनशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र के निष्कर्षों पर ही होता है। यही बात समाजशास्त्र पर लागू होती है परन्तु जीवविज्ञान तथा समाजशास्त्र जिन शास्त्रों से उधार लेते हैं, उन्हें नयी संकल्पनाओं तथा नियमों से समृद्ध बना देते हैं जिससे तथ्यों का संकलन उपयोगी तथा अर्थपूर्ण बन जाता है।

निःसंदेह समाजशास्त्र अपनी विषय-सामग्री दूसरे सामाजिक शास्त्रों से उधार लेता है, परन्तु यह इसमें कुछ जोड़कर इस विषय-सामग्री को पूर्णतया नया आकार प्रदान करता है। इस भवन का निर्माण करने के लिए हम एक निश्चित स्थान पर ईंटें, सीमेंट, लोहा, चूना, लकड़ी, रेत आदि इकट्ठा करते हैं, परन्तु इन सब सामग्रियों के एक स्थान पर इकट्ठा कर देने से भवन का निर्माण नहीं हो जाता। निर्माण-हेतु एक प्रविधि (technique) की आवश्यकता होती है और सामग्री को एक निश्चित एवं स्थिर रूप दिया जाता है। इस प्रविधि को प्रयुक्त करने के बाद इसे भवन कहा जाता है और यह केवल ईंटों, चूना, सीमेंट आदि का ढेर नहीं रहता। इसी प्रकार, समाजशास्त्र सामग्री उधार लेकर एक प्रविधि (technique) को प्रयुक्त करता है, जिससे 'समाज' का निर्माण होता है। इस समाज की संरचना एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए एक पृथक् अनुशासन की आवश्यकता होती है। मोटवानी (Motwani) के शब्दों में, "समाजशास्त्र एक भवन की भाँति सामाजिक जीवन के तथ्यों का एक जैविक सम्पूर्ण के रूप में संयोजीकरण का सिद्धान्त तथा ऐसे समन्वय की परिणति के रूप में एक स्वतन्त्र विज्ञान, दोनों है।" ज्ञान का विभागीकरण अध्ययन

की सुविधा के लिए किया जाता है। वस्तुतः ज्ञान को नपे-तुले भागों में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता।

पुन: समाजशास्त्र अन्य किसी विज्ञान की अपेक्षा दूसरे विज्ञानों पर अधिक आश्रित इसलिए भी है कि यह एक जटिल एवं विशाल शास्त्र है। समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र, सम्पूर्ण मानव-सम्बन्ध, इतना व्यापक है कि कोई भी अकेला व्यक्ति इसका स्वयं पूरी तरह से अध्ययन नहीं कर सकता। उसे दूसरों की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है। उदाहरण के लिये, किसी विशिष्ट समाज को समझने के लिये समाजशास्त्री को उस समाज के व्यक्तियों, उनकी स्वाभाविक तथा अर्जित आदतों, भौगोलिक पर्यावरण, सामाजिक संस्थाओं, भाषा, धर्म, नैतिकता, कानून, आर्थिक ढाँचे और अन्य लोगों के साथ उनके सम्बन्ध तथा संसार के लोगों के साथ उनके पारस्परिक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। इस काम को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए समाजशास्त्र को अन्य अनेक शास्त्रों का सहयोग लेना पड़ता है जो समाजशास्त्र के निष्कर्षों एवं आँकड़ों पर उतने ही आश्रित होते हैं, जितना समाजशास्त्र उन पर। बार्नर्स एवं बेकर (Barners and Backer) के शब्दों में, "समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञानों की न तो स्वामिनी और न ही दासी, अपितु उनकी बहन है।"[1]

समाजशास्त्र का विषय सम्पूर्ण सामाजिक जीवन है (The subject-matter of sociology is social life as a whole)—अतः यह बात निस्सदेह सिद्ध हो गई है कि समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जिसकी अपनी अलग विषय-वस्तु सम्पूर्ण सामाजिक जीवन है। यह सभी सामाजिक घटना-वस्तु के पीछे निहित सामान्य नियमों का वर्णन करता है। सामाजिक जीवन का अध्ययन करते समय यह अन्तःकार्यों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक आचरण के रूप में नहीं, अपितु सामाजिक रचना के रूप में करता है। सामाजिक जीवन इतना जटिल है कि इसका अध्ययन करने के लिए श्रम का विभाजन आवश्यक है। इसीलिए हमारे पास अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कानून आदि विषय हैं। पुनरावृत्ति का भय न करते हुए इस बात को पुनः दोहराया जा सकता है कि समाजशास्त्र अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि द्वारा किये गये अध्ययनों का योग मात्र नही है, अपितु जैसा कि स्प्रॉट (Sprott)[2] ने कहा है कि—

(i) यह एक अनुशासन है जो समाजों को जैविक एकता (organic unity) के रूप में समझने तथा समाजों मे व्याप्त विभिन्न संस्थाओं (आर्थिक, राजनीतिक तथा सैद्धान्तिक) के परस्पर सम्बन्धो को जानने का प्रयत्न करता है।

(ii) यही वह शास्त्र है जो मानव के सामाजिक समूहों का वर्णन करता है। यह उनका वर्गीकरण तथा उनकी संरचना के रूप को जानने का प्रयत्न करता है।

---

1 "Sociology is regarded neither as the mistress nor as the handmaid of the social sciences but, as their sister."—Barnes and Backer, *Solid Thought from Lore to Science*—Vol. I, p. X.

2 Sprott, W. G. H., *Sociology*, p. 30.

(iii) कुछ ऐसे विषय हैं, जैसे सामाजिक स्तरीकरण (श्रेणी, जाति आदि), जनसंख्या-दर में परिवर्तन, परिवार के कार्यों में परिवर्तन, जो किसी अन्य विज्ञान की विषय-सामग्री नहीं हैं। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है और अनेक विभिन्न सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है। एक सामान्य विज्ञान के रूप में यह सभी समूहों एवं समाजों की समान विशेषताओं का अध्ययन करने के लिये नितान्त उपयुक्त है। मात्र वर्णन करना ही इसका ध्येय नहीं है, वल्कि कारणों एवं व्याख्याओं की खोज करना अधिक है। मनुष्य किसी प्रकार का आचरण क्यों करते हैं, यही समाजशास्त्र का सामान्य प्रश्न है।

४. समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र

(Scope of Sociology)

दो विभिन्न विचार (Two different views)—समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हैं। वी० एफ० काल्वर्टन (V. F. Calberton) का कथन है, "क्योंकि समाजशास्त्र एक ऐसा लचीला विज्ञान है कि यह निर्णय करना कठिन है कि इसकी सीमा कहाँ आरम्भ होती है और कहाँ समाप्त; समाजशास्त्र कहाँ सामाजिक मनोविज्ञान बन जाता है और सामाजिक मनोविज्ञान कहाँ समाजशास्त्र; या कहाँ अर्थशास्त्र का सिद्धान्त या जीवशास्त्रीय सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बन जाता है—यह एक ऐसी जटिल संरचना है जिसका निर्णय करना असंभव है।"[1] कुछ लोगों का कहना है कि समाजशास्त्र संसार की सभी वस्तुओं का अध्ययन करता है, परन्तु यह विचार समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के बारे में बहुत अस्पष्ट है। वास्तव में, समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त सीमित है और यह केवल उन्ही समस्याओं से संबंधित है जिनका अध्ययन अन्य सामाजिक शास्त्रों में नहीं किया जाता।

मोटे तौर पर, समाजशास्त्र मानवीय अन्तःक्रियाओं और परस्पर-सम्बन्धों, उनकी अवस्थाओं तथा उनके परिणामों का अध्ययन करता है। इस प्रकार तथ्य तो यह है कि समाज में मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र बन जाता है। जिन गतिविधियो द्वारा मनुष्य अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये संघर्ष का सामना करता है, मनुष्यों के अन्तःसम्बन्धों की व्याख्या करने वाले नियम एवं विनियम, ज्ञान एवं विश्वास की प्रणाली, और समाज में अपनी गतिविधियों द्वारा मनुष्य जिस कला, नैतिकता या अन्य योग्यता या आदतें विकसित अथवा अर्जित करता है, इन सबका अध्ययन समाजशास्त्र में आ जाता है। परन्तु यह इतना विशाल क्षेत्र है कि कोई भी शास्त्र समुचित रूप से इनका अध्ययन नहीं कर सकता। अतः समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को सीमित एवं निश्चित बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रश्न को लेकर समाजशास्त्रियों में दो सम्प्रदाय प्रचलित हैं।

१. विशिष्टीकृत अथवा स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Specialistic or formalistic School)

सिमल का मत (*Simmel's view*)—सिमल के अनुसार, समाजशास्त्र

1. Calberton, V. F., *The Making of Society* p. 8.

तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों के मध्य अन्तर यह है कि यद्यपि यह अन्य सामाजिक शास्त्रों की ही भाँति समान विषयों का अध्ययन करता है, परन्तु एक भिन्न दृष्टिकोण से। यह सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन उनके स्वरूपों को सामने रखकर करता है। सामाजिक सम्बन्ध, यथा प्रतिस्पर्धा (competition), अधीनता (subordination), श्रम-विभाजन (division of labour) आदि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि में देखे जा सकते हैं, परन्तु समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक सम्बन्धों के इन स्वरूपों को पृथक् करके उनका अमूर्त (abstract) रूप में अध्ययन करना है। इस प्रकार सिमल के अनुसार, समाजशास्त्र एक विशिष्ट सामाजिक शास्त्र है जो सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का वर्णन, वर्गीकरण एवं विश्लेषण करता है।

स्माल का विचार (Small's view)—स्माल के अनुसार, समाजशास्त्र समाज की सभी गतिविधियों का अध्ययन नहीं करता। प्रत्येक विज्ञान का सीमित क्षेत्र होता है। समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, गतिविधियों आदि के जननिक (genetic) स्वरूपों का अध्ययन है।

वीर कांट का मत (Vier Kandt's view)—वीर कांट के अनुसार, समाजशास्त्र ज्ञान की एक विशिष्ट शाखा है जो मनुष्यों को समाज में एक-दूसरे से बाँधने वाले मानसिक अथवा मन-सम्बन्धी सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूपों का अध्ययन करता है। उसके विचारानुसार, वास्तविक ऐतिहासिक समाज, उदाहरणार्थ, अठारहवीं शताब्दी का फ्रेंच समाज अथवा चीनी परिवार, सम्बन्धों के विशिष्ट प्रकारों के उदाहरण-रूप में ही समाजशास्त्री के लिये रुचि के विषय हैं। इसी प्रकार उसका मत है कि संस्कृति के अध्ययन के सिलसिले में सांस्कृतिक विकास के वास्तविक तथ्यों से समाजशास्त्र का कोई सरोकार नहीं है, वह तो केवल परिवर्तन अथवा परिवर्तन न होने के मूल कारणों का ही पता लगाता है। इसे स्वयं को विशिष्ट समाजों के ऐतिहासिक अध्ययन से दूर रखना चाहिये।

मैक्स वेबर का मत (Max Weber's view)—मैक्स वेबर ने भी समाजशास्त्र के क्षेत्र को सीमित करने का प्रयत्न किया है। उसका कथन है कि समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार की व्याख्या करना या उसे समझना है परन्तु सामाजिक व्यवहार में मानव-सम्बन्धों का पूर्ण क्षेत्र सम्मिलित नहीं होता। वस्तुतः सभी मानवीय अन्तःक्रियाएँ सामाजिक नहीं होतीं। उदाहरणतया, दो साइकिल सवारों की टक्कर एक प्राकृतिक घटना मात्र है, परन्तु टक्कर को बचाने के लिये प्रयत्न करना या टक्कर हो जाने बाद उनके द्वारा एक-दूसरे के प्रति कही गयी बातें वस्तुतः सामाजिक व्यवहार के अन्तर्गत आती हैं। इस प्रकार, उसके अनुसार, समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक सम्बन्धों के प्रकारों का वर्गीकरण एवं उनकी व्याख्या करना है।

वान वीज का मत (Von Wiese's view)—वान वीज के मतानुसार समाजशास्त्र का क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है। उन्होंने इन सामाजिक सम्बन्धों को कई भागों में विभक्त किया है।

टानी का मत (Tonnie's view)—टानी ने भी स्वरूपात्मक विचारधारा

का समर्थन किया है। उसने सम्बन्धों के स्वरूपों के आधार पर समाज और समुदाय (community) में अन्तर किया है।

इस प्रकार, स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के अनुसार, समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के एक विशिष्ट पहलू अर्थात् उनके स्वरूपों (forms) का अमूर्त (abstract) दृष्टिकोण से, न कि किसी मूर्त अवस्था में, अध्ययन करता है। एक उदाहरण द्वारा इस भेद को समझाया जा सकता है। जिस प्रकार एक बोतल प्लास्टिक या अन्य किसी पदार्थ की हो सकती है और उसमें कोई भी वस्तु दूध, पानी, शराब आदि हो सकती है, परन्तु बोतल के अन्दर जो वस्तु है, उससे बोतल के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता (बोतल का आकार वैसा ही रहता है, चाहे उसके अन्दर कोई भी वस्तु हो); इसी प्रकार सामाजिक सम्बन्ध एक बोतल के समान है जिसका आकार अन्तर्वस्तु (content) के साथ नहीं बदलता। उदाहरणतया, प्रतिस्पर्धा (competition) जो सामाजिक सम्बन्ध का एक स्वरूप है, के अध्ययन में कोई अन्तर नहीं आयेगा, चाहे हम इसका अध्ययन राजनीतिक क्षेत्र में करें अथवा आर्थिक क्षेत्र में। समाजशास्त्र की रेखागणित (geometry) के साथ तुलना की गई है। जिस प्रकार, रेखागणित भौतिक वस्तुओं के स्वरूपों यथा त्रिभुजीय, वर्गीय, समकोणीय, चक्राकार का अध्ययन करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा रेखागणित का अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के साथ है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र के क्षेत्र को सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों के अमूर्त अध्ययन तक सीमित रखा है।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of formal school)

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जा सकती है—

(i) स्वरूपात्मक सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र के क्षेत्र को केवल अमूर्त स्वरूपों तक ही सीमित कर दिया है। समाजशास्त्र को न केवल सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य स्वरूपों का, अपितु सामाजिक जीवन की मूर्त अन्तर्वस्तुओं का भी अध्ययन करना चाहिये।

(ii) गिन्सबर्ग (Ginsberg) का विचार है कि सिमल का यह कथन सही नहीं है कि समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक सम्बन्धों के अमूर्त रूप का अध्ययन करना है। उनका मत है कि यदि सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन उन अवस्थाओं का पता लगाये बिना, जिनसे यथार्थ जीवन में उनका सम्बन्ध होता है, अमूर्त रूप में किया जायगा तो ऐसा अध्ययन निष्फल होगा। उदाहरणतया, यदि आर्थिक जीवन या कला व ज्ञान के संसार की यथार्थ स्थिति को ध्यान मे रखे बिना प्रतिस्पर्धा (competition) का अध्ययन किया जायगा तो यह अध्ययन निष्फल रहेगा। उसका विचार है कि समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य रूप में अध्ययन तक सीमित नहीं किया जाना चाहिये, अपितु धर्म समाजशास्त्र, कला समाजशास्त्र,

विधि समाजशास्त्र, और ज्ञान समाजशास्त्र आदि जैसे विशिष्ट समाजशास्त्रों के अंतर्गत संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में समाविष्ट इन सम्बन्धो के अध्ययन को भी उसमें सम्मिलित कर उसके क्षेत्र को विशाल बनाया जाना चाहिये।[1] वास्तव मे, सामाजिक आकारों को उनके यथार्थ रूप से विलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्यो ही यथार्थ रूप में परिवर्तन होता है, आकार स्वत. परिवर्तित हो जाता है। सोरोकिन (Sorokin) के शब्दों मे "हम एक गिलास को शराब, जल या चीनी से उसके स्वरूप को परिवर्तित किये बिना ही भर सकते हैं, परन्तु मैं एक ऐसी सामाजिक संस्था के विषय में कल्पना भी नही कर सकता जिसके स्वरूप मे कोई परिवर्तन न होगा जबकि उसके सदस्यों मे परिवर्तन हुआ है।"[2] ज्यामिति के साथ समाजशास्त्र की तुलना गलत है, क्योंकि भौतिक वस्तुओं का आकार निश्चित होता है, जबकि सामाजिक सम्बन्धों का आकार निश्चित नही होता।

(iii) स्वरूपात्मक सम्प्रदाय ने विशुद्ध समाजशास्त्र की कल्पना की है, परन्तु कोई भी समाजशास्त्री अभी तक विशुद्ध समाजशास्त्र का निर्माण नही कर सका है। वस्तुत: किसी भी सामाजिक शास्त्र का अध्ययन अन्य सामाजिक शास्त्रों से विलग होकर नहीं किया जा सकता। सभी सामाजिक शास्त्र अन्तर्निर्भर है।

(iv) समाजशास्त्र ही सामाजिक सम्बन्धो का अध्ययन नहीं करता। अन्य शास्त्र, यथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र आदि भी सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं।

इस प्रकार, स्वरूपात्मक सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित एव संकुचित कर दिया है।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic school)

समन्वयात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान बनाना चाहता है जिसका प्रमुख कार्य विशेष सामाजिक विज्ञानों के निष्कर्षों के आधार पर सामाजिक जीवन की सामान्य दशाओ का अध्ययन करना है। दुर्खीम (Durkheim, हाबहाउस (Hobhouse) एवं सोरोकिन (Sorokin) इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक हैं।

दुर्खीम का मत (Durkheim's view)—दुर्खीम के मतानुसार, समाजशास्त्र के तीन मुख्य भाग है, अर्थात् (i) सामाजिक स्वरूपशास्त्र (social morphology), (ii) सामाजिक शरीरशास्त्र (social physiology), एव (iii) सामान्य समाजशास्त्र (general sociology)। सामाजिक स्वरूपशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्यों के जीवन के भौगोलिक आधार और सामाजिक संगठन के प्रकारों का अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के रूप में इसमे जनसंख्या का घनत्व, संख्या और स्थानीय वितरण का अध्ययन किया जाता है।

---

1. Ginsberg, *Sociology*, p. 12
2. "We may fill a glass with wine, water or sugar without changing its form, but I cannot conceive of a social institution whose form would not change when its members change."—Sorokin, P. *Contemporary Sociological Theories*, p 500.

सामाजिक शरीरशास्त्र को अनेक उपविभागों में विभाजित किया गया है; जैसे भाषा का समाजशास्त्र (sociology of language) धर्म का समाजशास्त्र, (sociology of religion), परिवार का समाजशास्त्र (sociology of family), कानून का समाजशास्त्र (sociology of law) आदि। इनमें से प्रत्येक शाखा सामाजिक तथ्यों के किसी अमुक वर्ग का वर्णन करती है।

सामान्य समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक तथ्यों के सामान्य स्वरूप की खोज करना तथा सामान्य सामाजिक नियमों का पता लगाना है। विशिष्ट सामाजिक विद्वानों द्वारा निर्धारित नियम इन सामान्य सामाजिक नियमों की विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र होते हैं।

हाबहाउस का मत (Hobhouse's view)—समाजशास्त्र के कार्यों के बारे में हाबहाउस का विचार दुर्खीम के समान है। आदर्श रूप में, समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक अध्ययनों का समन्वय है, परन्तु समाजशास्त्री का तात्कालिक कार्य तीन प्रकार का है। प्रथमतया, समाजशास्त्री के रूप में उसे सामाजिक क्षेत्र के अपने विशिष्ट भाग का अध्ययन करना चाहिये; दूसरे, साथ ही सामाजिक सम्बन्धों की अन्त:निर्भरता को ध्यान में रखते हुए उसे विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को समन्वित करने का प्रयत्न करना चाहिये; तथा तीसरे, उसे सामाजिक जीवन की समग्र रूप में व्याख्या करनी चाहिये।

सोरोकिन का मत (Sorokin's view)—सोरोकिन के अनुसार, समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु में निम्नलिखित होना चाहिये—

(i) सामाजिक घटना-वस्तु के विभिन्न पहलुओं के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन;

(ii) सामाजिक एवं असामाजिक घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन;

(iii) सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन।

कार्ल मानहीम का मत (Karl Mannheim's view)—कार्ल मानहीम ने समाजशास्त्र को दो मुख्य भागों में बाँटा है—(i) क्रमबद्ध एवं सामान्य समाजशास्त्र; एवं (ii) ऐतिहासिक समाजशास्त्र (historical sociology)। क्रमबद्ध एवं सामान्य समाजशास्त्र (systematic and general sociology) इकट्ठे रहने के प्रमुख तत्वों, जितने कि वह प्रत्येक प्रकार के समाज में पाये जा सकते हैं, का एक-एक करके वर्णन करता है। ऐतिहासिक समाजशास्त्र समाज के सामान्य स्वरूपों, ऐतिहासिक विविधता एवं वास्तविकता का वर्णन करता है। ऐतिहासिक समाजशास्त्र के दो प्रमुख भाग हैं—प्रथम, तुलनात्मक समाजशास्त्र (comparative sociology) एवं द्वितीय, सामाजिक गतिविज्ञान (social dynamics)। तुलनात्मक समाजशास्त्र में किसी घटना की ऐतिहासिक विविधताओं का प्रमुख रूप से वर्णन किया जाता है तथा तुलना द्वारा सामान्य विशेषताओं का पता लगाने का

प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक गतिविज्ञान किसी विशिष्ट समाज, जैसे आदिम समाज, में विभिन्न सामाजिक तत्वों एवं संस्थाओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन करता है।

गिन्सबर्ग का मत (Ginsberg's view)—गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र के कार्यों को संक्षेप में निम्न प्रकार से रखा है —

प्रथम, समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपों एवं प्रकारों का वर्गीकरण करता है, विशेषतया उन सम्बन्धों का जिनको संस्थाएँ एवं समितियाँ (associations) कहा जाता है। द्वितीय, यह सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्वों अथवा भागों, यथा आर्थिक एवं राजनीतिक, नैतिक एवं धार्मिक, नैतिक एवं कानूनी, बौद्धिक एवं सामाजिक तत्वों के बीच सम्बन्ध निर्धारित करता है। तीसरे, यह सामाजिक परिवर्तन एवं अटलता (persistence) की मूल अवस्थाओं को पृथक् करने तथा सामाजिक जीवन को नियमित करने वाले समाजशास्त्रीय नियमों को खोजने का प्रयत्न करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इस प्रकार, समाजशास्त्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह एक सामान्य विज्ञान है, परन्तु साथ ही एक विशेष विज्ञान भी है। वास्तव में सभी सामाजिक विज्ञानों की अध्ययन-वस्तु समाज है। इनके मध्य केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। इस प्रकार, अर्थशास्त्र समाज का आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्र इसका राजनीतिक दृष्टिकोण से, इतिहास ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करता है। *केवल समाजशास्त्र ही एक ऐसा विषय है जो समाज एवं सामाजिक सम्बन्धों का* अध्ययन करता है। **मैकाइवर** (MacIver) ने ठीक ही कहा है कि "एक शास्त्र को दूसरे से अलग करने वाला तत्व उनका अपना-अपना चर्चित दृष्टिकोण है।"[1] **ग्रीन** (Green) ने भी कहा है, "सामाजिक सम्बन्धों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखने के कारण समाजशास्त्र ज्ञान का एक पृथक् विषय बन गया है, चाहे इसका अन्य विषयों के साथ कितना ही निकट सम्बन्ध क्यों न हो।"[2] समाजशास्त्र समाज के विभिन्न पहलुओं, जैसे सामाजिक परम्पराएँ, सामाजिक प्रक्रियाएँ, सामाजिक स्वरूपशास्त्र, सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक व्याधिकी, सामाजिक सम्बन्धो पर अतिरिक्त सामाजिक तत्वो का प्रभाव—सभी का अध्ययन करता है। वास्तव में, समाजशास्त्र के क्षेत्र को परिसीमित करना न तो आवश्यक है और न सम्भव, क्योंकि **स्प्राट** (Sprott) के शब्दों में, "ऐसा करना लचीले विषय की विशालधनता को अपेक्षतया छोटे-छोटे छिद्रों मे बन्द करने का दुस्साहस होगा।"

समाजशास्त्र के क्षेत्र (Fields of sociology)

क्योंकि समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र काफी व्यापक है, अतएव इसके अध्ययन को विभिन्न क्षेत्रों मे विभाजित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रमुख क्षेत्र निम्नलिखित हैं —

1. MacIver, *op. cit.* p. 5.
2. Green, Arnold, *Sociology*, p. 4.

(i) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological theory)—इसमें समाजशास्त्रीय अवधारणाओं, नियमों एवं सामान्यीकरणों का अध्ययन सम्मिलित है।

(ii) ऐतिहासिक समाजशास्त्र (Historical sociology)—इसके अन्तर्गत भूतकालीन सामाजिक संस्थाओं एवं वर्तमान संस्थाओं की उत्पत्ति का अध्ययन किया जाता है।

(iii) परिवार का समाजशास्त्र (Sociology of family)—इसमें परिवार का जन्म, विकास, इसके कार्य, प्रकार, स्वरूप तथा इसकी समस्याओं, जैसे तलाक आदि का अध्ययन सम्मिलित है।

(iv) मानव-सांख्यिकी एवं परिस्थितिविज्ञान (Human ecology and demography)—इसमें जनसंख्या तथा समाज में भौगोलिक तत्वों के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।

(v) समुदाय का समाजशास्त्र (Sociology of community)—यह समुदाय का अध्ययन है। इसके दो भाग हैं—(i) ग्रामीण समाजशास्त्र, एवं (ii) नगरीय समाजशास्त्र।

(vi) विशेष समाजशास्त्र (Special sociology)—पिछले कुछेक दिनों में सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिये विशेष समाजशास्त्रों का विकास किया गया है। इस प्रकार आज हमारे सामने ये विशेष समाजशास्त्र हैं—शैक्षिक समाजशास्त्र, धर्म का समाजशास्त्र, आर्थिक समाजशास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र, कानून का समाजशास्त्र, सामाजिक विघटन, अपराधविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान, सांस्कृतिक समाजशास्त्र, सामाजिक मनःचिकित्साशास्त्र, लोक-समाजशास्त्र (folk sociology), औद्योगिक समाजशास्त्र, कला का समाजशास्त्र, सेना का समाजशास्त्र, चिकित्सा का समाजशास्त्र, व्याधि का समाजशास्त्र, मनोरंजन का समाजशास्त्र, छोटे समूहों का समाजशास्त्र, नौकरशाही (bureaucracy) का समाजशास्त्र, सामाजिक स्तरीकरण का समाजशास्त्र, लिंग (sex) का समाजशास्त्र।

भविष्य में, अन्य नये विशिष्ट समाजशास्त्रों के विकसित होने की संभावना है।

५. समाजशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Sociology)

समाजशास्त्र विज्ञान है या नहीं, इस विषय पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ आलोचक समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानते, जबकि दूसरे आलोचकों के अनुसार समाजशास्त्र भी राजनीतिशास्त्र, इतिहास और अन्य सामाजिक शास्त्रों की ही भाँति एक विज्ञान है।

समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं माना जा सकता (Sociology cannot be regarded as a science)

(i) प्रयोग की कमी (Lack of experimentation)—समाजशास्त्र एक

विज्ञान है या नहीं, इस सम्बन्ध में भ्रान्ति का कारण यह है कि 'विज्ञान' शब्द के कई अर्थ बताये गये हैं। यदि 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाय जिस अर्थ में भौतिक विज्ञानों में किया जाता है, तो समाजशास्त्र विज्ञान होने का दावा नहीं कर सकता। जब 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग भौतिक विज्ञानों में किया जाता है तो इसमें प्रयोग तथा पूर्वकथन (prediction) की जुड़वां प्रक्रिया शामिल होती है। इस दृष्टि से समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है, जैसा कि स्प्रॉट (Sprott) ने कहा है, "यदि आप प्रयोग नहीं कर सकते, यदि आप नाप-तोल नहीं कर सकते, यदि आप मोटे तौर पर एकत्वबोधक धारणा स्थापित नहीं कर सकते, यदि आप अपनी सामाजिक इंजीनियरिंग के विषय में आश्वस्त नहीं हो सकते तो आपको किसी भी तरह वैज्ञानिक अध्ययन में व्यस्त नहीं कहा जा सकता।"[1]

इसमें कोई संदेह नहीं है कि समाजशास्त्र भौतिक विज्ञानों की भाँति प्रयोग एवं पूर्वकथन नहीं कर सकता, क्योंकि मानव-व्यवहार तथा मानव-सम्बन्धों की सामग्री जिसका समाजशास्त्र अध्ययन करता है, बड़ी विचित्र तथा अनिश्चित है। कुछ भावनाएँ ऐसी होती हैं जिनके सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। उनका निरपेक्ष भाव से अध्ययन भी नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये, कामजीवन (sex life) और धर्म जैसे विषय गंभीर वाद-विवाद को भड़का देते हैं। विवादग्रस्त विषयों का अध्ययन करने वाला व्यक्ति विरोधी मतों की निन्दा का पात्र बन सकता है। यदि यह विषय नशाबन्दी, गोहत्या, गर्भपात, परिवार नियोजन या छुआछूत हैं तो शोधकर्त्ता अवश्य ही इनके पक्ष में होगा या विपक्ष में। उसके द्वारा दिया गया कोई भी निरपेक्ष विश्लेषण दोनों ही पक्षो को रुष्ट करने वाला हो सकता है। इसके अतिरिक्त, समाज इतना जटिल एवं परिवर्तनशील है कि उसके विभिन्न तत्वों को पृथक् करना तथा उनका विश्लेषण करना—जैसा भौतिक विषयों में किया जा सकता है—सम्भव नहीं है। हम संसार की किसी भी प्रयोगशाला में प्रयोग करके देख सकते हैं कि पानी के दो तत्व होते हैं : इसमें दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन होता है। परन्तु समाजशास्त्र में ऐसी प्रयोगशाला में प्रयोग की बात कठिन तथा असंभव है।

(ii) **वस्तुनिष्ठता की कमी** (Lack of objectivity)—वैज्ञानिक विधि अपनाने में समाजशास्त्री के सामने दूसरी कठिनाई यह है कि वह अपने प्रयोगाधीन वस्तु के साथ पूर्णतः निरपेक्ष नहीं रह सकता; जबकि भौतिकशास्त्री रह सकता है। मानव की अपनी रुचियाँ तथा अपने पूर्वाग्रह (prejudice) होते हैं; अतएव उसके लिये यह संभव नहीं है कि प्रयोग की वस्तु को बिल्कुल निर्लिप्त भाव से देखे। किसी वस्तु के सम्बन्ध मे बचपन से हमारे मन मे जो कल्पनायें हैं, उनसे हम बिल्कुल मुक्त हो जायें, बहुत कठिन बात है। अतः हमारे मूल्यांकन पूर्वाग्रहकारी होंगे, यह निश्चित-सा है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति मानव-व्यवहार के अध्ययन में निरपेक्ष रहने का प्रयत्न करता है, तो उसको शीघ्र ही सनकी, संशयवादी, पागल या देशद्रोही कहा जा सकता है। अपनी शोध में जनता द्वारा सहयोग के स्थान पर उसे

1. Sprott, *Sociology*, p. 31.

उनके विरोध का सामना करना पड़ सकता है। तब आत्मरक्षा के लिए वह कुछेक सामाजिक मूल्यों को स्वीकार कर लेता है और अपने अध्ययन से उन घटनाओ को निकाल देता है जो समाजशास्त्रीय उपयोगिता रखती हैं और सामाजिक अस्तित्व का मूलाधार हैं। तीसरी कठिनाई यह है कि सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन शारीरिक इन्द्रियों से नही किया जा सकता। सामाजिक सम्बन्धों में हम जो कुछ देखते हैं, वह हमारे आन्तरिक जीवन का बाह्य रूप मात्र है। अतः यदि कोई समाजशास्त्री किसी व्यक्ति की बाह्य क्रियाओ को भलीभाँति समझना चाहता है, तो उसे उस व्यक्ति के मन की क्रिया को भी समझना पड़ेगा। भौतिक विज्ञानवेत्ता को ऐसी जटिल समस्या का सामना नही करना पड़ता।

(iii) **यथातथ्यता की कमी** (Lack of exactivity)—विज्ञान का एक और लक्षण यह है कि उसमे पर्यवेक्षण (observation) तथा अनुमान (hypothesis) के आधार पर कुछ नियम बनाये जा सकते हैं और इन नियमो के आधार पर भविष्यवाणी की जा सकती है। समाजशास्त्र को इस दृष्टि से भी विज्ञान नही कहा जा सकता, *क्योंकि पहली बात यह है कि इसके नियमों को नपे-तुले शब्दो मे व्यक्त नहीं* किया जा सकता और दूसरी बात यह भी है कि इसकी भविष्यवाणी सही न निकले। इसके निष्कर्ष बहुधा काल और स्थान के कारण परिसीमित होते हैं। इस तथ्य के कारण कि सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है तथा मानवीय अभिप्रेरणायें बड़ी जटिल हैं, इसलिए मानव-व्यवहार के बारे में कोई पूर्वकथन करना कठिन है।

उपर्युक्त कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाता है कि समाजशास्त्र नाम की कोई वस्तु नहीं है—अधिक से अधिक यदि कुछ है तो 'सामाजिक अध्ययन' (social studies)। सामाजिक सम्बन्धों का निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नहीं है; शोधकर्ता निरपेक्ष हो ही नहीं सकता। निरपेक्ष विश्लेषण के बिना विज्ञान असम्भव है।

समाजशास्त्र विज्ञान है (Sociology is a science)

समाज शास्त्र को विज्ञान कहे जाने के विरुद्ध दी गयी आपत्तियों को तर्क से काटा जा सकता है। वस्तुतः अपनी विषय-सामग्री का अध्ययन करते समय समाजशास्त्र वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करता है, अतः यह विज्ञान कहलाने का अधिकारी है।

पहली बात यह है कि समाजशास्त्री प्रत्यक्ष रूप से प्रयोगशाला में प्रयोग नहीं कर सकता। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु अर्थात् सामाजिक व्यवहार किसी भी दूसरी प्राकृतिक घटना के समान वैज्ञानिक शोध के योग्य है। कुछ विशेष क्षेत्रों, यथा औद्योगिक क्षेत्रों में मनुष्यों की सहमति से उन पर अनेक अप्रत्यक्ष प्रयोग किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त, समाजशास्त्र समाजमिति (sociometry), प्रश्नावली विधि (questionnaire), साक्षात्कार विधि (interview), व्यक्तिगत जीवन अध्ययन विधि (case study method) आदि विधियों का प्रयोग करता है, जिनमें सामाजिक व्यवहार के अध्ययन में परिमाणात्मक मापों का इस्तेमाल किया जाता है। इन विधियों को प्रयोगात्मक विधि के समान भी ठहराया जा सकता है। उदाहरण के

लिए यदि हम यह जानना चाहते हैं कि क्या अल्प आय वाले परिवारों में शिशुओं की मृत्यु-दर अधिक है तो हम आँकड़े इकट्ठे करते हैं। समाजशास्त्र के पास पर्याप्त यथेष्ठ विधियाँ हैं। कठिनाई केवल सामग्री इकट्ठा करने की है, क्योंकि सामग्री इकट्ठा करने की प्रक्रिया महँगी है।

दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिक शोध की दो *बुनियादी विधियाँ—पर्यवेक्षण* एवं तुलना, समाजशास्त्री को सुलभ हैं और वह इनका प्रयोग करता है।

तीसरी बात यह है कि सभी भौतिक विज्ञानों में प्रयोग बन्द प्रयोगशाला में नही किये जाते। खगोलविज्ञान (astronomy) में उसकी विषय-सामग्री को प्रयोगशाला में बन्द करके प्रयोग नही किया जा सकता। नक्षत्रों तथा ग्रहों को प्रयोगशाला में नहीं लाया जा सकता। फिर भी यदि खगोलविज्ञान को, जो प्रयोगशाला मे प्रयोग नही कर सकता, विज्ञान कहा जा सकता है तो समाजशास्त्र को विज्ञान न मानने का कोई औचित्य नहीं है। न्यूटन (Newton) तथा आर्कमिडीज (Archimides) ने अपने नियमों की खोज प्रयोगशाला में बैठकर नहीं की थी। एक समाजशास्त्री के मार्ग में बाधाएँ उसकी विषय-वस्तु से उत्पन्न नही होतीं, परन्तु उसके अपने ही समाज द्वारा उस पर लादी गयी सीमाओं से उत्पन्न होती है।

चौथी बात यह है कि समाजशास्त्र नियमों का निर्माण करता है और पूर्वकथन भी करता है, चाहे उसका पूर्वकथन पूर्णत: ठीक सिद्ध न हो। यह ऐसे नियमों को खोजने का प्रयत्न करता है जो संस्कृति में विभिन्नताओं की उपेक्षा करते हुए भी सामान्यत: लागू होते हैं। उदाहरण के लिए, यह नियम कि किसी समुदाय (community) की सामाजिक क्रियायें उस समुदाय के लोगों द्वारा उचित समझी जाती हैं, क्योंकि वे रीतियाँ (mores) होती हैं, इसलिए नही कि वे क्रियायें रीतियाँ इसलिये हैं, क्योंकि वे उचित हैं; लोग विवाह की संस्था को इस प्रकार से नियमित करते हैं कि सगोत्र-गमन (incest) को रोका जा सके। ये नियम सार्वभौमिक है। उनकी न्यायसंगतता से इकार नही किया जा सकता। इसके अलावा, कोई भी विज्ञान इस बात का गर्व नही कर सकता कि उसका पूर्वकथन कभी गलत नहीं होगा। अन्य विज्ञानों द्वारा स्थापित नियमों मे भी बाद में समय के साथ परिवर्तन करना पड़ा है। स्प्रॉट (Sprott) के अनुसार, "सिद्धान्तों में उन परिवर्तनों ने जो इतनी शीघ्रता या तेजी से हुए हैं, हमे शंकित बना दिया है कि विज्ञान हमें आज जो शिक्षा दे रहा है, क्या वही 'कल' देगा। सामाजिक जीवन के कुछ क्षेत्रों में पूर्वकथन कुछ सीमा तक सम्भव है।" क्यूवीर (Cuvier) के अनुसार, "समाजशास्त्र के पूर्वकथनीय मूल्य को उन्नत किया जा रहा है। बच्चों के व्यक्तित्व और पारिवारिक सम्बन्धो पर काफी सही सूचना उपलब्ध है। जब समाजशास्त्र और अधिक परिपक्व हो जायगा और मानवीय व्यवहार [illegible] से समझने लग जायगा तो वह अधिक [illegible]

[illegible] कार्य-कारण सम्बन्धो की स्थापना करता है। परिवार के अध्ययन मे, इसने पारिवारिक विघटन एवं तलाक, नगरीकरण एवं पारिवारिक विघटन के बीच सम्बन्ध की खोज की है। इस प्रकार, यह सामाजिक

प्रक्रियाओं एवं सम्बन्धों के 'कैसा' (how) एवं 'क्यों' (why) का उत्तर ढूंढने का प्रयत्न करता है।

अन्तिमतया, यदि 'विज्ञान' शब्द को उस अर्थ में प्रयुक्त किया जाय जिन अर्थों में क्यूवीर (Cuvier), पियर्सन (Pearson), गिडिंग्स (Giddings) तथा अन्य शास्त्रियों ने किया है तो समाजशास्त्र को विज्ञान कहे जाने के विरुद्ध सभी आपत्तियाँ निर्मूल सिद्ध हो जायेंगी। क्यूवीर (Cuvier) के अनुसार, "विज्ञान पर्यवेक्षण एवं पुनःपर्यवेक्षण की प्रक्रिया द्वारा विश्व में समानताओं की खोज की विधि है जिसके परिणाम, अन्त में, नियम के रूप में घोषित किये जाते हैं जो ज्ञान के क्षेत्रों में सुव्यवस्थित कर लिये जाते हैं।"[1] पियर्सन (Pearson) के अनुसार, "विज्ञान का कार्य तथ्यों का वर्गीकरण, उनके तारतम्य एवं सापेक्ष महत्व का पता लगाना है।"[2] गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, "विज्ञान तथ्यों का पता लगाने और उनको समझने के प्रयत्न से न कुछ अधिक है और न कम। विज्ञान तथ्यों का सामना करने में सहायता करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता।"[3] विज्ञान की एक सरल परिभाषा यह है कि यह केवल संगठित सूझबूझ है जिसमें तथ्यों का व्यक्तिनिष्ठ पर्यवेक्षण तथा उनकी सैद्धान्तिक व्याख्या की जाती है। विज्ञान की एक परम्परागत परिभाषा यह है कि यह किसी विषय से सम्बन्धित क्रमबद्ध पर्यवेक्षण, अनुभव एवं अध्ययन द्वारा प्राप्त ज्ञान का संग्रह है जिसके एकीकृत सम्पूर्ण में विश्लेषण एवं वर्गीकरण किया जाता है। लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, "विज्ञान उन अवस्थाओं, जिनके अधीन घटनायें घटित होती हैं, की खोज की प्रक्रिया है।"[4] वेबर (Weber) के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया की सार्थक व्याख्या करने का प्रयत्न करता है जिससे कार्य-कारण की एक सामान्य व्याख्या पर पहुँचा जा सके। अतएव समाजशास्त्र एक वैज्ञानिक अनुशासन है जो 'विज्ञान' शब्द द्वारा निर्दिष्ट माँगों की पूर्ति करता है। यह अपनी विषय-वस्तु का वैज्ञानिक ढङ्ग से अध्ययन करता है। यह सामाजिक सम्बन्धों, विशेषतया संस्थाओं एवं समितियों के प्रकारों एवं रूपों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न करता है। यह सामाजिक जीवन के विभिन्न कारकों एवं भागों के बीच सम्बन्धों को निर्धारित करने का प्रयत्न करता है। यह अपनी सामग्री के क्रमबद्ध अध्ययन से सामान्य नियमों को ढूंढने का प्रयत्न करता है। ऐसे नियम सामाजिक समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त किये जाते हैं।

---

1. "The science is the method of discovery of the uniformities in the universe through the process of observation and re-observation, the result of which eventually comes to be stated in principle and arranged and organised into the fields of knowledge."—Cuvier, J. F., *Sociology*. p. 18.

2. "The classification of facts, the recognition of their sequence and relative significance is the function of science"—Pearson, Karl, *The Grammar or Science*, p. 6.

3. [illegible] the getting of facts and trying to [illegible] us is nothin. more nor less than [illegible] *cientific Study of Human Society*, p. [illegible]

4. "Science is a procedure for discovering the conditions under which events occur."—Lundberg, *Sociology*, p. 8.

इस प्रकार समाजशास्त्र भी अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा मनोविज्ञान की ही भाँति एक विज्ञान है। यद्यपि यह अभी तक पूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ है, तथापि समाजशास्त्री ऐसे उपकरणों की खोज में हैं जो इसके *अध्ययन को अधिक सूक्ष्म तथा* इसके नियमों को अधिक वैज्ञानिक बनाने मे सहायक होंगे। काम्टे (Comte) ने इसे 'सामाजिक भौतिकशास्त्र' (social physics) का नाम दिया था।

राबर्ट बीर्सटेड (*Robert Bierstedt*) ने *अपनी पुस्तक 'सामाजिक व्यवस्था'* (The Social Order) में समाजशास्त्र की प्रकृति की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया है—

(i) *समाजशास्त्र एक सामाजिक, न कि प्राकृतिक विज्ञान है।*

(ii) समाजशास्त्र स्वीकारात्मक (positive), न कि आदर्शात्मक (normative) विज्ञान है।

(iii) समाजशास्त्र एक विशुद्ध अथवा सैद्धान्तिक, न कि व्यावहारिक विज्ञान है।

(iv) समाजशास्त्र एक अमूर्त, न कि मूर्त विज्ञान है।

(v) समाजशास्त्र एक सामान्यीकृत, न कि विशेषीकृत विज्ञान है।

(vi) *समाजशास्त्र तर्कपरक एव आनुभविक (empirical) विज्ञान है।*

६. क्या समाजशास्त्र मूल्यनिरपेक्ष विज्ञान हो सकता है ?

(Can Sociology be a Value-free Science ?)

ऊपर इस बात का वर्णन किया गया है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है। इस सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण विवाद इस प्रश्न को लेकर उत्पन्न हुआ है कि क्या समाजशास्त्र मूल्यनिरपेक्ष विज्ञान हो सकता है ? मूल्यनिरपेक्ष विज्ञान का अर्थ यह है कि समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में स्वयं को सामाजिक मूल्यो के प्रश्न से अलग रख कर सामाजिक *व्यवहार का अध्ययन आनुभविक* (empirical) ढंग से करना चाहिये। समाजशास्त्र का यह कार्य नही है कि वह सामाजिक मूल्यों की श्रेष्ठता *अथवा अश्रेष्ठता का वर्णन करे और यह बतलाये कि कौन से मूल्य परममूल्य हैं।* बहुविवाह अच्छा है या बुरा, प्रेमविवाह वाछनीय है या अवांछनीय, संयुक्त परिवार-प्रथा लाभदायक है या हानिकर, जातिप्रथा हानिकारक है या लाभप्रद—समाजशास्त्र का इससे कोई सरोकार नही है। इसका उद्देश्य तो केवल सामाजिक सस्थाओं का आनुभविक विश्लेषण मात्र करना है, न कि उनका मूल्यांकन करना। विभिन्न युगों में भिन्न-भिन्न समाजों ने विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को मूल्यवान् समझा है। समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवहार के आनुभविक पक्ष को अलग करके उसका अध्ययन करना चाहिये। इस आनुभविक विश्लेषण के आधार पर जो भी निष्कर्ष निकले, उसे वैसा ही प्रस्तुत किया जाना चाहिये—इस बात मे प्रवेश किये बिना कि आनुभविक *मान्यताएँ सह हैं या गलत। 'क्या होना चाहिये' का प्रश्न समाजशास्त्र का* नहीं है। आनुभविक रूप से क्या सत्य है, और 'क्या होना चाहिये' के विषय

में सही निर्णय समान नहीं है, अर्थात् 'क्या है' का प्रश्न 'क्या होना चाहिये' के प्रश्न से अलग है। समाजशास्त्र का सम्बन्ध पहले प्रश्न से है, दूसरे से नहीं। हम सामाजिक तथ्यों का आनुभविक परीक्षण कर सकते हैं, परन्तु मूल्यों का नहीं। मूल्य तथा तथ्य दो अलग-अलग वस्तुएँ है, अतएव दोनों का विश्लेषण अलग-अलग होना चाहिये। वैज्ञानिक शोध मूल्यनिरपेक्ष होना चाहिये।

आगस्त काम्टे (Auguste Comte) जिसको 'सोशियोलॉजी' शब्द आविष्कृत करने का श्रेय प्राप्त है, समाज के अध्ययन का आनुभविक विज्ञान विकसित करना चाहता था। उसने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिये वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया और इसके साथ ही वैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रक्रिया के सिद्धान्त का विकास किया। दुर्खीम (Durkheim), जिसकी गणना संरचनात्मक प्रकार्यवाद (structural functionalism) के जन्मदाताओं में की जाती है, ने समाज का विश्लेषण संरचनात्मक प्रकार्यवाद के दृष्टिकोण से किया। हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने समाज के जैविक दृष्टिकोण को अपनाया। उसकी भी समाज के मूल्यात्मक पक्ष में कोई रुचि नहीं थी। परन्तु मैक्स वेबर (Max Weber), एक जर्मन समाजशास्त्री ने सामाजिक विश्लेषण को मूल्यनिरपेक्ष बनाने के महत्व पर सबसे अधिक बल दिया है। उसके अनुसार, केवल मूल्यनिरपेक्ष उपागम ही वैज्ञानिक विकास को सम्भव बना सकता है। उसने सामाजिक विज्ञान को अतर्कयुक्त प्रभावों से दूर रखने का प्रयत्न किया। शोधकर्ता के मूल्य-सम्बन्धी पूर्वाग्रह द्वारा सामाजिक घटना-वस्तु के विश्लेषण को प्रभावित नहीं किया जाना चाहिये। वेबर के अनुसार, विज्ञान की प्रकृति ऐसी है कि यह विभिन्न मूल्यों मे तर्कयुक्त एवं उचित चयन नहीं कर सकता। मूल्यों के बारे में व्यक्ति की पसन्द उसके अपने विश्वास एवं भावनाओं पर, न कि तर्क अथवा तथ्य पर आधारित होती है। संक्षेप में, समाज-विज्ञानी को वस्तुनिष्ठ शोधकर्ता के रूप में मूल्यों के बारे मे निरपेक्ष रहना चाहिये। समाजविज्ञानी का यह कार्य नहीं है कि वह बन्धनकारी मानकों एव आदर्शों को प्रस्तुत करे अथवा प्रयोग के लिये नुस्खे तैयार करे।

वेबर के मूल्यनिरपेक्ष उपागम को समकालीन नवप्रत्यक्षवाद (new positivism) में आगे बढ़ाया गया। नवप्रत्यक्षवादी विधिविज्ञान ने सभी प्रतिबन्धों की मनाही कर दी जिससे 'मूल्यनिरपेक्ष' सिद्धान्त का अर्थ केवल 'राजनीतिनिरपेक्ष' ही नहीं रहा, *अपितु 'नीतिनिरपेक्ष' एवं 'दर्शननिरपेक्ष' भी हो गया। हार्विट्ज* (Horwitz) ने इस तथ्य की महत्ता पर बल दिया है कि घटनाओं का प्रवाह समाजविज्ञान को न केवल निरपेक्ष रखना चाहता है, अपितु नैतिक प्रश्नों से भी पूर्ण अलग देखना चाहता है।

संक्षेप में, मूल्यनिरपेक्ष सिद्धान्त प्राकृतिक विज्ञानों को सामाजिक ज्ञान के लिए एक प्रतिमान मानता है जिसका अर्थ है कि प्राकृतिक विज्ञानों की सुनिश्चित विधियों को समाजशास्त्र में इसे वैज्ञानिक अनुशासन बनाने हेतु हस्तान्तरित किया जाये। द्वितीय, इस सिद्धान्त की यह भी अपेक्षा है कि समाजशास्त्र किसी भी प्रकार के मूल्यांकन से स्वतन्त्र रहे। समाजशास्त्र को मूल्यों के बारे मे कोई निर्णय नहीं

देना चाहिये। तृतीय, मूल्यनिरपेक्ष सिद्धान्त समाजशास्त्र को एक निरपेक्ष विज्ञान मानता है जिसका किसी प्रकार के आदर्शात्मक अथवा नैतिक परिणाम ढूँढ़ने से कोई सम्बन्ध नही है। यह आदर्शवाद से ऊपर है।

इस विषय पर कुछ अस्पष्टता है कि 'मूल्यनिरपेक्ष विज्ञान' से मैक्स वैबर का वास्तविक अभिप्राय क्या था। उसने सभी विज्ञानो की मूल्य-सम्बद्धता से इंकार नही किया, जैसा साधारणतया समझा जाता है। उसने यह स्पष्ट रूप से बतलाया कि उसका अभिप्राय यह नही है कि सभी मूल्य-निर्णयों को वैज्ञानिक विचार-विमर्श से निकाल दिया जाय; उसका अभिप्राय केवल इतना है कि मूल्य-निर्णयों के क्षेत्र में विज्ञान का स्थान सीमित है। मूल्यो का वैज्ञानिक विश्लेषण मूल्यों को केवल स्पष्टता के स्तर तक ला सकता है। वैबर ने कहा, "मूल्यों के बारे में निर्णय करना विज्ञान का कार्य नहीं है; यह कार्य तो इच्छुक एवं क्रियारत व्यक्ति का है जो संसार के प्रति अपने दृष्टिकोण एवं अन्त:करण के अनुसार विभिन्न मूल्यों में से अपनी पसन्द के मूल्य का चयन करता है। किसी व्यक्ति को जो मूल्यों का चयन करता है, इन परम मूल्यो को मानना चाहिये। यह उसका वैयक्तिक मामला है जिसमें आनुभविक ज्ञान की अपेक्षा इच्छा एवं अंत.करण निहित हैं।" एक आनुभविक विज्ञान किसी को यह नहीं बतला सकता कि 'उसे क्या करना चाहिये'; वह केवल इतना बतला सकता है कि वह क्या कर सकता है तथा कुछ परिस्थितियों मे वह क्या करने की इच्छा रखता है। आर्नल्ड ब्रैश्ट (Arnold Brecht) का कथन है कि "विज्ञान की सीमाओं पर बल देने के बावजूद भी मैक्स वैबर परममूल्यों मे विश्वास रखता था, और उसने मानव-व्यक्तित्व एव मानव-सम्मान के लिये ऐसे विश्वास को कम महत्वपूर्ण नही बतलाया।"[1]

वस्तुत मूल्यों के अध्ययन को समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र से बाहर नही निकाला जा सकता। कार्ल मानहीन (Karl Mannhein) तथा अन्य समाजशास्त्रियो का विचार है कि मूल्य व्यक्तित्व के पूर्णकीय भाग हैं, जिन्हें उसी प्रकार उतार कर नही फेंका जा सकता, जैसे मनुष्य अपने कोट को उतार देता है। वे हमको शोध के सभी स्तरों पर शोध-विषय के चयन में, परिणामों की व्याख्या में, परिणामों को समाज के लिये लाभप्रद ढंग से प्रयोग करने के बारे में सुझावों में प्रभावित करते है। दूसरे शब्दों में, एक समाजविज्ञानी केवल मूल्यों का विश्लेषणकर्ता ही नही है, अपितु मूल्य-निर्माता भी है। वह स्वयं को अपने समय की प्रमुख सामाजिक समस्याओं से विलग नहीं कर सकता। यदि वह अपनी शोध सभी प्रकार के मूल्य-निर्णयों से दूर रखकर करता है तो वह केवल ऐसी समस्याओ का वर्णन करने मे अपने समय की बर्बादी करेगा, जिनका समाज से कोई सम्बन्ध नही है। ज्ञान किसी लक्ष्य को समक्ष रखकर प्राप्त किया जाता है। ज्ञान का लक्ष्य क्या हो—यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। 'मूल्यनिरपेक्ष' सिद्धान्तवादियों ने इस प्रश्न को टाल दिया है, क्योंकि प्रत्येक अध्ययन का आवश्यक रूप से सामाजिक महत्व होता है, अतएव कोई भी अध्ययन गैर-मूल्यात्मक नहीं हो सकता। समाजशास्त्र विशुद्ध वर्णनात्मक विज्ञान

1. Brecht, Arnold, *Political Theory*, p 225

नहीं है। किसी न किसी रूप में मूल्यांकन का तत्व इसमें प्रवेश कर ही जाता है। अल्विन गोल्डनर (Alvin Gouldner) ने एक लेख में, जिसका शीर्षक "Anti-Minontaur : the Myth of a Value-free Sociology' था, लिखा है कि समाजशास्त्र का विद्यार्थी कुछ मूल्यों एवं आदर्शों से परिवंधित होता है, अन्यथा वह व्यक्ति नहीं है तथा एक प्रकार का नरवृषभ बन जाता है, एक ऐसा दैत्य जिसका शरीर पुरुष का तथा सिर साँड़ का होता है। गुनार मीरडल (Gunnar Myrdal) का निष्कर्ष है, "तथ्यों के वैज्ञानिक पर्यवेक्षण तथा उनके कारणीय अन्तःसम्बन्धों का विश्लेषण करने में मूल्य पूर्वकथनों की आवश्यकता होती है एवं उनका प्रयोग किया जाता है... इस दृष्टिकोण से निर्लिप्त समाजविज्ञान की बात करना पूर्ण मूर्खता है। ऐसा विज्ञान न कभी था, न कभी होगा। इसके बावजूद भी हम अपने अध्ययन को तर्कयुक्त बनाने का प्रयास कर सकते हैं, परन्तु मूल्याकनों का सामना कर करके, उनसे दूर भाग कर नहीं।"[1]

७. समाजशास्त्र का महत्व
(Importance of Sociology)

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि समाजशास्त्र का महत्व क्या है, इससे किस प्रयोजन की पूर्ति होती है और इसके अध्ययन से क्या लाभ होता है? परेटो (Pareto) जैसे कुछ आलोचकों का कथन है कि समाजशास्त्र का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि इसमें जीवन की यथार्थ वास्तविकताओं का अध्ययन नहीं किया जाता और चूँकि इसका सम्बन्ध ऐसे विचारों से है जो वैज्ञानिक खोजों से तनिक भी सम्बन्धित नहीं हैं, अतः सामाजिक जीवन में उनका कोई उपयोग नहीं है। परन्तु समाजशास्त्र के महत्व के बारे में यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण अवधाराओं के अध्ययन से इसके महत्व का पता लग जाता है—

(१) समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है (Sociology makes a scientific study of society)—समाजशास्त्र के जन्म से पूर्व समाज का कभी भी वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन नहीं किया जाता था, और समाज किसी भी विज्ञान की विषय-सामग्री नहीं था। समाजशास्त्र द्वारा ही समाज का वास्तविक वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है। इतना ही नहीं, बल्कि आधुनिक संसार की अनेक समस्याओं से सम्बन्धित होने के कारण समाजशास्त्र ने इतना अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है कि समाजशास्त्रीय उपागम को अन्य सभी सामाजिक शास्त्रों को समझने का श्रेष्ठतम उपागम माना जाता है। समाज का वैज्ञानिक ज्ञान मानव-सम्बन्धों में किसी भी महत्वपूर्ण सुधार की पूर्व आवश्यकता है।

(२) समाजशास्त्र व्यक्ति के विकास में संस्थाओं के स्थान का अध्ययन करता है (Sociology studies the role of institution in the development of individual)—समाजशास्त्र के माध्यम से ही महान् सामाजिक संस्थाओं तथा प्रत्येक संस्था से व्यक्ति के सम्बन्ध का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। घर तथा

1. Myrdal, Gunnar, Value in *Social Theory*, p. 1.

परिवार, स्कूल तथा शिक्षा, चर्च तथा धर्म, राज्य तथा सरकार, उद्योग तथा कार्य, समुदाय तथा संघ आदि ऐसी महान् संस्थाएँ हैं, जिनके माध्यम से समाज की गाड़ी चलती है। इसके अतिरिक्त ये संस्थाएँ मनुष्य की अवस्थाएँ निर्धारित करती हैं। समाजशास्त्र इन संस्थाओं और मनुष्य के विकास में उनके योग का अध्ययन करता है और इन संस्थाओं को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने के लिए उपयुक्त उपायों का सुझाव देता है, ताकि ये अधिक अच्छे ढंग से व्यक्ति की सेवा कर सकें।

(२) समाज-सम्बन्धी ज्ञान तथा उसके आयोजन के लिए समाजशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है (The study of sociology is indispensable for understanding and planning of society)—समाज की रचना बड़ी जटिल तथा [illegible] है। समाजशास्त्र के अध्ययन के बिना इसकी विभिन्न समस्याओं को समझना [illegible]वं हल कर पाना असम्भव है। उचित ही कहा गया है कि हम समाज को तब तक [न] ही समझ सकते हैं और न उसे सुधार सकते हैं, जब तक कि हम उसकी रचना तथा [उ]सकी संचालन-विधि के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं कर लेते, ठीक उसी प्रकार [जैसे] कोई भी व्यक्ति कार की मशीनरी और उसके पुर्जे फिट करने की विधि आदि [ज]ाने बिना बिगड़ी हुई कार को ठीक नहीं कर सकता। सामाजिक समस्याओं [का सम]ाजशास्त्र के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि जीवविज्ञान और कीटाणुशास्त्र [का चिकित्स]ाविज्ञान के साथ है, या गणित तथा भौतिकविज्ञान का इंजीनियरिंग के सा[थ है।] जिस प्रकार सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक विज्ञानों में अनुसंधान किये बिना रोगं [को दू]र करने या पुल-निर्माण की आधुनिक विधि मालूम कर पाना सम्भव नहीं है, [उसी] प्रकार समाजशास्त्र-सम्बन्धी अनुसन्धानों के बिना सफल सामाजिक आयोजना [सम्]भव नहीं है। यह मान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कुशलतम उपायों के [चय]न में सहायता करता है।

किन्हीं भी सामाजिक नीतियों के क्रियान्वन से पहले समाज के सम्बन्ध में [ज्ञा]न प्राप्त करना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, मान लो कि जनन-दर को [कम करने क]ी नीति वाछनीय समझी जाती है, इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उत्तम साधनों [का चय]न केवल आर्थिक दृष्टि से नहीं किया जा सकता, क्योंकि परिवार-व्यवस्था, [रीति-रिवा]ज और रूढिगत मूल्यों को अवश्य ध्यान में रखना पड़ेगा और इनके लिए [समाजशास्त्र]ीय ढंग का विश्लेपण आवश्यक है।

(५) **समाजशास्त्र ने मनुष्य के वास्तविक महत्व तथा उसके सम्मान की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है (Sociology has drawn our attention to the intrinsic worth and dignity of man)**—मनुष्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलने में समाजशास्त्र का बड़ा योग रहा है। एक वृहत् विशिष्ट समाज मे हम सभी सीमित हैं, उस सीमा तक जहाँ तक हम सम्पूर्ण संस्था और संस्कृति का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। हम दूसरे क्षेत्रों के लोगों को निकटता से नही जान सकते। उनको निकट से जानने और उन लक्ष्यों का अनुमान लगाने जिनके सहारे दूसरे जीवित हैं और उन परिस्थितियों को जानना जिनमे वे रह रहे हैं, के लिए समाजशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। अब हमने मनुष्य के वास्तविक मूल्यों को एक मनुष्य के रूप में और जाति, रंग, विश्वास तथा दूसरे तत्वों के भेदभाव की व्यर्थता एवं अनुपयुक्तता को समझना आरम्भ कर दिया है। जिस जातीय या सामाजिक भेद ने पहले एक व्यक्ति को दूसरे से पृथक् कर दिया था, वह अब समाप्त हो रहा है और हम धीरे-धीरे मानवीय भ्रातृ-भावना की ओर बढ़ रहे हैं।

(६) **अपराध आदि की समस्याओं के सम्बन्ध में समाजशास्त्र ने हमारा दृष्टिकोण बदल दिया है (Sociology has changed our outlook with regard to the problems of crime etc.)**—इसके अतिरिक्त, समाजशास्त्र ने विभिन्न प्रकार के अपराधों के बारे में हमारा दृष्टिकोण बदल दिया है। अब अपराधियों को पतित पशुओं की भाँति नही दुतकारा जाता। इसके विपरीत, उन्हें मानसिक रोगग्रस्त मनुष्य समझा जाता है और उनके रोग को दूर करके उन्हे समाज का उपयोगी सदस्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अपराधशास्त्र, दण्डशास्त्र, समाज-सुधार-कार्य तथा सामाजिक चिकित्सा आदि जो सामाजिक अवस्थाओं को समझने और लोगों की व्यक्तिगत समस्याओं को हल करने के क्षेत्रों में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं, समाजशास्त्र के सहायक शास्त्र ही तो हैं।

(७) **मानव-संस्कृति को समृद्ध बनाने में समाजशास्त्र ने बड़ा योग दिया है (Sociology has made great contribution to enrich human culture)**—समाजशास्त्र ने मानव-संस्कृति को समृद्ध बनाने मे बड़ा योग दिया है। इसने हमारे मन से अनेक भ्रान्तियों को हटाया है। सामाजिक सम्बन्धों को वैज्ञानिक ज्ञान तथा खोज के प्रकाश में समझा जाता है। समाजशास्त्र ने हमें ऐसी ट्रेनिङ्ग दी है कि हर व्यक्ति अपने धर्म, रीति-रिवाज, नैतिकता तथा संस्थाओं से सम्बन्धित प्रश्नों को तर्कपूर्ण दृष्टि से देखे। इसके अतिरिक्त इसने हमें वस्तुनिष्ठ, गुणदोषज्ञ तथा निरपेक्ष बना दिया है। यह मनुष्य को स्वयं तथा दूसरों को अच्छी प्रकार से समझने योग्य बनाता है। अपने अतिरिक्त अन्य समाजों और समूहों के तुलनात्मक अध्ययन से वह अपने अस्तित्व से सम्बन्धित बहुत-सी वस्तुओं को देखने मे समर्थ होता है जो अन्यथा उसके ध्यान में न आतीं। उसका जीवन अधिक धनी और पूर्ण हो जाता है जो कि अन्यथा नही हो सकता था। समाजशास्त्र हमें संकीर्ण व्यक्तिगत राग-द्वेष, अहंवादी महत्वाकांक्षाओं तथा वर्ग-द्वेष को त्यागने का महत्व भी समझाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र के सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों तथा सम्पूर्ण समाज की यथासम्भव पूरी सेवा करने का प्रोत्साहन देते हैं।

(८) शिक्षा के एक विषय के रूप में भी समाजशास्त्र उपयोगी है (Sociology is useful as a teaching subject)—चूंकि समाजशास्त्र एक महत्वपूर्ण शास्त्र है, अत: शिक्षा के एक विषय के रूप में भी यह लोकप्रिय हो रहा है। कालेजों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्य-विषय में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा है। हाल में ट्रेनिंग कालेजों में भी इसे विषय के रूप में स्थान दिया गया है, क्योंकि अध्यापकों को केवल अपना विषय तथा अपने शिष्यों को व्यक्तिगत रूप में ही जानने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उन्हें उस समूह-जीवन को भी जानना पड़ता है जिसकी उसके विद्यार्थी उपज हैं और उस समूह-जीवन की प्रकृति के बारे में भी जानना आवश्यक होता है जिसके लिए उन्हें अपने विद्यार्थियों को तैयार करना होता है। समाजशास्त्र की शिक्षा देने से समाजीकृत विचारधारा का जन्म होगा, समाजीकृत व्यवहार का विकास होगा, सामाजिक योजना की वृद्धि होगी और एक नयी सामाजिक व्यवस्था का उदय होगा।

समाजशास्त्र के महत्व का एक अन्य प्रमाण यह है कि आई० ए० एस० और पी० सी० एस० तथा ऐसी ही अन्य उच्च परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम मे भी इसे सम्मिलित कर लिया गया है। यह विचार ठीक ही है कि समाजशास्त्र के अध्ययन के बिना उन लोगों की ट्रेनिंग तथा उनका ज्ञान अधूरा ही रहेगा, जिन्हें देश के शासन में महत्वपूर्ण पदों को सँभालना है।

(९) व्यवसाय के रूप में समाजशास्त्र का महत्व (Sociology as a profession)—समाजशास्त्र के विद्यार्थी निम्नलिखित क्षेत्रों में रोजगार पा सकते हैं—

(i) उद्योगों एवं सरकार मे लेबर वैलफेयर अधिकारी, मानव सम्बन्ध अधिकारी तथा पर्सनल आफीसर के रूप मे।

(ii) सामाजिक सुरक्षा, यथा रोजगार कार्यालय, बेरोजगारी बीमा योजना, सामाजिक सुरक्षा योजना के क्षेत्र में।

(iii) अपराधियों के सुधार-सम्बन्धी क्षेत्र मे, यथा प्रोबेशन अधिकारी, बाल भवनों या सुधार घर के अधीक्षक के रूप मे।

(iv) सामाजिक कल्याण के क्षेत्र मे समाज कल्याण अधिकारी, बाल कल्याण अधिकारी, ग्राम कल्याण अधिकारी, हरिजन कल्याण अधिकारी, कबीला कल्याण अधिकारी के रूप में।

(v) सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र मे सामाजिक शिक्षा या प्रौढ शिक्षा अधिकारी के रूप में।

(vi) विधवा कल्याण के क्षेत्र में नारी निकेतन के अधीक्षक के रूप में।

(vii) बूढ़ों, अपंगों, अनाथों के लिये खोले गये आश्रमों में उनके अधीक्षक के रूप में।

(viii) परिवार नियोजन के क्षेत्र में सामाजिक शोधकर्ता के रूप में।

संक्षेप में, समाजशास्त्र का सबसे अधिक महत्व इस बात में है कि यह आधुनिक अवस्थाओं के आधुनिकतम ज्ञान से परिचित कराता है, अच्छे नागरिकों के निर्माण में योग देता है, समुदाय की समस्याओं को हल करने में सहायता देता है,

समाज के बारे में ज्ञान की वृद्धि करता है, व्यक्ति को समाज के साथ उसके सम्बन्ध से परिचित कराता है, अच्छे शासन का अच्छे समाज के साथ तादात्म्य करता है, तथा लोगों की अनेक घटनाओं एवं बातों का कारण जानने में सहायता करता है। प्रो० बीच (Beach) का कथन है, "समाजशास्त्र आधुनिक संसार की बहुत-सी मूल समस्याओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा सब प्रकार के व्यक्तियों को भाता है।" प्रो० गिडिंग्स का कथन है, "जिस प्रकार अर्थशास्त्र यह बतलाता है कि जिन वस्तुओं को हम प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें कैसे प्राप्त करें; उसी प्रकार समाजशास्त्र बतलाता है कि हम जो बनना चाहते हैं, वैसा किस प्रकार बनें।" समाजशास्त्र के महत्व के प्रश्न का तात्पर्य यह नहीं है कि इसे समाजशास्त्र की आवश्यकता है या नहीं, बल्कि प्रश्न यह है कि समाजशास्त्र द्वारा प्राप्त ज्ञान का प्रयोग किस प्रकार किया जाय। स्पष्टतः इससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों प्रकार के लाभ हैं।

भारत में समाजशास्त्र के अध्ययन का महत्व और भी अधिक है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण भारतीय समाज द्रुत गति से परिवर्तित हो रहा है। इसकी रीतियाँ बदल रही हैं। संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है। विवाह-बन्धन शिथिल पड़ रहे हैं। टूटे परिवारों की संख्या बढ़ रही है। स्त्रियों एवं बच्चों में स्वतन्त्रता की भावना बढ़ रही है। परिवार-नियोजन की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। चलचित्रों ने विचारधारा एवं रहन-सहन के ढंग को प्रभावित किया है। भाषावाद, क्षेत्रीयतावाद तथा जातिवाद सिर उठा रहे हैं। राजनीतिक दलों में सत्ता की होड़ चरम सीमा पर है। प्रशासकीय तंत्र के प्रत्येक स्तर पर भ्रष्टाचार है। बेरोजगारी की समस्या गंभीर है। बढ़ते हुए नगरीकरण ने अनेक समस्याओं, यथा आत्महत्या, झुग्गी-झोंपडी, संक्रामक रोग, अपराध, बाल-अपराध, समूह-संघर्ष आदि को जन्म दिया है। लोग आन्दोलनकारी तरीकों का सहारा अधिक मात्रा में ले रहे हैं। शिक्षा-प्रणाली में घोर अव्यवस्था है, शिक्षण-संस्थाओं में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ बढ़ रही हैं, और यहाँ तक कि उच्च-पदस्थ एवं सम्मानित व्यक्तियों तथा उपकुलपतियों तक को अपमानित किया जा रहा है। संक्षेप में, प्रत्येक ओर चारित्रिक विघटन और संकट मौजूद है।

भारतीय समाज में व्याप्त उक्त विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए इन समस्याओं की सामाजिक पृष्ठभूमि को समझना होगा। समाजशास्त्र इस पृष्ठभूमि को समझने में काफी सहायक होगा।

प्रश्न

१. समाजशास्त्र की परिभाषा बताइये।

२. समाजशास्त्र की परिभाषा करते हुए अध्ययन-विषय के रूप में इसके महत्व का वर्णन कीजिए।

३. "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है", व्याख्या कीजिए।

४. क्या समाजशास्त्र सामाजिक शास्त्रों का पिटारा है या विशिष्ट ज्ञान?

५. एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

६ आधुनिक संसार मे समाजशास्त्र के अध्ययन के महत्व का वर्णन कीजिए ।

७. समाजशास्त्र किस अर्थ में विज्ञान है ?

८. समाजशास्त्र का आपके विचारानुसार क्या प्रमुख लक्ष्य है ?

९. समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं इसके विकास का वर्णन कीजिए ।

१०. समाजशास्त्र की प्रकृति एव इसके विषय-क्षेत्र का वर्णन कीजिए ।

११. क्या समाजशास्त्र का स्वतन्त्र विषय-क्षेत्र है ? पूर्णतया समझाइये ।

१२. भारत मे समाजशास्त्र के अध्ययन का क्या लाभ है ?

१३. समाजशास्त्र की परिभाषा विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है । इसके विषय-क्षेत्र के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

१४ क्या समाजशास्त्र मूल्यनिरपेक्ष विज्ञान हो सकता है ? स्पष्ट कीजिए ।

अध्याय २

समाजशास्त्र की पद्धतियाँ

[METHODS OF SOCIOLOGY]

पद्धति का अर्थ है किसी काम को करने का सर्वथा उपयुक्त ढंग। प्रत्येक विज्ञान को अपने अध्ययन-क्षेत्र में शोध के लिये उचित उपाय या उपयुक्त पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, समाजशास्त्र भी एक विज्ञान है। अतः इसके अध्ययन मे भी कुछ पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है, जिनसे समाज-सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठे किये जाते हैं, उनका विश्लेषण किया जाता है और उन्हें समुचित क्रम मे रखा जाता है तथा उनसे कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

समाजशास्त्र अभी अपने शैशवकाल में है, अतः अपने अनुसन्धान-सम्बन्धी कार्य के लिये अभी कोई उपयुक्त एवं वैज्ञानिक पद्धति का विकास नहीं कर सका है। परन्तु अन्य विज्ञानो द्वारा प्रयुक्त पद्धतियों की सहायता से सामाजिक घटनाओं के विश्लेषण तथा सामाजिक सिद्धान्तो के निर्माण में समाजशास्त्र को काफी सफलता मिली है। अन्य सामाजिक शास्त्रों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली पद्धतियों को समाजशास्त्र में अपनाना उचित ही है। अन्य विज्ञानो की भाँति समाजशास्त्र भी प्राकृतिक पद्धतियों का यथातथ्य अध्ययन है और चूंकि सामाजिक पद्धतियाँ भी अन्य पद्धतियों की भाँति समय पाकर विकसित होती हैं, अतः इसके विकास की प्रक्रिया का अध्ययन उन पद्धतियों द्वारा किया जाना चाहिये, जिन्हें अभी तक अन्य अध्ययन-विषयों में प्रयुक्त किया जाता है। चूंकि सामाजिक घटनाएँ बड़ी जटिल होती हैं और तत्सम्बंधी आँकड़े बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे करने पड़ते हैं और सामाजिक तथ्यों की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है, अतः यह कह पाना कठिन है कि समाजशास्त्र के अध्ययन में किस विशिष्ट पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिये। यही कारण है कि सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने में समाजशास्त्री कई पद्धतियों का प्रयोग करते हैं। चैपिन (Chapin) के अनुसार, समाजशास्त्र की तीन प्रमुख पद्धतियाँ हैं—ऐतिहासिक पद्धति, सांख्यकीय पद्धति, तथा पर्यवेक्षण पद्धति। एलवुड (Ellwood) ने पाँच पद्धतियों का जिक्र किया है—मानवशास्त्रीय या तुलनात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, सर्वे पद्धति, निगमनात्मक पद्धति तथा दार्शनिक पद्धति। हार्ट (Hart) ने भी पाँच पद्धतियों का जिक्र किया है। ये हैं—सहजबुद्धि पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, संग्रहालय-सर्वेक्षण पद्धति, प्रयोगशाला या प्रयोगात्मक पद्धति तथा सांख्यिकीय पद्धति। समाजशास्त्र की सर्वसामान्य पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं—

१. वैज्ञानिक या प्रयोगात्मक पद्धति

(The Scientific or Experimental Method)

अपनी विषय-सामग्री के अध्ययन में प्रत्येक विज्ञान वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है। इस पद्धति में पर्यवेक्षण (observation), प्रलेखन (recording), वर्गी-

करण (classification), उपकल्पना (hypothesis), सत्यापन (verification) एवं पूर्वकथन (prediction) सम्मिलित हैं। पर्यवेक्षण का अर्थ है, वस्तुओं को ध्यान से देखना। पर्यवेक्षण दो प्रकार का होता है–(i) स्वाभाविक (spontaneous) तथा (ii) नियंत्रित (controlled)। स्वाभाविक पर्यवेक्षण उसको कहते हैं, जब पर्यवेक्षण की जाने वाली घटना स्वाभाविक ढग से घट रही हो, जैसे समाजशास्त्री किसी ग्रह की गति का पर्यवेक्षण कर रहा हो या स्वय किसी दंगे का दृश्य अपनी आँखों से देख रहा हो। नियंत्रित पर्यवेक्षण जिसे प्रयोग भी कहा जाता है, वह होता है जब पर्यवेक्षणकर्ता घटना के लिये उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न कर उनमें घटना को होने देता है और उसका पर्यवेक्षण करता है। प्रयोग की परिभाषा ऐसी खोज से की जा सकती है जिसमे स्थिति या विषयों को अन्वेषणकर्ता व्यवस्थित रूप में चलाता है और नियंत्रित पर्यवेक्षण करता है, ताकि विभेदकों (variables) के सम्बन्ध मे निश्चित उपकल्पनाओं की जाँच की जा सके। प्रयोग केवल भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र जैसे प्राकृतिक विज्ञानों मे ही सभव होता है; परन्तु समाजशास्त्र-जैसे सामाजिक विज्ञानो मे यह संभव नही है। कुछ लोगो को अभी तक संदेह है कि क्या सामाजिक व्यवहार का वास्तव मे वैज्ञानिक अध्ययन हो सकता है। जैसा कि हमने पहले ही चर्चा की है कि समाजशास्त्र मे प्रयोगशाला विधि को अपनाना सम्भव नही है, क्योंकि समाजशास्त्र की अध्ययन-वस्तु 'मानव' है जिसके लिये कतिपय निर्धारित अवस्थाओं में बँध कर रहना संभव नही है।

यह कहा गया है कि जब प्रयोग पद्धति का प्रयोग किया जाता है तो खोजों का कृत्रिम और तुच्छ होना स्वाभाविक है। परन्तु इस पद्धति का प्रयोग अवस्थाओं के विभिन्न क्षेत्रों तथा व्यवहार के विभिन्न प्रकारों पर बडी सफलता से किया गया है। समाजशास्त्र लोगों के व्यवहार का उन्हीं अवस्थाओ मे पर्यवेक्षण करता है जिन अवस्थाओं मे वह किये जा रहे है। हाँ, यथासंभव यह सावधानी रखनी आवश्यक है कि अध्ययनगत मनुष्यो को यह पता न चले कि उनके व्यवहार का पर्यवेक्षण किया जा रहा है।

वैज्ञानिक पद्धति का दूसरा प्रक्रम प्रलेखन (recording) है। इस प्रक्रम मे पर्यवेक्षित तथ्यो अथवा आँकड़ो को लेखबद्ध किया जाता है। प्रलेखन सही एवं *व्यक्तिनिष्ठ होना चाहिये। समाजशास्त्री अपने द्वारा पर्यवेक्षित अवस्था के तथ्यों* का प्रलेख करता है।

वैज्ञानिक पद्धति का तीसरा प्रक्रम वर्गीकरण (classification) है। तथ्यों का पर्यवेक्षण एवं प्रलेखन करने के बाद हमे उनका एक निश्चित क्रम में वर्गीकरण करना होता है। वर्गीकरण द्वारा हम समान विशेषताओं वाले तथ्यों को एक ही वर्ग में रखते हैं। इस प्रकार, वर्गीकरण द्वारा एकत्रित तथ्यों के बीच अन्तर्सम्बन्ध मालूम करना संभव हो जाता है।

तदुपरान्त उपकल्पना (hypothesis) का प्रक्रम आता है। इसका अर्थ होता है कि वर्गीकृत तथ्यों के अन्तर्सम्बन्ध के लिये कुछ संभावित व्याख्या दी जाय। वर्गीकरण हमें संगत तथ्यों को असंगत तथ्यों से अलग करने में सहायता देता है।

कुछेक घटनाओं के बीच पाया गया अन्तर्सम्बन्ध तथा उनकी प्रकृति एवं पारस्परिक अन्तर्क्रिया के अध्ययन से हम अस्थायी व्याख्या देने के योग्य हो जाते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि हमारी यह व्याख्या ठीक हो। हमें इसी प्रकार के अन्य तथ्यों के आधार पर उसका सत्यापन करना होता है और यदि वह व्याख्या ठीक नहीं निकलती तो उसे छोड़ देना होता है और उसके स्थान पर नयी उपकल्पना खोजनी पड़ती है। जब तक सत्यापन नहीं हो जाता, तब तक यही उपक्रम चलता रहता है।

इसके बाद अंतिम प्रक्रम पूर्वकथन का है जिसका अर्थ है कि तथ्यों के पर्यवेक्षण के आधार पर निर्मित सामान्य सिद्धान्त भविष्य में भी सही होगा, यदि उस सिद्धान्त की निर्धारित दशाएँ वर्तमान होंगी। भौतिकविज्ञान सही पूर्वकथन कर सकता है, परन्तु समाजशास्त्र केवल अनुमानित पूर्वकथन ही; क्योंकि इसकी विषय-वस्तु विविध एवं जटिल है।

अतएव, समाजशास्त्र में प्रयोगात्मक पद्धति को प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि मानव-व्यवहार बड़ा जटिल होता है जिसे पर्यवेक्षण, तुलना तथा प्रयोग के लिये नियंत्रित अवस्था में ला पाना कठिन होता है। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से तथ्यों का पर्यवेक्षण करके, उनका वर्गीकरण करके तथा उनके बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करके, उनकी अस्थायी व्याख्या करके, उस अस्थायी व्याख्या का सत्यापन करके, सामान्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्माण करके तथा इन सिद्धान्तों के आधार पर पूर्वकथन करके समाजशास्त्र प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग अवश्य करता है। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि समाजशास्त्र की परिकल्पनाएँ भौतिक विज्ञानों की भाँति ठोस और अटल नहीं हैं। समाजशास्त्र का विषय अनिश्चित ढंग से विविध, लगभग अनन्त और जटिल है। इसमें प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु के साथ अत्यधिक संबंधित है।

२. ऐतिहासिक पद्धति

(The Historical Method)

ऐतिहासिक पद्धति में भूतकालीन सभ्यताओं की घटनाओं, प्रक्रियाओं और संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है, ताकि वर्तमान सामाजिक जीवन के आरम्भ तथा उसकी प्रकृति एवं कार्यविधि का ज्ञान हो सके। इतिहास और समाजशास्त्र का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि जी० ई० हावर्ड (G. E. Howard) जैसे कई समाजशास्त्री इतिहास को भूतकालीन समाजशास्त्र और समाजशास्त्र को वर्तमान इतिहास मानते हैं। स्पष्ट है कि हमारे सामाजिक जीवन के आधुनिक रूप (forms), हमारे रिवाज अथवा जीवन-यापन की विधियों (ways of living) की जड़ें अतीत से जुड़ी हैं। इसलिए इनकी व्याख्या उनके मूल स्रोतों की सहायता से ही की जा सकती है और ऐसा केवल इतिहास के सहयोग से ही सम्भव है।

परन्तु इस पद्धति से समाजशास्त्र की सम्पूर्ण समस्याओं का अध्ययन संभव नहीं है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को इतिहास द्वारा प्रदत्त तथ्यों के अध्ययन तक

ही सीमित नहीं रखा जा सकता । निस्सन्देह जीवन-चरित्रों, डायरियों आदि में संचित ऐतिहासिक तथ्य अनेक नई बातों का ज्ञान कराते हैं, परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उनका कोई विशेष महत्व नहीं है, क्योंकि समाजशास्त्री द्वारा पूछे जाने वाले सभी प्रश्नों के उत्तर ऐतिहासिक तथ्य नहीं दे सकते । इसके अतिरिक्त इतिहास के तथ्यों के सम्बन्ध मे यह शंका भी रहती है कि शायद उन तथ्यों के व्याख्याकारों ने उनका अध्ययन बिल्कुल निरपेक्ष होकर न किया हो ।

सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पद्धति पूर्णतः पर्याप्त तथा विश्वसनीय नहीं है। अतः समाजशास्त्र का अध्ययन करने के लिए अन्य पद्धतियों के प्रयोग की भी आवश्यकता है ।

३. तुलनात्मक पद्धति
(The Comparative Method)

जैसा हम देख चुके हैं कि समाजशास्त्र का मुख्य कार्य सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का पता लगाना है । समाजशास्त्री एक भौतिकविज्ञानवेत्ता की भाँति किसी प्रयोगशाला में किसी विशेष सामाजिक घटना के सम्बन्ध मे प्रयोग पद्धति और उसकी सारी अवस्थाओं, जैसे पर्यवेक्षण, वर्गीकरण, उपकल्पना, सामान्य सिद्धान्त-निरूपण आदि का समुचित प्रयोग नहीं कर सकता । परन्तु समाजशास्त्री तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके विश्व-प्रयोगशाला में प्रयोग अवश्य कर सकता है । इस पद्धति में विभिन्न प्रकार के समूहों या व्यक्तियों की तुलना की जाती है, जिससे उनके रहन-सहन के ढंग की विविधता और एक-रूपता का पता लगता है और इस प्रकार मानव के सामाजिक व्यवहार के प्रमुख लक्षणों का ज्ञान प्राप्त होता है ।

सामाजिक जीवन में कार्यात्मक रूप से परस्पर-सम्बन्धित तत्वों का पता लगाने के लिए कई समाजशास्त्रियो ने इस पद्धति का प्रयोग किया है । टेलर (Taylor) ने आदिम समाज के व्यक्तियों से सम्बन्धित संस्थाओं तथा रीति-रिवाजों का अध्ययन करने के लिए इस पद्धति का प्रयोग किया और यह बताया कि सास (mother-in-law) के परिहार का रिवाज मातृत्व-प्रधान परिवार-व्यवस्था का परिणाम था । उसने बताया कि जिन परिवारों में पति अपनी पत्नी के माँ-बाप के साथ रहने जाता है, वहाँ सास और जमाई का सम्बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार वैबर (Weber) ने किसी समुदाय की व्यावहारिक नैतिकता और उसकी आर्थिक प्रणाली मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध बतलाया है ।

परन्तु इस पद्धति का प्रयोग इतना सरल नही है जितना कि यह प्रतीत होता है । इस पद्धति के प्रयोग में पहली कठिनाई यह है कि भिन्न-भिन्न देशों में सामाजिक इकाई का पृथक्-पृथक् अर्थ होता है । उदाहरण के लिए, भारतवासी तथा यूरोप के लोग विवाह-संस्था को अलग-अलग दृष्टि से देखते हैं । भारत में विवाह को पति-पत्नी के बीच अटूट पवित्र बन्धन माना जाता है, जबकि यूरोप के लोग विवाह को एक ऐच्छिक करार मानते हैं, जो पति-पत्नी दोनों में से किसी एक की भी इच्छा से समाप्त किया जा सकता है ।

४. प्रतिकूल निगमन पद्धति
(The Inverse Deductive Method)

समाजशास्त्र में प्रतिकूल निगमन पद्धति का प्रयोग बहुत किया जाता है। इस पद्धति के जन्मदाता जे० एस० मिल (J. S. Mill) थे। इसकी क्रियाविधि नीचे दी जाती है।

पहली बात यह है कि इस पद्धति में यह मान लिया जाता है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्वों में परस्पर सम्बन्ध है। टैलर द्वारा प्रस्तुत पद्धति का प्रयोग करके हम पता लगाते हैं कि सामाजिक जीवन के कौन-कौन से तत्वों में कार्य-सम्बन्धी परस्पर संबंध है। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि टैलर ने आदिम व्यक्तियों के परिवार से सम्बन्धित संस्थाओं व रीति-रिवाजों के तुलनात्मक तथा सांख्यिकीय अध्ययन (statistical study) के लिए इस पद्धति का प्रयोग किया था और हमें यह बताया था कि सास-परिहार का रिवाज मातृत्व-प्रधान परिवार-व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि औद्योगीकरण तथा पूँजीवाद के बीच, नगरीकरण तथा परिवार के विघटन के बीच, युद्ध तथा वर्ग-विभेद के बीच कुछ सम्बन्ध है। अभिजात वर्ग के उदय तथा दासप्रथा के व्यापक प्रचलन का आर्थिक प्रणाली के विकास से सम्बन्ध प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि संस्थाओं व रीति-रिवाजों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों का पता लगाने के बाद हम उनकी क्रम-बद्धता पर विचार करते हैं, अर्थात् हम यह पता लगाते हैं कि संस्थाओं व रीति-रिवाजों के परिवर्तन में क्या कोई सामान्यताएँ हैं और क्या किसी एक संस्था या रीति-रिवाज में होने वाले परिवर्तन का अन्य संस्थाओं या रीति-रिवाजों में परिवर्तन से कोई संबंध है, अर्थात् हम यह पता लगा सकते हैं कि क्या वर्ग-संरचना में होने वाले परिवर्तनों का आर्थिक संगठन में होने वाले परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध है अथवा परिवार के स्वरूप तथा उसके कार्यों में होने वाले परिवर्तनों का आर्थिक व्यवस्था या धार्मिक विश्वासों या नैतिक विचारों में होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्ध है? तीसरी बात यह है कि यदि परस्पर-संबंधित परिवर्तनों या क्रमों के नियम निर्धारित कर लिये जाते हैं तो इन नियमों को समाजशास्त्र के मध्यवर्ती नियम (middle principles) कहा जा सकता है। अंतिम बात यह है कि ऐसे नियम सामाजिक घटनाओं की अंतिम व्याख्या नहीं करते; उन्हें मनोविज्ञान तथा सामाजिक मनोविज्ञान के अधिक तथ्यात्मक नियमों, जो मानव-समाज के जीवन तथा विकास को संचालित करते हैं, के साथ संबंधित करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार, समाजशास्त्र निगमनात्मक या आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग नहीं कर सकता। यह प्रतिकूल निगमन विधि का प्रयोग करता है जो तुलनात्मक या सांख्यिकीय पद्धति द्वारा प्राप्त आगमनात्मक सामान्यीकरणों के परममूल्यों से प्राप्त निगमन का मिश्रित रूप है।

५. आदर्श प्रकार पद्धति
(The Ideal Type Method)

मैक्स वेबर, सिमल एवं दुर्खीम ने सामाजिक घटना-वस्तु का अध्ययन

करने हेतु आदर्श प्रकार पद्धति का वर्णन किया है। इस पद्धति में कुछ स्थूल तथ्यों के आधार पर किसी एक आदर्श का निर्माण कर लिया जाता है और तदुपरान्त उस आदर्श के परिप्रेक्ष्य में किसी विशेष मामले का मूल्यांकन किया जाता है कि वह आदर्श के कितना निकट है। उदाहरणतया, यदि कोई समाजशास्त्री 'मित्रता' या 'प्रजातंत्र' के अध्ययन में रुचि रखता है तो वह स्थूल तथ्यों के आधार पर मित्रता अथवा प्रजातंत्र के एक आदर्शात्मक रूप का निर्माण कर लेगा और तदुपरान्त वह किसी मित्रता के विशेष मामले या किसी देश में प्रजातंत्र के संचालन का मूल्यांकन उस आदर्श के आधार पर करेगा। वेबर के अनुसार, सामाजिक व्यवहार के आदर्श प्रकार मे कुछ उद्देश्यों एवं आदर्शात्मक नियंत्रणों का वर्णन निहित होता है जिससे तर्कयुक्त क्रिया के विचार का जन्म होता है। वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययनों के लिये आदर्श प्रकार का विश्लेषण तथा व्यक्तिगत मूल्यों का अंकन काफी उपयोगी रहा है। क्या आदर्श प्रकार के वर्गों के हितों में संघर्ष होता है, इस प्रश्न की मार्क्सवादी व्याख्या मे इस पद्धति का लाभप्रद प्रयोग किया गया है। इस पद्धति का प्रयोग—

(i) विशेष अवस्थाओं की व्याख्या के एक साधन के रूप में;

(ii) सामान्यीकृत अवधारणा के रूप में जिसके द्वारा किसी समान तत्व को इसकी अभिव्यक्ति की विविधता से पृथक् कर सकते हैं;

(iii) अन्य तथ्यों की कारणीय शक्ति की खोज करने के लिये साधन के रूप में;

किया जा सकता है।

परन्तु इस पद्धति की अपनी कठिनाइयाँ हैं। आदर्श का निर्माण कोई सरल कार्य नही है। यह एक अन्तर्मुखी (subjective) प्रक्रिया है, अतएव आदर्श के निर्माण में वैयक्तिक रुचि का प्रभाव नही पड़ेगा, यह संदिग्ध है। दूसरे, एक बार निर्मित आदर्श सदा-सदा के लिये उपयोगी नहीं रह सकता, क्योंकि सामाजिक दशाओं में परिवर्तन के साथ आदर्श का रूप भी बदल जायेगा। तीसरे, यह पद्धति समाज की जटिलता को समझने के लिये पर्याप्त नहीं है।

६. सांख्यिकीय पद्धति

(The Statistical Method)

सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग सामाजिक घटना-वस्तु को गणितीय, अर्थात् आँकड़ों की सहायता से नापने में किया जाता है। बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "सामाजिक सांख्यिकी मानव-तथ्यों में प्रयुक्त गणित है।"[1] ओडम (Odum) ने लिखा है, "सांख्यिकी, जो घटना-वस्तु को वस्तुनिष्ठ ढंग से नापने एवं गिनने का विज्ञान है, शोध का अनिवार्य केन्द्रीय भाग है।"[2] जेम्स स्मिथ (James Smith) ने

1. "Social statistics is mathematics applied to human facts."—Bogardus, Sociology, p. 546.

2. "Statistics, which is the science of numbering and measuring phenomena objectively is an essential core of research."—Odum, *Understanding Society*, p. 45.

लिखा है, "सांख्यिकीय पद्धति आँकड़ों एवं सांख्यिकीय सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा तथ्यों की व्याख्या करने की प्रक्रिया है।"[1] अतएव यह स्पष्ट है कि मात्राबोधक समस्याओं, यथा जनसंख्या की वृद्धि, जन्म और मृत्यु दर में कमी या वृद्धि, आय में गिरावट, आदि समस्याओं के विश्लेषण में इस पद्धति का प्रयोग लाभदायक ढंग से किया जा सकता है। प्रो० गिडिंग्स (Giddings) पहला महान् समाजशास्त्री था जिसने समाजशास्त्रीय शोधों में आँकड़ों के महत्व पर बल दिया। आजकल समाजशास्त्र में शोध का काफी कार्य, जैसे जनसंख्या, देशान्तरण (migration), आर्थिक दशाओं, मानव-पर्यावरण आदि का अध्ययन सांख्यिकीय आधार पर एकत्रित आँकड़ों की सहायता से किया जा रहा है।

परन्तु सांख्यिकीय पद्धति के प्रयोग में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मानव-समस्याएँ संख्यात्मक न होकर गुणात्मक अधिक होती हैं। अतएव इस पद्धति का प्रयोग केवल सीमित क्षेत्र में ही किया जा सकता है।

अमेरिकी समाजशास्त्र में सांख्यिकी ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। वहाँ समाजशास्त्री समाजशास्त्रीय घटनाओं को अत्यधिक संख्यात्मक शब्दों में व्यक्त करने तथा उनका सांख्यिकीय वर्णन करने में सफल हुए हैं।

७. समाजमिति पद्धति
(Sociometry Method)

अभी हाल में कुछ समाजशास्त्रियों ने ईर्ष्या, वर्ग-संघर्ष तथा सामाजिक समंजन (social adjustment) आदि गैर-सांख्यिकीय विषयों को नापने के लिये समाजमिति की पद्धति का प्रयोग किया है। समाजमिति अन्तःवैयक्तिक सम्बन्धों में आकर्षण तथा विकर्षण को संख्यात्मक एवं रेखाचित्रात्मक (diagrammatic) शब्दों में नापने की विधि है। यह पद्धति छोटे समूह की संरचनाओं, व्यक्तित्व के लक्षणों एवं सामाजिक प्रास्थिति के अध्ययन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। यह लोगों की एक-दूसरे के प्रति भावनाओं का उद्घाटन करती है तथा अन्तर्क्रिया की विभिन्न तालिकाएँ या नाप प्रस्तुत करती है। समाजमितिक परीक्षण, व्यक्तियों को कार्य-समूहों में इस प्रकार विभक्त करने में कि अधिक से अधिक अन्तःवैयक्तिक तालमेल एवं कम से कम संघर्ष उत्पन्न हो, बहुत सहायक हो सकता है।

यह पद्धति आदर्श प्रकार का विश्लेषण एवं सांख्यिकी का एक अर्थ में योग है। इस पद्धति का सबसे पहले प्रयोग जी० एल० मोरिनो (G. L. Moreno) ने अपनी पुस्तक "We shall Survive" में किया था। यद्यपि इसका प्रयोग प्राथमिक एवं मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया है, परन्तु समाजशास्त्रीय समस्याओं के अध्ययन में इसके मूल्य को धीरे-धीरे महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। यह पद्धति विश्वस्त एवं सरल है, परन्तु यह अन्तःवैयक्तिक अभिवृत्तियों के केवल एक पक्ष की ही नाप-तोल करती है। यह पद्धति पारिमाणिक नहीं है।

---

1. "Statistical method is a term used to describe the process of interpreting acts by the use of statistics and statistical theory."—Smith, James, *Elementary Statistics*, p. 8.

८. सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति
(The Social Survey Method)

इस पद्धति में किसी निर्धारित क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के रहन-सहन तथा काम-काज की अवस्थाओं के सम्बन्ध में आँकड़े इकट्ठे किये जाते हैं, ताकि उनकी दशा सुधारने एवं उनके कल्याण के व्यावहारिक सामाजिक उपायों की योजना बनायी जा सके।

सामाजिक सर्वेक्षण की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) मार्क अब्राम (Mark Abrams)—"सामाजिक सर्वेक्षण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक समुदाय (community) की रचना और गतिविधियों के सामाजिक पक्ष से सम्बन्धित संख्यात्मक तथ्यों को संगृहीत किया जाता है।"[1]

(ii) ए० एफ० वेल्ज (A. F. Wells)—"सामाजिक सर्वेक्षण श्रमिक-वर्ग की निर्धनता तथा अन्य किसी समुदाय की प्रकृति और उसकी समस्याओं से प्रमुख रूप से सम्बन्धित तथ्य-निरूपण का अध्ययन है।"[2]

(iii) ई० डब्लू० बर्गेस (E W Burgess)—"सामाजिक सर्वेक्षण किसी समुदाय की अवस्थाओं और आवश्यकताओं का वैज्ञानिक अध्ययन है जिसका लक्ष्य उसकी सामाजिक प्रगति के लिये रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत करना है।"

इस प्रकार सामाजिक सर्वेक्षण का उद्देश्य सामाजिक महत्व की किसी समस्या से सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करना है, ताकि उसको सुलझाने के लिये रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया जा सके। सामाजिक सर्वेक्षण अनेक प्रकार के हो सकते हैं, यथा—(i) सामान्य या विशेष सर्वेक्षण, (ii) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सर्वेक्षण, (iii) जनसंख्या सर्वेक्षण या प्रतिदर्श (sample) सर्वेक्षण, (iv) प्राथमिक या गौण सर्वेक्षण, (v) प्रारम्भिक या पुनरावृत्तिक सर्वेक्षण, (vi) सरकारी, अर्द्धसरकारी या निजी सर्वेक्षण, (vii) विस्तृत या सीमित सर्वेक्षण, (viii) सार्वजनिक या गोपनीय सर्वेक्षण, (ix) पत्रमाध्यमीय या वैयक्तिक सर्वेक्षण, (x) नियमित या तदर्थ सर्वेक्षण।

सर्वेक्षण में ये क्रम होते हैं—(i) उद्देश्य या लक्ष्यों की परिभाषा, (ii) अध्ययनगत समस्या की परिभाषा, (iii) सारिणी में इस समस्या का विश्लेषण, (iv) सभी लिखित स्रोतों का अवलोकन, (v) क्षेत्र या विषय-क्षेत्र का परिसीमन, (vi) क्षेत्रीय कार्य, (vii) आँकड़ों को इकट्ठा करना, क्रमबद्ध करना तथा उनका सांख्यिकीय विश्लेषण करना, (viii) निष्कर्षों की व्याख्या करना, (ix) निगमन, (x) रेखाचित्रीय अभिव्यक्ति।

---

1. "A social survey is a process by which quantitative facts are collected about the social aspect of a community's composition and activities."—Abrams, Mark, *Social Surveys and Social Action* p 1.

2. "Social survey is a fact-finding study dealing chiefly with working class poverty and with the nature and problems of a community."—A. F. Wells.

इस प्रकार के सामाजिक सर्वेक्षण बड़े लाभदायक होते हैं, क्योंकि वे सामाजिक एवं आर्थिक तथ्यों के विस्तृत वर्णन ही प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि किसी भूक्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के बीच विद्यमान सामाजिक कुरीतियों को भी प्रकट करते हैं जिससे सरकार का ध्यान इन कुरीतियों को दूर करने की ओर आकृष्ट होता है। अमेरिका तथा इङ्गलैंड में अपनी सामाजिक समस्याओं के समाधान-हेतु व्यापक स्तर पर काफी समय से सामान्य तथा विशिष्ट दोनों प्रकार के सामाजिक सर्वेक्षणों का उपयोग किया जा रहा है। भारत तथा अन्य अर्द्धविकसित देश भी नगरीय तथा ग्रामीण स्तर पर किये जा रहे सामाजिक सर्वेक्षणों से लाभ उठा रहे हैं। ऐसे सर्वेक्षण अन्य उन्नत देशों की सहायता एवं सहयोग से अथवा स्वयं देशीय प्रयत्नों से किये जा रहे हैं।

९. प्रकरण– अध्ययन पद्धति

(The Case Study Method)

प्रकरण-अध्ययन का अर्थ है, "किसी व्यक्ति या समूह के बारे में शोध जिसमें परिवर्त्यों (variables) को जिन्हें मापा-तौला जाता है एवं जिनके आनुभविक सम्बन्धों की खोज की जाती है, उस व्यक्ति या समूह की न कि इसके उपघटक की, विशेषताएँ होती हैं। यह किसी व्यक्ति, दशा या संस्था का अत्यन्त सावधान एवं पूर्ण पर्यवेक्षण द्वारा गुणात्मक विश्लेषण होता है। इसका प्रयोग किसी व्यक्ति-विशेष, समूह, समुदाय या संस्था के अध्ययन में किया जाता है। इस पद्धति के पीछे यह धारणा है कि जिस प्रकरण (case) का अध्ययन किया जाता है, वह यदि सबका नहीं तो बहुत से समान प्रकरणों का प्रतिनिधि होता है, अतः इस प्रकरण के अध्ययन से जो निष्कर्ष प्राप्त होंगे, उनसे सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण संभव होगा। बर्गेस (Burgess) ने इसे 'सामाजिक सूक्ष्मदर्शनयंत्र' (social microscope) की संज्ञा दी है। इस पद्धति का प्रयोग पेशेवर अपराधियों तथा अन्य सामाजिक रूप से विचलित व्यक्तियों के अध्ययन में किया जाता है, जिसमें उस 'केस' से सम्बन्धित सभी तत्वों की छानबीन एवं उनका विश्लेषण तथा सभी संभव दृष्टियों से उनकी व्याख्या की जाती है। एच॰ ई॰ जेनसन (H. E. Jenson) का कथन है, "निश्चित रूप से प्रारूपिक (typical) सर्वेक्षण केवल किसी समुदाय का प्रकरणात्मक अध्ययन नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे व्यक्तित्व का विशुद्ध व्यवहारवादी अध्ययन व्यक्ति का प्रकरणात्मक अध्ययन नहीं है; दूसरी ओर मुझे यह कहना चाहिये कि प्रकरण-अध्ययन पद्धति किसी भी आकार के समूह पर लागू हो सकती है, और इसका प्रयोग व्यक्तित्व के अध्ययन से लेकर स्वयं सभ्यता के अध्ययन के लिये किया जा सकता है। किसी भी समुचित समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रकरण पद्धति एवं ऐतिहासिक पद्धति का योग होता है।" गुडे एवं हाट्‌स (Goode and Harts) के अनुसार, "यह अध्ययनगत सामाजिक विषय के एकात्मक स्वरूप को बनाये रखने हेतु सामाजिक आँकड़ों को संग्रह करने का एक ढंग है।" दूसरे शब्दों में, "यह एक ऐसा उपागम है जो सामाजिक इकाई को उसके सम्पूर्ण रूप में देखता है।" इस पद्धति में प्रयुक्त उपाय हैं— साक्षात्कार, प्रश्नावलियाँ, जीवन-वृत्त, विषय से सम्बन्धित सभी प्रलेख तथा अन्य

सभी ऐसी सामग्री जिसका अध्ययनगत विषय से सम्बन्ध हो। सम्पूर्णता इस पद्धति का मूलाधार है।

प्रकरण-अध्ययनों के बारे में कुछ बातें कही गई हैं। लेविन (Lewin) का कथन है कि जब तक उन सभी प्रकरणों को जिन्हें एक विशेष समूह में संगृहीत किया गया है, तुलनात्मक रूप से सिद्ध नहीं किया जाता, तब तक सांख्यिकीय पद्धतियों का प्रयोग भ्रममूलक होगा। दूसरे, किसी व्यक्ति या समुदाय के व्यवहार को समझने अथवा उसके बारे में पूर्वकथन करने के लिये निदान अवश्य कर लिया जाना चाहिये, ताकि आनुभविक नियमों में रखे जाने वाले अचरों (constants) के मूल्यों को खोजा जा सके। समाजशास्त्र अभी तक उस अवस्था को प्राप्त नहीं कर सका है, जहाँ सही पूर्वकथन किया जा सके। तीसरे, कोई भी एक प्रकरण अन्य प्रकरणों से प्राप्त सामान्यीकृत नियम को झुठलाने के लिये काफी हो सकता है। ऐसी दशा में उन परिवर्त्यों का पता लगाना आवश्यक है जो सामान्यीकृत नियम की पुष्टि नहीं करते।

१०. प्रश्नावली एवं साक्षात्कार पद्धति

(Quest ionnaire and Interview Method)

प्रश्नावली तथा साक्षात्कार पद्धतियाँ समाजशास्त्रियों की प्रिय पद्धतियाँ हैं। प्रश्नावली किसी समस्या से सम्बन्धित महत्वपूर्ण एवं सुसंगत प्रश्न की एक सूची होती है। लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, "प्रश्नावली उद्दीपकों (stimuli) का एक समूह है जिसके अन्तर्गत शिक्षित व्यक्तियों को उनके शाब्दिक व्यवहार के पर्यवेक्षण हेतु छोड़ दिया जाता है।"[1] यह सम्बन्धित व्यक्तियों तथा समितियों को इस निवेदन के साथ प्रस्तुत की जाती है कि अपनी योग्यता तथा अपने ज्ञान के अनुसार उन प्रश्नों का उत्तर देने की कृपा करें। इसका उद्देश्य ऐसे तथ्यों की जानकारी करना होता है जो ज्ञापक के पास होते हैं, परन्तु शोधकर्ता के पास नहीं होते। कुछेक प्रश्नों के प्राप्त उत्तरों से सामाजिक व्यवहार के बारे में पूर्वकथन किये जाते हैं। यह आवश्यक है कि प्रश्नावली के प्रश्न सावधानीपूर्वक बनाये जाने चाहिये। प्रश्न अस्पष्ट नहीं होने चाहिये, उनकी संख्या बहुत अधिक भी नहीं होनी चाहिये, वे बिलकुल वैयक्तिक भी नहीं होने चाहिये और न वे इतने क्लिष्ट हों कि साधारण समझ और बुद्धि का व्यक्ति उनका उत्तर न दे सके।

किसी विशेष स्थिति या समस्या के बारे में आवश्यक आँकड़े इकट्ठा करने के लिये प्रश्नावली पद्धति सारे संसार में प्रयुक्त की जाती है। कुछ समय पूर्व हमारे देश में शिक्षा-प्रणाली में सुधार से संबंधित एक प्रश्नावली अध्यापकों, लोक-व्यक्तियों, वकीलों, विद्वानों आदि को भेजी गयी थी। इस प्रकार एकत्रित तथ्यों के आधार पर कोठारी आयोग ने सरकार को अपनी रिपोर्ट दी थी।

साक्षात्कार पद्धति के अन्तर्गत शोधकर्ता समस्या से सम्बधित व्यक्तियों या

1. "Questionnaire is a set of stimuli to which literate people are exposed in order to observe their verbal behaviour under these stimuli."—Lundberg, G A., *Social Research*. p. 183.

समूहों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करता है। ऐसे व्यक्ति या समूह से वैयक्तिक स्तर पर बातचीत की जाती है जिससे संबंधित समस्या को अच्छी तरह समझने तथा उसको हल करने में बड़ी सहायता मिलती है। इस पद्धति का प्रयोग अनेक विद्वानों द्वारा अपनी महत्वपूर्ण कृतियों को लिखने मे किया गया है। कुछेक महत्वपूर्ण कृतियाँ ये हैं—डॉ० डिकिन्सन एवं डॉ० बीम की 'ए मेडिकल स्टडी आफ सेक्स एडजस्टमेन्ट (A Medical Study of Sex Adjustment); डॉ० ए०सी० किन्से (A. C. Kinsey) की 'दि सेक्सुअल बिहेवियर इन दि ह्यूमन मेल एण्ड फीमेल' (The Sexual Behaviour in the Human Male and Female), आदि। प्रश्नावली या साक्षात्कार पद्धति द्वारा अनेक प्रकार की रचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। प्रश्नावली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि व्यक्ति अनाम रहकर अधिक ठीक उत्तर दे सकता है। इसमें अनियंत्रित वैयक्तिक प्रभाव भी नहीं पड़ते तथा प्रश्नों के उत्तर देने में पूर्वाग्रह की कम सम्भावना होती है। साक्षात्कार एक नमनीय पद्धति है, क्योंकि कोई प्रश्न भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रकार से समझा जा सकता है, अतएव साक्षात्कारकर्ता उस प्रश्न के अर्थ को भली प्रकार समझा सकता है। वह सही उत्तर को भी उगलवा सकता है तथा उत्तर देने वाले व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार के आधार पर अंकन कर सकता है। वह प्रश्नों का क्रम बदल सकता है, ताकि उत्तरदाता उत्तर देने से पूर्व सम्पूर्ण सूची को न पढ़े।

११. लोकमत-संग्रह पद्धति

(The Public Opinion Poll Method)

इस पद्धति का प्रयोग किसी विषय पर जनता के विचारों, उनकी भावनाओं एवं उनके दृष्टिकोणों का पता लगाने के लिये किया जाता है। अमरीका मे 'लोकमत-संग्रह' बड़ा प्रिय है। वहाँ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं पर लोकमत को जानने में प्राय इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। जनता संबंधित प्रश्नो के उत्तर 'हाँ', 'नहीं', 'नही मालूम' में देकर अपने मत को प्रकट करती है। उदाहरणतया, लोकमत इस विषय पर इकट्ठा किया जा सकता है कि क्या कार्टर-देसाई वार्ता विश्व-शांति मे सहायक होगी; क्या संयुक्त राष्ट्र संघ को इसकी असफलताओं के बावजूद कायम रखा जाय? जनमत-संग्रह पद्धति से प्राप्त परिणामो के आधार पर सत्ताधिकारी अपनी नीतियों में आवश्यक संशोधन कर सकते हैं।

१२. वर्स्टेहन पद्धति

(The Verstehen Approach)

सामाजिक घटना-वस्तु के अध्ययन हेतु कुछेक समाजशास्त्रियो ने जिनमें मैक्स वेबर (Max Weber) का नाम सर्वप्रमुख है, इस पद्धति का समर्थन किया है। वर्स्टेहन (Verstehen) एक जर्मन शब्द है जिसका अर्थ है समाजशास्त्रीय समस्याओं को समझना। इस पद्धति के समर्थकों का कथन है कि पर्यवेक्षित तथ्यो का कोई मूल्य नही है, यदि उनमें निहित अर्थों की खोज तथा उनका मूल्यांकन न किया जाय। अमेरिकी समाजशास्त्री [illegible] (C. H. Cooley) ने [illegible]

'Sociological Theory and Social Research' में कहा है कि व्यक्तियों के व्यवहार के महत्व को समझने के लिये यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक को उनकी चिंतन-प्रक्रिया तथा भावनाओं में बैठना तथा उनकी मानसिक अवस्था के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहिये। केवल तभी व्यक्तियों की क्रियाओं को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है।

इस पद्धति पर अधिक प्रकाश डालते हुए कूले (Cooley) ने अपनी पुस्तक Life and Student' में लिखा है कि दूसरे व्यक्तियों के मतों के साथ तादात्म्य स्थापित करके ही उनके बारे में 'समझ' आ सकती है। तादात्म्य से अभिप्राय है कि उन व्यक्तियों की भाँति ही अपने में भी वैसी ही चिंतन-प्रक्रिया उत्पन्न की जाये तथा उनकी मानसिक अवस्था के साथ सम्पर्क स्थापित किया जाये।

स्पष्ट है कि इस पद्धति का प्रयोग मेधावी, सुशिक्षितों तथा सूझ-बूझ वाले व्यक्तियों द्वारा ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं को समझने के लिये केवल यही पद्धति पर्याप्त नहीं है। इसका प्रयोग वैज्ञानिक या आनुभविक पद्धति के साथ मिलाकर किया जाना चाहिये, केवल तभी उत्तम परिणाम प्राप्त हो सकते हैं।

१३. प्रकार्यात्मक पद्धति
(The Functional Theory)

कुछेक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक घटना-वृत्त के अध्ययन में प्रकार्यात्मक उपागम को अधिक महत्व दिया है। इस पद्धति के अन्तर्गत समाज के किसी भाग को उसके कार्यों, न कि उद्‌भव अथवा उपयोगिता के अर्थ में समझने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रकार्यवाद सामाजिक संस्थाओं, यथा परिवार, वर्ग, राज्य, धर्म आदि का अध्ययन उनके द्वारा किये गये कार्यों के दृष्टिकोण से करता है। यह समाज के विभिन्न भागों का प्रकार्यात्मक विश्लेषण है। आर० के० मर्टन (R. K. Merton) के अनुसार, यह सिद्धान्त, पद्धति एवं काल तीनों की संधि पर आधारित है। प्रकार्य ऐसा योगदान है जो आंशिक गतिविधि द्वारा सम्पूर्ण गतिविधि, जिसका कि यह भाग है, के प्रति किया जाता है। प्रकार्यात्मक पद्धति इस मान्यता को लेकर चलती है कि समाज की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था अन्त.सम्बन्धित तथा अन्त.निर्भर भागों को मिलाकर बनी है। प्रत्येक भाग समूह के जीवन के लिये आवश्यक कार्य करता है तथा इन भागों को उनके द्वारा किये गये कार्यों अथवा उनके द्वारा पूरित आवश्यकताओं के अर्थ में ही समझा जाता है। चूंकि ये भाग परस्पर-आश्रित हैं, अतएव उनको पूर्णरूपेण समझने के लिये *अन्य भागों तथा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के साथ उनके सम्बन्ध* को समझना होगा।

मर्टन (Merton) ने प्रकार्यात्मक विश्लेषण की निम्नलिखित प्रमुख प्रक्रियाओं का जिक्र किया है—

(i) प्रकार्यात्मक अपेक्षाओं की स्थापना;

(ii) संरचना तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या;

(iii) क्षतिपूरक प्रक्रियाओं की खोज;

(iv) संरचना का विस्तृत वर्णन;

(v) प्रकार्यात्मक व्यवस्थाओं का विस्तृत वर्णन।

मर्टन के अनुसार, सामाजिक घटना-वस्तु के प्रकार्यात्मक विश्लेषणों में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा जाना चाहिये—

(i) सामाजिक संरचना में सहभागियों की परिस्थितियों की खोज;

(ii) व्यवहार के विकल्पात्मक तरीके;

(iii) प्रतिमान के प्रति दृष्टिकोण का वर्णन;

(iv) प्रतिमान में सहभाग-हेतु अभिप्रेरणा;

(v) व्यवहार की संगुणित (associated) अनभिज्ञात नियमितताएँ।

प्रकार्यात्मक उपागम का प्रयोग काम्टे (Comte), स्पेन्सर (Spencer) जैसे समाजशास्त्रियों तथा मेलीनोस्की (Malinowski) एवं रैडक्लिफ ब्राउन (Radcliffe Brown) जैसे मानवशास्त्रियों द्वारा किया गया था। अमेरिकी समाजशास्त्रियों पार्सन्स (Parsons) तथा मर्टन ने इस पद्धति की विशद् व्याख्या की है तथा इसे संरचनात्मक प्रकार्यवाद पद्धति की संज्ञा दी है, क्योंकि यह सामाजिक घटना-वस्तु के अध्ययन में सामाजिक संरचना या संस्थाओं को महत्व देती है।

परन्तु इस पद्धति के कुछ दोष हैं। समाज के प्रकार्यात्मक स्वरूप पर ही सम्पूर्ण जोर देना ठीक नहीं है। प्रत्येक सामाजिक संस्था का उद्भव, उसकी उपयोगिता आदि अपने ढंग की होती है। इसके अतिरिक्त समाज गतिशील है, अतः यह स्थिर पद्धति अधिक उपयोगी नहीं हो सकती।

प्रश्न

१. अन्वेषण की वैज्ञानिक अथवा प्रायोगिक पद्धति की व्याख्या कीजिए। समाजशास्त्र में इस पद्धति का प्रयोग किस सीमा तक संभव है?

२. समाजशास्त्रीय पद्धतियों का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिए।

३. समाजशास्त्र द्वारा सामाजिक तथ्यों के अन्वेषण-हेतु प्रयुक्त पद्धतियों का वर्णन कीजिए।

४. वर्स्टेहन पद्धति पर टिप्पणी लिखिए। इसके प्रयोग में क्या बाधाएँ हैं?

५. सामाजिक घटना-वस्तु के अनुसंधान में सांख्यिकीय पद्धति तथा समाजमिति के महत्व का वर्णन कीजिए।

६. प्रतिकूल निगमनात्मक पद्धति की व्याख्या कीजिए।

७. ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं आदर्श प्रकार पद्धति के महत्व की व्याख्या कीजिए।

८. प्रकार्यात्मक विश्लेषण का क्या अर्थ है? इस विषय पर मर्टन के विचारों का वर्णन कीजिए।

९. समाजशास्त्र के अध्ययन में प्रयुक्त किन्हीं दो पद्धतियों के लाभ एवं उनकी सीमाओं का वर्णन कीजिए।

अध्याय ३

अन्य सामाजिक शास्त्रों से समाजशास्त्र का सम्बन्ध

[RELATION OF SOCIOLOGY WITH OTHER SOCIAL SCIENCES]

पहले अध्याय में समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान बताया गया है। समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है। परन्तु सामाजिक जीवन इतना जटिल है कि सामाजिक समस्याओं को सम्पूर्ण मानव-अनुभूतियों से पृथक् कर पाना असम्भव है। मनुष्य का जीवन बहुमुखी है। उसके जीवन के अनेक पक्ष हैं, जैसे आर्थिक पक्ष, विधि पक्ष, सौन्दर्य-भाव पक्ष, धार्मिक पक्ष, राजनैतिक पक्ष, आदि। अतः मानव गतिविधियों के अलग-अलग पक्षों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करने वाले अन्य सामाजिक शास्त्रों की सहायता से समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को समझ सकता है। उदाहरणतया, किसी विशेष समाज को समझने के लिए समाजशास्त्र को आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक पर्यावरण, भाषा, धर्म, नैतिकता, विधि तथा शेष संसार के साथ परस्पर क्रिया-कलाप आदि को समझना पड़ता है। इससे स्पष्ट पता लगता है कि अन्य सामाजिक शास्त्रो की सहायता के बिना समाजशास्त्र का पृथक् अस्तित्व संभव नही है।

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि समाजशास्त्र केवल अन्य सामाजिक शास्त्रों की सहायता ही लेता है, और उन्हे देता कुछ भी नही है। सच तो यह है कि विभिन्न सामाजिक शास्त्र समाजशास्त्र पर बहुत सीमा तक निर्भर हैं, क्योंकि मानव-जीवन का कोई पक्ष उसके सामाजिक पक्ष से अलग नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक शास्त्र मानव-जीवन के एक विशेष पहलू का अध्ययन करते है और इसलिए वे सामाजिक जीवन का पूर्ण चित्र हमारे सामने नही उपस्थित कर सकते। उदाहरण के लिए, सांस्कृतिक मानवशास्त्र (cultural anthropology) विशेष रूप से आदिम व्यक्तियों और उनकी तत्कालीन संस्कृति का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र धन का अर्जन करने तथा खर्च करने वाले के रूप में व्यक्ति का अध्ययन करता है और धन तथा कल्याण के बीच क्या सम्बन्ध है, इसकी छानबीन करता है। इतिहास महत्वपूर्ण घटनाओं की तिथिवार जानकारी का लेखा-जोखा देकर मनुष्य का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान मनुष्य के व्यक्तिगत व्यवहार का अध्ययन करता है। सामाजिक मनोविज्ञान केवल इस बात का पता लगाता है कि सामाजिक अवस्थाओं आदि के प्रति मनुष्य मे क्या प्रतिक्रिया होती है। सामाजिक जीवन के इन तत्वो के बीच परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र ही करता है और विशिष्ट सामाजिक शास्त्रों द्वारा प्राप्त किये गये परिणामों का प्रयोग करके समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि मे समाजशास्त्र अपेक्षाकृत एक अधिक व्यापक शास्त्र है जिससे विशिष्ट सामाजिक शास्त्र भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। इस

प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न सामाजिक शास्त्रों का एक-दूसरे से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। चूंकि इन सबका विषय एक ही है, अर्थात् मनुष्य का ही सब अध्ययन करते हैं, यह स्वाभाविक ही है कि उनका परस्पर गहरा सम्बन्ध हो। सिम्पसन (Simpson) के अनुसार, "सामाजिक विज्ञान एक इकाई है, परन्तु एक कृत्रिम इकाई नहीं है। यह विभिन्न भागों की गतिशील इकाई है जिसका प्रत्येक भाग अन्य प्रत्येक तथा सभी दूसरों भागों के लिये अनिवार्य है।"[1] समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों में बहुत कुछ बातें समान हैं, तथापि ये शास्त्र एक-दूसरे से भिन्न हैं। समाजशास्त्र तथा कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक शास्त्रों में क्या सम्बन्ध है तथा उनमें क्या भेद है, इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न नीचे किया जायगा।

१. समाजशास्त्र और इतिहास
(Sociology and History)

समाजशास्त्र और इतिहास मे इतना गहरा सम्बन्ध है कि 'वान बुलो' (Von Bulow) जैसे लेखकों ने समाजशास्त्र को इतिहास से पृथक् मानने से इन्कार कर दिया। इतिहास मनुष्य के विभिन्न समाजों के जीवन, उनमें हुए परिवर्तनों, उनके कार्य-कलापों के पीछे निहित विचारों और उनके विकास में सहायक या बाधक भौतिक अवस्थाओं का लेखा-जोखा है। समाजशास्त्र विभिन्न समाजों के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन में रुचि रखता है। यह जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, रहने के ढंग, रीति-रिवाज, शिष्टाचार और सामाजिक संस्थाओं के रूप में उनकी अभिव्यक्ति का अध्ययन करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र को अपनी अध्ययन-सामग्री के लिए इतिहास पर निर्भर रहना पड़ता है। आर्नल्ड टाइनबी (Arnold Toynbee) की पुस्तक "A Study of History" समाजशास्त्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो रही है। इतिहास तथ्य प्रदान करता है और समाजशास्त्र उनकी व्याख्या तथा उनका समन्वय करता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र इतिहास के अध्ययन के लिए सामाजिक पृष्ठभूमि देता है। यह कथन ठीक ही है कि सामाजिक महत्व को समझे बिना इतिहास का अध्ययन व्यर्थ है। यदि वर्तमान को समझने के लिए और भविष्य के मार्ग-दर्शन के लिए इतिहास को उपयोगी बनाना है, तो यह परमावश्यक है कि ऐतिहासिक तथ्यों की समाजशास्त्रीय ढंग पर व्याख्या की जाय। इतिहास और समाजशास्त्र दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं और इसी कारण जी० ई० हावर्ड (G. E. Howard) ने कहा है कि इतिहास भूतकाल का समाजशास्त्र है और समाजशास्त्र वर्तमान इतिहास है।

दोनों विषयों के बीच इतना निकट सम्बन्ध होने के बावजूद भी दोनों विषय अलग-अलग हैं—

1. "Social science is a unity but it is not a fictitious unity : it is a dynamic unity of operating parts, and each part is indispensable to each and all of the members "—Simpson, George, *Man in Society*, p. 18.

(i) इतिहास में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका समाजशास्त्र से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार समाजशास्त्र की बहुत-सी बातों का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। पार्क (Park) के अनुसार "इतिहास जहाँ मानव-अनुभवों और मानव-प्रकृति का स्थूल (concrete) विज्ञान है, समाजशास्त्र एक अमूर्त (abstract) विज्ञान है।" समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य समाज के सामान्य सिद्धान्तों का पता लगाना है, जबकि इतिहास का मुख्य उद्देश्य तिथिक्रम के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करना है। समाजशास्त्री यह जानने का प्रयत्न करता है कि इतिहासकारों द्वारा लिखित घटनाओं का सामान्य पक्ष क्या है और उस सामान्य पक्ष के आधार पर वह सामान्यीकरण करता है।

(ii) इतिहास में घटनाओं के सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाता है जब कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से ही उन घटनाओं का अध्ययन करता है। उदाहरण के लिए, इतिहासकार किसी युद्ध का तथा तत्सम्बन्धी सभी परिस्थितियों का वर्णन करेगा, परन्तु समाजशास्त्री युद्ध को एक सामाजिक घटना के रूप में मान कर उसको समझने का यत्न करेगा। वह इस बात का अध्ययन करेगा कि युद्ध का लोगों के जीवन तथा उनकी सामाजिक संस्थाओं आदि पर क्या प्रभाव पड़ा।

२. समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र
(Sociology and Political Science)

अभी हाल तक समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के बीच गहरा सम्बन्ध था। **मोरिस गिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg) के अनुसार, "ऐतिहासिक दृष्टि से समाजशास्त्र की मुख्य जड़ें राजनीति एवं इतिहास-दर्शन में हैं।" सामाजिक विषयों पर प्रसिद्ध पुस्तकें, यथा प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' (Republic), अरस्तू की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' (Politics) एवं अन्य शास्त्रीय पुस्तकें राजनीतिशास्त्र की सर्वांगीण पुस्तकें मानी जाती हैं। अभी भी दोनों विषयो में बहुत कुछ समानता है। राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का एक भाग है जो मानव-समाज के राजनीतिक संगठन एवं शासन के नियमों का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिशास्त्र राज्य के संप्रभु के अधीन संगठित सामाजिक समूहो का वर्णन करता है। यह सत्य है कि समाजशास्त्रीय ज्ञान के बिना राजनीतिशास्त्र का अध्ययन अपूर्ण रहेगा। सरकार के प्रकार, सरकार के अंगों की प्रकृति, राज्य का कार्यक्षेत्र, कानून आदि सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारित होते हैं। **बार्न्स** (Barnes) ने लिखा है, "समाजशास्त्र और आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि गत तीस वर्षों में राजनीतिक सिद्धान्त में जो परिवर्तन हुए हैं, वे सभी समाजशास्त्र द्वारा अंकित एवं सुझाये गये विकास के अनुसार ही हुए हैं।"[1] **गिडिंग्स** (Giddings) के शब्दों मे, "जिस व्यक्ति को पहले समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान न हो, उसे राज्य के सिद्धान्त की

1. "The most significant thing about sociology and modern political theory is that most of the changes which have taken place in the political theory in the last thirty years have been along the line of development suggested and marked out by sociology."—Barnes, *Sociology and Political Theory*, p. 24.

शिक्षा देना वैसा ही है, जैसा न्यूटन के गति-सिद्धान्त को न जानने वाले व्यक्ति को खगोलशास्त्र या ऊष्मागतिक की शिक्षा देना।"[1]

इसी प्रकार, समाजशास्त्र को अपने निष्कर्षों के लिये राजनीतिशास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है। समग्र समाज के पूर्ण अध्ययन के लिये समाज के राजनीतिक जीवन का विशिष्ट अध्ययन अनिवार्य है। काम्टे एवं स्पेंसर के अनुसार, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जी० ई० जी० कालिन् (G. E. G. Colin) ने कहा है कि "राजनीतिशास्त्र एवं समाजशास्त्र एक ही आकृति के दो रूप हैं।" एफ० जी० विल्सन (F. G. Wilson) के शब्दों में, "यह अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि बहुधा यह निर्णय करना कठिन होता है कि विशिष्ट लेखक को समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री या दर्शनशास्त्री—क्या माना जाय।"[2]

परन्तु दोनों विषय एक-दूसरे से भिन्न हैं—

(i) **समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है** (Solcicogy is the socience of society, political science is the science of state)—गिलक्राइस्ट (Gilchrist) के शब्दों में, "समाजशास्त्र मनुष्य का सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है। चूँकि राजनीतिक संगठन सामाजिक संगठन का एक विशिष्ट रूप होता है, अतएव राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र की अपेक्षा अधिक विशिष्ट शास्त्र है।"[3]

(ii) **समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है** (The scope of sociology is wider than that of political science)—राजनीतिशास्त्र केवल राज्य एवं सरकार का अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र सभी सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन करता है।

(iii) **समाजशास्त्र सामाजिक व्यक्ति का अध्ययन करता है, राजनीति शास्त्र राजनीतिक व्यक्ति का** (Sociology deals with social man, political science deals with political man)—समाजशास्त्र समाज का विज्ञान होने के नाते मानव का, उसकी सभी समूहगत प्रक्रियाओं सहित, वर्णन करता है, जबकि राजनीतिशास्त्र मानव-सम्बन्धों के केवल एक पक्ष का ही वर्णन करता है। गार्नर (Garner) का कथन है, "राजनीतिशास्त्र मानव-समुदाय के केवल एक रूप—

---

1. "To teach the theory of the state to men who have not learnt the first principles of sociology is like teaching astronomy or thermodynamics to man who have not learnt Newton's laws of motion."—Giddings, *Principles of Sociology*.. p. 37.

2. "It must be admitted, of course, that it is often difficult to determine, whether a particular writer should be considered as sociologist, political theorist or philosopher."—Wilson, F. G., *Elements of Modern Politics*, p. 29

3. "Sociology studies man as a social being and as political organisation is a special kind of social organisation Political science is a more specialized science thn sociology."—Gilchrist, R. N.. *Principles of Political Science* p. 11.

राज्य से सम्बन्धित है; समाजशास्त्र मानव-समुदाय के सभी रूपों से सम्बन्धित है।"[1]

(iv) **समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है, राजनीतिशास्त्र विशिष्ट विज्ञान है** (Sociology is a general science, political science is a special science)—राजनीतिक संगठन सामाजिक संगठन का एक विशिष्ट रूप है, अतएव राजनीतिविज्ञान एक विशिष्ट विज्ञान है, जबकि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है।

(v) **समाजशास्त्र संगठित एवं असंगठित दोनों प्रकार के समुदायों का अध्ययन है, राजनीतिशास्त्र केवल संगठित समुदायों का वर्णन करता है** (Sociology is the study of both organised and unorganised communities, political sciene deals with organised communities only)—चूंकि समाजशास्त्र असंगठित समुदायों का भी वर्णन करता है, अतएव समाजशास्त्र को राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा प्राथमिकता दी जाती है।

(vi) **समाजशास्त्र अचेतन गतिविधियों का भी अध्ययन करता है** (Sociology deals with unconscious activities also)—राजनीतिशास्त्र केवल चेतन गतिविधियों का वर्णन करता है जबकि समाजशास्त्र अचेतन गतिविधियों का भी अध्ययन करता है।

(vii) उपागम में अन्तर (Difference in approach)—राजनीतिशास्त्र अपने अध्ययन का प्रारम्भ इस मान्यता से करता है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, परन्तु समाजशास्त्र इस मान्यता की खोज करता है और यह जानने का प्रयत्न करता है कि मनुष्य किस प्रकार एवं क्यों राजनीतिक प्राणी बना।

३. समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र
(Sociology and Ethics)

नीतिशास्त्र नैतिकता का शास्त्र है। इसका सम्बन्ध इस बात से है कि मनुष्य का कौन-सा कार्य नैतिक दृष्टि से अच्छा और कौन-सा बुरा है। नीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र का बड़ा निकट सम्बन्ध है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक समूह का सदस्य होने के नाते वह नैतिक मानदण्ड—सही और गलत की धारणायें ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, समाज मनुष्य के मानसिक तथा नैतिक विकास पर प्रभाव डालता है और इस प्रकार मनुष्य अपने सामाजिक समूह के नैतिक मानदण्ड के अनुसार कार्य करता है। अत. नैतिक जीवन का वास्तविक महत्व सामाजिक समूह या समाज में है। समाजशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय सामाजिक समूह है और वह मानव-जीवन के सभी पक्षों—आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक—की छानबीन करता है। नीतिशास्त्र आदिमवासियों के नैतिक जीवन

---

1. "Political science is concerned with only one form of human association—the state : sociology deals with all forms of association."—Garner, J.W., *Political Science and Government*, p. 30.

पर प्रकाश डालता है। यह मानव-आचरण की पृष्ठभूमि तैयार करता है और इस प्रकार आधुनिक जीवन तथा आदिमवासियों के जीवन के नैतिक आचरण की तुलना करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति का निजी हित सम्पूर्ण समाज के सामान्य हित के अनुकूल होना चाहिए। इसी विषय पर समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र दोनों एक-दूसरे के निकट आते हैं। दोनों में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण नीतिशास्त्री नीतिशास्त्र को समाजशास्त्र का एक भाग मानने लगे हैं। चार्ल्स ए० एलवुड (Charles A. Ellwood) ने ठीक ही कहा है, "समाजशास्त्र का कार्य वैज्ञानिक नीतिशास्त्र के लिए बुनियादी आधार प्रस्तुत करना है और दूसरी ओर नीतिशास्त्र का कार्य यह है कि उन नैतिक आशयों (implications) को जो मानव-समाज को वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान कर करते है, विकसित करे, उनकी आलोचना करे, और उनमें सामंजस्य उपस्थित करे। विज्ञानों से प्राप्त कराये गये ज्ञान के आधार पर बदला गया नीतिशास्त्र, वैज्ञानिक ज्ञान के किसी अन्य प्रकार की अपेक्षा, समाजशास्त्रीय ज्ञान का अधिक प्रयोग कर सकेगा।"[1]

परन्तु कुछ आवश्यक बातों में दोनों शास्त्रों में भिन्नता भी है। पहली बात यह है कि समाजशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान (positive science) है और नीतिशास्त्र एक आदर्श विज्ञान (normative science) है। समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं, रीति-रवाजों तथा शिष्टाचार का, उनके वर्तमान तथा भूतकालीन रूप में अध्ययन करता है, जबकि नीतिशास्त्र यह बताता है कि सामाजिक संगठन, रीति-रिवाज तथा शिष्टाचार आदि वास्तव में कैसे होने चाहिए। दूसरी बात यह है कि समाजशास्त्र मनुष्यों तथा सामूहिक रूप में उनके सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है, जबकि नीतिशास्त्र मनुष्य को समाज का नैतिक प्रतिनिधि मान कर उसका व्यक्तिगत अध्ययन करता है। तीसरी बात यह है कि समाजशास्त्र एक आनुमानिक (speculative) शास्त्र है और सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र से उसका व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत, नीतिशास्त्र का हमारे आचरण से व्यावहारिक सम्बन्ध है। नीतिशास्त्र आचरण के नियम बनाता है जिनका सब लोगों को पालन करना चाहिए। चौथी बात यह है कि समाजशास्त्र अपनी समस्याओं की छानबीन में ऐतिहासिक विधि का मुख्यतः प्रयोग करता है, इसके विपरीत नीतिशास्त्र किसी लक्ष्य या आदर्श के आधार पर मनुष्य के आचरण की व्याख्या करता है। अन्तिम बात यह है कि जहाँ समाजशास्त्र सामाजिक समूहों की प्रगति का अध्ययन समय के दृष्टिकोण से करता है, वहाँ नीतिशास्त्र समाज की प्रगति का अध्ययन नैतिकता के दृष्टिकोण से करता है।

४. समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र
(Sociology and Anthropology)

समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र का इतना निकट सम्बन्ध है कि प्रायः ऐसा

1. Ellwood, C. A., , *Basis of Ethics* pp. 136 37.

लगता है कि ये दोनो एक ही अध्ययन के दो नाम हैं। मानवशास्त्र यूनानी शब्द 'एन्थ्रोपास' (anthropas) और 'लोगोस' (logos) से बना है जिनके अर्थ क्रमशः 'मनुष्य' तथा 'अध्ययन' हैं। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ के अनुसार एन्थ्रोपोलॉजी (मानवशास्त्र) का अर्थ है, 'मनुष्य का अध्ययन'—मानव जाति के विकास का अध्ययन। इस प्रकार मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक है। मानवशास्त्र को तीन भागों मे बाँटा गया है—(१) भौतिक मानवशास्त्र (physical anthropology), जो आदिम मनुष्य तथा तत्कालीन हमारे पूर्वजों की शारीरिक विशेषताओं से सम्बन्धित है; (२) सास्कृतिक मानवशास्त्र (cultural anthropology), जो आदिम मनुष्य के सास्कृतिक अवशेषो तथा तत्कालीन अन्य जातियो की जीवित संस्कृति के अध्ययन से सम्बन्धित है, (३) सामाजिक मानवशास्त्र (social anthropology) जो आदिमकालीन तथा वर्तमान सस्थाओ और मानव-सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

इस प्रकार मानवशास्त्र का ध्यान मुख्यत अनादिकाल मे विकसित मानव तथा उसकी सस्कृति के आधार पर केन्द्रित है। इसके विपरीत, समाजशास्त्र उन्ही घटना-वस्तुओं का, जिस रूप में वे इस समय हैं, अध्ययन करता है। क्लखोन (Klukhon) के अनुसार "समाजशास्त्रीय प्रवृत्ति (sociological attitude) व्यावहारिक और वर्तमान है, जबकि मानवशास्त्रीय प्रवृत्ति विशुद्ध चिन्तन और अतीत की ओर है।"

समाजशास्त्र बहुत सीमा तक मानवशास्त्र द्वारा प्रदत्त सामग्री पर निर्भर है। वस्तुत. समाजशास्त्र का ऐतिहासिक पक्ष तो सांस्कृतिक मानवशास्त्र के समान ही है। समाजशास्त्र के अध्ययन में मानवशास्त्र ने बड़ा योग दिया है। भूतकाल के आधार पर वर्तमान सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए समाजशास्त्र को मानवशास्त्र पर आश्रित रहना पड़ता है। समाजशास्त्र ने सांस्कृतिक क्षेत्र, सास्कृतिक लक्षण (cultural traits), परस्पराश्रित लक्षण, सांस्कृतिक विलम्बन (cultural lag) और दूसरी विचारणायें सामाजिक मानवशास्त्र से उधार ली हैं। सामाजिक मानवशास्त्र के आधार पर सांस्कृतिक समाजशास्त्र का विकास हुआ है। लिन्टन (Linton) और कार्डिनर (Kardiner) की खोजो ने समाजशास्त्र को कम प्रभावित नही किया। उनकी खोजों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है और उसके सदस्यो का व्यक्तित्व उनकी शैशवावस्था में उसके अनुसार ढल जाता है। इसी प्रकार मैलिनोवस्की की खोज भी समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। उसने सस्कृति के अध्ययन को कार्यात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया है। फ्रैन्ज बोआस (Franz Boas) और ओटो क्लाइनबर्ग (Otto Klineberg) की खोजो ने सिद्ध कर दिया है कि शरीर-रचना की विशेषताओं और मानसिक श्रेष्ठता के मध्य कोई अन्तर्सम्बन्ध नही है। मानवशास्त्र ने प्रजातीय श्रेष्ठता की विचारणा को अमान्य ठहराया है। होएबल (Hoebel) के अनुसार, "समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र अपने विशाल अर्थ मे एक ही हैं।" ए० एल० क्रोबर (A. L. Kroeber) ने समाजशास्त्र एव मानवशास्त्र को जुड़वाँ बहनें (twin

लगता है कि ये दोनो एक ही अध्ययन के दो नाम हैं। मानवशास्त्र यूनानी शब्द 'एन्थ्रोपास' (anthropas) और 'लोगोस' (logos) से बना है जिनके अर्थ क्रमशः 'मनुष्य' तथा 'अध्ययन' हैं। इस प्रकार शाब्दिक अर्थ के अनुसार एन्थ्रोपोलोजी (मानवशास्त्र) का अर्थ है, 'मनुष्य का अध्ययन'—मानव जाति के विकास का अध्ययन। इस प्रकार मानवशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र बहुत व्यापक है। मानवशास्त्र को तीन भागों में बाँटा गया है—(१) भौतिक मानवशास्त्र (physical anthropology), जो आदिम मनुष्य तथा तत्कालीन हमारे पूर्वजों की शारीरिक विशेषताओं से सम्बन्धित है; (२) सांस्कृतिक मानवशास्त्र (cultural anthropology), जो आदिम मनुष्य के सांस्कृतिक अवशेषों तथा तत्कालीन अन्य जातियों की जीवित संस्कृति के अध्ययन से सम्बन्धित है, (३) सामाजिक मानवशास्त्र (social anthropology) जो आदिमकालीन तथा वर्तमान सस्थाओ और मानव-सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

इस प्रकार मानवशास्त्र का ध्यान मुख्यतः अनादिकाल मे विकसित मानव तथा उसकी सस्कृति के आधार पर केन्द्रित है। इसके विपरीत, समाजशास्त्र उन्हीं घटना-वस्तुओं का, जिस रूप मे वे इस समय हैं, अध्ययन करता है। क्लूखोन (Klukhon) के अनुसार "समाजशास्त्रीय प्रवृत्ति (sociological attitude) व्यावहारिक और वर्तमान है, जबकि मानवशास्त्रीय प्रवृत्ति विशुद्ध चिन्तन और अतीत की ओर है।"

समाजशास्त्र बहुत सीमा तक मानवशास्त्र द्वारा प्रदत्त सामग्री पर निर्भर है। वस्तुतः समाजशास्त्र का ऐतिहासिक पक्ष तो सांस्कृतिक मानवशास्त्र के समान ही है। समाजशास्त्र के अध्ययन में मानवशास्त्र ने बड़ा योग दिया है। भूतकाल के आधार पर वर्तमान सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए समाजशास्त्र को मानवशास्त्र पर आश्रित रहना पड़ता है। समाजशास्त्र ने सांस्कृतिक क्षेत्र, सांस्कृतिक लक्षण (cultural traits), परस्पराश्रित लक्षण, सांस्कृतिक विलम्बन (cultural lag) और दूसरी विचारणायें सामाजिक मानवशास्त्र से उधार ली हैं। सामाजिक मानवशास्त्र के आधार पर सांस्कृतिक समाजशास्त्र का विकास हुआ है। लिन्टन (Linton) और कार्डिनर (Kardiner) की खोजो ने समाजशास्त्र को कम प्रभावित नही किया। उनकी खोजों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है और उसके सदस्यो का व्यक्तित्व उनकी शैशवावस्था में उसके अनुसार ढल जाता है। इसी प्रकार मैलिनोवस्की की खोज भी समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। उसने संस्कृति के अध्ययन को कार्यात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया है। फ्रैन्ज बोआस (Franz Boas) और ओटो क्लाइनबर्ग (Otto Klineberg) की खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि शरीर-रचना की विशेषताओं और मानसिक श्रेष्ठता के मध्य कोई अन्तर्सम्बन्ध नही है। मानवशास्त्र ने प्रजातीय श्रेष्ठता की विचारणा को अमान्य ठहराया है। होएबल (Hoebel) के अनुसार, "समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र अपने विशाल अर्थ मे एक ही हैं।" ए० एल० क्रोबर (A. L. Kroeber) ने समाजशास्त्र एव मानवशास्त्र को जुड़वाँ बहनें (twin

sisters) कहा है। ऐवन्स प्रिटचार्ड (Evans Pritchard) सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा मानता है।

इसी प्रकार, समाजशास्त्रियों द्वारा निकाले गये कुछ निष्कर्षों ने मानवशास्त्रियों की सहायता की है। उदाहरण के लिये, मार्गन (Morgan) जैसे मानवशास्त्री और उनके अनुयायियों ने वर्तमान समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा के आधार पर आदिम काल में साम्यवाद के अस्तित्व के संबंध में निष्कर्ष निकाले। राबर्ट रेडफील्ड लिखते हैं, "सम्पूर्ण संयुक्त राज्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र और मानवशास्त्र में सामाजिक सम्बन्ध मानवशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ है।"

यद्यपि ये दोनों शास्त्र अन्योन्याश्रित हैं, परन्तु दोनों का अध्ययन-क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। कीसिंग (Keesing) का कथन है, "परन्तु दोनों शैक्षिक अनुशासनों का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ है, दोनों विभिन्न प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करते हैं तथा दोनों की शोध-पद्धतियाँ भिन्न हैं।"[1] प्रथमतया, मानवशास्त्र सम्पूर्ण समाज का अध्ययन है। यह इसकी राजनीतिक एवं कानूनी समस्याओं, पारिवारिक संगठन, धर्म, कला, उद्योगों एवं व्यवसायों आदि का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र केवल एक विशेष पक्ष का अध्ययन करता है। समाजशास्त्री का केन्द्र-बिन्दु सामाजिक अन्तःक्रिया है। दूसरे, मानवशास्त्र संस्कृतियों का अध्ययन करता है जो छोटी एवं स्थिर होती हैं, जबकि समाजशास्त्र सभ्यताओं का अध्ययन करता है जो व्यापक एवं गतिशील होती हैं। यही कारण है कि मानवशास्त्र का विकास समाजशास्त्र की अपेक्षा अधिक तेजी से तथा अधिक उत्तम ढग से हुआ है। तृतीय, मानवशास्त्र तथा समाजशास्त्र दो पृथक्-पृथक् शास्त्र हैं, क्योंकि मानवशास्त्र अनादिकाल में विकसित मनुष्य एवं उसकी संस्कृति का अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र उन्हीं घटना-वस्तुओं का, जिस रूप में वे इस समय हैं, अध्ययन करता है। अंतिम, समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक दर्शन एवं सामाजिक नियोजन दोनों से है, जबकि मानवशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक नियोजन से नहीं है। यह भविष्य के लिये कोई सुझाव नहीं देता।

५. समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र

(Sociology and Economics)

समाज पर आर्थिक तत्वों का प्रभाव पड़ता है और आर्थिक प्रक्रियाओं का निर्धारण सामाजिक वातावरण से होता है, अतः यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के बीच गहरा सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र जीवन के सामान्य कार्यकलाप में व्यक्ति का अध्ययन है, या दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र धन का उसके तीन रूपों उत्पादन, वितरण एवं उपभोग का अध्ययन है। इस प्रकार, अर्थशास्त्र व्यक्तिगत तथा

---

1. "But the two academic disciplines have grown up independently, and handle quite different types of problems, using markedly different research methods."—Keesing, *Cultural Anthropology*, p. 8.

सामाजिक कार्य के उस भाग से सम्बन्धित है जो कल्याण की भौतिक सामग्री की प्राप्ति तथा उसके प्रयोग का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र प्राणियों के भौतिक कल्याण से संबंधित है। परन्तु भौतिक कल्याण पूर्ण मानव-कल्याण का एक भाग है और इसकी प्राप्ति सामोजिक नियमों के उचित ज्ञान से ही हो सकती है। समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों की सहायता के बिना अर्थशास्त्र आगे नहीं बढ़ सकता। उदाहरणतया, बेरोजगारी, व्यापार-चक्र अथवा मुद्रा-स्फीति जैसी आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिये अर्थशास्त्री को तत्कालीन सामाजिक घटनाओं को भी ध्यान में रखना पड़ता है, जिनका ज्ञान उसे समाजशास्त्र से प्राप्त होगा। इस प्रकार, समाजशास्त्र उन विशिष्ट तथ्यों की जानकारी देता है जिनके आधार पर अर्थशास्त्र के सामान्य नियमो की खोज की जा सकती है। समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की अनेक समस्याएँ मिली-जुली है। समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातंत्र एवं कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त सामाजिक पुनर्गठन के सिद्धान्त मात्र हैं। थामस के अनुसार, "अर्थशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र के व्यापक विज्ञान की केवल एक शाखा है।"[1] सिल्वरमैन (Silverman) के शब्दों में, "अर्थशास्त्र को सामान्य शब्दों में समाजशास्त्र के पैतृक विज्ञान जो सभी सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य नियमों का अध्ययन करता है, की एक शाखा समझा जा सकता है।"[2]

इसी प्रकार, समाजशास्त्र पर भी अर्थशास्त्र का प्रभाव है। मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है, "इस प्रकार, आर्थिक घटना-वस्तु सामाजिक आवश्यकता एवं गतिविधि के सभी प्रकारों द्वारा निरन्तर प्रभावित होती है, जो पुनः प्रत्येक प्रकार की सामाजिक आवश्यकता एव गतिविधि को निरन्तर पुनर्निर्धारित, निर्मित, एवं परिवर्तित करती रहती है।" सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आर्थिक तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण समाजशास्त्री आर्थिक संस्थाओं से सम्बन्धित रहे हैं। स्पेन्सर जैसे प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों ने मनुष्य की आर्थिक गतिविधि को सामाजिक सम्बन्धों के विश्लेषण का भाग बताया है। समनर (Sumner), दुर्खीम (Durkheim), एवं वैबर (Weber) ने भी समाज का अध्ययन इसकी आर्थिक संस्थाओं के माध्यम से किया है। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) और फ्रेडरिक एन्जिल्स (Fredrick Engels) ने तो यहाँ तक कहा है कि आर्थिक तत्व ही समाज की अकेली गत्यात्मक शक्ति है। उनके समय से, आर्थिक व्याख्या 'सामाजिक अवस्था पर आर्थिक दशाएँ निर्धारक प्रभाव डालती हैं' को अनेक समाजशास्त्रियो के सिद्धान्तो में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

ये दोनो शास्त्र अन्योन्याश्रित होते हुए भी एक-दूसरे से पृथक् है—

(i) **समाजशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है (The field of sociology is wider)**—प्रथमतया, अर्थशास्त्र का अध्ययन मनुष्य की आर्थिक गतिविधियो के

---

1. "Economics is, in fact, but one branch of the comprehensive science of sociology."—Thomas, *Elements of Economics*, p. 7.

2. "It may be regarded for ordinary purposes, as an offshoot of the parent science of sociology, which studies the general principles of all social relations." Silverman, *The Substance of Economics*, p. 2.

अध्ययन तक ही सीमित है, जबकि समाजशास्त्र मनुष्य की सभी, यहाँ तक कि गैर-आर्थिक गतिविधियों का भी अध्ययन करता है।

(ii) **समाजशास्त्र का दृष्टिकोण व्यापक है** (Sociology has a comprehensive viewpoint)—द्वितीय, अर्थशास्त्री का मुख्य सम्बन्ध उन बातों से होता है जो उत्पादन, वितरण एवं उपभोग की तकनीकों एवं विधियों तथा मनुष्य के भौतिक सुख से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं, परन्तु दूसरी ओर समाजशास्त्री की मुख्य रुचि उत्पादन एवं वितरण प्रणाली की अपेक्षा आर्थिक गतिविधियों के सामाजिक पहलुओं में अधिक होती है।

(iii) **अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की अपेक्षा अधिक पुराना शास्त्र है** (Economics is much oider than sociology)—तीसरे, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की अपेक्षा अधिक पुराना विज्ञान है। यद्यपि काम्टे जैसे दार्शनिक अर्थशास्त्र को समाजशास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं, तथापि समाजशास्त्र अभी हाल में विकसित एक शास्त्र है, जबकि अर्थशास्त्र परिपक्वता प्राप्त कर चुका है।

६. समाजशास्त्र तथा भूगोल
(Sociology and Geography)

प्राचीन काल से ही यह अनुभव किया जाता रहा है कि मानव-समाज पर भूगोल का बड़ा प्रभाव पड़ता है। मानव-समाज पर भौगोलिक दशाओं का प्रभाव स्पष्ट है तथा सामाजिक घटनाओं एवं भौतिक दशाओं में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैकाइवर (MacIver) के कथनानुसार, प्रकृति द्वारा प्रदत्त अवस्थाओं को भौगोलिक पर्यावरण कहा जाना चाहिये। इसमें भूतल, जिसमें इसकी सभी भौतिक विशेषताएँ एवं प्राकृतिक स्रोत सम्मिलित है, भूमि एवं पानी का विभाजन, पहाड़ एवं मैदान, खनिज, पेड़-पौधे तथा पशु, जलवायु, समस्त सांसारिक शक्तियाँ जो मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालती हैं, सम्मिलित हैं। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि किसी स्थान पर जैसी भौतिक अवस्थाएँ होंगी, उनके अनुरूप ही वहाँ के लोगों का रहन-सहन होगा। उदाहरणतया, उष्ण क्षेत्र के रहने वालों के चरित्र-लक्षण समजलवायु वाले क्षेत्र या ध्रुव प्रदेश के निवासियो के चरित्र-लक्षण से भिन्न होते है; समुद्री स्थानों के निवासी पृथ्वी के अन्य भागों के निवासियों से भिन्न होते हैं। पहाड़ो, मैदानों, समुद्र-तटों, मरुस्थलों तथा वनों में रहने वालों के रहन-सहन तथा उनकी स्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। कुछ विद्वानो ने भूगोल के प्रभाव को बहुत महत्व दिया है। उनका कहना है कि किसी देश के लोगों के स्वास्थ्य तथा समृद्धि, जनसंख्या की मात्रा एवं उनकी शक्ति, उनके रीति-रिवाज और सामाजिक संगठन, उनके विश्वास तथा चिंतन-प्रणाली को निर्धारित करने में भूगोल का बड़ा महत्व है।

प्राकृतिक पर्यावरण तथा सामाजिक जीवन के बीच गहरा सम्बन्ध है, इस तथ्य ने समाजशास्त्र के भौगोलिक सम्प्रदाय को जन्म दिया। समाजशास्त्र के भौगोलिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक एक फांसीसी विद्वान 'ले प्ले' (Le Play) था, जिसने

यूरोपीय श्रमिकों का अध्ययन करते समय इस धारणा का विकास किया कि स्थान कार्य के स्वरूप का निर्धारण करता है तथा इसका प्रभाव लोगों के परिवार तथा उनकी सामाजिक संस्थाओं के आर्थिक गठन पर भी पड़ता है। ले प्ले तथा उसके बाद के विद्वानों ने प्राकृतिक पर्यावरण तथा सामाजिक विकास के बीच सम्बन्ध पर बहुत जोर दिया जिसमे अन्य स्थानों के समाजशास्त्रियो पर भी इसका प्रभाव पड़ा। अमेरिकी समाजशास्त्र के क्षेत्रीय सम्प्रदाय के नेता हावर्ड डब्लू० ओडम (Howard W. Odum) और उनके साथी प्राकृतिक पर्यावरण तथा सामाजिक जीवन के बीच अन्त क्रिया को ढूंढने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस सम्प्रदाय के लेखकों ने मनुष्य के विकास में भूगोल के महत्व-सम्बन्धी ज्ञान का बड़ा भाण्डार हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि जलवायु, स्थलाकृति, प्राकृतिक वातावरण के विभिन्न पहलुओं तथा राजनैतिक व आर्थिक, औद्योगिक व सांस्कृतिक घटनाओं का एक-दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है।

परन्तु किसी स्थान-विशेष के निवासियों के सामाजिक जीवन पर प्रभाव डालने वाले भौगोलिक तत्वों पर हमें बहुत अधिक जोर नही देना चाहिये। यह आवश्यक नही है कि एक-जैसे पर्यावरण मे एक-जैसी संस्कृति का ही जन्म हो। हमने देखा है कि आदिम समाज मे भी एक ही क्षेत्र मे रहने वाले लोग विभिन्न काम-धन्धे करते थे। केवल भौगोलिक वातावरण के आधार पर ही किसी विशेष प्रकार की सभ्यता का जन्म नही होता। सभ्यता की उन्नति स्थानीय भौगोलिक अवस्थाओं के प्रत्यक्ष प्रभाव को बदल तथा कम कर देती है। आज के युग में मनुष्य के बहुत से काम-धन्धे ऐसे हैं जिनका भौगोलिक वातावरण से कोई सम्बन्ध नही है। *ज्यों-ज्यों संस्कृति का विकास होता है, त्यों-त्यो समाज पर निकटवर्ती भौगोलिक* तत्वों का प्रभाव कम होता जाता है। परन्तु यह सत्य है कि भूगोल यदि मानव की प्रगति का निर्धारक तत्व नही है तो कम से कम उसका सहयोगी तत्व अवश्य है। अतएव समाजशास्त्र तथा भूगोल में गहरा सम्बन्ध है।

७. समाजशास्त्र तथा सामाजिक मनोविज्ञान
(Sociology and Social Psychology)

सामाजिक मनोविज्ञान मनुष्य को सामाजिक प्राणी मानकर उसकी मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। विशेष रूप से यह व्यक्ति के मानसिक विकास पर समूह-जीवन के प्रभाव, समूह पर मानव-मन के प्रभाव तथा समूहो के परस्पर मानसिक जीवन के विकास एव उनके पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है। इसके विपरीत, समाजशास्त्र *उन विभिन्न प्रकार के समूहो का अध्ययन* करता है जिनसे समाज बनता है।

मानव स्वभाव एवं व्यवहार को भली प्रकार समझने के लिये सामाजिक मनोविज्ञान को समाजशास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि मनुष्य जिस समाज में रहते हैं, उसकी संरचना एवं संस्कृति के बारे मे आवश्यक जानकारी समाजशास्त्र ही देता है। परन्तु समाजशास्त्री को भी सामाजिक मनोविज्ञान से सहायता लेनी पड़ती है। समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि सामाजिक सरचना मे होने वाले

परिवर्तनों को समझने के लिये मनोवैज्ञानिक आधार बड़े महत्वपूर्ण हैं। लापियर एवं फ्रांसवर्थ (Lapiere and Fransworth) लिखते हैं, "सामाजिक मनोविज्ञान का समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान से वही सम्बन्ध है जो जीव-रसायनशास्त्र का जीवशास्त्र और रसायनशास्त्र से है।" मोटवानी (Motwani) के अनुसार, "सामाजिक मनोविज्ञान समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के बीच की कड़ी है।"[1] दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) इनको पृथक्-पृथक् विज्ञान स्वीकार नहीं करता। मैकाइवर (MacIver) के शब्दों में, "समाज शास्त्र विशिष्ट अवस्थाओं में मनोविज्ञान की उसी प्रकार सहायता करता है, जिस प्रकार मनोविज्ञान समाजशास्त्र की विशिष्ट सहायता करता है।"[2]

मैक्डूगल तथा फ्रायड का मत है कि सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अन्तत. मनोवैज्ञानिक शक्तियो में बद्ध किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र मनोविज्ञान की मात्र एक शाखा बनकर रह जायगा। परन्तु इस मत को स्वीकार नही किया जा सकता, क्योंकि सामाजिक व्यवहार पर प्रभाव डालने वाले कारक *मनोवैज्ञानिक ही नहीं हैं, अपितु आर्थिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक भी है।* अतएव सामाजिक जीवन को केवल मनोविज्ञान की पद्धतियो से ही नही समझा जा सकता। सामाजिक मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिये कि वे एक-दूसरे से पूर्णत. मिलते-जुलते हैं या एक-दूसरे के पर्याय हैं। वस्तुत: इन दोनों शास्त्रों में महत्वपूर्ण अन्तर है—

(१) **विषय-वस्तु का अन्तर** (Difference of subjects-matter)—पहली बात यह है कि समाजशास्त्र समाज का समग्र रूप में अध्ययन है जबकि सामाजिक मनोविज्ञान व्यक्तियो को समूह का सदस्य मानकर उनकी अन्त:क्रिया एवं उस अन्त.क्रिया का उनके ऊपर प्रभाव का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र की तुलना यान्त्रिकी-विज्ञान (Mechanics) से तथा सामाजिक मनोविज्ञान की तुलना आणविक भौतिक-विज्ञान (Molecular Physics) से की गई है। व्यक्ति सामाजिक मनोविज्ञान में विश्लेषण की इकाई है। क्लाइनबर्ग (Klineberg) ने कहा है, "समाजशास्त्री का मुख्य सम्बन्ध समूह-व्यवहार से है जबकि सामाजिक मनोविज्ञान का सम्बन्ध समूह-स्थिति मे व्यक्ति के आचरण से है।" बोगार्डस (Bogardus) का कथन है, "जिस प्रकार मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता है।"

(२) **दृष्टिकोण का अन्तर** (Difference of Attitudes)—इसके अतिरिक्त समाजशास्त्र तथा सामाजिक मनोविज्ञान सामाजिक जीवन का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से करते हैं। समाजशास्त्र समाज का अध्ययन सामुदायिक तत्व के दृष्टिकोण से करता है, जबकि सामाजिक मनोविज्ञान अन्तर्ग्रस्त मनोवैज्ञानिक तत्वो के दृष्टिकोण से समाज का अध्ययन करता है।

---

1. "Social psychology is a link between psychology and sociology Motwani, *Sociology*, p. 53.
2. "MacIver, op. cit, p. 65.
3. "Klineberg, Otto, *Social Psychology*, p. 6-7.

८. समाजशास्त्र तथा विधिशास्त्र

(Sociology and Jurisprudence)

विधिशास्त्र कानून का विज्ञान है। यह कानूनी नियमों का अध्ययन करता है। विधिशास्त्र तथा समाजशास्त्र का निकटीय सम्बन्ध है। समाजशास्त्र समाज में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। मनुष्य का व्यवहार कानून द्वारा नियंत्रित एव नियमित होता है, अतः कानून समाजशास्त्री के लिये भी अध्ययन का एक विषय बन जाता है। परन्तु कानून के अध्ययन में समाजशास्त्री तथा विधिशास्त्री दोनों का दृष्टिकोण अलग-अलग होता है। वकील उन कानूनों का अध्ययन करता है जिनका पालन करना मनुष्य के लिये अनिवार्य है। उसका इस बात से कोई मतलब नही होता कि ये कानून नागरिकों के व्यवहार पर किस प्रकार और किस सीमा तक प्रभाव डालते हैं। दूसरी ओर, समाजशास्त्री कानून का सामाजिक घटना-वस्तु के रूप में अध्ययन करता है। उसकी मुख्य अभिरुचि स्वयं कानूनों को जानने में नहीं, अपितु यह जानने में है कि क्या इन कानूनों का पालन किया जाता है : यदि हाँ, किस प्रकार ? इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्री द्वारा कानून के अध्ययन को कानून का समाजशास्त्र (sociology of law) या समाजशास्त्रीय विधिशास्त्र (sociological jurispruderce) की सज्ञा दी गयी है। अपराधशास्त्र एवं दण्डशास्त्र इसकी महत्वपूर्ण शाखा हैं। अपराधशास्त्र अपराध तथा अपराधी के व्यवहार का अध्ययन सामाजिक दृष्टि से करता है। दण्डशास्त्र विभिन्न प्रकार की दण्ड-प्रणालियों तथा *अपराधियों को उपयोगी नागरिक बनाने के लिये विभिन्न सुधारों एवं पुनर्वास-*योजनाओं के प्रभावों का अध्ययन करता है। कानूनी समाजशास्त्र की इन शाखाओ ने कानून-निर्माताओ एवं कानून को क्रियान्वित करने वालो के ज्ञान मे वृद्धि कर उनकी काफी सहायता की है ताकि उनको यह ज्ञात हो सके कि कानून वास्तविक रूप में किस प्रकार कार्य करते हैं तथा अपराध को किस प्रकार समाप्त किया जा सकता है। इस प्रकार, समाजशास्त्र ने उन विविध समस्याओं, जो समाज के सामने उपस्थित हैं तथा जिनको हल करना है, पर आपराधिक विधिशास्त्र की दृष्टि से काफी प्रकाश डाला है। परिणामत. विधिशास्त्र ने एक नया अर्थ ग्रहण कर लिया है कि कानून मनुष्यों के लिये बनाये जाते हैं तथा उनको निर्मित एव क्रियान्वित करते समय मानवीय तथा सामाजिक पहलू को भी ध्यान मे रखा जाना चाहिये।

९. समाजशास्त्र तथा जीवविज्ञान

(Sociology and Biology)

जीवविज्ञान मनुष्य के जैविक विकास, उसकी लैंगिक, शरीर-शास्त्रीय एवं वैयक्तिक विशेषताओं का विज्ञान है। इससे पता चलता है कि मनुष्य के शरीर और मन का विकास किस प्रकार हुआ, उसकी शारीरिक प्रणाली बाहरी संसार के प्रति किस प्रकार प्रतिक्रिया करती है तथा उसके समग्र व्यक्तित्व मे उसका शारीरिक सस्थान क्या कार्य करता है।

समाजशास्त्र मानवीय अन्तःक्रिया एवं अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन है। एम० जी०

मुलर (N. G. Muller) के अनुसार, "मनुष्य के लिये किस प्रकार की प्रगति सम्भव अथवा वांछनीय है, इस सम्बन्ध में हमारे विचार आंशिक रूप में इस बात पर निर्भर हैं कि मनुष्य का स्वभाव क्या है, उसका उद्भव किस प्रकार हुआ, उसमें परिवर्तन किस प्रकार हुए या हो सकते हैं तथा उसका शेष प्रकृति (nature) के साथ क्या सम्बन्ध है।" मनुष्य की सामाजिक प्रगति के ढंगों एवं इसकी सीमाओं को निर्धारित करना उसकी शारीरिक समर्थता एवं सीमा के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।

मिशा टीटीव (Mischa Titiev) के अनुसार, "मनुष्य की संस्कृति के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना उसकी शरीर-रचना के बारे में बिना कुछ जानकारी प्राप्त किये असम्भव है।"[1] डार्विन का विकासीय सिद्धान्त समाजशास्त्र में काफी उपयोगी रहा है। स्पेंसर, एक प्रमुख समाजशास्त्री, ने समाज के विकास की प्राकृतिक विकास के सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या की है। मानव-परिस्थिति-विज्ञान (ecology) जैविक परिस्थिति-विज्ञान पर आधारित है। जननविज्ञान (genetics), जिसका समाजशास्त्र में बहुत महत्व है, जीवविज्ञान की एक महत्वपूर्ण शाखा है। मानवीय व्यवहारों पर आनुवंशिकता (heredity) के प्रभाव का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जीवविज्ञान से काफी सहायता मिलती है।

समाजशास्त्र अपनी ओर से जीवविज्ञान को नयी दिशाओं में ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा देता है; उदाहरणतया, जनसंख्या को सीमित करने की आवश्यकता से जन्म-नियंत्रण (birth control) के साधनों की खोज हुई।

परन्तु, जीववैज्ञानिक सिद्धान्तों का समाजशास्त्र में अन्धा-धुन्ध प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये। इस विषय पर गिन्सबर्ग का कथन है, "जैविक तत्व समाज के विद्यार्थियों के लिये स्पष्टतया महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि समाज की इकाई जीवित प्राणी है, परन्तु सामाजिक तथ्यों को समझने में जीववैज्ञानिक सिद्धान्तों के सुलभ प्रयोग एवं विशेषतया सामाजिक विकास या परिवर्तन में विशुद्ध प्रजातीय तत्वों पर अत्यधिक बल देने की प्रवृत्ति से बड़ी भ्रान्ति हुई है।"[2]

प्रश्न

१. समाजशास्त्र की परिभाषा करते हुए नीतिशास्त्र एवं सामाजिक मनोविज्ञान से इसके सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

२. समाजशास्त्र का इतिहास, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से क्या सम्बन्ध है?

३. सामाजिक जीवन पर भौगोलिक तत्वों का क्या प्रभाव पड़ता है?

४. "इतिहास भूतकालीन समाजशास्त्र है तथा समाजशास्त्र वर्तमानकालीन इतिहास है।"—व्याख्या कीजिए।

---

1. Titiev, Mischa, *Introduction to Cultural Anthropology*, p. 86.
2. Ginsberg, *Studies in Sociology*, p. 17.

द्वितीय खण्ड

समाज

[THE SOCIETY]

"समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।"

"Society is a web of social relationships."

—-MacIver.

अध्याय ४

कुछ आधारमूलक अवधारणाएँ

[SOME FUNDAMENTAL CONCEPTS]

पिछले अध्यायों में हमने समाजशास्त्र के अर्थ, विषय-क्षेत्र, महत्व एवं स्वरूप का अध्ययन किया है। यहाँ हमने पढ़ा कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इस अध्याय में हम समाज तथा समाजशास्त्र में प्रयुक्त अन्य आधारमूलक अवधारणाओं के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

१. समाज
(Society)

समाज का अर्थ (Meaning of society)—साधारण बोलचाल में, 'समाज' शब्द व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों की अपेक्षा किसी विशिष्ट अन्तःसमूह के सदस्यों *तथा व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होता है। इसी आधार पर हम 'हरिजन समाज' शब्द* का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी इस शब्द का प्रयोग 'संस्थाओं' (institutions) के अर्थ में किया जाता है जब हम 'आर्य समाज' अथवा 'ब्रह्म समाज' शब्दों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार प्रयुक्त 'समाज' शब्द 'अमूर्त' की अपेक्षा 'मूर्त', 'मानकों' (norms) की अपेक्षा विशिष्टों (specifics) का बोध कराता है। समाजशास्त्र मे 'समाज' शब्द का अर्थ व्यक्तियों के समूह से नहीं है, अपितु उनके मध्य उत्पन्न अन्तक्रिया की जटिल प्रणाली से है। मनुष्यों का महत्व केवल सामाजिक सम्बन्धों के अभिकरणों (agencies) के रूप में ही है। वे 'वस्तुएँ' हैं। समाज अमूर्त है, यह "वस्तु की अपेक्षा प्रक्रिया, संरचना की अपेक्षा गति" है। समाज का महत्वपूर्ण तत्व सम्बन्धों की व्यवस्था, अन्तः-क्रिया के मानकों का प्रतिमान है जिसके द्वारा समाज के सदस्य अपना निर्वाह करते हैं। कुछ लेखक 'समाज' शब्द में मनुष्यों के केवल उन्हीं सम्बन्धों को सम्मिलित करते हैं जो समितियों में संगठित हैं तथा जिनकी निश्चित संरचना है। इस प्रकार ऐसे सम्बन्धों को जो निश्चित समितियों में संगठित नहीं होते, समाज की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जाता। परन्तु समाज की ऐसी व्याख्या अपूर्ण है, क्योंकि असंगठित वैयक्तिक सम्बन्ध, जो संगठनों के निर्माण को जन्म देते हैं, के अध्ययन को समाजशास्त्र के अध्ययन में भुलाया नहीं जा सकता।

कुछ समाजशास्त्रियों का विचार है कि समाज का अस्तित्व तभी कायम होता है जब इसके सदस्य एक-दूसरे को भली प्रकार जानते हों एवं उनके सम्मिलित हित अथवा उद्देश्य हों। इस प्रकार, यदि दो व्यक्ति रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे हों, तो उनका एक ही डिब्बे में सह-अस्तित्व, एक ही स्थान पर, एक ही समय में, एक ही साथ होना समाज का निर्माण नहीं करता। परन्तु ज्यों ही वे एक-दूसरे को जान जाते हैं, उनके

बीच 'समाज' के तत्व का निर्माण हो जाता है। पारस्परिक जागरूकता (reciprocal awareness) की यह धारणा गिडिंग्स (Giddings) की समाज-विषयक परिभाषा मे निहित है। उसके अनुसार, "समाज, समान मानसिक चेतनायुक्त व्यक्तियों का समूह है जो अपनी समान मानसिकता से परिचित हैं तथा इसमे आनन्द महसूस करते हैं, और इसलिये सम्मिलित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मिलकर काम करते हैं।"[1] परन्तु समाज की परिभाषा को 'पारस्परिक जागरूकता' के तत्व से बाँध देना असुविधाजनक है क्योंकि अप्रत्यक्ष एव अचेतन सम्बन्धो का भी सामाजिक जीवन मे अत्यधिक महत्व है।

समाज की परिभाषाएँ (Some Difinitions of Society)

१. "समाज कार्यप्रणालियो एवं रीतियो की, अधिकार सत्ता एव पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों एवं श्रेणियों की तथा मानव-व्यवहार के नियन्त्रणों एवं स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है।"[2] ——मैकाइवर

२. "समाज स्वयं एक सघ है, एक सगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर-सम्बद्ध हैं।"[3] —गिडिंग्स

३. "समाज ऐसे व्यक्तियो का संग्रह है जो कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहार की विधियों द्वारा आपस मे बँधे हुए हैं, और उन व्यक्तियों से भिन्न हैं जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा आपस में बँधे हुए नही हैं अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न हैं।"[4] —गिन्सबर्ग

४. "समाज ऐसे व्यक्तियो का समूह है जो काफी समय तक इकट्ठे रहने के कारण संगठित हो गये हैं तथा जो स्वय को अन्य मानवीय इकाइयों से भिन्न इकाई समझते हैं।"[5] —क्यूबर

५. "समाज मनुष्यों के समूह का नाम नही, बल्कि यह मनुष्यो के अन्त-सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है।"[6] —लापियर

---

1. "Society is a number of like-minded individuals, who know and enjoy their like mindedness, and are, therefore, able to work together for common ends." Gidding, F H., *The Elements of Sociology. p. 6.*

2. "Society is a system of usages and procedures, authority and mutual aid, of *many groupings and divisions*, of controls of human behaviour and of liberties.'—MacIver and Page.

3. [illegible] the sum of formal rela- [illegible] "—Giddings

4. [illegible] ted by certain relations [illegible] s who do not enter into [illegible] Ginsberg.

5. "A society may be defined as a group of people who have lived together long enough to become organized and to consider themselves and be considered as a unit more or less distinct from *other human units.*"—*John F. Cuber.*

6. "The term society refers not to group of people, but to the complex pattern of the norms of interaction, that arise among and between them."—Lapiere.

६. "समाज को उन मानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते है, चाहे वे यथार्थ हों या प्रतीकात्मक ।"[1] —पारसन्स

७. "समाज प्रक्रियाओं या आकारों की जटिलता है जिनमें से प्रत्येक दूसरों के साथ अन्तःक्रिया द्वारा जीवित है और विकसित हो रहा है; सम्पूर्ण अस्तित्व इस प्रकार एकीकृत है कि एक भाग में जो घटता है, वह शेष सभी को प्रभावित करता है ।"[2] —कूले

८. "समाज समुदाय के भीतर संगठित समितियों एवं संस्थाओं की जटिल व्यवस्था है ।"[3] —जी० डी० एच० कोल

९. "समाज में केवल व्यक्तियों को परस्पर बाँधने वाले राजनीतिक सम्बन्ध ही शामिल नहीं हैं, अपितु मानवीय सम्बन्धों एवं सामूहिक गतिविधियों का संपूर्ण क्षेत्र सम्मिलित है ।"[4] —लीकाक

१०. "समाज मनुष्यों, स्त्रियों एवं बच्चों का स्थायी अथवा अविच्छिन्न समूह है जो अपने सांस्कृतिक स्तर पर प्रजातीय चिरस्थायीकरण एवं अनुरक्षण की प्रक्रिया को स्वतन्त्र रूप से चलाने की स्थिति में है ।"[5] —हार्किन्स

११. "समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले आपसी सम्बन्धों की सम्पूर्णता का बोध कराती है ।" —रयूटर

इस प्रकार, समाज की परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं—

(i) प्रकार्यात्मक परिभाषाएँ (functional definitions), तथा (ii) संरचनात्मक परिभाषाएँ (structural definitions) । प्रकार्यात्मक दृष्टि से समाज समूहों का समिश्रण (complex) है जो पारस्परिक सम्बन्धों मे बँधे हुए हैं, जो एक-दूसरे पर अन्तर्क्रिया करते हैं, जो मानवीय संगठनों को अपनी गतिविधियाँ चलाने के योग्य बनाते हैं, तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छाएँ पूरी करने एवं अपने साथियों

---

1. "Society may be defined as the total complex of human relationships in so far as they grow out of action in terms of mean end relationship, intrinsic or symbolic."—Parsons.

2. "Society is a complex of forms or processes each of which is living and growing by interaction with the others, the whole being so unified that what takes place in one part affects all the rest."—Cooley.

3. "Society is the complex of organised associations and institutions within the community."—G. D. H. Cole.

4. "Society includes not only the political relations by which men are bound together but the whole range of human relations and collective activities." —Leacock.

5. "Society is any permanent or continuing group of men, women and children, able to carry on independently the process of racial perpetuation and maintenance on their own cultural level."—Harkins.

के साथ मिलकर अपने हितों को प्राप्त करने में सहायता करते हैं। संरचनात्मक दृष्टि से समाज जनरीतियों, रूढ़ियों एवं संस्थाओं, आदतों, भावनाओं एवं आदर्शों की सम्पूर्ण सामाजिक बपौती (heritage) है। गिन्सबर्ग, गिडिंग्स एवं वूबर ने समाज का संरचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है, जबकि मैकाइवर और अन्य लेखकों ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है और इसकी परिभाषा में व्यक्तियों की विभिन्न गतिविधियों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों को सम्मिलित करते हैं। मैकाइवर के अनुसार, समाज 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल' (web of social relationships) है। ये सम्बन्ध सैकड़ों अथवा सहस्रों प्रकार के हो सकते हैं। सामाजिक सम्बन्धों की सूची बताना कठिन कार्य होगा। केवल परिवार में ही आयु, लिंग एवं पीढ़ी के आधार पर पन्द्रह प्रकार के सम्बन्ध बतलाये गये हैं। परिवार से बाहर तो सम्भावित सम्बन्धों की कोई सीमा ही नहीं है। राइट (Wright) का कथन है, "समाज सार रूप में एक स्थिति, अवस्था अथवा सम्बन्ध है, अतएव आवश्यक रूप से यह अमूर्त है।" र्यूटर (Reuter) के शब्दों में, "जिस प्रकार जीवन एक वस्तु न होकर जीवित रहने की प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है, बल्कि सम्मिलन की प्रक्रिया है।"[1]

समाज के तत्व (Elements of Society)

इस प्रकार 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाना चाहिये। यह संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक दोनों प्रकार का संगठन है। इसमें व्यक्तियों की पारस्परिक अन्तर्क्रियाएँ तथा उनके पारस्परिक अन्त:सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं, परन्तु यह इन सम्बन्धों द्वारा निर्मित एक संरचना भी है। यह एक प्रतिमान, एक व्यवस्था है; न कि व्यक्ति। जिन लेखकों ने इसकी परिभाषा 'व्यक्तियों का एक समूह' कह कर की है, उन्होंने समाज की परिभाषा न करके 'एक समाज' के अर्थ में इसकी व्याख्या की है। दूसरे शब्दों में, जब 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के लिये किया जाता है तो समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसे 'एक समाज' कहा जाता है। उदाहरणार्थ, जब हम "भारतीय समाज" या 'पश्चिमी समाज' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा मन्तव्य भारत या पश्चिम के जनसमूह-विशेष की विशेषताओं को इंगित करना होता है। इस जनसमूह-विशेष को हम 'समाज' नहीं कहेंगे, क्योंकि समाज तो सामाजिक सम्बन्धों का अमूर्त जाल है, व्यक्तियों का मूर्त समूह नहीं।

पारस्परिक जागरूकता सामाजिक सम्बन्धों का एक अनिवार्य अवयव है (Reciprocal Awareness an Essential Ingredient of Social Relationships)

सामाजिक सम्बन्धों का क्या अर्थ है? क्या आग एवं धुआँ, कलम एवं स्याही, डुप्लीकेटर एवं मेज के बीच सम्बन्ध को सामाजिक सम्बन्ध कहा जा सकता है? स्पष्टतया नहीं, क्योंकि उनके बीच मानसिक जागरूकता का अभाव है। ऐसी जागरूकता के बिना सामाजिक सम्बन्ध का निर्माण नहीं होता। अतएव कोई समाज भी

1. "Just as life is not a thing but a process of living. So society is not a thing but a process of associating."—Reuter.

नहीं हो सकता। सामाजिक सम्बन्ध में पारस्परिक जागरूकता सन्निहित है। एफ० एच० गिडिंग्स (F. H. Giddings) ने कहा है, "समाज समानता की चेतना (consciousness of the kind) पर आधारित है।" यह पारस्परिक चेतना कूले (Cooley) की 'हम-भावना' (we-feeling) अथवा डब्लू० आई० थामस (W. I. Thomas) की 'सामान्य प्रकृति' (common propensity) हो सकती है।

(i) **समाज में समानता सन्निहित है (Society means likeness)**—समानता समाज का अनिवार्य तत्व है। मैकाइवर (MacIver) का कथन है, "समाज का अर्थ समानता है" (Society means likeness)[1]। प्रारम्भिक समाज मे समानता की भावना नातेदारी (*kinship*), अर्थात् वास्तविक या काल्पनिक खून के रिश्ते पर आधारित थी। वर्तमान समाज में सामाजिक समानता का आधार व्यापक बन गया है जो एक ही विश्व या राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आधारित है। "मित्रता, घनिष्ठता, किसी भी मात्रा या प्रकार का सम्मिलन एक-दूसरे को समझे बिना संभव नहीं है और यह समझना समानता पर आधारित है जो एक व्यक्ति दूसरे मे देखता है।"[2]

(ii) **समाज में विभिन्नता भी होती है (Society also implies difference)**—परन्तु समानता की इस भावना का अर्थ यह नहीं है कि समाज में कोई भिन्नता नहीं होनी चाहिये। समाज भिन्नता पर उतना ही आश्रित है जितना समानता पर। केवल समानता पर ही आधारित समाज यंत्रवत् हो जायेगा; व्यक्तियों के सम्बन्ध अत्यधिक सीमित हो जायेंगे और वे एक-दूसरे के लिये कोई योगदान नही कर पायेंगे। उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान समाप्त हो जायगा। सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में भिन्नताएँ सामाजिक सम्बन्धों की पूरक हैं, उदाहरणतया, परिवार लिंगों की जीव-शास्त्रीय भिन्नता पर आधारित है। लैंगिक भिन्नता के अतिरिक्त, अभिरुचि, हित, समर्थता की भी भिन्नता है। सामाजिक जीवन में समानता तथा विभिन्नता, सहयोग तथा संघर्ष, सहमति तथा असहमति की अनन्त क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इस प्रकार भिन्नता भी समाज का एक आवश्यक तत्व है।

भिन्नता समानता के अधीन है (Difference is subordinate to likeness)—यह भी ध्यान में रखा जाय कि जहाँ एक ओर समाज का अर्थ समानता है, वहाँ इस कथन का प्रतिरूप ठीक नहीं है, अर्थात् समानता का अर्थ समाज नही है। समानता, आवश्यक नही, समाज को जन्म दे। इसी प्रकार जहाँ भिन्नता समाज के लिए आवश्यक है, भिन्नता स्वयमेव समाज को जन्म नही देती। भिन्नता समानता के अधीन है। "क्योंकि मनुष्यों की आवश्यकताएँ समान हैं, अतएव वे असमान कार्यों को करते हैं। मानवीय आवश्यकताओं की समानता सामाजिक संगठन की विभेदशीलता के लिये अनिवार्यतः पूर्ववर्ती है।"[3] मैकाइवर का कथन है, "प्राथमिक समानता तथा

1. MacIver, *The Elements of Social Science*, p. 1.
2. *Ibid*
3. MacIver, *Society*, p. 8.

गौण भिन्नता सभी सामाजिक संस्थाओं में सबसे महत्वपूर्ण संस्था श्रम-विभाजन को जन्म देती है।"[1]

(iii) अन्योन्याश्रिता (Interdependence)—समानता के अतिरिक्त, अन्योन्याश्रिता भी समाज-निर्माण का एक आवश्यक तत्व है। परिवार, जो पहला समाज है जिससे हम सभी संबंधित हैं, स्त्री-पुरुष की अन्योन्याश्रिता पर आधारित है। दोनों में से कोई भी स्वयं पूर्ण नहीं है, इसीलिए वे अपनी पूर्णता के लिये एक-दूसरे का सहयोग चाहते हैं। आधुनिक संसार में अन्योन्याश्रिता का यह तत्व भली-प्रकार दिखाई पड़ता है। न केवल देश, अपितु महाद्वीप भी एक-दूसरे पर निर्भर हैं। आज संसार इतना सिकुड़ गया है कि यदि किसी छोर पर संचार अवरुद्ध हो जाय तो उसका प्रभाव सभी पर पड़ेगा। मैकाइवर ने कहा है, "मनुष्य का इतिहास *एक दृष्टि से एक संगठन के विकास का इतिहास है जो प्रत्येक के लिये भिन्न-भिन्न* कार्य निर्धारित करता है और उनको परस्पर निर्भर बनाता है, ताकि वह आत्म-निर्भरता के त्याग द्वारा उसके बदले जीवन की पूर्णता को हजारों गुना अधिक मात्रा में प्राप्त कर सके।"[2] अन्तर्निर्भरता का क्षेत्र व्यापक होने के साथ-साथ इसके प्रकार भी अनेक हो जाते हैं। नैटो (N. A. T. O.), सीटो (S. E. A. T. O.), कोलम्बो योजना, यूनेस्को (U. N. E. S. C. O.) संसार के व्यक्तियों की बढ़ती हुई अन्योन्याश्रिता के प्रमाण हैं।

(iv) सहयोग (Co-operation)—अंतिम तत्व सहयोग है। सहयोग के बिना कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। यदि व्यक्ति सहयोग नहीं करेंगे तो उनका जीवन सुखमय नहीं हो सकता। एक परिवार के सदस्य प्रसन्नतापूर्वक एवं सुखी रहने के लिये एक-दूसरे का सहयोग करते हैं। सहयोग के फलस्वरूप पारस्परिक बरबादी नहीं होने पाती, बल्कि बचत होती है। सहयोग के अभाव में समाज का सम्पूर्ण ताना-बाना नष्ट हो जायगा।

परन्तु सहयोग के साथ ही समाज में संघर्ष भी मौजूद है। सामाजिक सम्बन्ध सदैव सहयोगी नहीं होते, असहयोगी भी होते हैं। संघर्ष एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया है। संघर्ष मानवीय क्रियाओं को गतिशीलता और जागरूकता प्रदान करता है। परन्तु संघर्ष औचित्य की सीमा से आगे नहीं बढ़ना चाहिये, अन्यथा सामाजिक व्यवस्था भंग हो जायेगी।

समाज, संग्रह तथा जीवाणु (Society, Aggregation and Organism)

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, सभी समाजों में किसी न किसी स्तर पर सम्मिलन सन्निहित है। यह सम्मिलन जीवाणु की अपेक्षा अधिक निकटीय एवं कम जटिल होता है। समाज के बारे में आगे बढ़ने से पूर्व इसका संग्रह (aggregation) तथा जीवाणु (organism) से अन्तर देख लेना आवश्यक है।

---

1. MacIver, *The Elements of Social Science*, p. 1.
2. MacIver, *Labour in the Changing World*, p. 1.

संग्रह "उन व्यक्तियों को कहते हैं जो समान बाह्य अवस्थाओं के प्रति केवल अपनी निष्क्रिय अधीनता के कारण इकट्ठे होते हैं।"[1] यह किसी बाह्य तत्वों, यथा बाढ़ या अन्य कोई प्राकृतिक घटना के कारण लोगों का आकस्मिक संग्रह है। उदाहरणतया, यदि बाढ़ के कारण ग्रामवासी गाँव छोड़कर बाहर इकट्ठा हो जाते हैं तो उसे संग्रह कहा जायगा। ऐसे संग्रह में एकत्रित व्यक्ति बाह्य उद्दीपन के प्रति अनुक्रियाशील होते हैं, न कि एक-दूसरे के प्रति। इसी प्रकार, प्रकाश के इर्द-गिर्द घूम रहे पतंगे भी संग्रह का निर्माण करते हैं। ऐसे संग्रह में 'पारस्परिक जागरूकता' का अभाव होता है जिस कारण इसे समाज कहा जा सकता है। समाज का निर्माण उसी दशा में होता है जब व्यक्ति एक-दूसरे की सहायता करते हैं। सामाजिक सम्बन्धों के तत्व के बिना समाज का निर्माण नहीं हो सकता। संग्रह बाह्य उद्दीपक की समाप्ति पर भंग हो जाता है परन्तु समाज का कभी भी अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कभी-कभी संग्रह तथा समाज के मध्य ठीक विभेदक रेखा खींचना कठिन हो सकता है, जबकि समाज अत्यधिक निम्न स्तर का हो, अर्थात् इसमें पारस्परिक जागरूकता का तत्व कमजोर हो।

जीवाणु (organism) कोषाणुओं (cells) के सम्बन्धों की व्यवस्था है। यद्यपि इसका अस्तित्व कोषाणुओं पर निर्भर है, तथापि इसकी अपनी अलग एकता एवं संरचना होती है। जब तक जीवाणु रहता है, कोषाणु जीवित होते और मरते रहते हैं। इसका जीवन-इतिहास विकास, परिपक्वता, ह्रास एवं मृत्यु के चरणों में से गुजरता है। इसकी दो मूल आवश्यकताएँ भोजन तथा सुरक्षा होती है, ताकि इसे जीवित रहने की शक्ति तथा जीवन का अवसर प्राप्त हो सके। इसकी एक अन्य मूल आवश्यकता है, और वह है प्रजनन की आवश्यकता। जब प्रजनन की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तो जीवाणु जर्जरित और समाप्त हो जाता है।

जीवाणु की भाँति, समाज भी सम्बन्धों की व्यवस्था है। परन्तु समाज में यह सम्बन्ध जीवाणुओं के मध्य होता है, न कि कोषाणुओं के। समाज के निर्माणकारी अंग इसे एक अलग निरन्तरता एवं संरचना प्रदान करते हैं जिससे इसका अध्ययन इसके व्यक्तिगत सदस्यों का अध्ययन मात्र नहीं रहता। समाज एक मकान के समान है जो यद्यपि ईंटों, लोहे और चूने का बना हुआ होने पर भी केवल इन सामग्रियों के संग्रह-रूप में ही नहीं समझा जा सकता—इसका एक पूर्ण घर के रूप में एक विशेष आकार और कार्य है।

कुछ लेखकों, यथा स्पेन्सर ने समाज की तुलना जीव से की है। यह तुलना सहायक तो है, परन्तु पूर्ण नहीं। जीव के कोषाणु आपस में स्थिर तौर पर सम्बद्ध होते हैं, वे जीव के पूर्ण अधीन होते हैं, तथा इतने विशेषीकृत होते हैं कि उन्हें समाज का सदस्य नहीं कहा जा सकता। वे इतने अलग एवं स्वतन्त्र नहीं होते जिस प्रकार समाज के सदस्य होते हैं। जीव को वास्तव में 'कोषाणुओं का समाज' नहीं कहा जा

---

1. An aggregation consists of individuals collected together merely because of their passive subjection to 'the same external conditions." Davis, *Human Society*, p. 25.

सकता। जीव का विशिष्ट गुण 'स्थिरता' (fixity) समाज का गुण नहीं है। जीव एवं समाज के बीच संगति केवल एक तुलना है, तदरूपता नहीं।"

२. समुदाय
(Community)

समुदाय का अर्थ (Meaning of community)—मैकाइवर के अनुसार, "समुदाय सामाजिक जीवन के उस क्षेत्र को कहते हैं, जिसे सामाजिक सम्बद्धता अथवा सामंजस्य की कुछ मात्रा द्वारा पहचाना जा सके।"[1] हम जानते है कि व्यक्ति अकेला नही रह सकता। वह अन्य व्यक्तियों के साथ अनेक तरीको से सम्बद्ध होता है जो व्यक्ति मिलकर समूह का निर्माण करते हैं। परन्तु हम यह आशा नही कर सकते कि कोई व्यक्ति संसार के सभी समूहों का सदस्य बन सकता है। वह एक निश्चित भू-क्षेत्र में उसके निकट रहने वाले व्यक्तियों के साथ ही सम्बन्ध रख सकता है। कुछ समय तक किसी विशेष स्थान पर रहने वाले लोगो मे सामाजिक समानता, सामान्य सामाजिक विचार, सामान्य प्रथाएँ तथा एक-दूसरे के प्रति अपने-पन की भावना उत्पन्न हो ही जाती है। सामान्य जीवन एवं सामान्य विशिष्ट क्षेत्र की भावना से समुदाय का जन्म होता है।

समुदाय की कुछ परिभाषाएँ (*Some Definitions of Community*)

(i) "समुदाय मनुष्यों की वह जनसंख्या है जो सीमित भौगोलिक क्षेत्र में रहती हो और एक सामान्य परस्पर-आश्रित जीवन व्यतीत करती हो।"[2]

—लुंडबर्ग

(ii) "समुदाय व्यक्तियों का वह क्षेत्र है जो इस प्रकार इकट्ठे रहते हों तथा समानता की भावना रखते हों कि वे किसी विशिष्ट स्वार्थ के सम्भागी नहीं होते, अपितु स्वार्थों की पूर्णता के सम्भागी होते हैं।"[3] —मानहीम

(iii) "समुदाय एक सामाजिक समूह है जिसमें 'हम-भावना' की कुछ मात्रा हो तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता हो।"[4] —बोगार्डस

(iv) "समुदाय व्यक्तियों का एक समूह है, जो एक सन्निकट भौगोलिक क्षेत्र में रहता हो, जिसकी गतिविधियो एवं हितों के समान केन्द्र हों तथा जो जीवन के प्रमुख कार्यों में इकट्ठे मिलकर कार्य करते हों।"[5] —आसबर्न एवं न्यूमेयर

---

1. "Community is an area of social living marked by some degree of social coherence." MacIver, *Society*, p. 9.

2. "Community is a human population living within a limited geographic area and carrying on a common inter-dependent life"—Lundberg, *Sociology*, p. 128

3. "Community is any circle of people who live together and belong together in such a way that they do not share this or that particular interest only, but a whole set of interests."—Mannheim.

4. "Community is a social group with some degree of we-feeling and living in a given area"—Bogardus, *Sociology*, p. 122.

5. "Community is a group of people living in a contiguous geographic area, having common centres of interests and activities, and functioning together in the chief concerns of life."—Osborne and Neumeyer, *The Community and Society*, p. 8.

(v) "समुदाय किसी सीमित क्षेत्र के भीतर सामाजिक जीवन का पूर्ण संगठन है।"[1] —आगबर्न एवं निमकाफ

(vi) "समुदाय लघुतम प्रादेशिक समूह है जो सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का आलिंगन करता है।"[2] —डेविस

(vii) "समुदाय सामाजिक प्राणियों का एक समूह है जो सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं जिसमें अनन्त प्रकार के एवं जटिल सम्बन्ध सम्मिलित हैं जो उस सामान्य जीवन के कारण उत्पन्न होते हैं अथवा जो इसका निर्माण करते हैं।"[3] —गिन्सबर्ग

(viii) "समुदाय से मेरा अभिप्राय सामाजिक जीवन के संरूप से है, एक ऐसा संरूप जिसमें अनेक मानव प्राणी सम्मिलित हैं, जो सामाजिक सम्बन्धों की परिस्थितियों के अन्तर्गत रहते हैं, जो सामान्य यद्यपि निरन्तर परिवर्तनशील रीतियों, प्रथाओं एवं प्रचलनों द्वारा परस्पर-सम्बद्ध हैं तथा कुछ सीमा तक सामान्य सामाजिक उद्देश्यों एवं हितों के प्रति जागरूक हैं।"[4] —जी० डी० एच० कोल

(ix) "समुदाय भूक्षेत्र की एक इकाई है जिसमें कोई जनसंख्या वितरित होती है जिनकी मूलभूत संस्थाएँ समान होती हैं जो उनके सामान्य जीवन को संभव बनाती हैं।"[5] —डासन एवं गैटिस

(x) "समुदाय एक स्थानीय क्षेत्र है जिस पर रहने वाले लोग समान भाषा का प्रयोग करते हैं, समान रूढ़ियों का पालन करते हैं, न्यूनाधिक समान भावनाएँ रखते हैं तथा समान प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं।"[6] —सदरलैंड

(xi) "समुदाय व्यक्तियों का एक स्थायी स्थानीय संग्रह है जिनके हित भिन्न तथा सामान्य, दोनों हैं तथा जो संस्थाओं के संग्रह से सेवित हों।"[7] —एफ० एल० लुम्ले

---

1. "Community is the total organisation of social life with a limited area."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, p. 269.

2. "Community is the smallest territorial group that can embrace all aspects of social life"—Davis, *op. cit.*, p 312.

3. "Comm[illegible] living a common life including [illegible] which result from that comm-

[illegible] social life, a complex including [illegible] conditions of social relation- [illegible] constantly changing stock of [illegible] ous to some extent of common

5. "Community is a unit of territory within which is distributed a population which possesses the basic institutions by means of which a common life is made possible."—Dawson and Gettys, *op. cit.*, p. 220.

6. "A community is a local area over which peole are using the same language, conforming to the same mores, feeling more or less the same sentiments and acting upon the same attitudes."—Sutherland, *Introductory Sociology*, p. 316.

7. "A community may be defined as a permanent local aggregation of people having diversified as well as common interests and served by a constellation of institutions."—F. L. Lumley, *Principles of Sociology*, p. 209.

(xii) "समुदाय व्यक्तियो का संग्रह है जो समीपस्थ छोटे क्षेत्र में निवास करते हैं तथा सामान्य जीवन व्यतीत करते है।"[1] —ग्रीन

(xiii) "समुदाय किसी निश्चित भूक्षेत्र, क्षेत्र की सीमा कुछ भी हो, पर रहने वाले व्यक्तियो का समूह है जो सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं।"[2] —मजूमदार, एच० टी०

समुदाय की सज्ञा प्राप्त करने के लिये यह आवश्यव है कि वह निवास-क्षेत्र अन्य निवास-क्षेत्रो से कुछ सीमा तक पृथक् हो तथा उस क्षेत्र के सामान्य जीवन की कुछेक अपनी विशेषताएँ हो। इस विषय मे मुख्य बात ध्यान रखने योग्य यह है कि समुदाय की अवधारणा मे सामान्य जीवन के फल-स्वरूप उत्पन्न एकता पर प्रादेशिक तत्व की अपेक्षा, अधिक बल दिया जाता है। यह एक ऐसा समूह है जिसमे इसके सदस्यो के सम्पूर्ण जीवन का समावेश हो सकता है।

समुदाय के तत्व (Element of Community)

निम्नलिखित तत्वो के आधार पर हम निर्णय कर सकते हैं कि कोई समूह समुदाय है या नही—

(i) व्यक्तियों का समूह (Group of people)—समुदाय व्यक्तियो का समूह है। जब लोग ऐसे ढंग से साथ रहते हो कि वे सामान्य जीवन की मूल अवस्थाओ में सभागी है तो वे समुदाय का निर्माण करते हैं।

(ii) स्थान (Locality)—मनुष्यों का समूह जब किसी निश्चित स्थान पर रहने लगता है, तो उसे समुदाय कहते है। समुदाय हमेशा किसी प्रादेशिक क्षेत्र पर निवास करता है। इस क्षेत्र का सदा-सदा के लिये निश्चित होना अनिवार्य नही है। लोग अपने निवास-स्थान को समय-समय पर बदल सकते हैं, जैसे खानाबदोश समुदाय बदलते रहते है, परन्तु अब बहुत से समुदाय निश्चित स्थानों पर बस गये हैं और अपने निवास-स्थान की दशाओ के बल पर उन्होने एकता का दृढ बंधन विकसित कर लिया है। गाँव के लोगों मे एकता होती है, क्योकि वे एक निश्चित स्थान पर निवास करते हैं। यद्यपि सचार की सुविधाओ का विकास हो जाने के कारण प्रादेशिक बंधन ढीला हो गया है, तथापि सामाजिक वर्गीकरण के कारण स्थान की मूल विशेषता का महत्व कम नही हुआ है।

(iii) सामुदायिक भावना (Community sentiment)—सामुदायिक भावना का अर्थ है 'सम्बन्ध की भावना'। यह सदस्यो के बीच 'हम-भावना' है। आधुनिक समय मे किसी निश्चित भूक्षेत्र पर रहने वाले लोगो में यह भावना बहुत

---

1 "A community is a cluster of people, living within a continuos small area, who share a common way of life"—Green, *Sociology*, p. 274.

2. "Community comprises the entire group sympathetically entering into a common life within a given area regardless of the extent of area or state boundaries."—Majumdar H T., *Grammer of Sociology*, p. 136.

कम मिलती है। उदाहरणतया, बड़े नगरों में व्यक्ति अपने निकट पड़ोसी को भी नहीं जानते। मात्र पड़ोस समुदाय को जन्म नहीं देता, यदि उसमें सामुदायिक भावना नहीं है। अतएव, समुदाय के निर्माण हेतु यह आवश्यक है कि किसी स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों में सामान्य जीवन की भावना विद्यमान हो।

(iv) स्थायित्व (Permanency)—समुदाय भीड़ के समान क्षणभंगुर नहीं होता। इसमें अनिवार्यतः किसी निश्चित स्थान पर स्थायी जीवन सन्निहित होता है।

(v) प्राकृतिकता (Naturality)—समुदायों का इच्छा-शक्ति द्वारा निर्माण नहीं किया जाता, अपितु इनका जन्म स्वाभाविक है। व्यक्ति का जन्म समुदाय में होता है।

(vi) समानता (Likeness)—समुदाय में भाषा, रीति-रिवाजों, रूढ़ियों आदि की समानता होती है। समुदाय सामान्य प्रकार का जीवन व्यतीत करने वालों का तथा एक ही स्थान पर रहने वालों का समूह है।

(vii) व्यापक लक्ष्य (Wider ends)—समुदाय के व्यक्तियों के हित विशिष्ट या सीमित नहीं होते। समुदाय के हित व्यापक होते हैं। ये स्वाभाविक होते हैं, न कि कृत्रिम।

(viii) विशिष्ट नाम (Particular name)—प्रत्येक समुदाय का कोई विशिष्ट नाम होता है। लुम्ले (Lumley) के शब्दों में, "यह समरूपता का परिचायक है, यह वास्तविकता का बोध कराता है, यह अलग व्यक्तित्व को इंगित कराता है, यह बहुधा व्यक्तित्व का वर्णन करता है, तथा प्रत्येक समुदाय व्यक्तित्व का कुछ अंश होता है।"

(ix) कानूनी प्रास्थिति का अभाव (No legal status)—समुदाय कानून की दृष्टि में व्यक्ति नहीं होता। यह न कोई मुकदमा चला सकता है, न इसके विरुद्ध कोई मुकदमा चलाया जा सकता है। कानून की दृष्टि में, इसके कोई अधिकार एवं कर्त्तव्य नहीं होते।

गाँव या पड़ोस के छोटे समुदाय आदिम संसार के उदाहरण हैं। समुदाय की सीमा राष्ट्र एवं विश्व तक बढ़ जाने के कारण अब समुदाय केवल मात्रा में ही शेष रह गये हैं। परन्तु दोनों प्रकार के समुदाय, छोटे एवं बड़े, जीवन के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं। जहाँ बड़े समुदाय शांति एवं सुरक्षा प्रदान करते हैं, वहाँ छोटे समुदाय मित्र एवं मित्रता प्रदान करते हैं।

समुदाय तथा समाज में अन्तर (Difference between Community and Society)

(१) सामुदायिक भावना (Community sentiment)—जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं, समुदाय ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो किसी निश्चित भूक्षेत्र पर रहते हैं तथा सामान्य जीवन की मूल अवस्थाओं में संभागी हैं। समुदाय के लिए इसके सदस्यों में सामुदायिक भावना का होना आवश्यक है। समाज में मनुष्यों के बीच पाये जाने वाले सभी प्रकार के सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं। यह सभी प्रकार के सम्बन्धों, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सगठित या असंगठित, चेतन या अचेतन, सहयोगी या विरोधी का नाम है। समाज में समानता होती है, परन्तु समानता का अर्थ यह नही है कि उनमें एकता होनी ही चाहिये। शत्रु भी समाज के सदस्य हो सकते हैं। जब हम समाज की विचारणा करते है तो हम विशेष रूप से संगठन पर ध्यान देते हैं, परन्तु जब हम 'समुदाय' का विचार करते हैं तो उस जीवन की जिससे संगठन का जन्म होता है, कल्पना करते है।

(२) निश्चित प्रदेश (Definite locality)—द्वितीय, समाज की कोई निश्चित प्रदेशीय सीमा नही होती। यह सार्वलौकिक एव सर्वव्यापी है। समाज हमारे सामाजिक सम्बन्धों का नाम है। दूसरी ओर, समुदाय किसी विशिष्ट स्थान पर निवास करने वाले व्यक्तियो का समूह है।

(३) समुदाय समाज का एक आकार है (Community a species of society)—समुदाय समाज का एक आकार है। इसकी अवस्थिति समाज मे होती है तथा इसकी कुछ विशेषता होती है, जिसके कारण यह अन्य समुदायों से भिन्न होता है। कुछेक समुदाय इतने पूर्ण हैं कि वे अन्य समुदायों से स्वतन्त्र होते हैं। आदिम लोगों में कभी-कभी एक सौ से भी कम व्यक्तियों के समुदाय होते थे जो अधिकाशतया विलग रहते थे। छोटे समुदाय बडे समुदायों मे अवस्थित होते हैं—यथा, गाँव, नगर में, नगर प्रदेश मे, प्रदेश राष्ट्र में।

(४) समुदाय मूर्त है, समाज अमूर्त (Community is concrete, society is abstract)—समाज सामाजिक सम्बन्धो का ताना-बाना है, जिसे देखा या छुआ नही जा सकता। यह एक अमूर्त अवधारणा है। दूसरी ओर, समुदाय एक मूर्त अवधारणा है। यह किसी विशेष भूक्षेत्र में रहने वाले लोगों का समूह है जिनमे एकता की भावना पायी जाती है। हम इस समूह को देख सकते हैं तथा इसकी अवस्थिति का पता लगा सकते है।

जिमरमैन एवं फ्रैम्टन (Zimmermann and Frampton) ने समुदाय एवं समाज के अन्तर को इस प्रकार बतलाया है—"समुदाय मे समूह का अपना जीवन होता है जो इसके अस्थायी सदस्यो से श्रेष्ठतर होता है। समूह स्वयं एक साध्य है। समाज में समूह साध्य की प्राप्ति का केवल एक साधन है। समुदाय में विश्वास, प्रथाएँ, स्वाभाविक एकता, सामान्य इच्छा एवं सम्पत्ति के सामान्य स्वामित्व होते हैं।

समाज में विचारधारा, लोकमत, फैशन, निजी सम्पत्ति, व्यक्तिगत इच्छा एवं संविदात्मक एकता होती है।"[1]

३. समिति

(Association)

समिति का अर्थ (Meaning of association)—समिति किसी विशेष प्रयोजन या सीमित प्रयोजनों की प्राप्ति-हेतु संगठित मनुष्यों का समूह है। मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "समिति किसी हित या कुछ हितों की सामूहिक प्राप्ति के लिये विचारपूर्ण निर्मित संगठन है और इसके सदस्य इसमें सामान्य सहभागी होते हैं।" गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "समिति सामाजिक प्राणियों का समूह है जो इस तथ्य के कारण परस्पर-सम्बद्ध है कि उन्होंने किसी विशिष्ट लक्ष्य या लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु एक संगठन का मिलकर निर्माण किया है।" कोल (G. D. H. Cole) का कथन है, "समिति से मेरा अभिप्राय है, व्यक्तियों का एक समूह जो सहयोगी कार्य के माध्यम से किसी सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुए हैं एवं तदर्थ मिलकर प्रक्रिया की कुछेक विधियों तथा सामान्य कार्यहेतु कुछ नियमों, चाहे आरम्भिक प्रकार के ही हों, पर सहमत हैं।" बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "समिति सामान्यतया कुछेक उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु व्यक्तियों का मिलकर कार्य करना है।" समिति का निर्माण करने के लिये सर्वप्रथम, व्यक्तियों का समूह होना चाहिये। दूसरे, ये व्यक्ति संगठित होने चाहिये, अर्थात् समूह में उनके कुछ व्यवहार-सम्बन्धी नियम हों। तीसरे, उनका कोई सामान्य उद्देश्य होना चाहिये जिसकी प्राप्ति-हेतु वे संगठित हुए है। इस प्रकार परिवार, चर्च, मजदूर-संघ, संगीत क्लब सभी समिति के उदाहरण है। समितियों का निर्माण अनेक आधारों पर किया जा सकता है, यथा अवधि के आधार पर स्थायी अथवा अस्थायी, बाढ सहायता समिति अस्थायी है, जबकि राज्य स्थायी है; सत्ता के आधार पर, अर्थात् संप्रभु (जैसे राज्य), अर्द्ध-संप्रभु (जैसे विश्वविद्यालय) एवं असंप्रभु (जैसे क्लब); कार्य के आधार पर अर्थात् जैविक (जैसे परिवार), व्यावसायिक (जैसे अध्यापक-संघ या ट्रेड यूनियन), मनोरंजक (जैसे टेनिस क्लब या संगीत क्लब), परोपकारी (जैसे सेवा समिति)।

समाज तथा समिति में अन्तर (Difference between Society and Association)

समाज तथा समिति में निम्नलिखित अन्तर हैं—

---

1. "In the community (Gemeinschaft) the group has a life of its own, superior to that of its temporary members. The group is an end in itself in the society (Gesellschaft) the group is merely a means to an end. In the Gemeinschaft we have faith, custom, natural solidarity, common ownership of property, and a common will. In the Gesellschaft we have doctrine, public opinion, fashion, contractual solidarity, private property, and individual will." C. C. Zimmermann and M. E. Frampton, *Family & Society—A Sociology of Reconstruction*, p. 280.

(i) समाज समिति से पुराना है (Society is older than association)—समाज समिति की अपेक्षा अधिक पुराना है। समाज की अवस्थिति पृथ्वी पर उस समय से है जब से मनुष्य का जन्म हुआ। समिति का जन्म उस समय हुआ जब मनुष्य ने कुछ विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु स्वयं को संगठित करना सीखा।

(ii) समाज का उद्देश्य सामान्य है (The aim of society is general)—समाज के उद्देश्यों का स्वरूप सामान्य प्रकार का है, जबकि समिति का उद्देश्य विशिष्ट होता है। समाज का निर्माण व्यक्तियों के सामान्य कल्याण के लिये हुआ, जबकि समिति का निर्माण किसी विशेष उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु किया जाता है।

(iii) समाज संगठित अथवा असंगठित दोनों प्रकार का हो सकता है, परन्तु समुदाय का संगठित होना आवश्यक है (Society may be organized or unorganized but association must be organized)।

(iv) समाज की सदस्यता अनिवार्य है (Membership of society is compulsory)—समाज की सदस्यता अनिवार्य है, क्योंकि कोई भी मनुष्य, यदि वह पशु या देवता नहीं है, समाज के बिना नहीं रह सकता। दूसरी ओर, मनुष्य किसी भी समिति का सदस्य बने बिना जीवित रह सकता है। समाज जब तक मनुष्य जीवित है, जीवित रहेगा, परन्तु समिति अस्थायी होती है।

(v) समाज में सहयोग एवं संघर्ष दोनों होते हैं, परन्तु समिति का आधार सहयोग है (Society is marked by both co-operation and conflict whereas association is based on co-operation alone)।

(vi) समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है, जबकि समुदाय व्यक्तियों का समूह है (Society is a system of social relationships, association is a group of people)।

(vii) समाज स्वाभाविक है, समुदाय कृत्रिम है (Society is natural, association is artificial)।

समिति तथा समुदाय मे अन्तर (Difference between Association and Community)

समिति एक समुदाय नहीं है, परन्तु समुदाय के अन्तर्गत एक समूह है। इन दोनो के बीच अन्तर की बातें निम्नलिखित है —

(i) समिति आंशिक है, समुदाय समग्र (Association is partial, community is a whole)—समिति का संगठन किसी विशेष उद्देश्य जिसमे जीवन के समग्र उद्देश्य सम्मिलित नहीं होते, की प्राप्ति-हेतु किया जाता है। यह कुछ विशिष्ट उद्देश्यों को एक विशिष्ट ढंग से प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। ये उद्देश्य चाहे कितने महत्वपूर्ण क्यों हों, समग्र उद्देश्यों या लक्ष्यों को सम्मिलित नहीं करते। दूसरी ओर, समुदाय मे सामान्य जीवन का समग्र क्षेत्र शामिल होता है। यह विशेष हितों की पूर्तिहेतु जीवित नहीं रहता। इसका निर्माण जान-बूझ कर नहीं किया जाता।

इसका न कोई प्रारम्भ है, न कोई अन्त। यह केवल सामान्य जीवन का समग्र क्षेत्र है तथा समिति की अपेक्षा अधिक व्यापक एवं अधिक स्वाभाविक है।

(ii) समितियाँ समुदाय के अन्दर जीवित हैं (Associations exist within community)—समिति का निर्माण व्यक्तियों द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु होता है। समुदाय के अन्दर अनेक समितियाँ होती हैं। समिति एक समुदाय नहीं है, बल्कि समुदाय के अन्दर एक संगठन है।

(iii) समिति कृत्रिम होती है, समुदाय स्वाभाविक (Association is artificial, community is natural)—समिति का निर्माण जान-बूझ कर किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु किया जाता है। समुदाय का निर्माण नहीं किया जाता, अपितु इसका विकास सामुदायिक भावना से होता है। इसका न कोई आरम्भ है, न जन्म का कोई समय। यह स्वाभाविक होता है।

(iv) समिति की सदस्यता का महत्व सीमित होता है, जबकि समुदाय की सदस्यता का महत्व व्यापक होता है (Membership of an association has limited significance, while the membership of community is of wider significance)।

(v) समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है, समुदाय की सदस्यता अनिवार्य (The membership of association is voluntary, but the membership of community is compulsory)—हम समुदाय में जन्म लेते हैं, जबकि दूसरी ओर समितियों का हम स्वयं चयन करते है।

(vi) सामुदायिक भावना समुदाय का अनिवार्य तत्व है, समिति का नहीं (Community sentiment is an essential feature of communtiy but not of association)—'हम-भावना' के बिना किसी समुदाय का निर्माण नहीं हो सकता।

[illegible]

constitute a community)।

(viii) समुदाय प्रथाओं एवं रीतियों के माध्यम से कार्य करता है, जबकि समिति का कार्य चलाने के लिये लिखित नियम एवं कानून होते हैं (A community works through customs and traditions while an association works mostly through laws and rules)—समिति का संविधान साधारणतया लिखित होता है।

यह ध्यान रहे कि बहुत से लक्ष्यों की पूर्ति द्वारा समितियाँ समुदाय बन सकती हैं, यद्यपि ऐसा कभी नहीं होता। इस प्रकार तथाकथित समुदायों को जो साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं, समाजशास्त्रीय दृष्टि से समुदाय नहीं कहा जा सकता; उन्हें तो प्रजातीय अथवा धार्मिक समूह कहा जाना चाहिये।

४. संस्था
(Institution)

'मैकाइवर' के अनुसार, "सामूहिक क्रिया की विशेषता बताने वाली कार्य-प्रणाली के स्थापित स्वरूप या अवस्था को संस्था कहते हैं।"[1] समनर (Sumner) के अनुसार, "एक संस्था एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धान्त या स्वार्थ) एवं एक संरचना से मिलकर बनती है।"[2]

वुडवर्ड एवं मैक्सवैल (Woodward and Maxwell) ने लिखा है, "संस्था जनरीतियों एवं रूढ़ियों का समूह है जो कुछ मानवीय हितों या उद्देश्यों की पूर्तिहेतु केन्द्रित हो जाता है।"[3] ग्रीन (Green) के विचारानुसार, "एक संस्था किसी इकाई में जनरीतियों एवं रूढ़ियों (और प्रायः कानूनों, परन्तु आवश्यक नहीं) का ऐसा संगठन होता है जिसके द्वारा अनेक सामाजिक कार्य सम्पन्न होते हैं।"[4]

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमान (जिसमे कार्य, विचार, दृष्टिकोण एव सांस्कृतिक सामग्री सम्मिलित है) का प्रकार्यात्मक आकार है जिसमें कुछ स्थायित्व होता है तथा जो सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।"[5] गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "संस्थाएँ सामाजिक प्राणियो के मध्य किसी बाह्य वस्तु या एक-दूसरे के प्रति सम्बन्ध की निश्चित एव पुष्टिकृत विधियाँ अथवा रूप हैं।"[6] हार्टन एवं हट (Horton and Hunt) के अनुसार, "सस्था सम्बन्धो की सगठित व्यवस्था है, जिसमे कुछेक सामान्य नियम एवं प्रक्रियाएँ संन्निहित होती है तथा जो समाज की कुछ मूल आवश्यकताओं

1. "Institution are the established forms or conditions of procedure characteristic of gorup activity." MacIver, *Society*, p 15.

2. "An institution consists of a concept (idea, notion, doctrine or interest) and a structure" Sumner, *Folkways*, p 53

3 "An institution is a net of folkways and mores that centre in the achievement of some human end or purpose" Woodward and Maxwell, *Introductory Sociology*, p, 26.

4. "An institution is the organisation of several folkways and mores into a unit which serves a number of social functions" Green, A. W, *Sociology*, p. 79

5. [illegible] functional configuration of culture pattern [illegible] and cultural equipment) which possess a [illegible] *tended to satisfy felt* social needs." *Gillin*

6. "Institutions are definite and sanctioned forms or modes of relationship between social beings in respect to one another or to some external object." Ginsberg, *The Psychology of Society*, p. 122.

की पूर्ति करती हैं।"[1] मजूमदार (Mazumdar) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है, "संस्था व्यवहार या अनुक्रिया का वह सामूहिक रूप है जो एक पीढ़ी पार कर चुका है, जो कार्य करने के एक निश्चित ढंग की व्यवस्था करता है, तथा जो समूह के सदस्यों को प्रतीकों, विधियों, संस्कारों एवं अधिकारियों, जिनके पास नियमन-शक्ति अर्थात् दण्ड की शक्ति होती है, के माध्यम से एक समिति में इकट्ठा बाँधता है।"[2] रास (Ross) के अनुसार, "सामाजिक संस्थाएँ सामान्य इच्छा से *स्थापित या अभिमति-प्राप्त संगठित मानव-सम्बन्धों का समूह हैं।*"[3] बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "सामाजिक संस्था समाज का वह ढाँचा होती है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये संगठित की जाती है।"[4]

संस्थाएँ कार्यविधि के प्रकार हैं (Institutions are forms of procedure)—प्रत्येक संगठन कुछेक मान्यता-प्राप्त एवं स्थापित नियमों, प्रथाओं एवं *रीतियों पर आधारित होता है। इन प्रथाओं एवं नियमों को 'संस्था' कहा जा सकता* है। वे कार्यविधि के प्रकार होते हैं जिन्हें समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता है तथा जो व्यक्तियों एवं समूहों के बीच सम्बन्धों को विनियमित करते है। इस प्रकार, विवाह, सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार प्रमुख संस्थाएँ हैं। सामाजिक विज्ञानों के विश्व-कोश (Encyclopaedia of Social Sciences) में लिखा है, "संस्था एक मौखिक चिह्न है जिसे सामाजिक रीति या आचरण का शुद्ध मात्र कहा गया है। यह किसी समूह या लोगों की रीति या आदत, विचार या कार्य का बोध कराता है जो उनमें स्थायी या निरन्तर रूप से पोषित है। साधारण बोलचाल में यह कार्य-प्रणाली, प्रथा या इन्तजाम का दूसरा नाम है। किताबी भाषा में यह उसका एकाकी रूप है जिसका रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ सामूहिक नाम हैं। संस्था ही आदमी के कार्यों को रूप देती है और उनको सीमित करती है। आज के जिस साधारण तथा विषम संसार में हम अपना अपूर्ण अनुकूलन करते हैं, वह संस्थाओं का एक अटूट व उलझा जाल है।"

यह ध्यान रहे कि संस्था जहाँ लोगों को छूट देती है, वहाँ उन पर प्रतिबन्ध भी लगा देती है। वह लोगों पर शासन करती है और अपना अधिकार भी जमाती है।

---

1. *"An institution is an organised system of relationships which embodies certain common rules and procedures and meets certain basic needs of the society."*—Horton and Hunt.

2. "Institution is the collective mode of response or behaviour which has outlasted a generation, which prescribes a well defined way of doing things and which binds the members of the group together into an association by means of rituals, symbols, procedures and officers possessed of regulatory power or Danda."—*Majumdar, H. T., op. cit., p. 162.*

3. "Social institutions are sets of organised human relationships established or sanctioned by the common will." Ross, E. A., *Principles of Sociology*, p. 686.

4. "A Social institution is a structure of society that is organised to meet the needs of people chiefly through well established procedures." Bogardus, *Sociology*, p. 478.

जो लोग इसकी सीमा का उल्लंघन करते हैं, उन्हे दण्ड देती है। लोग इसकी सीमाओं को पार करने से डरते हैं।

संस्था की अवधारणा मे निम्नलिखित तत्वों पर ध्यान दिया जा सकता है—

(i) संस्थाएं व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करन के साधन हैं।

(ii) संस्थाएँ व्यक्तियों की सामूहिक गतिविधियों पर निर्भर हैं।

(iii) संस्थाओ की कुछ निश्चित विधियाँ होती हैं जो प्रथाओं एवं विश्वासों के आधार पर निर्मित की जाती है।

(iv) संस्थाएँ सामाजिक नियंत्रण के अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक स्थिर होती है।

(v) प्रत्येक सस्था के कुछ नियम होते हैं जिनका उस संस्था के व्यक्तियों द्वारा अवश्यमेव पालन किया जाना चाहिये।

(vi) प्रत्येक सस्था का एक प्रतीक होता है जो भौतिक अथवा अभौतिक, दोनो प्रकार का हो सकता है।

(vii) सस्थाओं का निर्माण मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्तिहेतु किया जाता है।

सस्था तथा समिति मे अन्तर (Difference between Institution and Association)

(i) समितियों का मानवीय पक्ष होता है (Association represents human aspect)—जैसा कि हम ऊपर देख चुके है कि सस्था कार्यविधि के नियमों का समूह है, अतएव स्पष्ट है कि इसे समिति के समकक्ष नही माना जा सकता। समिति किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु सगठित समूह है। परिवार एक समिति है जिसका निर्माण वंशवृद्धि के लिए किया जाता है, जबकि विवाह इसकी मुख्य संस्था है। इसी प्रकार, दल प्रणाली एक संस्था है, जबकि राज्य एक समिति है; बैप्टिज्म (ईसाई धर्म की दीक्षा देना) एक सस्था है, जबकि चर्च एक समिति है। समिति मानवीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि संस्था आचरण एवं व्यवहार की सामाजिक अवस्था है। सस्थाएँ उन उद्देश्यो को प्राप्त करने का ढग है जिनके लिये समितियों का निर्माण किया जाता है। महाविद्यालय शिक्षा प्रदान करने के लिये निर्मित एक समिति है, जबकि व्याख्यान एव परीक्षा प्रणाली इसकी संस्थाएँ है।

(ii) समितियों का आकार होता है तथा ये मूर्त हैं, परन्तु संस्थाओं का आकार नहीं होता, अतएव अमूर्त हैं (Associations have form and are concrete whereas institutions have no form and are abstract)।

(iii) समितियाँ वस्तुएँ हैं, संस्थाएं विधियां हैं (Associations are things, institutions are modes)—समाजशास्त्र मे समितियों तथा सस्थाओ के मध्य अन्तर काफी महत्वपूर्ण है, क्योकि समाजशास्त्र का मुख्य सम्बन्ध संस्थाओ से है, समितियों से नहीं। सस्थाएँ समितियों को जीवन एवं गति प्रदान करती हैं।

समितियाँ मूर्त वस्तुएँ हैं; संस्थाएं विधियाँ एवं प्रणालियाँ हैं। हम समितियों में जन्म लेते हैं तथा इनमें ही जीवन व्यतीत करते हैं। यह ध्यान रहे कि जबकि समिति तथा संस्था दो भिन्न अवधारणाएँ हैं, कोई भी संस्था समिति के बिना कार्य नहीं कर सकती।

कभी-कभी एक ही वस्तु समिति एवं संस्था दोनों हो सकती है, उदाहरणतया अस्पताल या महाविद्यालय, परन्तु जैसा मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है, "जब हम किसी संगठित समूह का विचार करते हैं तो वह एक समिति है और यदि एक कार्य-प्रणाली के रूप का विचार करते हैं तो वह एक संस्था है। समिति से सदस्यता का और संस्था से सेवा के एक प्रकार का अथवा साधन का बोध होता है। जब हम कालेज को छात्रों एवं शिक्षकों का एक समूह मात्र मानते हैं तो हम उसके समितीय पक्ष को चुनते हैं और जब हम उसे शिक्षा-प्रणाली मानते हैं तो उसकी संस्थागत विशेषताओं को चुनते हैं। हम एक संस्था से सम्बन्धित नहीं हो सकते। हम विवाह या सम्पत्ति सम्बन्धी प्रणालियों से सम्बन्धित नहीं होते, परन्तु परिवारों, राज्यों और कभी-कभी कारागारों से अवश्य सम्बन्धित होते हैं।"[1] अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य समिति के सदस्य होते हैं, न कि संस्था के (Men belong to associations and not to institutions)।

संस्था तथा समाज में अन्तर (Difference between Institution and Society)

संस्था तथा समाज में अंतर की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(i) प्रथम, समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है, जबकि संस्था नियमों, प्रथाओं एवं रीतियों का संगठन है।

(ii) दूसरे, संस्थाएँ कार्यविधि के प्रकार हैं, जिन्हें समाज मान्यता प्रदान करता है।

(iii) तीसरे, संस्थाओं का अस्तित्व समाज के लिये होता है। वे समाज के सदस्यों के बीच सम्बन्धों का नियमन करती हैं।

(iv) चतुर्थ, समाज मानवीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि संस्था सामाजिक आचरण अथवा व्यवहार की सामाजिक दशा है।

संस्था तथा समुदाय में अन्तर (Difference between Institution and Community)

संस्था तथा समुदाय में निम्नलिखित अन्तर है—

(i) संस्था नियमों, प्रथाओं एवं रीतियों का समूह है, जबकि समुदाय व्यक्तियों का समूह है।

(ii) संस्था कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्तिहेतु समाज की एक संरचना है, जबकि समुदाय किसी विशेष स्थान पर रहने वाले तथा सामुदायिक भावना रखने वाले व्यक्तियों का समूह है।

---

1. MacIver, *Society*; p. 17

(iii) संस्था अमूर्त है, जबकि समुदाय मूर्त होता है।
(iv) व्यक्ति समुदाय के सदस्य होते हैं, न कि संस्था के।

(v) प्रत्येक संस्था का जीवन के किसी विशेष पक्ष से सम्बन्ध होता है, जबकि समुदाय सामाजिक जीवन से समग्र रूप में सम्बन्धित होता है।

(vi) संस्था मानव-प्राणियों की सामूहिक गतिविधियों पर आधारित होती है, जबकि समुदाय का आधार पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं।

(vii) अन्तिम, संस्थाओं का जन्म समुदाय में होता है, जबकि समुदाय का विकास स्वयमेव होता है।

५. संगठन
(Organisation)

'संगठन' शब्द का अर्थ है, 'व्यक्तियों अथवा अंगों की व्यवस्था।' इस प्रकार, परिवार, चर्च, कालेज, फैक्टरी, राजनीतिक दल, क्रीड़ा-समूह, समुदाय, साम्राज्य, संयुक्त राष्ट्रसंघ सभी संगठन के उदाहरण हैं। इन सभी में व्यक्तियों या अंगों की एक व्यवस्था होती है जो संगठन का निर्माण करती है। इस व्यवस्था में व्यक्ति अथवा अंग अन्तःसम्बन्धित एवं अन्तर्निर्भर होते हैं। वे किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक समन्वित ढंग से कार्य करते हैं। संगठन के सदस्यों के, उनकी स्थिति एवं भूमिका के अनुसार, निर्धारित कार्य एवं दायित्व होते हैं।

संगठन अनेक प्रकार के होते हैं। राज्य एक राजनीतिक संगठन है, क्योंकि इसका सम्बन्ध राजनीतिक मामलों से है। फैक्टरी एक आर्थिक संगठन है, क्योंकि यह धन के उत्पादन एवं वितरण से सम्बन्धित है। चर्च एक धार्मिक संगठन है। बैंक वित्तीय संगठन है। कालेज शैक्षिक संगठन है। परन्तु ये सभी संगठन सामाजिक संगठन, अर्थात् समाज के संगठन भी हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र में 'सामाजिक संगठन' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है जिसमें समाज का कोई भी संगठन सम्मिलित होता है। संगठन समूह से भिन्न होता है। समूह का तात्पर्य किसी विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बन्धन से है, जबकि संगठन अन्योन्याश्रित अंगों अथवा समूहों के बीच समन्वित सामाजिक सम्बन्धों का परिचायक है।

संगठन के तत्व (Elements of Organization)

'संगठन' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है। इसका अर्थ संगठित होने की प्रक्रिया से हो सकता है, यथा इस वाक्य में "यूनियन ने संगठन सभा की"—अर्थात् स्वयं को संगठित करने के लिये सभा। इसका प्रयोग संगठित रहने के गुण के परिचायक रूप में भी हो सकता है, जैसे इस वाक्य में "इस समूह में संगठन की उच्च मात्रा है।" समाजशास्त्र में, जैसा ऊपर बतलाया गया है, 'संगठन' शब्द सामाजिक सम्बन्धों के समन्वय को निर्दिष्ट करता है। संगठन की सामाजिक संरचना होती है, अतएव यह भी कहा जा सकता है कि 'संगठन' एवं 'सामाजिक संरचना' समानार्थक हैं। निःसंदेह, दोनों शब्दों में निकटवर्ती सम्बन्ध है, परन्तु दोनों में बल-

सम्बन्धी अन्तर है। 'संगठन' शब्द सामाजिक सम्बन्धों के समन्वय पर बल देता है, जबकि 'सामाजिक संरचना' स्थितियों एवं तत्सम्बन्धित स्थिर नियमों पर बल देती है। किसी समूह को आँखों से देखना सरल हो सकता है, परन्तु उसके संगठन को देखना कठिन है तथा इसकी संरचना को देखना और भी अधिक कठिन है।

संगठन के निम्नलिखित तत्व हैं—

(i) लक्ष्य (A Goal)—संगठन के सदस्य किसी सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु परस्पर सम्बन्धित होते हैं। उनमें हितों की एकता पायी जाती है। ऐसी एकता के अभाव मे वे टूट जायेंगे और संगठन का भी अंत हो जायगा। परिवार में सभी सदस्य पारिवारिक सुख की प्राप्ति के लिये एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित होते हैं। वे मिलकर काम करते हैं और ज्योंही उनके बीच एकता समाप्त हो जाती है, परिवार का विघटन हो जाता है। राजनीतिक दल भी केवल उस समय तक जीवित रह सकता है, जब तक इसके सदस्यों में एकता है।

(ii) [illegible] (Prepared-
ness to
अंगों की
निर्दिष्ट भूमिका, स्थिति एवं पद है। समाजशास्त्र में, इन तीन शब्दों—भूमिका, स्थिति एवं पद का निश्चित अर्थ है। इसको स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण दिया जा सकता है। किसी कालेज में प्राचार्य, प्राध्यापक, लिपिक, अध्यापक, विद्यार्थी आदि होते हैं। शब्द 'प्राचार्य' पद का द्योतक है। उसे एक भूमिका कालेज-प्रशासन को चलाने के लिये दी जाती है। अपनी भूमिका के महत्वानुसार प्राचार्य की स्थिति समाज में मान्न स्थान होती है। मनुष्य अपनी भूमिका के सामाजिक महत्व के अनुपात में ही 'स्थिति' प्राप्त करता है। संगठन में सभी सदस्यों की निर्दिष्ट भूमिका एवं स्थिति होती है। उन्हें अपनी भूमिका स्वीकार करने तथा तदनुसार अपेक्षित कार्य करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। जिस प्रकार मानव-शरीर उसी अवस्था में सुगमतापूर्वक कार्य कर सकता है, जब इसके विभिन्न अंग अपनी भूमिका को पूरा करें, उसी प्रकार भूमिका-पालन संगठन का महत्वपूर्ण तत्व है।

(iii) आदर्श नियम एवं रूढ़ियाँ (Norms and mores)। प्रत्येक संगठन

अंग, अध्यापक एवं विद्यार्थी कालेज के आदर्श नियमों का पालन करें। विद्यार्थियों को व्याख्यानों में उपस्थित रहना चाहिये, अध्यापक अपनी कक्षा में समय पर पहुँचे, कक्षा में तथा बाहर अनुशासन बना रहे, ये कालेज के कुछ आदर्श नियम हैं। परिवार के अपने आदर्श नियम हैं। पिता, माता एवं बच्चों की निर्दिष्ट भूमिकाएँ होती हैं और उनसे पारिवारिक आदर्श नियमों के अनुसार व्यवहार की अपेक्षा की जाती

है। व्यक्ति को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय सम्बन्धित समूह के आदर्श नियमों द्वारा किया जाता है।

(iv) शास्ति (Sanctions)—प्रत्येक संगठन में शास्ति की व्यवस्था होती है जो उसके आदर्श नियमों की रक्षा करती है। यदि कोई सदस्य आदर्श नियमों का पालन नहीं करता तो उसे शास्ति द्वारा उनका पालन करने के लिये बाध्य किया जाता है। ये शास्तियाँ चेतावनी से लेकर शारीरिक दण्ड तक हो सकती हैं। विद्यार्थी को, यदि वह कालेज के आदर्श नियमों का उल्लंघन करता है, कालेज से निष्कासित किया जा सकता है। श्रमिक को नौकरी से हटाया जा सकता है, यदि वह फैक्टरी के आदर्श नियमों का पालन नहीं करता। बच्चे को घर पर रात में देर से आने के कारण डाँटा-पीटा जा सकता है।

इस प्रकार, निष्कर्ष रूप यह मे कहा जा सकता है कि 'संगठन' शब्द मे लक्ष्यो, आदर्श नियमों, शास्तियो, भूमिकाओं एव पदों की अवधारणाएँ समाहित है।

६ सामाजिक सरचना
(Social Structure)

समाजशास्त्र में सामाजिक सरचना एक मूल अवधारणा है। लम्बे समय से सामाजिक संरचना की परिभाषा देने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु अभी तक इसकी परिभाषा पर कोई सहमति नही है। हर्बर्ट स्पेन्सर समाज की संरचना पर प्रकाश डालने वाला प्रथम विचारक था, परन्तु वह भी कोई स्पष्ट परिभाषा नही दे सका। दुर्खीम (Durkheim) ने भी इसे परिभाषित करने का असफल प्रयत्न किया है। सामाजिक संरचना की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) "स्थूल जनसख्या एव उसके व्यवहार, एक-दूसरे से सम्बन्धित भूमिकाएँ अदा करने के रूप मे कर्ताओं के बीच प्राप्य सम्बन्धो की व्यवस्था अथवा प्रतिमान से अमूर्तीकरण के द्वारा हम समाज की संरचना पर पहुँच जाते है।"[1]

—एस० एफ० नाडेल

(ii) "सामाजिक संरचना अन्त सम्बन्धित संस्थाओ, एजेन्सियों एवं सामाजिक प्रतिमानो, साथ ही समूह मे प्रत्येक सदस्य द्वारा प्राप्त स्थितियों एवं भूमिकाओं की विशेष व्यवस्था को कहते हैं।"[2] —टालकोट पारसन्स

---

1. "We arrive at the structure of a society through abstracting from the concre e populations, and its behaviour, the pattern or network (or system) of relationship obtaining between actors in their capacity of playing roles relative to one another "—S F. Nadel.

(iii) "सामाजिक संरचना अन्तर्क्रियाशील सामाजिक तत्वों का ताना-बाना है जिससे विचारने एवं पर्यवेक्षण के विभिन्न ढंगों का विकास हुआ है।"[1]

—कार्ल मानहीम

(iv) "सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक संगठन के प्रमुख रूपों, अर्थात् समूहों, संस्थाओं एवं समितियों के प्रकारों तथा इनके संरूपों, जो समाजों का निर्माण करते हैं, से है।"[2]

—गिन्सबर्ग

(v) "सामाजिक संरचना के घटक मानव-प्राणी है, स्वयं सरचना व्यक्तियों की व्यवस्था है जिनके सम्बन्ध संस्थात्मक रूप से परिभाषित एवं नियमित होते हैं।"[3]

—रैडक्लिफ ब्राउन

(vi) "समूहीकरण के विभिन्न ढंग इकट्ठे होकर सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान की रचना करते हैं। सामाजिक संरचना के विश्लेषण मे सामाजिक प्राणियों के विभिन्न दृष्टिकोणों एवं हितों की भूमिका का पता चलता है।"[4] —मैकाइवर

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त घटना-वस्तु है। यह समाज के बाह्य पहलुओं को निर्दिष्ट करती [illegible]

सामाजिक संरचना के भाग हैं, अर्थात् उपकरण हैं जिनके माध्यम से यह कार्य करता है।

---

1. "Social structure is the web of interacting social forces from which *have arisen the various modes of observing and thinking* "—*Karl Mannheim*

2. "Social structure is concerned with the principal forms of social organization, i e. types of groups, associations and institutions and the complex of these which constitute societies" Ginsberg.

3. "The components of social structure are human beings, the structure itself being an arrangement of persons in relationship institutionally defined and regulated "—Radcliffe Brown.

4. "The various modes of grouping-together comprises the complex pattern of social structure. In the analysis of the social structure the role of diverse attitudes and interests of social beings is revealed."—MacIver.

सामाजिक संरचना के अर्थ को जैविक संरचना के उदाहरण से भली प्रकार समझा जा सकता है। एक जैविक संरचना, जिसे शरीर कहते हैं, विभिन्न अंगों, यथा हाथ, पैर, मुंह, आँख, कान, नाक आदि की व्यवस्था है। इन अंगों को एक विशेष एवं क्रमबद्ध ढंग से व्यवस्थित किया जाता है, ताकि एक प्रतिमान का निर्माण हो सके। शरीर इन अंगों के द्वारा, जो अन्योन्याश्रित एवं अंतःसम्बन्धित हैं, कार्य करता है। यद्यपि जैविक संरचना के अंग सभी मनुष्यों में समान हैं, तथापि इन जैविक संरचनाओं का आकार भिन्न-भिन्न है। कुछ मनुष्य लम्बे तो कुछ छोटे, कुछ मोटे तो कुछ पतले-दुबले होते हैं। ऐसी ही कुछ स्थिति हम सामाजिक संरचना में भी देखते हैं। सभी सामाजिक संरचनाओं के अंग समान हैं; अर्थात् प्रत्येक सामाजिक संरचना में परिवार, धर्म, राजनीतिक संगठन, आर्थिक संगठन, भूप्रदेश आदि होते हैं, परन्तु सामाजिक संरचना के आकार उसी प्रकार भिन्न-भिन्न हैं, जैसे शरीर का आकार। उदाहरणतया, सभी सामाजिक संरचनाओं मे परिवार का आकार समान नही है। कुछ समाजो मे एकपत्नी परिवार हैं तो अन्य में बहुपत्नी। इस प्रकार, सामाजिक संरचनाओं के अंग समान होते हुए भी उनके विशिष्ट आकारों में विभिन्नता होती है। अतएव निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना मानवीय सम्बन्ध-संरचनाओं की प्रतिमानित व्यवस्था है। ये सरचनाएँ है—(i) पारिस्थितिकीय सत्ताएँ, (ii) मानवीय समूह, (iii) सस्थानीय एजेन्सियाँ, (iv) संगठन, तथा (v) सामूहिकताएँ (collectivities)।

७. सामाजिक व्यवस्था
(Social System)

सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा भी सामाजिक सरचना की भाँति एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अवधारणा है। प्रत्येक समाज अथवा समूह में व्यवस्था होती है। व्यवस्था के अभाव मे कोई इकाई कार्य नही कर सकती।

व्यवस्था का अर्थ (Meaning of System)

साजाजिक व्यवस्था के अर्थ को समझने से पूर्व, हमे 'व्यवस्था' शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये। सरल शब्दो में, व्यवस्था सुव्यवस्थित इंतजाम है। हम शरीर से व्यवस्था का उदाहरण ले सकते हैं। मानव-शरीर के विभिन्न अग, यथा हाथ, पैर, कान, आँख, नाक, मुख, हृदय, मन आदि हैं। इन अंगों का शरीर में नियत स्थान है तथा इनको एक विशेष ढग से व्यवस्थित किया गया है, जिसे 'अवयवी संरचना' कहते हैं। हम मनुष्य की संरचना एवं कुत्ते की संरचना में भेद कर सकते है, क्योकि संरचना एक विशिष्ट प्रतिमान है जिसके आधार पर एक संरचना का दूसरी संरचना से भेद किया जा सकता है। संरचना के प्रत्येक अग का विशेप कार्य होता है। इन कार्यों के आधार पर वे एक-दूसरे से अतःसम्बन्धित होते हैं तथा अत.क्रिया करते हैं। इन अंगों के बीच अंतःक्रिया एवं अंतर्सम्बन्धिता के द्वारा संरचना अधिक क्रियाशील हो जाती है। अवयवी संरचना के इस पहलू को अवयवी व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार, 'व्यवस्था' शब्द किसी संरचना के घटक अंगो के मध्य प्रतिमानित सम्बन्ध को व्यक्त करता है जो प्रकार्यात्मक सम्बन्ध पर आधारित है तथा जो इन अंगों को क्रियाशील बनाकर एक इकाई में बाँधता है।

संक्षेप में, व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) व्यवस्था एकात्मक अवधारणा नहीं है। व्यवस्था का निर्माण विभिन्न अंगों को मिलाकर होता है।

(ii) इन अंगों के संग्रह मात्र से ही व्यवस्था का निर्माण नहीं हो जाता। इन अंगों को क्रमबद्ध ढंग से व्यवस्थित किया जाना चाहिये। उनके बीच क्रमबद्ध सम्बन्ध होना चाहिए।

(iii) इन अंगों की व्यवस्था से एक प्रतिमान (pattern) का जन्म होना चाहिए। एक घड़ी के पुर्जों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिए जिससे एक विशिष्ट प्रतिमान, अर्थात् घड़ी का निर्माण हो सके। यह प्रतिमान ही है जिसके आधार पर साइकिल और घड़ी में भेद किया जाता है, यद्यपि दोनों में अंगों की व्यवस्था होती है।

(iv) व्यवस्था के अंगों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अंग का निश्चित कार्य होता है। व्यवस्था का सम्बन्ध प्रत्येक अंग से होता है तथा प्रत्येक अंग व्यवस्था से सम्बन्धित होता है, उदाहरणतया, साइकिल के पहिये को घूमने के लिये इसे चेन, फ्रीह्वील आदि से सम्बन्धित किया जाना चाहिए।

(v) अंगों का बाहुल्य एकता को जन्म देता है। यद्यपि अंग भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, तदपि प्रकार्यात्मक रूप से वे इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं कि एक नई वस्तु का निर्माण हो जाता है। फाउन्टेनपेन में एक निब, ट्यूब, क्लिप और बाडी होती है। इन अंगों को व्यवस्थित ढंग से संगृहीत किया जाता है जिससे फाउन्टेनपेन बन जाता है। व्यवस्था मे अंग अपनी अवस्थिति नहीं खोते। वे जीवित रहते हैं तथा अपने विशिष्ट कार्यों को करते हैं। यह भी ध्यान रहे कि किसी एक अंग में दोष सारी व्यवस्था की क्रिया को प्रभावित कर सकता है।

व्यवस्था के प्रकार (Types of System)

व्यवस्था प्रमुखतया दो प्रकार की होती है—

(i) प्राकृतिक (natural), एवं (ii) मानव-निर्मित (man-made)।

प्राकृतिक व्यवस्था का निर्माण प्रकृति द्वारा किया जाता है। यह मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र होती है। इसके दो प्रकार होते हैं—(i) अप्राणित (inorganic) तथा (ii) अंगीय (organic)। अप्राणित का सम्बन्ध अजीवित वस्तुओं, यथा सौर-जगत् से होता है। अंगीय, जैविक वस्तुओं, यथा मानव-शरीर अथवा पौधों से सम्बन्धित है।

मानव-निर्मित व्यवस्था मनुष्य द्वारा बनायी जाती है। इसके चार प्रकार हो सकते हैं—(i) यांत्रिक व्यवस्था (mechanical system), (ii) व्यक्तित्व-व्यवस्था (personality system), (iii) सांस्कृतिक व्यवस्था (cultural system), तथा (iv) सामाजिक व्यवस्था (social system)।

सामाजिक व्यवस्था का अर्थ (Meaning of Social System)

व्यवस्था का अर्थ समझ लेने के बाद सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को सुगमता से समझा जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था सामाजिक अंत.क्रियाओं का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध सुगठन है। यह अंतःक्रियाशील सम्बन्धों का समूह है। इसकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह "व्यक्तियों का बाहुल्य है जो एक-दूसरे के साथ सभागी सास्कृतिक प्रतिमानों एव अर्थों के अनुसार अंत.क्रिया करते हैं।" सामाजिक व्यवस्था के घटक अग व्यक्ति होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की एक भूमिका (role) होती है। वह अत क्रियाशील सम्बन्धों में भाग लेता है। दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है तथा उनके व्यवहार से प्रभावित होता है। समाज में व्यक्तियों एवं समूहों का व्यवहार सामाजिक सस्थाओं द्वारा नियन्त्रित होता है। विविध समूह स्वतन्त्र अथवा विलग ढग से कार्य नही करते। वे एक समन्वित समग्र व्यवस्था से सलग्न अग होते है। वे सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार कार्य करते हैं। अपने अन्तःसम्बन्धों एवं अत:क्रियाओं के आधार पर वे एक प्रतिमान का निर्माण करते हैं, जिसे सामाजिक व्यवस्था कहा जाता है।

सामाजिक व्यवस्था एक संगठन है, क्योंकि इसमें अगों का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध सुगठन होता है, परन्तु यह अंत.क्रिया एवं अगो की अत:सम्बन्धिता पर बल देता है जो संगठन की अवधारणा मे नही पाया जाता। सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत अनेक उप-व्यवस्थाएँ होती हैं, जैसे राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, शैक्षणिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, आदि। इन सभी व्यवस्थाओं में प्रत्येक अत.क्रियाशील व्यक्ति का कोई न कोई कार्य होता है।

सामाजिक व्यवस्था की विशेषताएं (Characteristics of Social System)

(i) **सामाजिक व्यवस्था सामाजिक अंत.क्रिया पर आधारित है** (Social system is based on social interaction)—सामाजिक व्यवस्था अनेक लोगों की अन्तःक्रिया पर आधारित है। जब अनेक व्यक्ति क्रिया एव अन्त.क्रिया करते हैं तो उनकी अत.क्रियाएँ एक व्यवस्था को जन्म देती हैं, जिसे सामाजिक व्यवस्था कहते है। अतएव, सामाजिक व्यवस्था एक व्यक्ति की क्रिया से उत्पन्न नही हो सकती, इसका निर्माण करने के लिये अनेक व्यक्तियों की अत क्रियाओ की आवश्यकता है।

(ii) **अंत:क्रिया अर्थपूर्ण होनी चाहिये** (Interaction should be meaningful)—सामाजिक व्यवस्था अर्थपूर्ण अंत क्रियाओ का सुगठन है। लक्ष्यहीन एव अर्थहीन अंत:क्रियाएँ सामाजिक व्यवस्था का निर्माण नही करती। मानवीय अंत.क्रिया सामाजिक सम्बन्ध को स्थापित करती है। सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति रीति-रिवाजों, प्रथाओं, रूढियो, कानूनों, कार्यविधियों, सस्थाओं आदि के द्वारा होती है। सामाजिक व्यवस्था सामाजिक सम्बन्धों की विविध अभिव्यक्तियों का व्यवस्थित गठन है।

(iii) **सामाजिक व्यवस्था एक ऐक्य है** (Social system is a unity)—संस्थाओ, प्रथाओं, रीति-रिवाजो, क्रियाविधियों एव कानूनों के गठन मात्र से व्यवस्था का जन्म नही होता। सामाजिक व्यवस्था एक दशा या स्थिति है, जिसमें विभिन्न अंग

एक समन्वित ढंग से व्यवस्थित होते हैं। सामाजिक व्यवस्था में व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों में व्यवस्था सन्निहित है।

(iv) सामाजिक व्यवस्था के अंग प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर सम्बंधित होते हैं (The parts of social system are related on the basis of functional relationships)—सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक अंग की एक निर्दिष्ट भूमिका होती है जिसका वह निर्धारित क्रियाविधियों एवं आदर्श नियमों के अनुसार पालन करता है। विभिन्न अंग प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। वस्तुतः, सामाजिक व्यवस्था स्वतन्त्र एवं अन्तःक्रियाशील अंगों की व्यवस्था है। प्रकार्यात्मक सम्बन्ध का तत्व सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

(v) सामाजिक व्यवस्था सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बन्धित होती है (Social system is related with cultural system)—सामाजिक व्यवस्था का सांस्कृतिक व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संस्कृति समाज के सदस्यों के बीच अन्तःक्रियाओं एवं अन्तःसम्बन्धों के स्वरूप एवं क्षेत्र का निर्धारण करती है। यह न केवल अंतःसम्बन्धों एवं अंतःक्रियाओं को निर्धारित करती है, अपितु विभिन्न अंगों के मध्य संतुलन एवं सुसंगत सम्बन्ध भी कायम रखती है। यह विविध अंगों के बीच संघर्ष की संभावना को कम करती है तथा संतुलन कायम रखने में सहायता करती है।

(vi) सामाजिक व्यवस्था का पर्यावरणीय पक्ष होता है (Social system has an environmental aspect)—सामाजिक व्यवस्था का किसी युग, निश्चित प्रदेश एवं समाज विशेष से सम्बन्ध होता है। इसका अर्थ है कि सामाजिक व्यवस्था सभी युगों, प्रदेशों एवं समाजों में समान नहीं होती। भिन्न-भिन्न युगों एवं प्रदेशों की भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्था होती है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक व्यवस्था समय के परिवर्तन के साथ बदल जाती है। यह स्थिर न होकर गतिशील होती है। कुछ समाजों में सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक तेजी से होते हैं, परन्तु इस परिवर्तन का अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक संतुलन समाप्त हो जाता है। निःसंदेह कुछ समय के लिये इसमें विघ्न पड़ सकता है। सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद भी सामाजिक व्यवस्था कायम रहती है। पति-पत्नी की भूमिकाओं में अनेक परिवर्तन आ गये हैं, आदर्श नियम बदल गये हैं, तथापि परिवार-व्यवस्था का अंत नहीं हुआ है। सामाजिक व्यवस्था में आत्म-समंजन का गुण होता है।

सामाजिक संरचना तथा सामाजिक व्यवस्था में सम्बन्ध (Relationship between Social Structure and Social System)

सामाजिक संरचना तथा सामाजिक व्यवस्था की दोनों अवधारणाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक व्यवस्था का सम्बन्ध सामाजिक संरचना के प्रकार्यात्मक पहलू से है। सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक संरचना दोनों सहगामी हैं। सामाजिक संरचना एक साधन है, जिसके माध्यम से सामाजिक व्यवस्था कार्य करती है किसी संरचना का महत्व उसके द्वारा पूरित कार्यों के ढंग पर निर्भर करता है। जब कोई सामाजिक संरचना ठीक प्रकार कार्य नहीं करती तो हम इसे सुधारने का प्रयत्न

करते हैं। उदाहरणतया, यदि परिवार अपने उद्देश्य की पूर्ति नही करता तो हम इसमे परिवर्तन कर लेते हैं। बहुपति परिवार के स्थान पर एकपति परिवार को अपना सकते हैं। इसी प्रकार शैक्षणिक प्रणाली को बदला जा सकता है, यदि वह शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने मे असफल रहती है। कार्य के बिना संरचना व्यर्थ है, तथा कार्य की पूर्ति किसी संरचना के माध्यम से ही होती है। संक्षेप में, सामाजिक संरचना तथा सामाजिक व्यवस्था सहगामी हैं।

सामाजिक संरचना एवं सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध का एक अन्य पहलू भी है। कार्यों का स्वरूप संरचना के रूप को प्रभावित करता है तथा संरचना का रूप इसके द्वारा किये जा सकने वाले कार्यों को प्रभावित करेगा। इस प्रकार, यदि हम अपनी सामाजिक व्यवस्था को प्रजातंत्रीय ढग से चलाना चाहते हैं, तो सामाजिक सरचना के अगों को प्रजातन्त्रीय आधार पर गठित करना होगा। राज्य प्रजातंत्रीय ढग से कार्य नही कर सकता, यदि इसकी संरचना प्रजातांत्रिक नही है। दूसरे शब्दों मे, यदि हमारे राज्य की सरचना स्वेच्छाचारी है तो यह स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करेगा। परम्परागत परिवार आधुनिक आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं कर सकता। अतएव आधुनिक काल में परिवार की संरचना में परिवर्तन हो गया है। एक अनमनीय सामाजिक संरचना परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने मे असफल हो सकती है, जबकि सामाजिक व्यवस्था को नियमित करने के लिये आदर्श नियम आवश्यक हैं। यह भी समान रूप से आवश्यक है कि सामाजिक संरचना के अंगो को अपनी सृजनात्मक क्षमता का प्रयोग करने के लिये उपक्रम प्राप्त होना चाहिए।

प्रश्न

१. समाज की परिभाषा तथा इसके तत्वो की व्याख्या कीजिए।

२. समुदाय का क्या अर्थ है? समुदाय, समाज तथा समिति मे क्या अन्तर है?

३. संस्था की परिभाषा करते हुए इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए?

४. 'हम समिति मे जन्म लेते हैं, संस्था में नहीं'—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. सामाजिक सरचना का क्या अर्थ है? सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक संरचना के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

६. सामाजिक व्यवस्था का अर्थ स्पष्ट करते हुए सामाजिक व्यवस्था के तत्वों का वर्णन कीजिए।

अध्याय ५

मनुष्य तथा समाज

[MAN AND SOCIETY]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इससे पूर्व कि हम मनुष्य एवं समाज के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करें, समाज की उत्पत्ति के बारे में जान लेना उचित होगा।

१. समाज की उत्पत्ति

(The Origin of Society)

समाज की उत्पत्ति की व्याख्या हेतु विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। *दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (Divine Origin Theory)* समाज को ईश्वर की कृति मानता है। जिस प्रकार ईश्वर ने ससार की अन्य जड और चेतन वस्तुएँ उत्पन्न की, उसी प्रकार उसने समाज का भी निर्माण किया। इस सिद्धान्त ने धीरे-धीरे सोलहवीं और सत्रहवी शताब्दी तक दैवी अधिकारो के सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया। *शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)* समाज को सर्वोच्च शारीरिक शक्ति का परिणाम समझता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, समाज की उत्पत्ति शक्तिशाली द्वारा निर्बल की अधीनता में निहित है। आदिम काल में असाधारण शक्तिशाली व्यक्ति अपने साथियो को आतकित तथा उनके ऊपर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल हो गया। इस प्रकार, शारीरिक बल के आधार पर व्यक्तियों को इकट्ठा रहने के लिए बाध्य किया गया। पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त समाज को परिवार का बृहत् रूप बतलाते हैं। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) ने पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की परिभाषा इस प्रकार की है, "यह समाज की उत्पत्ति अलग-अलग परिवारों में मानता है जो ज्येष्ठतम पुरुष व्यक्ति की सत्ता एवं उसके आरक्षण के अधीन परस्पर इकट्ठे थे।" उसका विचार है कि समाज परिवार का विकसित रूप है। मातृसत्तात्मक सिद्धान्त की धारणा है कि आदिम काल में एकपत्नीत्व या बहुपत्नीत्व प्रथा की अपेक्षा बहुपतित्व एवं अस्थायी विवाह-सम्बन्ध अधिक प्रचलित थे। ऐसी परिस्थिति में वंश का नाम माता के नाम पर चलता था। जेंक्स (Jenks) ने कहा है, "ऐसे मामलों मे मातृत्व एक तथ्य है, जबकि पितृत्व केवल एक मत है।"

सामाजिक संविदा का सिद्धान्त (Social Contract Theory)—उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त संविदा का सिद्धान्त (Contract Theory) भी है, जिसके अनुसार समाज एक संविदा (समझौता) है, जोकि मनुष्यों ने कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया है। हाब्स (Hobbes) का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था (state of nature)

में मनुष्य अपने मूलत स्वार्थी स्वभाव के कारण सदैव ही अपने पड़ोसियों से लड़ता-झगड़ता रहता था । उसके शब्दों मे, मनुष्य का जीवन एकांतमय, निरीह, दुःखी, पशुवत् तथा अल्प था । प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शत्रु था । दुष्परिणामों से बचने के लिए मनुष्य ने अपने को समाज मे सगठित किया, ताकि वह अन्य मनुष्यों के साथ शान्तिपूर्वक रह सके । सविदा सिद्धान्त को मानने वाले एक अन्य विद्वान्, लाक (Locke) का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यों में युद्ध नहीं होते थे । वह शान्ति, सद्भावना, पारस्परिक सहायता तथा सुरक्षा की अवस्था थी । प्राकृतिक अवस्था मे केवल एक ही दोष था कि उस समय कानून तथा न्याय की कोई सामान्य प्रणाली नही थी । इस कमी को दूर करने के लिए और अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग करने की इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्य ने एक समझौता किया, जिसके द्वारा समुदाय को कुछ अधिकार सौंप दिये गये । जे० जे० रूसो (J. J. Rousseau) ने अपनी पुस्तक 'काण्ट्रेक्ट सोशल' (Contract Social, १७६२) में लिखा कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यो में समान आत्मनिर्भरता तथा सन्तुष्टि थी । वे आनन्द तथा सादगी का जीवन व्यतीत करते थे । परन्तु मनुष्यों की संख्या बढने तथा उनमें झगड़े बढ़ जाने के कारण एक सभ्य समाज की स्थापना की आवश्यकता महसूस हुई । अतः मनुष्यो ने एक समझौता किया, जिसके द्वारा हर व्यक्ति दूसरो के साथ एकता में बँध कर भी पहले की ही भाँति स्वतन्त्र है ।" **एडम स्मिथ** (Adam Smith) के अनुसार, "समाज पारस्परिक अर्थ-प्रबन्ध के विकास-हेतु निर्मित एक कृत्रिम उपाय है ।"

विभिन्न सिद्धान्तो की संक्षिप्त आलोचना (Brief criticism of the various theories)—समाज की उत्पत्ति-विषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट पता नही लगता कि समाज का जन्म कैसे हुआ । इनमे से सभी सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की गई है । हम इन सिद्धान्तो की आलोचना का ब्योरेवार वर्णन न करके इनके सम्बन्ध मे कही गयी मुख्य-मुख्य बातो को लेंगे । ईश्वर ने समाज का निर्माण नहीं किया है, समाज मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का परिणाम है । समाज के विकास में शक्ति निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण तत्व रही है, परन्तु इसे ही एक मात्र कारण नही माना जा सकता । समाज के जन्म मे जितना हाथ शक्ति का है, उतना ही ऐच्छिक भावना का भी है । मातृप्रधान तथा पितृप्रधान परिवार सार्वभौमिक नही माने जा सकते । लीकाक के शब्दो में "आदिमवासियों मे परिवार या समूह का कोई एक स्वरूप नही था । कही मातृप्रधान परिवार थे, तो कही पितृप्रधान परिवार थे—यही उस समय की व्यवस्था थी । हो सकता है कि बाद मे उनमें से किसी एक प्रणाली ने दूसरे को समाप्त कर दिया हो ।"[1] इस बात को अब बिलकुल ही नही माना जाता कि समाज एक कृत्रिम निर्माण है । सामाजिक संविदा सिद्धान्त में यह माना गया है कि मनुष्य का जन्म समाज से पहले हुआ था । परन्तु यह धारणा गलत है, क्योंकि सामाजिकता का जन्म मनुष्य के साथ ही हुआ । जब मनुष्य ने दूसरे मनुष्यों के साथ जन्म लिया, तो समाज एक वास्तविकता के रूप मे विद्यमान था । मनुष्य समाज के अन्दर ही मनुष्य है, समाज के बाहर नहीं । समाज धीरे-धीरे

1. Leacock, *Elements of Political Science*, p .41.

विकसित होकर बना। यह किसी एक दिन अचानक नही पैदा हो गया। उपर्युक्त सिद्धान्त से भले ही इस बात का पता लगे कि किस प्रकार विभिन्न समाज अस्तित्व में आये, परन्तु इनसे यह पता नही लगता कि समाज की उत्पत्ति कैसे हुई।

विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary theory)—विकासवादी सिद्धान्त समाज की उत्पत्ति के बारे में सामान्यतः ठीक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, समाज का निर्माण नही हुआ है, बल्कि यह विकास का फल है। समाज क्रमिक विकास का परिणाम है। समाज असंगठित से संगठित और अपूर्ण से पूर्ण की ओर निरन्तर विकास करता जाता है। इसके विकास मे समय-समय पर विभिन्न तत्वों से सहायता मिली है। नातेदारी तथा परिवार प्रारम्भिक बंधन थे, जिन्होने मनुष्यों को संगठित किया। मैकाइवर का कहना है कि "नातेदारी ने समाज का निर्माण किया।"[1] पितृप्रधान समाज का संगठन पुरुषों के माध्यम से नातेदारी के आधार पर हुआ। धर्म एक और तत्व था जिसने सामाजिक चेतना के विकास मे सहायता दी। गेटल (Gettell) का कहना है, "नातेदारी तथा धर्म एक ही वस्तु के दो पहलू मात्र थे।"[2] इन दोनों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि बाद में कबीले का प्रधान ही धार्मिक पुरोहित भी होने लगा। इसके बाद मनुष्य ने खानाबदोशी की आदत छोड़ दी, वह गांवों तथा नगरों मे बस गया और पशुपालन तथा कृषि का काम उसने आरम्भ कर दिया। इस प्रकार जनसंख्या तेजी से बढ़ने लगी। धन का संचय हुआ। सम्पत्ति की धारणा भी पैदा हो गई। आर्थिक जीवन खुशहाल हो गया। इन सब बातों के कारण सामाजिक सम्बन्धों के रूपों में परिवर्तन आये और मनुष्य सामाजिक संगठन के उन प्रगतिशील स्तरों तक पहुँच गया कि उसने राष्ट्र-राज्य बना लिए।

अतः स्पष्ट है कि समाज का जन्म किसी समझौते या विशेष उपबन्ध के कारण नहीं हुआ। इसका जन्म स्वतः हुआ और इसका क्रमशः विकास होता गया। आधुनिक जटिल स्वरूप तक पहुँचने से पहले यह विकास के कई चरणों से गुजर चुका है। काम्टे के अनुसार, "समाज इन चरणों से गुजर चुका है—धार्मिक (theological), तात्विक (metaphysical) और सकारात्मक (positive)। उसके विचारानुसार, संघ की आवश्यकता के परिणामस्वरूप समाज का जन्म हुआ। मनुष्यों द्वारा अनुभव की गयी यह आवश्यकता निश्चित नियमों के अनुसार विकसित हुई। विद्यमान समाज विकास के विभिन्न चरणों पर है। उसके अनुसार, प्रगति अनिवार्य है, यद्यपि यह धीरे-धीरे, धीमी-धीमी और असम होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी सामाजिक विकास के सिद्धान्त का पोषण किया है। उसके अनुसार समाज विकास के उन सभी सिद्धान्तों के अधीन है जिनके अधीन सब चर और अचर पदार्थ हैं। उसके लिए भी विकास का अर्थ प्रगति था। मानव-समाज जंगली अवस्था से सभ्य अवस्था को प्राप्त कर चुका है।

1. MacIver, *The Modern State*, p. 33.
2. Gettell, *Readings in Political Science*, p. 45.

उसने सामाजिक विकास के मार्ग में पुरातन, आदिम (primitive), सैनिक (Militant) और औद्योगिक (industrial) अवस्थाओं या चरणों को बतलाया।

बहुत से समाजशास्त्रियों ने काम्टे और स्पेंसर द्वारा विकास को प्रगति कहे जाने का विरोध किया है। यह कहना कठिन है कि प्रगति क्या है? परिवर्तन केवल देखा जा सकता है, परन्तु परिवर्तन का अर्थ आवश्यक रूप से प्रगति ही नहीं हो सकता।

२. समाज का स्वरूप
(Nature of Society)

समाज के स्वरूप का प्रश्न व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के प्रश्न से बहुत सम्बन्धित है। बहुत प्राचीन काल में अरस्तू ने कहा था कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है और जो मनुष्य समाज में नहीं रहता, वह या तो ईश्वर है या जंगली पशु है। मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहने के साथ ही हमारे सामने यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य किस दृष्टि से सामाजिक प्राणी है? हम समाज पर किस प्रकार निर्भर हैं? दूसरे शब्दों में, मनुष्य तथा सामाजिक व्यवस्था के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध हैं?

दो सिद्धान्त (Two theories)—व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों के बारे में मुख्यतः दो सिद्धान्त हैं जिनका अनेक विद्वानों ने समर्थन किया है। एक सिद्धान्त सामाजिक संविदा (Social Contract) का है, और दूसरा सावयवी विकास (Organic Theory) का सिद्धान्त है। सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना बताने की आवश्यकता है कि सामाजिक संविदा के सिद्धान्त में यह बात निहित है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समाज में रहता था, क्योंकि यदि वह समाज में न रहता रहा होता तो उसके मन में वे विचार तथा भावनायें उत्पन्न न होतीं जिनके परिणामस्वरूप उसने सामाजिक समझौता किया।

समाज का सावयवी सिद्धान्त (The organic theory of society)—यह सिद्धान्त भी अरस्तू तथा प्लेटो के जमाने का है। प्लेटो ने समाज या राज्य की तुलना एक बृहत् मनुष्य से की। उसने मनुष्य की तीन विशेषताओं बुद्धिमत्ता, साहस तथा इच्छा के आधार पर समाज को तीन भागों—शासक, योद्धा तथा कारीगरों में बाँटा। अरस्तू ने राज्य की तुलना एक शरीर से की और यह बताया कि मनुष्य समाज का अभिन्न अङ्ग है। हाल में ब्लंशली तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (Bluntschli and Herbert Spencer) ने व्यक्ति के शरीर तथा समाज के ढाँचे में सूक्ष्मतम समानता ढूंढ निकाली है। ब्लंशली ने तो राज्य में भी लैंगिक विशेषता बताई है। उसका कहना है कि राज्य का स्वरूप तो पुल्लिग है और चर्च का स्वरूप 'स्त्रीलिंग है। स्पेन्सर का कहना है कि राज्य के विकास तथा पतन पर वही नियम लागू होते हैं, जो मनुष्य के विकास तथा पतन पर लागू होते हैं। राज्य की भी किशोरावस्था, युवावस्था तथा मृत्यु होती है। मनुष्य की ही भाँति राज्य के भी सहायक अवयव होते हैं। "मजदूर, खेती करने वाले व्यक्ति, खानों तथा कारखानों में काम करने वाले

व्यक्ति, समाज के पोषक (alimentary) अंग हैं। थोक व्यापारी, खुदरा दुकानदार, बैंकर, रेलवे तथा स्टीम से चलने वाले जहाजों में काम करने वाले व्यक्ति समाज में उसी तरह हैं, जैसे मनुष्य के शरीर में रक्तवाहिनी नलिकायें हैं। डाक्टरों, वकीलों, इन्जीनियरों, शासकों, पुरोहितों आदि का समाज मे वही महत्व है, जो मनुष्य के शरीर में मस्तिष्क तथा नाड़ी-संस्थान का होता है।"[1] 'मुरे' (Murray) ने व्यक्ति तथा समाज में स्पेन्सर द्वारा बताये गये आधार पर कुछ समानतायें इस प्रकार प्रकट की हैं—

(१) दोनों छोटे-छोटे एककों से आरम्भ होकर बढ़ते हैं।

(२) ज्यों-ज्यों उनका विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उनकी आरम्भिक सापेक्ष सरलता के स्थान पर उनमें अधिकाधिक जटिलता पैदा होती जाती है।

(३) ज्यों-ज्यों उनमें अधिकाधिक भिन्नता बढ़ती जाती है, त्यो-त्यों उनके विभिन्न भागों में अधिकाधिक पारस्परिक निर्भरता बढती जाती है। प्रत्येक का जीवन तथा सामान्य क्रिया सम्पूर्ण जीवन पर निर्भर हो जाते हैं।

(४) सम्पूर्ण का जीवन उनके विभिन्न अंगों के जीवन से बिल्कुल अलग हो जाता है।[2]

उपर्युक्त समानताओं के आधार पर स्पेन्सर ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य एक जीव है—एक सामाजिक जीव। व्यक्ति समाज के अंग हैं और शरीर के कोषों की भाँति कार्य करते हैं जिनके कार्य तथा जीवन का उद्देश्य सम्पूर्ण शरीर का हित करना होता है। जिस प्रकार अंगों को शरीर से पृथक् कर देने पर उनमें जीवन नही रह जाता, उसी प्रकार व्यक्ति को समाज से अलग करने पर उसमें जीवन नहीं रह जाता। व्यक्ति समाज के अन्दर ही रहते हैं।

आलोचना (Criticism)—निश्चित ही समाज तथा जीव में महत्वपूर्ण समानतायें है; परन्तु साथ ही दोनों में महत्वपूर्ण भेद या अन्तर भी हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर ने स्वयं इन भेदों की ओर ध्यान दिया था और इन्हीं के आधार पर उसने राज्य के व्यक्तिवादी सिद्धान्त (individualistic theory) की रचना की। समाज तथा व्यक्ति के अवयव में उसने निम्नलिखित अन्तर प्रकट किये—

(१) समाज का कोई ऐसा विशिष्ट रूप नही है जिसकी किसी व्यक्ति के शरीर से तुलना की जाय।

(२) समाज के अंग अपनी-अपनी जगहों पर उस तरह स्थिर नही हैं, जैसे मनुष्य के शरीर के अंग।

(३) समाज की इकाई अलग-अलग व्यक्ति होते हैं और व्यक्ति के शरीर के कोषों की भाँति वे शरीर से संयुक्त नही होते।

1. Murray, *Social and Political Thought on the Nineteenth Century*, p. 21.
2. *Ibid.*

(४) समाज में कोई "सामान्य ज्ञान-केन्द्र" (common sensorium) नहीं होता; बोध तथा ज्ञान का कोई केन्द्रीय अवयव नहीं होता, जैसा कि मनुष्य के शरीर में होता है।

इसके अतिरिक्त समाज तथा मनुष्य के शरीर में और भी कई अन्तर हैं। यह कथन ठीक नहीं है कि समाज का जन्म भी वैसे ही हुआ है, जैसे मनुष्य का होता है। हम जानते हैं कि मनुष्य का जन्म तब होता है, जब पुरुष का एक कोष स्त्री के एक कोष में मिलता है, परन्तु समाज के सम्बन्ध में यह बात चरितार्थ नहीं होती। समाज में व्यक्तियों का सयोग इस प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार स्त्री के शरीर में दो कोषों का संयोग होता है। इसके अतिरिक्त न ही समाज उस तरह मरता है जिस तरह व्यक्ति मरता है। सच तो यह है कि सावयव सिद्धान्त समाज पर केवल एक रूपक के रूप में लागू होता है, वास्तविक रूप में नहीं। समाज न तो जीव है और न जीव हो सकता है। यह एक जीव की भाँति है। यह मानसिक प्रणाली है, शारीरिक प्रणाली नहीं। समाज का कोई शरीर नहीं होता, यह एक मानसिक संरचना और सम्मिलित प्रयोजनों के लिए मानसिक संगठन है।

समूह-मन सिद्धान्त (Group mind theory)—समूह-मन सिद्धान्त या आदर्शवादी सिद्धान्त (idealist theory) का सावयव सिद्धान्त से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्लेटो, हीगल, बोसाके (Bosanquet), ओटो गिर्के (Otto Gierke) और मैक्डूगल जैसे विद्वानों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्लेटो ने समाज को एक 'बृहत् मन' (a mind writ large) माना है और बुद्धिमत्ता, साहस तथा इच्छा के आधार पर उसने समाज को तीन भागों—शासक, योद्धा तथा कारीगर में बाँटा है। परन्तु समाज तथा मनुष्य के मन की यह तुलना एक रूपक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

हीगल (Hegel)—आदर्शवादी जर्मन विद्वान् हीगल का विचार है कि समाज एक 'पूर्ण मन' (absolute mind) है। यह ऐतिहासिक विश्व-प्रक्रिया, सार्वभौम आत्मा या पूर्ण विचार का प्रतीक है। राज्य जो परिवार तथा सिविल समाज के पूर्ववर्ती तत्वों को सँजोये हुए विद्यमान है, मन के द्वन्द्वात्मक विकास का अन्तिम चरण है और पृथ्वी पर उसका चरम विकास है। राज्य की इच्छा 'पूर्ण मन' की पूर्ण अभिव्यक्ति है। व्यक्ति जब तक राज्य का सदस्य है, तभी तक उसका वास्तविक अस्तित्व है। राज्य के बिना व्यक्ति एक कल्पना या भाव मात्र है; समाज की सदस्यता से ही उसे महत्व, मान्यता, नैतिक पद आदि प्राप्त हैं। राज्य मनुष्य की अपेक्षा एक उच्चतर साध्य है, क्योंकि यह स्वयं व्यक्ति है जो अपने आकस्मिक तथा स्वल्पायु विशेषताओं से रहित और अपनी सार्वभौमिकता से युक्त होता हुआ तटस्थता तथा चिरन्तनता को धारण किये हुए है।[1]

1. Stace, *Philosophy of Hegel*, p. 415.

बोसांके (Bosanquet)—हीगल के बाद टी० एच० ग्रीन और एफ० एच० ब्रैडले और बी० बोसांके ने इस मत का समर्थन किया। बोसांके के कथनानुसार 'राज्य सभी नागरिकों के मन का मिला-जुला सार है।'[1] किसी निश्चित राज्य-क्षेत्र तथा किसी प्रभुसत्ता के अधीन रहने वाले लाखों पुरुषों व स्त्रियों को ही राज्य नहीं कहा जा सकता, बल्कि राज्य एक समूह-मन है। किसी सम्मिलित प्रयोजनों के लिए संयुक्त हो जाने पर मनों का समूह समूह-मन बन जाता है। यद्यपि समूह-मन का अस्तित्व व्यक्तियों के मन से पृथक् नहीं हो सकता, परन्तु फिर भी यह एक यथार्थ है। समूह-मन व्यक्तियों के मनों से श्रेष्ठ है। यह मानसिक जीवन का एक श्रेष्ठतर रूप है, और अन्तर्वस्तु तथा प्रकार मे व्यक्ति-मन से उन्नतर होते हुए भी उसको अपने में समाविष्ट रखता है।

मैक्डूगल (McDougall)—समूह-मन के विचार की मैक्डूगल ने पुष्टि की। १९२० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दी ग्रुप माइंड (The Group Mind) मे उसने लिखा, "समाज एक योग (व्यक्तियों का) है; उसका पृथक् व्यक्तित्व है और वह एक सच्ची इकाई है जो कि बहुत अधिक सीमा तक अपने अंगों की गति-विधि का ढंग तथा उसका स्वरूप निर्धारित करती है। यह एक पूर्ण जीव है। समाज का एक मानसिक जीवन होता है, जो कि उसके अन्तर्गत स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में रहने वाले मानसिक जीवन का योग मात्र नहीं है; और जहाँ तक इकाइयों को अलग-अलग माना जा सकता है, उनके पूर्ण ज्ञान से हम पूर्ण के जीवन के स्वरूप के सम्बन्ध में उस ढंग से निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, जैसा कि स्पेन्सर के उदाहरणों में कहा गया है।"[2] "अतः सामाजिक योग का एक सामूहिक मानसिक जीवन होता है, जो कि उसकी इकाइयों के मानसिक जीवन का योग मात्र नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि समाज में केवल सामूहिक जीवन ही नहीं होता, बल्कि सामूहिक मन या कुछ लोगों के कथनानुसार 'सामूहिक आत्मा' भी होती है।"[3] मैक्डूगल ने आगे लिखा है, "समुदाय की आत्मा का स्वरूप तथा उसका गठन हर प्रकार से उतना ही पूर्ण मानसिक या भौतिक है जितना कि व्यक्ति के मन का ढाँचा तथा गठन होता है।"[4] इस प्रकार मैक्डूगल तथा बोसांके के विचार लगभग एक-से ही हैं। दोनों का कहना है कि समाज केवल अपने सदस्यों के कुछ गुणों या लक्षणों को प्रकट करने वाला एक समूह मात्र नहीं है, बल्कि स्वयं एक मन तथा एक यथार्थ है।

आलोचना (Criticism)—हॉबहाउस (Hobhouse), लास्की तथा मैकाइवर जैसे विद्वानों ने समूह-मन सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। ये आलोचक इस बात को तो मानते हैं कि समाज सम्बन्धित व्यक्तियों का केवल समूह मात्र नहीं है, परन्तु वे यह नहीं मानते कि समाज का अपना पृथक् मन तथा उसकी अपनी पृथक् इच्छा है, जो कि समाज के सदस्यों के मन तथा उनकी अपनी पृथक् इच्छा से बिलकुल भिन्न व अलग है। मैकाइवर का कहना है कि यदि "हम किसी समूह-मन की

1. Barker, *Political Thought in England*, p 74.
2. McDougall, *The Group Mind*, p. 10.
3. *Ibid.*
4. *Ibid.*

चर्चा करते हैं, तो इस सम्बन्ध में हमारे पास कोई तथ्य या प्रमाण नहीं होते, अतः हमें यह कल्पना करने का कोई अधिकार नहीं है कि वह एक ही ढंग से महसूस करने वाले या सोचने वाले, समान ढंग से प्रतिक्रिया करने वाले, और एक जैसा या सम्मिलित हितों से प्रभावित होने वाले समाज के सदस्यों के मन से कुछ भिन्न चीज है।"[1] समूह-मन की कल्पना को केवल एक रूपक के रूप में ही प्रयोग किया जा सकता है, वास्तविक दृष्टि से कदापि नही। भावना तथा क्रिया के केन्द्र तो व्यक्ति ही हैं। समाज में व्यक्ति उन पारस्परिक सम्बन्धों में बँधे होते हैं, जिनका निर्माण वे स्वयं करते हैं। जब हम कहते हैं कि हमारा मन किसी प्रयोजन में समाविष्ट हो गया है, तो यह रूपक के माध्यम से कहने का ढंग ही है, जिसका अर्थ यह है कि हम उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए मिलकर सहयोग कर रहे हैं। **मैक्डूगल** ने मानसिक प्रणाली और मन को एक ही माना है, यह सही नही है। समूह-मन, समाज-मन, कालेज-मन भी हो सकते हैं, परन्तु *यह भी हो सकता है कि उनका कोई मानसिक कार्य न हो।* "मन का मन से सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु एक मन दूसरे मन का स्थान नहीं ले सकता"।[2] विभिन्न व्यक्तियों के मानसिक कार्यों का समन्वय तथा एकीकरण *किसी अकेले व्यक्ति के मानसिक कार्यों का समन्वय कभी भी नहीं होता।*

इसलिए समाज में मन की स्थापना करना और उसे व्यक्ति के मन के समान मानना सामाजिक प्राणी के व्यक्तित्व के साथ न्याय नहीं है।

व्यक्ति तथा समाज में वास्तविक सम्बन्ध (True Relationship between Individual and Society)

जैसा कि हम देख चुके हैं, उपर्युक्त सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध को अच्छी तरह व्यक्त नही कर पाये हैं। सामाजिक संविदा सिद्धान्त में व्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया है और इस प्रकार समाज के महत्व को कम किया गया है; उसे मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं को पूरा करने का साधन बताया गया है। सावयव सिद्धान्त तथा समूह-मन सिद्धान्त में सामाजिक जीवन में मनुष्य के महत्व को लगभग उपेक्षणीय माना गया है। समाज तथा व्यक्ति का सम्बन्ध एकपक्षीय नही है, जैसा कि इन सिद्धान्तों में बताने का प्रयत्न किया गया है।

इसके पहले कि हम *मनुष्य तथा समाज के बीच वास्तविक सम्बन्ध* का अध्ययन करें, हमें इस बात पर विचार कर लेना चाहिए कि मनुष्य को किस दृष्टि से सामाजिक प्राणी कहा जा सकता है। मनुष्य को तीन आधारों पर सामाजिक प्राणी *कहा जा सकता है*—

(१) मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है (Man is social by nature)—पहली बात तो यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अकेले नही रह सकता। ऐसा कोई मनुष्य नही है, जिसका

---

1. MacIver, *Society*, p. 48.
2. Gilbert, *Fundamentals of Sociology*, p. 48.

बिलकुल निर्जन में संतुलित विकास हुआ हो। मैकाइवर ने ऐसे तीन उदाहरण दिये हैं जिनमें मनुष्य के सामाजिक स्वभाव के सम्बन्ध में परीक्षण करने के लिए शिशुओं को सभी सामाजिक सम्बन्धों से अलग रखा गया। पहला उदाहरण कैस्पर हासर (Kaspar Hauser) का है जिसे बचपन से सत्रह वर्ष की आयु तक न्यूरेमबर्ग के जंगलों में रखा गया था। उसके सम्बन्ध में यह देखा गया कि सत्रह वर्ष का होने के बाद भी वह कठिनता से चल-फिर सकता था; उसकी बुद्धि बच्चों की-सी थी और वह केवल कुछ निरर्थक शब्द ही बोल पाता था। बाद में उसको ठीक शिक्षा दी गयी, फिर भी वह सामान्य मनुष्य नहीं बन पाया।

दूसरा उदाहरण दो हिन्दू बच्चों का था, जो १९२० में एक भेड़िये की मांद में मिले थे। एक बच्चा तो पाये जाने के कुछ समय बाद ही मर गया। दूसरा बच्चा चारों पंजों के सहारे चलता था; वह मनुष्य की बोली बोल ही नहीं सकता था; केवल भेड़ियों की तरह गुर्राता था। वह मनुष्यों से शर्माता था और उनसे डरता भी था। बड़ी सावधानी तथा सहानुभूतिपूर्ण ट्रेनिंग देने के बाद वह कुछ सामाजिक आदतें सीख पाया।

तीसरा उदाहरण एक अबोध अमरीकी बच्ची अन्ना (Anna) का था जिसे ७ महीने की आयु से एक कमरे में रखा गया और पाँच वर्ष बाद उसे वहाँ से निकाला गया। निकालने पर देखा गया कि न वह चल सकती थी और न बोल सकती थी और उसके आसपास जो लोग थे, उनमें उसे कोई रुचि नहीं थी।

इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। मनुष्य जब समाज में रहता है और अपने साथियों के साथ समाज की गतिविधियों में भाग लेता है, तभी उसका विकास होता है। सामाजिक बन्धनों से मुक्त होकर जंगलों में रहने वाले तथा फल खाकर अपनी भूख मिटाने वाले तपस्वियों की कथाओं का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। यहाँ तक कि सांसारिक जीवन से विरक्त होने वाले साधु भी वनों में अन्य साधुओं के साथ रहते हैं। इन सब बातों से पता लगता है कि समाज मानव-संरचना की कुछ बड़ी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो अचानक ही मनुष्य के साथ जोड़ दी गयी है, या जबर्दस्ती मनुष्य पर लाद दी गयी है। वस्तुतः मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक है।

(२) **आवश्यकता मनुष्य को सामाजिक बनाती है** (Necessity makes a man social)—दूसरी बात यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से बाध्य होकर समाज में रहता है। यदि वह अपने साथियों की सहायता न ले तो उसकी बहुत-सी जरूरतें पूर्ण ही नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति स्त्री-पुरुष के बीच स्थापित सामाजिक सम्बन्ध की उपज है। बच्चा माँ-बाप की देखभाल में पलता है, और उनके साथ रह कर ही नागरिकता का पहला पाठ पढ़ता है। यदि नवजात शिशु को समाज का संरक्षण तथा उसकी देख-भाल न मिले तो वह एक दिन भी जीवित नहीं रह सकता। ऐसे किसी शिशु का प्रमाणीकृत उदाहरण नहीं मिलता जो स्वयं जीवित रहा हो या भेड़ियों लंगूरों या दूसरे पशुओं ने उसे पाला हो। मानव-शिशु इतना निरीह है कि उसे समाज

का संरक्षण अनिवार्य है। हम दूसरों के साथ रह कर तथा उनकी सहायता से ही अपनी भोजन, आवास तथा कपड़े की जरूरतें पूरी करते हैं। ऊपर दिये गये उदाहरणों से सिद्ध होता है कि मनुष्यों के सम्पर्क से दूर पशुओं के बीच पले बच्चों की आदतें पशुओं की-सी ही होती हैं। शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिए समाज का क्या महत्व है, यह स्पष्ट है। कोई भी व्यक्ति मनुष्य नही बन सकता, जब तक कि वह अन्य मनुष्यों के साथ नही रहता। जगली जानवरों के भय के कारण कुछ लोग दूसरो का सहयोग चाहते हैं, विनिमय या वस्तु-विनिमय के माध्यम से भूख तथा विश्राम की जरूरत पूरी करने के लिए लोगों को दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है; कुछ सम्मिलित उद्श्देयो की पूर्ति के लिए, जिन्हे अकेला व्यक्ति प्राप्त नही करता, मिलकर काम करने या श्रम-विभाजन की आवश्यकता पड़ी। हर व्यक्ति को अपनी रक्षा की जरूरत महसूस होती है, जिसके कारण वह सामाजिक बनता है। अतः केवल स्वभाव के कारण ही नहीं, बल्कि अपनी जरूरतों के कारण भी मनुष्य को समाज में रहना पडता है।

(३) **समाज व्यक्तित्व का विकास करता है** (Society determines personality)—अन्तिम बात यह है कि मनुष्य अपने मानसिक तथा बौद्धिक विकास के लिए समाज मे रहता है। समाज हमारी सस्कृति को सुरक्षित रखता है और उसे अगली पीढ़ी तक पहुँचाता है। समाज व्यक्तियों के रूप मे हमारी सुप्त शक्तियों को विकसित तथा उन्हें मर्यादित करता है और हमारे दृष्टिकोण, विश्वास तथा आदर्शों को समुचित रूप मे ढालता हे। जैसा कि ऊपर दिये गये उदाहरणो से प्रकट है कि समाज में रहे बिना मनुष्य का मस्तिष्क वयस्कता प्राप्त करने के बाद भी बच्चे जैसा ही रहता है। सास्कृतिक विरासत से हमारे व्यक्तित्व के विकास में सहायता मिलती है। अत. समाज केवल हमारी शारीरिक आवश्यकताओं को ही पूर्ण नही करता, बल्कि हमारा बौद्धिक विकास भी करता है।

यह निश्चित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के रूप में जीवन व्यतीत करने के लिए समाज अत्यन्त आवश्यक है। एक या कुछ विशेष जरूरतों को पूरा करने के लिए या अपनी प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य समाज में नही रहता. बल्कि वास्तव मे समाज में रहे बिना उसके व्यक्तित्व का विकास ही नहीं हो सकता।

यद्यपि व्यक्ति अपने समाज की उपज है, तथापि कई बार उसके और उसके समाज के किन्ही पहलुओं में गम्भीर विरोध उत्पन्न हो सकता है। मानव इस प्रकार का व्यक्तित्व प्राप्त कर सकता है जो उसकी परिस्थितियों से मेल न खाता हो। वह व्यक्ति जो युद्ध में सेना का नायक बनने की मनोकामना को जीवन में पूर्ण करने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाता, वह अपने समाज से बिगड़ा रहता है, वह निराश हो जाता है। सामाजिक व्यवस्था में ह्रास के कारण भी व्यक्ति और समाज में विरोध हो सकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता में पला-पोसा हुआ व्यक्ति दासप्रथा को कष्ट-दायक और दमनकारी समझेगा। वह मजबूरी के अधीन कार्य करेगा, परन्तु यह उसे बुरा लगेगा और वह समाज का विरोधी हो जायगा जो विरोध किसी भी समय आकस्मिक और अभूतपूर्व (unprecedented) रूप में फूट सकता है।

उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्ति तथा

समाज अन्योन्याश्रित हैं। मनुष्य तथा समाज के बीच का सम्बन्ध एकपक्षीय नहीं है। दोनों ही एक-दूसरे के विकास के लिए अनिवार्य हैं। न तो मनुष्य और समाज के बीच में वह सम्बन्ध है, जो एक कोष का शरीर से होता है और न ही समाज मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक साधन मात्र है। समाज अपने सदस्यों की जो सेवा करता है, उसके आगे उसका स्वयं कोई मूल्य नहीं है; और, व्यक्ति समाज के बिना अपना विकास नहीं कर सकता है। न तो समाज व्यक्तित्व के विकास में बाधक है और न ही व्यक्तियों के बिना उसकी स्थिति हो सकती है। 'क्या व्यक्ति समाज से पूर्ववर्ती है या समाज व्यक्ति से'—इस प्रश्न के सम्बन्ध में सम्पूर्ण वाद-विवाद ऐसा ही निरर्थक है जैसा कि 'मुर्गी पहले या अण्डा' के बारे में। तथ्य यह है कि सभी मानव किसी न किसी प्रकार के समाज में उत्पन्न हुए हैं और उससे प्रेरणा पाते हैं। वास्तव में दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए मैकाइवर का कहना है कि "अपनी सभी परम्पराओं, संस्थाओं तथा सज्जाओं के होते हुए भी समाज सामाजिक जीवन की एक महान् परिवर्तनशील व्यवस्था है जो व्यक्ति की मानसिक तथा शारीरिक आवश्यकताओं से पैदा होती है। यह वह व्यवस्था है, जिसमें मनुष्यों का जन्म होता है तथा उसकी सीमाओं के भीतर उनका विकास होता है और वह भावी पीढ़ी-हेतु जीवन के लिए आवश्यक बातें छोड़ जाता है। हमें ऐसे किसी भी दृष्टिकोण को अस्वीकार कर देना चाहिए जो व्यक्ति या समाज के सम्बन्धों को एक केवल अथवा दूसरी दृष्टि से देखता है।"[1]

३. मनुष्य–समाज बनाम पशु–समाज
(Human vs. Animal Society)

समाज मनुष्य तक ही सीमित नहीं है (Society not confined to man)—समाज की धारणा तथा उसके स्वरूप का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। जैसा कि उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट हो गया होगा, समाज उन सामाजिक सम्बन्धों का नाम है, जिसके माध्यम से हर व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित है। परन्तु समाज केवल मनुष्यों का ही नहीं होता। वस्तुतः कई प्रकार के पशु-समाज भी हैं। केवल मनुष्य ही ऐसा नहीं है जो समाज में रहना चाहता है और जिसमें स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति है, बल्कि पशु भी अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए समाज में रहना चाहते हैं।

पशुओं के लिए समाज की आवश्यकता (Need of Society for Animals)

कामवृत्ति (Sexual instinct)—मनुष्यों की भाँति पशुओं को समाज बनाने के लिए प्रेरित करने वाली अपनी जाति को चलाते रहने की उनकी सहजवृत्ति है। पशुओं में कामवृत्ति भी समान रूप से होती है। कामवृत्ति तथा प्रजनन-कामना को संतुष्ट करने के लिए पशुओं को संभोग करना होता है।

---

1. MacIver, *Society*, p. 49.

शारीरिक आवश्यकताएँ (Physical needs)—दूसरे, पशुओं को सुरक्षा, आराम तथा पालन-पोषण के लिए भी समाज की आवश्यकता पड़ती है। पशु-बच्चे के पैदा होते ही उसे समाज की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य के बच्चे की भाँति पशु का बच्चा भी रक्षा तथा पालन-पोषण के लिए अपने माँ-बाप पर निर्भर रहता है। यदि माँ-बाप बच्चे के लिए सुखकर आवास का प्रबन्ध न करें तो बच्चा सर्दी, गर्मी या बरसात के कारण मर जाय। यदि वे उसके लिए भोजन न लायें तो वह जिन्दा नहीं रह सकता। अतः जिस प्रकार नवजात मानव-शिशु के लिए माँ-बाप भोजन तथा आवास की व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार पशु-बच्चे के जीवन को सुरक्षित रखने के लिए उसके माँ-बाप उसके लिए भोजन तथा आवास की व्यवस्था करते हैं।

पशुओं का संस्कृति से कोई मतलब नहीं (Culture irrelevant to animals)—मनुष्य केवल भोजन तथा सुरक्षा के लिये ही नहीं, बल्कि शिक्षा, साज-सामान, विचारों तथा आकांक्षाओं के लिए भी समाज पर निर्भर है। इसमें संशय नहीं कि हमारे बहुत से कार्य पशुओं के समान हैं। हम पशुओं के समान भोजन प्राप्त करने, तैयार करने और खाने में समय व्यतीत करते हैं। परन्तु उनके समान होते हुए भी हम उनसे भिन्न हैं। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य ऐसा पशु है जिसके पास मस्तिष्क है और बोलने की योग्यता है। पशु तो पशु ही है और संस्कृति से उसे कोई मतलब नहीं होता, अतः इन प्रयोजनों के लिए उसे समाज की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य को ही वह बुद्धि प्राप्त है, जिससे संस्कृति तथा भाषा की वृद्धि होती है। संस्कृति केवल मनुष्य की सम्पत्ति है। मनुष्य में सभी अनुपम गुण इसी कारण हैं और इसके बिना मनुष्य पशु होता है। संस्कृति तथा भाषा के विकास के लिए मनुष्य समाज पर निर्भर होता है। परन्तु चूंकि पशु को इन बातों की आवश्यकता नहीं होती, अतः इन आवश्यकताओं के लिए वह समाज नहीं बनाता।

मानव-समाज और पशु-समाज मे भद (Difference between Human Society and Animal Society)

(i) **मानव-समाज सभ्य और संस्कृत प्राणियों का समाज है** (Human society is a society *of civilized and cultural beings*)—अतः स्पष्ट है कि कुछ प्रयोजनों के लिए पशु भी समाज बना कर रहते हैं। परन्तु स्तर तथा प्रकार दोनों दृष्टियों से मनुष्य-समाज पशु-समाज से भिन्न होता है। मनुष्य-समाज सभ्य तथा सुसंस्कृत व्यक्तियों का समाज होता है। वह मनुष्यो की शारीरिक ही नही, बल्कि सांस्कृतिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। वह समाज उच्च स्तर का होता है, जिसमें लोग देश के कानून के अनुसार एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं, और समाज के सदस्य होने के नाते उनमे जो सामाजिक चेतना होती है, उसके प्रति पूर्णतः जागरूक होते हैं।

इसके विपरीत पशु-समाज जंगली जीवों का समाज होता है, जिसका सभ्यता और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नही होता। पशुओं की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी और प्रायः शारीरिक होती हैं जिनकी पूर्ति वह परम्परा-प्राप्त यन्त्र-रचनाओ से कर लेता है, जबकि मानव-समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति सांस्कृतिक संचरण (cultural) से होती है।

(ii) सामाजिक बोध (Social awareness)—पशु समाज में रहते हैं, परन्तु उन्हें इस बात का ध्यान नहीं होता। सामाजिक चेतना तो उनमें बहुत ही कम होती है। उनमें वस्तुओं के बीच तार्किक सम्बन्धों को समझने की योग्यता नहीं होती, और मानसिक संश्लेषण के माध्यम से वस्तुओं के विभिन्न क्रमों में सामंजस्य (केवल संयोग नहीं) पैदा करने की शक्ति उनमें नहीं होती। हाँ, यह कहा जा सकता है कि मधुमक्खियाँ शहद इकट्ठा करने के लिए सात कोने वाले घरों का छत्ता बनाती हैं और पक्षी अपने घोंसले बनाने, संगीत, शिकारियों से अपने को बचाने में बड़ी चतुराई का परिचय देते हैं, फिर भी यह बात कोई नहीं कहेगा कि मधुमक्खियाँ, पक्षी तथा पशु मनुष्य की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान हैं। इसका कारण यह है कि पशुओं का काम करने का ढंग अर्द्धयांत्रिक तथा घिसा-पिटा होता है, जबकि मनुष्य मामूली काम को भी काफी समझ-बूझ कर तथा विवेक से करता है।

(iii) *व्यवस्था की विधि (ढंग)* (*Mode of organization*)—*पशुओं की* व्यवस्था के ढंग निश्चित और कठोर होते हैं, जबकि मानव के लचीले और अनुकूलनीय (adaptable) होते हैं। मनुष्य मधुमक्खियों और चीटियों के समान इकट्ठा रहने के लिए प्रवृत्त नहीं है। वह व्यवस्था के जटीले ढंगों का विकास करने में समर्थ है और आवश्यकताओं में परिवर्तन के साथ उन्हें बदल सकता है।

(iv) प्रतीकात्मक संचार की अनुपस्थिति (Absence of symbolic communication)—पशु-समाज उन जीवों का समाज है जिनमें बुद्धि, तर्क, संस्कृति नहीं होती और जो हजारों वर्ष व्यतीत होने के बाद भी उसी स्तर पर रहते हैं। यह वृत्ति पर आधारित समाज है। प्रतीकात्मक संचार में असमर्थ होने के कारण पशु अपनी संस्कृति को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होते। पशुओं की प्रत्येक पीढ़ी को वही ज्ञान और प्रवृत्तियाँ अपने कार्यों से सीखनी पड़ती हैं। जब तक वे किसी वस्तु को वास्तविक रूप में देख नहीं लेते, उन्हें उसके बारे में कुछ नहीं सिखलाया जा सकता। वे जब तक साँप को देख न लें, उन्हें समझाया नहीं जा सकता कि साँप भयानक होता है। उन्हें देवताओं, आत्माओं और भूत-प्रेतों की सत्यता, देशभक्ति एवं कर्त्तव्य के बारे में समझाया नहीं जा सकता। कुछ शोधकर्ताओं ने पशुओं को बोलना सिखलाने का असफल प्रयत्न किया है। पशु अपने दाँतों को ब्रुश करना, थूकना, चम्मच से खाना, बिस्तर पर सोना तथा अन्य मानवीय क्रियाएँ सीख सकता है, परन्तु वह बोलना नहीं सीख सकता। पशुओं के पास 'भाषा' नहीं होती। संस्कृति की अनुपस्थिति उन्हें मानव-समाज, जो 'जीव-सामाजिक-सांस्कृतिक' (bio-socio-cultural) समूह होता है, से पृथक् कर देती है। 'जीव-सामाजिक' (bio-social) व्यवस्था के रूप में तो मानव-समाज पशु-समाज की सामान्य विशेषताओं को प्रकट करता है, परन्तु जहाँ पशु-समाज में सामान्य विशेषताओं की अभिव्यक्ति तथा उनमें परिवर्तन प्रमुख रूप से शरीर-क्रियात्मक आधार पर होते हैं, मानव-समाज में सांस्कृतिक आधार पर होते हैं। मानव-समाज के आधार गुणात्मक रूप में पशु-समाज से भिन्न होते हैं।

डार्विन तथा उसके अनुयायियों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य तथा उच्च पशुओं की मानसिक शक्तियों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं होता।

ई मामलों में परीक्षण करने के बाद डार्विन (Darwin) ने यह निष्कर्ष निकाला क "मनुष्य तथा उच्च पशुओं की बुद्धि मे महान् अन्तर अवश्य है, परन्तु यह अन्तर त्वल मात्रा का है, प्रकार का नही।"[1] परन्तु मात्रा का अन्तर कालान्तर में प्रकार ा अन्तर बन जाता है। अबोध बच्चे तथा पशु के अचेतन बच्चे में वैसे तो कोई न्तर नहीं होता, परन्तु जहाँ पशु का बच्चा अधिक से अधिक कुछ समझदार बन कता है, वहाँ मनुष्य का बच्चा नेपोलियन या न्यूटन बन सकता है। डार्विन तथा उसके अनुयायियो के विचारों का खंडन करते हुए आर० ए० विल्सन (R. A. Wilson) ने लिखा है कि ये लेखक अपने अध्ययन में अधिक महत्वपूर्ण बात को, र्थात् "मनुष्य की केन्द्रीय या सम्पूर्ण एकीकरणिक मानसिक शक्ति" (the total or central unifying mental faculty of man) को भूल जाते हैं जो "पशु की केन्द्रीय एकीकरणिक मानसिक शक्ति से" निश्चय ही उच्च है।[2] पशु 'सच्ची भाषा जैसी कोई वस्तु' कभी भी विकसित नही कर पाये हैं।[3] पशुओ की भाषा सदैव ही अल्पविकसित रही है। केवल मनुष्य ही भाषा का आश्चर्यजनक विकास कर पाया है। यदि पशु यह काम कर लेते तो वे भी मनुष्य बन गये होते। अतः तथ्य यह है कि कोई भी पशु संधिक भाषा बोलने वाले मनुष्य के स्तर तक विकास नहीं कर पाया है।[4] अनेक शोधकर्ताओ ने पशुओं को बोलना सिखाने के प्रयत्न किये, परन्तु व्यर्थ ही। एक उदाहरण में कुछ पशुओं ने दाँतों पर ब्रुश करना, थूकना, चम्मच के साथ खाना, बिस्तर पर सोना तथा अन्य कई मानवीय क्रियाएँ सीख लीं, परन्तु वे बोलना न सीख सके। दूसरे उदाहरण में, एक वनमानुष की जबान करनी (spatula) से बार-बार पीछे मोड़ी गयी ताकि वह कठोर ध्वनि 'द' या 'क' बोल सके, परन्तु यह उस पशु की समझ में नहीं आया कि इस सबका क्या मतलब है। इन अन्वेषको ने यह निष्कर्ष निकाला कि भाषा के वास्तविक अर्थ मे पशुओं में भाषा का पूर्णतया अभाव है। यहाँ तक कि बानर (ape) जिसके मुख का भाग मनुष्य के मुख के समान है, बोलने का कभी प्रयत्न नहीं करता। समाजशास्त्र में हमारा सम्बन्ध मनुष्यों के समाज से है।

४. भाषा तथा समाज
(Language and Society)

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। उसके स्वभाव का यह मूल लक्षण है कि छोटे या बड़े प्रयोजनों की प्राप्ति-हेतु वह अपने साथियों के साथ संगठित हो जाता है। अपने साथियों की बात समझने के लिये और उन्हे अपनी बात समझाने के लिये मनुष्यों ने भाषा बनाने का प्रयत्न किया जिसके बिना वे पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान नही कर सकते थे। संचार (communication) की इच्छा भाषा के निर्माण का मुख्य कारण थी। "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" यह कहावत भाषा के इतिहास पर पूरी तरह लागू होती

1. Darwin, Charles, The Origin of Species and the Descent of Man, p. 446.
2. Wilson, R. A., The Miraculous Birth of Language, p. 83.
3. Young, Kimbal, Social Psychology, p. 35.
4. Sayce, A. H., Science of Language, pp. 308-309

है। दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भाषा का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। चार्ल्स विनिक (Charles Winick) ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है, "भाषा स्वेच्छ वाक्‌चिह्नों की वह व्यवस्था है जिसका प्रयोग सामाजिक समूह के सदस्य या वाणी-समुदाय विचारों और भावनाओं को प्रकट करने के लिये करते हैं जिससे वे अन्तःक्रिया एवं सहयोग के योग्य हो जाते हैं।" यह मौखिक अभिव्यक्ति का माध्यम है।

भाषा का जन्म (The Origin of Language)

भाषा एक संस्था है (Language is an institution)—भाषा किसी एक कारक की नहीं, बल्कि अनेक कारकों की उपज है। वस्तुतः यह एक सामाजिक सृजन है, मानवीय आविष्कार है—सम्पूर्ण समुदाय का एक सहज आविष्कार है। जैसा कि प्रो० ह्विटनी (Prof. Whitney) ने कहा है कि "यह लिखित कानूनों के संग्रह-जैसी ही एक संस्था है और विकासोन्मुख समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसका जन्म हुआ है।"[1] हमारे भाषाशास्त्री यह बताने की अवस्था में नहीं हैं कि मानव के इतिहास में कब भाषा के लक्षण प्रकट हुए और इसके विकास के विभिन्न स्तरों पर कितना समय लगा। परन्तु इस बात से सभी सहमत हैं कि भाषा के विकास का काम बहुत धीरे-धीरे हुआ। ह्विटनी का कथन है कि "भाषा का निर्माण सामाजिक जीवन तथा संस्कृति के विकास की केवल एक आकस्मिक घटना मात्र है। ··· यह समझना उतना ही गलत है कि किसी एक समय पर मनुष्य अपने भविष्य के प्रयोग तथा आगे आने वाली पीढ़ी के प्रयोग के लिए भाषा का निर्माण कर रहे थे, जितना कि यह सोचना कि किसी समय पर मनुष्य ऐसी धारणायें तथा निष्कर्ष संगृहीत कर रहे हैं, जो भविष्य में आगे आने वाली पीढ़ी में अभिव्यक्ति पायेंगे। हर काल में वही हुआ, जिसकी जरूरत महसूस हुई, उससे अधिक कुछ नहीं···भाषा का सृजन एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यह उस भाषा को बोलने वाले समुदाय की परिस्थितियों तथा आदतों के अनुसार गति तथा किस्म में भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु यह प्रक्रिया कभी भी समाप्त नहीं होती। यह बात वर्तमान की अपेक्षा कभी भी पूर्णतः सत्य नहीं दिखाई पड़ी।"[2]

इस प्रकार भाषा किसी एक व्यक्ति या काल की उपज नहीं है, बल्कि यह एक संस्था है, जिसके सृजन में सैकड़ों पीढियों तथा असंख्य व्यक्तियों ने अपना योगदान किया है।

अभिव्यक्ति के तीन माध्यम (Three Instrumentalities of Expression)

विचार-अभिव्यक्ति के परम्परागत माध्यम संकेत, हाव-भाव तथा बोली (gestures, grimace and tone) हैं। संकेत का अर्थ है शरीर के विभिन्न अंगों, विशेषतया सक्रिय अंगों, जैसे भुजा तथा हाथों की स्थिति में परिवर्तन करना। हाव-भाव का अर्थ है आकृति या चेहरे के भाव में परिवर्तन लाना और बोली का अर्थ है सुनाई पड़ने वाली आवाज पैदा करना[3]—इन्हें अभिव्यक्ति का नैसर्गिक साधन माना

1. Whitney, William Dwight, The Life and Growth of Language, pp. 278-281.
2. Ibid., p. 307-308.
3. Encyclopaedia Britannica, Vol. XXI, p. 416.

जाता है। अभिव्यक्ति की प्रथम अवस्था में इन तीनों साधनों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता था और ऐसा कोई भी समय नहीं आया जब ये तीनों साधन व्यवहार में न लाये जाते रहे हों। आज भी इनका प्रयोग होता है। यह जानना बड़ा मनोरंजक होगा कि किन विचारों को प्रकट करने के लिए कौन-से संकेत या हाव-भाव का प्रयोग किया जाता था। इन सकेतों की व्याख्या करना यहाँ संगत नहीं है।[1] जेम्स ने दक्षिणी अमेरिका के भारतीयों द्वारा शब्दो के स्थान पर काम में लाये जाने वाले १०४ सकेतों की सूची दी है। उदाहरण के लिए, अंधेरे का संकेत हाथों को फैला कर उन्हें झुलाने से, आदमी का सकेत उँगली को सीधे उपर पकड़ने से, दौड़ने का संकेत पहले बाजुओं को दोहरा कर फिर कुहनियों को आगे और पीछे हिलाने से किया जाता था। अभिव्यक्ति के इन माध्यमों में से आवाज या बोली संचार का मुख्य साधन बनी।

शारीरिक और बौद्धिक दृष्टि से वर्तमान अवस्था में आने के बाद कितने समय तक मनुष्य संकेतों से अपने विचार प्रकट करने का काम लेता रहा, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर अनुमान से भी नहीं दिया जा सकता। यह बता पाना असम्भव है कि ये सक्षिप्त तथा आकारहीन संकेत किस प्रकार वर्तमान वाणी की विविधता तथा सम्पूर्णता प्राप्त कर सके। इसका कारण यह है कि इस परिवर्तन की सारी प्रक्रिया भूतकाल के अन्धकार में निहित है। शायद बोलना सीखने मे मनुष्य को उतनी ही कठिनाई उठानी पड़ी होगी, जितनी कि आजकल एक बच्चे को अपनी मातृभाषा सीखने में उठानी पड़ती है। अन्तर केवल इतना ही है कि आदिम मनुष्य वयस्क था, जिसने अपने लिए स्वयं भाषा का परिश्रमपूर्वक विकास किया, जबकि आज बच्चे को पहले से बनी-बनाई भाषा को केवल सीखना पड़ता है।

भाषा का महत्व (Importance of language)—भाषा संस्कृति का एक संविधायी अंग है। इसने मनुष्यों को जंगली अवस्था से संस्कृति के उच्च स्तर पर पहुँचाया। यदि भाषा न होती, तो मनुष्य जंगली ही रहता। मनुष्य तथा पशु में एक मुख्य अन्तर यह है कि मनुष्य भाषा जानता है। यद्यपि पशुओं में भी अपनी बात प्रकट करने की एक शक्ति है, परन्तु इनकी शक्ति मनुष्य की शक्ति से निम्न कोटि की ही नहीं है, बल्कि मनुष्य की शक्ति से बहुत भिन्न भी है। भाषा मनुष्य की बौद्धिक प्रतिभा का एक प्रकट तथा मूल लक्षण है। मनुष्य तथा समाज के लिए भाषा का अत्यधिक महत्व है। वैयक्तिक दृष्टि से भाषा मनुष्यों में केवल संचार का साधन या ढंग ही नहीं है, बल्कि यह उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की एक विधि भी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से भाषा मनुष्यों को शैशवावस्था से ही प्रभावित करती है। बच्चा भाषा द्वारा ही संसार की अधिक वस्तुओं को जान पाता है। यह उसके व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण विशेषण या गुण है। समाज के लिए इसका महत्व निम्न-प्रकार से है—

(१) **सामाजिक सम्पर्क में सुविधा** (Easy social contact)—इसके द्वारा सामाजिक सम्पर्क आसान हो जाता है। हम जानते हैं कि समाज सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है, जिसके कारण व्यक्तियों में सामाजिक सम्पर्क का विकास होता

1. Readers interested to know these signs may refer to Whitney book above and that of A. H. Sayce entitled Science of Language.

है। भाषा के द्वारा सम्पर्क आसानी से स्थापित किये जा सकते हैं, क्योंकि इसकी सहायता से मनुष्य आसानी से विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। ई० एच० स्टर्टवेन्ट (E. H. Sturtevant) के अनुसार, "भाषा स्वेच्छ वाक्चिह्नों की व्यवस्था है, जिसके द्वारा सामाजिक समूह के सदस्य सहयोग एवं अंतःक्रिया करते हैं।"[1]

(२) **संस्कृति का वाहक** (Culture-carrier)—भाषा संस्कृति के प्रसार में बाधक या सहायक सिद्ध होती है। विचारों को भाषा की आवश्यकता होती है। कभी-कभी किसी विचार या अवधारणा का अनुवाद करना कठिन होता है, क्योंकि इसकी अभिव्यक्ति के लिये उचित शब्द नहीं होते। हम इस कठिनाई को अपने देश में अनुभव कर रहे हैं, क्योंकि हिन्दी, जो हमारी राष्ट्रभाषा है, में विज्ञानों में प्रयुक्त अनेक अंग्रेजी शब्दों के समानार्थक शब्द नहीं हैं। हिन्दी भाषाविदों ने अंग्रेजी के कुछ शब्दों के लिये कुछ हिन्दी शब्द गढ़े हैं, परन्तु अंग्रेजी भाषा के शब्दों की अपेक्षा इन हिन्दी शब्दों को समझना अधिक कठिन है। भाषा हमारी संस्कृति एवं सभ्यता को सुरक्षित रखकर इन्हें भावी पीढ़ियों तक पहुँचाती है। भाषा को संस्कृति का वाहक कहा जा सकता है। किसी स्थान-विशेष अथवा काल की संस्कृति भूतकाल की देन होती है, जो उस स्थान अथवा काल के दृष्टिकोणों, विचारों, ज्ञान, दोषों एवं पूर्वाग्रहों का संचय होती है। चूँकि पशु केवल कुछ आवाज पैदा कर सकते हैं, बोल नहीं सकते; अतः उनकी कोई सभ्यता एवं संस्कृति नहीं होती। केवल मनुष्य ने भाषा के माध्यम से उच्चकोटि की सभ्यता एवं संस्कृति का विकास किया है। भाषा की सहायता से ही मनुष्य जंगली अवस्था से उठकर सभ्य अवस्था तक पहुँचा है।

(३) **विचारों का सहज प्रेषक** (Easy conveyance of ideas)—तीसरे, विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के बारे में विचारों के सम्प्रेषण-हेतु भाषा एक शक्तिशाली माध्यम प्रदान करती है। जब भाषा का विकास नहीं हुआ था, उस समय विचारों को संकेतों या आवाज द्वारा प्रकट किया जाता था। इन संकेतों तथा आवाजों का अर्थ समझ पाना कठिन होता था। कुछ संकेत तो बहुत जटिल होते थे, जैसे 'मनुष्य' कहने के लिये मुट्ठी बन्द करके तर्जनी से पेट की नाभि से नीचे की ओर तक अधिकाधिक लम्बी रेखा खींच कर संकेत किया जाता था। परन्तु भाषा का आविष्कार हो जाने के बाद अब अनेक विचारों तथा भावनाओं को बड़ी आसानी तथा सरल ढंग से व्यक्त किया जा सकता है। जो भाषा 'बाढ़ आई और मकानों को बर्बाद कर गयी' के विचार को शब्दों द्वारा प्रकट कर सकती है, वह उस भाषा से कहीं उच्च तथा सरल है जो इस विचार को भिन्न-भिन्न प्रकार की चीखों-चिल्लाहटों से प्रकट करती थी।

अतएव समाज में भाषा का महत्व स्पष्ट है। इसने मनुष्य को भद्दे पशु की अवस्था से उठाकर सही अर्थ में मनुष्य बनाया है। भाषा ने हमारे विचार-प्रेषण को सरल बनाया है, सामाजिक सम्पर्कों को आसान बनाया है, हमारी संस्कृति को संरक्षित रखा है तथा इसे भावी पीढ़ियों तक पहुँचाया है। वस्तुतः भाषा मनुष्य की बहुमूल्य निधि है जिसने उसे जंगली पशु की अवस्था से उठाकर 'सृष्टि का स्वामी' बना दिया है।

1. Sturtevant, E. H., *Introduction to Linguistic Science*, p. 20.

सार्वभौम भाषा की आवश्यकता (Need for a Universal Language)

संसार के विभिन्न भागों के लोग विभिन्न भाषायें बोलते हैं। इतना ही नहीं, एक ही प्रदेश में रहने वाले मनुष्य विभिन्न भाषाओं या बोलियों का प्रयोग करते हैं। संसार के लोगों की भाषाओं के इन भेदों ने अन्तःसमूह-संचार को सीमित कर दिया है जिससे सामाजिक विलगाव को बढ़ावा मिला है। क्योंकि भाषा संचार का एक महान् माध्यम है, अतएव यह कल्पना की गयी है कि यदि संसार के सभी लोगों की समान भाषा हो तो यह सांस्कृतिक रोधकों को दूर करने मे बड़ी सहायक सिद्ध हो सकती है तथा संसार के लोगों को एक-दूसरे के निकट लाकर अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं सहयोग में वृद्धि कर सकती है। निःसंदेह, एक सार्वभौम भाषा संसार के लोगों की सांस्कृतिक एकता में सहायक हो सकती है तथा उन गलतफहमियों को दूर कर सकती है जो प्रभावी रूप से संचार न कर पाने की असमर्थता से उत्पन्न होती हैं, परन्तु व्यावहारिक कठिनाई ऐसी सार्वभौम भाषा की खोज की है। विभिन्न भाषाओं के पोषक यह दावा करते हैं कि उनकी भाषा दूसरी भाषा से श्रेष्ठ है तथा यही संचार का सर्वाधिक कुशल माध्यम है, अर्थात् यह अधिक स्पष्ट, अधिक तार्किक, अधिक नमनीय एवं समझने में अधिक आसान है। वर्तमान भाषाओं को सुधारने तथा उन्हें उन्नत करने के भी प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु अभी तक सार्वभौम भाषा के बारे मे सहमति नहीं हो पाई है, जिसके फलस्वरूप भाषायी विभेद वर्तमान हैं और शायद बढते रहेंगे। वास्तव में, किन्हीं भी लोगो के लिये अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा को सुगमता से सीखना कठिन होता है।

प्रश्न

१. "समाज सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है" व्याख्या कीजिए।
२. मानव-समाज की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
३. "मनुष्य सामाजिक प्राणी है।" मनुष्य एवं समाज के बीच सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।
४. मानव-समाज तथा पशु-समाज में क्या अन्तर है ? मानव-समाज में भाषा के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
५. संस्कृति के लिए भाषा के महत्व की व्याख्या कीजिए।

अध्याय ६

समाजीकरण

[SOCIALIZATION]

मानव-समाज, जैसा कि पिछले अध्यायों से स्पष्ट है, एक बाह्य घटना-वस्तु नहीं है, अपितु इसकी अवस्थिति इसके सदस्यों के मन में ही देखी जा सकती है। मानव-शिशु संसार में पशु की आवश्यकताओं से युक्त एक जैविक अवयव के रूप में आता है। वह धीरे-धीरे एक सामाजिक प्राणी के रूप में ढल जाता है तथा कार्य करने और सोचने के सामाजिक ढंगों को सीख लेता है। ढालने की इस प्रक्रिया के बिना न तो समाज जीवित रह सकता है और न संस्कृति; और, न ही व्यक्ति पुरुष (person) बन सकता है। *ढालने की इस प्रक्रिया को समाजीकरण कहा जाता है।*

१. समाजीकरण का अर्थ

(Meaning of Socialization)

मैकाइवर के अनुसार, समाजीकरण "एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक प्राणी एक-दूसरे के साथ अपने व्यापक तथा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जिसमें वे एक-दूसरे से अधिकाधिक बँध जाते हैं और एक-दूसरे के प्रति अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की भावना का विकास करते हैं, जिसमें वे अपने एवं दूसरों के व्यक्तित्व को अधिक अच्छी तरह समझने लगते हैं तथा जिसमें वे निकटतर एवं अधिक विस्तृत साहचर्य की जटिल संरचना का निर्माण करते हैं।"[1]

किम्बल यंग (Kimball Young) की दृष्टि मे, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है *जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज* के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों तथा मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।"[2] समाजीकरण निश्चित रूप से सीखने की प्रक्रिया है, जैविक वंशानुक्रम की नहीं। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा

---

1. "Socialization is the process by which social beings establish wider and profounder relationships wi[illegible]
bound up with, and more depen[illegible]
sense of their obligation to and [illegible]
more perceptive of the personali[illegible]
the complex structure of nearer [illegible]
of Social Science, p. 144.

2. "Socialization will mean the process of inducting the individual [illegible] participant member in [illegible] the norms and values

ही एक नवजात शिशु सामाजिक प्राणी बनता है तथा वह समाज के पूर्ण सदस्य के रूप में विकसित होता है। मनुष्य जो कुछ है, वह समाजीकरण के द्वारा बनता है। बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "समाजीकरण इकट्ठा मिलकर कार्य करने, समूह-दायित्व की भावना विकसित होने, तथा अन्य व्यक्तियों की कल्याणकारी आवश्यकताओं से मार्गदर्शन लेने की प्रक्रिया है।"[1] आगबर्न (Ogburn) के अनुसार, "समाजीकरण एक प्रक्रिया है जिससे कि व्यक्ति समूह के आदर्श नियमों के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।"[2] रॉस (Ross) के अनुसार, "समाजीकरण साथियों में 'हम-भावना' तथा उनमें इकट्ठे काम करने की इच्छा एवं समर्थता का विकास है।" समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य एक सामाजिक व्यक्ति बनता है तथा व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, "समाजीकरण, "अन्तःक्रिया की जटिल प्रक्रियाओं का नाम है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक समूहों एवं समुदायों में प्रभावी भाग लेने हेतु आदतों, चतुराइयों, विश्वासों एवं निर्णय के मानकों को सीखता है।"[3] जानसन (Johnson) के अनुसार, "समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है जो सीखने वाले को सामाजिक कार्य करने के योग्य बनाता है।"[4] ग्रीन (Green) के अनुसार, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"[5] हार्टन एवं हंट (Hotton and Hunt) के अनुसार, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने समूह के मानकों को आत्मसात् कर लेता है जिससे उसके 'आत्म' का विकास होता है जो उस व्यक्ति की अपनी विशेषता है।"[6] एच० टी० मजूमदार (H. T. Mazumdar) के अनुसार, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मूल प्रकृति मानव-प्रकृति मे बदल जाती है तथा पुरुष व्यक्ति बन जाता है।"[7] प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को उस पर्यावरण एवं परिस्थिति में समंजित

---

1. "Socialization is the process of working together, of developing group responsibility, of being guided by the welfare needs of others."—Bogardus, *Sociology*, p. 233.

2. "Socialization is the process by which the individual learns to conform to the norms of the group"—Ogburn, *A Hand Book of Sociology*, p. 212

3. "Socialization consists of the complex processes of [illegible] ugh which the individual learns th[illegible] judgment that are necessary for his [illegible] communities."—Lundberg, *Sociology*, [illegible]

4. Socialization is a learning that enables the learner to perform social roles."—Johnson, H. M, *Sociology*, p. 110

5. "Socialization is the process by which the child acquires a cultural content, along with self bond and personality."—Green, Arnold, Sociology, p. 127.

6. "Socialization is the process whe.eby one internalizes the norms of his groups, so that a distinct 'self' emerges, unique to this individual."—Morton and Hunt, *Sociology*, p. 98.

7. "Socialization is the process whereby original nature is transformed into human nature and the individual into person."—Mazumdar, H. T., *op cit.*, p. 386.

करने का प्रयत्न करता है जो उस समाज द्वारा, जिसका वह सदस्य है, निर्धारित की गई होती है। यदि वह इस प्रयत्न में असफल रहता है तो वह सामाजिक विचलन (deviant) बन जाता है तथा जिस समूह का वह सदस्य है, उसके द्वारा उसे पुनः सीधे रास्ते पर लाया जाता है। समंजन की इसी प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं। यह व्यक्तिकरण के विपरीत है। यह 'आत्म' (self) के विस्तार की प्रक्रिया है। यह उसमें सामुदायिक भावना का विकास करता है।

समाजीकरण सामाजिकता एवं समाजवाद से भिन्न है। सामाजिकता एक गुण है, समाजीकरण एक प्रक्रिया है। सामाजिकता का अर्थ है, दूसरों से मिलने-जुलने तथा उनके साथ सुगमता एवं सरलता से सम्बन्ध बनाने की क्षमता। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, चाहे उसमें बहुत अधिक सामाजिकता न हो। समाजीकरण की प्रक्रिया से मनुष्य सामाजिकता का गुण ग्रहण करता है।

समाजवाद—समाजवाद एक सिद्धान्त है, गुण अथवा प्रक्रिया नहीं। यह समाज के भावी पुनर्निर्माण का सिद्धान्त है। इस शब्द की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति एवं दल स्वयं को समाजवादी कहता है। जोड (Joad) ने इसकी तुलना एक ऐसे टोप से की है जो अपनी शक्ति खो बैठा है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसे पहनता है। सही अर्थ में समाजवाद एक सिद्धान्त है जिसका अभिप्राय है कि उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के साधन या तो राज्य के हाथों अथवा नियंत्रण में होने चाहिये अथवा ऐसे संघों के हाथों में होने चाहिये जो प्रत्यक्ष रूप से समुदाय के प्रति उत्तरदायी हों। ऐसी व्यवस्था से सम्पत्ति का अपेक्षाकृत समान वितरण होगा, तथा लोग गरीबी, रोग एवं अज्ञान से मुक्त हो सकेंगे। समाजवाद का सम्बन्ध इस बात से है कि 'क्या होना चाहिये।'

समाजीकरण का 'परिपक्वता' (maturation) से भी अन्तर दिखलाया जा सकता है। परिपक्वता मूल रूप से विकास की भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं, जिन पर मनुष्य का अपेक्षाकृत कम नियंत्रण होता है, से संबंधित है। यह जीव (organism) के विकसित होने एवं धीरे-धीरे परिवर्तित होने की प्रक्रिया है। समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य आदतों एवं प्रतिमानित व्यवहार को सीखता है। यह उन तमाम सामाजिक प्रक्रियाओं एवं दबावों को निर्दिष्ट करता है जिनके द्वारा समूह या समुदाय के आदर्श नियमों एवं मानकों को व्यक्ति-सदस्यों के व्यवहारों एवं विश्वासों में बैठा दिया जाता है।

२. समाजीकरण की प्रक्रिया

(Process of Socialization)

सामाजिक व्यवस्था मुख्यतया समाजीकरण पर आधारित है। यदि व्यक्ति अपने समूह के आदर्श नियमों के अनुसार आचरण नहीं करेंगे तो समूह छिन्न-भिन्न हो जायगा। परन्तु समाजीकरण की प्रक्रिया कैसे आरम्भ होती है? यह कहा जाता है कि यह प्रक्रिया शिशु के जन्म से पूर्व ही आरम्भ हो जाती है। उसके जन्म से पूर्व सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत सीमा तक यह निर्धारित कर देती हैं कि वह किस प्रकार का जीवन व्यतीत करेगा। माता-पिता की प्रेम-लीला और जीवन-साथी का

चुनाव, गर्भाधान एवं जन्म से संबंधित रीति-रिवाज, तथा परिवार में प्रचलित सांस्कृतिक क्रियाओं की सम्पूर्ण प्रणाली बच्चे के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। माता-पिता द्वारा देखभाल की विधियाँ उसके जन्म लेने एवं स्वस्थ रहने की संभावनाओं को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार, जन्म से पूर्व की परिस्थितियों का अप्रत्यक्ष रूप से समाज में उसके विकास पर प्रभाव पड़ता है।

परन्तु प्रत्यक्ष समाजीकरण जन्म के पश्चात् ही आरम्भ होता है। नवजात शिशु में जीव के रूप में कुछ वस्तुएँ होती हैं जो समाजीकरण को परिसीमित करती हैं अथवा उसमें सहायक होती हैं। इन वस्तुओं को जो उसमें होती हैं, प्रतिवर्त (reflexes), मूल-प्रवृत्तियाँ (instincts), अन्त:प्रेरणाएँ (urges) तथा क्षमताएँ (capacities) कहा जा सकता है।

प्रतिवर्त समाजीकरण पर कठोरतम सीमायें लगा देती हैं। प्रतिवर्त दत्त उद्दीप्तियों के प्रति जीव की स्वचालित और अनमनीय प्रतिक्रियायें होती हैं। वे सीखी हुई नही होतीं और-उनको बदला भी नहीं जा सकता। जीव क्या कर सकता है, ये उसकी सीमा निर्धारित कर देती है। परन्तु वे ऐसे आधार नही है जिनसे समाजीकरण का जन्म होता हो। तेज रोशनी में आँख की पुतली का सिकुड़ जाना, शक्कर या चीनी के चखने से मुख की ग्रंथियों का रालस्रवण (salivation) प्रतिवर्त के उदाहरण हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने मानव-व्यवहार की व्याख्या मूल-प्रवृत्तियो के संदर्भ मे की है। व्यवहार मूल-प्रवृत्यात्मक कहा जाता है, यदि वह किसी अंत:प्रेरणा या रुचि के कारण आरम्भ हो, उसमें बाह्य संसार का कुछ बोध निहित हो, यांत्रिक एवं विचित्र रूप से स्थिर हो, वंशानुगत संरचना पर आधारित अतएव जाति (species) की विशिष्टता हो, तथा इसके साथ ही अत्यधिक अनुकूली (adaptive) एवं क्रियात्मक (functional) हो। परन्तु मूल-प्रवृत्तियों के आधार पर मानव-व्यवहार की व्याख्या करना भ्रामक है, क्योंकि मानव प्राणी जन्म के समय कोई पूर्ण सहज प्रवृत्ति नहीं रखता, परन्तु कुछेक तत्व, यथा सहजक्रियायें एवं अन्त:प्रेरणाएँ रखता है।

अन्त:प्रेरणा के आधार पर मानव-व्यवहार की अधिक ठोस व्याख्या की जा सकती है। यदि मानव की आवश्यकताएँ पूर्ण नही होती तो उसके अन्दर एक खिचाव उत्पन्न हो जाता है तब तक वह किसी अभिप्रेरणा (stimulus) द्वारा दूर नहीं हो जाता, इस प्रकार अन्त:प्रेरणा व्यवहार के पीछे एक गतिशील शक्ति है, यह समाजीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भिक बिन्दु को प्रदान करती है।

प्रत्येक व्यक्ति कुछ क्षमताएँ लेकर जन्म लेता है। एक व्यक्ति जो कुछ कर सकता है, उसकी कुछ सीमाएँ होती हैं; परन्तु इस सीमा को लाँघा जा सकता है और सभ्यता के विकास द्वारा ऐसा किया जा रहा है। मनुष्य के सीखने की क्षमता मे प्रशिक्षण एवं अभिप्रेरणाओं की नयी विधियों द्वारा वृद्धि की जा सकती है। आजकल मानव इतना नहीं सीख पाता जितना वह अनुकूल परिस्थितियों में सीख सकता था, क्योंकि उसकी सीखने की क्षमता का अधिकतम सीमा तक प्रयोग नही किया जाता। सभी समाज मानव की शिक्षण-समर्थता को नष्ट करने के दोषी हैं।

आत्म का विकास (The development of self)—'आत्म' का विकास समाजीकरण का केन्द्रबिन्दु है। जब बच्चे का जन्म होता है तो उसे स्वयं या दूसरों की कोई चेतना नहीं होती। उसमें व्यवहार की वे यंत्र-रचनाएँ होती हैं जो व्यक्ति को किसी समूह का अंग एवं सदस्य बनाती हैं। उसे कोई अवधारणा नहीं होती कि सामाजिक विश्व कहाँ से आरम्भ और समाप्त होता है। संक्षेप में, जन्म के समय उसे अपने तथा दूसरों के बीच सम्बन्धों की कोई चेतना नहीं होती। इन सम्बन्धों को बच्चा समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। यह उसके वैयक्तिक विकास एवं वृद्धि के लिये उसकी कार्यक्षमताओं की पूर्ति है। यह प्राणिशास्त्रीय जीव को मानवीय बनाता है तथा उसमें 'आत्म' का विकास करता है जिससे उसमें पहचान करने की समझ तथा कुछ आदर्शों, मूल्यों एवं इच्छाओं का विकास हो जाता है। समाजीकरण वैयक्तिकता एवं चेतनता के विकास की अनिवार्य शर्त है।

'आत्म' के विकास की व्याख्या से सम्बन्धित तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं जो कूले (Cooley), मीड (Mead) एवं फ्रायड (Freud) ने प्रतिपादित किये हैं। इन सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(i) कूले का सिद्धान्त (Cooley's theory)—'आत्म-विकास' सम्बन्धी कूले के सिद्धान्त को 'दर्पण सिद्धान्त' (looking-glass concept) कहा गया है। उसके अनुसार, मनुष्य 'स्व' के बारे में धारणा दूसरे व्यक्तियों की सहायता से बनाता है। मनुष्य उस समय तक अपने बारे में कोई धारणा नहीं बनाता जब तक वह दूसरों के सम्पर्क में नहीं आता तथा अपने बारे में उनकी धारणा को नहीं जान लेता। वह अपने 'स्व' की धारणा अपने बारे में अन्य लोगों की धारणा के आधार पर बनाता है। इस प्रकार जब हमारे मित्र हमको बुद्धिमान या सामान्य, लम्बा या छोटा, मोटा या पतला कहते हैं तो हम उनकी ऐसी धारणा के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं तथा अपने बारे में वही धारणा बना लेते हैं जो उन्होंने हमारे में बनाई है। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार दर्पण शारीरिक 'स्व' का बिम्ब है, उसी प्रकार दूसरों की धारणा हमारे सामाजिक 'स्व' का बिम्ब है। स्वयं के बारे में ज्ञान दूसरे व्यक्तियों की प्रतिक्रिया से प्राप्त होता है। दूसरे व्यक्ति हमारा सामाजिक दर्पण हैं जिसके माध्यम से हम अपने बारे में धारणा बनाते हैं।

दर्पण सिद्धान्त के तीन मुख्य तत्व हैं—(१) दूसरे लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं ? (२) दूसरे लोगों ने जो धारणा मेरे बारे में बनायी है, उसके सन्दर्भ में मैं अपने बारे में क्या सोचता हूँ ? (३) मैं अपने बारे मे सोचकर अपने को कैसा मानता हूँ। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना लीजिये कि जब कभी भी तुम कमरे में प्रवेश करते हो तो वहाँ बैठे हुए व्यक्ति, जो आपस में बात कर रहे हैं, उठकर बहाना बनाकर चले जाते हैं। ऐसा अनेक बार हुआ है। क्या यह तुम्हारी भावनाओं को प्रभावित नहीं करेगा ? अथवा जब कभी भी तुम बाहर जाते हो, व्यक्तियों का समूह तुम्हारे चारों ओर बन जाता है, लोगों द्वारा ऐसा मान तुम्हारी 'स्व' भावनाओं को किस प्रकार प्रभावित करेगा ? इस प्रकार, हम स्वयं को अपने प्रति दूसरों की प्रतिक्रिया के माध्यम से जानते हैं। यह आत्मज्ञान पहले

फलस्वरूप बदल जाता है। यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि सभी दूसरे व्यक्तियों की हमारे बारे में प्रतिक्रिया समान नहीं होती अथवा हम उनकी प्रतिक्रियाओं का गलत मूल्यांकन कर सकते हैं। अहं को बढ़ाने वाली उनकी अभ्युक्ति केवल मात्र चमचागीरी हो सकती है। इस प्रकार दर्पण के माध्यम से आत्म के बारे में बनायी गई धारणा उस धारणा से बिल्कुल भिन्न हो सकती है जो दूसरों ने वास्तविक रूप से हमारे बारे में बनाई है। दूसरे व्यक्तियों के किसी के बारे में क्या वास्तविक विचार हैं तथा वे उसे कैसा चित्रित करते हैं, इस विषय पर व्यक्ति की धारणा में काफी भिन्नता हो सकती है। संक्षेप में, कूले का अभिमत है कि व्यक्ति समाज का प्रतिबिम्ब है। 'आत्म' का विकास सामाजिक अनुभव का विषय है और यह सामाजिक अन्तःक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

(२) मीड का सिद्धान्त (Mead's theory)—मीड ने समाजीकरण की प्रक्रिया का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है। उसके अनुसार, बच्चे का दूसरे व्यक्तियों से जब संवहनात्मक सम्पर्क (communicative contact) होता है तब 'आत्म' का विकास होता है। नवजात शिशु की भोजन और वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताएँ होती हैं। माता इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती है जिससे बच्चा उसके ऊपर निर्भर हो जाता है और वह भावनात्मक स्तर पर माता के साथ स्वयं का तादात्म्यीकरण कर लेता है। परन्तु कालान्तर में बच्चा स्वयं को माता से अलग समझने लगता है जिससे वह स्वयं को तथा माता को एक नयी सामाजिक व्यवस्था, दो व्यक्ति, दो भूमिका-व्यवस्था मे समाकलित करता है। इस व्यवस्था में माता की भूमिका श्रेष्ठ तथा बच्चे की अधीनस्थ होती है। तदुपरान्त बच्चा इसी प्रक्रिया को पिता के लिये दोहराता है। वह पिता को माता से भिन्न मानता है तथा उसका सामाजिक व्यवस्था मे समाकलन करता है। इस प्रकार, बच्चे के लिये अन्य 'महत्वपूर्णों' (significants) की संख्या बढती जाती है और वह इन 'अन्यों' की भूमिका को अंतरीकृत करता है। वह स्वय को 'अन्यों' की भूमिका में ढालता है और तब अपने ही शब्दों और कार्यों का इस प्रकार उत्तर देता है जैसा कि 'अन्य' देंगे। इस प्रकार आत्म का विकास होता है। 'आत्म' का एक अनिवार्य तत्व इसका परावर्तनीय (reflexive) रूप है। इससे मीड का अभिप्राय है कि 'आत्म' स्वयं में कर्ता भी हो सकता है, और कर्म भी। वह स्वय अपने बारे में विचार कर सकता है, अथवा जैसा कि अक्सर हम कहते हैं, वह स्वयं के प्रति चेतनाशील हो सकता है। आत्मचेतना या आत्मवाद की सबसे बड़ी समस्या यह है कि कोई व्यक्ति अपने से बाहर निकल कर अपने चिन्तन का विषय स्वयं किस प्रकार बन सकता है? वह ऐसा केवल दूसरो के माध्यम से कर सकता है, अर्थात् थोड़ी देर के लिये अपने को दूसरों के रूप में मानकर वह अपनी ओर देखे, मानो वह दूसरों की आँखों से अपने को देख रहा है। इस प्रकार वह कल्पना करना सीखता है कि वह दूसरों को कैसा दिखाई पड़ता है; दूसरे व्यक्ति उसकी आकृति के बारे में क्या सोचते हैं और इस प्रकार वह यह भी सीख जाता है कि दूसरो के निर्णय के प्रति अपनी कल्पना के अनुसार वह किस प्रकार प्रतिक्रिया करेगा। इस प्रकार अपने प्रति दूसरों के दृष्टिकोण को अपना कर, वह स्वयं को कर्ता एवं कर्म की स्थिति में रखता है।

परन्तु स्वयं के प्रति दूसरों के दृष्टिकोण को अपना लेना व्यक्ति के लिये काफी नहीं है। वह अपने प्रति उनके दृष्टिकोण की खोज करता है। ऐसा उसके लिये आवश्यक है, अन्यथा वह न तो अपने व्यवहार को नियंत्रित कर सकेगा और न इसके बारे में कोई पूर्वकथन। शिशु छोटी आयु में ही यह सीख जाता है कि अपने भाग्य को वश में करने की एक महत्वपूर्ण विधि यह है कि अपने प्रति दूसरों की भावनाओं को प्रभावित किया जाय। दूसरों के दृष्टिकोणों का ज्ञान प्रतीकात्मक संचार की यंत्र विधि द्वारा ही हो सकता है, अतः वह भाषा सीखता है। जब वह दूसरों के दृष्टिकोण को अपने दृष्टिकोण के रूप में अपना लेता है तो वह निर्णय कर सकता है कि दूसरों की प्रतिक्रिया वैसी होगी जैसी अपने द्वारा उच्चारित शब्दों के प्रति उसकी अपनी प्रतिक्रिया थी। इस प्रकार व्यक्ति स्वयं से ही प्रश्नोत्तर करता रहता है। बच्चे को 'स्वयं' के बारे में चेतना ही उसके 'आत्म' का निर्माण करती है। वह दूसरों की भूमिका निभाने लगता है। उदाहरणार्थ, बच्चा गुड़िया को बाथ-रूम में नहाने के लिये ले जाता है, क्योंकि गुड़िया का तादात्म्य उसने शायद अपनी माँ अथवा बहन से कर लिया है। मीड के अनुसार, "इस प्रकार की सभी क्रियाओं के दौरान 'बच्चा' अपने बारे में एक विशेष धारणा बना लेता है। यह धारणा उस बच्चे के प्रति दूसरे लोग अथवा परिवार के अन्य सदस्यों के विचारों से प्रभावित होती है। हमारे स्वयं के 'आत्म' तथा दूसरों के 'आत्म' के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती, क्योंकि हमारा 'आत्म' हमारे अनुभव में उसी प्रकार कार्य करता है जैसा दूसरों का आत्म भी हमारे अनुभव में कार्य करता है।" "आत्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पहले अस्तित्व में आती है और फिर दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करती है। यह सामाजिक अंतःक्रिया से विकसित होने वाली वस्तु है जो नयी परिस्थितियों एवं संघर्षों का जन्म होने पर स्वयं को निरन्तर समायोजित करती रहती है। यह सामाजिक व्यवस्था की पूर्वस्थिति की कल्पना करती है, तदपि यह ऐसा पोत है जिसमें एवं जिसके द्वारा व्यवस्था गतिमान रहती है।"[1]

(३) **फ्रायड का सिद्धान्त (Freud's theory)**—कूले तथा मीड के सिद्धान्तों में 'आत्म' एवं 'समाज' के बीच मूल्य-संगति की कल्पना की गयी है। कूले के अनुसार, व्यक्ति तथा समाज अलग-अलग घटना-वस्तुएँ नहीं हैं, परन्तु केवल एक ही वस्तु के सामूहिक एवं वितरणात्मक पहलू हैं। फ्रायड, मनोविश्लेषण का पिता, आत्म तथा समाज की इस अवधारणा से सहमत नहीं है। उसके अनुसार, आत्म एवं समाज समरूप नहीं हैं। उसने समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या 'इड' (Id), 'अहम्' (Ego), तथा 'पराहम्' (Super-ego), जो मन की तीन व्यवस्थाएँ हैं, की अवधारणाओं के माध्यम से की है। 'इड' व्यक्ति की मूल प्रेरणाओं से सम्बन्धित है। हमारी सभी इच्छाएँ 'इड' द्वारा प्रेरित होती हैं। 'अहम्' वास्तविकता है, अर्थात् समाज ने व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति के लिये क्या नियम आदि बना रखे हैं—इसका ज्ञान हमें 'अहम्' देता है। 'पराहम्' व्यक्ति की वह चेतना अथवा अन्तरात्मा है जो निश्चय करती है कि व्यक्ति को अमुक कार्य करना चाहिये अथवा नहीं। 'इड' तथा 'अहम्' में बहुधा संघर्ष रहता है। 'इड' को सामान्यतया दबाया जाता है, परन्तु

---

1. Mead, Geo rge, H., *Mind, Self and Society*, pp. 140-175.

कभी-कभी यह 'पराहम्' का खुला विरोध करके फूट पड़ता है। कभी-कभी इसकी अभिव्यक्ति छद्मवेष में होती है। उदाहरणतया, जब पिता अपने क्रोध को दूर करने के लिये बच्चे को पीटता है। ऐसी अवस्था में 'अहम्' को अपने कार्य के आधार का ज्ञान नहीं होता। फ्रायड ने 'इड' की तुलना घोड़े तथा 'अहम्' की तुलना घुड़सवार से की है। उसका कथन है कि 'अहम् का कार्य घुड़सवार जैसा है, अर्थात् घोड़े, जो 'इड' हैं, का मार्गदर्शन करना। परन्तु कभी-कभी घुड़सवार की भाँति 'अहम्' घोड़े अर्थात् 'इड' को अपनी इच्छानुसार मार्गदर्शित करने मे असफल हो जाता है जिससे उसे विवशतया 'इड' को उसी दिशा अथवा मामूली भिन्न दिशा की ओर जाने देना पड़ता है जिस ओर वह जाने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ है।"[1] 'इड', एवं 'अहम्' के संघर्ष से मनोविक्षिप्ति का जन्म होता है। फ्रायड का निष्कर्ष है कि 'इड', 'अहम्' एवम् 'पराहम्' के अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया में ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

३. समाजीकरण के अभिकरण

(Agencies of Socialization)

समाजीकरण की प्रक्रिया केवल बचपन में ही नहीं, अपितु जीवन-पर्यन्त क्रियाशील रहती है। यह जन्म से आरम्भ होकर व्यक्ति की मृत्यु तक निरन्तर चलती रहती है। यह अविराम प्रक्रिया है। कुछ समय पूर्व 'समाजीकरण' शब्द वयस्कों द्वारा सीखे गये अनुभवों के लिये प्रयुक्त नहीं होता था; इसे केवल बच्चों द्वारा सीखे गये अनुभवों के लिये सीमित रखा गया। परन्तु हाल में, समाजीकरण की अवधारणा को विस्तृत किया गया है जिससे वयस्क आचरण को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है। अब इसे "एक अंतःक्रियात्मक प्रक्रिया समझा जाता है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके समूहों, जिनका वह सदस्य है, के सदस्यों की प्रत्याशाओं के अनुरूप ढाला जाता है।" विचारकों ने इस प्रक्रिया की व्याख्या केवल बच्चों के सन्दर्भ में इसलिए की है, क्योंकि उसमें ऐसे जटिल तत्वों का अभाव होता है जो उस समय उत्पन्न हो जाते हैं जब व्यक्ति 'आत्म' तथा दूसरों के बारे में चेतन हो जाता है। जब व्यक्ति पुस्तकें पढ़ना और कहानियाँ सुनना आरम्भ कर देता है तथा एक आदर्श समाज की कल्पना करने योग्य हो जाता है, तो उस समय वस्तुनिष्ठ तत्वों को वस्तुपरक तथ्यों से पृथक् करना तथा बच्चे के समाजीकरण में उनके क्रमशः योगदान का मूल्यांकन करना कठिन हो जाता है।

चूँकि समाजीकरण समाज के लिये एक महत्वपूर्ण विषय है, अतएव यह वांछनीय ही है कि बच्चे का समाजीकरण केवल आकस्मिक घटना पर न छोड़ा जाय, बल्कि संस्थागत माध्यमों द्वारा नियंत्रित होना चाहिये। बच्चा क्या बनने जा रहा है, यह अधिक महत्वपूर्ण बात है अपेक्षतया इसके कि वह क्या है। समाजीकरण के द्वारा ही बच्चा समाज का उपयोगी सदस्य बनता है और सामाजिक परिपक्वता प्राप्त करता है। अतएव यह जानना परमावश्यक है कि बच्चे का समाजीकरण कौन करता है?

1. Gillin and Gillin, *An Introduction to Sociology*, p. 575.

बच्चे के समाजीकरण के दो मुख्य स्रोत हैं। प्रथम, वे लोग हैं जो बच्चे के ऊपर सत्ता रखते हैं, दूसरे वे लोग हैं जिनकी सत्ता उसके समान है। प्रथम श्रेणी में माता-पिता, शिक्षक, वृद्धजन एवं राज्य आते हैं। दूसरी श्रेणी में क्रीड़ा-संगी, मित्र एवं क्लब के साथी सम्मिलित हैं। उसके प्रशिक्षण का महत्व एवं इसकी अंतःवस्तु इस बात पर निर्भर करते हैं कि उसके समाजीकरण का स्रोत क्या है। पहली श्रेणी के सम्बन्ध बाध्यता के जबकि दूसरी श्रेणी के सम्बन्ध सहयोग के तत्व पर आधारित हैं। बाध्यता के सम्बन्ध का आधार सत्ताधारी व्यक्तियों के प्रति एकपक्षीय आदर है, जबकि सहयोग का सम्बन्ध समान व्यक्तियों के बीच पारस्परिक सद्भावना पर आधारित है। पहली श्रेणी के अंतर्गत आचरण के नियमों को श्रेष्ठ, निरंकुश एवं बाह्य समझा जाता है, परन्तु दूसरी श्रेणी के नियमों की स्वयमेव कोई श्रेष्ठता अथवा पूर्णता नहीं होती, वे केवल सहयोग के क्रियात्मक नियम होते हैं। बच्चे पर सत्ता रखने वाले व्यक्ति सामान्यतया आयु में बड़े होते हैं, जबकि उसके साथ समता रखने वाले उसकी ही आयु के होते हैं।

सत्तायुक्त विधियों द्वारा ही समाजीकरण क्यों हो, इसके कई कारण हैं। संस्कृति में प्रत्याशित व्यवहार के प्रतिमान सहज नहीं होते, कभी-कभी ये प्राणिशास्त्रीय प्रवृत्ति के विपरीत होते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि जिन व्यक्तियों को बच्चे के समाजीकरण का दायित्व सौंपा गया है, उन्हें आदेश देने का अधिकार होना चाहिये। ऐसा अधिकार केवल आयु में बड़े व्यक्तियों को ही दिया जा सकता है, क्योंकि जब समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तब शिशु से छोटा कोई अन्य नहीं होता और बराबर आयु वालों के साथ सहयोग करने की समर्थता उसमें नहीं होती। इसलिए माता-पिता पहले व्यक्ति होते हैं जो बच्चे का समाजीकरण करते हैं। वे केवल परिवार-व्यवस्था में ही उससे घनिष्ठ सम्बन्धित नहीं होते, अपितु प्राकृतिक रूप से भी अन्यों की अपेक्षा उसके अधिक निकट होते है। माता, पिता से पहले, समाजीकरण की प्रक्रिया को आरम्भ करती है। उससे ही बच्चे को प्रथमतम सामाजिक अभिप्रेरणा मिलती है। वह इन अभिप्रेरणाओं की नकल करता है। माता-पिता तथा बच्चे के बीच आयु एवं अनुभव का व्यापक अन्तर होने के कारण वह उनके द्वारा संचारित सभी बातों के तर्क एवं स्वरूप को समझने में असमर्थ होता है। यदि बच्चा नियमों का पालन नहीं करता तो उसे बाध्य किया जाता है, क्योंकि सामाजिक दृष्टिकोण से अनिवार्य बात यह नहीं है कि बच्चे को अपने व्यक्तित्व के प्रकटीकरण के लिये वर्जन (taboo) से मुक्त किया जाय, बल्कि अनिवार्य यह है कि उसे जन-रीतियों एवं रूढ़ियों का पालन करना सिखाया जाय तथा उसे बचपन की मूर्खताओं से सुरक्षित रखा जाय। अतएव बच्चा उनसे पहले जो कुछ ग्रहण करता है, वह अधिकांशतया बन्धन की नैतिकता है। समाज किसी प्रकार की जोखिम उठाये बिना अपनी संस्कृति के मूल्यवान् तत्व बच्चे को संचारित कर देता है। इस प्रकार सामाजिक नैतिकता विवेकशील समझ का विषय न होकर संवेदनशील दायित्व का विषय है।

बच्चा कुछ बातें जो वह सत्ताधारी व्यक्तियों से नहीं सीख सकता, अपने हमजोलियों से सीखता है। उनसे वह सहकारी नैतिकता तथा संस्कृति की कुछ

अनौपचारिक बातें, यथा मामूली जनरीतियाँ, शौक, सनकें, परितुष्टि की गुप्त विधियाँ और निषिद्ध ज्ञान सीखता है। सामाजिक दृष्टिकोण से इन बातों की जानकारी आवश्यक है। उदाहरण के लिए, हमारे समाज में लैंगिक सम्बन्धों का ज्ञान नवयुवक के लिए अवांछनीय समझा जाता है जब तक उसका विवाह नहीं हो जाता। यदि ऐसे ज्ञान को विवाह तक पूर्ण रूप से बंद कर दिया जाय तो यौन जीवन के बहुत से कार्यों की पूर्ति विवाह के बाद कठिन हो जायेगी। अतएव यौन ज्ञान को पूर्णतया बहिष्कृत नहीं किया गया, यद्यपि औपचारिक रूप से इसे अवांछनीय समझा जाता है। यह ज्ञान बच्चा अपने हमजोलियों से प्राप्त करता है, यद्यपि बच्चा अपने समान आयु वाले बच्चे से इतना ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। तथापि "जहाँ तक बच्चा समान आयु वाले समूह से सहकारी प्रयत्नों के अंगस्वरूप नियमों को समझना सीखता है, जहाँ तक वह सत्ताधारी व्यक्तियों के संरक्षण या पराश्रय की हीनता के बिना अपने अधिकारों के लिए लड़ना सीखता है, उस सीमा तक वह कुछ मूल्यवान् बातें सीखता है जो सत्तायुक्त सम्बन्ध-व्यवस्था में सीखना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।"[1]

इस प्रकार, सत्तायुक्त एवं समतायुक्त दोनों प्रकार के सम्बन्ध बच्चे के समाजीकरण में योगदान करते हैं। ऐसी बातें जिनके संचार में अनुशासन एवं दायित्व निहित होते हैं, सत्तायुक्त सम्बन्धियों को जबकि अन्य बातें समतायुक्त सम्बन्धियों को सुपुर्द की जाती हैं।

समाजीकरण की प्रमुख एजेन्सियाँ संक्षिप्त रूप मे निम्नलिखित हैं—

(i) परिवार (Family)—परिवार प्राथमिक और सबसे महत्वपूर्ण संस्था है, जो बच्चे के समाजीकरण के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी है। माता-पिता का बच्चे के साथ न केवल घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, अपितु वे दूसरों की अपेक्षा अधिक उसके निकट भी होते हैं। बच्चा, माता-पिता से अपनी भाषा एवं बोली सीखता है। उसे सामाजिक नैतिकता सिखाई जाती है। वह सत्ताधारी मनुष्यों के प्रति आदर-भावना सीखता है। परिवार में वह अनेक नागरिक गुणों को भी सीखता है। परिवार को ठीक ही नागरिक गुणों की पाठशाला कहा गया है। बच्चा सहयोग, सहकारिता, सहिष्णुता, आत्म-बलिदान, स्नेह आदि के प्रथम पाठ परिवार में ही सीखता है। पारिवारिक वातावरण बच्चे के विकास को प्रभावित करता है। मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि व्यक्ति जो कुछ है, वह परिवार के कारण है। बुरे परिवार में बच्चा बुरी आदतें सीखता है जबकि अच्छे परिवार में यह अच्छी बातें सीखता है। बाल-अपराध का एक कारण बुरा पारिवारिक वातावरण होता है। जीवन-साथी का चयन करते समय माता-पिता लड़के-लड़की के परिवार के इतिहास को जानने का प्रयास करते हैं, ताकि उससे उन्हें अच्छी या बुरी बातों का पता लग सके। माता-पिता तथा बच्चे के बीच सम्बन्ध बाध्यता का सम्बन्ध है। माता-पिता आयु में बड़े होने के कारण उसे आज्ञापालन का आदेश देने का अधिकार रखते हैं। यदि बच्चा उनके आदेश का पालन नहीं करता तो उसे दण्ड दिया जाता

1. Davis, Kingsley, *Human Society*, p. 218.

है। माता-पिता मे से माता का स्थान समाजीकरण की प्रक्रिया में पिता से पूर्व आता है। परिवार जीवन-पर्यन्त व्यक्तित्व को प्रभावित करता रहता है। समाज में परिवार के महत्व के ऊपर काफी साहित्य प्राप्त है।

(ii) शिक्षण-संस्थाएँ (Educational institutions)—समाजीकरण का अगला अभिकरण स्कूल है। स्कूल मे बच्चा शिक्षा प्राप्त करता है जो उसके विचारो एवं दृष्टिकोणों को प्रभावित करती है। अच्छी शिक्षा बच्चे को अच्छा नागरिक बना सकती है, जबकि बुरी शिक्षा उसे अपराधी बना सकती है। शिक्षा का समाजीकरण में महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा की सुनियोजित प्रणाली समाजीकृत व्यक्तियों को जन्म दे सकती है।

(iii) क्रीड़ा-साथी अथवा मित्र (Playmates and friends)—क्रीड़ा-साथी एवं मित्र भी समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण हैं। बच्चे तथा उसके क्रीड़ा-साथी के बीच समानता का सम्बन्ध होता है। यह सहयोग एवं पारस्परिक सद्भावना पर आधारित है। उनकी आयु लगभग समान होती है। बच्चा अपने साथियों एवं मित्रों से वह सब कुछ ग्रहण करता है जो वह माता-पिता से ग्रहण नहीं कर सकता। उनसे वह सहकारी नैतिकता तथा संस्कृति की कुछ अनौपचारिक बातें, यथा फैशन, सनकें, कामतुष्टि के ढंग एवं निषिद्ध ज्ञान सीखता है। इस प्रकार का ज्ञान सामाजिक दृष्टिकोण से आवश्यक है। उदाहरणतया, लैंगिक ज्ञान हमारे समाज मे विवाह से पूर्व निषिद्ध माना जाता है। यदि यह ज्ञान पूर्णतया बंद कर दिया जाय तो लैंगिक जीवन के अनेक कार्य विवाह के बाद पूरे करना कठिन हो जायगा। बच्चा इस ज्ञान को अपने साथियो एवं मित्रों से प्राप्त करता है।

(iv) चर्च (Church)—चर्च से तात्पर्य धार्मिक संस्थाओ से है। प्रारम्भिक समाज मे धर्म ने एकता के बन्धन का महत्वपूर्ण कार्य किया था। यद्यपि आधुनिक समाज में धर्म का महत्व कम हो गया है, तथापि यह हमारे विश्वासों एवं जीवन के ढंगों को प्रभावित करता है। प्रत्येक परिवार में कुछ न कुछ धार्मिक क्रियाएँ किसी न किसी अवसर पर होती हैं। बच्चा अपने माता-पिता को मन्दिर जाते तथा धार्मिक संस्कार करते देखता है। वह धार्मिक प्रवचनों को सुनता है जो उसके जीवन की दिशा को निर्धारित तथा उसके विचारों को प्रभावित कर सकते हैं।

(v) राज्य (State)—राज्य एक सत्तायुक्त एजेन्सी है। यह लोगों के लिए कानूनों का निर्माण करती है, तथा उनसे अपेक्षित आचरण के नियमों को निर्धारित करती है। लोगों को इन कानूनों का अवश्यमेव पालन करना पड़ता है। यदि उनका आचरण राज्य के कानूनों के अनुरूप नहीं होता तो उन्हें दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार, राज्य भी हमारे व्यवहार को ढालता है।

उपर्युक्त एजेन्सियों के अतिरिक्त, आर्थिक संस्थाएँ, सांस्कृतिक सस्थाएँ, विवाह, पड़ोस तथा नातेदारी समूह भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह भी ध्यान मे रखा जाय कि इन एजेंसियों को सुदक्ष ढंग से कार्य करना चाहिये, ताकि समाजीकृत प्राणियों का निर्माण हो सके। आधुनिक समाज को समाजीकरण की अनेक समस्याओं को हल करना है। तदर्थ इसे इन सभी अभिकरणों को अधिक क्रियाशील एवं प्रभावशील बनाना होगा।

४. समाजीकरण के तत्व
(Elements of Socialization)

ऊपर हमने समाजीकरण की प्रक्रिया, जैसे यह समाज मे कार्य करती है, का वर्णन किया है। समाजीकरण में सबसे पहली प्रेरणा बच्चे को माँ से मिलती है। परन्तु जैसे ही उसके सम्बन्ध विस्तृत होते हैं; पिता, भाई और बहनें, साथी, अध्यापक और पुलिस का सिपाही आदि दूसरे व्यक्ति उसके व्यवहार को ढालना आरम्भ कर देते हैं।

व्यक्ति की समाजीकरण-प्रक्रिया में तीन तत्व कार्य करते हैं। ये हैं—(१) व्यक्ति की शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक बपौती, (२) पर्यावरण जिसमें उसका जन्म हुआ है, तथा (३) संस्कृति जिसमें वह इन तत्वो की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण रहता है। *क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रक्रिया बड़ी जटिल* होती है, जो *व्यक्ति* के *निर्माण* तथा समाज में उसकी स्थिति को काफी हद तक निर्धारित करती है। आइये, इस प्रक्रिया का सूक्ष्म अध्ययन करें।

बच्चा अपने परिवार के पर्यावरण मे कुछ जन्मजात शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं को लेकर जन्म लेता है। अपनी क्षमताओं के अनुसार वह परिवार की संस्कृति को ग्रहण करता है। यदि उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताएँ उत्तम नहीं होती तो वह अपने पर्यावरण से लाभ नहीं उठा सकता। इसके विपरीत, यदि उसके परिवार का वातावरण अच्छा नही है, तो अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के बावजूद भी वह अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। मानव-व्यक्तित्व के विकास में पर्यावरणीय प्रेरणा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अच्छा स्कूल, सामाजिक समानता, राजनीतिक स्वतन्त्रता, संक्षेप मे, अच्छा वातावरण बहुत कुछ सीमा तक इस बात का निर्धारण करता है कि बच्चे पर सामाजिक या आत्मकेन्द्रित शक्तियों में किसका प्रभाव अधिक पड़ेगा। मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि व्यक्ति समाज में वैसा व्यवहार करता है, जैसा वह परिवार में ढल जाता है। **हैली एवं ब्रोनर** (Healy and Bronner) ने बतलाया है कि बाल-अपराधी अधिकांशतः उन परिवारों से होते हैं जो किसी समय सामाजिक सम्बन्धों की पूर्ति में किसी बाधा के शिकार रहे हैं। वेश्या-वृत्ति की समस्या माता-पिता, बच्चे के सम्बन्ध की समस्या कही जाती है। जिस प्रकार मरुस्थल में पुष्प अपनी सुगन्ध को प्रकट नही कर सकता और अनदेखा मुरझा जाता है, उसी प्रकार यदि उपयुक्त वातावरण न मिले तो मनुष्य अपनी प्रतिभा को चमका नही सकता। परन्तु जैसा हमने ऊपर बतलाया है, केवल उपयुक्त वातावरण ही *व्यक्तित्व* का विकास नहीं कर सकता, यदि मनुष्य मे उचित मानसिक एवं शारीरिक क्षमताएँ न हों।

पर्यावरण पर समूह का प्रभाव पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक समूह की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है। मनुष्य समूह में रहता है, अत. उसे अपने समूह के रीति-रिवाजों, विश्वासो तथा आदर्शों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक प्रकृति का विकास समूह-जीवन में एवं उसके माध्यम से होता है। **डब्लू० आई० थामस** (W I. Thomas) ने परिस्थिति की परिभाषा (definition of the situation)

शब्दावली की रचना की जिससे उसका अभिप्राय था कि बच्चा जिस स्थिति में स्वयं को पाता है, उस स्थिति का निर्धारण उसके लिए पूर्व ही हो चुका होता है तथा उसे जिन नियमों के अनुसार आचरण करना है, उनका निर्धारण भी उस समूह के द्वारा जिसमें उसका जन्म होता है, किया जाता है। बच्चे को समूह द्वारा निर्धारित नियमों के प्रतिकूल अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने की बहुत कम छूट होती है। उसकी इच्छाओं एवं क्रियाओं में बाधा पड़नी आरम्भ हो जाती है और धीरे-धीरे पारिवारिक परिभाषाओं, स्कूल के क्रीड़ा-साथियों, पठन, औपचारिक शिक्षण एवं स्वीकृति तथा अस्वीकृति के अनौपचारिक चिह्नों द्वारा वयस्कता की ओर बढ़ते हुए सदस्य समाज की नियमावली को सीख लेते हैं। इस प्रकार, समूह के प्रभाव भी मानव-व्यक्तित्व के विकास को निर्धारित करते हैं। अतः उपर्युक्त तीन तत्वों की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप मानव-प्राणी सामाजिक प्राणी बनता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या करते समय कुछ समाजशास्त्रियों ने चौथे तत्व—व्यक्ति के अनुभव-का भी वर्णन किया है। कभी-कभी यह देखा गया है कि उपयुक्त वातावरण के होते हुए भी मनुष्य अपनी मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं का पूर्ण लाभ नहीं उठा पाता, क्योंकि अपने निजी अनुभव के कारण वह उस वातावरण से अलग रहता है। यदि किसी बच्चे को पढ़ने के लिए बाध्य किया जाय तो वह पढ़ाई को शारीरिक दण्ड के साथ सम्बद्ध समझने लगता है और भगोड़ा बन जाता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में परिपक्वता बढ़ती जाती है, वह एक के बाद दूसरे कठोर अनुभव प्राप्त करता जाता है, कभी-कभी उसकी बहुप्रिय वस्तु भी उससे छिन जाती है, जिस कारण वह दूसरों के कल्याण में अधिक रुचि लेने लगता है। कभी-कभी दुःख भी मनुष्य का समाजीकरण कर देता है।

५. समाजीकरण का महत्व
(Role of Socialization)

मानव-व्यवहार एवं मानव-मनोवृत्ति के विकास में समाजीकरण का महत्व 'अन्ना' (Anna) तथा 'इजावेला (Isabela) के दो उदाहरणों से दिखाया जा सकता है। एक अवैध बच्ची अन्ना को ऊपर के कमरे में अकेला बंद रखा गया। जब लगभग छः वर्ष की आयु में उसे कमरे से निकाला गया, अन्ना न ही बोल सकती थी, न ही चल-फिर सकती थी और न वह कोई ऐसा कार्य कर सकती थी जिससे उसकी बुद्धि का पता लगे। वह भावनाशून्य और प्रत्येक वस्तु के प्रति विरक्त थी। वह अपनी ओर से कोई कार्य नहीं कर सकती थी। इससे स्पष्ट है कि समाजीकरण के अभाव में केवल शारीरिक या प्राणिशास्त्रीय साधन पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में योग नहीं दे सकते। संवहनात्मक सम्पर्क समाजीकरण का केन्द्रबिन्दु है।

इजावेला साढ़े छ. वर्ष की आयु में मिली थी। अन्ना के समान वह भी एक अवैध सन्तान थी और इसी कारण एकान्त में रखी गयी थी। जब वह मिली तो उसे किसी भी प्रकार के सम्बन्धों का ज्ञान नहीं था। किसी भी नवागन्तुक के प्रति उसका व्यवहार जंगली जानवर जैसा था। जब उसके प्रशिक्षण की एक व्यवस्थित और क्षमतापूर्ण योजना बनाई गयी तो आरम्भ में तो यह कार्य निराशाजनक लगा, लेकिन

धीरे-धीरे शब्दज्ञान का मिलने लगे । साढ़े आठ वर्ष की आयु तक वह एक सामान्य स्तर तक पहुँच गई ।

इजाबेला के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि छ. वर्ष की आयु तक की पृथकता जिसमें किसी प्रकार की वाणी को प्राप्त नहीं किया गया, इसके बाद में प्राप्ति का निषेध नहीं करती । किन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि किस आयु तक समाज से बिलकुल पृथक् रहने पर भी मनुष्य समाज की संस्कृति सीखने योग्य रह जाता है । इतना तो निश्चय प्रतीत होता है कि पन्द्रह वर्ष की पृथकता के बाद ऐसा सम्भव नहीं होगा, सम्भवतः दस वर्ष की आयु तक पृथक् रहने पर भी ऐसा ही हो । हाँ, ये दोनों उदाहरण अनोखे रूप से व्यक्तित्व के विकास में समाजीकरण के महत्व को स्पष्ट करते हैं । इनके माध्यम से मानव-व्यक्तित्व के विकास में दो कारकों को "मूर्त रूप से विभक्त करके देखा जाना सम्भव है, जो अन्यथा विश्लेषण द्वारा ही पृथक् किये जाते हैं । यह कारक जीव-जननिक (bio-genic) तथा समाज-जननिक (socio-genic) है ।" संक्षेप में, व्यक्तित्व के विकास मे समाजीकरण का महत्वपूर्ण भाग है ।

६. प्रौढ़ों का समाजीकरण
(Socialization of Adults)

अभी तक हम बच्चों के समाजीकरण की चर्चा कर रहे थे, परन्तु जैसा पूर्व में ही कहा जा चुका है, समाजीकरण एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है । यह किसी आयु-विशेष पर समाप्त नहीं हो जाती है, परन्तु जीवन-पर्यन्त चलती रहती है । प्रौढ़ों का समाजीकरण बच्चों के समाजीकरण से सरल है, प्रथमतया इसलिए कि प्रौढ़ साधारणतया अपने द्वारा पूर्वपरिलक्षित लक्ष्य की ओर कार्य करने को प्रेरित होता है; दूसरे, इसलिए कि जिस भूमिका को वह अन्तरीकृत करने का प्रयत्न कर रहा है, वह उसके व्यक्तित्व में पूर्वविद्यमान भूमिकाओं से काफी समानताएँ रखती हैं; तीसरे, इसलिए कि समाजीकरण का अभिकर्ता भाषण के द्वारा उससे सुगमता से वातचीत कर सकता है ।

हाँ, प्रौढ़ो का समाजीकरण एक लम्बी एवं कठिन प्रक्रिया हो सकता है । ऐसा विशेषतया तब होता है जब सीखी जाने वाली भूमिकाएँ कठिन हों, तथा भूमिका के दायित्व कठोर हों । इसके अतिरिक्त, प्रौढ़ों में उनके आदर्श एवं दृष्टिकोण पहले ही घर कर चुके हैं, अतएव जब सीखे जाने वाले आदर्श एवं दृष्टिकोण व्यक्तित्व मे पूर्व निहित आदर्शों के विपरीत होते हैं तो प्रौढ़ों के समाजीकरण की प्रक्रिया कठिन हो जाती है ।

समाज में समाजीकृत वृत्तियों के महत्व को कम नहीं किया जा सकता । समाजीकृत दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति कभी भी ऐसा कार्य नहीं करेगा जो समाज के लिये हानिकारक हो । वह कोई ऐसा व्यापार-कार्य भी नहीं करेगा जो सामाजिक हित की दृष्टि से अनुत्पादक हो अथवा जो अस्वस्थ प्रतियोगिता पर आधारित हो । समाजीकृत नागरिक सामाजिक कल्याण को अपने व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा अधिक महत्व देगा । वह मानवीय मूल्यों को सर्वोपरि स्थान देगा । समाजीकरण सामाजिक दूरी

को कम करके निकटता की वृद्धि करता है। आधुनिक समाज को अभी बचपन एवं यौवन के सभी स्तरों पर समाजीकरण की समस्याओं को हल करना है। यह कहना कठिन है कि कोई भी समाज व्यक्ति की क्षमताओं का पूर्ण लाभ उठाता है। समाजीकरण में सुधार मानव-प्रकृति एवं मानव-समाज के भावी परिवर्तन के लिये सबसे बड़ी सम्भावना प्रदान करता है।

७. वैयक्तिकरण
(Individualisation)

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व, वैयक्तिकरण तथा इसकी क्रिया-प्रणाली की व्याख्या करना उचित होगा। वैयक्तिकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है जो मनुष्य को उसके समूह से न्यूनाधिक स्वतन्त्र बना देती है तथा उनमे स्वय की आत्म-चेतना का विकास हो जाता है। मैकाइवर (*MacIver*) के अनुसार, "वैयक्तिकरण एक प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य अधिक स्वायत्त अथवा आत्म-निर्णयकारी हो जाते हैं, जिसमे वे केवल अनुकरणीयता या वाह्य अनुशास्ति लिये मानकों की स्वीकृति से आगे बढ़ जाते हैं, जिसमे वे परम्पराओं एव प्रथाओ द्वारा अपने जीवन के नियमन में कम वाधित होते हैं, विचार एवं मत के मामलों में सत्ता एवं आदेश के कम अधीन होते हैं, तथा इस बात को मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति एक अलग प्राणी है जो अपने जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति तभी कर सकता है जब वह स्वयं इनके बारे में चेतनायुक्त हो तथा ये स्वय उसके द्वारा चाही गयी हों।"[1] वैयक्तिकरण एक प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य स्वय को जानने लगता है तथा आन्तरिक दायित्व की भावना ग्रहण करता है। यह स्वयं को जान लेने की प्रक्रिया है। जब व्यक्ति किसी कार्य को केवल इसलिए नही करता कि दूसरे भी उसे कर रहे हैं, अपितु इसलिए करता है क्योंकि उसकी अन्तरात्मा उसे ऐसा करने की स्वीकृति देती है। वह अपने व्यक्तित्व के बल पर चलता है जो उसका एक गुण है। समाजीकरण मनुष्य का दूसरो के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, जबकि वैयक्तिकरण उसे स्वायत्त अथवा आत्मनिर्धारक बनाता है।

वैयक्तिकरण की प्रक्रिया को समझने से पूर्व दो भ्रामक धारणाओं को दूर कर लेना श्रेयस्कर होगा। प्रथमतया, यह धारणा, कि वैयक्तिकरण स्वयं व्यक्ति द्वारा अकेले रूप में चालित प्रक्रिया है; दूसरी व्याख्या यह कि वैयक्तिकरण पूर्वप्रचलित विचारों के द्वारा फैलायी गयी मानसिक प्रक्रिया है। जब व्यक्ति आत्म को प्राप्ति कर लेता है, तो उसका अर्थ यह नही होता कि व्यक्ति अपने समूह के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो गया है। न केवल स्वयं व्यक्ति, अपितु समाज भी उसे दायित्व की आन्तरिक भावना को प्राप्त करने तथा स्वयं को जानने मे उसकी सहायता करता है। इस प्रकार, वैयक्तिकरण की प्रक्रिया व्यक्ति एवं समाज दोनों के द्वारा चलाई जाती है। द्वितीय, समाजशास्त्री का कार्य केवल यह नहीं है कि वह किसी समय प्रचलित विचारों को मालूम करे, अपितु उसे इस बात की भी खोज करनी होती है कि इन विचारों का

1. MacIver, *The Elements of Social Science*, p. 144.

जन्म कैसे हुआ । स्वयं विचार वैयक्तिकरण का विकास नहीं करते; वे तो वैयक्तिकरण की प्रक्रिया की केवल मात्र मानसिक अभिव्यक्तियाँ होते हैं ।

वैयक्तिकरण के पक्ष (Aspects of Individualisation)

मानहीम (Mannheim) ने वैयक्तिकरण को चार प्रमुख स्वरूपों में विभेदित किया है । ये हैं—(१) दूसरे लोगों से विभिन्न ढंग से सीखने की प्रक्रिया से वैयक्तिकरण,(२) आत्म-सम्बन्धी क्रियाओं के नये रूपों के स्तर पर वैयक्तिकरण,(३) वस्तुओं के माध्यम से वैयक्तिकरण, (४) आत्म-गंभीरता के रूप में वैयक्तिकरण—जिसका अभिप्राय है आत्म-सम्बन्धी अनुभवों को ग्रहण करना तथा वैयक्तिकरण की शक्तियों का अपने भीतर एवं इर्द-गिर्द उन्नयन करना । ये सब प्रक्रियाएँ नितान्त भिन्न घटनाएँ हैं ।

वैयक्तिकरण के पहले स्वरूप में दूसरे व्यक्तियों से भिन्न बनने की प्रक्रिया सम्मिलित है । व्यक्तियों के बाह्य विभेद नये समूहों की रचना करते हैं । आधुनिक औद्योगिक समाज की विशेषता, श्रम-विभाजन ने ऐसे समूहों के विकास को बढ़ावा दिया है । ये समूह आन्तरिक संरचना एवं विनियमों की मात्रा एवं गम्भीरता के अनुपात में अपने सदस्यों को न्यूनाधिक वैयक्तिकता की अनुमति दे देते हैं । इन दो तत्वों अर्थात् बाह्य विभेद एवं श्रम-विभाजन के अतिरिक्त तीसरा तत्व भी है जो प्रकारों के बाह्य भेद को जन्म देता है । यह है—सम्पर्कों का अभाव । ऐसे व्यक्ति जो दूसरे व्यक्तियों से अलग रहते हैं, उनका व्यक्तित्व भिन्न प्रकार का होता है । प्रजातन्त्रीकरण, स्वतन्त्र प्रतियोगिता एवं सामाजिक गतिशीलता भी वैयक्तिकरण को, जो भिन्न बनने की प्रक्रिया है, आगे बढ़ाते हैं ।

अपने विशिष्ट गुणों से परिचित होना तथा आत्म-मूल्यांकन के एक नये प्रकार का जन्म भी वैयक्तिकरण है । व्यक्ति स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ एवं अलग मानता है तथा अपना मूल्यांकन ऊँचे शब्दों में करता है । वह अपने जीवन एवं चरित्र को अनुपम समझने लगता है । वैयक्तिकरण की इस प्रक्रिया की कुछ पूर्व शर्तें हैं—प्रसिद्ध अभिजात वर्ग की दूरी एवं कठोर विभेदीकरण, समूह का इस प्रकार संगठन कि कुछ लोगों को निरंकुश बनने का अवसर प्राप्त हो सके, दरबारी व्यक्तियों का एक ऐसा समूह जहाँ निरंकुश शासक को यदि ईश्वर नहीं तो शक्तिशाली होने का भ्रम हो सके । ये पूर्व शर्तें व्यक्ति को निरंकुश बना देती हैं, जिसकी शक्ति शारीरिक बल एवं आध्यात्मिक अवपीड़न पर आधारित होती है । इतिहास ऐसे अत्याचारियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है जो स्वयं को सर्वश्रेष्ठ समझते थे और अनुभव करते थे कि उनका जीवन और चरित्र अनुपम है । यह आत्माभिमान की भावना है । असुरबनीपाल (Assurbanipal) (८८५–८६० बी० सी०) के इतिवृत्त से उद्धृत निम्न पैरा आत्माभिमान की इस भावना का स्पष्ट उदाहरण है—

"मैं राजा हूँ । मैं स्वामी हूँ । मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ । मैं महान् शक्तिशाली हूँ । मैं प्रसिद्ध हूँ, कुलीन हूँ, युद्ध का स्वामी हूँ । मैं एक सिंह हूँ । मेरी नियुक्ति स्वयं ईश्वर ने की है । मैं अजेय शस्त्र हूँ जो शत्रुओं के क्षेत्र को भग्नावशेष कर देता है । मैंने ... पकड़ कर खम्भों पर टाँग दिया । मैंने उनके खून से पहाड़ों को

ऊन की तरह रँग दिया । उनमें से बहुतों की खाल उधेड़ कर मैंने दीवारों को ढँक दिया । मैंने जीवित शरीरों से स्तम्भ बनाया और एक दूसरे स्तम्भ की रचना उनके सिरों से की । परन्तु बीच में मैंने उनके सिरों को अंगूर की बेल पर टाँग दिया । मैंने अपनी शाही ठाठ की एक बड़ी तस्वीर बनायी और उस पर अपनी शक्ति एवं प्रभुता को खुदवाया । मेरा चेहरा भग्नावशेषों पर चमकता है । अपनी क्रोध-पिपासा को शांत करने में मुझे सन्तुष्टि मिलती है ।"

वैयक्तिकरण का तीसरा स्वरूप वस्तुओं द्वारा इच्छाओं का वैयक्तिकरण है । कुछ लोग कुछेक व्यक्तियों एवं वस्तुओं के प्रति स्थिर भावना बना लेते हैं । मनोवैज्ञानिक विश्लेषकों ने इसे 'निर्धारित काम-वासना' (libido fixations) का नाम दिया है । कृषक एवं जमींदार अभिजात वर्ग की इच्छाएँ नगरों के गतिशील धनी लोगों की अपेक्षा अधिक स्थिर होती हैं । वैयक्तिक रुचि को अनेक तत्व जैसे सम्पत्ति, उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रिया प्रभावित करते हैं । सामाजिक गतिशीलता भी व्यक्ति को विशिष्ट अभिलाषाओं से बाँधे रखती है । पारिवारिक परिस्थितियाँ भी व्यक्ति की इच्छाओं को रूप प्रदान करती हैं ।

विरक्ति या एकान्तवासी बनने की भावना व्यक्ति को अन्तर्खोजी और अन्तर्मुखी बना सकती है । बड़े नगरों में जहाँ मैत्री वातावरण का अभाव है, विमुखता एवं अस्त-व्यस्तता है तथा जहाँ समुदाय का अपने सदस्यों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है, वहाँ विरक्ति की भावना अधिक विशिष्ट है । ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति के अन्दर अकेलेपन या आंशिक अलगाव की भावना उत्पन्न हो जाती है । इससे व्यक्ति अन्तर्खोजी बन जाता है जो वैयक्तिकरण का ही एक रूप है ।

प्रश्न

१. समाजीकरण का क्या अर्थ है ? समाजीकरण, समाजवाद एवं सामाजिकता में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

२ समाजीकरण की प्रक्रिया का सोदाहरण वर्णन कीजिए ।

३. समाजीकरण की प्रक्रिया में भाग लेने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिए ।

४. वैयक्तिकरण एवं समाजीकरण में क्या अन्तर है ? वैयक्तिकरण की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए ।

५. समाजीकरण के प्रमुख अभिकरणों की व्याख्या कीजिए ।

६. समाजीकरण के विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए ।

अध्याय ७

रुचियाँ और मनोवृत्तियाँ

[INTERESTS AND ATTITUDES]

समाज मूलतः एक मानसिक घटना-वस्तु है। इसका वास्तविक स्वरूप उन प्राणियों, जिनसे इसका निर्माण होता है, की मन:स्थिति में निहित होता है। समाज के इस स्वरूप से, रुचियों और मनोवृत्तियों की दो अवधारणाओं का जन्म होता है। ये दोनों अवधारणाएँ मुख्यतः मनोवैज्ञानिक अवधारणा हैं, परन्तु क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों का व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की प्रकृति तथा उनकी वैयक्तिक जागरूकता के रूप का अध्ययन किये बिना अच्छी प्रकार नही समझा जा सकता, अतएव समाजशास्त्र का विद्यार्थी मनोविज्ञान का विद्यार्थी भी होता है। इसलिए उसे रुचियो और मनोवृत्तियों, जो हमारे व्यवहार को ढालती हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं, की अवधारणाओं को समझना चाहिये। मैकाइवर ने इस विषय का व्यापक विश्लेषण किया है।

१. रुचि और मनोवृत्ति का अर्थ

(Meaning of Interest and Attitude)

रुचि वस्तुपरक, मनोवृत्ति व्यक्तिनिष्ठ (Interest objective, attitude subjective)—रुचि का अर्थ है, "कोई लक्ष्य या पदार्थ जो व्यक्ति को इसकी प्राप्ति-हेतु कार्य की प्रेरणा देता है। मनोवृत्ति मानव-प्राणी के अन्दर चेतना की स्थिति है। यह व्यक्ति की भावनाओं, विचारों एव पूर्ववृत्तियों की कुछेक नियमितताओं को निर्दिष्ट करती है जिनके द्वारा मनुष्य अपने पर्यावरण के किसी पक्ष की ओर कार्य करता है।"[1] यह पदार्थों के सम्बन्ध में एक विषयी प्रतिक्रिया है। थामस एवं जननेकी (Thomas and Znaniecki) के अनुसार, "मनोवृत्ति किसी मूल्य के प्रति व्यक्ति के मन की स्थिति है।"[2] यह विशिष्ट व्यक्तियों या पदार्थों के प्रति व्यवहार का रूप या भावना है। यह सामान्यतया 'काल्पनिक रचना' है, जिसे प्रत्यक्षतः देखा नही जा सकता, परन्तु मौखिक अभिव्यक्ति अथवा प्रत्यक्ष व्यवहार से अनुमानित किया जा सकता है। रुचि, दूसरी ओर, मनोवृत्ति का विषय है। यह इच्छा का कोई भी पदार्थ है। यह वस्तुगत है, ऐसी वस्तु जिसकी इच्छा की जाती है तथा जिसे पाने का प्रयत्न किया जाता है। सभी मनोवृत्तियों मे पदार्थ निहित होते हैं जिनकी ओर वे निर्दिष्ट करती हैं, परन्तु यह मन की स्थिति है, पदार्थ नही, जिसे मनोवृत्ति कहा जाता है। यह आवश्यक नही कि पदार्थ भौतिक बाह्य तथ्य हों; ये अभौतिक भी हो सकते हैं, उदाहरणतया वैज्ञानिक सिद्धान्त अथवा धार्मिक विश्वास। पदार्थ अपने व्यापक अर्थ में वह वस्तुएँ होती हैं जिन पर मनुष्य ध्यान देता है और ये पदार्थ व्यक्ति

1. Secord and Bukman, *Social Psychology*, p. 97.
2 R. H. Thouless (Quoted), *General and Social Psychology*, p. 101.

के हित होते हैं। कुछ उदाहरण इन दोनों शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक होंगे। जब हम कहते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, हमें यह भी बतलाना चाहिये कि वह किससे भयभीत है। वह अध्यापक से, पुलिस से, साँपों से, ईश्वर से, कुस्वास्थ्य से या स्वयं अपनी आन्तरिक अभिलाषाओं से भयभीत हो सकता है। इस उदाहरण में वह जिन वस्तुओं से भयभीत है, वे उसके हित (interest) हैं, जबकि भय उसकी इन वस्तुओं के प्रति मनोवृत्ति है। एक और उदाहरण लें। हम कहते हैं कि व्यक्ति की कानून में रुचि है। हमने उसकी मनोवृत्ति को नहीं बतलाया है, अर्थात् उसकी मनोवृत्ति क्या है जिस कारण उसकी रुचि ऐसी है। सेंध-चोर, पुलिस-कर्मचारी, वकील सभी की रुचि कानून में होती है। सेंध-चोर की रुचि इसलिए कि वह कानून से बचना चाहता है; न्यायाधीश की रुचि इस कारण कि वह सेंध-चोर के अपराध का निर्णय करना चाहता है; पुलिस कर्मचारी की रुचि इसलिए कि वह सेंध-चोर को पकड़ना चाहता है; वकील की रुचि इसलिए कि वह सेंध-चोर को दण्ड से बचाना चाहता है। इस प्रकार इन व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ समान नहीं हैं, यद्यपि उनकी मनोवृत्तियों की वस्तु अर्थात् हित सामान्य है। इसी प्रकार, नास्तिक तथा आस्तिक, दोनों की ईश्वर में रुचि होती है, परन्तु ईश्वर के प्रति उनकी मनोवृत्ति भिन्न-भिन्न है। कोई व्यक्ति स्त्रियों में इसलिए रुचि रखता है कि वह उनसे घृणा करता है, जबकि दूसरे व्यक्ति की रुचि इसलिए है कि वह उनसे प्रेम करता है।

हित सामान्य एवं समान, मनोवृत्ति समान, परन्तु सामान्य नहीं (Interests common and like, attitudes like but not common)—उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जबकि रुचियाँ समान एवं सामान्य दोनों होती हैं; मनोवृत्ति समान होती है, सामान्य नहीं होती। मनोवृत्तियाँ विषयी हैं, जबकि रुचियाँ वस्तुपरक होती हैं। इस बिन्दु को समझाने के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। अनेक विद्यार्थी मैकाइवर की पुस्तक 'समाज' लेना चाहते हैं जिसकी पुस्तकालय में केवल एक प्रति है। अब इन विद्यार्थियों की मनोवृत्तियाँ समान हैं, क्योंकि वे सभी उसी पुस्तक को लेना चाहते हैं, परन्तु उनकी मनोवृत्तियाँ, इस शब्द के सही अर्थ में, सामान्य नहीं कही जा सकती, क्योंकि उनकी इच्छा के कार्यों की संख्या उतनी है, जितनी संख्या में वे विद्यार्थी हैं। 'हित' अर्थात् पुस्तक समान है और सामान्य है; परन्तु मनोवृत्तियाँ सामान्य नहीं हैं, केवल समान हैं। इस प्रकार, हित समान एवं सामान्य दोनों हो सकते हैं; परन्तु मनोवृत्तियाँ समान हो सकती है, सामान्य नहीं। मैकाइवर (MacIver) का कथन है, "भिन्न-भिन्न लोगों की एक सामान्य मनोवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जैसे उन्हें एक सामान्य पीड़ा की अनुभूति नहीं हो सकती। उनमें केवल समान पीड़ा और सामान्य मनोवृत्तियाँ हो सकती हैं, क्योंकि आत्मपरक अंश सदैव व्यक्ति के हो जाते हैं।"[1] यह भी ध्यान में रखा जाय कि जहाँ समान हित प्रतियोगिता को जन्म देते हैं, सामान्य हित सहयोग को जन्म देते हैं। प्रत्येक समाज की यह खोज रहती है कि समान हितों को सामान्य हितों का रूप कैसे दिया जाय, जिससे समाज में शांति एवं समन्वय रह सके।

---

1. MacIver, *Society* p 33.

२. सामाजिक जीवन में हितों एवं मनोवृत्तियों का महत्व
(Significance of Interests and Attitudes in Social Life)

(१) **हित सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं** (Interests determine social relationships)—यदि हम कहें कि समाज का जन्म, विकास एवं इसकी प्रगति हितो एवं मनोवृत्तियों पर निर्भर करती है तो इससे उनके महत्व का पता लग जाता है। प्रथमतया हित ही पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। समाज का अस्तित्व सामान्य हितों पर आधारित है। कुछ हित तो प्रकृति से ही सामान्य होते हैं, उदाहरणतया, नगर अथवा राष्ट्र के कल्याण का हित। *अन्य हितों को सामान्य बना दिया जाता है, क्योंकि हम उनको तभी प्राप्त* कर सकते हैं जब हम मिलकर उनको पूरा करने का प्रयत्न करें। सामाजिक जीवन में सहयोग का कितना महत्व है, इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य सामान्य हितों के कारण सहयोग करते हैं। अतः ज्यों-ज्यों सहयोग का क्षेत्र विशाल होगा, समाज की समृद्धि भी बढेगी। सामान्य हितों के आधार पर ही समाज की सामान्य *व्यवस्था को बल मिलता है तथा वह व्यापक बनती है। समाज को शक्तिशाली बनाने* वाले समाजीकरण-सम्बन्धी तत्व हितों पर आधारित हैं।

(२) **हित समाज की संरचना को निर्धारित करते हैं** (Interests determine the structure of society)—द्वितीय, व्यक्ति जिन सामान्य हितो की प्राप्ति-हेतु मिलकर प्रयत्न करते हैं, उससे हमे समाज की संरचना को समझने मे सहायता मिलती है। प्रत्येक समाज के कुछेक विशिष्ट हित होते हैं जिनको प्राप्त करने के लिए सदस्य प्रयत्नशील होते हैं। ये हित समाज की संरचना को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार हितों के आधार पर हम सामन्तवादी समाज, पूँजीवादी समाज एव सर्वहारा समाज में अन्तर करते हैं। सामन्तीय समाज में वर्गों का विभाजन भूमि के साथ उनके सम्बन्धों पर आधारित था। पूँजीवादी समाज एवं सर्वहारा समाज मे अन्तर का बिन्दु सम्पत्ति के साथ सम्बद्ध है। भारत में वर्ग-विभाजन जाति-प्रणाली पर आधारित है। प्रत्येक वर्ग अथवा समुदाय के कुछ जटिल सामान्य हित होते हैं जिनको समाज सुरक्षा एवं मान्यता प्रदान करता है। सामान्य हितों के आधार पर ही अनेक समितियों की रचना हुई है जो आधुनिक समाज की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है।

(३) **सामान्य हित प्रातिनिधिक प्रजातन्त्र का आधार है** (Common interest is the basis of representative democracy)—किसी स्थान-विशेष के सामान्य हितों के आधार पर ही प्रजातन्त्र की वर्तमान प्रणाली का विकास हुआ है। यद्यपि संवहन के साधनो की प्रगति हो जाने के बाद प्रादेशिक हितों का महत्व कम हो गया है और इनका स्थान आर्थिक हितो ने ले लिया है, तथापि पूर्वोक्त का प्रजातन्त्र की प्रतिनिधित्व-प्रणाली के विकास में महत्वपूर्ण भाग रहा है। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रतिनिधियों का चुनाव प्रादेशिक आधार पर होता है, जिसके पीछे यह मान्यता है कि किसी विशेष प्रदेश के निवासियों के हित सामान्य होते हैं।

(४) **मनोवृत्तियाँ सामाजिक सम्बन्धों को ढालती हैं** (Attitudes mould

social relations)—जिस प्रकार समाज की संरचना तथा सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप के निर्धारण में हितों का महत्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार मनोवृत्तियों का भी स्थान महत्वपूर्ण है। मनुष्य के व्यक्तित्व एवं उसकी मनोवृत्तियों के बीच गहरा सम्बन्ध है। व्यापक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की पूर्ण व्यक्तित्व-संरचना और उसका व्यवहार उसकी मनोवृत्तियों पर आधारित हैं। समाज में हमारे सामाजिक सम्बन्ध वास्तव में हमारी मनोवृत्तियों का समंजन ही तो हैं। मनुष्य स्वयं को दूसरे व्यक्तियों के साथ समंजित करने के लिए अपनी मनोवृत्ति को बदलता रहता है। इस प्रकार, असहनशीलता एवं पूर्वाग्रह जो व्यक्तियों को पृथक् करते हैं, को सहनशीलता एवं सद्भावना जो उनको मिलाते हैं, में बदला जा सकता है। कोई मनुष्य किसी समय किसी व्यक्ति का मित्र हो सकता है, तथा कुछ समय बाद उसका शत्रु बन सकता है। इस प्रकार, मनोवृत्यात्मक परिवर्तन एवं समंजन समाज में निरन्तर चलते रहते हैं जिस कारण लोगों के बीच सम्बन्ध बदलते रहते हैं।

(v) मनोवृत्तियों की व्यावहारिक उपयोगिता (Practical utility of attitudes)—समाज में मनोवृत्तियों की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण है कि विविध एजेन्सियों ने इनको मापने का प्रयास किया है। इस प्रकार, वस्तुओं का उत्पादक बाजार में ग्राहकों की मनोवृत्तियों को मापने का प्रयास करता है; रेडियो विभाग के अधिकारी विभिन्न रेडियो प्रोग्रामों के बारे में श्रोताओं की मनोवृत्ति को जानना चाहते है तथा फिल्म-निर्माता सिनेमा-दर्शकों की मनोवृत्ति को मापना चाहते हैं। व्यक्तियों की मनोवृत्ति को जानने की व्यावहारिक उपयोगिता को भुलाया नहीं जा सकता। प्रत्येक सरकार अपने कानूनों एवं अपनी नीतियों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया जानना चाहती है। यदि जनता की मनोवृत्ति प्रतिकूल होती है तो सरकार विभिन्न औपचारिक एवं अनौपचारिक विधियों से उसकी मनोवृत्ति को बदलने का प्रयास करती है। उदाहरणतया, साम्यवादी शासन ने चीन-निवासियों की राष्ट्रीय मनोवृत्तियों में काफी परिवर्तन किये; इसी प्रकार मुसोलिनी के अधीन इटली निवासियों की मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ। प्रत्येक स्थान पर हम लोगों तथा समूहों को विशिष्ट मनोवृत्तियाँ प्रकट करते देखते हैं। ये मनोवृत्तियाँ अंशतः सामाजिक स्थितियों के कारण उत्पन्न होती है तथा अंशतः शिक्षा-प्रणाली पर निर्भर होती हैं।

३. मनोवृत्तियों का वर्गीकरण

(Classification of Attitudes)

मनोवृत्तियों का कोई ऐसा वर्गीकरण करना जो सभी कालों में सभी व्यक्तियों पर लागू हो सके, कठिन है। जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, मनोवृत्तियाँ अन्तर्मुखी एवं सूक्ष्म होती हैं। ये चेतना की विधायें हैं जो हमारी सामाजिक अवस्थाओं, प्रशिक्षण एवं शिक्षा के कारण बदलती रहती हैं। मैकाइवर का कथन है कि "कोई भी मनोवृत्ति व्यक्ति में स्थिर नहीं पायी जाती। वह तो सदैव परिवर्तनशील मूल्यांकन (valuation) है—व्यक्तियों और वस्तुओं को मापने का एक प्रकार अथवा हमारे प्रति उनका अथवा उनके प्रति हमारे सम्बन्ध का निर्णय करने वाला एक ढङ्ग होता

है।" अतएव इन तथ्यों के कारण मनोवृत्तियों के किसी भी वर्गीकरण को पूर्ण एवं अन्तिम नहीं कहा जा सकता। यह केवल एक कृत्रिम वर्गीकरण ही हो सकता है।

मैकाइवर ने मनोवृत्तियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है, अर्थात् असहगामी (disassociative), प्रतिबन्धात्मक (restrictive), एवं सहगामी (associative)। असहगामी मनोवृत्तियाँ ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जो व्यक्तियों को मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों से दूर रखती हैं; प्रतिबन्धात्मक मनोवृत्तियाँ सामाजिक सम्बन्ध को सीमित कर देती हैं, जबकि सहगामी मनोवृत्तियाँ सामाजिक सम्बन्ध को बढ़ाती हैं। इन मनोवृत्तियों से प्रभावित मनुष्यों के सम्बन्धों में हीनता का भाव अथवा श्रेष्ठता का भाव अथवा इन दोनों का अभाव होता है। विभिन्न मनोवृत्तियों का वर्णन निम्नलिखित है—

(१) मनोवृत्तियाँ जो मनुष्य में हीनता का भाव उत्पन्न करती हैं—

(अ) असहगामी : भीति, भय, आतंक, डाह (envy), भीरुता।

(ब) सहगामी : कृतज्ञता, प्रतिस्पर्धा, अनुकरणात्मकता, वीरपूजा।

(स) प्रतिबन्धात्मक : श्रद्धायुक्त भय, श्रद्धा, पूजा, भक्ति, नम्रता, विनयशीलता, अनुसेवा, लज्जाशीलता, मिथ्या वैभव, प्रेम।

(२) मनोवृत्तियाँ जो मनुष्य में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न करती हैं—

(अ) असहगामी : विरक्ति, जुगुप्सा, प्रतिकूलता, अनादर, अपमान, अवज्ञा, उद्दण्डता, असहिष्णुता, उद्धतता।

(ब) सहगामी : दया, रक्षकता।

(स) प्रतिबन्धात्मक : गर्व, सरक्षता, सहिष्णुता, धैर्य।

(३) मनोवृत्तियाँ जिनमें श्रेष्ठता तथा हीनता का अभाव होता है।

(अ) असहगामी : घृणा, अरुचि, विमुखता, अविश्वास, सदेह, दुर्भावनापूर्णता, विद्वेष, क्रूरता।

(ब) सहगामी : सहानुभूति, स्नेह, विश्वास, कोमलता, प्रेम, मित्रता, दयालुता, शिष्टता, सहायकता।

(स) प्रतिबन्धात्मक : प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धात्मकता, ईर्ष्या।

वर्गीकरण विस्तृत नहीं (Classification not exhaustive)—मनोवृत्तियों के उपर्युक्त वर्गीकरण को पूर्ण या विस्तृत नही समझा जाना चाहिये। मनोवृत्तियाँ बहुधा मिश्रित एवं जटिल होती हैं, अतएव उनका व्यापक वर्गीकरण हो सकना कठिन होगा। केवल कुछेक मनोवृत्तियों के उदाहरण ही दिये जा सकते हैं जो सामाजिक सम्बन्धों को बढाते हैं या सीमित करते है या रोकते हैं। उदाहरणतया, भय की मनोवृत्ति जहाँ किसी समूह को दूसरे समूह से अलग कर सकती है, वहाँ वह इस समूह को तीसरे समूह से मिला भी सकती है। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के विरुद्ध एक ही समय मे सहगामी एवं असहगामी मनोवृत्ति रख सकता है। उदाहरणतया, जब कोई किसी लड़की को प्यार तथा उससे घृणा दोनो

करता है। यह एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसे फायड की भाषा में द्वैध वृत्तिक सिद्धान्त (principle of ambivalence) कहा गया है।

४. मनोवृत्तियों का मापन
(Measurement of Attitudes)

कुछ समाजशास्त्रियों ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि क्या मनोवृत्तियों को मापा जा सकता है? जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, मनोवृत्तियाँ व्यक्तिनिष्ठ एवं सूक्ष्म घटनावस्तु हैं। ये चेतना की जटिल एवं संशोधनशील प्रणालियाँ हैं। वे सामाजिक प्राणी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव बाह्य चिह्नों के द्वारा उनके गुणों को सरलता से नहीं समझा जा सकता।

मनोवृत्तिमापकों ने जिन विधियों का प्रयोग किया है, उनके द्वारा व्यक्ति की किसी पदार्थ के प्रति रुचि या अरुचि की मात्रा को जानने का प्रयास किया जाता है। संयुक्त राज्य में अनेक जनमत-संग्रह किये गये हैं, जिनके द्वारा कुछेक मामलों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति का अध्ययन किया गया है। गैलप (Gallup), रोपर (Roper) तथा अन्य ने अमेरिकी लोगों की मनोवृत्तियों का अध्ययन करने में विशेष कार्य किया है। परन्तु इनके द्वारा किये गये मतसंग्रह को अचूक नहीं कहा जा सकता। इन मतसंग्रहों पर आधारित पूर्वकथन ठीक नहीं निकले हैं। इसके अतिरिक्त, इन मतसंग्रहों से राजनीतिक मनोवृत्तियों की सुनिश्चित प्रवृत्ति अथवा विशुद्ध गहनता के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती, यद्यपि इनसे राजनीतिक दलों एवं उनके उम्मीदवारों के बारे में जनता की स्वीकृति एवं अस्वीकृति की सापेक्षिक मात्रा का पता लग जाता है। जनमत-संग्रह मनोवृत्तियों को मापने में सहायक हो सकते हैं, परन्तु ये स्वयं सामाजिक वास्तविकता का गम्भीर विश्लेषण नहीं कर सकते। मनोवृत्तियाँ पूर्ण मानव-व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियाँ तथा व्यक्तिनिष्ठ तत्व हैं, अतएव उन्हें मापने के लिये गहनतम विश्लेषण की आवश्यकता है।

जहाँ तक मनोवृत्तियों को मापने के पैमानों का प्रश्न है जिनका प्रश्नकर्ताओं द्वारा प्रयोग किया जाता है, ये पैमाने नियंत्रित बहुल-अनुक्रिया प्रश्नों के संग्रह होते हैं, जिनमें अनेक दोष होते हैं। उनसे कृत्रिम उत्तर प्राप्त हो सकते हैं जो बहुधा मूर्खतापूर्ण होते है। तीन प्रसिद्ध पैमाने लाइकर (Liker), थर्सटोन (Thurstone), एवं गटमैन (Guttman) के हैं।

५. हितों के प्रकार
(Types of Interests)

समान एवं सामान्य हित (Like and common interests)—इसी अध्याय में पहले बतलाया जा चुका है कि हित समान एवं सामान्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं, जबकि मनोवृत्तियाँ समान हो सकती हैं, सामान्य नहीं। समान एवं सामान्य हितों के बीच मूलभूत अन्तर है। साधारणतया 'समान' तथा 'सामान्य' दोनों शब्दों को समानार्थक समझा जाता है। इस प्रकार हम बहुधा

'सामान्य आदतों' शब्द का प्रयोग करते हैं । परन्तु वास्तव में आदतें समान होती हैं, सामान्य नहीं । "समान वह हित है जो व्यक्तियों में बँटा हुआ है और प्रत्येक व्यक्ति में वैयक्तिक रूप में भी विद्यमान है । किन्तु सामान्य वह हित है जो व्यक्तियों मे सामूहिक रूप से विद्यमान है और जिसका अंश मनुष्य अविभक्त रूप में पाते हैं।" समान हित सामान्य हितों को जन्म दे सकते हैं। उदाहरणतया, दो व्यापारी लाभ कमाने के सम्बन्ध मे साझेदारी बना लेते हैं जो उनकी सामान्य फर्म बन जाती है। समानता सामान्यता का स्रोत है । जहाँ एक ओर, समान हित उसी लाभ के लिये प्रतियोगिता को जन्म देते हैं, वहीं दूसरी ओर, सामान्य हित सहयोग की ओर प्रेरित करते हैं । प्रत्येक समाज के सामने यह समस्या रहती है कि समान हितों को सामान्य हितों में कैसे परिवर्तित किया जाय ।

बहिर्मुखी हित (Exclusive interests)—हित बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी दो प्रकार के हो सकते हैं । बहिर्मुखी हित सामाजिक सम्बन्ध को सीमित कर देते हैं अथवा व्यक्तियों एव समूहों को बाँट देते है । मनुष्य 'स्वयं' के बारे में ही सोचता है तथा दूसरों से घृणा करने लगता है । वह लोगों को 'हम' और 'वे' में विभक्त कर देता है। वह 'हम' के प्रति भक्ति रखता है तो 'वे' के प्रति विद्वेष । इससे व्यक्तिगत एवं समूह स्तर पर पूर्वाग्रहों का जन्म हो जाता है । परिणामस्वरूप, व्यक्तियों एवं समूहो के बीच घोर विभाजन एवं प्रतियोगिता की भावना का विकास हो जाता है जिससे शांति एवं समन्वय के मार्ग में उग्र समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। आधुनिक सभ्यता के सम्मुख यही समस्या है। राष्ट्र के अन्दर विभिन्न समूह—सांस्कृतिक, प्रजातीय, आर्थिक—अपने तनावो और संघर्षों से राष्ट्र की एकता तथा समष्टि कल्याण को बहुत हानि पहुँचाते है । संसार के विभिन्न राष्ट्र अपने हितो को दूसरे राष्ट्र के हितों से ऊपर रखते हैं, जिससे पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उत्पन्न होती है । विश्व-शांति के हित में बहिर्मुखी हितों को सीमित करने की आवश्यकता है ।

अन्तर्मुखी हित (Inclusive interests)—अन्तर्मुखी हित सहयोग को बढ़ावा देते हैं । ये हित सामान्यतया लाभरहित होते हैं, जैसे कला, विज्ञान, धर्म या खेल-कूद सम्बन्धी हित । विज्ञान अथवा कला में व्यक्ति का हित सामान्य हित है जहाँ तक वह उसे केवल 'अपने' लिये नही, अपितु 'इसके' लिये सुयोग्य लक्ष्य मानता है। यदि विज्ञान में उसका हित इसलिए है कि इससे उसे धन की प्राप्ति होती है तो उसमें सामान्य हित का अभाव है और वह असतोषजनक विज्ञानवेत्ता है। यह सत्य है कि मनुष्य स्वार्थी एवं आत्मकेन्द्रित होता है । अपने निजी हितो की चिन्ता करना उसके लिये स्वाभाविक है, परन्तु उसके लिये यह भी उतना ही आवश्यक है कि वह आर्थिक अथवा स्व-उपयोगी पदार्थों की पूर्ति में आनन्द प्राप्त करे । यह भी स्पष्ट है कि यदि हमारे सभी हित आत्म-सीमित हों तो समाज टिक नही सकता । मनुष्य मे आत्मकेन्द्रीयता और समाजकेन्द्रीयता, दोनो तत्व होते हैं। वह अपने लिये जीवित रहता है और साथ ही दूसरों के लिये भी । यदि दूसरे व्यक्ति केवल हमारी इच्छाओं की पूर्ति के साधन होते तो हम सब सामाजिक प्राणियों के रूप में एकसाथ बँधे न होते । मानव-व्यवहार के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-क्रिया में समान अथवा आत्म-सीमित तथा सामान्य, दोनों हित सम्मिलित होते हैं।

व्यक्तियों का संग्रह एक समाज बन जाता है। इसलिए नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति में जीवन-अन्तर्वस्तु (life content) होती है जो उसे प्रेरित करती है, परन्तु इसलिए बन जाता है क्योंकि व्यक्तियों में पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष होते हैं। पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) के अनुसार, सामाजिक अन्त.-क्रिया द्वैध प्रकार की होती है, व्यक्तियों का व्यक्तियों के साथ तथा समूहों का समूहों के साथ अन्तःक्रिया।

प्रेरणा (Motivation)—प्रेरणा के प्रश्न पर हम केवल कुछेक शब्द कहेंगे। समाज में हम किसी व्यक्ति के व्यवहार में निहित प्रेरणा की खोज करने का प्रयास करते हैं, विशेषकर जब उसका कोई व्यवहार अप्रत्याशित होता है। मनोवृत्तियों एवं हितों की जटिल सरचना में कोई एक या अधिक प्रबल कारक होता है जो एक विशिष्ट स्थिति में हमारे व्यवहार की व्याख्या करता है। इस कारक को 'प्रेरणा' कहा जा सकता है। इस प्रकार, प्रेरणाएँ हमारी क्रियाओं को उत्तेजित करने वाली शक्तियाँ हैं जो हमारे कार्यों एवं उनकी अभिव्यक्ति की तह में विद्यमान हैं। प्रेरणा मनुष्य को किसी कार्य के प्रति उत्तेजित करती है। यह हितों से भिन्न है, क्योंकि हित किसी कार्य का लक्ष्य होता है।

प्रेरणा तात्कालिक या परम, चेतन अथवा अचेतन हो सकती है। यदि कोई व्यापारी किसी साहित्यिक क्लब का सदस्य बनता है तो इसके पीछे उसकी तात्कालिक प्रेरणा राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना हो सकती है। कोई व्यक्ति किसी मनोरंजन क्लब का सदस्य खेल और मनोरंजन की चेतन प्रेरणा से बन सकता है, परन्तु इसके पीछे उसकी कोई अचेतन प्रेरणा हो सकती है जिसके द्वारा वह जीवन के कुछ क्षेत्रों मे असफलता की क्षति को पूरा करना चाहता हो। चेतन अथवा अचेतन प्रेरणाओं के बारे में बहुत सारा मनोविश्लेषक साहित्य उपलब्ध है।

प्रश्न

१. हितों तथा मनोवृत्तियो मे क्या अन्तर है? विभिन्न प्रकार की मनो-वृत्तियो का वर्णन कीजिए।

२. हित का क्या अर्थ है? समाज में इसका क्या महत्व है?

३. प्रेरणा पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय ८

सामाजिक क्रिया के तत्व

[ELEMENTS OF SOCIAL ACTION]

समाजशास्त्र समाज में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन है। मनुष्य का व्यवहार प्रतिमानों एवं स्थितियो द्वारा परिभाषित होता है। परन्तु प्रतिमान ही केवल इस तथ्य की व्याख्या नही कर सकते कि कोई व्यक्ति किसी परिस्थिति में किसी विशिष्ट ढग से क्यो व्यवहार करता है, क्योकि रुचि, विचार, भावना एवं सहजानुभूति जैसी कुछ बातें उसकी प्रत्येक क्रिया मे अनिवार्यत. निहित होती हैं। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान मानव-मन की आन्तरिक क्रियाशीलता के सम्बन्ध मे कुछ मान्यता लेकर चलता है। व्यक्ति के व्यवहार को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन मान्यताओ की व्याख्या की जाय। इस प्रकार, मानव-व्यवहार के प्रत्येक सिद्धान्त में मानव क्रिया के तत्वों को ध्यान मे रखा जाना चाहिये। इस अध्याय मे हम इन तत्वो का उल्लेख करेंगे।

१. तत्वों की परिभाषा

(Definition of the Elements)

क्रिया वह व्यवहार है जो किसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर आरम्भ की जाती है। इसमे विचार एव क्रियान्वन की प्रक्रिया निहित होती है। इस प्रकार मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि, यथा गाना, हँसना, रोना, खाना, पढना, खेलना, लड़ना, आदि को क्रिया कहा जा सकता है। परन्तु चूंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अत. वह अपनी क्रियाएँ सामाजिक संदर्भ में करता है। **मैक्स वैबर** (Max weber) ने लिखा है, "क्रिया तब सामाजिक होती है, जब कार्यवाहक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा सम्बद्ध आत्मपरक अर्थ के कारण, यह दूसरे व्यक्तियो के व्यवहार को ध्यान मे रखती है जिसके कारण इसका प्रवाह वर्द्धमानित हो जाता है।"[1] टालकोट पारसन्स (Tolcott Parsons) ने सामाजिक क्रिया के चार तत्वों का वर्णन किया है—(१) कर्ता (actor), (२) लक्ष्य (end), कार्यवाहक के मन मे भावी कार्यो की व्यवस्था जिसकी ओर कार्य की प्रक्रिया में कार्य करना है, (३) परिस्थितियाँ जिनके ऊपर कर्ता का कोई नियंत्रण नही होता, तथा (४) साधन, परिस्थिति जिसके ऊपर मनुष्य का नियंत्रण होता है।

इस प्रकार, व्यक्ति के कार्य की व्याख्या करते समय, उपर्युक्त चारों तत्व ध्यान में रखे जाने चाहिये। इनमें से प्रत्येक तत्व अनिवार्य है, क्योंकि एक को दूसरे से व्युत्पन्न नही किया जा सकता। वे विश्लेषण की दृष्टि से विभिन्न हैं। लक्ष्यो की

---

1. Weber, Max, *Theory of Social and Economic Organisation*, p 80.

व्युत्पत्ति साधनों से अथवा साधनों की परिस्थितियों से नहीं की जा सकती। इन तत्वों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

(१) कर्ता (Actor)

कर्ता सामाजिक क्रिया का पहला तत्व है। यद्यपि प्रत्येक क्रिया में कर्ता निहित होता है, अतएव कर्ता के तत्व को बिना किसी व्याख्या के स्वीकृत किया जा सकता है, तथापि इसे एक स्वतन्त्र तत्व के रूप में रखना वांछनीय होगा। जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक क्रिया का कारक (agent) होता है तो इसका अभिप्राय कारक (कर्ता) के शरीर से नही होता, अपितु 'आत्म' या 'अहम्' से होता है। यह 'अहम्' (ego) है जो कार्य करता है, व्यक्ति नहीं। 'अहम्' आत्मपरक सत्ता है, जिसमे जागरूकता होती है तथा जिसके पास अनुभव होता है। इस जागरूकता का विकास 'आत्म' के विकास के दौरान होता है। ज्योंही 'आत्म' का विकास होता है, मनुष्य में 'मैं' और 'मुझको' की भावना उत्पन्न हो जाती है। यह 'मैं' है जो प्रतिबिम्बित होकर कार्य करता है। भाषा और श्रेष्ठ बुद्धि का स्वामी होने के कारण मनुष्य में विचार करने की अनुपम क्षमता होती है। इस क्षमता के कारण मनुष्य अपने लिये कर्म बन जाता है, जिससे 'अहम्' का विकास होता है।

इस प्रकार, मानव-व्यवहार का अध्ययन करते समय, व्यवहार के केवल बाह्य पक्ष के पर्यवेक्षण से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, अपितु व्यवहार मे निहित आन्तरिक व्यक्तिनिष्ठ अनुभव की भी खोज करनी चाहिये। मनुष्य जिस प्रकार सोचता है, जिस ढंग से वह संसार को देखता है, तथा जिस दृष्टि से वह अनुभव करता है, इन सब बातों का अध्ययन भी उसके व्यवहार को समझने की अपरिहार्य कुंजी है।

(२) लक्ष्य (End)

अगला तत्व जो मानव-व्यवहार की व्याख्या में सहायक है, वह लक्ष्य है जो मनुष्य को कार्य की ओर प्रेरित करता है। लक्ष्य "कार्यों की भावी व्यवस्था का वह भाग है जो यदि कर्ता न चाहे एव इसकी प्राप्ति-हेतु परिश्रम न करे, घटित नहीं हो सकता।" लक्ष्य केवल मात्र परिणाम से भिन्न है। यदि कार्यों की भावी व्यवस्था कर्ता के किसी परिश्रम के बिना फलित होती है, तो इसे लक्ष्य नही कहा जा सकता। लक्ष्य मे उसकी प्राप्ति की 'इच्छा' तथा तदर्थ 'प्रयत्न' दोनों तत्व पूर्वनिहित हैं। कृषक चाहता है कि अगले सप्ताह वर्षा हो जाय, परन्तु वर्षा होगी अथवा नहीं, यह उसके नियत्रण से बाहर है। वर्षा, अतएव उसका लक्ष्य नही है, अपितु वह यह मानकर बीज बोता है कि यदि वर्षा हो गयी तो बीज उगेंगे। फसल की भावी उपज उसका एक आंशिक लक्ष्य है यदि सब बातें ठीक घटित होती हैं और फसल उग जाती है। यह आंशिक रूप से इसलिए हुआ कि उसने उस लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु परिश्रम किया।

यह ध्यान रखना चाहिए कि लक्ष्य चुने जाते हैं। लक्ष्यों का चुनाव मूल्यो से प्रभावित होता है। मूल्य उसे कहते हैं जिसे वांछित एवं अनुसरण-योग्य समझा जाता है। चुनाव करते समय कर्ता अंशत. अपनी भावनाओं से एवं अंशतः जैविक

अभिप्रेरणाओं से प्रभावित होता है। दूसरे शब्दों में, लक्ष्य कर्ता द्वारा परिलक्षित किसी स्थिति के प्रति मूल्य या भावना का विशेष प्रयोग है।

लक्ष्य का सम्बन्ध सदैव भविष्य से होता है, अतएव इसे "कार्यों की भावी व्यवस्था" भी कहा जाता है, ऐसी वस्तु जो अब अस्तित्व में नहीं है। मनुष्य अपने लक्ष्य का चुनाव करते समय अपनी कल्पना का प्रयोग करता है तथा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अतएव, लक्ष्य में कल्पना, प्रयत्न एवं इच्छा का प्रयोग निहित है।

कुछ समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों और सामाजिक मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि व्यक्ति का व्यवहार उस स्थिति का, जिसमें वह होता है, अधिकांशतया प्रतिबिम्ब है। उस स्थिति में कुछ सामाजिक शक्तियाँ निहित होती हैं जो किसी समय में उसके व्यवहार को निर्धारित करती हैं। निःसंदेह, सामाजिक शक्तियाँ मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित अवश्य करती हैं, तदपि 'लक्ष्य' के तत्व को व्यवहार की व्याख्या करते समय ओझल नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि सभी कार्यों के पीछे किसी लक्ष्य की प्राप्ति का उद्देश्य न हो, तदपि अधिकतर कार्य जिनका स्वरूप सामाजिक होता है, किसी ध्येय को दृष्टि में रखकर ही किये जाते हैं।

(३) परिस्थितियाँ (Conditions)

व्यक्ति क्या कुछ प्राप्त कर पाता है और क्या नहीं, यह अधिकांशतया उसके चारों ओर की परिस्थितियों पर निर्भर है। परिस्थितियाँ लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में बाधक होती हैं। वे ऐसी सीमा निश्चित कर देती हैं जिनके अन्दर रहकर ही ध्येय को प्राप्त किया जा सकता है। लक्ष्य की सफलतापूर्वक प्राप्ति के लिये इन बाधाओं पर विजय पाना आवश्यक है।

ये परिस्थितियाँ बाह्य एवं आन्तरिक दोनों हो सकती हैं। बाह्य परिस्थितियों का तात्पर्य है—भौतिक पर्यावरण या सामाजिक कानून। आन्तरिक परिस्थितियाँ मनुष्य की अपनी शरीर-रचना से सम्बन्धित होती हैं। बहुत से व्यक्ति जो महान् कवि बनना चाहते हैं, नहीं बन पाते, क्योंकि उनमें बुद्धि नहीं होती। इस प्रकार हीन व्यक्तित्व ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है कि लक्ष्य-प्राप्ति असम्भव हो जाय।

यदि परिस्थितियाँ बाधाएँ उत्पन्न करती है, तो वे साधनों का स्रोत भी हो सकती है। भौतिक वातावरण, सामाजिक कानून एवं वैयक्तिक गुण कर्ता को उसकी लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। कोई वस्तु बाधा है या साधन, यह स्थिति पर निर्भर करता है।

यह ध्यान रखा जाय कि व्यक्ति ऐसे लक्ष्यों की कभी कामना न करे जो अप्राप्य हैं, क्योंकि लक्ष्य-प्राप्ति में बार-बार असफलता उसके व्यक्तित्व का विघटन कर सकती है। उन्हें अपनी कल्पना की उड़ानें निराशा से बचने के लिये वास्तविकताओं को सम्मुख रखकर भरनी चाहिये। व्यक्ति को न तो बहुत अधिक और न बहुत ही कम की कामना करनी चाहिये।

(४) साधन (Means)

लक्ष्य-प्राप्ति के लिये साधनों का प्रयोग करना आवश्यक है। साधनों का चयन सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिये। महात्मा गांधी साधनों की पवित्रता पर बहुत बल देते थे। साध्य एवं साधन अन्त.सम्बन्धित हैं। जैसे साधन होगे, वैसा ही लक्ष्य होगा। कभी-कभी एक ही साध्य एक से अधिक साधनो द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जिससे कर्ता को साधनों के चयन मे पर्याप्त स्वतन्त्रता मिल जाती है। ऐसी स्थिति में कर्ता गलती कर सकता है, क्योंकि हो सकता है कि उसके द्वारा चयित साधन कुशलतम न हो।

जो एक के लिये साधन है, दूसरों के लिये वह परिस्थिति हो सकती है। इस प्रकार जो व्यक्ति मशीन चलाना जानता है, वह उसके लिये उपयोगी यंत्र है, परन्तु जो नही जानता, उसके लिये वह एक परिस्थिति है। इस प्रकार, किसी स्थिति का कोई भाग साधन है या परिस्थिति, यह उस भाग पर इतना आश्रित नही जितना कि कर्ता पर आश्रित है।

२. साधनों की तर्कसंगति की समस्या
(Problem of Rationality of Means)

लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु साधनो का ठीक प्रकार चयन किया जाना चाहिये। साधन ऐसे होने चाहिये जिनसे लक्ष्य-प्राप्ति हो सके। परन्तु कभी-कभी चयित साधनों से लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति मे, हो सकता है, साधनों का चुनाव तर्कसंगत न हो। तर्कसंगत एवं प्रयासी व्यक्ति होने के फलस्वरूप मनुष्य केवल तर्कसंगत साधनों को ही अपनाने का प्रयत्न करता है, परन्तु फिर भी गलती हो सकती है। गलती के अनेक कारण हैं—

(१) परानुभविक साध्य (Super-empirical ends)—गलती का पहला कारण स्वयं ध्येय हो सकते हैं। कुछ व्यक्ति काल्पनिक ध्येयों के लिये प्रयास करते हैं, उदाहरणतया, मोक्ष पाने के लिये। ऐसा ध्येय तो केवल दूसरे जन्म में ही प्राप्त हो सकता है, और क्योंकि यह ध्येय परानुभविक संसार में कार्यो की भावी व्यवस्था की कल्पना करता है, अतएव वैज्ञानिक ढग से यह सिद्ध करना कठिन होगा कि क्या इस ध्येय की प्राप्ति-हेतु चयित साधन समुचित हैं? परिणामतः ऐसे मामलों मे लक्ष्यों की तर्कसंगति का प्रश्न अप्रासंगिक हो जाता है। वह व्यक्ति जो 'काली' देवी की तुष्टि हेतु अपने बच्चे की बलि देता है, वह भी अपने साध्य के लिये साधन अपना रहा है, परन्तु उसके साधनों का चयन कार्य-कारण के ज्ञान से रहित है एवं केवल निरंकुश परम्परा पर आधारित है। यद्यपि ऐसे मनुष्य को विश्वास है कि उसके कार्य से लक्ष्य की प्राप्ति होगी, परन्तु उसके साध्य एवं साधनो के बीच कोई तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं देखा जा सकता। वह ऐसे सम्बन्ध को केवल मात्र विश्वास के आधार पर, न कि साध्य के आधार पर स्वीकार कर लेता है।

हिन्दुओं मे अनेक धार्मिक सस्कार ऐसे है, जिनके पीछे कोई तर्कसंगति नही है; तथापि ये संस्कार लोगों को सामाजिक अतिजीविता के लिये लाभदायक विधि

से व्यवहार करने की ओर प्रेरित करते हैं। ऐसे संस्कारों में 'सबूत' का कोई प्रश्न नहीं उठता। न तो गलती दिखलाई जा सकती है और न तर्कसंगति को सिद्ध किया जा सकता है।

(२) लक्ष्य की अस्पष्टता (Haziness of the end)—कभी-कभी कर्ता अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में इसलिए असफल हो जाता है कि उसका ध्येय स्पष्ट नहीं होता। वह केवल किसी विशेष लक्ष्य की कामना कर बैठता है, इस बात पर विचार किये बिना कि प्रयत्नों के बाद या उनके बिना कार्यों की भावी स्थिति क्या हो सकती है। वह उसी कार्य के भिन्न-भिन्न लक्ष्यों में भी भेद कर सकने में असमर्थ रहा होगा। जब उसे अपने द्वारा आकांक्षित लक्ष्य की कोई स्पष्ट विचारणा ही नहीं होती तो वह स्वाभाविक प्रयुक्त साधनों के प्रभाव का सही मूल्यांकन करने में असफल हो जाता है। वह सफल अथवा असफल हो सकता है, इस बात को जाने बिना कि ऐसा क्यों हुआ।

(३) अज्ञानता (Ignorance)—तर्कहीन व्यवहार का अगला कारण अज्ञानता या ज्ञान का अभाव हो सकता है। कर्ता केवल उन्हीं साधनों का प्रयोग कर सकता है जिनकी उसे जानकारी है, और वह सभी सम्भव साधनों से परिचित भी नहीं होता। वह कभी-कभी गलती से कोई ऐसी वस्तु पसन्द कर लेता है जो उसकी समझ में उसके लिये उपयोगी होगी। उदाहरणतया, एक व्यक्ति गलत गाड़ी पर सवार हो जाता है। पुन वह ऐसी वस्तु से अनभिज्ञ हो सकता है जिसे उसे जानना चाहिये था, क्योंकि यह उसकी संस्कृति का अंग है, परन्तु जिसे उसने कभी या तो सीखा नहीं या भूल गया है। व्यक्ति को ऐसी गलतियों का दोषी ठहराया जाता है, क्योंकि वह ऐसी वस्तु से अनभिज्ञ है जिसका उसे ज्ञान होना चाहिये था।

(४) आदर्शक प्रतिबन्ध (Normative Restrictions)—प्रतिमान समाज में मानव-व्यवहार को काफी प्रभावित करते हैं। वे न केवल वांछित लक्ष्यों को, अपितु इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये साधनों को भी नियंत्रित करते हैं। ये प्रतिमान व्यक्ति को कुछ साधनों का प्रयोग करने से मनाही करते हैं, जिनसे यद्यपि लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती थी, परन्तु जो उसके लिये वर्जित हैं। उदाहरणतया, एक ब्राह्मण जो स्वयं को डाक्टर द्वारा सिखलाये जाने की मनाही करता है, क्योंकि वह निम्न जाति का है यही प्रकार के साधनों के प्रयोग से वंचित रह जाता है, जिसका कारण अस्पृश्यता की वर्जना है। साधनों के प्रयोग पर वर्जना के आधार पर लगाये गये प्रतिबन्ध अनभिज्ञता के परिचायक होते हैं। ब्राह्मण से आशा की जाती है कि वह हरिजन डाक्टर को अपनी नब्ज न छूने दे अथवा उससे अपना इलाज न करवाये, यद्यपि वह जानता है कि डाक्टर उसका इलाज कर सकता है। इस प्रकार, प्रतिमान कर्ता के उपलब्ध साधनों को सीमित कर देते हैं। यद्यपि समूहों की एकता को बनाये रखने में प्रतिमानों के मूल्य के बारे में कुछ कहा जा सकता है, तथापि वे कारण जो प्रतिमानों की आवश्यकता को सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं, साधनों के चयन-क्षेत्र को सीमित करने के विषय पर भ्रामक व्याख्याएँ हैं।

संक्षेप में, व्यक्ति तर्कहीन साधनों का प्रयोग कर सकता है, क्योंकि—

(i) उसके लक्ष्य परानुभाविक हैं;
(ii) उसके लक्ष्य अस्पष्ट हैं;
(iii) उसे साधनों का सही ज्ञान नही है;

(iv) उसके द्वारा साधनों के चुनाव को प्रतिमानो द्वारा सीमित किया गया है।

यद्यपि मनुष्य का व्यवहार अतार्किक हो सकता है, तदपि उसे भ्रम हो सकता है कि उसका व्यवहार तार्किक है। इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि केवल उन्ही साधनों पर केन्द्रित रहती है, जिन्हें वह जानता है। तर्कसगति का ऐसा भ्रम उसके 'अहम्' तथा उसके समाज, दोनो के लिये सुरक्षा का कार्य करता है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्णतया तर्कसंगत व्यवहार के आधार पर निर्मित नही होती, और न ही यह ऐसी तर्कसगति होती है, जैसी दिखाई देती है। तर्कसंगति का भ्रम सर्वव्यापक है। सामाजिक विज्ञान भी इसके शिकार हैं, क्योंकि वे अपनी विषय-वस्तु का पूर्णतया निष्पक्ष एव स्पष्ट वर्णन नहीं करते। अनेक सामाजिक विज्ञान मानव-व्यवहार को तर्कसंगत मानकर उसकी व्याख्या करते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके द्वारा मानव-व्यवहार की व्याख्या में बहुत से दोष आ जाते हैं।

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि मनुष्य का सारा कार्य तर्कसंगत नही होता और न ही सफलता के लिये ऐसा होने की आवश्यकता है। तर्कसंगति केवल एक तत्व है। इसके अतिरिक्त अन्य तत्व भी हैं जो परिणाम को प्रभावित करते हैं।

३. लक्ष्यों का समाकलन

(Integration of Ends)

सामाजिक समरसता के लिये लक्ष्यो के समाकलन की समस्या एक महत्वपूर्ण समस्या है। जिस प्रकार व्यक्ति को अपने विभिन्न लक्ष्यों को निराशा से बचाने के लिये समरस विधि से समजन करना होता है, उसी प्रकार समाज में सामाजिक जीवन को शातमय एव प्रसन्नतर बनाने के लिये विभिन्न व्यक्तियो के लक्ष्यों से समरसतापूर्ण समंजन करना पडता है। संघर्ष से बचने के लिये एक व्यक्ति के लक्ष्यों को दूसरे व्यक्ति के लक्ष्यों के साथ सतुलित किया जाना चाहिये। समाज मे, जैसा हमको ज्ञात है, विभिन्न व्यक्तियो के विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिये दुर्लभ पदार्थों एवं सेवाओं को इस प्रकार वितरित करने की निरन्तर आवश्यकता है कि व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था से संतुष्ट रहे।

व्यक्ति के लिये तो अपने दुर्लभ साधनों को विभिन्न लक्ष्यों मे बांटना सुगम है, परन्तु समाज के लिये दुर्लभ साधनो और सेवाओं को विभिन्न व्यक्तियो के विभिन्न लक्ष्यो में इस प्रकार बाँटना जिससे सभी व्यक्ति संतुष्ट हो, कठिन है, क्योंकि व्यक्ति अपने मामले में तो मार्गदर्शक हो सकता है, परन्तु समाज के पास ऐसा कोई मापदण्ड नही है जिसके द्वारा वह विभिन्न व्यक्तियों के लक्ष्यो के सापेक्ष महत्व का अंकन कर सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने लक्ष्यों की समाज में प्राथमिकता चाहता है,

क्योंकि वह उन्हें दूसरे व्यक्तियों के लक्ष्यों से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। इस प्रकार समाज को समुदाय के विभिन्न सदस्यों में दुर्लभ पदार्थों को बाँटने के लिये किसी समुचित आधार को ढूंढने में कठिन स्थिति का सामना करना पड़ता है। तदपि समाज में लक्ष्यों का समाकलन है, क्योंकि ऐसे समाकलन के बिना सामाजिक संरचना जीवित नहीं रह सकती। प्रश्न यह है कि यह समाकलन किस प्रकार प्राप्त किया जाता है ?

लक्ष्यों का आर्थिक समाकलन (Economic Integration of Ends)

जबकि लक्ष्यों की संतुष्टि के लिये प्रतियोगिता है, तो दूसरी ओर प्रयुक्त किये जा सकने वाले साधनों पर सीमायें हैं। हर कोई अपने लक्ष्यों का तर्कसंगत ढंग से अनुसरण नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये दूसरों के साथ धोखा करता है, तो दूसरे भी बदला ले सकते हैं। इससे संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जिसमें कोई भी समूह सुरक्षित नहीं रह सकता। इस प्रकार, समूह की एकता को बनाये रखने के लिये साधनों पर कुछ सीमाएँ लगानी पड़ती हैं। व्यक्ति किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसके बदले में कुछ वस्तु को देने के लिये तैयार हो जाता है। इस प्रकार, विभिन्न लक्ष्यों की पूर्तिहेतु अनेक साधन वस्तुओं एवं सेवाओं के प्रतियोगात्मक विनिमय के द्वारा वितरित कर दिये जाते हैं, परन्तु विनिमय-प्रणाली कुछ नियमों या प्रतिमानों द्वारा नियमित होती है। इन नियमों का निर्माण तथा क्रियान्वयन सरकार या समुदाय द्वारा कानूनों या प्रतिमानों के माध्यम से किया जाता है।

लक्ष्यों का राजनीतिक समाकलन (Political Integration of Ends)

सरकार प्रतियोगिता के नियमों को क्रियान्वित करती है। परन्तु सरकार को इन नियमों को क्रियान्वित करने की सत्ता कहाँ से प्राप्त होती है ? राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने वाले व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से किस प्रकार भिन्न हैं ? निश्चय ही शरीर-रचना के रूप में उनमे कोई अन्तर नहीं है। उनको भिन्न करने वाला तत्व उनकी सामाजिक रूप से निर्धारित स्थितियाँ हैं। वे अपनी स्थितियों एवं अपने कार्य में समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा समूह उन्हें समूह के नियमों का पालन करवाने के लिये बल-प्रयोग का अधिकार देते हैं। यद्यपि सत्ताधारी द्वारा अपनी सत्ता का स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रयोग किये जाने का भय है, तथापि समाज उसके बिना चल नहीं सकता। समाज में अधिकारयुक्त व्यक्ति होने ही चाहिये। जैसा पूर्व में ही कहा चुका है कि समाज एक अत्याचारी, एक राजा, एक निर्वाचित राष्ट्रपति अथवा एक डाकू की अधीनता में रह सकता है, परन्तु यदि शीर्ष पर कोई व्यक्ति न हो तो समाज चल नहीं सकता। राजनैतिक सत्ता आदेश एवं कानून जारी करके, जिसकी पृष्ठभूमि में बल की सपुष्टि रहती है, विभिन्न व्यक्तियों के लक्ष्यों का शमाकलन करती है।

लक्ष्यों का धार्मिक-नैतिक समाकलन (Religious Moral Integration of Ends)

यदि व्यक्तियों के लक्ष्य प्रतियोगी हैं तो उनके कुछ लक्ष्य सामान्य भी हैं, सामान्य इस अर्थ में कि सम्पूर्ण समुदाय उनका सम्भागी है। ये लक्ष्य स्वयं व्यक्ति की भावी स्थिति का इतना निर्देश नहीं करते जितना कि समूह का। ये लक्ष्य

समूह की रूढ़ियों (mores) में समाहित हो जाते हैं जो यह प्रकट करते हैं कि व्यक्तियों के विचारानुसार समूह का संगठन किस प्रकार होना चाहिये। उदाहरणतया, यह रूढ़ि कि पिता को अपनी पुत्री के साथ विवाह नहीं करना चाहिये, एक विचारणा को प्रकट करती है कि समूह को कैसे व्यवस्थित किया जाय। यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसके लिये समूह का प्रत्येक व्यक्ति कार्य करता है। केवल इतना ही नहीं, वह यह भी देखता है कि कोई व्यक्ति इस रूढ़ि का उल्लंघन न करे। वह इस लक्ष्य को अनेक अन्य लक्ष्यों से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। वह अपनी पुत्री से विवाह करने के बजाय भूखा मर जायगा। वह किसी भी ऐसे व्यक्ति को दबाने एवं समाजच्युत करने को तैयार है, जो इस लक्ष्य का इच्छुक नहीं है।

ऐसे लक्ष्य समूह के सामान्य लक्ष्य होते हैं। ये न केवल सामान्य होते हैं, अपितु परम भी होते हैं। इनसे ऊपर अन्य कोई लक्ष्य नहीं होते। ये केवल अपने में अच्छे होने के कारण स्वीकृत होते हैं। व्यक्ति की स्वयं-संतुष्टि इनके अधीन होती है। समाज के सदस्यों द्वारा अपनाये गये ये सामान्य परम लक्ष्य मानव-समाजों में लक्ष्यों का समाकलन करते हैं। ऐसे लक्ष्य लक्ष्यों की शृंखला में सर्वोपरि स्थित होते है और निचले सभी लक्ष्यों को नियंत्रित करते हैं। इन सामान्य परम मूल्यों के संदर्भ में ही समाज मे विभिन्न व्यक्तियों के लक्ष्यों का अंकन एवं समाकलन किया जाता है।

प्रश्न

१. सामाजिक क्रिया का क्या अर्थ है ? सामाजिक क्रिया के विभिन्न तत्वों का वर्णन कीजिए।

२. "सभी कार्य तर्कसंगत नहीं होते, न लक्ष्य-प्राप्ति के लिये उनके तर्कसंगत होने की आवश्यकता है।" साधनों की तर्कसंगति की समस्या पर विचार कीजिए।

३. समाज में मनुष्य के तर्कहीन व्यवहार की व्याख्या आप किस प्रकार करेंगे ?

४ "समाज व्यक्तियों का ऐसा संग्रह है जो सामान्य परम मूल्यों मे विश्वास करता है तथा इनका अनुसरण करता है।" वर्णन कीजिए। समाज में लक्ष्यों का समाकलन कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

अध्याय १

सामाजिक अन्त:क्रिया

[SOCIAL INTERACTION]

१. सामाजिक अन्त:क्रिया का अर्थ

(Meaning of Social Interaction)

मनुष्य सामाजिक-सास्कृतिक प्राणी है, तथा समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक एवं आवश्यक दोनों है। मनुष्य के लिये अकेला रहना कठिन है। वे सदैव समूहों एवं समितियों में रहते हैं। समूह के सदस्य के रूप मे वे एक विशेष प्रकार से कार्य एवं व्यवहार करते हैं। एक व्यक्ति का व्यवहार दूसरे व्यक्तियो के व्यवहार से प्रभावित होता है। यह अन्त क्रिया सामाजिक जीवन का सार है। व्यवहार-प्रणालियाँ अन्त.क्रिया से विकसित होती हैं। ग्रीन (Green) के अनुसार, "सामाजिक अन्तःक्रिया वे पारस्परिक प्रभाव हैं, जो व्यक्ति एवं समूह अपनी समस्याओं को हल करने एवं अपने लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयत्न में एक-दूसरे पर डालते हैं।"[1] डासन और गेटिस (Dawson and Gettys) के अनुसार, "सामाजिक अन्त:क्रिया वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य एक-दूसरे के मनों मे अन्त:प्रवेश करते हैं।"[2] गिस्ट (Gist) के शब्दों में, "सामाजिक अन्त.क्रिया वह पारस्परिक प्रभाव है जो मनुष्य परस्पर उत्तेजना और अनुक्रिया द्वारा एक-दूसरे पर डालते हैं।"[3] एलड्रिज एवं मैरिल (Eldredge and Merril) के अनुसार, "सामाजिक अन्त.क्रिया वह सामान्य प्रक्रिया है, जिसके द्वारा दो अथवा अधिक व्यक्तियों मे परस्पर एक अर्थपूर्ण सम्पर्क होता है, जिसके फलस्वरूप उनके व्यवहारो मे कुछ संशोधन हो जाता है, चाहे इस संशोधन की मात्रा कितनी ही कम क्यों न हो।"[4]

इस प्रकार, सामाजिक अन्त:क्रिया सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का निर्देश करती है, जिसमें व्यक्तियों के बीच पारस्परिक उत्तेजना एवं अनुक्रिया होती है। मनुष्यों का संग्रह समाज इस कारण बनता है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, इसलिए नही बन जाता कि प्रत्येक व्यक्ति की

---

1 "Social interaction consists of influences that individuals and groups have on one another in their attempts to solve problems and in their striving towards goals." Green, A W, *Sociology*, p. 57

2 "Social interaction is aprocess whereby men interpenetrate the minds of each other."—Dawson and Gettys, *An Introduction to Sociology*.

3. "Social interaction is the reciprocal influence human beings exert on each other through interstimulation and response."—Gist, N P., *Fndamentals of Sociology*, p 63.

4. "Social interaction is the general process whereby two or more persons are in meaningful contact as a result of which their behaviour is modified, however slightly."—Eldredge and Merill, *Cultnre and Society*, p 483.

अपनी कोई अन्तर्वस्तु है, जो उसे प्रेरित करती है। सामाजिक अन्त.क्रिया मानव प्राणियों में वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों पर कोई न कोई निश्चित प्रभाव डालती है। यह व्यक्तियों के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करती है। सामाजिक अन्तःक्रिया अन्त·उत्तेजना एवं पारस्परिक अनुक्रिया के माध्यम से मनुष्यों द्वारा एक-दूसरे पर डाला गया पारस्परिक प्रभाव है। पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) के अनुसार, "सामाजिक अन्तःक्रिया द्विपक्षीय है—व्यक्तियो का व्यक्तियो पर प्रभाव तथा समूहों का समूहो पर प्रभाव।" सामाजिक अन्त क्रिया के दो अनिवार्य तत्व हैं---(१) सामाजिक सम्पर्क (social contact), एव (२) संचार (communication)। सामाजिक सम्पर्क शारीरिक अथवा भौतिक सम्पर्क से भिन्न है। सामाजिक सम्पर्क रेडियो, पत्रो, टेलीफोन, एव सचार के अन्य साधनो द्वारा ऐसे व्यक्तियों के बीच भी स्थापित किया जा सकता है जो एक-दूसरे से हजारों मील की दूरी पर रहते हैं। निःसन्देह भौतिक सम्पर्क सामाजिक सम्पर्क को दृढ बनाते है। गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "सामाजिक सम्पर्क अन्तःक्रिया की प्रथम अवस्था है।"

सामाजिक सम्पर्क सकारात्मक (positive) एवं नकारात्मक (negative) दोनो प्रकार के हो सकते है। उन्हे सकारात्मक कहा जायगा, यदि वे परोपकारिता, सहयोग, पारस्परिक सद्भावना एवं समायोजन को जन्म देते है। परन्तु यदि वे घृणा, ईर्ष्या एवं संघर्ष को जन्म देते हैं तो उन्हे नकारात्मक कहा जायगा। गिलिन के विचार में नकारात्मक सम्पर्क सम्भावित अन्तःक्रिया को नष्ट कर देता है।

सामाजिक सम्पर्क किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही स्थापित किये जाते है। कोई वस्तु ज्ञानेन्द्रिय द्वारा उसी स्थिति मे अनुभव की जा सकती है जब वह वस्तु उस ज्ञानेन्द्रिय से सम्पर्क स्थापित करती है। संवेदन-शक्ति ही व्यक्ति को सामाजिक सम्पर्क की प्रेरणा देती है। इसी के द्वारा संचार की प्रक्रिया प्रभावशाली बनती है। यदि इन्द्रियाँ अक्षम या बेकार होंगी तो सचार का कोई अर्थ नही होगा। वास्तव में, संवेदनशीलता अन्तःक्रिया का आधार है। मानव-अन्त क्रिया अनिवार्यतः संचारशील अन्त.क्रिया होती है।

२.सामाजिक प्रक्रियाएँ

(Social Processes)

सामाजिक अन्तःक्रिया सामान्यतया सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, व्यवस्थापन एवं सात्मीकरण के रूप मे प्रकट होती है। सामाजिक अन्त·क्रिया के इन स्वरूपो को सामाजिक प्रक्रियाएँ भी कहा जाता है। अत. कहा जा सकता है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ वे मूल विधियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य अन्तःक्रिया तथा सम्बन्धो की स्थापना करते हैं। वे व्यवहार के बार-बार आने वाले प्रकारो, जो सामाजिक जीवन मे सामान्यतया पाये जाते है, को निर्दिष्ट करती हैं। मैकाइवर (MacIver) का कथन है कि "सामाजिक प्रक्रिया एक विधि है, जिसके द्वारा समूह के मनुष्यों के सम्बन्ध एक

विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं ।"[1] वह आगे लिखता है कि इसका अर्थ सम्बन्धों की एक स्थिति का दूसरी स्थिति में परिवर्तन भी है । ये परिवर्तन ऊपर और नीचे, आगे अथवा पीछे, अतएव एकता या विघटन की ओर ले जा सकते हैं । गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "सामाजिक प्रक्रियाओं का अर्थ व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य अन्तःक्रिया की विभिन्न विधियों से है, जिनमें सहयोग एवं संघर्ष, सामाजिक विभेदीकरण और एकीकरण, विकास, अवरोध एवं पतन सम्मिलित हैं ।" सामाजिक अन्तःक्रिया एवं सामाजिक प्रक्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं । एक को दूसरे के बिना नहीं समझा जा सकता । अन्तःक्रिया किसी कार्य की अनुक्रिया में किया गया कार्य है, परन्तु जब यह अन्तःक्रिया बार-बार घटित होने के कारण एक विशिष्ट परिणाम को जन्म देती है, तो इसे सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं । इस प्रकार जब पति-पत्नी स्नेह या सहानुभूति के कारण एक-दूसरे की सहायता करते हैं, तो यह पारस्परिक सहायता सहयोग का रूप धारण कर लेती है, जो सामाजिक प्रक्रिया बन जाती है । गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तःक्रिया करने के उन तरीकों से है, जिनको कि हम, जब व्यक्ति और समूह मिलते और सम्बन्ध की व्यवस्था स्थापित करते हैं, या जब जीवन के विद्यमान तरीकों में परिवर्तन करते या विघ्न डालते हैं तो क्या होता है, देख सकते हैं ।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया कुछ घटनाओं का वह क्रम है जो सामाजिक जीवन में निरन्तर बना रहता है और जो कुछ निश्चित परिणामों को उत्पन्न करता है ।

सामाजिक प्रक्रिया के अनिवार्य तत्व हैं—(१) घटनाओं का क्रम (sequence of events), (२) घटनाओं की पुनरावृत्ति (repetition of events), (३) घटनाओं के मध्य सम्बन्ध (relation between events), (४) घटनाओं की निरन्तरता (continuity of events) एवं (५) विशिष्ट परिणाम (special result) ।

समाज विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति है (Society is an expression of different social processes)—सामाजिक प्रक्रियाएँ किसी समुदाय के जीवन के लिये इतनी मूलभूत हैं कि इनका अध्ययन किये बिना मानव-समाज को समझ पाना असम्भव है । कुछ समाजशास्त्री समाज को विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं या अन्तःक्रिया के स्वरूपों की अभिव्यक्ति मानते हैं और उनका विचार है कि समाजशास्त्र में केवल इन्हीं स्वरूपों का अध्ययन किया जाना चाहिए । उदाहरण के लिए, सिमल (Simmel) का कहना है कि जहाँ बहुत से व्यक्तियों में पारस्परिक

---

1. "Social process is the manner in which the relations of the members of a group, once brought together, acquire a certain distinctive character."—MacIver, R M., *Society*, p 521.

2. "By social processes we mean those ways of interacting which we can observe when individuals and groups meet and establish system of relationships or what happens when changes disturb already existing modes of life."—Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 488.

सम्बन्ध हों, वहीं समाज का अस्तित्व होता है, और व्यक्तियों को समाज के रूप में संगठित करने वाला तत्व उनका जीवन-तत्व नहीं है, बल्कि उनके पारस्परिक प्रभाव हैं। सिमल ने उसके बाद इन सम्बन्धों की व्याख्या करने के लिए अनेक अनुसन्धान किए। सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार पर समाज का विश्लेषण करने वाले अन्य समाजशास्त्री जर्मनी में रैटजेन्हाफर, टोनीस, वीरकांट और वानवीज (Ratzenhofer, Tonnies, Virkandt and Vonwiese) और अमरीका में पार्क, बर्गेस और रास (Park, Burgess and Ross) थे। रैटजेन्हाफर का कहना है कि समाज को सामाजिक प्रक्रिया के रूप में, अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों की पूर्णता के रूप में देखा जाना चाहिए। उसके मतानुसार, किसी समूह में पारस्परिक मानवीय सम्बन्धों के रूप में ही समाज का अस्तित्व होता है। इसी प्रकार सिमल ने समाज को मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में और समाजशास्त्र को इस प्रक्रिया के अध्ययन से सम्बन्धित अनुशासन के रूप में देखा। अतः समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह परमावश्यक है कि सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए उसे सामाजिक प्रक्रियाओं के विभिन्न स्वरूपों तथा उनकी प्रकृति का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। परन्तु सोरोकिन (Sorokin) तथा उसके अनुयायियों का मत है कि सामाजिक प्रक्रियाओं को समाजशास्त्र का एकमात्र अध्ययन-विषय नहीं समझा जाना चाहिए, क्योंकि समाजशास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण जटिल सामाजिक घटनाओं के अध्ययन से है। यह सत्य है कि सामाजिक प्रक्रियाएँ समाजशास्त्र के अध्ययन का एक भाग ही हैं, परन्तु उनका महत्व इतना अधिक है कि उन्हें समाजशास्त्र का "सर्वस्व" मान लेना ठीक ही है।

सामाजिक प्रक्रियाओं के स्वरूप (Forms of Social Processes)

समाजशास्त्रियों द्वारा, सामाजिक प्रक्रियाओं का वर्गीकरण, अगणित रूपों में किया गया है। १९०५ में रास (Ross) ने ३८ सामाजिक प्रक्रियाओं की एक सूची तैयार की। दस वर्ष पश्चात् ब्लैकमार और गिलिन (Blackmar and Gillin) ने रास की रूपरेखा को अपनाते हुए ६ वर्गों में सामाजिक प्रक्रियाओं को विभाजित किया। बाद में पार्क और बर्गेस (Park and Burgess) ने उस सूची को घटाकर अन्त.क्रिया को चार मूलभूत प्रकारों, अर्थात् प्रतियोगिता, संघर्ष, समायोजन तथा सात्मीकरण में बाँटा। वानवीज (L. Vonwiese) और एच० बुकर (H. Buker) ने सामाजिक प्रक्रियाओं की एक विस्तृत और विचारपूर्ण सूची, उनका ६५० प्रकारों में वर्गीकरण करते हुए प्रस्तुत की। सामाजिक प्रक्रियाओं के वर्गीकरण की बहुलता का एक कारण है—दृष्टिकोणों की विभिन्नताएँ जिनके आधार पर वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकार कुछ ने सामाजिक व्यवहारों का वर्गीकरण—(१) उनकी आन्तरिक प्रकृति के आधार पर किया है; दूसरों ने (२) अन्तर्निहित प्रबल प्रेरणाओं से युक्त वृत्तियों, हित या स्वार्थ, कार्यवाहक के प्रयोजन के लिए इच्छाओं के आधार पर; और कुछ ने (३) पालन-योग्य व्यवहारों—जिन पर पालक सहमत हों—के आधार पर किया है। हमारा सम्बन्ध केवल मूलभूत प्रकारों, अर्थात् सहयोग, प्रतियोगिता, संघर्ष, समायोजन तथा सात्मीकरण से है। सामान्यतया अन्त.क्रिया उपर्युक्त सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में घटित होती है। परन्तु ध्यान रहे कि अन्त.क्रिया एक सूक्ष्म, जटिल तथा गतिशील वस्तु है। इसे अन्य सामाजिक प्रक्रियाओं से

पृथक् किसी एक सामाजिक प्रक्रिया के साथ समायोजित नहीं किया जा सकता। किसी भी मूर्त स्थिति में सदैव एक से अधिक प्रक्रियाएँ होती हैं। ऐसा कोई सहयोगी समूह नहीं है जो संघर्ष से रहित हो; ऐसा कोई संघर्ष नहीं जिसमें समझौते का कोई छिपा हुआ आधार न हो और ऐसी कोई प्रतियोगिता नहीं जिसमें बड़े सहयोगी प्रयोजन के लिए कुछ अंशदान न हो।

(i) सहयोग
(Co-operation)

सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग सबसे अधिक व्यापक तथा अबाध प्रक्रिया है। यह एक समाकलनशील क्रिया है, जिसे प्रतियोगिता या विपरीतार्थक माना जाता है। वास्तव में, प्रतियोगिता की अपेक्षा संघर्ष सहयोग का विपरीतार्थक है। सहयोग का सामान्यतया अर्थ है—समान या सामान्य हितों की पूर्ति के लिये इकट्ठे मिलकर कार्य करना। ग्रीन (Green) के अनुसार, "सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा कोई कार्य करने या सामान्य रूप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिये किया जाने वाला निरन्तर एवं सामूहिक प्रयास है।"[1] एल्ड्रिज और मैरिल (Eldredge and Merril) के अनुसार, "सहयोग सामाजिक अन्तःक्रिया का वह रूप है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति एक सामान्य उद्देश्य की पूर्ति मे एकसाथ मिलकर कार्य करते हैं।"[2] फेयरचाइल्ड (Fairchild) का कथन है, "सहयोग वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति का समूह सामान्य ध्येय की पूर्ति के लिये व्यवस्थित रूप में अपने प्रयत्नों को इकट्ठा करते हैं।"[3] अंग्रेजी भाषा का शब्द 'co-operation' दो लैटिन शब्दों 'co' अर्थात् इकट्ठे तथा 'operari' अर्थात् 'काम करना' से मिलकर बना है। इस प्रकार, सहयोग सामान्य उद्देश्यों या सम्भागी हितों की प्राप्ति के लिये संयुक्त क्रिया है। इसमें दो तत्व निहित हैं—(१) सामान्य उद्देश्य, एवं (२) संगठित प्रयत्न। सहयोग एक चेतन प्रक्रिया है जिसमें सहयोग करने वाले व्यक्ति या समूह एक-दूसरे के प्रति जागरूक रहते हैं।

सहयोग के प्रकार (Types of Co-operation)

सामाजिक जीवन में सहयोग के अनेक रूप हैं। मैकाइवर ने उसके दो रूपों का वर्णन किया है—

(१) प्रत्यक्ष सहयोग (Direct co-operation)—इस श्रेणी में वे क्रियाएँ सम्मिलित हैं जिनमें व्यक्ति समान कार्य को मिलकर करते है, अर्थात् एक-सा कार्य

---

1. "Co-operation is the continuous and common endeavour *of two or more persons to perform a task or to reach a goal that is commonly cherished"* —*Green*, Arnold, *Sociology*, p. 66.

2. "Co-operation is a form of social interaction wherein two or more persons work together to gain a common end."—Marril and Eldredge.

3. "Co-operation is the process by which individuals or groups combine their effort in a more or less organised way for the attainment of common objective."—Fairchield.

करते हैं, जैसे पत्थरों के ढेर को हटाना, कीचड़ में फँसी मोटर गाड़ी को ढकेल कर बाहर निकालना। इकट्ठे पूजा करना, इकट्ठे हल चलाना प्रत्यक्ष सहयोग के अन्य उदाहरण हैं। इस प्रकार के सहयोग का अनिवार्य स्वरूप यह है कि व्यक्ति ऐसे कार्य को जिसे वे अकेले नही कर सकते, मिल कर करते हैं। वे इसे इकट्ठे मिल कर इसलिए करते हैं कि या तो आमने-सामने (face to face) की स्थिति कार्यपूर्ति की प्रेरणा प्रदान करती है या इसमें उन्हें सामाजिक संतुष्टि मिलती है।

(२) अप्रत्यक्ष सहयोग (Indirect co-operation)—इस श्रेणी में वे क्रियाएँ सम्मिलित है जिनमे व्यक्ति समान उद्देश्य की पूर्ति हेतु असमान अर्थात् भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के सहयोग मे व्यक्तियो का उद्देश्य तो समान होता है, परन्तु वे इस उद्देश्य को असमान कार्यों द्वारा प्राप्त करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कार्य होता है। उदाहरणस्वरूप, बढई, राज तथा नल लगाने वाला मकान के निर्माण मे सहयोग करते हैं। ये व्यक्ति असमान कार्य करते हैं, *परन्तु उनका उद्देश्य समान है, अर्थात् मकान का निर्माण। श्रम-विभाजन* अप्रत्यक्ष सहयोग का सबसे अच्छा उदाहरण है। वर्तमान समाज में प्रत्यक्ष सहयोग की अपेक्षा अप्रत्यक्ष सहयोग की अधिकता है, क्योंकि विशेषीकरण वर्तमान औद्योगिक युग की विशेषता है।

ग्रीन (Green) ने सहयोग को निम्नलिखित तीन श्रेणियो मे विभाजित किया है—

(१) प्राथमिक सहयोग (Primary co-operation)—यह सहयोग प्राथमिक समूहों यथा परिवार में पाया जाता है। इस प्रकार के सहयोग मे व्यक्ति एवं समूह के बीच हितो की समरूपता होती है। उनमें कोई स्वार्थ-भिन्नता नही होती। व्यक्ति अपने उद्देश्यों को समूह के उद्देश्यो से भिन्न नही समझता। वह समूह के कल्याण को अपना कल्याण समझता है।

(२) द्वितीयक सहयोग (Secondary co-operation)—इस प्रकार का सहयोग द्वितीयक समूहों, यथा सरकार, उद्योग, ट्रेड यूनियन, चर्च आदि मे पाया जाता है। इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति अपनी स्वार्थ-पूर्ति की दृष्टि से दूसरो के साथ सहयोग करता है। इस प्रकार के सहयोग मे नि.स्वार्थ भाव नहीं होता। व्यक्ति दूसरो को उतना ही सहयोग देता है, जितना उसके स्वार्थ की पूर्ति की दृष्टि से आवश्यक हो।

(३) तृतीयक सहयोग (Tertiary co-operation)—इस प्रकार का सहयोग किसी विशेष स्थिति का सामना करने के लिये विभिन्न बड़े एवं छोटे सामाजिक समूहो की अन्त.क्रिया में पाया जाता है। इस प्रकार यदि रूस एव अमेरिका युद्ध मे चीन को पराजित करने के लिये इकट्ठे मिल जाते है, अथवा कांग्रेस दल को चुनाव मे हराने के लिये विभिन्न दल सयुक्त मोर्चा बना लेते है तो इस प्रकार का सहयोग तृतीयक सहयोग कहा जायगा। इस प्रकार के सहयोग में मिलने वाले समूहो का दृष्टिकोण अवसरवादी होता है जिससे ऐसे सहयोग की प्रकृति बड़ी ढीली और अस्थिर होती है।

इसके अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी सहयोग का वर्गीकरण किया है। आगबर्न (Ogburn) ने इसे सामान्य सहयोग (general co-operation), मित्रवत् सह

योग (friendly co-operation) एवं सहायतामूलक सहयोग (helping co-operation) में वर्गीकृत किया है। हर्जलर ने इसे ऐच्छिक सहयोग (voluntary co-operation) एवं संगठित सहयोग (organised co-operation) में विभाजित किया है।

बहुधा यह कहा जाता है कि आधुनिक औद्योगीकृत समाज का व्यक्ति आमने-सामने के सहयोग से विलग हुआ-हुआ अत्यधिक व्यक्तिनिष्ठ बनता जा रहा है जिससे उसमें स्नायु-रोगात्मक विशेषताएँ पनप रही हैं। मनोविश्लेपकों के अनुसार, हमारे समाज की अवैयक्तिक एवं प्रतियोगितात्मक विशेषताएँ विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व-विक्षोभ का कारण हैं।

सहयोग का महत्व (Role of Co-operation)

सहयोग विश्वव्यापी घटना है। व्यक्ति के जीवन के लिये यह इतना आवश्यक है कि, क्रोपाटकिन (Kropotkin) के अनुसार, इसके बिना जीवित रहना असम्भव है। पारस्परिक सहायता का आरम्भ सन्तान के पालन-पोषण के लिये, रक्षा तथा भोजन के लिये सहयोग से होता है। चीटियों तथा छोटे-छोटे कीड़ों तक मे जीवन के लिए सहयोग आवश्यक है। बड़े पशुओं में सहयोग स्पष्ट दिखाई देता है। मानव प्राणियों के लिये सहयोग मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दोनो आवश्यकता है। व्यक्ति सहयोग का प्रथम पाठ परिवार के सदस्य के रूप में सीखते हैं। बहुत से व्यक्तिगत एवं सामूहिक उद्देश्य ऐसे होते हैं जो सहयोग के बिना प्राप्त नहीं किये जा सकते। हमारे जीवन में प्रत्येक पग पर सहयोग की आवश्यकता होती है। यदि कोई व्यक्ति दूसरों को सहयोग नहीं देता तो उसे एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ेगा, जिससे ऊब कर उसे विवशतया अन्य लोगों के साथ सहयोग करना पड़ेगा। यदि मनुष्य अपने साथियों के साथ सहयोग नही करता तो उसके जीवन की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताएँ पूरी नही हो सकती।

मनुष्य ने विभिन्न क्षेत्रों में जो उन्नति की है, उसका श्रेय मनुष्य की सहयोगी भावना को है। विज्ञान एवं टेक्नोलाजी की शानदार उपलब्धियाँ, चाँद पर पहुँचने मे सफलता, अतिविकसित तथा अति पिछड़े हुए देशों में रहने वाले व्यक्तियों के रहन-सहन के स्तर को समान बनाने के प्रयत्न—ये सब मानवीय सहयोग के फल हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में सहयोग के महत्व से संसार का प्रत्येक राष्ट्र भलीभाँति परिचित है और वे इसे अपने विचारो की तिलांजलि देकर भी हर कीमत पर प्राप्त करने के लिये भरसक प्रयत्न कर रहे हैं।

(ii) प्रतियोगिता
(Competition)

प्रतियोगिता का अर्थ (Meaning of Competition)

प्रतियोगिता सामाजिक संघर्ष का सर्वाधिक मूल स्वरूप है। **सदरलैंड, वुडवर्ड एवं मैकवेल**(Sutherland, Woodward and Maxwell) के अनुसार "प्रतियोगिता कुछ व्यक्तियों या समूहों के बीच उन संतुष्टियों की प्राप्ति के लिये होने वाला अवैयक्तिक, अचेतन और निरन्तर संघर्ष है, जिनकी पूर्ति सीमित होने के कारण उन्हें

सभी व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।"[1] बीसंज तथा बीसंज (Biesanz and Biesanz) के शब्दों में, "प्रतियोगिता दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा ऐसी एक ही वस्तु को प्राप्त करने के लिये किये गये प्रयत्न को कहते हैं, जो इतनी सीमित है कि सब उसके भागीदार नहीं बन सकते।"[2] बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "प्रतियोगिता किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये किया गया एक विवाद है जो इतनी मात्रा में नही पायी जाती कि पूरी माँग की पूर्ति हो सके।"[3] मजूमदार (Mazumdar) का कथन है कि "प्रतियोगिता समान प्राणियो में ऐसी वस्तुओं एवं सेवाओं को प्राप्त करने के लिये अवैयक्तिक संघर्ष है जिनकी मात्रा सीमित और कम है।"[4] प्रतियोगिता संघर्ष का एक पहलू है जो न केवल मानव-समाज, बल्कि वनस्पति एवं पशु जगत् में भी व्याप्त है। यह एक ऐसा तत्व है जो व्यक्तियो के एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करने को बाधित करता है। यह जीवित रहने के लिये सर्वव्यापी संघर्ष का प्राकृतिक परिणाम है। यह उस समय घटती है, जब मनुष्यों द्वारा वांछित वस्तुओं की पूर्ति अपर्याप्त होती है—अपर्याप्त इस अर्थ में कि सब मनुष्यों को यह मनचाही मात्रा में नहीं मिल सकती। उदाहरणतया, प्रत्येक समाज मे सामान्यतः नौकरियाँ चाहने वालो की सख्या नौकरियों की संख्या से अधिक होती है, अत. प्राप्य नौकरियों के लिये प्रतियोगिता पैदा हो जाती है। जो लोग नौकरियो में हैं, उनमें अपेक्षाकृत अच्छी नौकरियों के लिये प्रतियोगिता है। चूंकि कमी सामाजिक जीवन की अपरिहार्य विशेषता है, अतएव किसी-न-किसी प्रकार की प्रतियोगिता सभी समाजों में पायी जाती है। धूप और हवा के लिये कोई प्रतियोगिता नही होती, क्योकि ये असीमित मात्रा मे प्राप्य हैं। इस प्रकार न केवल रोटी के लिये, अपितु विलास-सामग्री, सत्ता, पद, जीवन-साथियों, ख्याति और अन्य सभी वस्तुओं, जो मुँह माँगे नहीं मिलती, के लिये प्रतियोगिता है। यह एक प्रयत्न है जिसके द्वारा प्रतियोगी को किसी परस्पर आकांक्षित ध्येय की प्राप्ति से हटा दिया जाता है। इसका उद्देश्य विरोधी को तंग करना या विनष्ट करना नही है। यह बल-प्रयोग नहीं है। प्रतियोगी प्रतियोगिता के नियमों का पालन करते हैं, जिनमें बल-प्रयोग एवं धोखा शामिल नहीं हैं। जब इन नियमों का उल्लंघन किया जाता है तो प्रतियोगिता संघर्ष का रूप धारण कर लेती है। प्रतियोगिता कभी भी पूर्णतया असीमित नही होती।

प्रतियोगिता की विशेषताएँ (Characteristics of Competition)

निम्नलिखित विशेषताएँ प्रतियोगिता के स्वरूप को निर्धारित करती है—

---

1. "Competition is an impersonal, unconscious, continuous struggle between individuals or groups for satisfaction which, because of their limited supply, all may not have."—Sutherland, Woodward and Maxwell, *Introductory Sociology*, p. 207.

2. "Competition is the striving of two or more persons for the same goal which is limited so that all cannot share it."—Biesanz and Biesanz, *Modern Society*, p. 90.

3. "Competition is a contest to obtain something which does not exist in a quantity sufficient to meet the demand."—Bogardus, E. S. *op. cit.*, p. 533.

4. "Competition is the impersonalized struggle among resembling creatures for goods and services which are scarce or limited in quantity."—Mazumdar, H. T., *op. cit.*, p. 458.

(१) प्रतियोगिता अवैयक्तिक संघर्ष है (Competition is impersonal struggle)—पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) ने प्रतियोगिता की परिभाषा करते हुए इसे 'सामाजिक सम्पर्क से रहित अन्तःक्रिया' (interaction without social contact) कहा है। दूसरे शब्दों में, यह अन्तःवैयक्तिक (inter-personal) संघर्ष है जो अवैयक्तिक ढंग का है। यह किसी व्यक्ति या समूह विशेष के विरुद्ध नहीं होता। प्रतियोगियों में परस्पर सम्पर्क नहीं होता और वे एक-दूसरे को जानते भी नहीं। अधिकांशतः प्रतियोगिता व्यक्तिगत नहीं होती। जब व्यक्ति एक-दूसरे के साथ वैयक्तिक स्तर पर नहीं, अपितु समूहों, यथा व्यापार, सामाजिक-सांस्कृतिक संगठनों, प्रजातियों, राष्ट्रों, राजनीतिक दलों के सदस्यों के रूप में प्रतियोगिता करते हैं तो इस प्रतियोगिता को अवैयक्तिक कहते हैं।

(२) प्रतियोगिता अचेतन क्रिया है (Competition is an unconscious activity)—प्रतियोगिता अचेतन क्रिया है। प्रतियोगी एक-दूसरे के बारे में अज्ञात रहते हैं। उदाहरणतया, विद्यार्थी जब मेरिट प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं तो उनका ध्यान अपने साथियों या प्रतियोगियों पर केन्द्रित नहीं होता, अपितु मेरिट प्राप्त करने पर केन्द्रित होता है। यूनिवर्सिटी की परीक्षा में बैठने वाले हजारों विद्यार्थियों को वह जानते तक नहीं, तथापि मेरिट प्राप्त करने के लिये उनके साथ वे प्रतियोगिता कर रहे हैं। जब तक उनका ध्यान परीक्षा में प्राप्त अंकों पर केन्द्रित है, तब तक यह प्रतियोगिता है, परन्तु जब ध्यान प्रतियोगिता के उद्देश्य से हटकर स्वयं प्रतियोगिता पर केन्द्रित हो जाता है तो इसे प्रतिस्पर्धा (rivalry) अथवा वैयक्तिक प्रतियोगिता कहते हैं। कुछ लेखकों ने प्रतियोगिता के उपर्युक्त दो तत्वों को स्पष्ट करने के लिये प्रतियोगिता को अवैयक्तिक (impersonal) तथा वैयक्तिक (personal) में वर्गीकृत किया है।

(३) प्रतियोगिता सार्वभौमिक है (Competition is universal)—प्रतियोगिता प्रत्येक समाज में और प्रत्येक युग में पायी जाती है। यह प्रत्येक समूह में वर्तमान है। जब तक मनुष्य उन वस्तुओं को चाहेगा जो कम है और जब तक माँग पूर्ति से अधिक है तब तक प्रतियोगिता अवश्य विद्यमान रहेगी।

मे एवं डूब (May and Doob) के द्वारा प्रस्तुत निबन्ध से उद्धृत करते हुए "सामाजिक स्तर पर व्यक्ति एक-दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं जब—(१) वे एक ही उद्देश्य जिसकी पूर्ति कम है, के लिये प्रयत्नशील हैं, (२) वे इस उद्देश्य को समान मात्रा में प्राप्त करने से स्थिति के नियमों द्वारा रोक दिये जाते हैं; (३) वे अच्छी प्रकार से कार्य करते हैं, जब उद्देश्य असमान रूप में प्राप्त किया जा सकता है; एवं (४) उनके एक-दूसरे के साथ मनोवैज्ञानिक रूप से सम्बन्धित सम्पर्क बहुत कम हैं।"

कुछ लेखकों का विचार है कि प्रतियोगिता एक जन्मजात प्रवृत्ति है। उनके अनुसार यह सभी जीवों में पायी जाती है। परन्तु वस्तुतः प्रतियोगिता जन्मजात प्रवृत्ति नहीं है, अपितु सामाजिक घटना-वस्तु है। यह उसी समय घटित होती है जब आकांक्षित वस्तुओं की पूर्ति कम मात्रा में है। प्रतियोगिता में केवल एक समाज से दूसरे समाज में मात्रा का अन्तर होता है। इसकी मात्रा सामाजिक मूल्यों एवं सामाजिक संरचना द्वारा निर्धारित होती है। यह सांस्कृतिक रूप से प्रतिमानित प्रक्रिया है।

प्रतियोगिता पाँच स्तरों, अर्थात् आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं प्रजातीय, पर देखी जा सकती है।

प्रतियोगिता का महत्व (Value of Competition)

प्रतियोगिता भी सहयोग की भाँति सामाजिक जीवन के लिये परमावश्यक है। कुछेक समाजशास्त्रियों का विचार है कि प्रतियोगिता सहयोग की अपेक्षा कहीं अधिक मूलभूत प्रक्रिया है। हाब्स (Hobbes) का कथन है कि संघर्ष जीवन का मूल नियम है और आदि मानव निरन्तर संघर्ष की स्थिति मे रहता था। ह्यूम, हीगल, रूसो एवं वेगहाट ने भी हाब्स के विचार से सहमति प्रकट की है। इनके बाद डार्विन के सिद्धान्त 'योग्यतम जीवित' ने समाज में प्रतियोगिता के महत्व पर बल दिया। परिणामस्वरूप यह कहा गया कि यदि प्रकृति में संघर्ष का साम्राज्य है तो मानव-समाज तथा मानव-स्वभाव में भी इसका अस्तित्व अनिवार्य है। परन्तु जैसा कि क्रोपाटकिन (Kropotkin) का कथन है, "केवल प्रतियोगिता ही नही, अपितु सहयोग का भी जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है।"

प्रतियोगिता समाज में अनेक उपयोगी कार्य करती है। यह अति गतिशील है। मजूमदार के अनुसार, यह पाँच सकारात्मक कार्य करती है। प्रथम, यह समाज की शृंखला मे व्यक्तियों के पदो एवं स्थितियों का निर्धारण करती है; द्वितीय, यह दक्षता, आविष्कारिता एव मितव्ययिता की प्रेरणा प्रदान करती है; तृतीय, यह व्यक्ति के अहम् को बढाती है; चतुर्थ, यह किसी व्यक्ति या समूह में सत्ता के अनुचित केन्द्रीकरण को रोकती है; पंचम, यह नियम-पालन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। इसके कार्यों का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(१) **व्यक्तियों के उचित स्थानों का निर्धारण** (Assignment of proper places for individuals)—सर्वप्रथम, प्रतियोगिता सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों के उचित स्थान को नियत करती है। मानव-समुदाय मूलत. एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे व्यक्तियों को कुछ न कुछ कार्य करने पड़ते है जिससे एक ओर तो उनका जीवन चलता है तथा दूसरी ओर समुदाय भी अपने कार्यों को चलाने योग्य बनता है। प्रतियोगिता यह नियत करती है कि कौन व्यक्ति क्या कार्य करेगा। आधुनिक समाज मे श्रम-विभाजन तथा सम्पूर्ण जटिल आर्थिक संरचना प्रतियोगिता की उपज है। ई० ए० रास (E. A. Ross) के शब्दों में, "प्रतियोगिता का कार्य प्रत्येक व्यक्ति के लिये सामाजिक ससार मे उसका स्थान निश्चित करना है। प्रतियोगिता एक प्रगतिशील शक्ति है जो चीजों को परिपूर्ण करती है, न कि आवश्यक रूप से उनका विनाश।"[1] प्रतियोगिता की प्रेरणा ने प्रौद्योगिकी एवं संरचनात्मक आविष्कार में महत्वपूर्ण भाग अदा किया है।

(२) **प्रेरणा का स्रोत** (Source of motivation)—प्रतियोगिता आगे बढ़ने, ख्याति प्राप्त करने या इनाम जीतने की प्रेरणा प्रदान करती है। यह असफलता

1. "Competition performs the broad function of assigning to each individual his place in his social world. Competition is a progressive force which fulfils and does not necessarily destroy."—E. A Ross, quoted by V.V. Akolkar, *Social Psychology*, p. 85.

के भय तथा सफलता के आश्वासनों से आकांक्षा के स्तर को ऊँचा उठाकर उपलब्धि की प्रेरणा प्रदान करती है। प्रतियोगिता की अवस्था में मनुष्य सामान्य अवस्था की अपेक्षा अधिक परिश्रम करते हैं। अनुसंधानों से यह मालूम हुआ है कि जहाँ कहीं प्रतियोगिता को सांस्कृतिक रूप में प्रोत्साहित किया जाता है, वहाँ सामान्यतया उत्पादन की वृद्धि हुई है।

(२) प्रगति के लिए हितकारी (Conducive to progress)—तीसरे, प्रतियोगिता आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति तथा साथ ही सामान्य कल्याण के लिये हितकारी है, क्योंकि यह व्यक्तियों एवं समूहों, दोनों को अधिकाधिक परिश्रम करने की प्रेरणा देती है। प्रगति के साथ इसका स्पष्ट सम्बन्ध है, जिस कारण कुछ लेखक इसे आधुनिक सभ्यता की अनिवार्य विशेषता समझते हैं। आगबर्न एवं निमकाफ (Ogburn and Nimkoff) का कथन है कि प्रतियोगिता से व्यक्तियों को नये अनुभव तथा ख्याति प्राप्त करने की इच्छा को संतुष्ट करने का अधिक अच्छा अवसर मिलता है। यह प्रदत्त स्थिति (ascribed status) में विश्वास नहीं करती, अपितु अर्जित स्थिति (achieved status) में विश्वास करती है। जो व्यक्ति प्रतियोगिता की निन्दा करते हैं, वे प्रास्थिति की स्थिरता की माँग करते हैं और इस प्रकार प्रगति के मार्ग में बाधक बनते हैं।

परन्तु, यह नहीं समझ लेना चाहिये कि प्रतियोगिता सामाजिक प्रगति की पूर्व आवश्यकता है। मजूमदार ने इसके तीन नकारात्मक कार्यों का उल्लेख किया है। प्रथमतया, निराशा के द्वार से यह स्नायु-रोग को जन्म दे सकती है; दूसरे, यह एकाधिकार को जन्म दे सकती है, तृतीय, इससे संघर्ष बढ़ सकते हैं। प्रतियोगिता व्यक्तियों एवं समूहों, दोनों के लिये हानिकारक हो सकती है। यह व्यक्ति में भावनात्मक परेशानियाँ उत्पन्न कर सकती है। यह व्यक्तियों या समूह के मध्य अमैत्रीपूर्ण एवं अवांछनीय दृष्टिकोणों को जन्म दे सकती है। अन्यायपूर्ण प्रतियोगिता के परिणाम विघटनात्मक होते हैं। यदि इस पर नियंत्रण न रहे तो यह ऐसे संघर्ष का रूप धारण कर सकती है जिसमें अनैतिक और कभी-कभी हिंसात्मक उपायों का भी प्रयोग किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता व्यर्थ उत्पादन को बढ़ावा देती है जिसमें जनता की वास्तविक आवश्यकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इससे वस्तुओं की बहुलता में भी भुखमरी, भय, अरक्षा, अस्थिरता एवं आतंक उत्पन्न हो सकते हैं। यह दूसरे व्यक्तियों को केवल साधन समझती है और भावनारहित होती है। असीमित प्रतियोगिता एकाधिकार को जन्म देती है। आर्थिक क्षेत्र में, व्यापारी लोग प्रतियोगिता से अपने हितों की सुरक्षा के लिये कृत्रिम आर्थिक अवरोधों, यथा विदेशी वस्तुओं पर ऊँचे आयात-शुल्क का सहारा लेते हैं जिससे नागरिकों को सस्ती वस्तुएँ प्राप्त नहीं होतीं। मजदूर विदेशी मजदूरों की प्रतियोगिता से अपने हितों की सुरक्षा के लिये संगठन बना लेते हैं। इसी प्रकार, सरकारी नौकरशाही अपने संघों द्वारा अपने हितों की रक्षा करती है। प्रजातियाँ दूसरी जातियों के प्रवेश पर निषेध लगाकर अपने हितों की रक्षा करती हैं। सहयोग एवं प्रतियोगिता व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक दृष्टिकोणों को जन्म देते हैं। परन्तु कोई भी समाज न तो पूर्णतया प्रतियोगात्मक है और न ही सहयोगी। सामाजिक व्यवस्था तो प्रतियोगी एवं सहयोगी शक्तियों के बीच एक संतुलन है, परन्तु प्रतियोगिता सदैव स्वस्थ एवं

न्यायपूर्ण होनी चाहिये। तभी यह व्यक्तिगत उन्नति तथा समूह के कल्याण के लिये हितकारी सिद्ध हो सकती है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि आजकल व्यवस्थात्मक प्रवृत्ति नियंत्रण एवं संगठन के रूपों की ओर है जो अन्तःसमूह प्रतियोगिता को बढ़ाने के बजाय कम करते हैं।

(iii) संघर्ष
(Conflict)

संघर्ष मानव-सम्बन्धो मे सदैव विद्यमान सामाजिक प्रक्रिया है। ए० डब्लू० ग्रीन (A. W. Green) ने लिखा है कि "संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जान-बूझ कर विरोध करने, उसे रोकने या उसे शक्ति से पूर्ण कराने से संबंधित प्रयत्न है।"[1] गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमे एक व्यक्ति या समूह अपने विरोधी के प्रति प्रत्यक्षतः हिंसात्मक तरीके अपना कर या उसे हिंसात्मक तरीका अपनाने की धमकी देकर अपने उद्देश्यो की पूर्ति करना चाहता है।"[2] संघर्ष प्रक्रिया के रूप में सहयोग का प्रतिवाद (antithesis) है। मनुष्य के लगभग प्रत्येक कार्य से इस बात की संभावना रहती है कि उससे किसी अन्य व्यक्ति की आशाओं की पूर्ति में बाधा पड़ेगी या उसकी योजनाओ में हस्तक्षेप होगा, परन्तु ऐसा कार्य संघर्ष का रूप तभी धारण करेगा जब यह कार्य जान-बूझ कर किसी का विरोध करने के लिये किया गया हो। यदि किसी उम्मीदवार को कोई नौकरी मिल जाती है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य लोगों को नौकरी नहीं मिलेगी। परन्तु चूंकि सफल उम्मीदवार ने किसी का विरोध करने, मुकाबिला करने या दबाव डालने का जान-बूझ कर कोई प्रयत्न नहीं किया है, अतः इसे संघर्ष नही कहा जायगा। दूसरे शब्दों मे, संघर्ष सामयिक, वैयक्तिक और द्वेष रूप में प्रतियोगिता का नाम है। यह प्रतियोगियों की शक्ति को क्षीण या नष्ट करके विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया है। इसके द्वारा एक-दूसरे पक्ष को नष्ट करने, उसका अन्त करने अथवा कम से कम उसे अधीनस्थ स्थिति को पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि संघर्ष में सामान्यतः हिंसा को सम्मिलित किया जाता है, तथापि हिंसा के बिना भी संघर्ष की अवस्थिति संभव है। सविनय अवज्ञा एवं अहिंसात्मक सत्याग्रह, जिसके प्रयोग द्वारा महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर ली, हिंसाविहीन संघर्ष के उत्तम उदाहरण हैं। मजूमदार (Mazumdar) के अनुसार, "संघर्ष एक विरोध या मुकाबिला है जिसमें (१) विरोध का भावनात्मक दृष्टिकोण, तथा (२) किसी व्यक्ति की स्वायत्त पसन्द मे हिंसात्मक हस्तक्षेप निहित होता है।"[3] संक्षेप मे, संघर्ष

---

1. "Conflict is the deliberate attempt to oppose, resist or coerce the will of another or others" Green, A. W, *Sociology*, p. 38.

2. 'Conflict is the social process in which individuals or groups seek their ends by directly challenging the antagonish by violence or threat of violence"—Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 625.

3. "Conflict is opposition or struggle involving (a) an emotional attitude of hostility as well as (b) violent interference with one's autonomous choice." Mazumdar, H. T., *op cit.*, p 459.

की निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान दिया जा सकता है—

(i) संघर्ष चेतन क्रिया है। यह विरोध करने की विचारशील नीयत है।

(ii) संघर्ष वैयक्तिक क्रिया है।

(iii) संघर्ष अनिरन्तर प्रक्रिया है।

(iv) संघर्ष सार्वभौमिक है।

संघर्ष के कारण (Causes of Conflict)

संघर्ष सार्वभौमिक है। यह सब कालों एवं स्थानों में पाया जाता है। ऐसा कभी कोई समय या समाज नहीं रहा जिसमें कुछ व्यक्ति या समूह संघर्ष में न आये हों। माल्थस (Malthus) के अनुसार, "जीवन के साधनों की कमी संघर्ष का कारण है।" डारविन (Darwin) के अनुसार, "जीवन के लिये संघर्ष तथा 'बलशाली जीवित' के सिद्धान्त संघर्ष के प्रमुख कारण हैं।" फ्रायड एवं अन्य कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, "मनुष्य में जन्मजात हिंसा की प्रवृत्ति संघर्ष का मुख्य कारण है।" इस प्रकार संघर्ष के अनेक कारण बतलाये गये हैं। यह मुख्यतः समूहों तथा समाजों में एवं समूहों तथा समाजों के बीच हितों के संघर्ष का परिणाम है। संघर्ष समाज के नैतिक मूल्यों एवं मनुष्य की इच्छाओं, आशाओं, असंतुष्टियों एवं माँगों में होने वाले परिवर्तनों की गति में अन्तर होने के कारण भी उत्पन्न होता है। बच्चों को माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, यह नैतिक नियम प्राचीन समय से चला आ रहा है, परन्तु आज का युवक स्वतन्त्रता चाहता है जिसके फलस्वरूप माता-पिता एवं बच्चों में संघर्ष हो जाता है। कभी-कभी, नैतिक प्रतिमान इतने व्यापक होते हैं कि संघर्ष करने वाले पक्ष अपनी अलग-अलग माँगों को युक्तिसगत ठहराने के लिये समान प्रतिमानों का आश्रय लेते हैं। उदाहरणतया, कर्मचारी ऊँचे वेतनों की माँग को इस आधार पर उचित ठहराते हैं कि कीमतें बढ रही हैं, जबकि नियोक्ता इस माँग का विरोध करते हैं, क्योंकि प्रतियोगिता के इस युग मे लाभ घट गया है। संक्षेप मे, संघर्ष के निम्नलिखित कारण है—

(१) **व्यक्तिगत विभेद (Individual differences)**—कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव, दृष्टिकोण, आदर्शों एव हितो मे समान नहीं हैं। इन विभेदों के कारण वे अपने हितों को समायोजित नही कर पाते, जिस कारण उनके बीच संघर्ष हो जाता है।

(२) **सांस्कृतिक विभेद (Cultural differences)**—संस्कृति किसी समूह के जीवन का ढंग है। एक समूह की संस्कृति दूसरे समूह की संस्कृति से भिन्न होती है। समूहों के बीच सांस्कृतिक अन्तर कभी-कभी तनाव की स्थिति उत्पन्न कर संघर्ष को जन्म देते हैं। धार्मिक भिन्नताओं के कारण संसार के इतिहास में कितनी ही बार युद्ध एवं रक्तपात हुए हैं। भारत के विभाजन का कारण भी धार्मिक भिन्नता ही था।

(३) **हितों का संघर्ष (Clash of interests)**—विभिन्न व्यक्तियों अथवा

समूहों के हितों में बहुधा सघर्ष होता रहता है। इस प्रकार श्रमिकों के हितों एवं मालिकों के हितों में टकराव है जिससे उनके बीच सघर्ष उत्पन्न होता है।

(४) सामाजिक परिवर्तन (Social change)—सामाजिक परिवर्तन उस स्थिति में संघर्ष का कारण बनता है जब समाज के एक भाग में अन्य भागों में परिवर्तन हो जाने के कारण परिवर्तन नहीं होता। सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक विलंबन (cultural lag) को जन्म देता है जिससे संघर्ष उत्पन्न होता है। माता-पिता तथा नयी पीढ़ी के बीच संघर्ष सामाजिक परिवर्तन का परिणाम है। संक्षेप में, संघर्ष सामाजिक असतुलन की अभिव्यक्ति है।

संघर्ष के प्रकार (Types of Conflict)

सिमल (Simmel) ने सघर्ष के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—(१) युद्ध (war); (२) कलह (feud); (३) मुकद्दमेबाजी (litigation), एवं (४) अवैयक्तिक आदर्शों का संघर्ष। युद्ध समूहगत संघर्ष का रूप है जिससे हम भलीभाँति परिचित हैं। अन्तःप्रादेशिक व्यापार के विकास से पूर्व विदेशी समूहों मे सम्पर्क का एक मात्र साधन युद्ध था। यद्यपि युद्ध का लक्षण असंगठनात्मक (disassociative) है, परन्तु ऐसी स्थिति मे इसका निश्चित रूप से सहयोगी प्रभाव होता है। सिमल ने युद्ध का कारण मनुष्य मे गहरे प्रतिरोधात्मक मनोवेग को माना है। परन्तु इस प्रतिरोधी मनोवेग को क्रियाशील बनाने के लिये किसी निश्चित उद्देश्य की आवश्यकता होती है जो भौतिक हितो की प्राप्ति की इच्छा भी हो सकता है। कहा जा सकता है कि यह प्रतिरोधी मनोवेग संघर्ष की आधारशिला है।

कलह युद्ध का अन्त.सामूहिक प्रकार है जो एक समूह द्वारा दूसरे समूह के प्रति किये गये अन्याय के कारण उत्पन्न हो सकता है।

मुकद्दमेबाजी संघर्ष का न्यायिक रूप है जब कोई व्यक्ति या समूह विषयगत तत्वों को छोड़कर वस्तुनिष्ठ तथ्यों के आधार पर अपने अधिकारों की माँग करता है।

अवैयक्तिक आदर्शों का सघर्ष व्यक्ति स्वार्थी हितों के लिये नहीं करते, अपितु यह किसी आदर्श के लिये होता है। ऐसे संघर्ष में प्रत्येक पक्ष अपने आदर्श की सत्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। उदाहरणतया, साम्यवादी तथा पूँजीवादी दोनों ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि उनके द्वारा प्रचारित प्रणाली ही उत्तम सांसारिक व्यवस्था को जन्म दे सकती है।

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने पाँच प्रकार के संघर्ष का उल्लेख किया है। ये है—(१) वैयक्तिक संघर्ष (personal conflict), (२) प्रजातीय सघर्ष (racial conflict), (३) वर्ग-संघर्ष (class conflict), (४) राजनीतिक संघर्ष (political conflict), एवं (५) अंतर्राष्ट्रीय सघर्ष (international conflict)। एक ही समूह के दो सदस्यों के बीच संघर्ष वैयक्तिक संघर्ष होता है। दो विद्यार्थियों के बीच सघर्ष वैयक्तिक सघर्ष है। प्रजातीय सघर्ष प्रजातीय श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना का परिणाम होता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे नीग्रो और श्वेत प्रजातियों का संघर्ष प्रजातीय संघर्ष का उदाहरण है। वर्ग-सघर्ष दो वर्गों के

बीच संघर्ष है। कार्ल मार्क्स ने इस पर काफी बल दिया था। उसके अनुसार, समाज सदैव दो आर्थिक वर्गों—शोषक और शोषित—में विभक्त रहा है। दोनों वर्ग सदैव संघर्ष की स्थिति में रहे हैं। राजनीतिक संघर्ष राजनीतिक सत्ता के लिये राजनीतिक दलों में संघर्ष है। इस प्रकार कांग्रेस दल एवं जनता दल के बीच संघर्ष राजनीतिक संघर्ष है। अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष दो राष्ट्रों का संघर्ष है। कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान एव भारत के बीच संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष है।

संघर्ष निम्न प्रकार का भी हो सकता है—

(१) सुप्त एवं प्रत्यक्ष संघर्ष (Latent and direct conflict)—संघर्ष को आम तौर पर सुप्त अथवा प्रत्यक्ष बतलाया जाता है। अधिकांश मामलों में, संघर्ष विरोधी कार्य का रूप धारण करने से पूर्व सामाजिक तनाव एवं असंतुष्टि के रूप मे सुप्त अवस्था में चलता रहता है। जब झगड़े की घोषणा कर दी जाती है और विरोधी कार्यवाही प्रारम्भ हो जाती है तो सुप्त संघर्ष प्रत्यक्ष संघर्ष का रूप ले लेता है। प्रत्यक्ष संघर्ष उस अवस्था मे होता है जब एक पक्ष स्वयं को शक्तिशाली समझकर इस स्थिति का लाभ उठाना चाहता है। कभी-कभी संकट की स्थिति उत्पन्न होने से पूर्व वास्तविक संघर्ष भी कई वर्षों तक सुप्त अवस्था में चल सकता है। अमेरिका तथा रूस के बीच सुप्त संघर्ष कभी भी बर्लिन के मामले पर युद्ध का रूप धारण कर सकता है।

(२) सामूहिक तथा वैयक्तिक संघर्ष (Corporate and personal conflict)—संघर्ष को सामूहिक तथा वैयक्तिक दो भागों मे भी विभाजित किया गया है। सामूहिक संघर्ष समाज मे दो समूहों अथवा दो समाजों के बीच संघर्ष है। प्रजातीय दंगे, साम्प्रदायिक झगड़े, धार्मिक अत्याचार, मजदूर-मालिक-संघर्ष तथा राष्ट्रों के बीच युद्ध सामूहिक संघर्ष के उदाहरण हैं।

दूसरी ओर, वैयक्तिक संघर्ष समूह के अन्दर होता है। यद्यपि यह संघर्ष सामूहिक संघर्ष की अपेक्षा अधिक निन्दनीय समझा जाता है, तदपि यह भी सामूहिक संघर्ष की भाँति सार्वभौमिक है। अपने सदस्यों के बीच संघर्ष से समूह को समग्र रूप से कोई लाभ नहीं होता। वैयक्तिक संघर्ष अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है जिनमें ईर्ष्या, प्रतिरोध, विश्वासघात महत्वपूर्ण कारण हैं।

संघर्ष का महत्व (Role of Conflict)

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है, संघर्ष एक मूलभूत मानवीय एवं सामाजिक लक्षण है। कुछ समाजशास्त्री, यथा रैटजेनहाफर (Ratzenhofer) एवं गम्प्लोविज (Gumplowicz) इसे सामाजिक विकास एव प्रगति का आधार मानते हैं। गम्प्लोविज के अनुसार, मानव-समाजों की विशेषता है 'सहजातपन' (syngenism)—सदस्यो मे एक प्रकार की आदिम भावना कि वे इकट्ठे सम्बन्धित हैं। उनका विकास एक निरन्तर संघर्ष द्वारा हुआ है। रैटजेनहाफर (Ratzenhofer) के अनुसार, जीवन के लिये संघर्ष हितों के संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। सिमल (Symmel) का विचार था कि संघर्षरहित समरस समूह का अस्तित्व अव्यावहारिक तथा असंभव है। इस बात में कोई संदेह नही है कि समाज के निर्माण तथा विकास के लिये शांति एव

अशांति, सहयोग एवं असहयोग, दोनों की आवश्यकता है। संघर्ष रचनात्मक एव सकारात्मक लक्ष्यों की पूर्ति करता है। सामूहिक संघर्ष, अर्थात् समूहों एवं समाजों के बीच संघर्ष में एकता तथा भाईचारे की भावना का विकास होता है। यह ठीक ही कहा गया है कि सामूहिक सघर्ष में प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपने भाग्य पर महत्व देकर एकता एवं शक्ति प्राप्त करता है। आन्तरिक शान्ति एवं वाह्य संघर्ष एक ही सिक्के के दो पहलू है। यही कारण है कि युद्ध को प्रभुसत्ता राष्ट्रों के संसार में अपरिहार्य कहा जाता है। परन्तु ऐसा संघर्ष जो युद्ध का रूप धारण करता है, लोगों के जान-माल को काफी हानि पहुँचाता है और इससे भी अधिक मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक विनाश करता है। वैयक्तिक सघर्ष के परिणाम अधिकांशतया नकारात्मक ही होते हैं। ऐसा संघर्ष समूह के मनोबल को कम करता है तथा उसकी शक्ति को क्षीण बना देता है। निःसदेह वैयक्तिक संघर्ष का सकारात्मक रूप भी है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति द्वारा विरोध ही एक ऐसा उपाय है जिससे विद्यमान सम्बन्धो को सहनीय बनाया जा सकता है। किसी अलोकप्रिय अधिकारी की निन्दा करके उसके अधीनस्थ कर्मचारी कई बार नौकरी छोड़े बिना अथवा उसको पीटे बिना अपने विरोध को प्रकट कर लेते हैं। इसी प्रकार, मित्रों, प्रेमियों तथा पति-पत्नियों के बीच वाक्-सघर्ष संदेह को दूर कर देता है और पुनः मित्रवत् सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।"[1]

मजूमदार ने संघर्ष के छः सकारात्मक कार्यों का वर्णन किया है[2]—

(१) संघर्ष अन्त.समूह के मनोबल को दृढ करता है तथा इसकी शक्ति को बढ़ाता है।

(२) संघर्ष जिसकी समाप्ति विजय मे होती है, विजयी समूह को बड़ा बना देता है।

(३) संघर्ष से मूल्य-प्रणालियों की पुनः परिभाषा हो जाती है।

(४) संघर्ष सकटो को दूर करने के लिये अहिंसात्मक साधनों की खोज की ओर प्रेरित कर सकता है।

(५) संघर्ष संघर्षरत पक्षों की सापेक्ष प्रास्थिति मे परिवर्तन ला सकता है।

(६) संघर्ष से नयी सहमति का जन्म हो सकता है।

हार्टन एव हूंट (Horton and Hunt) ने संघर्ष के प्रभावों का निम्नलिखित तालिका द्वारा वर्णन किया है[3]—

समन्वयकारी प्रभाव (Integrative Effects)	असमन्वयकारी प्रभाव (Disintegrative Effects)
१. विवादों को स्पष्ट करता है।	१. कटुता बढाता है।

1. Green, A. W., *Sociology*, p. 64.
2. Mazumdar, H. T.; *op. cit.* pp. 469-70.
3. Horton and Hunt. *Sociology*, p. 310.

२. समूह-एकता की वृद्धि करता है।	२. विनाश एवं हिंसा की ओर ले जाता है।
३ दूसरे समूहों के साथ सधियाँ करता है।	३. सहयोग के सामान्य मार्गों को अवरुद्ध करता है।
४. समूहों को अपने सदस्यो के हितो के प्रति सचेत रखता है।	४ सदस्यों के ध्यान को समूह के लक्ष्यो से हटा देता है।

संघर्ष ने व्यक्तियों एव समाज का ध्यान सदैव आकर्षित किया है। यह वही वस्तु है जिस पर संसार का नाटक चल रहा है। सघर्ष की मान्यता है कि दोनो पक्षों मे कोई सामान्य आधार नही; अपने हितो से जो उन्हें विभक्त कर देता है, से ऊँचा कोई हित नही तथा एकमात्र समाधान एक या दूसरे पक्ष को विनष्ट कर देता है। समाज संघर्ष को नियंत्रित करने का प्रयत्न करता है, परन्तु दुर्भाग्य यह है कि इसने स्वयं संघर्ष की स्थितियों को जन्म दिया है और यह ऐसा किये विना रह भी नही सकता। विभिन्न व्यवसायों को विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान कर इसने ईर्ष्या एवं मन-मुटाव का आधार निर्मित किया है। एक व्यक्ति को दूसरे के ऊपर सत्ता प्रदान करके इसने सत्ता के दुरुपयोग एव परिणामस्वरूप प्रतिशोध के द्वार खोल दिये हैं। प्रतियोगितात्मक लक्ष्यों की उत्पत्ति करके इसने प्रतियोगिता को सघर्ष का रूप धारण करने योग्य बना दिया है।

सत्य तो यह है कि सभी स्थितियो मे सघर्ष के तत्व विद्यमान हैं। संघर्ष मानव-समाज का एक अंग है। मनुष्य भिन्न-भिन्न जीव-रचनायें है। वे केवल कुछेक उद्देश्यो, न कि सभी उद्देश्यों, की प्राप्ति के लिये ही सहयोग कर सकते है। उनके ध्येय आपस मे भिन्न है। इन ध्येयो की पूर्ति मे वे दूसरों के साथ जो उन्ही ध्येयो को प्राप्त करना चाहते हैं, सघर्ष मे आते है। क्योंकि मानव-समाज शरीर अथवा कीट-बस्ती की अपेक्षा अधिक ढीली इकाइयाँ हैं, अतएव आश्चर्य यह नही है कि कितना संघर्ष, बल्कि हैरानी यह है कि सघर्ष कितना कम है! इसमे सशय नही कि कुछ सामाजिक रचनाओ द्वारा संघर्ष को दूर करने के प्रयत्न किये जा रहे है, परन्तु इनमे सार्वभौम सफलता प्राप्त नहीं हो रही है।

संघर्ष एव प्रतियोगिता मे अन्तर (Difference between Conflcit and Competition)

संघर्ष और प्रतियोगिता के सम्बन्ध मे हमने ऊपर जो कुछ पढा है, उससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ये दोनों शब्द समानार्थक नही है। अत: इन दोनों को गलत नही समझा जाना चाहिये। संघर्ष और प्रतियोगिता मे कई अन्तर हैं। उदाहरण के लिए, सघर्ष मे सम्पर्क का होना आवश्यक है; यह चेतन स्तर पर होता है; वैयक्तिक होता है; इसमे हिंसा का प्रयोग या उसके प्रयोग का भय होता है और यह लगातार होने की बजाय सविराम होता है। सघर्ष मे विरोधी का पता होता है और प्रत्यक्ष सघर्ष मे तो विरोधी को कुछ हानि भी पहुँचाई जाती है, परन्तु प्रतियोगिता मे प्राय: दूसरे पक्ष का वास्तविक ज्ञान नही होता जैसे कि सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठना या किसी नौकरी के लिए आवेदन-पत्र देना। प्रतियोगिता मे दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं, जिसे वे आपस में बाँट नही सकते। परन्तु साथ ही वे दूसरों के मार्ग मे न तो कठिनाइयाँ पैदा करते

हैं और न ही उनका विरोध करने का प्रयत्न करते है, क्योंकि ऐसा करने से वह प्रत्यक्ष संघर्ष बन जायगा। प्रतियोगिता में नैतिक मानकों का सदैव ध्यान रखा जाता है; परन्तु अधिकांशतः संघर्ष में ऐसा नहीं होता, जैसा कि इस कहावत से सिद्ध होता है कि "युद्ध में सब कुछ उचित है।" प्रतियोगिता और संघर्ष के बीच बड़ी सूक्ष्म विभाजन-रेखा है। प्रायः अपने निजी या अपने समूह के हित-साधन की इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है कि प्रतियोगिता संघर्ष का रूप धारण कर लेती है।

अन्त में, प्रतियोगिता एक निरन्तर प्रक्रिया है जबकि संघर्ष सविराम प्रक्रिया है। संघर्ष के पुनः पैदा होने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि अन्तर सदा के लिए कभी भी दूर नही किये जा सकते। संघर्ष उत्पन्न होने और रुकने का यह गुण इसे प्रतियोगिता से अलग करता है।

संघर्ष और प्रतियोगिता के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखा जा सकता है—

(१) संघर्ष चेतन प्रक्रिया है, प्रतियोगिता एक अचेतन प्रक्रिया है।

(२) संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है, जबकि प्रतियोगिता अवैयक्तिक प्रक्रिया है।

(३) संघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। संघर्ष कुछ काल तक चलता है और फिर समाप्त हो जाता है। प्रतियोगिता एक निरन्तर प्रक्रिया है। मनुष्य में अपनी स्थिति को ऊपर उठाने की इच्छा प्रतियोगिता को निरन्तरता प्रदान करती है।

(४) संघर्ष में हिंसा एक महत्वपूर्ण तत्व है, जबकि प्रतियोगिता में हिंसा, धोखेबाजी आदि को कोई स्थान नहीं मिलता।

(५) संघर्ष दोनों विरोधियों को हानि पहुँचा सकता है। प्रतियोगिता में दोनों विरोधियों को लाभ हो सकता है।

(६) संघर्ष में सामाजिक नियमों का पालन नहीं किया जाता, जबकि प्रतियोगिता में किया जाता है। ग्रीन के अनुसार, "प्रतियोगिता सदैव नैतिक नियमों से बँधी रहती है, जबकि संघर्ष में ऐसी कोई विशेषता नही होती।"

(७) संघर्ष से उत्पादन नहीं बढ़ता, बल्कि उसमे मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक साधनों का दुरुपयोग होता है। प्रतियोगिता में उत्पादन में वृद्धि होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक और अच्छा कार्य करके एक-दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है।

इन अन्तरों के बावजूद प्रतियोगिता और संघर्ष दोनों ही सार्वभौमिक प्रक्रियाएँ हैं और मानव-समाज के आवश्यक अंग हैं।

सहयोग एवं संघर्ष साथ-साथ चलते हैं (Co-operation and Conflict go together)

सहयोग और संघर्ष सामाजिक जीवन के सार्वभौमिक तत्व हैं। वे मनुष्यों तथा पशुओं, दोनों में पाये जाते हैं और इकट्ठे रहते हैं। जिस प्रकार भौतिक जगत्

में आकर्षण और विकर्षण की दोनों शक्तियाँ एकसाथ कार्यकारी हैं जो शून्य में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति की निर्धारक हैं, उसी प्रकार सामाजिक जगत् में व्यक्तियों और समूहों की क्रियाओं में सहयोग एवं संघर्ष दोनों व्याप्त हैं। इस रूप में इनकी तुलना प्यार और घृणा की संयुक्त भावनाओं से की जा सकती है। मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों भावनायें एक ही व्यक्ति में साथ-साथ हो सकती हैं। एक बालक अपनी माँ से प्यार करता है, क्योंकि वह उसे संतोष एवं प्रसन्नता देती है, परन्तु इसके बावजूद भी वह उससे घृणा करता है, क्योंकि वह उसे अनुशासन के बन्धन मे रखना चाहती है। इसी प्रकार सहयोग तथा संघर्ष प्राय: साथ-साथ रहते हैं।

कूले (Cooley) का कथन है कि संघर्ष तथा सहयोग अलग-अलग वस्तुएँ नहीं, अपितु एक ही प्रक्रिया की अवस्थाएँ हैं जिसमें दोनों का कुछ न कुछ अंश अवश्य होता है। निकटतम मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों तथा घनिष्ठतम मेल-मिलाप में भी एक ऐसा बिन्दु होता है जहाँ दोनों पक्षो के हित भिन्न-भिन्न होते हैं या दोनों पक्षों की अभिवृत्तियाँ भिन्न होती हैं। जैसे, जीवन-साथी के चुनाव में जब दो मित्र एक ही लड़की से प्यार करते हैं। उस बिन्दु से आगे दोनों पक्षों मे कोई सहयोग नहीं हो सकता और दोनों मे संघर्ष का होना अपरिहार्य है। उदाहरण के लिये, परिवार में सदस्यों के बीच अधिकतम सहयोग होता है, फिर भी झगड़े होते रहते हैं। कूले ने आगे कहा है कि "ऐसा लगता है कि अन्य लोगों के साथ हमारे सम्बन्धो तथा पारस्परिक सहायता के सम्बन्धों मे भी संघर्ष का तत्व अनिवार्यत: होता है; जीवन की सम्पूर्ण योजना इसकी अपेक्षा करती है, हमारी अपनी शरीर-रचना इसका प्रतिबिम्ब है; तथा प्रेम और कलह मनुष्य के मस्तिष्क मे साथ-साथ बैठे होते है। विरोध के आकार बदल जाते हैं, परन्तु इसकी मात्रा यदि स्थिर नही तो कम-से-कम अल्पत्व के किसी सामान्य नियम के अधीन भी नही है।

कुछ संघर्ष समाज का जीवन है। प्रगति उस संघर्ष से जन्म लेती है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्था अपने नेक आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। इस संघर्ष की गहनता लोगों की शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है एवं इसकी समाप्ति, यदि विचारणीय है, तो मृत्यु होगी।"

सहयोग संघर्ष की शर्त है। आन्तरिक समरसता तथा वाह्य संघर्ष एक ही सिक्के के दो विरोधी पहलू है। संघर्ष को समाज से मिटा देना कठिन है। जहाँ तक अन्त समूह (intra-group) संघर्ष का प्रश्न है, समाज अभी तक एक सामाजिक इकाई के रूप मे संगठित नही है, अत. केवल इसी कारण मात्र अन्त समूह संघर्ष को समाप्त नही किया जा सकता। जहाँ तक अन्त समूह (inter-group) संघर्ष का प्रश्न है, प्रत्येक समूह इसे समाप्त करने का प्रयत्न करता है, परन्तु इसके बावजूद भी यह चलता रहता है। संघर्ष से समूह की एकता भंग होने का भय रहता है, परन्तु फिर भी इसको पूर्णतया समाप्त नही किया जा सकता। यद्यपि कुछ सामान्य उद्देश्य ऐसे होते हैं जिनके कारण व्यक्ति समूहों का निर्माण करते हैं, फिर भी ऐसे उद्देश्य भी हैं जिनका सम्बन्ध केवल स्वयं व्यक्ति से है। इन वैयक्तिक उद्देश्यों, यथा भोजन, सेक्स, विश्राम, मनोरंजन एवं सामाजिक मान की पूर्ति व्यक्ति को अपने ही समूह के

सदस्यों के साथ संघर्ष में ला देती है। यदि किसी प्रकार खुले संघर्ष को समाप्त भी कर दिया जाय तो यह किसी अन्य रूप में बना रहता है। यह सामाजिक जीवन का अपरिहार्य अंग है। वास्तव में, सामाजिक संघर्ष का कोई ऐसा रूप नहीं है जिसमें सहयोगी गतिविधि निहित न हो। उदाहरणतया, अन्तःसमूह संघर्ष अन्तःसमूह सहयोग का स्पष्ट स्रोत है। बाह्य संघर्ष किसी समूह को आन्तरिक रूप में शक्तिशाली बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यदि यह अन्तःसमूह संघर्ष को दूर नहीं करता तो यह उसे दवा अवश्य देता है। दूसरे शब्दों में, किसी समूह को आन्तरिक रूप से दृढ़ करने में संघर्ष जो कार्य करता है, उसकी अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। इसमें आन्तरिक संघर्ष कम होता है जब यह किसी बाह्य समूह के साथ संघर्ष में उलझा होता है। यहूदियों की एकता को दृढ़ बनाने में किसी अन्य साधन ने उतनी सहायता नहीं की जितनी कि उन पर सर्वत्र होने वाले अत्याचारों ने की है।

इसके विपरीत, समाज में सहकारी जोखिम के कोई ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें संघर्ष किसी न किसी रूप में वर्तमान न हो। मैकाइवर (MacIver) ने ठीक ही कहा है कि "संघर्ष से कटा हुआ (विरोधी) सहयोग जहाँ कहीं प्रकट होता है, वहाँ समाज के लक्षण ही प्रकट करता है—प्यूब्लो इण्डियन्स में, जूनी लोगों की संस्कृति में अथवा उत्तर-पश्चिमी कबीलों में, सोवियत रूस की सामूहिक अर्थव्यवस्था में अथवा अन्य राष्ट्रों की प्रतियोगात्मक अर्थव्यवस्थाओं में, औपचारिक वाद-विवाद गोष्ठी में, अथवा घनिष्ठ मित्रों में।"[1]

(iv) समायोजन
(Accommodation)

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, संघर्ष एक निरन्तर यद्यपि सविराम सामाजिक प्रक्रिया है। परन्तु यदि समूह संघर्षरत रहे तो जीवन चल नहीं सकता। अतएव, सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिये संघर्षों का वियोजन होना चाहिये। समायोजन संघर्षों का वियोजन है जिसका सामान्य अर्थ है स्वयं को नये वातावरण के अनुकूल ढालना। समंजन (adjustment) भौतिक अथवा सामाजिक वातावरण के साथ हो सकता है। भौतिक वातावरण के साथ समंजन वंशानुगति द्वारा हस्तान्तरित जैविक या संरचनात्मक संशोधन के माध्यम से होता है जिसे अनुकूलन (adaptation) कहा जाता जाता है। सामाजिक वातावरण के साथ समंजन तब होता है जब मनुष्य समाज में प्रचलित व्यवहार के नये मानकों को अर्जित एवं स्वीकृत कर लेता है। इस प्रकार के समंजन को समायोजन (accommodation) कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य से नीचे स्तर के पशु अनुकूलन द्वारा ही स्वयं मे समंजन करते हैं; मनुष्य समायोजन के द्वारा समंजन करता है, क्योंकि वह वास्तविक सामाजिक वातावरण में रहता है। समायोजन एक सामाजिक प्रक्रिया है, अनुकूलन जीवशास्त्रीय (biological) प्रक्रिया है। जे० एम० बाल्डविन (J. M. Baldwin) के अनुसार, समायोजन व्यक्तियों के व्यवहार में अर्जित परिवर्तनों को निर्दिष्ट करता है जिनसे वे अपने वातावरण के साथ समंजन कर लेते हैं। समायोजन की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. MacIver, *Society*, p. 65.

(१) रयूटर एवं हार्ट—"समायोजन एक प्रक्रिया के रूप में प्रयत्नों का वह क्रम है जिसके द्वारा मनुष्य परिवर्तित अवस्थाओं द्वारा आवश्यक बन गई आदतों और मनोवृत्तियों का निर्माण करके जीवन की परिवर्तित अवस्थाओं में सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।"[1]

(२) मैकाइवर—"समायोजन शब्द खास तौर से उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसमें मनुष्य अपने पर्यावरण से सामंजस्य की भावना पाता है।"[2]

(३) आगबर्न एवं निमकाफ—"समायोजन का प्रयोग समाजशास्त्रियों द्वारा विरोधी व्यक्ति या समूहों के समंजन को निर्दिष्ट करने के लिये किया गया है।"[3]

(४) लुंडबर्ग—"समायोजन शब्द का प्रयोग उस समंजन को निर्दिष्ट करने के लिये किया गया है जो समूहों में रहने वाले व्यक्ति प्रतियोगिता एवं संघर्ष से उत्पन्न खिंचाव एवं थकान से छुटकारा पाने के लिये करते हैं।"[4]

(५) हार्टन एवं हंट—"समायोजन संघर्षशील व्यक्तियों या समूहों के बीच अस्थायी क्रियाशील सम्मति विकसित करने की प्रक्रिया है।"[5]

(६) एच० टी० मजूमदार—"समायोजन अहिंसात्मक अनुक्रिया अथवा समंजन है—

(i) एक दृढ़ स्थिति जिसको बदला नहीं जा सकता, के प्रति या

(ii) एक स्थिति के प्रति जो हिंसा या विरोध अथवा नये नियमों और आवश्यकताओं के कारण बदल गई है।"[6]

(७) गिलिन एवं गिलिन—"समायोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रतियोगी और संघर्षरत व्यक्ति और समूह एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का अनु-

---

1. "As a process, accommodation is the sequence of steps by which persons are reconciled to changed conditions of life through the formation of habits and attitudes made necessary by the changed conditions themselves."—Reuter and Hart, *Introduction to Sociology*, p 322

2. "The term accommodation refers particularly to the process on which man attains a sense of harmony with his environments."—MacIver.

3. "Accommodation is a term used by the sociologists to describe the adjustment of hostile individual or groups."—Ogburn and Nimkoff.

4. "The word accommodation has been used to designate the adjustments which people in groups make to relieve the fatigue and tensions of competition and conflict."—Lundberg.

5. "Accommodation is a process of developing temporary working agreements between conflicting individuals or groups."—Horton and Hunt, *op. cit*, p. 311.

6. "Accommodation is a non-violent response or adjustment (a) to a stubborn situation which cannot be changed, or (b) to a situation which has changed as a result of violence and hostility, or as a result of new rules and requirements."—Mazumdar, H. T., *op. cit.*, p. 461.

न करते हैं, ताकि प्रतियोगिता, अतिक्रमण या संघर्ष के कारण उत्पन्न कठिनाइयों पार किया जा सके।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर समायोजन के निम्नलिखित तत्वों की ध्यान दिलाया जा सकता है—

(i) समायोजन संघर्ष का प्राकृतिक परिणाम है। यदि संघर्ष न होते तो ... की कोई आवश्यकता न पड़ती।

(ii) समायोजन मुख्यतः अचेतन क्रिया है।

(iii) समायोजन सार्वभौमिक है।

(iv) समायोजन एक निरन्तर प्रक्रिया है।

(v) समायोजन प्रेम एवं घृणा, दोनों का मिश्रण है।

...जन के प्रकार या ढंग (Forms or Methods of Accommodation)

समायोजन एक सामाजिक अनुकूलन है जिसमें ऐसी विधियों को खोजा या उधार जाता है, जिनसे एक सहजातीय समूह आर्थिक और जीवन की दूसरी परम्पराओं ... है, जो दूसरे समूहों की पूरक या परिशिष्ट होती हैं। इसका मुख्यतया व्यक्तियों और समूहों के मध्य संघर्ष से उत्पन्न होने वाले समंजन के साथ है। समाज में व्यक्तियों को अपने संघर्ष शीघ्र या विलम्ब से हल करने ही होते ... पक्षों द्वारा किया गया समझौता 'समायोजन' कहा गया है। जैसा कि ... बर्गेस ने कहा था, समायोजन में संघर्षरत तत्वों के मध्य विरोध को ... रूप से नियमित कर दिया जाता है। इसलिए समर (Summer) ने समा- को 'विरोधात्मक सहयोग' (antagonistic co-operation) कहा था। ... या संघर्षों की समाप्ति कई प्रकार से हो सकती है, जिसमें से कुछ महत्व- ... दिये जाते हैं—

(१) **दबाव के सामने झुक जाना या अपनी हार मान लेना** (Yielding to ... or admitting one's defeat)—किसी संघर्ष को समाप्त ... लिए शक्ति का प्रयोग करना या शक्ति प्रयोग करने की धमकी देना ही ...। ऐसा प्रायः तब होता है, जब दोनों पक्ष समान रूप से शक्तिशाली नहीं कमजोर पक्ष दब जाता है, क्योंकि दूसरा पक्ष हावी हो जाता है या पहले पक्ष भय पैदा हो जाता है कि दूसरा पक्ष उस पर हावी हो जायगा। युद्ध के बाद ... या सन्धि इस प्रकार के समायोजन का एक उदाहरण है। वास्तव में युद्ध जाने और शक्ति का प्रयोग आरम्भ हो जाने के बाद संघर्ष तब समाप्त होता ... पक्ष अपने विपक्षी पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर लेता है। पराजित या तो विजयी पक्ष द्वारा पेश की गई सन्धि की शर्तों को मानना या फिर उसे अपने पूर्ण विनाश का खतरा मोल लेकर युद्ध जारी रखना ।

[1] "Accommodation is the process by which competing and conflicting ... and groups adjust their relationship to each other in order to over- difficulties which arise in competition, contravention or conflict."— Gillin, *op. cit.*, p. 505.

(२) समझौता (Compromise)—जब दोनों पक्षों की शक्ति समान होती है और उनमें से कोई भी दूसरे को पराजित नहीं कर पाता, तो वे समझौते द्वारा समायोजन कर लेते हैं। समझौते में दोनो पक्षों को एक-दूसरे की कुछ बातें माननी पड़ती हैं, और कुछ झुकना पड़ता है। 'समग्र या कुछ नहीं' की सहजवृत्ति कुछ की प्राप्ति के लिए कुछ को त्यागने को सहमत हो जाती है। "समझौता प्रकृति से एक ऐसी थिगलियों वाली रजाई है, जिसमे हरएक अपनी थिगली को पहचानता है; वह अपनी निराशा के प्रति यह सोचकर कि हरएक दूसरा भी निराश है, संतोष प्राप्त करता है।" संसद् मे विवादो का समझौता इस प्रकार के समायोजन से होता है।

(३) पंचनिर्णय और राजीनामा (Arbitration and conciliation)—पंचनिर्णय और राजीनामा द्वारा भी समायोजन हो जाता है। इस उपाय का सहारा लेने में एक तीसरा पक्ष संघर्षरत पक्षों के बीच पड़ता है, जो संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। मजदूर व मालिक के बीच होने वाले संघर्षों, पति-पत्नी के बीच होने वाले संघर्षों और कभी-कभी राजनैतिक संघर्षों को भी किसी ऐसे पंचनिर्णय या मध्यस्थ की सहायता से निबटाया जाता है जिसमें दोनों पक्षों को पूरा विश्वास होता है।

मध्यस्थता तथा पंचनिर्णय के बीच अन्तर जान लेना चाहिए। मध्यस्थता एक विधि है, जिसके द्वारा विरोधी व्यक्तियों को निकट लाया जाता है, और उनमे इस बात की इच्छा पैदा की जाती है कि अपनी कठिनाई को हल करने के लिए सम्भव उपाय पर विचार करें। यदि विरोधी पक्षों के पास मेल का कोई आधार न हो, तो मध्यस्थ स्वयं भी उनमें मेल कराने के लिए अपनी ओर से कोई आधार बता सकता है, परन्तु मध्यस्थ द्वारा पेश किये गये सुझावों को सम्बन्धित पक्ष स्वीकार करें या न करें, उनकी मर्जी होती है। पंचनिर्णय मध्यस्थता से भिन्न होता है। इसमे जो लोग पंच बनते हैं, वे विवाद के मामले पर अपना निर्णय देते हैं, और वह निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ता है।

(४) सहिष्णुता (Toleration)—सहिष्णुता समायोजन का वह रूप है जिसमें मतभेद या झगड़े को हल नहीं किया जाता, बल्कि प्रत्यक्ष संघर्ष को टाल दिया जाता है। सहिष्णुता में किसी भी पक्ष को किसी बात में न दबना पड़ता है और न दोनो की मूलनीति में कोई परिवर्तन होता है। फिर भी दोनो समूह किसी न किसी तरह सहिष्णु बने रहते हैं। सहिष्णुता का सर्वोत्तम उदाहरण धर्म के क्षेत्र में मिलता है। जहाँ भिन्न प्रकार के धार्मिक समूह साथ-साथ रहते हैं, और हर धार्मिक समूह दूसरे धार्मिक समूह को उस प्रकार के अधिकार देता है, जो उसे स्वयं प्राप्त होते हैं। विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक प्रणालियों वाले देश, जैसे साम्यवादी और पूँजीवादी देशों, का सह-अस्तित्व सहिष्णुता का एक अन्य उदाहरण है। ऐसे राज्यों के बीच जो भेद होता है, उसे दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी अपनी-अपनी पक्की विचारधारायें होती हैं।

(५) मत-परिवर्तन (Conversion)—मत-परिवर्तन की प्रक्रिया वह होती है जिसमे दोनों विरोधी पक्षों में से एक पक्ष यह मान लेता है कि वह गलत था और दूसरा पक्ष सही था। परिणामस्वरूप वह दूसरे पक्ष की बात मान लेता है और

नये दृष्टिकोण को अपना लेता है। इस प्रक्रिया में विरोधी पक्ष अपने विचारों को त्याग देता है, और नये विचार धारण कर लेता है। सामान्यतया धर्म के क्षेत्र में ही मत-परिवर्तन की बात सोची जाती है, परन्तु राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग हो सकता है।

(६) युक्ति-युक्तता (Rationalization)—युक्ति-युक्तता के माध्यम से समायोजन का तरीका यह है कि इसमें व्यक्ति अपनी गलती स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपने आचरण या व्यवहार को ठीक प्रमाणित करने के लिए वह समुचित बहाने या सफाई पेश करता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी योग्यता की कमी को स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपनी हार का कारण भेदभाव बता कर अपने व्यवहार को उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। केवल व्यक्ति ही नहीं, समूह भी ऐसे काल्पनिक आधारों पर अपने कामों का औचित्य प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए, नाजी जर्मनी ने दूसरा महायुद्ध शुरू करने के लिए यह बहाना ढूँढ़ा था कि मित्र राष्ट्र जर्मनी को नष्ट करने की योजना बना रहे थे। इसी प्रकार, अमरीका ने युद्ध में शामिल होने के लिए इस बात की आड़ ली कि वह संसार को फासिज्म के चंगुल से मुक्त करना चाहता था।

(७) वरीयता और अधीनता (Super-ordination and sub-ordination)—समायोजन का सर्वाधिक प्रचलित रूप वरीयता और अधीनता की व्यवस्था की स्थापना तथा उसकी मान्यता है। इसी प्रकार के समायोजन के फलस्वरूप ही हर समाज का संगठन होता है। परिवार में माता-पिता और बच्चों के बीच सम्बन्ध वरीयता तथा अधीनता के नियम पर आधारित होते है। सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर बने बड़े-बड़े समूहों में इसी आधार पर सम्बन्ध निर्धारित किये जाते हैं। यहाँ तक कि लोकतंत्रीय व्यवस्था में भी नेता और उनके अनुयायी होते हैं, नेता आदेश देते है और अनुयायी उन आदेशों का पालन करते हैं। किसी व्यवस्था में जब व्यक्ति अपनी सापेक्ष स्थितियों को स्वीकार कर लेते है, तो समायोजन पूर्णता की अवस्था को पहुँच जाता है। दास-प्रथा और जाति-प्रथा में ऐसा ही होता है। जब दो समूहों के बीच संघर्ष की समाप्ति इस प्रकार होती है कि एक समूह दूसरे की अधीनता स्वीकार कर लेता है, तो दोनों समूहों के बीच समायोजन हो जाता है, क्योंकि अधीनता स्वीकार करने वाले समूह के लोग अपनी हीन स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं, और कालान्तर में वे अपनी स्थिति को बिल्कुल स्वाभाविक तथा न्यायसंगत मानने लगते हैं, और इस धारणा की जड़ें इतनी गहरी हो जाती हैं कि वर्तमान व्यवस्था को ही सर्वाधिक ठीक माना जाने लगता है। जब समायोजन ऐसी स्थिति तक पहुँच जाता है, तो उस अवस्था को स्थिर बनाने के लिए बाहरी शक्तियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि हीन स्थिति को स्वीकार करने वाले लोगों की भावनायें और उनकी सहजवृत्तियाँ ही उस अवस्था को स्थायी बनाये रखती हैं। तब वे अपनी अवस्था को अपने लिए गर्व की बात समझने लगते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे समायोजन के फलस्वरूप वरीय तथा अधीन व्यक्तियों के बीच सौहार्द, मैत्री-सम्बन्ध तथा सहानुभूति पैदा होती है। इस बात का एक उदाहरण अमरीकी गृह-युद्ध के समय नीग्रो जाति के लोगों का है। घरेलू नीग्रो लोगों ने अपनी दास-स्थिति के साथ

अपना इतना समंजन कर लिया था कि गृहयुद्ध के समय भी जो उन दासों को स्वतन्त्र करने के लिए ही लड़ा गया था, वे अपने मालिकों के प्रति स्वामिभक्त रहे और उनका साथ नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि स्वतन्त्र होने के बाद भी बहुत से नीग्रो जीवन भर अपने पूर्ववर्ती मालिकों के प्रति स्वामिभक्त बने रहे, क्योंकि अपनी स्वतन्त्र अवस्था के साथ वे अपना समायोजन नहीं कर पाये।

समायोजन की सार्वभौमिकता (Universality of Accommodation)—क्योंकि संघर्ष समूह के एकीकरण में बाधक है, और क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के लिए सामाजिक स्थिरता अपेक्षित है, इसलिए सभी समाजों में संघर्षरत समूहों में संघर्ष को समाप्त करने के प्रयत्न किये गये हैं। समायोजन के बिना समाज चल नहीं सकता। समायोजन से संघर्ष रुकते हैं, और व्यक्ति एवं समूह सहयोग बनाये रखने में समर्थ होते हैं, जो सामाजिक जीवन का मूलमन्त्र है। इसके अतिरिक्त, ये व्यक्ति अपने को परिवर्तित स्थितियों में समंजित करने योग्य बनाते हैं। इस प्रकार यह न केवल संघर्ष को कम या नियन्त्रित करता है, बल्कि सामाजिक व्यवस्था की आवश्यक सुरक्षा को भी बनाये रखता है, जिसके बिना व्यक्ति कदाचित् अपने जीवन की क्रियाविधियों को मिलाकर चलाने मे कठिनाई का अनुभव करें। हमारे विषम और जटिल समाज में इतने अधिक भिन्न हित और दृष्टिकोण हैं कि सामाजिक जीवन को क्षुब्ध होने से बचाने के लिए समायोजन की आवश्यकता है। समाज अनिवार्यतः समायोजन का परिणाम है।

(v) सात्मीकरण
(Assimilation)

सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति एवं समूह दूसरे समूह, जिसमें वह रहने आते हैं, के मूल्यो एवं अभिवृत्तियों, उसकी चिन्तन-प्रणाली एवं व्यवहार-प्रतिमानों, अर्थात् उसके जीवन-ढंग को अपनाकर उसकी संस्कृति को अर्जित कर लेते हैं। सात्मीकरण की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) "सात्मीकरण एक-दूसरे में पैठने और मिल जाने की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों या समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और रुखों को अपना लेते हैं, और उनके अनुभव तथा इतिहास में हिस्सा लेकर एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में शामिल हो जाते हैं।"[1] —पार्क एवं बर्गेस

(२) "सात्मीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अन्य व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ एकीकृत हो जाती हैं, और इस प्रकार वे एक संयुक्त समूह के रूप में विकसित होते हैं।"[2] —बोगार्डस

---

1. "Assimilation is a process of interpenetration and fusion in which persons and groups acquire the memories, sentiments, attitudes of other persons or groups and by sharing their experiences and history are incorporated with them in a cultural life.."—Park and Burgess, *In troduction to the Science of Sociology*, p. 735.

2. "Assimilation is a process whereby attitudes of many persons are united, and thus develop into a united group."—Bogardus, E S., *Sociology*, p 533.

(३) "सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति और समूह समान भावनाओं, मूल्यों और लक्ष्यों को स्वीकार कर लेते हैं।"[1] —बीसंज

(४) "सात्मीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी समय असमान रहे एकाधिक व्यक्ति या समूह समान हो जाते हैं, अर्थात् अपने स्वार्थ तथा दृष्टिकोण के मामले में उनके बीच एकरूपता पनप जाती है।"[2] —आगबर्न और निमकाफ

(५) "सात्मीकरण पारस्परिक समंजन की प्रक्रिया को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त शब्द है, जिसके द्वारा सांस्कृतिक रूप से भिन्न समूह धीरे-धीरे अपने विभेदों को उस सीमा तक मिटा देते हैं कि उन्हें सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण अथवा पर्यवेक्षणीय नहीं समझा जाता।"[3] —लुंडबर्ग

(६) "पारस्परिक सांस्कृतिक विसरण की प्रक्रिया जिसके द्वारा समूह सामान्य संस्कृति के सम्भागी बन जाते हैं, सात्मीकरण कहलाती है।"[4] —हर्टन एवं हंट

इस प्रक्रिया में, जैसा फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने कहा है, अराष्ट्रीयकरण (denationalisation) तथा पुनर्राष्ट्रीयकरण (renationalisation) दोनों निहित होते हैं। इससे सामाजिक मनोवृत्तियाँ बदल जाती हैं। जब दो विभिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क होता है, तो प्रारम्भ में उन दोनों के बीच पारस्परिक संघर्ष की भावना पायी जाती है, परन्तु वे धीरे-धीरे एक-दूसरे के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात् कर लेती हैं। समाजीकरण की भाँति सात्मीकरण भी सीखने की प्रक्रिया है, परन्तु इस प्रक्रिया का आरम्भ तभी होता है जब व्यक्ति अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आता है। सात्मीकरण एक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है। अलबत्ता हेज (Hayes) का विचार है कि सात्मीकरण अन्तःक्रिया की प्रक्रिया की अपेक्षा एक परिणाम है।

सात्मीकरण केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है (Assimilation is not limited to a single field only)—सात्मीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण उन विदेशियों का है जो अपनी संस्कृति को छोड़कर उस देश की संस्कृति को अपना लेते हैं, जहाँ वे जाकर रहने लगते हैं। परन्तु सात्मीकरण को केवल इसी क्षेत्र तक सीमित रखना गलत होगा। सात्मीकरण अन्य अवस्थाओं में भी होता है। उदाहरण के लिए, जब बच्चे बड़े हो जाते हैं और व्यवहार की विधि सीख लेते हैं तो उनका वयस्क समाज में सात्मीकरण हो जाता है। गोद लिए हुए बच्चे कभी-कभी

1. "Assimilation is the social process whereby individuals or groups come to share the same sentiments and goals."—Biesanz.

2. "Assimilation is the process whereby individuals or groups once dissimilar become similar, and identified in their interests and outlook."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology* p. 261.

3. "Assimilation is a word used to designate a process of mutual adjustment through which culturally different groups gradually obliterate their differences to the point where they are no longer regarded as socially significant or observable."—Lundberg, *Sociology* p. 248.

4. "The process of mutual cultural diffusion through which persons and groups come to share a common culture is called assimilation."—Horton and Hunt, *Sociology*, p. 314.

अपने गोद लेने वाले माता-पिता के रहन-सहन के नये ढंगों को इस प्रकार पूरी तरह अपना लेते हैं कि उनके पूर्ववर्ती घर के प्रभाव बिल्कुल ही समाप्त हो जाते हैं। समान परिस्थितियों में पले लड़के-लड़की विवाह के बाद पति-पत्नी के रूप में होने से प्रायः उनमें रुचि एवं उद्देश्य की असाधारण समता पैदा हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में धर्म-परिवर्तन द्वारा एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म में लाये जाते हैं। चूँकि सात्मीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है, अतः यह सामान्य समूह-जीवन का लक्षण है, न कि किसी विशेष प्रकार के समूहों का।

सात्मीकरण की प्रक्रिया में चरण (Stages in the Process of Assimilation)

सात्मीकरण एक मंद तथा क्रमिक प्रक्रिया है। भिन्न प्रकार के व्यक्तियों और समूहों में, अर्थात् उनकी रुचियों तथा उनके दृष्टिकोण में समानता पैदा होने में कुछ समय अवश्य लगता है। उत्संस्करण (acculturation) सात्मीकरण का प्रथम चरण है। उत्संस्करण की स्थिति तब होती है, जब एक सांस्कृतिक समूह किसी अन्य सांस्कृतिक समूह के सम्पर्क में आने पर उसकी संस्कृति के कुछ तत्व ग्रहण कर लेता है, और उनका समावेश करके अपनी संस्कृति में परिवर्तन करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दो समूहों में सम्पर्क होने से दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है, यद्यपि यह स्वाभाविक है कि जिस समूह की संस्कृति कमजोर होती है, वह मजबूत संस्कृति वाले समूह से अपेक्षाकृत कुछ अधिक ग्रहण करेगा। उदाहरण के लिए, अमरीकी भारतीयों तथा श्वेतों के बीच जब सम्पर्क आया तो अमरीकी भारतीयों ने श्वेतों की संस्कृति के कुछ तत्व ग्रहण किये, परन्तु श्वेतों ने भी अमरीकी भारतीयों की संस्कृति के कुछ तत्व अपना लिए। इस प्रकार सात्मीकरण की दो अवस्थाएँ हैं, एक तो पैतृक संस्कृति का दमन, दूसरा नये तरीकों का अर्जन, जिसमें नई भाषा भी सम्मिलित है। दोनों में से कोई अवस्था पहले या पीछे हो सकती है।

जब कोई सांस्कृतिक समूह किसी प्रभावशाली संस्कृति की कुछ विशेषताएँ अपना लेता है, तो उस सांस्कृतिक समूह के प्रभावशाली संस्कृति में मिल जाने के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। कुछ विशेषताएँ तो ऐसी होती हैं कि दोनों समूहों में तनिक-सा सम्पर्क पैदा होते ही वे एक-दूसरे की विशेषताएँ अपना लेते हैं। अमरीकी भारतीयों ने तुरन्त ही श्वेतों से नशीली वस्तुओं तथा आग्नेय शस्त्रों का प्रयोग सीख लिया। इसके विपरीत, अमरीका के प्राचीन निवासियों ने आलू और मक्का जैसी खाने की चीजों का प्रयोग बिना किसी संकोच के भारतीयों से सीख लिया। इसी प्रकार अमरीका या यूरोप में आने वाले अप्रवासी यहाँ पहुँचते ही अमरीकी या यूरोपीय वेष-भूषा पहनने लगते हैं।

इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का अन्तिम परिणाम सात्मीकरण होता है। सात्मीकरण की प्रक्रिया की गति, उनके बीच (समूहों के बीच) स्वरूप पर निर्भर होती है। यदि सम्बन्ध प्राथमिक हैं तो सात्मीकरण स्वाभाविक और शीघ्र होगा, परन्तु यदि सम्बन्ध गौण अथवा अप्रत्यक्ष या कृत्रिम हैं, तो उनका परिणाम सात्मीकरण नहीं, बल्कि समायोजन होगा।

सात्मीकरण में बाधाएँ और सहायताएँ (Hindrances and Aids to Assimilation)

सात्मीकरण सरल नहीं, अपितु एक जटिल प्रक्रिया है। कुछ कारण ऐसे होते हैं जो सात्मीकरण में सहायक होते हैं, और कुछ कारण ऐसे होते हैं जो इसमें बाधा डालते हैं, इसकी प्रगति को रोकते है। किसी अल्पसंख्यक संस्कृति के सात्मीकरण की गति इस बात पर निर्भर होती है कि सहायता देने वाले या बाधा डालने वाले कारणों में कौन प्रभावशाली है। गिलिन एव गिलिन के कथनानुसार, सात्मीकरण के लिए सहायक कारक ये है—सहिष्णुता, समान आर्थिक अवसर, प्रभावशाली समूह द्वारा अल्पसंख्यक दल के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, प्रभावशाली संस्कृति का अनावरण, प्रभावशाली तथा अल्पसंख्यक समूहों की संस्कृति में समानता, विलय तथा अन्तर्विवाह (एक-दूसरे समूह में विवाह)। इसके विपरीत सात्मीकरण में बाधक या अवरोधक कारक ये है—रहन-सहन की अलग अवस्थाएँ, प्रभावशाली समूह के अन्दर अपने को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ मानने की अभिवृत्ति, समूहों में अत्यधिक शारीरिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विभिन्नताएँ और बहुसंख्यक समूह द्वारा अल्पसंख्यक समूह पर अत्याचार।

मैकाइवर ने निम्नलिखित कारकों का वर्णन किया है, जिसके कारण अपेक्षाकृत विरोधी समूहों में शीघ्र ही मेल-मिलाप हो जाता है—

(१) **जिस समाज में लोग आते हैं, उसके विकास की अवस्था** (Stages of the development of the society entered)—किसी नये स्थान पर आप्रवासियों का कैसा स्वागत होगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि जिस समय वे वहाँ जाते हैं, उस समय वहाँ की स्थिति कैसी है। उदाहरण के लिए, सन् १८८० ई० के पूर्व अमरीका में, जब नई भूमि तथा विकासोन्मुख उद्योगों के विकास के लिए हर प्रकार की शक्ति तथा कार्य-निपुणता की आवश्यकता थी, आप्रवासियों के लिए रास्ते बिल्कुल खुले थे, परन्तु १८८० के बाद वहाँ जाने वालों का पहले जाने वालों जैसा स्वागत नहीं हुआ। यहाँ तक कि सन् १९३३ के बाद वहाँ जाने वाले लोगों को वहाँ के मूल निवासियों के कल्याण-मार्ग में एक खतरा-सा समझा जाने लगा है।

(२) **व्यावसायिक कौशलों की पृष्ठभूमि** (Background of occupational skill)—यदि आप्रवासियों में वह निपुणता तथा ट्रेनिंग हो, जिसकी उस देश में *आवश्यकता हो, जहाँ वे जाते हैं, तो वे बड़ी लाभदायक स्थिति में होते हैं। उदाहरण* के लिए, उद्योग की दृष्टि से अर्द्धविकसित देशों में औद्योगिक निपुणता वाले व्यक्तियों को सम्मान के साथ रख लिया जाता है और इसी प्रकार खेतिहर अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में उन लोगों को सम्मान के साथ स्वीकार किया जाता है जिनमें ग्रामीण धन्धों का ज्ञान होता है।

(३) **संख्या** (The number involved)—प्रायः देखा गया है कि आप्रवासियों की संख्या यदि कम होती है, तो जहाँ वे जाते हैं, वहाँ के लोगों का दृष्टिकोण उनके प्रति सहिष्णुतापूर्ण होता है। किसी भी समुदाय में एक चीनी या जापानी या मैक्सिकन परिवार को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लिया जायगा, बशर्ते कि उस

परिवार के सदस्यों को वहाँ के लोग व्यक्तिगत रूप में स्वीकार कर सकते हो। यदि इन परिवारों की संख्या बढ़ जाय, तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जायगी। मोरेनो (Moreno) ने अपनी पुस्तक 'हू शैल सरवाइव' (Who Shall Survive) में सिद्ध कर दिया है कि अनेक मामलों मे आक्रोश की वृद्धि आप्रवासियों की संख्या मे वृद्धि के अनुपात से अधिक हो गयी है।

(४) शारीरिक अन्तर (Physical differences)—शरीर की आकृति, रंग और अन्य शारीरिक लक्षणों मे बिभिन्नता होने के कारण भी सात्मीकरण मे सहायता या बाधा पैदा हो सकती है। जातीय अवरोध से सात्मीकरण में रुकावट होती है, क्योंकि व्यक्ति अपनी संस्कृति को तो छोड़ सकता है, परन्तु अपनी चमड़ी को नहीं बदल सकता। सामान्यतया ऐसे आप्रवासियों का समंजन सरलतम होता है जिनका रंग-रूप वहाँ के मूल-निवासियों के रंग-रूप से मिलता-जुलता हो। ध्यान रहे कि केवल शारीरिक अन्तर ही लोगों में विरोध या पूर्वाग्रह नहीं पैदा करते, जैसा कि दक्षिण-पूर्व और लैटिन-अमरीका के मामले मे हुआ; परन्तु जब अन्य कारण समूह-संघर्ष पैदा कर देते हैं तो शारीरिक अन्तर छोटेपन या अवांछनीयता की भावना को जन्म देते है।

(५) सांस्कृतिक अन्तर (Cultural differences)—भाषा और धर्म सामान्यतया संस्कृति के दो मुख्य घटक माने जाते हैं। यदि आप्रवासियों की भाषा और उनका धर्म वही हो, जो वहाँ के मूल निवासियो का है तो वे शीघ्र ही वहाँ के लोगों से घुल-मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका में अंग्रेजी बोलने वाले प्रोटेस्टट जल्दी ही घुल-मिल जाते हैं, परन्तु गैर-ईसाई और अंग्रेजी न जानने वाले लोगों के सात्मीकरण मे बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। रीति-रिवाज तथा आस्थाएँ ऐसे अन्य सांस्कृतिक लक्षण हैं जो सात्मीकरण में सहायक या बाधक हो सकते हैं।

(६) अर्द्ध-समुदाय का महत्व (The role of semi-community)—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अप्रवासी लोग अपनी घनी बस्तियाँ बना कर उसी में रहने लगते हैं और अपने आस-पास रहने वाले लोगो के जीवन में भाग लेने की अपेक्षा वे अपने मूल रीति-रिवाजों का ही पालन करते हैं। ऐसे अर्द्ध-समुदाय सात्मीकरण की प्रक्रिया मे दोहरी भूमिका अदा करते हैं। एक ओर तो ऐसे समुदाय रहन-सहन के अपने मूल रीति-रिवाजों को अपनाये रहते हैं जिससे नवागन्तुक लोगो को वहाँ आने पर अपने जैसे लोग मिलते हैं और नई जगह या स्थिति मे वे अपने को आसानी से ढाल लेते हैं। दूसरी ओर, वहाँ के बहुसंख्यक मूल-निवासी ऐसे समुदायों को विदेशी तथा अरुचिकर समझते हैं।

सात्मीकरण मात्रा की वस्तु है। किसी भी बड़े समाज में पूर्ण सात्मीकरण व्यावहारिक विद्यमान दशा की अपेक्षा शायद एक काल्पनिक वस्तु है। आप्रवासी समूह न केवल मूल-निवासियों की संस्कृति में योगदान देते हैं, बल्कि बहुत-सी अपनी विशेषताओं को भी बनाये रखते हैं। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक बहुलवाद (cultural pluralism) का जन्म होता है जो अपूर्ण सात्मीकरण का द्योतक है। अल्पसंख्यक समूह की संस्कृति को सात्मीकरण के लिए बाध्य किया जाय

या नहीं, यह विवास्पद प्रश्न है। हर एक व्यक्ति सम-आदर्शों का संभागी हो और सम्पूर्ण राष्ट्र की सम-भावनाओं में भाग ले—इस पर कुछ बल अवश्य दिया जाना चाहिये, ऐसा कुछ का मत है। परन्तु कुछ दूसरों का कथन है कि बहुत से सांस्कृतिक अल्पसंख्यक समूहों का अस्तित्व एक अत्यधिक धनी संस्कृति को जन्म देता है। उनका सांस्कृतिक बहुलवाद में विश्वास है। उनका यह भी विश्वास है कि 'सांस्कृतिक बहुलवाद' पूर्वाग्रहों की अनेक समस्याओं को हल कर सकता है।

समायोजन और सात्मीकरण में अन्तर (Distinction between Accomodation and Assimilation)

एक बार पुनः यह उपयुक्त होगा कि हम समायोजन तथा सात्मीकरण नामक दोनो सामाजिक प्रक्रियाओं का, जो व्यक्तियों या समूहों के अन्तर को दूर करती हैं, अन्तर स्पष्ट कर लें।

(१) **सात्मीकरण स्थायी है, समायोजन अस्थायी** (Assimilation is permanent, accommodation is non-permanent)—सात्मीकरण समायोजन का एक रूप है और अन्तःसमूह भेद-भावों में समंजन पैदा करने का एक अधिक अच्छा तथा स्थायी ढंग है। अपने आस-पास के समूह से भिन्न सांस्कृतिक समूह कालान्तर मे लगभग स्थायी आधार पर उसमें समाविष्ट हो जाता है। परन्तु समायोजन में समूहों के पारस्परिक अन्तर स्थायी रूप से समाप्त नही होते, जैसा कि हम समायोजन के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं।

(२) **सात्मीकरण मंद प्रक्रिया है, समायोजन अचानक प्रक्रिया है** (Assimilation is a slow process, accommodation is a sudden process)—दूसरे, सात्मीकरण मंद तथा निरन्तर प्रक्रिया है, जबकि समायोजन अचानक तथा कई बार क्रान्तिकारी प्रक्रिया है। एक बड़े समुदाय मे जब छोटा समुदाय आ मिलता है तो कालान्तर में वह उसमें घुल-मिल जाता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है, कारण कि इसमें अधिक तथा सूक्ष्म परिवर्तन निहित होते हैं। दूसरी ओर समायोजन तुरन्त हो जाता है तथा इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन भी तुरन्त हो सकते हैं, जैसे धर्म-परिवर्तन के मामले मे होता है।

(३) **सात्मीकरण अचेतन प्रक्रिया है, समायोजन विचारशील है** (Assimilation is unconscious, accommodation is deliberate)—तीसरे सात्मीकरण की प्रक्रिया किसी समूह की सोची-समझी तथा सचेत कोशिश के बिना होती है। वास्तव में सात्मीकरण के अन्दर व्यक्ति अथवा समूह इस बात का ध्यान किये बिना कि क्या हो रहा है, दूसरी संस्कृति में ढल जाते हैं जिसका उन्हें पूर्वज्ञान नहीं होता। दूसरी ओर समायोजन सम्बन्धित पक्षों द्वारा किसी समझौते पर पहुँचने के लिए सोचे-समझे प्रयत्नो का परिणाम होता है। इस प्रकार यह एक सचेत प्रक्रिया है।

३. पृथक्करण
(Isolation)

सामाजिक अन्तःक्रिया में सम्पर्क निहित है। सम्पर्क का यह अर्थ नही है कि व्यक्तियों के शरीर एक-दूसरे पर अतिक्रमण करें। केवल इतना ही आवश्यक है कि

अन्तःक्रियाशील पक्षों के मध्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संवेदनात्मक उद्दीपन हो। उद्दीपन में कुछ भाव निहित होता है और जब तक संवेदनात्मक सम्पर्क अर्थपूर्ण न हो, इसे सामाजिक सम्पर्क नहीं कहा जा सकता। मानव प्राणियों के सामाजिक व्यवहार में *अन्य व्यक्तियों की अर्थपूर्ण अनुक्रियाओं के उत्तर में अर्जित अनुक्रियाएँ* सम्मिलित होती हैं। अतएव, सामाजिक अन्तःक्रिया संचारशील अन्तःक्रिया होती है।

संचारशील अन्तःक्रिया अथवा सामाजिक सम्पर्क के अभाव को पृथक्करण (isolation) कहते हैं। यह सामाजिक सम्पर्करहित स्थिति है। व्यक्ति एवं समूह दोनों का पृथक्करण हो सकता है और दोनों ही अवस्थाओं में पृथक्करण के परिणाम गंभीर होते हैं। पूर्ण पृथक्करण इस अर्थ में कि व्यक्ति का किसी भी समय दूसरे व्यक्ति से कोई सम्पर्क नहीं होता, *केवल एक काल्पनिक वस्तु है*। शिशु भी कभी पृथक्करण की स्थिति में नहीं होता। यद्यपि वह शैशवावस्था में वाणीहीन होता है, तथापि वह अपने माता-पिता के संपर्क में रहता है जो उसका पालन-पोषण करते हैं। यह पैतृक देखभाल केवल मात्र सहज (innate) एवं स्वचालित नहीं है, अपितु अर्थपूर्ण भी है। बच्चा पैतृक संरक्षण के द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया में से गुजर रहा है।

पृथक्करण के प्रकार (Kinds of Isolation)

पृथक्करण के दो प्रमुख प्रकार हैं—स्थानिक पृथक्करण (*spatial isolation*) एवं जैविक पृथक्करण (organic isolation)। स्थानिक पृथक्करण बाह्य होता है। यह सम्पर्कों का बलपूर्वक हरण है, जैसे कैदियों के लिये जब किसी को समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जाता है अथवा एकान्त कारावास में डाल दिया जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने समूह के संरक्षण से वंचित हो जाता है। स्थानिक पृथक्करण के अधीन व्यक्ति उग्र हो जाते हैं जिनमें समाज-विरोधी व्यवहार की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है। किसी समय यह विचार किया जाता था कि एकान्त कारावास अपराधियों के चरित्र में सुधार करता है, परन्तु इसके परिणाम गंभीर हुए। इससे विषादी मानसिक दशाओं, लैंगिक विकृतियों तथा समाज-विरोधी मनोवृत्तियों का जन्म हुआ।

जैविक पृथक्करण का अर्थ है ऐसा पृथक्करण जो व्यक्ति के किसी अंग-विकार, जैसे बहरापन या गूँगापन के कारण उत्पन्न होता है। यह किसी बाह्य सत्ता द्वारा थोपा नहीं जाता, अपितु जैविक होता है। बहरे और अंधे व्यक्ति उन सब अनुभवों से वंचित रहते हैं जो स्वस्थ्य व्यक्ति प्राप्त करता है। बीथोवन (Beethoven) ने इस भाव को सशक्त अभिव्यक्ति दी जब उसने कहा कि "मेरे बहरेपन ने मुझे वनवासी बनने को बाध्य किया।" बहरे और अंधे व्यक्ति जनसंसर्ग में असमर्थ होते हैं। *परिणामस्वरूप उनको अपने मित्रों के चुनाव में असुविधा होती है।* उनका साहचर्य-क्षेत्र सीमित हो जाता है जिसके कारण उनकी बौद्धिक क्षमताओं का विकास नहीं हो पाता। वे शक्की, अविश्वासी, चिड़चिड़े और निराश्रित हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति जीवन में सामान्य पद पाने की आशा छोड़ देता है और उसका व्यक्तित्व विघटित हो जाता है। जैविक पृथक्करण आंशिक पृथक्करण है।

समाजशास्त्री लज्जा (shyness) को भी आंशिक पृथक्करण का एक प्रकार समझते हैं। यह जीवन के कुछ क्षेत्रों में समुचित अनुक्रियायें करने की असमर्थता के कारण उत्पन्न होती है। अधिकांशतः इसका कारण बचपन में कोई मानसिक धक्का होता है। यह धक्का उस समय लगता है जब बच्चा गौण सम्पर्कों के क्षेत्र में प्रवेश करता है। लज्जा व्यक्तित्व को विघटित करती है। यह व्यक्ति की सामान्य निर्णयात्मक शक्ति मे भी बाधक हो सकती है। कुशारोपन कभी-कभी लज्जा का परिणाम होता है।

एकान्त (*privacy*) भी आंशिक पृथक्करण का एक प्रकार है। एकान्त का अर्थ है कि व्यक्ति अपने आंतरिक आत्म के कुछ अंश को जन-नियंत्रण से हटा लेता है। इस स्थिति मे व्यक्ति के जीवन के कुछ क्षेत्र नियंत्रण से बाहर होते हैं, यथा निजी अन्तःकरण के मामले, निजी आस्थाओं के मामले या पारिवारिक मामले। *आधुनिक नगरीय क्षेत्रों में नागरिकों का निजी जीवन लोगों की दृष्टि से सुरक्षित* रहता है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रो मे ऐसा नहीं होता जहाँ पर सम्पूर्ण गाँव किसान की समस्याओं और उसके घरेलू जीवन से संबधित होता है। गाँव में व्यक्ति के पारिवारिक जीवन के प्रत्येक पक्ष पर जन-नियंत्रण होता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि गाँव मे व्यक्ति की गतिविधियों का क्षेत्र समग्र समुदाय की गतिविधियों से सम्बन्धित होता है। नगरीय क्षेत्रो मे ग्रामीण क्षेत्रो की अपेक्षा एकांत में लीन हो जाने की अधिक सम्भावनाएँ हैं। यह ध्यान रहे कि ये बाह्य परिस्थितियाँ ही होती हैं जो ऐसी भावनाओ एवं मनोवृत्तियों को उत्पन्न करती हैं, जिन्हें निजी कहा जाता है।

एकान्त व्यक्तीकरण के विकास में एक महत्वपूर्ण सहायक तत्व है। यह आतरिक व्यक्तीकरण की प्रवृत्ति का पोषण करता है। यह दोनों कानूनी एवं नैतिक आदर्शों के दोहरे मानक को उत्पन्न करता है। अत्यधिक एकान्त व्यक्तित्व को विघटित कर सकता है। एकान्त के आतरिक संसार तथा सामान्य गतिविधियों के संसार के बीच आतरिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति दो अलग-अलग ससारों में रहने लगता है।

पृथक्करण : इसका नकारात्मक महत्व (Isolation : Its Negative Value)

व्यक्ति का एकान्त नकारात्मक महत्व रखता है जिसका क्षतिपूरक लाभ हो या न हो। भक्त की ऐच्छिक निवृत्ति भी स्वयं भक्त द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की बड़ी कीमत समझी जाती है। व्यक्ति एकान्त पसन्द नहीं करते। इसके कारण स्पष्ट हैं। मानव-समाज के सदस्य अन्योन्याश्रित हैं। वे स्वयं अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। उन्हे मानव-संगति की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी अर्जित रुचियाँ है जिनकी संतुष्टि दूसरों पर आश्रित है, यथा ड्रामा, जीत अथवा बाह्य संसार की खबरें, आदि। इसके साथ ही, मानव-व्यक्तित्व की संरचना स्वयं सामाजिक अन्त.क्रिया की उपज है। जब यह अन्त.क्रिया समाप्त हो जाती है, मानव-व्यक्तित्व का पतन शुरू हो जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व केवल मानव-सम्बन्धों के बीच ही विकसित हो सकता है। सामाजिक सम्बन्धों के साधनात्मक मूल्य के अतिरिक्त, सामाजिक सम्बन्ध स्वयं एक साध्य भी हैं। मनुष्य मे मानव-संगति के लिये

उत्कट अभिलाषा होती है। सामाजिक दृढ़ता के लिये सामाजिक सम्बन्धों के महत्व पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति सदा के लिये एकान्त को सहन नहीं कर सकता।

व्यक्ति के पूर्ण पृथक्करण को समाज के लिये लाभदायक नहीं कहा जा सकता। परन्तु अस्थायी अथवा आंशिक पृथक्करण कई बार वांछनीय और लाभकारी होता है। वस्तुत:, व्यक्ति का पृथक्करण सामाजिक संगठन के एक भाग के रूप में केवल अस्थायी और आंशिक ही होता है। व्यक्ति को कभी-कभी स्वयं को समाज से दूर करना पड़ता है. स्वयं को अपने में सीमित करना पड़ता है, ताकि वह अपने व्यक्तित्व की विघटन से रक्षा कर सके और इसकी पूर्णता को बनाये रख सके। परन्तु यदि वह स्वयं को समाज से पूर्णतया अलग कर लेता है तो उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जायगा। पृथक्करण जितना पूर्ण एवं लम्बा होगा, उतना ही गहरा अन्तर व्यक्ति तथा समूह के ध्येयों में उत्पन्न हो सकता है।

समाजों और समूहों का पृथक्करण (Isolation of societies and groups)—बहुत कम समाज दीर्घ काल तक दूसरे सभी समाजों से पूर्णतया पृथक् रहे हैं। तदपि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो सामाजिक पृथक्करण की पराकाष्ठा के द्योतक हैं। समाजों में दो कारणों से पृथक्करण हो सकता है—भौतिक एवं भाषायी। पर्वत, बड़ी-बड़ी नदियाँ, बन तथा अन्य भौतिक बाधाएँ एक समूह को दूसरे समूह से अलग करने में महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। भौतिक पृथक्करण सामाजिक पृथक्करण को उत्पन्न करता है, क्योंकि भौतिक रूप से पृथक् समूह को दूसरे समूहों की संस्कृति से उधार लेने के कम अवसर तथा कम प्रवृत्ति भी होती है। पहाड़ों के दूरस्थ निवासियों पर पिछले सौ वर्षों की ऐतिहासिक घटनाओं और सांस्कृतिक प्रगति का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। उनका अभी तक पुराना पारिवारिक जीवन चलता है और उन्होने आधुनिक संस्कृति के सम्पर्क का लाभ अभी उठाया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भौतिक अभिगम्यता विदेशों से सांस्कृतिक तत्व उधार लेने में सहायक होती है। नगरों की सामरिक महत्व की स्थिति ही उनको देश के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक केन्द्र बना देती है।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि यातायात के साधनों के विकास ने समूहों के भौतिक एकान्त को समाप्त कर दिया है जिससे समूह की संस्कृति के निर्धारण में पर्वतों, नदियों, समुद्रों अथवा अन्य भौगोलिक तत्वों का महत्व कम हो गया है। जो किसी समय भौतिक बाधाएँ थीं, वे अब यात्रा के मार्ग बन चुके हैं। अटलाण्टिक महासागर जिसने कभी अमेरिका के आदिवासियों को यूरोप से पृथक् कर दिया था, अब जहाजरानी में उन्नति हो जाने से यात्रा का मार्ग बन गया है। वर्तमान प्रौद्योगिकियों ने व्यक्ति को प्राकृतिक बाधाएँ लाँघने के समर्थ बना दिया है जिससे उसके आने-जाने के मार्ग में बाधाएँ कम हो गई हैं। यदि एक पर्वत रेल-मार्ग में बाधक है तो उसमें सुरंग बनाई जा सकती है। हवाई अड्डा बनाने के स्थान पर यदि कोई पहाड़ी है तो उसे समतल किया जा सकता है। संक्षेप में, भौतिक पृथक्करण अब कम महत्वपूर्ण रह गया है।

भाषायी पृथक्करण भौतिक पृथक्करण की अपेक्षा सांस्कृतिक आदान-प्रदान में देरी करने वाला अधिक महत्वपूर्ण तत्व है। हमें ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ लोग बहुत निकट रहने पर भी भाषा के कारण पृथक् रहते हैं। हमारे देश में सैकड़ों बोलियाँ बोली जाती हैं। भारत के संविधान में चौदह भाषाओं को भारत संघ की भाषा माना गया है। न केवल दक्षिण तथा उत्तर के लोग एक-दूसरे के लिए अजनबी हैं तथा आपस में बातचीत करने की स्थिति में नहीं है, अपितु एक ही प्रदेश के निवासी एक-दूसरे से भाषायी रूप में पृथक् हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोलते हैं। ऐसी भाषायी विभिन्नताओं ने उन लोगों, जो भौगोलिक दृष्टि से बहुत निकट हैं, के बीच सामाजिक सम्पर्क में प्रभावपूर्ण बाधाएँ डाली हैं तथा अन्तःसमूह-संचार को सीमित कर दिया है, जबकि परिस्थितियों ने विभिन्न समूहों को एक-दूसरे के निकट इकट्ठा भी कर दिया है।

एक समूह, जो दूसरे समूह से भौगोलिक अथवा भाषायी तत्वों के कारण पृथक् रहता है, में परिवर्तन धीमा होता है। यह रीति-रिवाजों, अर्जित की अपेक्षा प्रदत्त प्रास्थिति तथा पवित्र मूल्यों पर आश्रित रहता है। यह सांस्कृतिक सकर-उर्वरण (cross-fertilization) के प्रभाव से अछूता रहता है। यह शेष संसार से कट जाता है तथा इसकी प्रगति धीमी होती है। यह अन्य सांस्कृतिक प्रणालियों से कुछ नहीं सीख पाता। यह दूसरे लोगों के साथ कोई सांस्कृतिक आदान-प्रदान नहीं कर सकता। ऐसा समूह देशज संस्कृति का द्वीप बन जाता है जो दूसरे, यहाँ तक कि पड़ोसी व्यक्तियों, के सांस्कृतिक विकासों से अछूता रहता है। यह भी ध्यान रखा जाय कि कभी-कभी पृथक्करण सामाजिक रूप से थोपा भी जा सकता है, जबकि कोई सरकार किसी कारणवश दूसरे देश के लोगों से मिलने पर प्रतिबंध लगा देती है अथवा जब कोई विशेष समूह अपने सदस्यों को दूसरे समूहों के सम्पर्क में आने की मनाही कर देता है। भारत में अस्पृश्यता का प्रचलन सामाजिक रूप से थोपा गया पृथक्करण है। अतएव सामाजिक पृथक्करण हानिकारक है, क्योंकि यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान को रोकता है। परन्तु यह कभी-कभी सामाजिक दृढ़ता में सहायक तथा अहवादी मनोवृत्ति का महत्वपूर्ण विधेय होता है। पृथकीकृत समूह अपने विशेष सांस्कृतिक गुणों को आदर्शात्मक—वास्तव में आचरण के केवल स्वीकृत तरीके मानता है। समूह के सदस्य अपने ही तरीकों को पसन्द करते हैं। समाज के अन्दर विशिष्ट समूहों की सत्यनिष्ठा को दूसरे समूहों से सामाजिक दूरी कायम रख कर दृढ़ बनाया जाता है। पृथक्करण समूहों की स्थिरता एवं दृढ़ता को उन्नत करता है, परन्तु पूर्ण एवं स्थायी पृथक्करण कदाचित् ही सामाजिक दृष्टि से लाभदायक हो। आंशिक पृथक्करण सामाजिक संगठन में उपयोगी तत्व है।

प्रश्न

१. सामाजिक अन्तःक्रिया की परिभाषा दीजिए और इसके विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश डालिए।

२. सामाजिक प्रक्रिया का क्या अर्थ है? संघर्ष कहाँ तक सामाजिक प्रक्रिया है? सामाजिक जीवन में इसका क्या स्थान है?

३. सामाजिक जीवन में सहयोग और प्रतियोगिता की भूमिका का उल्लेख कीजिए।
४. सामाजिक प्रक्रिया में समायोजन और सात्मीकरण के महत्व पर प्रकाश डालिए।
५. "समाज संघर्ष से कटा हुआ सहयोग है।" इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिए।
६. प्रतियोगिता और संघर्ष में क्या अन्तर है ? उदाहरण दीजिए।
७. सात्मीकरण और समायोजन में अंतर बताते हुए सात्मीकरण के सहायकों और बाधाओं की आलोचना कीजिए।
८. सामाजिक जीवन में पृथक्करण का क्या महत्व है ? स्पष्ट कीजिए।

अध्याय १०

समाज तथा पर्यावरण

[SOCIETY AND ENVIRONMENT]

१. पर्यावरण का अर्थ

(Meaning of Environment)

पर्यावरण का अर्थ है कोई वस्तु जो हमे घेरे हुए है। इस अर्थ में पर्यावरण में वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो यद्यपि हमसे पृथक् हैं, तथापि हमारे जीवन या हमारी गतिविधि को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करती हैं। इसमे सभी प्रभाव एवं परिस्थितियाँ शामिल होती हैं जो किसी घटना के घटित होने पर वर्तमान होती हैं। यह एक बाह्य शक्ति है जो हमें प्रभावित करती है। इस प्रकार, पर्यावरण कोई सरल नहीं, अपितु एक जटिल घटना-वस्तु है जिसके कई रूप होते हैं, जैसे—भौतिक पर्यावरण, प्राणिशास्त्रीय पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण तथा अपर-सामाजिक पर्यावरण। भौतिक पर्यावरण में भौगोलिक, जलवायु-सम्बन्धी एवं नियंत्रित भौगोलिक वातावरण सम्मिलित हैं। प्राणिशास्त्रीय पर्यावरण में मनुष्य के चारों ओर पाये जाने वाले जीव-जन्तु एवं पौधे सम्मिलित हैं। सामाजिक पर्यावरण में तीन प्रकार का पर्यावरण—आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मनो-सामाजिक वातावरण शामिल है। अपर-सामाजिक पर्यावरण में ईश्वर या आधिप्राकृतिक शक्ति के बारे में विचार सम्मिलित हैं। इस प्रकार वे सब परिस्थितियाँ जो मनुष्य को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं या करती रही हैं, पर्यावरण कहलाती हैं।

मैकाइवर (MacIver) ने 'सम्पूर्ण पर्यावरण' (total environment) शब्द का प्रयोग किया है। इसकी परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "सम्पूर्ण पर्यावरण से हमारा तात्पर्य उस 'सब कुछ' से है जिसका अनुभव सामाजिक मनुष्य करता है, जिसका निर्माण करने में व्यक्ति सक्रिय रहता है और उससे स्वयं प्रभावित भी होता है।" वास्तव में, 'पर्यावरण' और 'सम्पूर्ण पर्यावरण' पृथक्-पृथक् शब्द नहीं हैं। जब हम मानव को प्रभावित करने वाली केवल वर्तमान दशाओं से सम्बन्ध रखते हैं तो वह 'पर्यावरण' कहलाता है, परन्तु जब हम केवल वर्तमान दशाओं से ही सम्बन्ध न रख कर भूत, भविष्य सभी दशाओं की सम्पूर्णता पर ध्यान देते हैं तो उसको 'सम्पूर्ण पर्यावरण' कहा जाता है।

२. भौतिक पर्यावरण

(Physical Environment)

भौतिक पर्यावरण में वे परिस्थितियाँ शामिल हैं जो प्रकृति ने मानव को प्रदान की हैं। मैकाइवर के अनुसार, इसमें पृथ्वी का धरातल और उसकी सम्पूर्ण प्राकृतिक दशाएँ और प्राकृतिक साधन, भूमि और जल, पहाड़ और मैदान, खनिज

पदार्थ, पौधे, पशु-पक्षी, जलवायु, पृथ्वी पर लीला करने वाली तथा मानव-जीवन को प्रभावित करने वाली विद्युत् तथा विकीर्णन शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं।"[1] भौतिक पर्यावरण को प्राकृतिक, अनियंत्रित एवं कृत्रिम पर्यावरण में विभाजित किया जाता है। पूर्वोक्त मे वे बाह्य भौतिक वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं जिनमें मनुष्य कुछ सामान्य परिवर्तन ही कर सकता है, परन्तु सामान्यतया वे मनुष्य के नियंत्रण के परे होती हैं और उनमे कोई बड़ा परिवर्तन कर पाना मनुष्य की शक्ति से बाहर होता है। इस प्रकार के पर्यावरण में सम्पूर्ण ग्रहों—यथा सूर्य, तारे आदि, वायु एवं वर्षा, पर्वत एवं समुद्र, ऋतुयें, ज्वार-भाटे तथा सामुद्रिक धाराएँ शामिल हैं। दूसरी ओर, नियंत्रित भौगोलिक पर्यावरण में वे दशाएँ सम्मिलित हैं जो मनुष्य की प्रत्यक्ष नियंत्रण-शक्ति में होती हैं और जिनको वह परिवर्तित कर सकता है। इनमें धरती के विशाल क्षेत्र जिन पर वह खेती करता है, नदियाँ एवं अन्य जलस्रोत जिन पर वह बाँध बनाता और नहरें निकालता है, आदि शामिल हैं।

भौतिक पर्यावरण का प्रभाव (Influence of Physical Environment)

हम समाजशास्त्र तथा भूगोल के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करते समय पढ़ चुके हैं कि भौतिक पर्यावरण का मनुष्यों एव समूहों के व्यवहार को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण हाथ होता है। मानव-जीवन पर भौतिक पर्यावरण के प्रभाव का अध्ययन मान्टेस्क्यू (Montesquieu) के समय से ही किया जा रहा है। उसके बाद ली प्ले (Le Play), डेमोलिंस (Demolins) एव ब्रनहेस (Brunhes) ने प्राकृतिक पर्यावरण तथा सामाजिक घटना-वस्तु के बीच सम्बन्धों का अध्ययन किया है। उन्होंने प्राकृतिक जीवन की विशेषताओं तथा सामाजिक विकास के बीच सम्बन्ध पर विशेष बल दिया है जिसके परिणामस्वरूप अमेरिकी समाजशास्त्र के दो सम्प्रदायों—पारिस्थितिक सम्प्रदाय (Ecological School) तथा प्रादेशिक सम्प्रदाय (Regional School) का विकास हुआ। पारिस्थितिक सम्प्रदाय की मुख्य रुचि नगरीय क्षेत्रों से सम्बद्ध सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटना-वस्तु में रही है। स्थान-विशेष (*locality*) के सामाजिक प्रभावों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखते हुए परिस्थितिशास्त्रियों ने उन प्रक्रियाओं की विवेचना की है जो ग्रामीण तथा नगरीय समुदायो में पायी जाती हैं। प्रदेशवादियों (Regionalists) ने मनुष्य के भौतिक वातावरण एवं उसके सामाजिक जीवन के बीच सम्बन्ध को बतलाने का प्रयत्न किया है। डब्लू० एच० ओडम (W. H. Odum) पारिस्थितिक सम्प्रदाय का अग्रकर्ता है। पार्क एवं बर्गेस (*Park* and Burgess) की खोजों ने इस सम्प्रदाय का आगे विकास किया। जर्मनी में रैटजेल (Ratzel) ने भौगोलिक सम्प्रदाय की एक महत्वपूर्ण शाखा 'मानव-भूगोल' को जन्म दिया। इंगलैंड मे एच० टी० बकल (H. T. Buckle) ने इन्हीं आधारों पर सभ्यता का इतिहास लिखा। इसी प्रकार अमेरिकी लेखकों—यथा, सेंपल (Semple), डेक्सटर (Dexter) एवं हंटिंगटन (Huntington) ने मानव-समाज पर जलवायु के प्रभावों का चित्रण किया है।

सामाजिक विकास तथा प्राकृतिक पर्यावरण के बीच सम्बन्ध के बारे में किये गये उपर्युक्त अध्ययनों से प्राप्त सामान्य निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं—

---

1. MacIver, *Society*, p. 98.

जनसंख्या (Population)—किसी देश की भौतिक दशाएँ उसकी जनसंख्या के वितरण, मात्रा एवं सघनता पर काफी प्रभाव डालती हैं। मैदानी क्षेत्र पर्वतीय क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक घने बसे होते हैं। इसी प्रकार, मरुस्थलों में तथा उन स्थानों पर जहाँ वर्षा की कमी है, जनसंख्या की सघनता कम होती है। तापमान, वर्षा एवं आर्द्रता प्राकृतिक तत्व हैं जो जनसंख्या की सघनता को निर्धारित करते हैं।

भौतिक आवश्यकताएँ (Physical necessities)—किसी देश की भौगोलिक स्थिति वहाँ के निवासियों के रहन-सहन, भोजन, वेश-भूषा एवं पशुपालन को प्रभावित करती है। ब्रनहेस (Brunhes) के अनुसार, "यदि घर में प्राप्त प्रत्येक वस्तु की व्याख्या भूगोल द्वारा नहीं की जा सकती, तो कम-से-कम मानव के रहन-सहन को भूगोल की सहायता के बिना पूर्णतया समझा भी नहीं जा सकता।" ऐस्किमो जाति बर्फ के घरों में रहती है; पशु की खालों को वस्त्रों के रूप में प्रयोग करती है तथा भोजन में मांस और मछली (Seal) की बहुतायत है। इसके विपरीत, पर्वतीय क्षेत्रों में घर लकड़ी एवं पत्थर के बने होते हैं, जब कि मैदानों में ईंट और सीमेंट के। टुण्ड्रा प्रदेश में अत्यधिक सर्दी के कारण मकानों में खिड़कियाँ नहीं लगाई जातीं, जबकि गर्म प्रदेशों में मकानों को खुला रखा जाता है।

खान-पान पर भी भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार, बंगालियों का भोजन चावल है, जबकि पंजाबियों का गेहूँ। अर्जेण्टाइना, उत्तरी अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में गेहूँ का और चीन, जापान, बर्मा आदि प्रदेशों में चावल का उपयोग अधिक होता है। पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोग मोटे और ऊनी कपड़े पहनते हैं, जबकि मैदानों के लोग हल्के और सूती कपड़े पहनते हैं। मौसम के अनुसार भी वस्त्र बदल जाते हैं। हम शीत ऋतु में ऊनी कपड़े पहनते हैं, जबकि ग्रीष्म ऋतु में सूती और बारीक कपड़े।

विशेष प्रकार के पशुओं को भी विशेष प्रकार के भौगोलिक पर्यावरण में ही पाला जा सकता है। राजस्थान में ऊँट, पहाड़ों पर बकरियाँ और भेड़ें तथा मैदानों में गायें और भैंसें पाली जाती हैं।

व्यवसाय (Occupations)—मनुष्यों के व्यवसाय भी भौगोलिक तत्वों से प्रभावित होते हैं। भारत के सभी तटीय क्षेत्रों में मछली पकड़ना प्रमुख व्यवसाय है। आसाम मे तेल के कूप पाये जाते हैं। उत्तरी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि है। उत्तर प्रदेश में गन्ने की अच्छी उपज होने के कारण चीनी की मिलें अधिक हैं। पहाड़ी लोग भेड़ों को पालने का धन्धा करते हैं।

शारीरिक विशेषताएँ (Physiological characteristics)—प्राकृतिक अवस्थाएँ चमड़ी के रंग, कद, बालों के रंग एवं रूप, नाक की आकृति, हाथों की बनावट आदि को भी प्रभावित करती हैं। गर्म जलवायु के लोगों की चमड़ी काली होती है, ठंडे प्रदेश वालों की श्वेत। सेंपल (Semple) का कथन है कि "कद पर खान-पान और भौगोलिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है, परन्तु समान शारीरिक लक्षणों वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न पर्यावरण में अथवा भिन्न-भिन्न शारीरिक लक्षणों के व्यक्ति समान पर्यावरण में पाये जाते हैं।"

मानव-गतिविधियाँ (Human activities)—दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार, ऋतुओं तथा आपराधिक क्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध है। हटिंगटन (Huttington) का भी विचार है कि भौगोलिक पर्यावरण का मानव-गतिविधियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। गर्मी या सर्दी की अतिशयता भी मानव-क्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। यह स्पष्ट है कि समशीतोष्ण तापमान ही मानव-क्रिया के लिये उपयुक्त है।

शक्ति एवं कौशल (Energy and skill)—हटिंगटन ने लिखा है "वायु में आर्द्रता की मात्रा स्वास्थ्य एवं शक्ति को नियमित करने के महत्वपूर्ण कारकों में से एक है।" उसके अनुसार, "जब तापमान अत्यधिक गिर जाता है, तो उससे शारीरिक क्रिया की अपेक्षा मानसिक क्रिया अत्यधिक क्षीण हो जाती है, और यदि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता तो तब भी उतनी ही हानि होती है।"[1] रास (Ross) के अनुसार, "मध्यम जलवायु में ही शक्ति, आकांक्षा, आत्म-निर्भरता, उद्योग, परिश्रम एवं मितव्ययिता जैसे गुणों का विकास होता है।"[2]

सभ्यता एवं संस्कृति (Civilization and Culture)—सभ्यता एवं संस्कृति भी भौगोलिक पर्यावरण द्वारा प्रभावित होती है। आदि सभ्यताएँ फरात, गंगा, नील और यांग-सी-क्याग की घाटियों में विकसित हुई। यदि डेन्यूब या राइन (Rhine) नदियाँ न होती, तो यूरोप की सभ्यता बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की होती। संस्कृति भी भौगोलिक पर्यावरण से प्रभावित होती है। कला, साहित्य तथा जीवन-विधियों पर उस देश के प्राकृतिक पर्यावरण का प्रभाव देखा जा सकता है। प्राकृतिक दशाएँ जीवन के प्रति दृष्टिकोण, रीति-रिवाज, लोकगीत, वैवाहिक संस्थाओं, सरकार के रूप आदि को प्रभावित करती हैं। कीरे (Keary) के अनुसार, "लोगों की विचारधारा इस धरती पर उनकी स्थिति, प्राकृतिक दृश्यावली जिसके बीच उनका जीवन गुजरता है और प्राकृतिक घटना-वस्तु जिनके वे अभ्यस्त हो जाते हैं, पर काफी निर्भर होती है।"[3] लोगों के विचार एवं उद्देश्य उनके जीवन-यापन की विधियों से प्रभावित होते हैं। यदि देश में लोहे और तेल के भाण्डार न हों तो उसकी सैनिक-शक्ति काफी सीमित हो जाती है।

आर्थिक संगठन (Economic Organisation)—किसी देश का आर्थिक संगठन भी भौगोलिक दशाओं से निर्धारित होता है। देश की आर्थिक समृद्धि के लिए यथेष्ठ प्राकृतिक स्रोतों का होना आवश्यक है। किसी स्थान का उत्पादन वहाँ पर प्राप्य कच्चे माल पर निर्भर करता है। बिहार में लोहे के कारखाने इसीलिए पाये जाते हैं, क्योंकि वहाँ लोहे की खानें हैं। बम्बई प्रान्त में कपास की खेती तथा नम जलवायु के कारण वहाँ सूती कपड़ा-मिलों का उद्योग पनप गया है। यदि किसी देश की जलवायु अधिक अनुकूल है तो वह देश अधिक धनी होगा। प्रत्येक प्रकार का खनिज-पदार्थ प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं होता, इसका कारण भौगोलिक पर्यावरण का प्रभाव है। सोना व चाँदी की खानें मैसूर प्रान्त में पायी जाती हैं

1. Huttington, E., *Civilization and Climate*, p. 43.
2. Ross, *Principles of Sociology*, p. 81.
3. Keary, C. F, *Outlines of Primitive Belief*, p. 325.

जबकि बिहार में कोयले की खानें अधिक हैं। खेती मैदानों में हो सकती है, पहाड़ों पर नहीं।

राजनीतिक संगठन (Political organisation)—हंटिंगटन के अनुसार, "खनिज पदार्थों का भौगोलिक वितरण अंतर्राष्ट्रीय युद्धों एवं संघर्षों का एक महत्वपूर्ण कारण है।"

मैदानों का प्रभाव (Influence of plains)—ऊपर हमने मानव-जीवन पर भूगोल के सामान्य प्रभाव का वर्णन किया है। अब हम मैदानें, पर्वतों एवं रेगिस्तानों के मानव-जीवन पर प्रभाव का विशेष रूप से वर्णन करेंगे। सर्वप्रथम हम मैदानों के प्रभाव का वर्णन करते हैं—

(१) **जनसंख्या** (Population)—जनसख्या पर मैदानों का प्रभाव इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि मैदानों में जनसंख्या अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक होती है। मैदानों में नगरों तथा घने बसे हुए शहरों की संख्या अधिक होती है।

(२) **आर्थिक जीवन** (Economic life)—क्योंकि मैदानों में नगरों के अंदर जनसंख्या की अधिक सघनता होती है, अतएव वहाँ पर प्रमुख उद्योग पाये जाते है। मैदानों में रहने वाले लोगों का जीवन-स्तर अधिक समृद्ध होता है। कृषि उनका मुख्य व्यवसाय होता है। पशुपालन भी मैदानों में अधिक अच्छी प्रकार किया जा सकता है।

(३) **संचार के साधन** (Means of communication)—मैदानों में सड़को एवं रेलवे-पटरियों का जाल बिछा होता है जिससे यातायात सुगम होता है।

(४) **सामाजिक जीवन** (Social life)—मैदानों में जीवन-स्तर ऊँचा होता है। सभ्यता के माध्यम से संस्कृति की प्रगति निश्चित होती है। कला, साहित्य एवं संगीत की प्रगति होती है। शिक्षा का भी सुगमता से प्रसार होता है। सामाजिक संगठन दृढ होता है। कृषिक व्यवसायों का आधिक्य होने के कारण लोगों का देवताओं मे विश्वास होता है। सामूहिक एकता की भावना मे भी वृद्धि होती है।

(५) **राजनीतिक जीवन** (Political life)—आवागमन एवं संचार के साधनों की सुगमता का राजनीतिक क्रिया-प्रणाली पर भी प्रभाव पड़ता है। प्रशासकीय कार्यों को दक्षतापूर्वक पूरा किया जा सकता है। आवागमन के द्रुतगामी साधन उपलब्ध होने से पुलिस एवं सेना का कार्य सुगम हो जाता है। राजनीतिक विचारो एवं प्रचार का विनिमय सरलीकृत हो जाता है। लोगों का सम्पर्क बढ़ता है, जिससे उनमें सामाजिक एकता की भावना का विकास होता है। क्योंकि लोगों का जीवन समृद्ध एवं संतुष्ट होता है, अतएव वे देश के राजनीतिक मामलों में सक्रिय रुचि लेते हैं।

पर्वतों का प्रभाव (Influence of hills)—समाज पर पर्वतों का प्रभाव निम्न प्रकार पड़ता है—

(१) **जनसंख्या** (Population)—पहाड़ी क्षेत्रों में जनसंख्या कम होती है।

जनसंख्या का वितरण असम होता है। लोग भूखण्ड की असमता के कारण बिखरे हुए रहते हैं।

(२) आर्थिक संगठन (Economic organisation)—पहाड़ी क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की आर्थिक दशा मैदानों में रहने वाले व्यक्तियों की दशा की अपेक्षा अधिक निर्बल होती है। पहाड़ी लोग साधारणतया गरीब होते हैं। यातायात एवं संचार के साधनों की कमी के कारण औद्योगिक विकास कठिन हो जाता है। भूखण्ड, असमतल होने के कारण, कृषि-योग्य नहीं होता। आधुनिक कृषिक यंत्रों का उपयोग नही किया जा सकता। खेती के तरीके पुराने तथा घिसे-पिटे होते हैं। वहाँ पर बड़े-बड़े फार्म नहीं बनाये जा सकते। अधिकांश तलीय मिट्टी वर्षा के द्वारा बह जाती है। इस प्रकार पर्वतों पर बड़े और सुनियोजित स्तर की खेती नही हो पाती। लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन, फल, मेवे, ऊन, चाय की खेती तथा लकड़ी पर नक्काशी करना होता है।

(३) सामाजिक जीवन (Social life)—पहाड़ी लोग सामान्यतया धार्मिक कट्टरपंथी और अनुदार होते हैं। जनसंख्या के बिखरी होने के कारण सामाजिक एकता की भावना का विकास नही हो पाता। लोगों को जीवन-निर्वाह के लिए घोर परिश्रम करना पड़ता है। उन्हें कला तथा साहित्य का विकास करने के निमित्त यथेष्ट समय नही मिलता। सर्दी की अधिकता के कारण अनेक दिन बेकार हो जाते हैं, जिनमें कोई कार्य 'नही हो पाता। यातायात एवं संचार के साधनों का अभाव होने के कारण लोगों को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारो का लाभ नहीं पहुँच सकता। शिक्षा की कमी के कारण डाक्टरों, इंजीनियरो, अध्यापको की कमी होती है। वे साधारणतया देवी-देवताओ की पूजा मे अधिक विश्वास करते हैं।

(४) राजनीतिक जीवन (Political life)—पर्वतवासियों का राजनीतिक जीवन सुसंगठित नही होता। जनसंख्या के तितर-बितर स्वरूप तथा यातायात के अल्प साधनों के कारण प्रशासन के संगठित रूप का विकास नहीं हो पाता। निर्धनता तथा शिक्षा की कमी प्रजातंत्रीय विचारों को विकसित नही होने देती।

रेगिस्तान का प्रभाव (Influence of deserts)—मरुस्थलो में बहुत कम वर्षा तथा बहुत कम नदियाँ होती हैं। जलवायु गर्म होती है। सामाजिक जीवन पर मरुस्थलों का प्रभाव निम्न प्रकार है—

(१) जनसंख्या (Population)—जनसख्या कम एव बिखरी हुई होती है। दक्षिणी अरेबिया एवं अफ्रीका के सहारा में तीन लाख वर्गमील में कोई जनसंख्या नहीं है।

(२) आर्थिक जीवन (Economic life)—यातायात एवं संचार के साधनो की कमी होने के कारण आर्थिक जीवन स्वाभाविक रूप से पिछड़ा हुआ होता है। वर्षा अथवा नदी के न होने के कारण कृषि नही हो पाती। निस्सदेह खजूर के वृक्ष बहुत होते हैं। चारे की तलाश में व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमते फिरते हैं। आर्थिक पिछडेपन के कारण व्यापार की स्थिति समृद्ध नहीं होती। परिणामस्वरूप, मरुस्थलीय प्रदेश निर्धन होते हैं।

(३) सामाजिक जीवन (Social life)—अत्यधिक निर्धनता एवं कठोर जीवन के कारण मरुस्थल-निवासियों का सामाजिक जीवन असंगठित होता है। वे काफिलों में रहते हैं। काफिले उनकी मूलभूत सामाजिक इकाइयाँ होते हैं। बहुधा इन काफिलों में संघर्ष होते रहते हैं। लूट-मार करना उनके जीवन-यापन का एक अंग बन गया है। उनमें अच्छे सामाजिक जीवन की विधियों का अभाव होता है। निर्धनता के कारण वे शिक्षा से वंचित रहते हैं। यातायात एवं संचार के अपर्याप्त साधनों के कारण सभ्य संसार से उनका बहुत कम सम्पर्क हो पाता है। धार्मिक अन्धविश्वास एवं हठवादिता के कारण वे कठोर और निर्दयी होते हैं।

(४) राजनीतिक जीवन (Political life)—सुदृढ़ सरकार की स्थापना मरुस्थलों में एक समस्या है। सरकार को शांति एवं सुव्यवस्था कायम रखने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। निर्धनता के कारण सरकार उन पर अधिक कर भी नहीं लगा सकती, फलतः उनको उत्तम शिक्षा तथा अन्य सामाजिक कल्याण-कारी सुविधाएँ देने में असमर्थ रहती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भौगोलिक पर्यावरण लोगों के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन पर काफी प्रभाव डालता है। सैंपिल (E. C. Semple) का कथन है कि "मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाने का इतना शोर मचाया है तथा प्रकृति मनुष्य पर अपना निरन्तर प्रभाव बनाये रखने में इतनी शांत रही है कि मानव-विकास में भौगोलिक तत्व की उपेक्षा कर दी गयी है।"[1] भौगोलिक सम्प्रदाय के विचारकों के अनुसार, प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन का कारण भौगोलिक पर्यावरण है। रैटजेल (Ratzel) के शब्दों में, "बुद्धि एवं संस्कृति में हमारे विकास, वह सब जिसे हम सभ्यता की उन्नति कहते हैं, की तुलना पक्षी की असीमित उड़ान की अपेक्षा किसी पौधे के ऊपरी भाग से की जा सकती है। हम सदा पृथ्वी से बँधे रहते हैं, जैसे टहनी केवल तने पर ही उग सकती है। मानव-प्रकृति निर्मल व्योम में अपना सिर ऊँचा उठाने का दम भर सकती है, परन्तु इसके पैर सदा पृथ्वी पर रहते हैं और मिट्टी को मिट्टी में मिल जाना है।" हंटिंगटन (Huttington) के अनुसार, "सभ्यता का विकास एवं ह्रास पूर्णतया भौगोलिक तत्व पर निर्भर है। भौगोलिक तत्वों में जलवायु सबसे महत्वपूर्ण तत्व है।" उसका कहना है कि जलवायु सभ्यता की प्रगति तथा उसके पतन की प्रमुख निर्धारक है। अच्छी जलवायु के अभाव में सभ्यता की प्रगति नहीं हो सकती। यदि जलवायु अनुकूल नहीं है तो सभ्यता का ह्रास आरम्भ हो जाता है, अथवा इसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। हक्सले (Huxley) ने भी जलवायु तथा सभ्यता के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार, केवल गर्म जलवायु वाले प्रदेश तथा समशीतोष्ण प्रदेश ही मानव-निवास के लिये उपयुक्त हैं। थामस हेवुड (Thomas Haywood) के अनुसार, "संसार एक नाट्यशाला है; पृथ्वी एक मंच (Stage) है तथा ईश्वर एवं प्रकृति अभिनेता हैं।" ब्रिलॉट सैवरिन (Brillot Savarin) ने कहा है, "मुझे यह बतलाओ कि आप क्या खाते हैं और मैं यह बतला दूंगा कि आप क्या हैं।"

---

1. "Man has been so noisy about the way he has conquered nature and nature has been so silent in her persistent influence over man, that the geographic factor in the equation of human development has been overlooked." —Semple, E. C., *Influence of Geographic Environment*, p. 2.

भौगोलिक सम्प्रदाय का मूल्यांकन (Evaluation of Geographical School)

ऊपर जो कुछ बतलाया गया है, उससे निष्कर्ष निकालने में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है। सामाजिक घटनाओं का निर्धारण करने में प्राकृतिक पर्यावरण ही एकमात्र कारण नही होता। दोनों में कोई स्थायी सम्बन्ध नही है। अनेक उदाहरणो में, अत्यधिक भिन्न प्राकृतिक परिस्थितियो में रहने वाले लोगों मे समान सांस्कृतिक रीति-रिवाज पाये जाते हैं। एकपत्नीत्व-प्रणाली सभी देशों में पाई जाती है। ईसाई धर्म को विभिन्न प्रकार की जलवायु में रहने वाले लोगों ने अपनाया है। इसके अतिरिक्त हमें जलवायु के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभावों में भी अंतर करना चाहिए। उदाहरण के लिए, गर्म क्षेत्रों मे जन्म-दर और मृत्यु-दर सम जलवायु वाले प्रदेशो की अपेक्षा अधिक होती है। परन्तु, इसके लिए जलवायु को ही प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी मान लेना गलत होगा। ऐसे मामलों में वहाँ के निवासियो के प्रजातीय स्वरूप, वहाँ के आर्थिक विकास की मात्रा, वहाँ की सास्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी अवस्थाओं एव धार्मिक विश्वासों में विद्यमान अंतर को भी ध्यान में रखना होगा। इसमें कोई सदेह नही कि इन सभी बातों पर वहाँ की जलवायु का प्रभाव पडता है, परन्तु यह समझना गलत है कि गर्म क्षेत्रों में जन्म-दर व मृत्यु-दर अधिक होने का एकमात्र कारण जलवायु ही है।

समान जलवायु में भिन्न-भिन्न सामाजिक संस्थायें (Different institutions under the same climate)—समान भौगोलिक अवस्थाओ में रहने वाले भिन्न-भिन्न समूहो के रीति-रिवाजों, संस्थाओ, स्वभावो आदि मे बहुत अन्तर देखने को मिलता है। इन बातों की सविस्तार चर्चा वेस्टरमार्क (Westermark) ने अपनी पुस्तक 'Origin and Development of the Moral Ideas' में की है। इसके अतिरिक्त किसी भी संस्कृति मे हुए परिवर्तनो मे से किसी को भी भौगोलिक परिवर्तनो से प्रत्यक्षत. संबंधित नहीं किया जा सकता। व्यक्तित्व एव संस्कृति के अधिकांश प्रकार प्रत्येक प्रकार की जलवायु मे पाये जाते है। कभी-कभी किसी क्षेत्र का सामाजिक जीवन प्राकृतिक पर्यावरण मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना बदल जाता है।

सभ्यता के विकास ने प्राकृतिक पर्यावरण का प्रभाव कम कर दिया है (Growth of civilization has minimised the influence of physical environments)—सभ्यता के विकास से भौगोलिक दशाओ के प्रभाव में परिवर्तन एवं कमी हो गयी है। जनसख्या के वितरण के साथ ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, कृषि के साधनों के वितरण का प्रभाव कम होता जाता है। पूर्व-औद्योगिक काल में समरसेट (Somerset) और सरे (Surrey) के बीच का भाग इंग्लैण्ड का सबसे अधिक उपजाऊ भाग था और वहाँ सबसे अधिक घनी जनसंख्या थी, परन्तु अब लकाशायर और यार्कशायर में सबसे घनी जनसंख्या है जो उपजाऊ तो कम हैं, परन्तु खनिज-पदार्थों की उपलब्धि तथा औद्योगिक विकास की दृष्टि से समृद्ध हैं। इसी प्रकार अब आवागमन तथा व्यापार के प्राकृतिक मार्गों का महत्व पहले की अपेक्षा कम हो गया है, क्योंकि अब मनुष्य ने पहाड़ों को काट कर तथा मरुस्थलो पर भी रेलवे लाइनें बनाने और वायु मे निर्बाध उड़ने का ढग सीख लिया

है। मात्र भौगोलिक पर्यावरण ही सभ्यता की प्रगति की यथेष्ठ व्याख्या नहीं क सकता। किन्तु, हंटिंगटन के सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है। जलवायु, स्वास्थ की दरें, प्रसिद्ध व्यक्तियों के वितरण, सभ्यता के वितरण के बारे में उसके द्वारा दि गये आँकड़ों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। ये पूर्वाग्रह एवं द्वेष प आधारित हैं। सभ्यता के इतिहास मे जो देश किसी समय पूर्ण उत्कर्ष पर थे, आज धरातल पर हैं जबकि पिछड़े हुए देश आज सर्वाधिक प्रगतिशील हैं। गोल्डन वीजर (Golden weiser) के शब्दों में, "कोई भी पर्यावरण एक निश्चित प्रका की सभ्यता की उत्पत्ति नही करता, और न ही कोई पर्यावरण, अति को छोड़कर किसी सभ्यता के विकास को रोक सकता है।"[1] समान भौगोलिक परिस्थितियों ने दीर्घजीवी एवं अल्पजीवी सभ्यताओं को जन्म दिया है। अरनॉल्ड टाइनबी (Arnol Toynbee) ने इस सर्वप्रिय कल्पना को मानने से इंकार किया है कि सभ्यताओं क विकास तब होता है जब पर्यावरण जीवन की असाधारण सुगम दशाएँ प्रदान करत है। भौगोलिक निर्धारवाद के समर्थक अति सरलीकरण के दोषी हैं। उनकी अति सरलीकृत व्याख्याओं ने भयंकर त्रुटियों को जन्म दिया है।

मनुष्य ने अब कुछ प्रकार की जलवायु के प्राकृतिक अवगुणों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, अतः प्राकृतिक अवस्थाओं का प्रभाव भी कम हो गया है उदाहरण के लिए, विज्ञान के प्रयोग द्वारा पनामा नहर-क्षेत्र को मलेरिया से विमुक्त कर दिया गया है। चूंकि मकानों को गर्म या ठंडा रखने के वैज्ञानिक ढगों का विकास हो गया है, अतएव अत्यधिक सर्दी या गर्मी का प्रभाव भी मनुष्य पर कम पड़ता है मनुष्य को प्रकृति का दास नही समझा जा सकता। असंख्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने उसे प्रकृति का राजा बना दिया है। मनुष्य अब अपने भौतिक पर्यावरण में संशोधन कर लेता है और जहाँ कही चाहे, रह सकता है। मनुष्य ने चन्द्रमा पर अपना स्थान खोज लिया है। किसी व्यक्ति की शक्ति या उसका स्वास्थ्य केवल जलवायु पर ही निर्भर नहीं होता, बल्कि अनेक कारको यथा खुराक, स्वच्छता, जीवन-स्तर, मनो वृतियों एवं मूल्यों पर निर्भर है। ब्रोमैन (Browman) ने लिखा है, "मनुष्य दक्षिणी ध्रुव पर आरामदेह एवं प्रकाशयुक्त नगर का निर्माण कर सकता है; शिक्षा, नाटक एवं खेलो की व्यवस्था कर सकता है, सहारा में बनावटी वर्षा लाने वाले पर्वत का निर्माण कर सकता है जिसका व्यय कुछ पनामा नहरों को काटने के बराबर होगा।" संक्षेप मे, ज्यों-ज्यों सामाजिक दाय (heritage) बढ़ती है, तात्कालिक भौगोलिक तत्वों का समाज की व्याख्या मे निर्धारक महत्व कम हो जाता है।

जलवायु और अपराध अन्तःसंबन्धित नहीं हैं (Climate and crime are not co-related)—अन्तिम, जैसा दुर्खीम (Durkheim) ने बतलाया है, जलवायु की अवस्था तथा अपराध की घटना, विशेषतया आत्महत्या के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। उसका निष्कर्ष है कि वास्तविक तापमान-स्तर का अपराध से कोई सम्बन्ध नही है। उसका कथन है कि आत्महत्याओं की संख्या सभ्यता के विकास के साथ बढी है, नगरों में गाँवों की अपेक्षा, अविवाहित या विधुरों में विवाहितों की अपेक्षा, प्रोटेस्टेंट और नास्तिकों में कैथोलिकों की अपेक्षा अधिक

1. Golden Weiser, A., *Early Civilization*, p. 297.

आत्महत्यायें होती हैं। इन तथ्यों से सामाजिक स्वरूप का बोध होता है—आत्महत्यायें वहाँ होती हैं जहाँ परिस्थितियाँ सामाजिक पृथकत्व को बढावा देती हैं, जहाँ लोगों मे सामाजिक उत्तरदायित्व से उत्पन्न एकता की भावना का अभाव होता है, जहाँ लोगों को आराम, संगति तथा सहानुभूति के लिये स्वयं पर निर्भर रहना होता है।

भूगोल स्वयं अकेला मानव-घटनाओं के चक्र को पूर्णतया निर्धारित नही करता। बेनेट एवं ट्यूमिन (Bennent and Tumin) के अनुसार, "यह कहना कदाचित् युक्तिसंगत है कि "मनुष्य अपने भौतिक पर्यावरण को संशोधित करता है, अपेक्षा इसके कि वातावरण उसे संशोधित करता है।"[1] जैसे-जैसे वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी में प्रगति होती है, वैसे-वैसे मनुष्य में अपने पर्यावरण को नियंत्रित करने की क्षमता बढती है। मनुष्य निष्क्रिय तत्व नही है, परन्तु एक सक्रिय व्यक्ति है। लोवी (Lowie) के शब्दों में, "पर्यावरण सांस्कृतिक संरचनाओं के निर्माताओं को ईंट और चूने के पदार्थ प्रदान करता है, परन्तु यह गृहशिल्पी की योजना प्रदान नहीं करता।"[2] प्रकृति तो केवल पदार्थ प्रदान करती है, मनुष्य अपनी आवश्यकता, बुद्धि एवं योग्यता के अनुसार उसका अपने उद्देश्य हेतु प्रयोग करता है। इस प्रकार भौगोलिक पर्यावरण सभ्यता की प्रगति का निर्धारण नही कर सकता। नि सन्देह यह उसकी कुछ सीमाओं को परिभाषित एवं निश्चित कर सकता है। प्रसिद्ध भूगोलकार इसीहा बारमान (Isiah Bormann) ने कहा है, "समकालीन भौगोलिक ज्ञान एवं विचारधारा ने प्राचीन सम्प्रदायों के यांत्रिक नियतिवाद को त्याग दिया है। पृथ्वी के तत्व मानव-समाज के विकास के स्वरूप और आकार का निर्धारण नहीं करते। वे केवल प्रतिबन्ध लगाते हैं। जैसे-जैसे मानव-ज्ञान, विचारधारा एवं सामाजिक क्रिया का विकास होता है, पृथ्वी-सम्बन्धी नये तथ्यों की खोज की जा रही है और पुराने तथ्यों को नया महत्व दिया जा रहा है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि भौतिक पर्यावरण निर्धारक भूमिका निभाये बिना स्थितियो के बाह्य समूह की रचना करता है जिसके अन्तर्गत समाज में मनुष्य का जीवन आगे बढ़ता है। सामाजिक व्यवहार के अध्ययन में इन स्थितियों को आँख से ओझल नही किया जा सकता। समाजशास्त्रियों को उनका सम्बन्ध सामाजिक घटेना-वस्तु, मनुष्य की रुचियों एव मनोवृत्तियों के साथ दिखलाना चाहिये। भौतिक पर्यावरण निर्धारक की अपेक्षा सीमित करने वाला तत्व अधिक है।"

३. सामाजिक पर्यावरण

(Social Environment)

सामाजिक पर्यावरण में तीन प्रकार के पर्यावरण—आर्थिक, सांस्कृतिक एवं

---

1 "It is perhaps as reasonable if not more so to insist that man modifies his physical environment rather than that the environment modifies man."—Bennent aud Tumin, *Social Life*, p 36

2. "The environment furnishes the builders of cultural structures with brick and mortar but it does not furnish the architect's plan."—Lowrie, R H, *Caltnnre and Ethnology*, p 69.

मनोसामाजिक पर्यावरण सम्मिलित हैं। आर्थिक पर्यावरण में सभी प्रकार की आर्थिक वस्तुयें, मकान एवं सड़कें, भूमि एवं बाग, पालतू पशु, मशीनें, निर्मित वस्तुएँ, संक्षेप मे ये सभी सुख की वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिनका मनुष्य ने स्वयं को प्राकृतिक अवस्था से मुक्ति दिलाने के लिये निर्माण किया है। दूसरे शब्दों में आर्थिक व्यवस्था दैनिक जीवन की व्यवस्था है जिसका निर्माण मनुष्य ने धन के उत्पादन, वितरण, विनिमय एव उपभोग के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया है।

आर्थिक व्यवस्था का सामाजिक महत्व यह है कि यह 'श्रम-विभाजन' अर्थात् समूहों और क्षेत्रो के कार्यों के विशेषीकरण के नियम पर आधारित है। इससे केवल व्यक्तियों में ही नही, अपितु समूहों एवं राष्ट्रों में भी अन्योन्याश्रिता उत्पन्न होती है।

आर्थिक पर्यावरण समाज के जीवन एवं स्वरूप को निर्धारित करता है (Economic environment determines the life and character of society)—समाज के जीवन एवं उसके स्वरूप पर सदा ही आर्थिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ा है। इनका घनिष्ठ सम्बन्ध इस तथ्य से सिद्ध होता है कि औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कानून एवं सरकार, वर्गों की संरचना, जनसंख्या के वितरण, रीति-रिवाजों एव सस्थाओं, विचार एवं विश्वास की प्रणाली में महत् परिवर्तन हुए। अत. यह आश्चर्य की बात नही है कि कार्ल मार्क्स ने आर्थिक पर्यावरण को सभी सामाजिक परिवर्तन का मूल निर्धारक कहा। *उसने अपनी कृति 'कैपिटल' (Capital) में लिखा कि उत्पादन* के साधनों के स्वामियो तथा तात्कालिक उत्पादकों के बीच जो तात्कालिक सम्बन्ध होता है, उसी मे समग्र सामाजिक संरचना की नीव छिपी होती है। इस प्रकार, उसके अनुसार, सभी महान् समुदाय, परिवार, राज्य, चर्च तथा मानव-संस्कृति के सभी महान् स्वरूपों—कला, साहित्य, विज्ञान के आकार तथा स्वरूप—आर्थिक तथ्यों द्वारा निर्धारित होते हैं। इस प्रकार, मार्क्सवाद ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की तथा सामाजिक स्वरूप के निर्धारण मे आर्थिक पर्यावरण को प्रमुख एवं कदाचित् एकमात्र स्थान दिया।

आर्थिक पर्यावरण समाज का अकेला निर्धारक तत्व नहीं है (Economic environment is not the sole determinant of society)—परन्तु मार्क्स का सिद्धान्त पूर्णतया ठीक नही है। बिल्कुल भिन्न-भिन्न आर्थिक स्तरों पर रहने वाले लोगो ने ईसाई एवं मुस्लिम धर्मों का शताब्दियों तक समान रूप से पालन किया है, जबकि समान आर्थिक संरचना मे विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं का जन्म हुआ है। इस प्रकार मार्क्सवाद मानव-व्यवहार की सही व्याख्या नहीं है। इसके अतिरिक्त, आर्थिक वस्तुओं की प्राप्ति एवं उनका उपभोग ही मानव-व्यवहार का परम लक्ष्य नहीं है। मनुष्य मात्र भौतिक संतुष्टियों के लिए ही उत्पादन या विनिमय नही करता, परन्तु दूसरी ओर, मनुष्य स्वास्थ्य अथवा सुख अथवा ज्ञान अथवा कला की आकांक्षा करता है, क्योंकि इनसे उसको प्रत्यक्ष सन्तुष्टि मिलती है। इस अर्थ में, ये हित आर्थिक हितों से पूर्ववर्ती हैं और इन्हे आर्थिक व्यवस्था को संशोधित एवं निर्धारित करने वाला तत्व समझा जाना चाहिये।

सांस्कृतिक पर्यावरण में रीति-रिवाज, परम्परायें, कानून, विचार-प्रणालियाँ

तथा ज्ञान एवं विश्वास के रूप सम्मिलित हैं जो मनुष्य की सांस्कृतिक बपौती है। सामाजिक जीवन का प्रत्येक महत्वपूर्ण पहलू—जैसे यौगिक सम्बन्ध, स्वामित्व, साहचर्य, सेवाओं एवं वस्तुओं का विनिमय परम्परा द्वारा व्यवस्थित, नियंत्रित एवं समर्थित होता है। ये परम्परायें उस समूह की संस्कृति का द्योतक हैं, जिनसे इनका सम्बन्ध है। इसी प्रकार रीति-रिवाज वे स्वीकृत तरीके हैं जिनके अनुसार समूह के सदस्य परस्पर व्यवहार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ संस्कार एवं रीतियाँ होती हैं जो विभिन्न कार्यों को एक प्रकार की धार्मिक संतुष्टि प्रदान करती हैं। किसी संस्थापित अधिकरण द्वारा लागू किये गये नियम होते हैं, जिन्हें कानून कहा जाता है। इन सबका व्यक्तित्व के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। संस्कृति तथा व्यक्तित्व के बीच सम्बन्ध का वर्णन अध्याय ४० में किया गया है।

सामाजिक पर्यावरण अन्य प्रकार के पर्यावरणों में सर्वाधिक व्यापक है। मनुष्य के जीवन में इसका स्थान इतना महत्वपूर्ण है कि कुछ लेखकों के अनुसार तो मानव-जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या इसके आधार पर की जा सकती है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात याद रखनी आवश्यक है कि जहाँ सामाजिक पर्यावरण मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, व्यक्ति सामाजिक पर्यावरण का स्वयं निर्माता होता है।

प्रश्न

१. पर्यावरण का क्या अर्थ है ? इसके प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
२. सामाजिक सगठन मे भौगोलिक पर्यावरण के महत्व की व्याख्या कीजिए।
३. मानव-व्यवहार में आर्थिक एव सामाजिक पर्यावरण के महत्व का वर्णन कीजिए।
४. व्यक्तित्व के विकास मे पर्यावरण का क्या स्थान है ?
५. भोजन की आदतो, वेश-भूषा तथा धार्मिक संस्कारों पर भौगोलिक वातावरण का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है ?
६. मनुष्य एवं उसके पर्यावरण के बीच सम्बन्ध की चर्चा कीजिए।
७. समाजशास्त्र मे भौगोलिक सम्प्रदाय के गुणों एव इसकी सीमाओं का उल्लेख कीजिए।
८. "मनुष्य को सदैव प्रकृति के अनुसार अनुकूलन करना चाहिये।" इस उक्ति के पक्ष एवं विपक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिए।
९. सम्पूर्ण पर्यावरण का क्या अर्थ है ? सम्पूर्ण पर्यावरण का वर्गीकरण कीजिए।

अध्याय ११

आनुवंशिकता एवं पर्यावरण
[HEREDITY AND ENVIRONMENT]

१. आनुवंशिकता का अर्थ
(Meaning of Heredity)

मनुष्य का व्यवहार दो शक्तियों—आनुवंशिकता तथा पर्यावरण से प्रभावित होता है। प्राणिशास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक विशेषताएँ जो बच्चो को माता-पिता से प्राप्त होती हैं, आनुवंशिकता कही जाती हैं। दूसरे शब्दों में, आनुवंशिकता एक प्राणीशास्त्रीय प्रक्रिया है जिसके द्वारा माता-पिता की व्यवहार-सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ गर्भाधान द्वारा उनके बच्चों को संचरित हो जाती हैं। मानव व्यक्ति दो पितृक कोष्ठों की संतान है जिनका जन्म पिता के अण्डकोष और माता के शुक्रकोष्ठ के मिलन पर हो जाता है। इन पितृक कोष्ठों मे कुछ बाल-सरीखे पदार्थ होते हैं जिन्हें वर्णसूत्र (chromosomes) कहा जाता है। वर्णसूत्रों में रासायनिक पदार्थ होते हैं, जिन्हे वाहकाणु (genes) कहते हैं। ये मूल पदार्थ, वर्णसूत्र एव वाहकाणु व्यक्ति की विशेषताओं का निर्धारण करते हैं। इन सभी प्रक्रियाओं को आनुवंशिकता कहते हैं। रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) के शब्दों मे, "आनुवंशिकता माता-पिता से संतान मे गुणों का संचरण होना है।" कुछ प्राणिशास्त्रियों के अनुसार, व्यक्तियों अथवा समूहों के गुणों अथवा उनकी विशेषताओं में अन्तर उनकी आनुवंशिकता के अन्तर के कारण होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री उनके इस कथन का समर्थन करते हैं कि समान समान को जन्म देता है (like begets like)।

परन्तु दूसरे लेखक भी हैं जिनका विचार है कि मानव प्राणियों एवं समाजो की विभिन्नताओं का कारण पर्यावरण की भिन्नताएँ हैं। इस प्रकार व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहार को निर्धारित करने में आनुवंशिकता एवं पर्यावरण के सापेक्ष महत्व के बारे में काफी समय से विवाद चल रहा है। यद्यपि आनुवंशिकता एवं पर्यावरण दोनों के समर्थकों ने तर्क प्रस्तुत किये हैं, तथापि इन दोनों तत्वों के सापेक्ष महत्व के बारे में कोई ठीक निष्कर्ष अभी तक प्राप्त नहीं है और न ही इनके सापेक्ष महत्व का निर्धारण सम्भव है।

आधुनिक प्राणिशास्त्र का यह कथन है कि हम वह हैं जो हमारे माता-पिता और दादा-दादी ने हमें बनाया है। उनके अनुसार, आनुवंशिकता का महत्व सामाजिक अवसर की अपेक्षा अधिक है। व्यक्ति के लिये न केवल अपनी चमड़ी को बदलना कठिन है, अपितु अपने दृष्टिकोण, अपनी विचार-प्रणाली या अपने व्यवहार को भी बदलना कठिन है, क्योंकि ये भी आनुवंशिक हैं। दूसरी ओर, अन्य लेखक आनुवंशिकता को इतना महत्व नहीं देते।

२ आनुवंशिकता के प्रभाव
(Effects of Heredity)

आनुवंशिक सिद्धान्त के समर्थक गाल्टन (Galton), कार्ल पियर्सन (Karl Pearson), मैक्डूगल (McDougall) तथा अन्य लेखक हैं जबकि पर्यावरण के समर्थक जी० बी० वाटसन (G. B. Watson) तथा अन्य व्यवहारवादी विचारक हैं।

पर्यावरण की तुलना में आनुवंशिकता को अधिक महत्व देने के लिये जो तर्क दिये गये हैं, उनमें निम्नलिखित सबसे महत्वपूर्ण है—

गाल्टन का अध्ययन (Galton's studies)–गाल्टन ने 'आनुवंशिक प्रतिभा' पर प्रकाशित अपनी महत्वपूर्ण कृति (१८६९) में यह विचार प्रकट किया कि यदि पिता श्रेष्ठ, बुद्धिमत्ता वाले होते हैं तो अधिक प्रतिभासम्पन्न बच्चों के होने की संभावना होती है।

कार्ल पियर्सन की खोजें (Karl Pearson's researches)—कार्ल पियर्सन का भी यही निष्कर्ष था कि मानव-भिन्नताओं के निर्धारण में वातावरण का प्रभाव वंशानुक्रम की अपेक्षा कम होता है। उसके अनुसार, दोनों की सापेक्ष प्रभावकारिता को मापा भी जा सकता है। उसने यह दिखाने के लिये प्रमाण भी प्रस्तुत किये कि एक ही जाति के लोगों में एक समुदाय के भीतर वशानुक्रम, वातावरण की अपेक्षा सातगुने से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

उच्च बौद्धिक स्तर वाले समूहों ने अपेक्षाकृत अधिक संख्या में प्रतिभावान् व्यक्ति उत्पन्न किये हैं (Groups of higher intellectual rating produce more persons of genius)—पियर्सन की भाँति अन्य अनेक शोधकर्ताओं ने भी यह दिखाया है कि उच्चतर सामाजिक अथवा बौद्धिक स्तर के समूहों ने अधिक प्रतिभावान् अथवा विशिष्ट व्यक्तियों को उत्पन्न किया है। उदाहरणतया, राज-परिवार अन्यों की अपेक्षा अधिक संख्या में प्रतिभावानों को उत्पन्न करते हैं, अमेरिका में पुरोहित वर्ग के परिवार, गण्यमानो तथा वैसे ही व्यापारी, किसान और श्रमिक आदि अन्य रोजगारों के व्यक्तियों को अधिक संख्या में उत्पन्न करते हैं।

विभिन्न व्यावसायिक समूहों में बुद्धि-स्तर के अन्तर (Difference in intelligence levels of different occupation groups)—कुछ विद्वानों ने भिन्न-भिन्न व्यावसायिक समूहों के बुद्धि-स्तरों के बीच काफी अन्तर बताया है। उदाहरणतया, यह देखा गया है कि व्यावसायिक माता-पिता के बच्चों की बुद्धिलब्धि, (I. Q.) ११६ होती है; अर्द्ध-व्यावसायिक एव प्रबन्धक वर्गों की ११२; लिपिक, कुशल व्यापारियों एवं खुदरा दुकानदारों के बच्चों की १०७·५; अर्द्ध-कुशल निम्न लिपिक व्यवसाय एवं व्यापार वालों के बच्चों की १०५; मामूली कौशल-प्राप्त व्यक्तियों के बच्चों की ९८; तथा मजदूरो और ग्रामीण एवं नगरीय कृषकों की ९६ होती है।

परन्तु यह आवश्यक रूप से आनुवंशिकता के कारण नहीं (But all this is not necessarily due to heredity)—यद्यपि ये तथ्य महत्वपूर्ण हैं, परन्तु उनके

आधार पर निकाले गये निष्कर्ष सतही दिखाई देते हैं। इनसे केवल इस सामान्य तथ्य की पुष्टि होती है कि विशिष्ट परिवारों के बच्चों के अधिक बुद्धिमान तथा अन्य उपलब्धियाँ प्राप्त होने की अधिक संभावना है। परन्तु इन तथ्यों से यह कुछ पता नहीं लगता कि इन अन्तरों का आनुवंशिकता से क्या सम्बन्ध है। स्पष्ट है कि जिन लोगों ने ये प्रयोग किये हैं, उनमें आनुवांशिकता के बारे में पूर्वाग्रह अवश्य रहा होगा। इसके अतिरिक्त, हमें ऐसे बच्चों के माता-पिता की विद्वता के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। उनके बारे में केवल इतना ही ज्ञात है कि वे जीवन में किसी सीमा तक व्यक्ति रहे हैं, परन्तु सफलता की भी कोई नपी-तुली कसौटी नहीं होती। इसके अलावा, विभिन्न वर्गों के बच्चों का पर्यावरण भी विभिन्न होता है। उच्च वर्ग के बच्चो को निश्चित रूप से श्रेष्ठ शैक्षणिक एवं अन्य सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। अतएव कोई कारण नही है कि वे अधिक बुद्धिमान न हों। जीवशास्त्री केवल यही कल्पना नही करते कि लोगों के परम्परागत व्यवहार के कारण उनकी शारीरिक रचना है, अपितु वे विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में मानव-व्यवहार की विभिन्नता का अध्ययन करने को सहमत नही हैं। सभी उपलब्ध साक्ष्य इस तथ्य के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हैं कि लोग किसी विशेष प्रकार का आचरण अपनी शरीर-रचना के कारण करते हैं। जुडवाँ बच्चे भी विभिन्न पर्यावरण में पोषित होकर विभिन्न प्रकार से व्यवहार करते हैं।

नीग्रो और श्वेतवर्णियों की बुद्धिलब्धियाँ (Intelligence scores of Negroes and Whites)—अमेरिका मे बुद्धि-परीक्षणो के माध्यम से नीग्रो लोगों और श्वेतवर्णियों की तुलनात्मक बुद्धि के बारे मे अनेक अध्ययन किये गये हैं। इन अध्ययनों के आधार पर यह पता लगा है कि श्वेतवर्णियों की बुद्धिलब्धि नीग्रो की बुद्धिलब्धि से उच्च है। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सेना में भरती रँगरूटों पर किये गये प्रयोगों से पता लगा कि नीग्रो लोगों की औसत मानसिक आयु १०·४ वर्ष की थी और श्वेतवर्णियों की १३·१ थी।

परन्तु इन तथ्यों की भी आलोचना की जा सकती है। यह ठीक है कि श्वेतवर्णियों की बुद्धि नीग्रो लोगो से ऊँची है, परन्तु इस साक्ष्य में कितना बल है? प्रथमतया, बुद्धि-परीक्षण केवल सामान्य ज्ञान के परीक्षण हैं या शैक्षिक प्रवीणता के परोक्ष मापक हैं, अतएव वे सामान्य बुद्धि की मात्रा का पता लगाने के लिए वैध (valid) परीक्षण नही हैं। द्वितीय, इन परीक्षणों में दोनो समूहों की सास्कृतिक पृष्ठभूमि की विभिन्नता को ध्यान में नही रखा गया है। श्वेतवर्णियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नीग्रो की पृष्ठभूमि से भिन्न है। तृतीय, इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि ये परीक्षण निष्पक्ष एवं वस्तुपरक होकर किये गये हैं। चतुर्थ, यदि श्वेत-वर्णियों में बुद्धिलब्धि अधिक भी है तो इसका एकमात्र कारण आनुवंशिकता अथवा प्रजातीय अन्तर नहीं है, क्योंकि हम भिन्न पर्यावरण-कारक को बिल्कुल अनदेखा नहीं कर सकते। कोई भी बुद्धि-परीक्षण भिन्न प्रशिक्षण, अनुभव, घरेलू जीवन तथा सामाजिक सुअवसर के प्रभाव को नगण्य नहीं ठहरा सकता। यही कारण है कि *उत्तरी अमरीका में नीग्रो-बच्चों में दक्षिणी अमरीका के रहने वाले बच्चों की अपेक्षा* बुद्धि के अधिक गुण पाये जाते हैं, क्योंकि उनको शिक्षा के उत्तम अवसर प्राप्त हैं।

अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बुद्धि-परीक्षण बुद्धि के मापक तो अवश्य हैं, किन्तु *ये मानसिक क्षमता की अन्तर्वर्ती जातीय भिन्नताओं के मापक नहीं* हैं। ये इस बात को तो सिद्ध करते हैं कि विभिन्न समूहों में बुद्धिलब्धि का अन्तर होता है, परन्तु इनके आधार पर आनुवंशिकता का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

मनुष्य नितान्त अस्थिर प्राणी है। वह देखते-देखते ही परिवर्तित हो रहा है। मानव के सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन का कारण उसके पर्यावरण में परिवर्तन है। अपराधों के रिकार्ड से पता चलता है कि अन्त में पर्यावरण अपरिहार्य है। यदि पहली पीढ़ी की अपेक्षा दूसरी पीढ़ी अधिक अपराधी है तो इसका कारण सामाजिक एवं आर्थिक कठिनाइयों पर काबू न पा सकने में खोजा जा सकता है।

शारीरिक लक्षण तथा आनुवंशिकता (Physical traits and heredity)—आनुवंशिकता के समर्थक विभिन्न राष्ट्रीयताओं में शारीरिक लक्षणों की भिन्नता का कारण आनुवंशिकता को मानने पर बड़ा जोर देते हैं। जापानी सैनिक की औसत लम्बाई ६३.२४ इंच और अमरीकी सैनिक की औसत लम्बाई ६७.५१ इंच होती है। परन्तु हमें यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि इन आँकड़ों से आनुवंशिकता के अन्तर का सही-सही पता लगता है। जब हम पर्यावरण के प्रभाव पर विचार करते हैं, तो यह दृष्टिकोण गलत सिद्ध हो जाता है कि शारीरिक विशेषताएं आनुवंशिकता का परिणाम हैं। जीवन की स्थितियाँ, आहार-प्रकार, पालन-पोषण और जलवायु आदि का प्रभाव निश्चय ही लोगों पर पड़ता है। वास्तव में, इस बात के विश्वस्त प्रमाण हैं कि जब बच्चों को प्रतिकूल परिस्थितियों में रखा जाता है तो उनके कद तथा वजन पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार यहूदी और जापानी आप्रवासियों के अमेरिका में जन्मे बच्चे अपने माँ-बाप से दो इंच अधिक लम्बे ही नहीं हुए, बल्कि उनके सिर की आकृति में भी कुछ परिवर्तन हो गया। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न राष्ट्रीय या जातीय समूहों में शारीरिक भिन्नता का कारण केवल *आनुवंशिकता ही नहीं है, बल्कि उस पर पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता है।* वस्तुतः सच तो यह है कि कद और शारीरिक गठन अनेक कारणों पर निर्भर होते हैं, ये कारण बच्चे की गर्भावस्था से ही उस पर प्रभाव डालना शुरू कर देते हैं। माता का स्वास्थ्य, ग्रान्थिक अव्यवस्था, आहार-पद्धतियाँ, जलवायु, जीवन-स्थितियाँ, व्यवसाय, व्यायाम, चलने व सोने के ढंग, ये सब आकृति की सरचना पर प्रभाव डालते हैं। यह भी अध्ययनों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि बच्चे को ऐसे गुण भी आनुवंशिकता से प्राप्त हो जाते हैं, जो उसके माँ-बाप में सुप्त अवस्था में थे, परन्तु दादा-दादी आदि में प्रकट रूप में रहे हों। अतः आनुवंशिकता का अर्थ केवल एक ही पीढ़ी से नहीं लिया *जाना चाहिए, बल्कि कई पीढ़ियों से लिया जाना चाहिए* और यही बात पर्यावरण के बारे में सिद्ध होती है। यह इस बात से स्पष्ट है कि कवचधारी सामन्त वीरों के जमाने से यूरोपीय लोगों की सामान्य आकृति ऊँची हुई है। इसी प्रकार, आज के अमरीकी विश्वविद्यालय के छात्र दो या तीन दशाब्दियों पहले के छात्रों की अपेक्षा अधिक लम्बे तथा भारी हैं।

प्रसिद्ध तथा पतित परिवारों का अध्ययन (Studies of some famous and degenerate families)—आनुवंशिकता के प्रभावों के बारे में महत्वपूर्ण

अध्ययन जूक (Jukes), एडवर्ड (Edwards) तथा कल्लिकाक (Kallikaks) परिवारों के हैं। जूक परिवार-समूह का अध्ययन आर० एल० डगडेल (R. L. Dugdale) द्वारा, एडवर्ड परिवार का अध्ययन ए० ई० विनशिप (A.E. Winship) द्वारा तथा कल्लिकाक परिवार का अध्ययन हेनरी एच० गोडार्ड (Henry H. Goddard) द्वारा किया गया था। डगडेल ने १८००-१८७५ के वर्षों के दौरान जूक परिवार में जन्मे सदस्यों के बारे में आँकड़े इकट्ठे किये। उसने पता लगाया कि इस परिवार ने न्यूयार्क राज्य में अपराधी, रोगग्रस्त एवं दरिद्र व्यक्तियों को जन्म दिया है। खोज से पता लगा कि १२०० वंशजों में से ४४० शारीरिक दोषों से युक्त या रोगग्रस्त थे, ३१० निर्धन थे, १३० व्यक्ति अपराधी थे जिनमें ७ हत्यारे तथा प्रायः आधी से अधिक स्त्रियाँ वेश्याएँ थी। दूसरी ओर, ए० ई० विनशिप ने एडवर्ड परिवार का अध्ययन किया। उसकी रिपोर्ट १९०० में प्रकाशित हुई। इसमें यह दिखाया गया कि १६९४ वंशजों में से कम से कम २९५ विश्वविद्यालय के स्नातक थे, जिनमें १३ विश्वविद्यालय के अध्यक्ष तथा एक अमेरिका का उपाध्यक्ष बना। उनमें से कुछ पादरी, डाक्टर, सैनिक अधिकारी, लेखक, वकील, न्यायाधीश तथा गवर्नर आदि भी थे। जहाँ तक पता लगा, इस परिवार में कोई दण्ड-प्राप्त अपराधी नहीं था। १९१२ में हेनरी एच० गोडार्ड ने कल्लिकाक परिवार का अध्ययन किया। मार्टिन कल्लिकाक के मानसिक रूप से निर्बल एक लड़की के साथ अनैतिक यौन सम्बन्ध थे जिसके माध्यम से वह ४८० कलंकित वंशजों का पूर्वज बना। बाद में मार्टिन कल्लिकाक ने एक सम्मानित लड़की के साथ विवाह किया। इस विवाह के माध्यम से जन्मे ४९६ वंशज सभी नेक व्यक्ति थे। गोडार्ड के अनुसार, कल्लिकाक परिवार आनुवंशिकता के प्रभावों का एक स्वाभाविक प्रयोग प्रस्तुत करता है। अच्छे परिवार से सम्बन्धित मार्टिन कल्लिकाक दो विभिन्न प्रकार की स्त्रियों के माध्यम से दो अलग-अलग प्रकार के वंशजों का पूर्वज बना—एक वंश नेक, सम्मानित एवं सामान्य नागरिकों का था, दूसरा मानसिक रोगग्रस्त व्यक्तियों का।

इन अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला गया कि इन परिवारों के व्यवहार की विभिन्नता का प्रमुख कारण आनुवंशिकता थी, न कि पर्यावरण। परन्तु हमें इस निष्कर्ष को सही नहीं मान लेना चाहिए, क्योंकि इन अध्ययनों में अनेक त्रुटियाँ थी। सर्वप्रथम तो हमें प्रश्न करना पड़ेगा कि वर्तमान पीढ़ी में जूक तथा एडवर्ड परिवार किस अर्थ में नौ या दस पीढ़ियों पहले के वे ही परिवार हो सकते है? प्रत्येक पीढ़ी एक नया सम्मिश्रण है और अगणित सम्मिश्रणों का रक्त हममें से प्रत्येक में प्रवाहित होता है। अनेक व्यक्ति अपने प्रमुख पूर्वजों के नाम धारण कर लेते हैं जिनमें जैविक अर्थ में उनके पितृ-लक्षण व वंशानुगत गुण में एक नहीं व्यक्त होता। इसके अतिरिक्त, एडवर्ड एवं जूक दोनों परिवारों के लोगों ने अन्य वंश के लोगों के साथ विवाह किये, परन्तु चूँकि बच्चों में उनके माँ-बाप में से किसी के केवल एक वर्णसूत्र (chromosome) संचारित होता है, अतः यह मानने का कोई कारण नहीं कि एडवर्ड या जूक वंश के लोगों का वंशानुसंक्रमण वही है जो उनके वंश के मुखिया का था। इसके अतिरिक्त चूँकि दोनों परिवारों के कुल वंशजों के बारे में कोई निश्चित संख्या देना कठिन है, अतएव यह कथन गलत होगा कि सभी एडवर्ड नेक थे तथा सभी जूक पतित थे। बाद में एडवर्ड परिवार के सम्बन्ध में की गयी खोजों से पता

लगता है कि प्रसिद्ध जोनाथन एडवर्ड (Jonathan Edward) की दादी एलिजाबेथ टुटला (Elizabeth Tuttla) व्यभिचारिणी तथा दुश्चरित्रा थी। उसकी बहन ने अपने पुत्र की हत्या कर दी और उसके भाई ने उसकी हत्या की दी। एलिजाबेथ टुटला के वंशजों की संख्या लगभग ९०,००० तक रही होगी जिनमें से कुछ ही व्यक्ति सम्भ्रान्त रहे हैं। इसके अतिरिक्त, दोनों परिवारों के सदस्य जिस पर्यावरण में रहे, वह एक-दूसरे से बहुत भिन्न था। पता लगा कि एडवर्ड परिवार के लोग आलीशान मकानों में तथा अनुकूल पर्यावरण में रहते थे, जबकि जूक परिवार के लोग गंदी बस्तियों में रहते थे। यदि जूक लोगों का पालन-पोषण उपयुक्त वातावरण में हुआ होता तो वे सम्भवतः उतनी ही उन्नति कर लेते, जितनी एडवर्ड परिवार के लोगों ने की। डगडेल विनशिप एवं गोडार्ड के अध्ययनों मे भी ऐसे कथन बिखरे हुए पाये जाते हैं जिनसे यह पता लगता है कि जिन लोगों का उन्होंने अध्ययन किया, उन पर सामाजिक पर्यावरण का गुरुतर प्रभाव पड़ा है। ये अध्ययन भले ही दिलचस्प हों, परन्तु आनुवंशिकता के प्रभाव के साक्ष्य-रूप में इनको महत्व नहीं दिया जाता। हागबेन (Hogben) का कथन है, "यदि सामाजिक जीवशास्त्र कभी सुनिश्चित विज्ञान बन गया तो हम जूक परिवार के अरुचिकर इतिहास का उसी प्रकार अवलोकन करेंगे जिस प्रकार आज हम मध्ययुग की रसायन-विद्या (एल्किमी) का अवलोकन करते हैं।"

आनुवंशिकता तथा पर्यावरण के तुलनात्मक महत्व को निर्धारित करने के लिए नियन्त्रित परीक्षण (Controlled Experiments to Determine the Respective Role of Heredity and Environment)

कुछ समय से समाज-शास्त्री प्रकृति-पालन-पोषण (nature nurture) की समस्या को हल करने के लिए और पता लगाने के लिए कि आनुवंशिकता पर पर्यावरण का और पर्यावरण पर आनुवंशिकता का क्या प्रभाव होता है, नियन्त्रित परीक्षण करते रहे हैं। वे एक कारक को स्थिर तथा दूसरे कारक को अस्थिर करते हैं। इसमें सम्मिलित सिद्धान्त यह है कि इस प्रकार अभिव्यक्त भिन्नताएँ केवल परिवर्तनशील कारक पर आरोपित की जा सकती हैं।

उदाहरण के लिए, समान आनुवंशिकता के बच्चों, अर्थात् जुड़वाँ बच्चो को भिन्न-भिन्न पर्यावरण मे रखकर उनके व्यवहार की भिन्नताओं को पर्यावरण के कारण उत्पन्न बतलाया गया। इसके विपरीत, भिन्न-भिन्न आनुवंशिकता के बच्चों को समान पर्यावरण में रखकर उनके व्यवहार की भिन्नता को आनुवंशिकता के कारण उत्पन्न बतलाया गया। निम्न कुछ ऐसे अध्ययनों का वर्णन किया जाता है—

एकसाथ और पृथक् पोषित जुड़वाँ बच्चों पर पर्यावरणों का प्रभाव (Effect of environments on twins reared together and apart)—गाल्टन (Galton) ने समान जुड़वाँ बच्चों पर परीक्षण किये। उसने उनके व्यवहार मे स्पष्ट समानता पाई। उसे विश्वास हो गया कि मानव-सम्बन्धों में समानता एवं विभिन्नता की उत्पत्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक आनुवंशिकता है।

बाद में की गयी खोजों से भी यह पता लगा है कि जुड़वाँ बच्चे, एकोदर (sibling)

संतानों की अपेक्षा, जो जुड़वाँ नहीं हैं, निकटतर भौतिक एवं मानसिक एकरूपता प्रदर्शित करते हैं। कुछ गुणों के विषय में समान जुड़वाँ बच्चे भिन्न जुड़वाँ बच्चों की अपेक्षा अधिक समान हैं। परन्तु अभी हाल में की गयी खोजों ने इन निष्कर्षों को गलत सिद्ध कर दिया है। निःसंदेह जुड़वाँ बच्चों के बीच निकट समानताएँ देखी गयी हैं, परन्तु वैसे ही कुछ महत्वपूर्ण भिन्नताएँ भी देखी गयी हैं। इस प्रकार का सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रयोग कनाडा की समरूप डियोन (Dionne) पाँच बहनों का है। पाँचों बहनों को प्रारम्भिक आयु से ही समान पर्यावरण में रखा गया था, परन्तु उनके व्यक्तित्व और आन्तरिक प्रकृति में दर्शनीय भिन्नताएँ पायी गयीं।

एच० एच० न्यूमैन (H. H. Newman) एक जीवशास्त्री, एफ० एन० फ्रीमैन (F. N. Freeman) एक मनोविज्ञानी तथा के० जे० हालजिंगर (K. J. Holzinger) एक सांख्यशास्त्री ने पृथक् घरों में पाले-पोसे गये उन्नीस जोड़े एक-जैसे जुड़वाँ बच्चों का अध्ययन किया। अपने अध्ययनों के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि पर्यावरण से शारीरिक लक्षण बहुत कम प्रभावित होते हैं; उपलब्धियाँ और विभिन्न कुशलताएँ पर्यावरण के प्रभाव के प्रति अधिक संवेदनशील होती हैं तथा व्यक्तित्व के विशिष्ट लक्षण बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित होते हैं।

समान पर्यावरण में पाले-पोसे गये बच्चों पर परीक्षण (Studies of children of different parentage reared together)—कुमारी बी० एस० बर्क्स (B. S. Burks) ने एक ही पोषक गृह मे बचपन से पाले गये भिन्न-भिन्न आनुवंशिकता के बच्चों का अध्ययन किया। उसने निष्कर्ष निकाला कि वंशानुक्रम का योगदान लगभग ८० प्रतिशत है और पर्यावरण का लगभग १७ से २० प्रतिशत है। परन्तु इस निष्कर्ष को तर्कसंगत नही माना जाता। यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने जन्मजात योग्यता या पर्यावरण के प्रभाव को कैसे ठीक-ठीक आँक लिया। दूसरी ओर लगभग उसी समय एफ० एन० फ्रीमैन (F. N. Freeman) ने अपने अध्ययन में यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि पोषक गृह के लक्षण विशेष उसके प्रभाव के अधीन रहने वाले बच्चों की बौद्धिक क्षमता की मात्रा को निश्चित रूप से प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार, इयोवा (Iowa) विश्वविद्यालय में १५० बच्चों, जिनमें अधिकांश अवैध थे, पर की गयी खोजों से पता लगा है कि पर्यावरण-सम्बन्धी परिवर्तनों के प्रति बुद्धि अधिक संवेदनशील होती है।

उपर्युक्त अध्ययनों के परिणाम हमें किसी सुनिश्चित निष्कर्ष की ओर नहीं ले जाते। वे मानव-व्यवहार की भिन्नता पर आनुवंशिकता या पर्यावरण का ठीक या अनुमानतः प्रभाव क्या है, इसे मापने मे असमर्थ हैं। आनुवंशिकता एवं पर्यावरण के प्रभावों की सापेक्ष मात्रा को मापने के सभी प्रयत्न व्यर्थ प्रतीत होते हैं। एक लेखक ने ठीक ही कहा है, "जुड़वाँ बच्चों के बारे में किये गये सब अध्ययनों से ऐसा ही पता लगता है कि प्रकृति तथा वर्धन (nurture) के प्रभावों को अलग-अलग करने, अर्थात् सामान्य अर्थ में इन दोनों में से प्रत्येक का कितना प्रतिशत प्रभाव पड़ता है, यह जानने का प्रयत्न व्यर्थ एवं कृत्रिम है।" यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य-जातियाँ

भिन्न होती हैं, तथापि यह कहना कठिन है कि विभिन्न प्रजातियों के सामाजिक जीवन में इन शारीरिक भिन्नताओं का कितना महत्व है। क्या चीनियों के सीधे गोल बाल चीनी समाज को चपटे घुंघराले बाल वाले नीग्रो के समाज से भिन्न बना देते हैं? बालों की समान बनावट वाले लोगों के समाज इतने ही भिन्न हैं जितने कि चीनियों और नीग्रो के समाज। मानवीय व्यवहार में विभिन्नताओं की संतोषजनक व्याख्या न तो आनुवंशिकता और न ही पर्यावरण की भिन्नताओं के आधार पर की जा सकती है।

वंशानुक्रम एवं पर्यावरण अविच्छिन्न है (Heredity and Environment are Unseparable)

प्रकृति बनाम वर्धन (nature versus nurture) की समस्या का कोई संतोषजनक समाधान नहीं है। वस्तुत. यह प्रश्न ही निरर्थक है कि दोनों वंशानुक्रम एवं पर्यावरण मे से कौन-सा अधिक महत्वपूर्ण अथवा सक्षम है। मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "जीवन का प्रत्येक लक्षण दोनों की उपज है। परिणाम के लिए प्रत्येक उतना ही आवश्यक है जितना की दूसरा। दोनों में से न किसी को छोड़ा जा सकता है, न किसी का पृथक्करण ही।"[1] कोई भी समाज केवल आनुवंशिकता की उपज नहीं है, क्योंकि मनुष्य विशेष पर्यावरण में रहते हैं। न कोई समाज पूर्णतया पर्यावरण की उपज है, क्योंकि मनुष्य शारीरिक रूप में कुछ आनुवंशिक लक्षणों को प्राप्त करते हैं। सत्यता यह है कि दोनों में निरन्तर अन्तःक्रिया होती रहती है। वे अविच्छिन्न हैं। एक व्यक्ति कानूनों का पालन करने वाला नागरिक है तो दूसरा अपराधी; एक सैन्य-मनोवृत्ति का है तो दूसरा शांतिवादी। ऐसी विभिन्नताओं के लिये कोई आनुवंशिक आधार बतलाना कठिन है और अनेक मामलों में ऐसी विभिन्नताओं को उत्पन्न करने में आनुवंशिकता एवं पर्यावरण दोनों के सापेक्ष योगदान का उचित मापन करना लगभग असंभव है। दोनों कल्पनातीत समय से प्रत्येक विशिष्ट स्थिति को उत्पन्न करने में कार्यशील हैं। व्यक्तित्व में किसी भी लक्षण के विकास को केवल आनुवंशिकता या पर्यावरण पर आरोपित नहीं किया जा सकता। कोई भी परिणाम वाहकाणु पदार्थ एवं पर्यावरण की अन्तःक्रिया की उपज होता है। अतएव हमें यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि आनुवंशिकता एवं पर्यावरण के बीच समग्र रूप में कौन-सा कारक अधिक महत्वपूर्ण अथवा सक्षम है। आल्टेनबर्ग (Altenberg) के शब्दों में, "प्रत्येक लक्षण को अपने विकास के लिए आनुवंशिकता एवं पर्यावरण दोनों की आवश्यकता होती है।" लुम्ले (Lumley) का कथन है, "प्रश्न आनुवंशिकता अथवा पर्यावरण का नहीं है, अपितु आनुवंशिकता एवं पर्यावरण का है।"[2] आनुवंशिकता के महत्व को झुठलाने का कोई युक्तिसंगत औचित्य नहीं है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि पर्यावरण के महत्व को झुठलाने का नहीं है। आनुवंशिकता निःसंदेह हमारी शारीरिक विशेषताओं को प्रभावित करती है, परन्तु पर्यावरण भी हमारे विकास का निर्णायक है। जो कार्य आनुवंशिकता कर सकती है, वही कार्य पर्यावरण भी कर सकता है। इन दोनों में से किसी को न तो दृष्टि से ओझल किया जा सकता है, न पूर्णतया विलग किया जा

1. MacIver, Society, p. 95.
2. Lumley, Principles of Sociology, p. 59.

सकता है। मानव-व्यवहार को प्रभावित करने में दोनों क्रियाशील रहे हैं। जब कोई आप्रवासी समूह, चाहे उसकी आनुवंशिक विशेषताएँ कुछ भी हों, नये स्थान पर आकर रहने लगता है तो उसमें नयी विशेषताएं परिलक्षित होने लगती हैं।

वंशानुक्रम का कोई लाभ नहीं होगा, यदि इसके विकास के लिए उपयुक्त पर्यावरण न हो। उदाहरणतया, वर्तमान औद्योगिक युग ने प्रतिभावान् व्यक्तियों को प्रसिद्धि के शिखर तक पहुँचने में समर्थ बना दिया है, अन्यथा वे अंधकार में पड़े रहते। एक नया सामाजिक वातावरण अथवा एक मधुर अवसर प्रतिभाशील को अपनी शक्ति-अभिव्यक्ति का अवसर दे सकता है, किन्तु कितने अनुकूल अवसर भी एक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति को एक प्रतिभाशील व्यक्ति में नहीं बदल सकते। **डेविड अब्राहम्सन** (David Abrahamson) ने लिखा है, "व्यक्ति क्या कर सकता है, इसका निर्णय आनुवंशिकता करती है तथा वह क्या करेगा, इसका निर्धारण पर्यावरण करता है।" लैंडिस एवं लैंडिस (Landis and Landis) ने लिखा है, "वंशानुक्रमण हमें विकसित होने का सामर्थ्य देता है, पर इन सामर्थ्यों के विकसित होने का अवसर हमें पर्यावरण से ही मिल सकता है। वंशानुसंक्रमण हमें कार्यशील पूंजी प्रदान करता है, पर्यावरण हमें इसके विनियोजन का अवसर देता है।

उपर्युक्त विवाद से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह प्रश्न, कि आनुवंशिकता तथा पर्यावरण में कौन-सा अधिक महत्वपूर्ण है, इस गलत मान्यता पर आधारित है कि पर्यावरण तथा आनुवंशिकता दो विरोधी तत्व हैं और यदि इनमें से एक महत्वपूर्ण है तो दूसरा महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। जीवन के सभी गुण आनुवंशिकता में हैं, परन्तु उन गुणों को जगाना वातावरण पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में, आनुवंशिकता जीवन की सम्भावनाएँ प्रदान करती है, परन्तु उसकी सभी वास्तविकताओं का आधार पर्यावरण ही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संभावना जितनी उच्चतर होगी, उतनी ही अधिक वातावरण की माँग होगी। इस प्रकार, पर्यावरण की सूक्ष्मतर विभिन्नताएँ उन जीवों पर बहुत कम प्रभाव डाल सकती हैं, जिनमें सम्भावनाएँ कम होती हैं, किन्तु उन जीवों के लिए जिनमें उच्चतर सम्भावनाएँ हैं, इनका अत्यधिक महत्व हो सकता है। उदाहरण के लिए, किसी वातावरण में मामूली-सा परिवर्तन, *यथा एक प्रतिक्षेप संवेदनशील प्रकृति के व्यक्ति के सम्बन्ध में निश्चयकारी* सिद्ध हो सकता है जबकि एक कम संवेदनशील व्यक्ति पर प्रायः ही इसका कोई प्रभाव होता है। अंतिम, जीवन जितना ही अधिक झुकने योग्य होता है, उतना ही वह पर्यावरण की दया पर निर्भर करता है। यही कारण है कि पर्यावरण का प्रभाव मानव-जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में अधिक पड़ता है, जबकि हम नम्य अवस्था में होते हैं। इस प्रकार प्रकृति बनाम पोषण के विवाद को समाप्त करते हुए हम यह

...s to be developed but opportunity
t come from the environment. Here-
nent gives us the opportunity to
8.

निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रत्येक मानवजीव के व्यवहार के परम निर्धारक तत्वों में आनुवंशिकता तथा पर्यावरण, दोनों का समान महत्व है। इनके महत्व को अलग-अलग करना मूर्खता है। कोई भी तत्व दूसरे तत्व की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण नहीं है।

प्रश्न

१. पर्यावरण पर आनुवंशिकता की श्रेष्ठता के पक्ष में प्रस्तुत साक्ष्यों का मूल्यांकन कीजिए।

२. बच्चों और जुड़वाँ बच्चों पर आनुवंशिकता एवं पर्यावरण के सापेक्ष महत्व को जानने के लिए किये गये परीक्षणों का विश्लेषण कीजिए और बतलाइये कि वे कहाँ तक सफल रहे हैं?

३. क्या मानव-सृजनात्मकता की व्याख्या प्रकृति बनाम पोषण विवाद की शब्दावली में की जा सकती है? वर्णन कीजिए।

४. प्रकृति बनाम पोषण विवाद से आप क्या निष्कर्ष निकालते हैं?

५. आनुवंशिकता का क्या अर्थ है? समाज मे मानव-व्यवहार को आनुवंशिकता तथा पर्यावरण किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

तृतीय खण्ड

सामाजिक संगठन
[SOCIAL ORGANISATION]

"न केवल बाह्य वस्तुओं के प्रति मनुष्य के कार्यों, अपितु मनुष्यों एवं सभी सामाजिक संस्थाओं के मध्य सम्बन्धों को केवल मनुष्यों के तत्सबंधित विचारो के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।"

"Not only man's actions towards external objects but also the relations between men and all the social institutions can be understood only in terms of what men think about them."

—F. A. Hayek

अध्याय १२

सामाजिक सरचना

[SOCIAL STRUCTURE]

समाज का सुचारु रूप से ज्ञान प्राप्त करने के लिए सामाजिक संरचना की अवधारणा समाजशास्त्र की एक मूल अवधारणा है। हमने पहले ही चौथे अध्याय मे 'सामाजिक संरचना' शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। इस अध्याय मे हम सामाजिक संरचना की महत्वपूर्ण अवधारणा का कुछ अधिक विस्तृत वर्णन करेंगे।

१. सामाजिक संरचना का अर्थ

(Meaning of Social Structure)

काफी लम्बे समय से सामाजिक सरचना की परिभाषा देने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु अभी तक इसकी परिभाषा के बारे मे समाजशास्त्री एकमत नही हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर समाज की सरचना पर प्रकाश डालने वाला प्रथम लेखक था। उसने समाज को 'जीव' (organism) कहा, परन्तु उसका समाज-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं था। दुर्खीम (Durkheim) ने भी इसे परिभाषित करने का असफल प्रयत्न किया। सामाजिक सरचना के बारे मे महत्वपूर्ण दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं—

(१) **नाडेल का विचार (Nadel's view)**—एस० एफ० नाडेल (S. F. Nadel) ने लिखा है, "मूर्त जनसंख्या एव उसके व्यवहार, एक-दूसरे से सम्बन्धित भूमिकाएँ अदा करने के रूप मे कर्ताओ के बीच प्राप्य सम्बन्धों के जाल (अथवा व्यवस्था) या प्रतिमान से अमूर्तीकरण द्वारा हम समाज की संरचना पर पहुँच जाते हैं।"[1]

इस परिभाषा में नाडेल ने इस तथ्य पर बल देने का प्रयत्न किया है कि 'संरचना' शब्द अंगों की व्यवस्थित क्रमबद्धता, परिभाषा बताने योग्य ग्रंथन को निर्दिष्ट करता है। यह समाज के बाह्य स्वरूप अथवा विचारबन्ध से सम्बन्धित है तथा समाज के प्रकार्यात्मक स्वरूप से इसका कोई सरोकार नही है। अतएव उसने इस बात पर बल दिया है कि सामाजिक संरचना का तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों के जाल से है। इन सम्बन्धो का निर्माण उस समय होता है जब मनुष्य समाज के प्रतिमानों पर आधारित अपनी-अपनी प्रस्थितियों के अनुसार अंतःक्रिया करते हैं। अत: नाडेल कहता है कि "सरचना अंगों की व्यवस्थित क्रमबद्धता को निर्दिष्ट करती है, जिसे, यद्यपि इसके अग परिर्तनशील होते हैं, सापेक्षतया अपरिवर्तनशील अतएव अभिगमनीय कहा जा सकता है।" उसके अनुसार, समाज के तीन अंग हैं—

1. "We arrive at the structure of society through abstracting from the concrete population and its behaviour the pattern or net work (or system) of relationships obtaining between actors in their capacity of playing roles relative

(१) व्यक्तियों का समूह, (२) संस्थापित नियम जिनके अनुसार समूह के सदस्य अंतः- क्रिया करते हैं, (३) इन अंत.क्रियाओं की अभिव्यक्ति या संस्थापित प्रतिमान। संस्थापित नियम अथवा प्रतिमान सुगमता से परिवर्तित नहीं होते जिसके कारण समाज में व्यवस्था आ जाती है। ये नियम व्यक्तियो की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं को निर्धारित करते हैं। इन प्रस्थितियों एव भूमिकाओं में भी एक व्यवस्था होती है जो मानव-प्राणियों की व्यवस्थित क्रमबद्धता को जन्म देती है।

(२) **गिन्सबर्ग का विचार (*Ginsberg's view*)**—*गिन्सबर्ग* के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अध्ययन का सम्बन्ध सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों, यथा समूहों, समितियों एवं संस्थाओं के प्रकारों तथा इनके संरूप जो समाजों का निर्माण करते हैं, से है।...सामाजिक संरचना के विस्तृत वर्णन में तुलनात्मक संस्थाओं के समग्र क्षेत्र का अध्ययन समाहित है।"[1]

गिन्सबर्ग का विचार है कि मनुष्य किसी उद्देश्य या ध्येय की प्राप्ति के लिए स्वयं को समूहो में संगठित करते हैं तथा इन समूहों को संस्था कहते हैं। इन संस्थाओं का सम्पूर्ण योग समाज की संरचना को जन्म देता है। गिन्सबर्ग के विचार का प्रमुख दोष यह है कि उसने सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन एवं सामाजिक समूहों में कोई विभेद नही किया। एक अन्य स्थान पर उसने लिखा है, "समुदाय की सामाजिक संरचना में विभिन्न प्रकार के समूह जिनका व्यक्ति संगठन करते हैं तथा संस्थाएँ जिनमें वे भाग लेते हैं, सम्मिलित है।"[2]

(३) **रैडक्लिफ ब्राउन का विचार (Radcliffe Brown's view)**—रैडक्लिफ ब्राउन इंग्लैंड का प्रसिद्ध मानवशास्त्री था। वह समाजशास्त्र के संरचना- त्मक प्रकार्यवाद सम्प्रदाय का सदस्य था। उसने लिखा है, "सामाजिक संरचना के घटक मानव प्राणी हैं, स्वयं संरचना तो व्यक्तियों की क्रमबद्धता है जिनके सम्बन्ध संस्थात्मक रूप से परिभाषित एवं नियमित हैं।"[3] अपनी परिभाषा के स्पष्टीकरण में उसने आस्ट्रेलिया एवं अफ्रीका के जनजातीय समाजों के उदाहरण दिए। उसने कहा कि उनके बीच नातेदारी व्यवस्था संस्थापित सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। ये सम्बन्ध व्यक्तियों को एक विशिष्ट ढंग से परस्पर संयुक्त कर देते हैं और उन्हें कतिपय निश्चित स्थिति (position) भी प्रदान करते हैं। इन स्थितियों पर विराजमान ये नातेदार सम्मिलित रूप से जिस प्रतिमान का निर्माण करते हैं, उसे नातेदारी संरचना (kinship structure) कहते हैं। उसने दक्षिणी अफ्रीका की योंगा

... concerned with the principal forms ... and ... social ... s."—

... es of ... Gins-

... ructure ... ied and ... , 82.

और बांटू जनजातियों के भी उदाहरण दिए। इन जनजातियों में वधू-मूल्य (bride price) देने की प्रथा है जिसे 'लाबोला' (labola) कहा जाता है। विवाह से सम्बन्धित यह प्रथा अनेक लोगों को एक-दूसरे से संयुक्त करती है और वह इस रूप में कि 'लाबोला' को एकत्रित करने में केवल एक व्यक्ति के अपने परिवार के सदस्य नहीं, बल्कि उसके निकट नाते-रिश्तेदार भी सहायता करते हैं। 'लाबोला' वधू के भाई अथवा उसके निकट रिश्तेदारों के विवाह के समय उपयोग की जाने वाली आर्थिक सहायता के रूप में दिया जाता है। इस प्रकार, विवाह की संस्था न केवल एक ही परिवार के सदस्यों को इकट्ठा करती है, परन्तु एक प्रकार की आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। इस प्रकार संस्थात्मक रूप से परिभाषित एवं नियमित वैवाहिक सम्बन्ध सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में दो परिवारों के बीच कड़ी बन जाता है, तथा इस प्रकार उनकी निर्धारित स्थितियाँ विवाह एवं नातेदारी-संरचना के प्रतिमान को जन्म देती हैं जो सामाजिक संरचना की ही एक उपसंरचना होती है। ऐसी ही अनेक उपसंरचनाओं को मिलाकर ही एक सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।

कुछ समय बाद रैडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना की एक अन्य परिभाषा दी। उसने कहा, "...मानव प्राणी सामाजिक सम्बन्धों के जटिल जाल द्वारा सम्बन्धित हैं। मैं 'सामाजिक संरचना' शब्द का प्रयोग वास्तविक रूप से विद्यमान सम्बन्धों के इस जाल को निर्दिष्ट करने के लिए करता हूँ।" सामाजिक संरचना के घटक व्यक्ति होते हैं तथा व्यक्ति एक मानव-प्राणी है, इस अर्थ में नहीं कि वह एक जीव है, अपितु क्योंकि सामाजिक संरचना में उसको एक स्थिति प्राप्त है। रैडक्लिफ ब्राउन सामाजिक संरचना को उतना ही वास्तविक समझता है जितने कि मानव-प्राणी हैं। उसके अनुसार, सामाजिक संरचना तथा मानव-जीव दोनों परिवर्तनशील होकर भी स्थिर हैं। परिवर्तन से उसका अभिप्राय है कि दोनों संरचनाओं के अंगों का विकास अथवा विनाश हो सकता है। मानव, जीव की समर्थताएँ बचपन से परिपक्वता की ओर विकसित होती हैं तथा वृद्धायु में उनका पतन आरम्भ हो जाता है। इसी प्रकार सामाजिक संरचना मे नये मनुष्य जन्म लेते रहते है तथा पुराने मर जाते हैं। परन्तु इस निरन्तर परिवर्तन के बावजूद भी उनकी मूल विशेषताएँ स्थिर रहती हैं। दूसरे शब्दों मे, हम कह सकते हैं कि सामाजिक संरचना का प्रकार्यात्मक स्वरूप तो सदैव परिवर्तनाधीन रहता है, जबकि इसका बाह्य चौखटा स्थिर रहता है। इन तत्वो को निर्देशित करने के लिए रैडक्लिफ ब्राउन ने 'वास्तविक संरचना' (actual structure) तथा 'सामान्य संरचना' (general structure) का क्रमशः प्रयोग किया है। उसने 'संरचनात्मक स्वरूप' तथा 'सामाजिक संरचना' के बीच अंतर किया है। सामाजिक संरचना अमूर्त है, इसकी अभिव्यक्ति सामाजिक संरचना के एककों अथवा अंगों के प्रकार्यों अथवा उनकी भूमिकाओं में ही सम्भव है। अतएव हम सामाजिक संरचना की अवधारणा को इसके घटकों के प्रकार्यों अथवा उनकी भूमिकाओं के सन्दर्भ में ही समझ सकते हैं।

(४) **पारसन्स का विचार (Parson's view)**—टालकोट पारसन्स (Talcott Parsons) के अनुसार, "सामाजिक सरचना परस्पर-सम्बन्धित संस्थाओं, एजेंसियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण

किये गये पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।"[1] पारसन्स ने सामाजिक संरचना की अवधारणा को अमूर्त स्वरूप में परिभाषित किया है। सामाजिक संरचना की सभी इकाइयाँ, अर्थात् संस्थाएँ, एजेन्सियाँ, सामाजिक प्रतिमान, प्रस्थितियाँ एवं भूमिकाएँ अदृश्य एवं अस्पर्श्य हैं, अतएव अमूर्त हैं। उसने बतलाया है कि प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं का निर्धारण रीति-रिवाजों, प्रथाओं एवं सामाजिक परिपाटियों द्वारा होता है। ये प्रस्थितियाँ विभिन्न संस्थाओं, एजेन्सियों एवं प्रतिमानों को जन्म देती हैं। ये सब जब अन्तःसम्बन्धित और एक विशिष्ट प्रकार से संगठित हो जाती हैं तो समाज की सामाजिक संरचना का निर्माण हो जाता है। सामाजिक संरचना का सम्बन्ध इकाइयों की अपेक्षा इन इकाइयों के बीच अन्तःसम्बन्धों के स्वरूपों से है। ये इकाइयाँ समाज का निर्माण करती हैं। इन इकाइयों के बीच व्यवस्थित क्रमबद्धता सामाजिक संरचना है।

(५) जानसन का विचार (Johnson's view)—हैरी एम० जानसन (Harry M. Johnson) ने लिखा है, "किसी भी वस्तु की संरचना उसके अंगों में पाये जाने वाले अपेक्षाकृत स्थायी अन्तःसम्बन्धों को कहते हैं; इसके अतिरिक्त शब्द 'अंग' स्वयं स्थिरता की कुछ मात्रा का बोध कराता है। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था लोगों के अन्तःसम्बन्धित कार्यों से निर्मित होती है, अतएव इसकी संरचना की खोज इन कार्यों में नियमितता अथवा पुनरावृत्ति की कुछ मात्रा में की जानी चाहिए।"[2]

इस प्रकार, जानसन के अनुसार, शब्द 'संरचना' स्वयं स्थिरता का प्रतिमान है जिसका निर्माण इसके अंगों के अन्तःसम्बन्धों द्वारा होता है। ये अंग समाज के समूह एवं उपसमूह होते हैं। स्थिरता का तात्पर्य यह नहीं है कि संरचना में कोई परिवर्तन नहीं होता; इसका तात्पर्य केवल इतना है कि यह अपेक्षाकृत स्थिर होती है। उदाहरणतया, समुदाय की संरचना में संस्थायें एवं समितियाँ सम्मिलित हैं जो स्वयं मानव-जीवों को मिलाकर बनी हैं। प्रत्येक मानव-प्राणी के लिए एक विशिष्ट प्रस्थिति तथा भूमिका नियत की जाती हैं। व्यक्ति की मृत्यु से स्वयं प्रस्थिति एवं भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं होता। नया व्यक्ति जो मृत व्यक्ति का उत्तराधिकारी बनता है, उसी प्रस्थिति में उसी भूमिका को निभाता है। इस प्रकार, प्रस्थिति एवं भूमिका सापेक्षतया स्थिर है जिससे संरचना भी स्थिर बन जाती है। सामाजिक संरचना के अंगों में जानसन ने समूहों, उपसमूहों, नियामक प्रतिमान एवं सांस्कृतिक मूल्यों को सम्मिलित किया है।

---

1. [illegible] term applied to the particular arrangement of [illegible] and social patterns as well as the statutes [illegible] in the group."—Parsons, Talcott, Essay [illegible]

2. "The structure of anything consists of the relatively stable interrelationships among its parts; moreover, the term 'part' itself implies a certain degree of stability. Since a social system is composed of the inter-related acts of people, its structure must be sought in some degree of regularity or recurrence in these acts."—Johnson, H. M., Sociology : A Systematic Introduction, p. 48.

(६) **मैकाइवर का विचार** (MacIver's view)—मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है, *"समूहीकरण के विभिन्न ढंग....इकट्ठे सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं....सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध मनोवृत्तियों एवं उनके हितों के महत्व का पता लगता है।"*[1]

मैकाइवर तथा पेज सामाजिक संरचना को अमूर्त अवधारणा समझते हैं जिसके अन्तर्गत अनेक अंगों का समावेश होता है। ये अंग विभिन्न प्रकार के समूहों, परिवार, समुदाय, जाति, वर्ग, नगर, गाँव, प्रजाति आदि हैं। उन्होंने उन स्रोतों एवं शक्तियों पर उचित ध्यान दिया है जो इन समूहों को व्यवस्थित ढंग से संयुक्त करते हैं तथा सामाजिक सरचना के एक निश्चित स्वरूप को जन्म देते हैं। इन्होंने सामाजिक संरचना के अध्ययन को दो भागों में बाँटा है—इनमें से एक के अन्तर्गत सामाजिक संरचना के विभिन्न मुख्य स्वरूपों को सम्मिलित किया है, जबकि दूसरे भाग के अंतर्गत उन नियामक तथा नियंत्रक शक्तियों को रखा है। क्योंकि समाज सामाजिक सम्बन्धों की रचना है, अतएव अमूर्त है, इसलिए इसकी संरचना भी अमूर्त है। मैकाइवर तथ पेज ने सामाजिक संरचना की परिवर्तनशीलता एवं इसके स्थायित्व को भी इंगित किया है। उन्होंने लिखा है कि "सामाजिक संरचना अस्थिर एवं परिवर्तनशील होते हुए भी प्रत्येक युग मे इसका निश्चित स्वरूप रहा है तथा इसके प्रमुख अंगों मे से अनेक ने परिवर्तन के माध्यम से अधिक स्थिरता दिखलाई है।" किसी सामाजिक संरचना की वास्तविक प्रकृति क्या होगी, यह इसके अंगों पर निर्भर करता है और चूंकि इन अंगों का स्वरूप प्रत्येक समाज में एकसमान नही होता, इस कारण प्रत्येक समाज की संरचना भी एक-सी नहीं होती। उदाहरणार्थ, भारतीय सामाजिक संरचना अमेरिकी सामाजिक संरचना से भिन्न है। सामाजिक सरचना के अपने अध्ययन में मैकाइवर तथा पेज ने समितियों, संस्थाओं, समूहों, प्रकार्यात्मक प्रणालियों एवं संस्थागत रूपों के अध्ययन को सम्मिलित किया है।

सामाजिक सरचना-सम्बन्धी विभिन्न विचारों के अवलोकन के बाद हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) सामाजिक संरचना एक अमूर्त एव अस्पर्श्य घटना-वस्तु है।

(२) जिस प्रकार व्यक्ति समितियों एव संस्थाओं के एकक हैं, उसी प्रकार समितियाँ एवं संस्थाएँ सामाजिक संरचना के एकक हैं।

(३) ये संस्थाएं एवं समितियाँ एक विशिष्ट क्रमबद्ध रचना मे अंतःसंबंधित होती हैं जिससे सामाजिक संरचना के प्रतिमान का जन्म होता है।

(४) सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप को निर्दिष्ट करती है जो इसके प्रकार्यात्मक अथवा आंतरिक स्वरूप की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है।

(५) सामाजिक संरचना की इकाइयो अथवा इसके अंगों की अपनी एक

1. "The various modes of grouping.... .together comprise the complex pattern of the social structure ... .In the analysis of the social structure the role of diverse attitudes and interests of social beings is revealed."—MacIver and Page, Society, p. 212.

संरचना होती है। इन समस्त उपरचनाओं के सम्मिलित रूप को सामाजिक संरचना कहते हैं।

२. सामाजिक संरचना के तत्व
(Elements of Social Structure)

सामाजिक संरचना में मानव-प्राणी स्वयं को समितियों एवं संस्थाओं में किसी उद्देश्य या उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु संगठित करते हैं। लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब सामाजिक संरचना कुछ नियमों पर आधारित हो। ये नियम सामाजिक संरचना के तत्वों को जन्म देते हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(१) **आदर्शात्मक प्रणाली** (Normative system)—आदर्शात्मक प्रणाली समाज के सामने कुछ आदर्शों एवं मूल्यों को रखती है। व्यक्ति इन मूल्यों के प्रति भावनात्मक लगाव महसूस करते हैं। संस्थाओं एवं समितियों को इन मूल्यों के अनुसार अंतःसम्बन्धित किया जाता है। व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत आदर्श नियमों के अनुसार अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करते हैं।

(२) **पद प्रणाली** (Position system)—पद प्रणाली व्यक्तियों की भूमिकाओं एवं प्रस्थितियों को निर्दिष्ट करती है। व्यक्तियों की इच्छाएँ, आकांक्षाएँ एवं प्रत्याशाएँ विविध, अनेक एवं असीमित होती हैं। अतएव इनकी पूर्ति तभी हो सकती है, यदि समाज के सदस्यों को उनकी समर्थताओं एवं योग्यताओं के अनुसार विभिन्न भूमिकाएँ निर्दिष्ट की जायें। वास्तव में, सामाजिक संरचना का ठीक प्रकार से कार्य करना प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के उचित निर्दिष्टीकरण पर निर्भर करता है।

(३) **शास्ति प्रणाली** (Sanction system)—आदर्श मूल्यों को ठीक प्रकार से लागू करने के लिए प्रत्येक समाज में शास्ति प्रणाली होती है। सामाजिक संरचना के विभिन्न अंगों का एकीकरण एवं समन्वय सामाजिक आदर्श नियमों के पालन पर निर्भर करता है। जो व्यक्ति इन आदर्श नियमों का उल्लंघन करते हैं, उन्हें उनके दोष के स्वरूप के अनुसार समाज द्वारा दण्डित किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सुसंगठित समाज मे कोई उल्लंघनकर्ता नहीं होता। उल्लंघनकर्ता भी समाज का एक अनिवार्य तत्व है, अन्यथा कोई प्रगति न होगी परन्तु उल्लंघनकर्ताओं की संख्या अनुयायियों की संख्या से कम होती है। सामाजिक संरचना की स्थिरता इसकी शास्ति प्रणाली की प्रभावशीलता पर निर्भर करती है।

(४) **पूर्वानुमानित अनुक्रिया प्रणाली** (System of anticipated responses)—पूर्वानुमानित अनुक्रिया प्रणाली व्यक्तियों से सामाजिक व्यवस्था में भाग लेने की माँग करती है। उसके द्वारा भाग लेना सामाजिक संरचना को गति प्रदान करता है। सामाजिक संरचना का सफल संचालन इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति अपने दायित्वों को किस सीमा तक महसूस करके उनका निर्वहन करने का प्रयत्न करते हैं।

(५) **क्रिया प्रणाली** (Action system)—इसका अर्थ है सामाजिक

संरचना का ध्येय अथवा उद्देश्य। सम्पूर्ण सामाजिक संरचना इसके इर्द-गिर्द घूमती है। क्रिया ही मूल कारण है जो सामाजिक सम्बन्धों के जाल को बुनती है तथा सामाजिक संरचना को गति प्रदान करती है।

इस बात पर बल देना जरूरी है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त घटना-वस्तु है। यह अदृश्य होती है। इसके अंग गतिशील एवं निरन्तर परिवर्तनशील हैं। वे दूर-दूर स्थानों पर बिखरे होते हैं, अतएव उनको समग्र रूप में देखना कठिन है।

३. सामाजिक संरचना के प्रकार

(Types of Social Structure)

श्री टी० पारसन्स ने सामाजिक संरचना के चार प्ररूपों का उल्लेख किया है। उसका वर्गीकरण चार सामाजिक मूल्यों पर आधारित है, जो निम्नवत् हैं—सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य (universalistic social value), विशिष्ट (particularistic) सामाजिक मूल्य, अर्जित (achieved) सामाजिक मूल्य तथा प्रदत्त (ascribed) सामाजिक मूल्य। सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य वे मूल्य हैं जो प्रायः प्रत्येक समाज मे फैले हुए होते हैं और सभी व्यक्तियों के लिए लागू होते हैं। उदाहरणतया, प्रत्येक समाज कुशल कारीगरों को अच्छा मानता है, क्योंकि उनसे उत्पादन-कार्य अच्छा और सस्ता होता है। इस प्रकार प्रत्येक समाज में कुशल कारीगरों का चुनाव किया जाता है।

विशिष्ट सामाजिक मूल्य किसी विशेष समाज की विशेषतायें होते हैं और ये मूल्य विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होते हैं। उदाहरणतया, यदि चुनाव जाति, धर्म, प्रान्त आदि के आधार पर होता है तो इसका अर्थ है कि इन समाजों में विशिष्ट सामाजिक मूल्यों को प्रधानता दी जाती है।

जब पदो को अपने प्रयत्नो द्वारा प्राप्त किया जाता है तो उसे अर्जित सामाजिक मूल्य कहते हैं; इसके विपरीत जब पद आनुवंशिक होते हैं तो समाज प्रदत्त सामाजिक मूल्यो में विश्वास करता है।

सामाजिक संरचना के चार प्ररूप हैं—

(१) सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान (Universalistic achievement pattern)—यह उन मूल्य-प्रतिमानों का मिश्रण है जो नातेदारी, समुदाय, वर्ग एवं प्रजाति आदि पर अधिकांशतः निर्मित सामाजिक संरचना के मूल्यों के कभी-कभी विरोधी होते हैं। सार्वभौमिकता स्वयं किसी की उपलब्धि से स्वतन्त्र सामान्यीकृत नियमों के आधार पर प्रस्थिति-निर्धारण का समर्थन करती है। सार्वभौमिक मूल्यों के अंतर्गत कर्ता को कुछ निश्चित पद प्राप्त हो जाते हैं। इससे समाज में गतिशीलता की कमी और रूढ़िवादिता बढ़ती है। जब सार्वभौमिकता को अर्जित मूल्यों से मिला दिया जाता है तो सार्वभौमिक अर्जित प्रतिमान की सामाजिक संरचना की उत्पत्ति होती है। सामाजिक संरचना के इस प्ररूप के अधीन व्यक्ति द्वारा लक्ष्य का चयन सार्वभौमिक मूल्यों के अनुरूप होना चाहिए। उसके कारोबार सार्वभौमिक मूल्यो

द्वारा परिभाषित होते हैं। ऐसी व्यवस्था गतिशील एवं विकासोन्मुख व्यवस्था होती है, जिसमें उपक्रम (initiative) को प्रोत्साहित किया जाता है। एक ओर इसे ग्रहणीय संरचनाओं, जिनका इसके प्रमुख प्रतिमानों के साथ संघर्ष होता है, का अवलम्बन लेना पड़ता है तथा दूसरी ओर यह ग्रहणीय संरचनाओं को अत्यधिक महत्वपूर्ण भी नहीं बनने देती, जिससे सामाजिक संरचना का प्ररूप ही न बदल जाये।

(ii) सार्वभौमिक प्रदत्त प्रतिमान (Universalistic Ascription pattern)—इस प्रकार की सामाजि संरचना के मूल्य-अभिमुखीकरण के तत्वों पर आरोपण के तत्वों की प्रधानता होती है। अतएव, ऐसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति के पद पर उसकी विशिष्ट प्राप्तियों की अपेक्षा अधिक बल दिया जाता है। अधिक बल इस बात पर होता है कि व्यक्ति क्या है, अपेक्षाकृत इसके कि उसने क्या किया है। पद व्यक्ति को नहीं, अपितु उसके समूह को प्रदत्त किया जाता है। व्यक्ति अपना पद अपने समूह से प्राप्त करता है। व्यक्ति के कार्यों पर प्रदत्त मूल्यो का प्रभाव पड़ता है। वर्तमान के नहीं, अपितु अतीत व भविष्य के आदर्श इस प्रतिमान में अन्तर्निहित होते हैं। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में कुलीनता (aristocracy) एवं प्रजातीय श्रेष्ठता की अवधारणायें पायी जाती हैं। नाजी जर्मनी इसी प्रकार की सामाजिक संरचना थी। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में सभी साधनों का प्रयोग सामूहिक आदर्श की प्राप्ति के लिये किया जाता है जिससे राजनीतिक तत्व आर्थिक तत्व की अपेक्षाकृत अधिक उदात्त बन जाता है। सामूहिक आदर्श की प्राप्ति हेतु राज्य को अधिक महत्वपूर्ण संस्था समझा जाता है। व्यक्तिगत नैतिकता और सामूहिक नैतिकता में अन्तर किया जाता है तथा सामूहिक नैतिकता को विशिष्ट रूप से केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना का सार्वभौमिक अर्जित प्ररूप व्यक्तिवादात्मक (individualistic) होता है तो सार्वभौमिक प्रदत्त प्ररूप समूहवादिक (collectivistic)।

(iii) विशिष्ट अर्जित प्रतिमान (Particularistic achievement pattern)—इस प्ररूप में अर्जित मूल्यों को विशिष्टवाद के साथ मिश्रित किया जाता है। सार्वभौमिक मूल्यों की अपेक्षा विशिष्ट मूल्यों पर अधिक बल दिया जाता है। अर्जित मूल्यों पर बल देने से अनुकूलन के सही प्रतिमान की अवधारणा का जन्म होता है जो मानवीय उपलब्धि का परिणाम होती है तथा जिसे निरन्तर प्रयत्नों द्वारा ही स्थिर रखा जा सकता है। इस प्ररूप में सार्वभौमिक प्ररूपों की अपेक्षा नातेदारी बन्धनों की अधिक असंदिग्ध स्वीकृति निहित है। यह संरचना परम्परावादी अधिक होती है। पारसन्स ने प्राचीन भारतीय व चीनी समाज को इस श्रेणी के प्रतिमान माना है। श्री मैक्सवेबर ने कन्फ्यूशियन चीनी सामाजिक संरचना का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी इसी श्रेणी में आता है।

(iv) विशिष्ट प्रदत्त प्रतिमान (Particularistic Ascriptive pattern)—इस प्रकार की संरचना में भी रक्त-सम्बन्ध और स्थानीय समुदाय पर आधारित समूह पाये जाते हैं। नैतिकता को सामाजिक संगठन के लिये आवश्यक माना जाता है और प्रत्येक सदस्य के लिये यह आवश्यक होता है कि वह किसी-न-किसी प्रकार

के कार्य में अपने को लगाये रखे। व्यक्तिगत गुणों को मान्यता दी जाती है, जिससे व्यक्तिवादिता का विकास स्वतः ही होता है। यह संरचना परम्परावादी होती है तथा स्थायित्व के तत्व पर अधिक बल दिया जाता है। पारसन्स के अनुसार स्पेन की सामाजिक संरचना इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है।

४. सामाजिक संस्थाएँ
(Social Institutions)

सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक संरचना की व्यवस्थित क्रमबद्धता को स्थिर रखने के लिये अनिवार्य समझी जाती हैं, अतएव इस अध्याय में हम सामाजिक संस्थाओं की अवधारणा पर संक्षिप्त विचार करेंगे। अध्याय ४ में 'संस्था' शब्द की अनेक परिभाषाएँ उद्धृत की गई हैं। संस्थाएँ व्यवहार की सामूहिक प्रणालियाँ हैं। ये कार्य करने के ढंग को निर्धारित करती हैं। ये समूह के सदस्यों को परस्पर बाँधती हैं। कुछ लेखकों ने 'संस्थाओं' तथा 'संस्थागत एजेन्सियों' में अन्तर किया है। उनके अनुसार, शब्द 'संस्था' व्यवहार के आदर्शात्मक प्रतिमानों को निर्दिष्ट करती है जबकि संस्थागत एजेन्सियों का तात्पर्य उन सामाजिक प्रणालियों से है, जिनके माध्यम से इन प्रतिमानों की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु चूँकि इन आदर्शात्मक प्रतिमानों तथा प्रणालियों, जिनके द्वारा इनकी अभिव्यक्ति होती है, के बीच घनिष्ठ एकीकरण है, अतएव अधिकांश लेखकों ने इनके बीच कोई अन्तर नहीं किया है। सामान्यतः परिवार, स्कूल, चर्च, राज्य तथा अन्य अनेक को समाज की संस्थाएँ कहा जाता है।

संस्थाओं के प्रकार (Kinds of Institutions)

पाँच प्रमुख प्रकार की संस्थाएँ होती हैं। ये हैं—(i) परिवार, (ii) आर्थिक, (iii) धर्म, (iv) शिक्षा, एवं (v) राज्य। इन पाँच प्रमुख संस्थाओं में में प्रत्येक संस्था से अनेक गौण संस्थाओं की व्युत्पत्ति हुई है। इस प्रकार, परिवार से उत्पन्न गौण संस्थाएँ हैं –विवाह, तलाक, एकपत्नीत्व, बहुपत्नीत्व, आदि। आर्थिक गौण संस्थाएँ सम्पत्ति, व्यापार, श्रम-विभाजन, बैंकिंग आदि हैं। धर्म की गौण संस्थाएँ चर्च, मन्दिर, मस्जिद, टोटम, वर्जन (taboo) आदि हैं। शिक्षा की गौण संस्थाएँ स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि हैं। राज्य की गौण संस्थाएँ हित-समूह, दल-प्रणाली, प्रजातन्त्र आदि हैं।

संस्थाओं का लोकाचारों अथवा लोकरीतियों की भाँति विकास हो सकता है अथवा इनका कानूनों की भाँति निर्माण भी किया जा सकता है। उदाहरणतया, एकपत्नीत्व अथवा बहुपत्नीत्व का लोगों द्वारा अनुभव कुछ आवश्यकताओं के फलस्वरूप विकसित हुआ। बैंकों का उस समय विकास हुआ, जब रुपया उधार लेने या देने की आवश्यकता महसूस की गई। स्कूलों तथा महाविद्यालयों की स्थापना सोच-समझकर की जाती है। संस्थाओं के विकास में एक महत्वपूर्ण विशेषता अन्य चार प्रमुख संस्थाओं के ऊपर राज्य की शक्ति का विस्तार है। अब राज्य कानूनों एवं नियमों द्वारा अधिक सत्ता का प्रयोग करता है। कभी-कभी लोकाचारों और जन रीतियों को कानूनों में समाविष्ट कर दिया जाता है, उदाहरणतया एकपत्नीत्व-

कभी-कभी नये कानूनों का भी निर्माण किया जाता है, यथा हिन्दू कोड बिल। आजकल परिवार के ऊपर राज्य का अनेक तरीकों से नियंत्रण है। परिवार के अनेक परम्परागत कार्यों को राज्य ने ले लिया है। राज्य ने विवाह, तलाक, गोद लेना तथा उत्तराधिकार-सम्बन्धी अनेक कानून पारित कर रखे हैं। इसी प्रकार अर्थ, शिक्षा एवं धर्म पर भी राज्य का नियन्त्रण बढ़ा है।

संस्था का कभी अन्त नहीं होता। पुराने संस्थागत आदर्श-नियमों के स्थान पर नवीन आदर्श-नियमों की स्थापना हो सकती है, परन्तु संस्था चलती रहती है। उदाहरणतया, आधुनिक परिवार ने परम्परागत पितृसत्तात्मक परिवार को विस्थापित कर दिया है, परन्तु परिवार की संस्था विद्यमान है। जब सामन्तवाद का अन्त हुआ तो सरकार का अन्त नहीं हो गया। शासकीय एवं आर्थिक कार्य होते रहे, यद्यपि परिवर्तित आदर्श नियमो के अनुसार। सभी प्रमुख संस्थाएँ हजारों वर्ष पुरानी हैं, केवल संस्थागत आदर्श नियम नये हैं।

संस्थाओं के कार्य (Functions of Institutions)

संस्थाओं के कार्य दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्ष (manifest) तथा (२) सुप्त (latent)। प्रत्यक्ष कार्य आशयित एवं प्रमुख कार्य होते हैं, अर्थात् ऐसे कार्य जिनके लिये संस्था मुख्य रूप से अवस्थित है। सुप्त कार्य आशयित कार्य होते हैं। वे प्राथमिक कार्य न होकर केवल सह-उपज होते है। इस प्रकार शिक्षा के प्रत्यक्ष कार्य साक्षरता का प्रसार, व्यावसायिक भूमिकाओं के लिए प्रशिक्षण तथा मूल सामाजिक मूल्यों की सीख हैं। परन्तु इसके सुप्त कार्य होंगे— नवयुवकों को श्रम-बाजार से दूर रखना, माता-पिता के नियंत्रण का क्षीण होना या मित्रता का विकास। धर्म के प्रत्यक्ष कार्य ईश्वर की पूजा एवं धार्मिक विचारो की शिक्षा हैं। इसके सुप्त कार्य होंगे—अपनी धार्मिक जाति के प्रति आसक्ति विकसित करना, पारिवारिक जीवन मे परिवर्तन लाना एवं धार्मिक घृणा को उत्पन्न करना। आर्थिक संस्थाओं के स्पष्ट कार्य वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण है, परन्तु इसके सुप्त कार्य नगरीकरण की वृद्धि एवं श्रम-संघों का विकास हो सकते हैं। किसी सस्था के सुप्त कार्य आशयित उद्देश्यों का समर्थन कर सकते हैं अथवा संस्था के आदर्श-नियमों को विनष्ट कर सकते हैं।

संस्थाओं के अन्तः-सम्बन्ध (Inter-retations of Institutions)

सामाजिक संरचना की स्थिरता विभिन्न संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों के उचित समंजन पर निर्भर करती है। कोई भी संस्था शून्य मे कार्य नहीं करती। धर्म, शिक्षा, परिवार, सरकार तथा व्यापार सभी एक-दूसरे पर अन्त.क्रिया करते हैं। इस प्रकार शिक्षा ऐसी मनोवृत्तियों को जन्म देती है, जो धार्मिक विश्वासों की स्वीकृति या अस्वीकृति को प्रभावित करती है। धर्म शिक्षा की प्रशंसा कर सकता है, क्योंकि यह मनुष्य को ईश्वरीय सत्यों का ज्ञान कराती है अथवा इसका उपहास कर सकता है, क्योंकि यह आस्था को समाप्त करती है। व्यापारिक अवस्थाएँ पारिवारिक जीवन को प्रभावित कर सकती हैं। बेकारी विवाह करने योग्य व्यक्तियो की संस्था पर प्रभाव डाल सकती है। एक बेरोजगार व्यक्ति उस समय तक विवाह

को स्थगित कर सकता है, जब तक उसे उपयुक्त नौकरी नहीं मिल जाती। विवाह का स्थगन जन्म-दर को प्रभावित कर सकता है। राज्य संस्थाओं के कार्यों को प्रभावित कर सकता है। यह उनके कुछ कार्यों को अपने हाथों में ले सकता है तथा संस्थागत आदर्श-नियमों को निर्धारित कर सकता है। व्यापारी, शिक्षक, पादरी तथा अन्य सभी संस्थाओं के कार्यकर्ता भी राज्य के कार्यों को प्रभावित करते हैं, क्योंकि राज्य का कोई भी कार्य उनके संस्थागत उद्देश्यों की प्राप्ति मे सहायक अथवा बाधक हो सकता है।

इस प्रकार, सामाजिक संस्थाओं का एक-दूसरे के साथ निकट सम्बन्ध है। विभिन्न संस्थाओं के अन्तःसम्बन्धों की तुलना एक चक्र से की जा सकती है। परिवार पहिये की धिरनी है, जबकि शिक्षा, धर्म, सरकार तथा अर्थ पहिये की तीलियाँ हैं। समुदाय घेरा है, जिसके अन्दर विभिन्न संस्थाएँ क्रियाशील रहती हैं।

सभी संस्थाओ को परिवर्तनशील समाज के साथ स्वयं को निरन्तर समंजन करते रहने की समस्या का सामना करना पड़ता है। सामाजिक पर्यावरण में परिवर्तन सभी समस्याओं में परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। मुद्रास्फीति, विवाह, मृत्यु, अपराध एवं शिक्षा पर व्यापक प्रभाव डाल सकती है। आर्थिक संस्थाओं का विघटन राजनीतिक संस्थाओं पर तीव्र प्रभाव डाल सकता है। किसी संस्था मे परिवर्तन अन्य संस्थाओं में परिवर्तन के कारण बन सकते हैं। एक संस्था के कार्य दूसरी संस्था द्वारा लिये जा सकते हैं। बच्चों का पालन-पोषण जो पहले परिवार का कार्य था, अब राज्य के पास आ गया है। जब कोई संस्था मानव-आवश्यकता को पूरा करने में असमर्थ हो जाती है तो दूसरी संस्था उसके कार्यों को अपना लेती है। कोई भी संस्था दूसरी संस्थाओं को प्रभावित किये बिना या दूसरी संस्थाओं से प्रभावित हुये बिना नहीं रहती।

प्रश्न

१. सामाजिक संरचना की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
२. सामाजिक संरचना पर किन्ही दो लेखकों के विचारों का वर्णन कीजिए।
३. सामाजिक सरचना के बारे में एस० एफ० नाडेल तथा रैडक्लिफ ब्राउन के विचारों का वर्णन कीजिए।
४. सामाजिक संरचना की महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
५. सामाजिक संरचना के क्या तत्व हैं ?
६. सामाजिक संरचना के प्रमुख प्ररूपों का वर्णन कीजिए।
७. संस्था का क्या अर्थ है ? संस्थाओ के प्रत्यक्ष एवं सुप्त कार्यों मे अन्तर कीजिए।

अध्याय १३

सामाजिक व्यवस्था

[SOCIAL SYSTEM]

सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा का सामाजिक संरचना की अवधारणा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अध्याय चार में सामाजिक व्यवस्था का अर्थ तथा सामाजिक संरचना से इसका अंतर बतलाया जा चुका है। जैसा कि उस अध्याय में बतलाया गया है, सामाजिक व्यवस्था सामाजिक संरचना के प्रकार्यात्मक स्वरूप को निर्दिष्ट करती है। सामाजिक व्यवस्था सामाजिक रचना के माध्यम से कार्य करती है। इस अध्याय में हम सामाजिक व्यवस्था के कुछ अन्य पहलुओं पर विचार करेंगे।

१ सामाजिक व्यवस्था के तत्व

(Elements of Social System)

लूमिस (Loomis) के अनुसार, सामाजिक व्यवस्था सदस्यों की प्रतिमानित अंतःक्रिया से निर्मित होती है। "यह एकाधिक वैयक्तिक-कर्ताओं की अन्तःक्रिया से निर्मित होती है। इन कर्ताओं के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध संरचित एवं सहभागी प्रतीकों एवं प्रत्याशाओं के प्रतिमान की परिभाषा एवं मध्यस्थता द्वारा पारस्परिक रूप से उदीयमान होते हैं।"[1] प्रतिमानित सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक प्रक्रियाएँ ही सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख तत्व हैं—(i) विश्वास एवं ज्ञान, (ii) भावनाएँ, (iii) आवश्यकताएँ, लक्ष्य और उद्देश्य, (iv) आदर्श, (v) पद, (vi) भूमिका, (vii) शक्ति, (viii) शास्ति, (ix) सुविधा। इन तत्वों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(१) विश्वास एवं ज्ञान (Belief and knowledge)—विश्व के किसी पहलू के बारे में किसी प्रमेय, जिसे सत्य माना जाता है, को विश्वास की संज्ञा दी जा सकती है। डी० क्रेच एवं आर० एस० क्रचफील्ड (D. Krech and R. S. Crutchfield) के अनुसार, "विश्वास व्यक्ति के संसार के किसी पहलू के बारे में ऐन्द्रिय ज्ञान एवं सहज ज्ञान का अस्थिर विन्यास है।" विश्वास सत्य या असत्य हो सकता है। यह पुष्टि-योग्य या अपुष्टि-योग्य हो सकता है। परन्तु जो व्यक्ति इसको मानते हैं, वे इसे सत्य ही समझते हैं। विश्वास सामाजिक क्रिया का संज्ञानीय आधार

---

1. "It is constituted of the interaction of a plurality of individual actors whose relations to each other are mutually oriented through the definition of and mediation of a pattern of structured and shared symbols and expectations." —Loomis, Charles, P., *Social System* p. 4.

2. "A belief is an enduring organization of perception and cognitions about some aspect of individual's world."—Krech D. and R. S. Crutchfield, *Theory and Problems of Social Psychology*, p. 157.

प्रस्तुत करता है। विश्वासों का महत्व उनकी वस्तुपरक सत्यता अथवा असत्यता से निर्धारित नहीं होता। यह विश्वास कि ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है, व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों को उन व्यक्तियों के सम्बन्धों से जो ईश्वर की अवस्थिति मे विश्वास करते हैं, भिन्न बना देगा। यह विश्वास कि पूंजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी है, लोगों को आशावादी बना सकता है। आदिम लोगों में अनेक प्रकार के विश्वास प्रचलित थे। आज भी लोगों के अनेक विश्वास हैं। हिन्दू सामाजिक संरचना ईश्वर की अवस्थिति, पुनर्जन्म के सिद्धान्त, कर्म के सिद्धान्त एवं स्वर्ग तथा नरक की वास्तविकता के आधार पर निर्मित है। भारतीय जाति-व्यवस्था कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है। इस कर्मफल-सम्बन्धी विश्वास के कारण ही प्रत्येक जाति के सदस्यों में यह दृढ़ विश्वास होता है कि पूर्वजन्म के कार्यों के अनुसार ही उन्हे इस जन्म में एक विशिष्ट प्रकार का कार्य करने को मिला है और इस कारण उसे करना उनका कर्तव्य है। सामाजिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण बात यह है कि इसी कर्मफल-सम्बन्धी विश्वास के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे जन्म मे अधिक अच्छी स्थिति पाने के लिए इस जन्म में समाज द्वारा मान्य अच्छे कार्यों को करने का प्रयत्न करता है। विश्वास के कारण ही हिन्दू सामाजिक संरचना अनेक आक्रमणों के बाद भी जीवित रह सकी है। लूमिस के अनुसार, विश्वास के संज्ञानीय पहलू का परीक्षण एवं वैधीकरण भी महत्वपूर्ण है। इससे प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा तथा सामाजिक व्यवस्था में गतिशीलता आयेगी।

(२) भावनायें (Sentiments)—भावना का तत्व विश्वास के निकटस्थ सम्बन्ध में है। संसार के बारे में "हम क्या महसूस करते हैं" भावनाएँ इसका प्रतिनिधित्व करती हैं। भावना सामाजिक व्यवस्था के आन्तरिक प्रतिमान में एक प्रमुख तत्व है। आन्तरिक प्रतिमान में अभिव्यक्त भावनाएँ बाह्य एवं आन्तरिक, दोनों प्रकार से प्रतिमानित सामाजिक अन्त:क्रिया का परिणाम होती हैं। बाह्य प्रतिमान की भावनाएँ मनुष्य बाहर से लाते हैं। भावनाएँ अर्जित की जाती हैं। वे अनुभव एवं सांस्कृतिक पर्यावरण की उपज होती हैं। हमारे सांस्कृतिक मूल्य एवं सामाजिक ध्येय हमारी भावनाओं को प्रभावित एवं नियंत्रित करते हैं। प्रेम, घृणा, परोपकारिता, दया, राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता की भावनाओं की व्युत्पत्ति हमारी सांस्कृतिक परिस्थितियों द्वारा होती है। भावनाएँ बुद्धिगत, आचारात्मक, धार्मिक एवं कलात्मक आदि अनेक प्रकार की हो सकती हैं। समूह-भावना संगठन व व्यवस्था की प्रेरक आत्मा है।

(३) लक्ष्य तथा उद्देश्य (End, goal or objective)—लक्ष्य तथा उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था को जन्म देते हैं। सामाजिक व्यवस्था के सदस्य उचित अन्त:क्रिया द्वारा किसी विशेष लक्ष्य या उद्देश्य की प्राप्ति की आशा रखते हैं। यदि कोई आवश्यकतायें, उद्देश्य अथवा लक्ष्य न होते तो कोई समाज भी न होता। मानवीय आवश्यकतायें, ध्येय एवं लक्ष्य सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। आदिकालीन समाजों के सदस्यों की आवश्यकताएँ, लक्ष्य तथा उद्देश्य आधुनिक समाज के सदस्यों की आवश्यकताओं आदि से भिन्न थे, अतएव आदिकालीन सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप से

भिन्न था। मानवीय आवश्यकतायें मानव को एक-दूसरे के निकट लाने का कारक हैं और मनुष्य को अन्तःक्रिया करने के लिए बाध्य करती हैं। प्रत्येक सामाजिक क्रिया का एक लक्ष्य व उद्देश्य होता है जो मानवीय आवश्यकताओं से सम्बन्धित व उनके द्वारा प्रभावित होते हैं।

(४) आदर्श-नियम (Norms)—सामाजिक सम्बन्धों में क्या ठीक है तथा क्या गलत है; क्या उचित है एवं क्या अनुचित है; क्या न्यायपुक्त है एवं क्या अन्याय है; क्या भला है एवं क्या बुरा है—यह निर्धारित करने वाले मानकों को आदर्श-नियम कहा जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के आदर्श-नियम होते हैं, जिन्हें इसके सदस्यों को पालन करना होता है। कुछ आदर्श-नियम तो सामान्य प्रकार के होते हैं, जिन्हें सभी सदस्यों को मानना पड़ता है, दूसरे केवल उस व्यवस्था में कुछ विशेष व्यक्तियों एवं पदों के लिए होते हैं। विशेष आदर्श-नियम विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं के लिये विशेषतया महत्वपूर्ण हो सकते हैं। आर्थिक व्यवस्था के लिए 'दक्षता' (efficiency) का बड़ा महत्व है। खेलकूद क्रिया में न्यायपूर्ण व्यवहार के आदर्श-नियम का महत्व है। सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा में व्यवस्था का विचार निहित है। अतएव सामाजिक व्यवस्था को परिसीमित करने की एक मुख्य कसौटी व्यवहार के उचित तरीकों के बारे में सहमति है। आदर्श-नियम सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करते हैं। जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, कानून, फैशन, प्रथा, नैतिकता, धर्म आदि विभिन्न आदर्श-नियम हैं जो सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक तत्व के रूप में क्रियाशील रहते हैं। दुर्खीम के अनुसार, आदर्श-नियम सामूहिक चेतना के प्रतीक होते हैं।

(५) प्रस्थिति एवं भूमिका (Status-role)—प्रस्थिति व्यक्ति का पद है जो उसे समाज में प्राप्त होता है। सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की कोई न कोई प्रस्थिति होती है। किसी विशेष व्यवस्था में किसी व्यक्ति को किसी विशेष समय पर जो पद प्राप्त होता है, वह उस व्यवस्था के संदर्भ में उसकी प्रस्थिति होती है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में प्रस्थिति का तत्व पाया जाता है। परिवार में पिता, माता, पुत्र, पुत्री आदि की प्रस्थितियाँ होती हैं। इसी प्रकार क्लब, स्कूल, यूनियन अथवा फैक्टरी में भी प्रस्थितियाँ होती हैं। व्यक्ति की प्रस्थिति प्रदत्त (ascribed) या अर्जित (achieved) होती है। प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म के समय ही प्राप्त हो जाती है। यह उसके समूह अथवा समाज द्वारा उसे प्रदत्त की जाती है। इसका आधार लिंग, आयु, जाति या वर्ण हो सकता है। अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति अपने प्रयास, शिक्षा व योग्यता के आधार पर प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, निम्न जाति में जन्मा व्यक्ति अपने प्रयत्नों से प्रधानमंत्री बनकर उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्रस्थिति से सम्बद्ध कुछ कार्य होते हैं, जिन्हें 'भूमिका' (roles) कहा जाता है। सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों से अपनी-अपनी प्रस्थितियों के अनुसार अपने कार्यों के निर्वहन की अपेक्षा की जाती है। प्रत्येक प्रस्थिति के लिए भूमिका निश्चित होती है। चाहे व्यक्ति बदल जायें, परन्तु प्रस्थितियाँ नहीं बदलतीं। प्राचार्य के रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है, परन्तु प्राचार्य का पद दूसरा व्यक्ति ले लेता है, जिससे शैक्षिक व्यवस्था स्थिर रहती है।

कार्य या भूमिका के बिना प्रस्थिति केवल एक सैद्धान्तिक खोल (theoretical shell) है।

(६) पद (Rank)—पद का अर्थ व्यक्ति की स्थिति से है। सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को अपने महत्व के अनुपात में स्थिति प्राप्त होती है, जिसका निर्धारण सामाजिक आदर्श-नियमों एवं मानकों के अनुसार व्यक्ति एवं उसके कार्यों के मूल्यांकन द्वारा होता है। आधुनिक समाज में अध्यापक की अपेक्षा राजनीतिक नेता का पद उच्च माना जाता है, जबकि प्राचीन काल में अध्यापक को सर्वोच्च पद, राजा से भी उच्च, प्राप्त था।

(७) शक्ति अथवा सत्ता (Power)—सत्ता से अर्थ दूसरों को नियंत्रित करने की समर्थता से है। सामाजिक व्यवस्था की विभिन्न इकाइयों में संघर्ष होने की सम्भावना होती है। ऐसा संघर्ष सामाजिक व्यवस्था के लिए हानिकारक होता है। इस प्रकार विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के बीच विवाद खड़ा हो सकता है, जो संस्था के दक्ष संचालन के लिए बाधक है। अतएव सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए किसी ऐसी सत्ता का होना आवश्यक है जो व्यक्तियों के बीच संघर्ष की स्थिति को समाप्त करने में समर्थ हो। राज्य में शासक, परिवार में पिता तथा यूनियन में अध्यक्ष के पास ऐसी सत्ता होती है। इस सत्ता का निवास प्रस्थिति-भूमिका (status role) में, न कि व्यक्ति में होता है। इस प्रकार प्राचार्य, पादरी, पिता, यूनियन-अध्यक्ष, पुलिसमैन की सत्ता उनके विशेष पद में निहित है। ज्योंही व्यक्ति उस पद से हट जाता है, उसकी उस पद से सम्बन्धित सत्ता भी समाप्त हो जाती है। भूतपूर्व प्राचार्य विद्यार्थियों की क्रियाओं को निर्देशित नहीं कर सकता; भूतपूर्व पादरी धार्मिक अनुष्ठान नहीं करा सकता; भूतपूर्व राष्ट्रपति संसद् के अधिवेशन को नहीं बुला सकता। अतएव सत्ता की अवधारणा में संस्थायीकरण की कुछ मात्रा निहित है। मैक्सवेबर के अनुसार, आधुनिक समाज में सत्ता विशेष रूप से आर्थिक आधारों पर आधारित है। आर्थिक सत्ता के अतिरिक्त उसने तीन अन्य प्रकार की सत्ताओं का भी उल्लेख किया है, जो निम्न हैं—(i) वैधानिक सत्ता, (ii) परम्परात्मक सत्ता, तथा (iii) करिश्माई सत्ता।

(८) शास्ति (Sanction)—शास्ति का अर्थ पुरस्कारों तथा दण्ड से है, जिनका सामाजिक व्यवस्था के सदस्य अपने आदर्श-नियमों एवं लक्ष्यों की पालना कराने हेतु साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। सामाजिक व्यवस्था कुछ आचरणों या कार्यों को उचित मानकर उन्हें करने की मान्यता प्रदान करती है और कुछ कार्यों को समाज-कल्याण का विरोधी मानकर उन्हें मान्यता देने से इन्कार करती है। किसी कार्य को करने से पूर्व व्यक्ति को यह सोचना पड़ता है कि उस कार्य के पीछे सामाजिक मान्यता है या नहीं। उदाहरण के लिए, भूख को शान्त करने के लिए किसी व्यक्ति की चीजें चुरा लेना सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। ऐसा करने पर समाज दण्ड देगा। कभी-कभी सरकारी मान्यता सामाजिक मान्यता के विपरीत हो सकती है। शास्तियाँ सकारात्मक तथा नकारात्मक दो प्रकार की हो सकती हैं। सकारात्मक शास्तियों में वेतन, लाभ, हित, मान, प्रशंसा, विशेषाधिकार आदि सम्मिलित हैं। नकारात्मक शास्तियाँ दण्ड एवं सजायें आदि हैं।

(९) सुविधा (Facility)—सुविधा का अर्थ है, व्यवस्था के अन्दर किसी लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु प्रयुक्त साधन। यह आवश्यक हो है कि सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों को अपनी भूमिकार्यें दक्षतापूर्वक निर्वहन करने के लिए समुचित सुविधाऐं प्रस्त हों। सुविधाऐं केवल उपलब्ध हों न हों, अपितु उनका प्रयोग भी किया जाय। सामाजिक व्यवस्था के लक्ष्यों, उद्देश्यों एवं ध्येयों को सुविधाओं के प्रयोग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। सुविधाओं का प्रयोग सर्वांगीण उद्देश्यों, विश्वासों एवं आदर्श-नियमो को उजागर करता है जो अन्यथा तमावृत रहते। दूसरे शब्दों में, समाज कुछ उपलब्ध सुविधाओं का प्रयोग कर सकने की असफलता द्वारा अपने लक्ष्यों, विश्वासों एवं आदर्श-नियमो को उद्‌घाटित कर देता है। किसानों को ट्रैक्टरों, उर्वरकों आदि की सुविधाऐं उपलब्ध हो सकती हैं, परन्तु यदि वे इनका प्रयोग नहीं करते तो वे उत्पादन को बढ़ाने तथा अपना समय एवं अपनी शक्ति को बचाने में समर्थ नही हो सकते। ट्रैक्टरों का प्रयोग करने के लिए भू-प्रणाली के पुनर्संगठन की आवश्यकता पड़ सकती है, क्योंकि यदि भूमि का क्षेत्र छोटा है तो ट्रैक्टर का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसके प्रयोग का भी विरोध किया जा सकता है। यही बात परिवार नियोजन के लिए उपलब्ध सुविधाओं के बारे में कही जा सकती है। यदि इन सुविधाओं का प्रयोग नही किया जाता तो खाद्य पदार्थों में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती। यदि हम परमाणु-शक्ति का शांतिपूर्ण कार्यों के लिए प्रयोग करते हैं तो इससे शांति मे हमारे विश्वास की पुष्टि होती है, परन्तु यदि इसका प्रयोग आणविक बमों को बनाने के लिए किया जाता है तो इसका अर्थ होगा कि हम युद्ध की तैयारी कर रहे हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाओं के लिए सुविधा का महत्व इसके अंतर्निहित गुणों की अपेक्षा इसके प्रयोग द्वारा निर्धारित होता है।

पारसन्स का सिद्धान्त (Parson's View)

टालकॉट पारसन्स के अनुसार, "*सामाजिक व्यवस्था* एक ऐसी परिस्थिति में, जिसका कि कम-से-कम एक भौतिक या पर्यावरण-सम्बन्धी पहलू हो, अपनी इच्छाओं या आवश्यकताओं की आदर्श पूर्ति की प्रवृत्ति से प्रेरित एकाधिक वैयक्तिक कर्ताओं की एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रियाओ के फलस्वरूप उत्पन्न होती है और इन अन्तःक्रियाओं में लगे हुए व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध उनकी परिस्थितियों के साथ सांस्कृतिक रूप में संरचित तथा स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था द्वारा परिभाषित और मध्यस्थित होता है।"[1] सामाजिक व्यवस्था अन्तःक्रिया की व्यवस्था है। यह अन्योन्याश्रित क्रिया-प्रक्रियाओं की व्यवस्था है। पारसन्स की परिभाषा के कुछ आवश्यक तत्व इस प्रकार हैं—(i) अनेक या एकाधिक वैयक्तिक कर्ता, (ii) इन कर्ताओं के बीच होने वाली अन्त.क्रियायें, (iii) इन अन्त.क्रियाओं का एक उद्देश्य या लक्ष्य या इच्छाओं की आदर्श प्राप्ति जो कि इन अन्तःक्रियाओं के घटित

... interacting ... imental ... tion of ... ther, is ... shared ... symbols

होने के विषय में एक प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करता या करती है; (iv) इन अन्तः-क्रियाओं के घटित होने के लिए आवश्यक एक सामाजिक परिस्थिति जिसका कि कम-से-कम एक भौतिक या पर्यावरण-सम्बन्धी पक्ष हो, तथा (v) अन्तःक्रियाओं द्वारा उत्पन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बन्ध या उस सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा नियमित व परिभाषित। सामाजिक व्यवस्था आवश्यक रूप में अन्तःक्रियात्मक सम्बन्धों का एक जाल है।

इस प्रकार, सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों की क्रियाओं से निर्मित होती है। इसमें अन्तःक्रियात्मक सम्बन्धों की प्रक्रिया में वैयक्तिक कर्ता के द्वारा भाग लेना निहित है। इस भाग के दो प्रमुख रूप हैं—पदात्मक (positional) रूप तथा प्रक्रियात्मक (processional) रूप। पदात्मक रूप सामाजिक व्यवस्था में कर्ता की स्थिति को इंगित करता है, जिसे उसकी प्रस्थिति (status) कहा जा सकता है। प्रक्रियात्मक रूप कर्ता के प्रकार्यात्मक महत्व को निर्दिष्ट करता है, जिसे उसकी भूमिका (role) कहा जा सकता है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था के तीन तत्व हैं—सामाजिक क्रिया, कर्ता तथा प्रस्थिति-भूमिका।

(i) **क्रिया (Act)**—क्रिया या कार्य कर्ता की स्थिति-व्यवस्था में एक प्रक्रिया है जो व्यक्ति को अथवा समूह के मामले में व्यक्तियों को प्रेरित करती है। क्रिया के अनुस्थापन का कर्ता की परितुष्टियों की पूर्ति अथवा उसकी क्षतियों के परिहार पर प्रभाव पड़ता है। कार्य में किसी विशिष्ट पारिस्थितिक उद्दीपन के प्रति अस्थायी अनुक्रियायें ही सम्मिलित नहीं होती, अपितु इसमें कर्ता अपनी आवश्यकताओं से सम्बन्धित प्रत्याशाओं की व्यवस्था का विकास कर लेता है। वैयक्तिक कर्ता की आवश्यकता-व्यवस्था के दो पहलू होते हैं—परितुष्टिक (gratificational) तथा अनुस्थापनिक (orientational)। प्रथम पहलू का सम्बन्ध पदार्थ संसार के साथ उसके अन्तःपरिवर्तन से है, अर्थात् अन्तःक्रिया से वह क्या प्राप्त करता है एवं इसकी क्या कीमत उसे देनी पड़ी। दूसरे पहलू का सम्बन्ध पदार्थ संसार के साथ उसके सम्बन्ध के 'कैसे' से है। किसी वस्तु में ये दोनों पहलू मौजूद होने चाहिए, इससे पूर्व कि उसको क्रिया (act) की संज्ञा दी जा सके।

(ii) **कर्ता (Actor)**—कर्ता भी सामाजिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण इकाई है। उसी को व्यवस्था के अंतर्गत प्रस्थिति प्राप्त होती है और वही भूमिका का निर्वहन करता है। यद्यपि प्रत्येक क्रिया में कर्ता निहित होता है, अतएव कर्ता के तत्व को बिना किसी व्याख्या के स्वीकृत किया जा सकता है, तथापि इसे एक स्वतंत्र तत्व के रूप में वर्णित करना श्रेयष्कर होगा। कर्ता में व्यक्ति का शरीर कार्य नहीं करता, अपितु उसका अहम् (ego) अथवा आत्म (self) कार्य करता है। किसी सामाजिक व्यवस्था की इस प्रकार संरचना नहीं की जा सकती कि वह इसके घटक वैयक्तिक कर्ताओं की कार्यात्मक स्थितियों की घोर विरोधी हो। इसमें यथेष्ट अनुपात में ऐसे घटक कर्ताओं का समावेश होना चाहिये, जो इसकी भूमिका-व्यवस्था की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर कार्य करें। सामाजिक व्यवस्था वैयक्तिक कर्ताओं की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करे। वह अपना अनुकूलन इन आवश्यकताओं से करे। वह कर्ताओं को उन कार्यों को समुचित रूप से निर्वहन करने की प्रेरणा दे, जो

इसकी स्थिरता एवं इसके विकास के लिए आवश्यक हैं। अतएव किसी कार्य के महत्व को जानने के लिए केवल इसकी प्रेरणा को ही नहीं देखना होगा, अपितु सामाजिक व्यवस्था के लिए इसके वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामों पर भी दृष्टिपात करना होगा। यदि कोई कर्ता आध्यात्मिक आनन्द-हेतु कोई कार्य करने को प्रेरित होता है, परन्तु साथ ही उसका कार्य सामाजिक व्यवस्था के लिए विघटनकारी है तो ऐसे मामले मे सामाजिक व्यवस्था के सामने समस्या प्रेरणा की न होकर नियंत्रण की बन जाती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे अनेक विशिष्ट कार्य होते हैं, जो सामाजिक व्यवस्था के लिए विघटनकारी हैं, क्योंकि वे एक या अधिक अन्य कर्ताओं की भूमिका के निर्वहन में बाधा डालते हैं। यह सामाजिक व्यवस्था के लिए समाजीकरण तथा सामाजिक नियंत्रण की प्रकार्यात्मक समस्याओं को प्रस्तुत करती है। इस दृष्टि से समाजीकरण तथा सामाजिक नियंत्रण के साधन भी सामाजिक व्यवस्था का एक अंग हैं।

श्री पारसन्स ने सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित तीन प्रकार की संस्थाओं का उल्लेख किया है—(i) सम्बन्धात्मक संस्थायें (Relational Institutions); (ii) नियामक संस्थायें (Regulatory Institutions), तथा (iii) सांस्कृतिक संस्थाएँ (Cultural Institutions)।

(iii) प्रस्थिति-भूमिका(Status Role)—सामाजिक व्यवस्था अन्त:क्रियात्मक प्रक्रिया मे सम्मिलित कर्ताओं के बीच सम्बन्धों की संरचना है, अतएव प्रतिमानित अन्त:क्रियात्मक सम्बन्धों में कर्ता की शिरकत सामाजिक व्यवस्था की सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। इस शिरकत के दो पहलू होते हैं—भूमिका-सम्बन्धी पहलू तथा प्रस्थिति-सम्बन्धी पहलू। भूमिका सामाजिक व्यवस्था के लिए कर्ता के प्रकार्यात्मक महत्व को निर्दिष्ट करती है, जबकि प्रस्थिति सामाजिक व्यवस्था में उसके स्थान का बोध कराती है। सामाजिक व्यवस्था में कर्ता की उच्च या निम्न प्रस्थिति होती है तथा उसकी एक निश्चित भूमिका होती है। सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न प्रस्थितियाँ होती हैं, जिनको परस्पर एकीकृत किया जाता है। कर्ताओं को सामाजिक व्यवस्था में विविध भूमिकाएँ बाँटी जाती हैं। विभाजन की इस प्रक्रिया को पारसन्स से विनियोजन (Allocation) कहा है। सामाजिक व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन के लिये कर्ताओं के बीच भूमिकाओं का उचित विनियोजन जरूरी है। भूमिकाओं के विनियोजन की समस्या सुविधाओं के विनियोजन की समस्या से सम्बन्धित है, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था मे उनकी पूर्ति माँग की तुलना में सीमित होती है। सुविधाओं की समस्या से सम्बन्धित सत्ता अथवा शक्ति की समस्या है, क्योंकि सुविधाओं के भोग का अर्थ है आर्थिक या राजनीतिक सत्ता का भोग। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को भूमिकाओं के उचित विनियोजन, सुविधाओं एवं पुरस्कारों के उचित विनियोजन तथा आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के उचित विनियोजन की समस्याओं का सामना करना पड़ता है और यदि यह उचित विनियोजन करने में सफल हो जाती है तो जीवित रह सकती है, अन्यथा इसका विघटन हो जायगा।

२. सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण
(Classification of Social Systems)

सामाजिक व्यवस्थाओं के निम्नलिखित महत्वपूर्ण वर्गीकरण हैं—

(i) **मार्गन तथा अन्य विकासवादियों द्वारा वर्गीकरण** (Classification by Morgan and other Evolutionists)—मार्गन एवं अन्य विकासवादियों ने विकास के आधार पर सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार समाज या सामाजिक व्यवस्था तीन चरणों से गुजरी है। ये चरण निम्न हैं—(i) जंगली सामाजिक व्यवस्था, (ii) असभ्य सामाजिक व्यवस्था, तथा (iii) सभ्य सामाजिक व्यवस्था। उन्होंने जीवन-यापन के साधनों के आधार पर भी सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण किया है। इस प्रकार ये व्यवस्थायें निम्न हैं—(i) शिकार करने की स्थिति की सामाजिक व्यवस्था, (ii) चरागाह की स्थिति की सामाजिक व्यवस्था, (iii) कृषि-स्तर की सामाजिक व्यवस्था, तथा (iv) औद्योगिक स्तर की सामाजिक व्यवस्था।

(ii) **दुर्खीम का वर्गीकरण** (Durkheim's classification)—दुर्खीम ने दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं का उल्लेख किया है—(i) यांत्रिक सामाजिक व्यवस्था (mechanical social system), तथा (ii) सावयवी सामाजिक व्यवस्था (organic social system)। प्राचीन समाजों में यांत्रिक सामाजिक व्यवस्था थी, जबकि आधुनिक समाजों की सामाजिक व्यवस्था सावयवी प्रकार की है।

(iii) **सोरोकिन का वर्गीकरण** (Sorokin's classification)—सोरोकिन का वर्गीकरण वास्तव में सांस्कृतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण है। उसके अनुसार तीन प्रकार की सांस्कृतिक व्यवस्थायें होती हैं—(i) चेतनात्मक (sensate), (ii) आदर्शात्मक (idealistic), तथा (iii) भावनात्मक (ideational)। चेतनात्मक सांस्कृतिक व्यवस्था में भौतिक व इन्द्रिय-जनित सुख-प्राप्ति को प्राथमिक महत्व दिया जाता है। भावनात्मक व्यवस्था में आध्यात्मिक आनन्द को महत्वपूर्ण समझा जाता है, जबकि आदर्शात्मक व्यवस्था में भौतिक सुख तथा आध्यात्मिक आनन्द दोनों को महत्व दिया जाता है।

३. सामाजिक व्यवस्था की पूर्वापेक्षाएँ
(Pre-requitsites of Social System)

सुसंगत एवं क्रियाशील सामाजिक व्यवस्था की कुछ पूर्वापेक्षाएँ हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सामाजिक व्यवस्था में संगति होनी चाहिये। संघर्षरत सामाजिक व्यवस्था दक्षतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। जिस प्रकार मानव-जीव एक स्वस्थ शरीर के रूप में उसी अवस्था में काम कर सकता है, जब इसके विभिन्न अंगों में कोई अव्यवस्था न हो अथवा कोई रोगग्रस्त अंग न हो, ठीक उसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था दक्षतापूर्वक तभी काम कर सकती है, जब इसके अंगों में

व्यवस्था हो तथा ये अंग कार्यशील रहें। स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की पूर्वापेक्षाओं को तीन वर्गों में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है—

(१) जीवशास्त्रीय पूर्वापेक्षाएं (Biological pre-requisites) निम्नलिखित हैं—(i) व्यक्तियों की यथेष्ट संख्या, एवं (ii) प्रजनन की निश्चित व्यवस्था।

सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों की संख्या यथेष्ट होनी चाहिये, ताकि वह दक्षतापूर्वक कार्य कर सके। परन्तु संख्या अत्यधिक नहीं होनी चाहिये। अधिक जनसंख्या एक अभिशाप है। सामाजिक व्यवस्था में लोगों की संख्या न तो बहुत कम और न बहुत अधिक होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था में प्रजनन की सुचारु व्यवस्था होनी चाहिये, ताकि इसकी निरन्तरता बनी रहे। अत्यधिक ऊंची मृत्यु-दर नहीं होनी चाहिये।

(२) प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं (Functional pre-requisites)—प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षाएं वे पूर्वापेक्षाएं हैं, जिनका सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था के सदस्यों के कार्यों से है। ये निम्न हैं—

(i) सामाजिक आदर्श-नियमों का पालन (Obedience to social norms)—प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था के कुछ आदर्श-नियम होते हैं। नियमहीन समाज कोरी कल्पना है। आदर्श-नियम सामाजिक रूप से मान्यता-प्राप्त व्यवहार के ढंग हैं, जिनके पालन की सामाजिक व्यवस्था के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है। यदि इनका उल्लंघन होता है तो सामाजिक व्यवस्था दक्षतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती।

(ii) सामाजिक नियंत्रण की यंत्र-विधि (Mechanism of social control)—चूंकि कुछ व्यक्ति समाज के आदर्श-नियमों का उल्लंघन करते हैं, अतः यह आवश्यक है कि यथेष्ट यन्त्र-विधि की व्यवस्था की जाय, ताकि व्यक्तियों को इन आदर्श-नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सके तथा सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से कार्य करती रहे। सामाजिक नियंत्रण के साधन औपचारिक एवं अनौपचारिक हो सकते हैं।

(iii) सकारात्मक कार्य के प्रति रुचि (Interest towards positive action)—कर्ताओं का सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण विश्वास होना चाहिये। उनको इसके विरुद्ध कोई रोष नहीं होना चाहिये। उन्हें सकारात्मक कार्य में गहरी रुचि लेनी चाहिये।

(३) सांस्कृतिक पूर्वापेक्षाएं (Cultural pre-requisites)—ये निम्न हैं—

(i) भाषा (Language)—सामाजिक व्यवस्था के सदस्यों के पास एक अर्थपूर्ण भाषा होनी चाहिये, जिसके माध्यम से वे अपने को अभिव्यक्त तथा दूसरों के साथ संचार कर सकें। भाषा के बिना कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं चल सकती। भाषा के महत्व का अध्याय ५ में वर्णन किया जा चुका है।

(ii) प्रतीक (Symbols)—सामाजिक व्यवस्था में प्रतीकों का भी महत्व-

पूर्ण स्थान होता है। पाइपर (Piper) के अनुसार, "प्रतीक अवश्यम्भावी कोई भौतिक वस्तु या प्रक्रिया होता है जो शून्य संवेदना से परे किसी अर्थ का बोध कराता है। यह पशुवत् अनुक्रिया के प्रति मनुष्य की अनुपूरक क्रिया का प्रतिनिधित्व करता है तथा अर्थ के अंतरालहीन, अंत.प्रेरणात्मक संसार में उसके प्रवेश को इंगित करता है।" प्रतीक किसी अदृश्य, अमूर्त एवं अभव्य वस्तु का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक वस्तु होता है। उदाहरणतया, ईश्वर का प्रतीक मूर्ति है। शेर बहादुरी का, लोमड़ी चालाकी का प्रतीक है। कबीले, कुल एव राष्ट्र ऐसे प्रतीकों को अपनाते हैं, जिनका उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में महत्व होता है। ध्वज राष्ट्र का प्रतीक है। कोई पत्ता, पुष्प, पशु सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक बन सकता है। प्रतीक ऊल-जलूल नहीं होना चाहिये, अपितु स्वाभाविक होना चाहिये, अर्थात् यह किसी विचार का द्योतक हो तथा उसे उजागर करे।

(iii) संचार-व्यवस्था (System of communication)—अंतिम, प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में संचार-व्यवस्था होनी चाहिये। सामाजिक अन्तःक्रिया संचार के माध्यम से कार्य करती है। संचार के साधन भाषा, लिपि, प्रतीक, दूरभाष आदि हो सकते हैं।

४. सामाजिक व्यवस्था की यंत्र-विधियाँ
(Mechanisms of Social System)

सामाजिक व्यवस्था अन्योन्याश्रित क्रिया-प्रक्रियाओं की व्यवस्था है। मनुष्यों के बारे में हमारा ज्ञान हमें सूचित करता है कि व्यक्तियों में सामाजिक व्यवस्था के संस्थापित आदर्श-नियमों को बदलने की प्रवृत्तियाँ होती हैं जिससे स्थिर अथवा संतुलित अन्त.क्रियात्मक प्रक्रिया को आघात पहुँचता है। अतएव यह नितांत आवश्यक है कि सामाजिक अन्तःक्रिया की विभिन्न प्रक्रियाओं के बीच संतुलन को बनाये रखने के लिए अपेक्षित यंत्र-विधियों का प्रयोग किया जाय, ताकि सामाजिक व्यवस्था संतोषजनक ढंग से कार्य करती रहे। पारसन्स ने इन यंत्र-विधियों को निम्न दो श्रेणियों में रखा है—

(१) समाजीकरण की यंत्र-विधियाँ, तथा

(२) सामाजिक नियंत्रण की यंत्र-विधियाँ।

समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी भूमिका को ठीक प्रकार से निर्वहन करने हेतु अपेक्षित गुण प्राप्त करता है। समाजीकरण की प्रक्रिया बच्चे को समाज के क्रियाशील सदस्य में विकसित करती है। वह स्वयं को सामाजिक स्थितियों के साथ अनुकूलित कर सामाजिक आदर्श-नियमों, मूल्यों एवं मानकों का पालन करता है। परन्तु समाजीकरण की प्रक्रिया केवल बालक तक ही सीमित नहीं है। यह तो जीवन-पर्यन्त चलती रहती है। बच्चे के समाजीकरण का उदाहरण इस कारण दिया जाता है, क्योंकि अधिकांश मूल्य-प्रतिमान बचपन में ही सीखे जाते हैं, जिनमें वयस्क आयु में कोई घोर परिवर्तन नहीं होता। समाजीकरण विभिन्न प्रेरणात्मक प्रक्रियाओं द्वारा होता है, जिन्हें समाजीकरण की यंत्र-विधियाँ

कहा जा सकता है। पारसन्स ने समाजीकरण की पाँच यंत्र-विधियों का उल्लेख किया है। ये निम्न हैं—दृढ़ीकरण निर्वापण (reimforcement extinction), निषेध (inhibition), प्रतिस्थापन (substitution), अनुकरण (imitation) एवं अभिज्ञान (identification)।

सामाजिक नियंत्रण में ऐसी यंत्र-विधियाँ होती हैं, जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों को सामाजिक व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमान के पालनार्थ ढालता है। यह स्पष्ट है कि कर्ता में आदर्शात्मक मानकों का उल्लंघन करने की प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो सामाजिक व्यवस्था को विघटित कर सकती हैं। सामाजिक नियंत्रण की यंत्र-विधियों द्वारा कर्ता को विचलन त्यागने तथा अनुसरण के लिए प्रेरित किया जाता है। विचलन (deviance) एवं अनुसरण (conformity) की अवधारणायें जटिल अवधारणायें हैं, क्योंकि विचलन के बारे में निर्णय करना कठिन होता है। इसके लिए उस व्यवस्था को, जिस पर यह लागू होता है, ध्यान में रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आदर्शात्मक प्रतिमानों की संरचना सदा जटिल एवं अ-एकीकृत होती है। तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि सभी सामाजिक क्रियाएँ आदर्शात्मक रूप से अभिमुखी होती हैं तथा सभी कर्ताओं को सामाजिक आदर्श-नियमो का पालन करना चाहिये, ताकि सामाजिक व्यवस्था में एकीकरण एवं संतुलन कायम रहे। पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण की आधारभूत यंत्र-विधियाँ संस्थागत रूप से एकीकृत सामाजिक व्यवस्था के अन्दर अन्त:क्रिया की सामान्य प्रक्रियाओं में मिलती हैं।" इस प्रकार संस्थायीकरण सामाजिक नियन्त्रण का प्राथमिक साधन है, जिसके द्वारा विभिन्न क्रियाओं एवं सम्बन्धों को सुव्यवस्थित किया जाता है, ताकि सामाजिक स्तर पर संघर्ष कम हो। विभिन्न क्रियाओं एवं प्राथमिकताओं के लिए 'समय-सारिणी' (time-schedule) का सही संस्थायीकरण गम्भीर संभाव्य संघर्ष के स्रोतो को कम कर सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक समाज में अनुसरण के लिए पुरस्कार-व्यवस्था तथा विचलित व्यवहार के लिए दण्ड-व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था के अतिरिक्त अचेतन यंत्र-विधियाँ भी होती हैं जो विचलित व्यवहार को रोकती हैं। इन अचेतन यंत्र-विधियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(i) वे साधन जिनके द्वारा विचलन की प्रेरणा को दूषित स्तर तक पहुँचने से पूर्व आरम्भ में ही समाप्त कर दिया जाता है; (ii) वे साधन जिनके द्वारा विचलन प्रेरित व्यक्तियों को दूसरों को प्रभावित करने से रोका जाता है; (iii) गौण प्रतिरक्षाएँ जो दूषित प्रक्रियाओं को उलटने मे समर्थ होती हैं।

निष्कर्ष रूप में, यह कहा जा सकता है कि विचलन व्यवहार की प्रवृत्तियाँ, जिन्हें सामाजिक व्यवस्था के नियंत्रणात्मक साधनो द्वारा सरलतापूर्वक रोका नहीं जा सकता, सामाजिक व्यवस्था की संरचना मे परिवर्तन के मुख्य कारकों मे से एक कारक होती हैं।

प्रश्न

१. सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा की व्याख्या कीजिये ।

२. "सामाजिक व्यवस्था सामाजिक अन्तःक्रियाओं की व्यवस्था है।" व्याख्या कीजिये ।

३. "भूमिका एवं आदर्श-नियम की अवधारणायें सामाजिक व्यवस्था के विश्लेषण में केन्द्रीय हैं।" व्याख्या कीजिये ।

४. सामाजिक व्यवस्था का क्या अर्थ है ? इसके प्रमुख घटकों का वर्णन कीजिये ।

५. चार्ल्स पी० लूमिस के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के तत्व क्या हैं ?

६. सामाजिक व्यवस्था की पारसन्स की अवधारणा की व्याख्या कीजिये ।

७. सामाजिक व्यवस्था की पूर्वापेक्षाएँ क्या हैं ?

अध्याय १४

सामाजिक समूहों के प्रकार

[TYPES OF SOCIAL GROUPS]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बिल्कुल अकेला व्यक्ति कोरी कल्पना है। वह कभी भी अकेला नहीं रह सकता। उसका दैनिक जीवन अधिकतर समूहों में भाग लेकर व्यतीत होता है। वह परिवार के सहभागी सदस्य के रूप में अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करता है। वह दिन में काम करने घर से बाहर जाता है तथा शाम को इकट्ठे भोजन करने के लिए लौटकर घर आता है। भोजन पर बैठे घर के सभी सदस्य दिन भर के अपने अनुभवों का वर्णन करते हैं जिससे चर्चा आरम्भ हो जाती है। चर्चा के दौरान वे अनुभवों का आदान-प्रदान करते हैं—शुष्क या रोचक अनुभव, जो समूह-सम्बन्धों से उत्पन्न होते हैं, व्यक्तित्व को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस अध्याय का उद्देश्य जिन सामाजिक समूहों में मनुष्य रहता है तथा जो उसके जीवन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं, के मूल प्रकारों का परिचय कराना है।

१. समूह का अर्थ

(Meaning of Group)

सामाजिक समूह मानव-प्राणियों का संग्रह है। मूल अर्थ में, "समूह किसी वस्तु की इकाइयों की संख्या है जो एक-दूसरे के निकट सामीप्य में स्थित हैं।"[1] इस प्रकार हम किसी गली में घरों के, वन में वृक्षों के, बस स्टैंड में बसों के समूह की बात कर सकते हैं। मानव-क्षेत्र में समूह से तात्पर्य, "मनुष्यों के ऐसे संकलन से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध रखते हैं।"[2] सामाजिक समूह की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) "समूह एक सामाजिक इकाई है जिसका निर्माण ऐसे व्यक्तियों से होता है जिनके बीच (न्यूनाधिक) निश्चित प्रस्थिति एवं भूमिका विषयक सम्बन्ध हों तथा व्यक्ति-सदस्यों के आचरण को, कम से कम समूह के लिये महत्वपूर्ण मामलों में, नियमित करने के लिये जिसके अपने कुछ मूल्य या आदर्श-नियम हों।"[3]

—शैरिफ एवं शैरिफ

---

1. "A group is a number of units of anything in close proximity to one another."—Bogardus, E. S., *Sociology*, p. 5.

2. "A social group is any collection of human beings who are brought into social relationships with one another."—MacIver, *Society*, p. 213.

3. "A group is a social unit which consists of a number of individuals ... relationships to one another ... aviour ... Sherif ...

(२) "एक सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों (की एक ऐसी संख्या) को कहते हैं जिनका ध्यान कुछ सामान्य उद्देश्यों पर हो और जो एक-दूसरे को प्रेरणा दें, जिनमें सामान्य निष्ठा हो और जो सामान्य क्रियाओं में सम्मिलित हों।"[1] —बोगार्डस

(३) "एक सामाजिक समूह मनुष्यों के उस निश्चित समुदाय को कहते हैं, जो अन्तःसम्बन्धित भूमिकाओं को अदा करते हैं और जो अपने या दूसरों के द्वारा अन्तःक्रिया की इकाई के रूप में स्वीकृत होते हैं।"[2] —आर० एम० विलियम्स

(४) "समूह व्यक्तियों के संग्रह अथवा श्रेणियाँ होते हैं, जिनमें सदस्यता एवं अन्तःक्रिया की चेतना है।"[3] —हार्टन एवं हंट

(५) "समूह व्यक्तियों का संग्रह है जो स्थायी है, जिसके एक या अधिक सामान्य हित एवं क्रियायें हैं तथा जो संगठित हैं"[4] —ग्रीन

(६) "सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जिनमें एक लम्बी अवधि से संचार होता रहा है और जो एक सामान्य कार्य या प्रयोजन के अनुसार कार्य करते हैं।"[5] —एल्ड्रिज और मैरिल

(७) "......जब कभी भी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकसाथ मिलते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।"[6] —आगबर्न एवं निमकाफ

सामाजिक सम्बन्धों में, जैसा हम पहले ही पढ़ चुके हैं, सम्बन्धित व्यक्तियों के बीच कुछ सीमा तक पारस्परिकता एवं पारस्परिक जागरूकता होती है। सामा-

---

1. "A social group may be thought of as a number of persons twoor more, who have some common objects of attention, who are stimulating to each other, who have common loyalty and participatein similar activities."—Bogardus, E. S., *Sociology*, p. 4.

2 "A social group is a given aggregate of people, playing inter-related roles and recognised by themselves of others as a unit of inter-action." —Williams.

3. "Groups are aggregates or categories of people who have a consciousness of membership and of interaction."—Horton and Hunt, *Sociology*, p. 158.

4. "A group is an aggregate of individuals which persists in time, which has one or more interests and activities in common, and which is organised." —Green, Arnold, *op. cit*, p. 48.

5. "A social group may be defined as two or more persons who are in communication over an appreciable period of time and who act in accordance with a common function or purpose."—Eldredge and Merrill, *Culture and Society*, p. 19.

6. "Wherever two or more individuals come together and ' another, they may be said to constitute a social group." *A Handbook to Sociology*, p. 172.

जिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संकलन है जो एक-दूसरे पर अन्तः-क्रिया करते हैं, जिनके सामान्य उद्देश्य हैं तथा जो समान क्रियाएँ करते हैं। यह एक क्रिकेट क्लब अथवा राजनीतिक दल हो सकता है। इसका विस्तार एक युगल समूह से लेकर लाखों व्यक्तियों के समूह तक हो सकता है। 'संग्रह' में अन्त.क्रिया का तत्व विद्यमान नहीं होता, अतएव यह समूह से भिन्न होता है जिसमें दृश्य अन्त.-क्रिया विद्यमान होती है। सामाजिक समूह का सार भौतिक निकटता नहीं है, अपितु संयुक्त अन्तःक्रिया की चेतना है। मानवी अन्त.क्रिया का यही स्वरूप समाज-शास्त्र में हमारी रुचि का प्रमुख केन्द्र होता है।

सामाजिक समूह तथा संभाव्य समूह में अन्तर (Difference between Social Group and Potential Group)

समूहों में विभेदीकरण मानव के सामाजिक जीवन व्यतीत करने का एक अपरिहार्य सहवर्ती है। जैविक दृष्टि से सभी मनुष्यों के अंग समान होते हैं, परन्तु गर्भ के समय से ही सामाजिक शक्तियाँ उनकी व्यावहारिक विशेषताओं मे प्रमुख विभेदी-करणों को जन्म देना आरम्भ कर देती हैं। सामाजिक जीवन में यही विभेदीकृत व्यावहारिक विशेषतायें मनुष्यों के सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं। सामाजिक समूह का संभाव्य समूह अथवा अर्द्ध-समूह (quasi-group) से भेद किया जा सकता है। उत्तरोक्त समूह उन लोगों के संग्रह को कहा जाता है जिनमें कुछ सामान्य विशेषतायें होती हैं, परन्तु उनकी कोई स्वीकरणीय संरचना नहीं होती। सामाजिक समूह एक संगठित समूह होता है, अर्थात् कुछेक नियम तथा कानून इसमें सामाजिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करते हैं, कुछेक व्यक्ति नेतृत्व करते हैं तो अन्य उनका अनुसरण करते हैं। सामाजिक समूह के सदस्यों के लिये यह आवश्यक है कि उनका शारीरिक या सामाजिक सम्पर्क हो; परन्तु सह-सदस्यता की चेतना का होना समूह की अवस्थिति के लिये आवश्यक है। गिलिन एवं गिलिन का कथन है कि "सामाजिक समूह की उत्पत्ति के लिये एक ऐसी स्थिति का होना आवश्यक है, जिसमें सम्बद्ध व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अन्तःउत्ते-जना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर सम्भव हो सके तथा उनमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान टिका रहे और उनमें समान चालकों, प्रेरकों और संवेगों का विकास हो सके।"[1] एक सम्भाव्य या अर्द्धसमूह वास्तविक समूह बन सकता है, यदि यह संगठित हो जाय तथा इसका कोई संगठन बन जाय। जब तक विद्यार्थियों की यूनियन नहीं बनती, वे अर्द्ध-समूह का निर्माण करते हैं, परन्तु यूनियन का निर्माण होते ही वे सामाजिक समूह बन जाते हैं।

सामाजिक समूह की विशेषतायें (Characteristics of Social Group)

सामाजिक समूह की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) पारस्परिक सम्बन्ध (Reciprocal relations)—समूह के सदस्य परस्पर अन्तःसम्बन्धित होते हैं। व्यक्तियों का संग्रह तभी समूह का रूप धारण करेगा, जब उनके बीच अन्तःसम्बन्धों का विकास हो जाता है। पारस्परिक सम्बन्ध समूह की एक अनिवार्य विशेषता है।

---

1. Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 196.

(२) एकता की भावना (Sense of unity)—समूह के सदस्य एकता तथा सहानुभूति की भावना से बँधे होते हैं।

(३) हम-भावना (We-feeling)—समूह के सदस्य एक-दूसरे की सहायता करते हैं तथा अपने हितों की सामूहिक रूप से रक्षा करते हैं।

(४) सामान्य हित (Common interests)—समूह के हित एवं आदर्श सामान्य होते हैं। सामान्य हितों की प्राप्ति हेतु ही वे इकट्ठे होते हैं।

(५) समान व्यवहार (Similar behaviour)—सामान्य हितों की पूर्ति के लिये समूह के सदस्य समान रूप से व्यवहार करते हैं।

(६) समूह आदर्श-नियम (Group norms)—प्रत्येक समूह के अपने नियम अथवा आदर्श-नियम होते हैं, जिनके अनुसरण की इसके सदस्यों से अपेक्षा की जाती है।

समूह तथा समाज में अन्तर
(Difference between Group and Society)

समूह	समाज
१. मानव प्राणियों का संकलन।	१. सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था।
२. एक कृत्रिम निर्माण।	२. एक स्वाभाविक विकास।
३. ऐच्छिक सदस्यता।	३. अनिवार्य सदस्यता।
४. समूह संगठित होता है।	४. समाज असंगठित हो सकता है।
५. एक विशिष्ट उद्देश्य होता है।	५. सामान्य उद्देश्य होते हैं।
६. सहयोग पर आधारित।	६. सहयोग एवं संघर्ष दोनों विद्यमान होते हैं।
७. समूह अस्थायी हो सकता है।	७. समाज स्थायी होता है।

समूह तथा संस्था में अन्तर
(Difference between Group and Institution)

समूह	संस्था
१. समूह व्यक्तियों का संग्रह है।	१. संस्था जनरीतियों का समूह है।
२. समूह कृत्रिम निर्माण है।	२. संस्था स्वाभाविक विकास है।
३. समूह अस्थायी हो सकता है।	३. संस्था सापेक्षतया स्थायी होती है।

समूह तथा समुदाय में अन्तर
(Difference between Group and Community)

समूह	समुदाय
१. समूह कृत्रिम निर्माण है।	१ समुदाय स्वाभाविक है।
२. समूह किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्तिहेतु निर्मित किया जाता है।	२. समुदाय में समग्र सामाजिक जीवन सम्मिलित है।

३. समूह की सदस्यता ऐच्छिक है।	३. समुदाय की सदस्यता अनिवार्य है।
४. समूह सापेक्षतया अस्थायी होता है।	४. समुदाय सापेक्षतया स्थायी होता है।
५. समूह समुदाय का भाग है।	५. समुदाय समग्र इकाई है।

यह भी ध्यान रहे कि समूह परिवर्तनशील है, न कि स्थिर। इसकी संरचना में समय-समय पर परिवर्तन हो सकते हैं तथा इसके कार्यों का विस्तार हो सकता है। कभी ये परिवर्तन अचानक एवं द्रुत होते हैं, जब कि अन्य इतने धीरे-धीरे होते हैं कि सदस्यों को इसका आभास तक नहीं होता। समूह अपने कार्य एक के बाद दूसरे छोड़ सकता है, जब तक यह समाप्त नहीं हो जाता अथवा इसका केवल नाम-मात्र रूप ही रह जाता है, और इसका कार्य वार्षिक मीटिंगों को करने तक सीमित हो जाता है। यह अपने संगठन का विस्तार कर सकता है अथवा संगठन के अभाव में समाप्त भी हो सकता है।

२. समूहों का वर्गीकरण (Classification of Groups)

विभिन्न वर्गीकरण (Various Classifications)—सामाजिक समूहों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। कुछ लेखकों ने साधारण वर्गीकरण किया है तो अन्य लेखकों ने व्यापक वर्गीकरण किया है। जर्मन समाजशास्त्री सिमेल (Simmel) ने आकार (size) को समूहों के वर्गीकरण का आधार माना है। चूंकि व्यक्ति अपनी समाजगत स्थितियोंसहित समाजशास्त्र की मूलभूत इकाई है, "इसलिए उसने 'एकक' (monad)—एकल व्यक्ति को समूह-सम्बन्धों का केन्द्र मानकर आरम्भ किया तथा विश्लेषण को द्वैत (dyad), त्रैत (triad) तथा एक ओर छोटे संग्रह एवं दूसरी ओर विशाल-स्तरीय समूहों को लेकर आगे बढ़ाया।"[1]

ड्वाइट सैंडरसन (Dwight Sanderson) ने संरचना के आधार पर समूहों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। उसने समूहों को अनैच्छिक (involuntary), ऐच्छिक (voluntary) एवं प्रातिनिधिक (delegate) में विभाजित किया। अनैच्छिक समूह नातेदारी (kinship) पर आधारित होता है, यथा परिवार। मनुष्य अपनी इच्छा से अपने परिवार का चयन नहीं करता। उसका तो इसमें जन्म होता है। ऐच्छिक समूह वह होता है जिसमें मनुष्य अपनी इच्छा से शामिल होता है। वह अपनी इच्छा से इसका सदस्य बनता है तथा जब उसकी इच्छा हो, वह इससे अलग भी हो सकता है। प्रतिनिधि समूह में मनुष्य कुछ लोगों के प्रतिनिधि के रूप में, भले ही लोगों ने उसे स्वयं निर्वाचित किया हो अथवा उसका किसी सत्ता द्वारा 'नामांकन हुआ हो, शामिल होता है। संसद् एक प्रतिनिधि समूह है।

टानीज (Tonnies) ने समूहों को समुदायों (communities) एवं समितियों (associations) में वर्गीकृत किया है। इन दोनों की परिभाषाएँ पूर्व ही दी जा चुकी हैं।

---

1. Simmel and Simmel, *op. cit.*, p. 214.

कूले (Cooley) ने सम्पर्क के प्रकार के आधार पर समूहों को प्राथमिक (primary) एवं गौण (secondary) में विभक्त किया है। प्राथमिक समूह में आमने-सामने के तथा घनिष्ठ सम्बन्ध होते हैं, यथा परिवार। गौण समूह, यथा राज्य अथवा राजनीतिक दल में सम्बन्ध परोक्ष, गौण अथवा अवैयक्तिक होते हैं।

एफ० एच० गिडिंग्स (F H. Giddings) ने समूहों को जननिक (genetic) एवं इकट्ठे (congregate) में वर्गीकृत किया है। जननिक समूह परिवार है जिसमें मनुष्य का अनैच्छिक जन्म होता है। इकट्ठा समूह ऐच्छिक समूह है जिसमें मनुष्य स्वेच्छा से शामिल होता है। सामाजिक समूह 'वियोजक' (distinctive) अथवा 'सम्मिश्रित' (overlapping) भी हो सकते हैं। वियोजक समूह अपने सदस्यों को एक ही समय अन्य समूहों का भी सदस्य बनने की अनुमति नहीं देता। उदाहरणतया, एक महाविद्यालय अथवा राष्ट्र क्रमशः अपने विद्यार्थियों अथवा नागरिकों को अन्य महाविद्यालयों या राष्ट्रों के सदस्य बनने की अनुमति नहीं देता। सम्मिश्रित समूह के सदस्य एक से अधिक समूहों के सदस्य होते हैं, यथा भारतीय राजनीति विज्ञान समिति।

जार्ज हासन (George Hasen) ने समूहों का वर्गीकरण दूसरे समूहों के साथ उनके सम्बन्धों के आधार पर किया है। इस प्रकार उसने असामाजिक (unsocial), आभासी-सामाजिक (pseudo-social), समाज-विरोधी (anti-social), अथवा समाज-पक्षी (pro-social) समूहों का उल्लेख किया है। असामाजिक समूह वह समूह है जो अधिकतर अपने लिये ही जीवित रहता है तथा उस विशाल समाज जिसका वह भाग है, के कार्यों में कोई रुचि नहीं लेता। यह अन्य समूहों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखता तथा उनसे अलग रहता है। एक आभासी-सामाजिक समूह विशालतर सामाजिक जीवन में भाग लेता है, परन्तु केवल अपने हित के लिये, सामाजिक हित के लिये नहीं। समाज-विरोधी समूह समाज के हितों के विरुद्ध कार्य करता है। विद्यार्थियों का समूह जो सार्वजनिक सम्पत्ति को आग लगाता है, समाज-विरोधी समूह है। इसी प्रकार, मजदूर-संघ जो राष्ट्रीय हड़ताल का नारा देता है, समाज-विरोधी समूह है। राजनीतिक दल जो लोकप्रिय सरकार का तख्ता उलटने की योजना बनाता है, समाज-विरोधी समूह है। समाज-पक्षी समूह समाज-विरोधी समूह का विपरीत रूप है। यह समाज के हितों के लिये कार्य करता है। यह निर्माणकारी कार्य करता है तथा लोगों के कल्याण के बारे में चिन्तित रहता है।[1]

मिलर (Miller) ने सामाजिक समूहों को क्षैतिज (horizontal) एवं उदग्र (vertical) में विभक्त किया है। पहले प्रकार के समूह विशाल एवं अंतर्मुखी समूह होते हैं, यथा राष्ट्र, धार्मिक संगठन एवं राजनीतिक दल। दूसरे प्रकार के समूह छोटे उपविभाग होते हैं, यथा आर्थिक वर्ग। चूंकि उदग्र समूह क्षैतिज समूहों का भाग है, अतएव व्यक्ति दोनों का ही सदस्य होता है।

---

1. Bogardus, *Sociology*, pp. 10-12.

चार्ल्स ए० एलवुड ने समूहों को (i) ऐच्छिक एवं अनैच्छिक, (ii) संस्थागत एवं असंस्थागत, (iii) अस्थायी एवं स्थायी समूहों में विभेदित किया है।

ल्योपाल्ड (Leopold) ने समूहों को (i) भीड़ (crowds), (ii) समूहों (groups) तथा (iii) अमूर्त संग्रहों (abstract collectivities) में बाँटा है।

पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) ने समूहों को (i) प्रादेशिक एवं (ii) गैर-प्रादेशिक समूहों में विभेदित किया है।

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने (i) खून का रिश्ता, (ii) शारीरिक विशेषतायें, (iii) भौतिक सामीप्य, एवं (iv) सांस्कृतिक रूप से म्युत्पन्न हितों के आधार पर समूहों का वर्गीकरण किया है।

समनर (Sumner) ने समूहों को (i) अन्तः-समूह (in-group) एवं (ii) बाह्य समूह (out-group) में अन्तरित किया है। "वे समूह जिनके साथ व्यक्ति तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसके अन्तःसमूह होते हैं। उसका परिवार या कबीला या लिंग अथवा कालेज अथवा व्यवसाय अथवा धर्म आदि ऐसे समूह हैं जिनके बारे में वह समानता की जागरूकता अथवा एक ही प्रकार की चेतनता से सजग होता है।"[1] अन्तःसमूह अपने अस्तित्व की चेतना इस तथ्य से ग्रहण करता है कि कुछेक व्यक्ति तो उस समूह से अलग हैं तथा अन्य उसके सदस्य हैं। इसमें 'हम' की भावना होती है। अन्तःसमूह के दृष्टिकोणों में समूह के दूसरे सदस्य के प्रति सहानुभूति का तत्व एवं संलग्नता की भावना होती है। बाह्य समूह की परिभाषा अन्तःसमूह के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर की जाती है। सामान्यतया, इसे 'हम' और 'वे' के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। प्रत्येक समूह को यह ज्ञात होता है कि 'वे' हमारे साथ नहीं हैं। हम लोकतन्त्रीय हैं, वे साम्यवादी हैं; हम हिन्दू हैं, वे मुसलमान हैं; हम ब्राह्मण हैं, वे हरिजन हैं। ऐसे दृष्टिकोण कि 'ये मेरे आदमी हैं' एवं 'वे मेरे आदमी नहीं हैं' अन्तःसमूह के सदस्यों के प्रति संलग्नता के भाव को जन्म देते हैं, जबकि बाह्य समूह के सदस्यों के प्रति विमुखता एवं शत्रुता की भी भावना उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अलग-अलग ढंग से किया है। उन्होंने उनका वर्गीकरण आकार, हितों के स्वरूप, संगठन की मात्रा, स्थायित्व की सीमा, सम्पर्क के प्रकार या इनमें से किसी के मिश्रण के आधार पर किया है। इस सम्बन्ध में क्यूबर (Cuber) ने लिखा है, "समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण करने में काफी समय एवं प्रयत्न लगाया है। यद्यपि आरम्भ में तो ऐसा करना सुगम प्रतीत होगा, परन्तु आगे सोचने पर इसमें बहुत-सी कठिनाइयाँ महसूस होंगी। वास्तव में ये कठिनाइयाँ इतनी अधिक हैं कि अभी तक हमारे पास समूहों का कोई क्रमबद्ध वर्गीकरण नहीं है जो सभी समाजशास्त्रियों को पूर्णतया मान्य हो।" विभिन्न वर्गीकरण में से समनर तथा कूले द्वारा वर्गीकरण की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

1. MacIver, *Society*, p. 217.

३. समनर का वर्गीकरण
(Sumner's Classification)

अन्तःसमूह बनाम बाह्य समूह (In-group vs. Out-group)

सर्वप्रथम, हम समनर (Sumner) के अन्तःसमूह बनाम बाह्य समूह के वर्गीकरण पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करते हैं। व्यक्ति का अनेक समूहों से सम्बन्ध होता है जो उसके अन्तःसमूह हैं; शेष अन्य सभी समूह जिनसे उसका सम्बन्ध नहीं है, उसके बाह्य समूह हैं। इस प्रकार परिवार, कबीला, कालेज जिनका वह सदस्य है, उसके अन्तःसमूह हैं। इन समूहों के सदस्यों के विचार एवं उनकी प्रतिक्रियाएँ समान होनी चाहिये। ऐसे समूह के सदस्य स्वयं का एक-दूसरे के साथ तथा समग्र रूप में समूह के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं। अन्तःसमूहपन उनके अन्दर परस्पर-सम्बन्धित होने की भावना उत्पन्न करता है जो समूह-जीवन का सार है। अन्त.-समूह के सदस्य यह महसूस करते हैं कि उनका वैयक्तिक कल्याण समूह के दूसरे सदस्यों के कल्याण के साथ किसी न किसी रूप में ग्रथित है। उनके बीच सहानुभूति की यथेष्ट मात्रा होती है। एक-दूसरे के प्रति अपने सम्बन्धों में वे सहयोग, सद्भावना, पारस्परिक सहायता तथा सम्मान के गुणों को प्रदर्शित करते हैं। उनमें सुदृढ़ता की भावना होती है, भ्रातृभाव होता है तथा समूह के लिये त्याग की तत्परता होती है। वे समूह के किसी सदस्य को हानि नहीं पहुँचायेंगे और न ही वे किसी के द्वारा हानि पहुँचाये जाने को पसंद करेंगे। चूँकि अन्तःसमूह के किसी सदस्य को कोई हानि शेष सभी सदस्यों को प्रत्यधिकृत रूप में (vicariously) निराश करती है, अतः वे सदस्य ऐसी हानि को रोकने का प्रयत्न करेंगे। इसके विपरीत, चूँकि समूह के किसी सदस्य की प्रसन्नता, सभी को प्रत्यधिकृत प्रसन्नता पहुंचाती है, अतएव प्रत्येक सदस्य केवल ऐसे कार्य करना पसन्द करेगा जो सभी अन्य सदस्यों को प्रसन्नता दें।

अन्तःसमूह की भावना अन्तःसमूह के सदस्यों को अन्य सभी लोगों से विलग कर देती है। दूसरे सब लोग अन्त.समूह के सदस्यों के लिये एक या अनेक बाह्य समूह होते हैं। अन्तःसमूह का संगठन प्रवेश एवं निषेध के तत्वों पर आधारित है। अन्तः-समूह को अपनी अवस्थिति की चेतना कुछ व्यक्तियों के प्रवेश तथा कुछ के निषेध से होती है। अन्तःसमूह के सदस्य 'हम' शब्द से अपनी एकता को तथा अपनी विशिष्ट अवस्थिति को दूसरों के लिए 'वे' शब्द का प्रयोग करके अभिव्यक्त करते हैं। बाह्य समूह के सदस्यों के प्रति व्यक्ति की प्रवृत्ति विद्वेष (antipathy) की होती है, जिसकी गहनता एक मामूली तिरस्कारपूर्ण प्रवृत्ति से लेकर घोर घृणा तक हो सकती है। चूँकि अन्तःसमूह के सदस्यों की प्रवृत्ति एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति की होती है, अतएव अपने अन्तःसमूह के सदस्यों के प्रति उनका व्यवहार बाह्य समूह के सदस्यों के प्रति व्यवहार से भिन्न होता है। एक उच्च परिवार दूसरे उच्च परिवार की कन्या का पुत्र-वधू के रूप में स्वागत करेगा, परन्तु वही परिवार अपने उस पुत्र को जो निम्न परिवार की कन्या को वधू बनाकर लाता है, बहिष्कृत कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्ति बाह्य समूह की परिभाषा अन्तः-समूह के संदर्भ में करता है जिसकी अभिव्यक्ति सामान्यतया 'हम' और 'वे' अथवा 'दूसरे'

के बीच वैषम्य में होती है। परन्तु 'हम' और 'वे' का अन्तर परिस्थिति की परिभाषा का अन्तर है। व्यक्ति एक समूह का सदस्य न होकर अनेक समूहों का सदस्य होता है। इन समूहों की सदस्यता परस्पर-व्यापी (overlapping) होती है। परिवार के सदस्य के रूप में व्यक्ति परिवार के दूसरे सदस्यों के साथ 'हम' है, परन्तु जब वह ऐसे क्लब में जिसके परिवार के सदस्य, सदस्य नहीं हैं, जाता है तो ये सदस्य उसके लिये 'वे' बन जाते हैं। महिला महाविद्यालय में कार्य करने वाली पत्नी पुरुष महाविद्यालय में कार्य कर रहे पति के लिये बाह्य समूह की सदस्या है, यद्यपि परिवार में पत्नी के रूप में वे दोनों अन्तःसमूह के सदस्य हैं। इस प्रकार अन्तःसमूह तथा बाह्य समूह के बीच अन्तर परस्पर-व्यापी है।

परन्तु अन्तःसमूह एवं बाह्य समूह के बीच अन्तर केवल परस्पर-व्यापी ही नहीं है, अपितु यह भ्रामक एवं विरोधी भी है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, व्यक्ति विभिन्न समूहों का सदस्य होता है। वह एक ही समय परिवार, पड़ोस, राजनीतिक दल, चर्च, यूनियन, क्लब अथवा कक्षा का सदस्य होता है। यद्यपि प्रत्येक समूह उसके व्यक्तित्व के किसी न किसी पहलू की संतुष्टि करता है, तथापि ये समूह आवश्यकतया पूरक समूह नहीं हैं। वास्तव में उनमें बहुधा संघर्ष रहता है। इस प्रकार व्यक्ति की एक समूह की सदस्यता उसे ऐसे काम करने को बाध्य कर सकती है जो उसके किसी दूसरे समूह की सदस्यता का उल्लंघन हो। ऐसी स्थिति में, उसका अन्तःसमूह अथवा बाह्य समूह कौन-सा है, इस बात पर निर्भर नहीं करेगा कि वह कौन है, अपितु उस समय की परिस्थितियों पर निर्भर होगा। संक्षेप में, व्यक्ति का समूह तादात्म्य-परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है।

संजाति-केन्द्रीयता—अन्तःसमूह की विशेषता (Ethnocentrism—A Characteristic of the In-group)

समनर का कथन था कि अन्तःसमूह को आतरिक शांति, सदभावना एव एकता की आवश्यकता है जिनके बिना यह कदाचित् जीवित नही रह सकता, अथवा बाह्य समूहो द्वारा उत्पन्न भय का सामना नहीं कर सकता। अन्तःसमूह के सदस्यो के बीच एकता एवं सद्भावना की अत्यधिक आवश्यकता है। समनर का यह भी कथन था कि संजाति-केन्द्रीयता अन्तःसमूह की विशेषता है। संजाति-केन्द्रीयता, उसके अनुसार, "वस्तुओं का ऐसा दृष्टिकोण जिसमें स्वयं अपने समूह को प्रत्येक वस्तु का केन्द्र समझा जाता है तथा अन्य समूहों का मूल्यांकन अपने समूह के संदर्भ में किया जाता है।" यह मान लिया जाता है कि अपने समूह के आदर्श, जीवन-ढंग एवं दृष्टिकोण दूसरे समूहों की अपेक्षा श्रेष्ठतर हैं। केवल वे ही ठीक हैं जबकि शेष सब गलत एवं निम्न हैं। बाह्य समूह की संस्कृति को घृणा यहाँ तक कि अपमानित दृष्टि से देखा जाता है। संजाति-केन्द्रीयता में नैतिकता के दोहरे मानक निहित होते हैं। समनर ने कहा, "दो प्रकार की आचार-संहिताएँ एवं दो प्रकार के रूढ़ि-संग्रह होते हैं, एक अन्दर वाले साथी के लिये, दूसरा बाहर वाले व्यक्ति के लिये।" जब बाहर वालों की बात होती है तो लूटना, मारना, खून का बदला लेना, औरतों एवं गुलामों को चुरा लेना, सब ठीक है, परन्तु समूह के अन्दर इनमें से किसी की भी स्वीकृति नही दी जा सकती, क्योंकि इनसे कमजोरी एवं फूट उत्पन्न होगी। समनर का

विचार था कि प्रत्येक समूह, छोटा या बड़ा, भूतकालीन अथवा वर्तमानकालीन संजाति-केन्द्रित होता है। प्रत्येक समूह स्वयं को श्रेष्ठतम समझता है जिसके मूल्य उच्चतम हैं तथा जिसकी सर्वाधिक उपलब्धि है। श्रेष्ठता का यह दृष्टिकोण सभी कालों मे एवं सभी समाजों में विद्यमान रहा है। समनर के अनुसार, आदिम लोगों की संजाति-केन्द्रीयता तथा सभ्य लोगों की संजाति-केन्द्रीयता मे अन्तर है, क्योंकि उपर्युक्त की संजाति-केन्द्रीयता यद्यपि कम अपरिष्कृत होती है, अभिव्यक्ति के अधिक शांतिपूर्ण ढंग को अपनाती है। उसने कहा कि आधुनिक राष्ट्रों में संजाति-केन्द्रीयता, "अपनी पूर्ण दार्शनिक पूर्णता में वास्तव में देश-भक्ति की भावना है, अर्थात् अपनी तार्किकता एवं अपनी बहिर्मुखता एवं अत्युक्ति में।"

समनर ने यह भी बतलाया कि यह प्रत्येक समूह की नहीं है जो स्वय को अत्युत्तम, बुद्धिमानतम, स्वतन्त्रम समझता है; अपितु कुछ आधुनिक लेखकों मे भी संजाति-केन्द्रीयता की प्रवृत्ति पायी जाती है जो अपने राष्ट्रो का बढ़ा-चढ़ा कर बखान करते हैं। अनातोले फ्रांस (Anatole France) ने लिखा है कि "फ्रेंच साहित्य मे विशेष प्रकार की नियमित भावना स्पष्टता की मात्रा पाई जाती है जो अन्यत्र नहीं मिलती, यद्यपि सभी भाषाओं के सभी महान् लेखकों मे स्पष्टता, मान एवं व्यवस्था पाई जाती है।" परन्तु यह स्पष्टता, यह मान, यह व्यवस्था अन्य प्रकार की है।

संजाति-केन्द्रीयता के कारण क्या हैं? समनर के अनुसार, व्यक्ति के अपने समूह के साथ तादात्म्य की आदि भावना इसका कारण है। इस भावना को गम्प-लोविज (Gumplowicz) ने 'सहजननवाद' (syngenism) की संज्ञा दी। जबकि संजाति-केन्द्रीयता की भावना की सुदृढ़ता को स्थिर रखने के लिए एक महत्व-पूर्ण कारक है, यह समग्र रूप मे समाज के लिये घातक है। इससे समूहों के बीच घृणा एवं संघर्ष उत्पन्न होते हैं। इसके कारण लोग अपने समूह के गुणों का बखान करते हैं तथा दूसरे समूहों की खिल्ली उड़ाते हैं। यह व्यक्ति को उचित दृष्टिकोण अपनाने से रोकती है जिससे प्रगति अवरुद्ध होती है। संजाति-केन्द्रीयता अन्तःसमूह, सहयोग एवं पारस्परिक सद्भावना के मार्ग में एक बड़ी बाधा है।

४. कूले का वर्गीकरण
(Cooley's Classification)

कूले ने समूहो को प्राथमिक (primary) एवं गौण (secondary) मे विभक्त किया है, यद्यपि कूले ने 'गौण समूह' शब्द का प्रयोग नहीं किया। उसकी प्राथमिक समूह-विषयक अवधारणा समनर की अन्तःसमूह-विषयक अवधारणा से मिलती-जुलती है।

प्रारम्भिक समूह का अर्थ (Meaning of primary group)—प्राथमिक समूह सभी सामाजिक संगठनों का केन्द्र है। यह एक लघु समूह होता है जिसके सदस्यो की संख्या थोड़ी होती है तथा जो एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं। वे परस्पर सहायता, मैत्री एवं सामान्य प्रश्नों पर विचार-विमर्श हेतु आमने-सामने मिलते हैं। वे एक-दूसरे के मन मे बसे रहते है। चार्ल्स एच० कूले, जो प्राथमिक समूहों की ओर ध्यान आकर्षित करने वाला पहला समाजशास्त्री था, ने उनकी निम्न शब्दों में व्याख्या की है—

"प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने-सामने का घनिष्ठ संसर्ग और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते हैं, परन्तु मुख्यतः इस अर्थ में कि व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति व आदर्शों के निर्माण में ये मूलभूत हैं। घनिष्ठ सम्बन्ध का परिणाम, मनोवैज्ञानिक रूप में, वैयक्तिकताओं का एक सामान्य समग्र में घुल-मिल जाना है जिससे कि कम से कम बहुत से प्रयोजनों के लिये व्यक्ति का आत्म-समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस समग्रता को परिभाषित करने का सरलतम तरीका यह कहना है कि वह एक 'हम' (we) है; इसमें उस प्रकार की सहानुभूति तथा परस्पर तादात्म्य है जिसके लिये 'हम' एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। व्यक्ति समग्र की भावना में जीवित रहता है तथा अपनी इच्छा के प्रमुख लक्ष्य को उस भावना में पाता है।

घनिष्ठ सम्बन्ध एवं सहयोग के सर्वमहत्वपूर्ण क्षेत्र—यद्यपि केवल ये ही नहीं—परिवार, बच्चों का क्रीड़ा-समूह, पड़ोस अथवा वयस्कों का समुदाय-समूह हैं। ये समूह लगभग सब कालों एवं विकास के सभी स्तरों पर सार्वभौमिक रहे हैं, अतः ये मानव-स्वभाव एवं मानव-आदर्शों में जो सर्वव्यापक अंश हैं, उसके मुख्य आधार हैं।"[1]

प्राथमिक समूह की परिभाषा में कूले ने "आमने-सामने के सम्पर्क" एवं "सहानुभूति तथा पारस्परिक तादात्म्य," अर्थात् 'हम' भावना पर बल दिया है। 'हम' भावना, सहानुभूति एवं पारस्परिक तादात्म्य के तत्व के आधार पर ही कूले ने प्राथमिक समूह की गौण समूह से भिन्नता दिखलाई है। अब यह कहा जाता है कि ऐसा अन्तर मान्य नहीं है, क्योंकि सभी समूहों में सदस्यों के बीच 'हम' भावना कुछ मात्रा तक विद्यमान होती है। इस 'हम' भावना के बिना कोई भी समूह अपनी एकता को स्थिर नहीं रख सकता। अतएव 'हम' भावना के आधार पर प्राथमिक एवं गौण समूहों में विभेद नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त 'हम' भावना को 'आमने-सामने' के सम्बन्धों तक सीमित नहीं रखा जा सकता। ऐसे भी सम्बन्ध होते हैं जो आमने-सामने के सम्बन्ध न होते हुए भी घनिष्ठ एवं मैत्रीपूर्ण होते हैं। इसके विपरीत कुछ सम्बन्ध आमने-सामने के होते हुए भी औपचारिक एवं अवैयक्तिक होते हैं।

इस प्रकार कूले की परिभाषा का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर इसमें कुछ

---

1. "By primary groups I mean those characterised by intimate face-to-face association and co-operation. [illegible]

The most important spheres of the intimate association and co-ope[illegible] the family, the play group of [illegible] group of elders These are [illegible] stages of development, and [illegible] human nature and in human [illegible]

-24

अस्पष्टता दिखाई देती है, तथापि प्रायमिक एवं गौण समूहों का वर्गीकरण महत्व-पूर्ण है।

प्राथमिक समूह की विशेषतायें (Characteristics of Primary Group)

प्रायमिक समूह की अनिवार्य विशेषतायें घनिष्ठ सम्पर्क एवं निकटीय तादात्म्य हैं। ये गुण समूहों की अपेक्षा स्थूल समूहों में अधिक पाये जाते हैं। प्राथमिक समूह में हम अपने साथियों के साथ प्रत्यक्ष सहयोग करते हैं तथा हमारे उनके साथ सम्बन्ध घनिष्ठतया वैयक्तिक होते हैं। सम्बन्धों की घनिष्ठता निम्न तत्वों पर निर्भर करती है—

(१) **शारीरिक सामीप्य** (Physical proximity)—व्यक्तियों के सम्बन्ध घनिष्ठ हों, इसके लिये उनका एक-दूसरे के निकट होना जरूरी है। एक-दूसरे से मिलना एवं बातचीत करना, विचारों के आदान-प्रदान को सरल बना देता है। इससे 'संकेतों की बातचीत' सम्भव हो जाती है।

अलबत्ता, शारीरिक सामीप्य यद्यपि प्रारम्भिक समूहों के विकास के लिये अवसर प्रदान करता है, यह प्रारम्भिक समूह विधान का अनिवार्य तत्व नहीं है। शारीरिक सामीप्य घनिष्ठ सम्बन्धों के विकास के अवसर प्रदान करेगा या नहीं, यह संस्कृति द्वारा परिभाषित स्थिति पर निर्भर है। भाषा, लिंग, प्रस्थिति, व्यवसाय अथवा आयु के अन्तर शारीरिक सामीप्य होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्धों के विकसित होने में बाधा डाल सकते हैं। इस प्रकार सम्बन्धों की घनिष्ठता निकट सामीप्य में रहने वाले लोगों के बीच विकसित न भी हो, जबकि यह दूरस्थ लोगों के बीच संचार के विभिन्न साधनों द्वारा अधिक विकसित हो जाये।

(२) **छोटा आकार** (Small size)—सम्बन्ध घनिष्ठ एवं वैयक्तिक तभी हो सकते हैं यदि समूह का आकार छोटा हो। सदैव एक ऐसा बिन्दु होता है, जहां संख्या की वृद्धि का अर्थ एकाग्रता के बदले विसर्जन और सामान्य हित के दृढ़ीकरण के बदले शैथिल्य होता है। एक ही समय में अनेक व्यक्तियों के साथ संवेदनात्मक सम्पर्क बनाये रखना असम्भव होता है। ज्योंही समूहों का आकार बढ़ता है, व्यक्ति का स्थान एक विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में कम हो जाता है और वह केवल मात्र इकाई या शून्य बनकर रह जाता है। परिवार में भी एक बिन्दु से आगे बच्चों की वृद्धि सदस्यों के लिये निकट सम्पर्क को कठिन बना सकती है। छोटे समूह में सदस्य एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप से जान लेते हैं तथा उनमें समूह के गुण एवं घनिष्ठता अधिक तेजी से विकसित हो सकते हैं।

(३) **स्थिरता** (Stability)—सम्बन्धों की घनिष्ठता विकसित रखने के लिए प्रायमिक समूह कुछ सीमा तक स्थिर होना चाहिये।

(४) **पृष्ठभूमि की समानता** (Similarity of background)—प्राथमिक समूह के सदस्यों को न केवल एक-दूसरे के निकट और घनिष्ठ होना चाहिये, अपितु अनुभव एवं बोध-शक्ति के समान स्तरों पर रहना चाहिये। मैकाइवर (MacIver) का कथन है कि "एक ऐसा स्तर होता है, जिस पर हर एक समूह को रहना और जो व्यक्ति उससे बहुत ऊपर या नीचे होगा, वह समूहभागिता

में बाधा डाल देगा।"[1] देने व लेने के लिए प्रत्येक सदस्य के पास कुछ होना चाहिये। विचार-समूह में यह लक्षण स्पष्ट होता है, जहाँ प्रत्येक सदस्य अपने विचार को प्रस्तुत करता है तथा दूसरों के विचारों का ग्रहण करता है।

(५) **सीमित स्वार्थ (Limited self-interest)**—यद्यपि सदस्य अपने हितों की पूर्ति-हेतु समूहों में प्रवेश करते हैं, तथापि उन्हें अपने हितों को समूह के केन्द्रीय हितों के अधीन कर देना चाहिये। उन्हे भाग लेने की सहकारी चेतना के निकट आना होगा। उनके मन में समूह का केन्द्रीय हित प्रबल रहना चाहिये। यदि लोग, अपने पूर्वाग्रहों की पुष्टि या अहं का अवलम्ब पाने के लिए परस्पर मिलें तो शायद वे उसका ठीक तरह से सम्पादन करते होगे। यदि वे एकसाथ किसी विषय का मध्ययन करने या किसी सामान्य विपत्ति का निदान करने या साहचर्य का लाभ उठाने के लिये मिलें तो अधिक स्पष्ट रूप से वे प्राथमिक समूह की प्रकृति को अभिव्यक्त करेंगे। हितों की समानता सदस्यों को मानसिक आनन्द एवं संतुष्टि प्रदान करती है।

(६) **भागीदार हितों की गहनता (Intensity of shared interests)**—प्राथमिक समूह में प्रत्येक सदस्य सामान्य हित में भागी होता है जिससे साझेदारी के कारण हित नवीन महत्व, बल और मूल्य पाता है। प्रत्येक सदस्य हित में गहरी दिलचस्पी लेता है, क्योकि वह अपने साथी सदस्यों की शक्ति एवं श्रद्धा से अनुप्राणित होता है। अब उसके लिये विशाल अवलम्ब मिल जाता है जो पहले नहीं था। इस प्रकार हित बहुधा एक ही गम्भीर स्तर पर हो जाता है जो एक पृथक् किये हुए व्यक्ति से बहुत कम सम्भव होता है। प्राथमिक समूह में व्यक्ति एक कानूनी हस्ती, एक आर्थिक शून्य अथवा एक प्रौद्योगिकी किगरी मात्र नही होता। वह इन सब में एकत्रित एक व्यक्तित्व है। वह सम्पूर्ण स्थूल व्यक्ति है। वह अपने किसी विशिष्ट हित या क्रिया को इतना मूल्य नही देता जितना कि अपने समग्र आत्म को। दूसरे व्यक्तियों के साथ आमने-सामने का साथीपन व्यक्ति को कष्ट सहन करने में समर्थ बना देता है जो वह अकेला रहकर सहन न कर पाता। समूह के अन्दर व्यक्तित्वों का समेकन (fusion) हो जाता है, ताकि जो एक व्यक्ति अनुभव करता है, वही दूसरा भी अनुभव करता है। यह उनके सम्बन्ध को पदार्थवादी स्वरूप प्रदान करता है। प्राथमिक समूह न केवल सामान्य हित को बल देता है, अपितु यह जीवन के प्रति अनुराग को ही बनाये रखता है। समूह के सदस्य अपने सम्बन्ध को एक लक्ष्य न मानकर उसे एक मूल्य अथवा स्वयं एक ध्येय, स्वयं एक अच्छाई समझते हैं। यह किसी श्रेष्ठ लक्ष्य की प्राप्ति का साधन न होकर अन्तर्निहित रूप से आनन्ददायी होता है। यह सांविदिक अथवा औपचारिक नहीं होता। यह सम्बन्ध तो वैयक्तिक, सहज, भावात्मक, अन्तर्वर्ती एव अहस्तांतरणीय होना है।

यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि आमने-सामने के सम्बन्ध का गुण, जो प्राथमिक समूह की प्रमुख विशेषता है, का अर्थ यह नही है कि इसका सदस्यों के ऊपर कोई बलात् प्रभाव पड़ता है। आवश्यक नही कि परिवार के सदस्यों का एक-दूसरे पर चमत्कारिक प्रभाव पड़े, उनमें विभिन्न यहाँ तक कि विरोधी

---

1. MacIver *Society* p. 224.

दृष्टिकोणों एवं आदतों का विकास हो सकता है। किसी समूह को प्राथमिक इस अर्थ में भी कहा जा सकता है कि उसका व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन में काफी प्रभाव पड़ा है, इससे पूर्व कि दूसरे समूह अपना प्रभाव डाल सकें। परिवार इसी अर्थ मे प्राथमिक समूह है, क्योंकि इसका प्रभाव अन्य समूहों मे सबसे पहले पड़ता है।

निकट तादात्म्य का अर्थ प्रत्यक्ष सहयोग से है। प्राथमिक समूह मे मनुष्य उसी कार्य को इकट्ठे मिलकर करते हैं। उनकी समान इच्छायें एवं दृष्टिकोण होते हैं जिससे कि वे समान वस्तुओं के लिये प्रयत्न करते हैं। वे ससार को समान दृष्टि से देखते हैं। प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य के कल्याण को अपना ही एक उद्देश्य समझकर अनुसरण करता है। वे अपने सामान्य हित की प्राप्ति हेतु एक-दूसरे के साथ आमने-सामने सहयोग करते हैं। वे स्वतन्त्र या अन्योन्याश्रित होकर कार्य नही करते, अपितु समान प्रक्रिया में भाग लेते हैं।[1] उनका सामान्य अनुभव होता है। यद्यपि प्राथमिक समूह मे श्रम-विभाजन हो सकता है, तथापि इसे मिलकर ही काम करना चाहिये। क्रिकेट-समूह में कुछ बल्लेबाज हैं तो कुछ गेंद फेंकने वाले तथा कुछ गेंद पकड़ने वाले, परन्तु वे सब इकट्ठा खेलते हैं। इसी प्रकार किसी शोध-समूह के सदस्य अलग-अलग समस्याओं के अध्ययन में व्यस्त हो सकते हैं, परन्तु उन्हे अपने अध्ययनों के परिणामों को एक सामान्य प्रक्रिया के भीतर लाना होगा, जहाँ समूह की क्रियाशीलता प्रारम्भ होती है।[2] इस प्रकार, प्राथमिक समूह के सदस्य उत्पादन में ही नही, अपितु प्रक्रिया में एकीभूत होकर कार्य करते हैं। आमने-सामने का समूह एवं प्रत्यक्ष सहयोग न केवल सदस्यों की अर्थ-व्यवस्था एवं सुविधा की वृद्धि करता है, अपितु मानव-स्वभाव की आवश्यकता—समाज की आवश्यकता—की भी पूर्ति करता है।

प्राथमिक समूह का महत्व (Importance of Primary Group)

मनुष्य प्रारम्भिक समूह क्यों बनाते हैं? वह कौन-सी वस्तु है जिसे मनुष्य समूह बनाकर प्राप्त करते हैं तथा जिसे वह अकेले स्वतन्त्र रहकर प्राप्त नहीं कर सकते। समूहों के बारे में सर्वप्रथम बात यह है कि यह एक माध्यम है जिसके द्वारा हम संस्कृति सीखते हैं, संस्कृति का प्रयोग करते हैं तथा संस्कृति में परिवर्तन करते हैं। समूह मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व है। यह स्पष्ट है कि कुछ प्राथमिक समूहों का उद्देश्य कुछेक बाह्य लाभ प्राप्त करना होता है, यथा अच्छे वेतन, उत्पादन-क्षमता, मनोरंजन, तथा ऐसे शिक्षक की सेवायें प्राप्त करना, जिसे एक अकेला विद्यार्थी नहीं कर सकता। परन्तु इनके अलावा, दो अन्य प्रकार के लाभ हैं जो मनुष्यों को इकट्ठे होने के लिये प्रेरित करते हैं। वे हैं—[illegible] जीवन की मानवीय आवश्यकता की पूर्ति तथा हित-प्राप्ति में प्रत्येक सदस्य को [illegible] प्रदान करना।

सहज जीवन (Spontaneous Living)—प्राथमिक समूह के [illegible] तन्मयतापूर्वक इकट्ठे होते हैं। एक परिवार, क्रीड़ा-समूह, मित्र-मंडली [illegible] जातीय परिषद् आदि स्वयं उभरते हैं। इन समूहों के सदस्य [illegible]

1. MacIver, *Society*, p. 22[illegible].
2. *Ibid*,

को पूरा करने के लिये प्रतिनिधि या डेलीगेट के रूप में नहीं आते, अपितु स्वयं बिना किसी आज्ञा अथवा निर्देश के अपनी इच्छा से सम्मिलित होते हैं। उनका समूह पूर्णतया अनौपचारिक प्रकार का है, जिसका स्वाभाविक विकास हुआ है। इन समूहों में स्वाभाविकता अधिक प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त होती है या अपेक्षाकृत उन समूहों के जिनका निर्माण कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया जाता है। वस्तुतः इन्हीं अनियोजित समूहों में हमारे पूर्ण व्यक्तित्व का प्रकटीकरण होता है और हम अपने विचारों को प्रभावात्मक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। इन समूहों में हम नेता एवं अनुयायी, प्राध्यापक एवं विद्यार्थी के रूप में इकट्ठे नहीं होते, अपितु साथियों के रूप में मिलते हैं जिससे हम अपने को पूर्ण ढंग से अभिव्यक्त कर सकते हैं। 'स्व' का विकास गौण सम्पर्कों के आधार पर नहीं हो सकता है। इसे निकट, घनिष्ठ एवं वैयक्तिक सम्पर्कों की आवश्यकता है। ये अनौपचारिक समूह ही सहज जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। प्राथमिक समूहों की सफलता किसी कार्य को पूर्ण करने में उनकी दक्षता से इतनी नहीं आँकी जाती, जितनी भावनात्मक संतुष्टियों से जो वे अपने सदस्यों को प्रदान करते हैं।

उद्दीपन की व्यवस्था (Provision of stimulus)—प्राथमिक समूह न केवल स्वाभाविक जीवन के लिए मानव-आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, अपितु वे हितों के अनुसरण में अपने प्रत्येक सदस्य के लिये उद्दीपन का कार्य भी करते हैं। समूह में दूसरे सदस्यों की उपस्थिति प्रत्येक के लिये उद्दीपन का कार्य करती है। "भाग लेने से हित एक नयी वस्तुपरकता प्राप्त कर लेता है। चूँकि हम उसे दूसरों की दृष्टि से देखते हैं, इसीलिए वह कुछ भावों में असम्बद्ध वैयक्तिक अनुमानों से मुक्त है।"[1] हित का अधिक उत्साह से अनुपालन किया जाता है, जब मैत्री-समूह इसका भागीदार होता है। समूह में मनुष्य अपने उद्देश्यों को अधिक ओजस्वितापूर्वक अनुपालन करने के लिये प्रोत्साहित होता है। उसके साथी सदस्य उसे निराश नहीं होने देते तथा उसका मनोबल बनाये रखते है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अकेला ही उस हित का अनुसरण नहीं कर रहा है, अपितु अन्य अनेक भी उसके साथ उसी हित के अनुसरण में लगे हुए है। यह भावना उसे अधिक प्रयत्न करने को प्रेरित करती है। सभी सदस्य मिलकर उस हित को प्रभावात्मक ढंग से इकट्ठे अनुसरित करते हैं। उसको समझने के रूप में चूँकि प्रत्येक का अपना योगदान है, अतः हित की प्रकृति विस्तृत व समृद्ध हो जाती है।

प्रक्रिया में एकीकृत (United in process)—प्राथमिक समूह न केवल हमारे हितों को विस्तृत व समृद्ध करके उनके गुणों को प्रभावित करता है, अपितु जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनके अनुसरण की प्रक्रिया को भी बदल देता है। सदस्य प्रत्यक्ष रूप से सहयोग करते हैं एवं उसी काम को इकट्ठे होकर करते हैं। "प्रत्यक्ष सहयोग सम्मुखी सहयोग का लक्षण है, वैसा ही और उतना ही विशिष्टीकरण बृहत् संघ का।[2] प्राथमिक समूह के सदस्य उसी प्रक्रिया में भाग लेते हैं। समूह सामान्य अनुभव की साझेदारी का एक प्रकार है। अपने कार्य के सम्पादन में यह एक इकाई है।"[3]

1. MacIver, *Society*, p 222
2. *Ibid.*
3. *Ibid.*

समाज के लिये प्राथमिक समूह का महत्व (Importance of the Primary Group for the Society)

प्राथमिक समूह केवल व्यक्ति के दृष्टिकोण से ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, अपितु समाज के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण हैं। प्राथमिक समूह मानव-स्वभाव का जन्म-स्थान है। प्राथमिक समूह व्यक्तियों के समाजीकरण में सहायता करते हैं तथा उनके ऊपर सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखते हैं। वे सदस्यों को समाज के नियमों का पालन करने की शिक्षा देते हैं। वे सामाजिक संगठन के केन्द्रीय कोष्ठ हैं। इन समूहों से व्यक्ति लोगों, सामाजिक संस्थाओं एवं अपने चारो ओर के संसार के प्रति आधारमूलक दृष्टिकोणों को सीखता है। दया, सहानुभूति, प्रेम, सहनशीलता, पारस्परिक सहायता एवं त्याग के गुण जो सामाजिक संरचना को दृढ़ता प्रदान करते हैं, प्राथमिक समूहों में विकसित होते हैं। उनका विघटन सामाजिक विघटन को जन्म देता है।

प्राथमिक समूह के निर्णय (Primary Group Decisions)

प्राथमिक समूहों के बारे में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्राथमिक समूह किस प्रकार मतैक्य प्राप्त करता है तथा किस प्रकार सदस्यों के मतभेदों में सामंजस्य स्थापित करता है ? अनुभव किस प्रकार 'मेरा' या 'तुम्हारा' से 'हमारा' बन जाता है ? तथ्यों का निरीक्षण करने पर निम्नलिखित चार प्रकार के तरीके समूह में मतैक्य लाने के प्रयुक्त किये जाते हैं—

(i) **अधिकार** (Authority)—समूह में कोई प्राधिकारी, जैसे अध्यक्ष अथवा परिवार में कुलपिता अपना निर्णय दे देता है और सभी सदस्यों को उसका पालन करने के लिये कहा जाता है। ऐसी स्थिति में समूह में कोई विचार-विमर्श नहीं होता। सदस्य प्रबलन प्राधिकारी द्वारा दिये गये निर्णय को मौन रूप में स्वीकार कर लेते हैं। सदस्यों की प्रतिभा को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का कोई अवसर नहीं मिलता। समूह-निर्णय में इनके योगदान को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में दमित किया जाता है। समूह-निर्णय की यह विधि लघु सैनिक इकाइयों अथवा अनुशासनबद्ध क्रांतिकारी दल में तथा अधिपुरुष-शासित मण्डली अथवा पितृसत्तात्मक परिवारों में पायी जाती है।

(ii) **समझौता** (Compromise)—कभी-कभी समूह में निर्णय किसी समझौते का परिणाम हो सकता है। इस प्रक्रिया मे विवादी सदस्य अपने अभ्यर्थनों के कुछ भाग का अथवा विरोधी मत का बलिदान करते हैं, ताकि एकीभूत निर्णय हो सके। यह प्रक्रिया सौदेबाजी की एवं आदान-प्रदान की होती है। सदस्य कुछ देकर कुछ प्राप्त करते हैं। यह तरीका पूर्वोक्त तरीके से भिन्न है, क्योंकि इसमें सदस्यों के मतभेद निर्णय को प्रभावित करते हैं, जबकि पूर्वोक्त तरीके में निर्णय प्रबलन अधिकारी देता है, जिसके प्रति सदस्यों की केवल मौन स्वीकृति से अधिक कुछ नहीं होता। समझौता फार्मूला सामान्य है। विद्यार्थी प्राचार्य से परीक्षा के मामले में समझौता कर लेते हैं कि यदि कोई विद्यार्थी रोका नहीं जायेगा तो वे परीक्षा में बैठने को तैयार हैं। विधायी समितियों के अनेक निर्णय समझौता अधिनियमों के

रूप में होते हैं। इसी प्रकार संयुक्तराष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के निर्णय भी समझौता प्रकार के होते हैं। आधुनिक लोकतंत्रात्मक परिवारों, युवामण्डलियों तथा अन्य प्राथमिक समूहों में भी समझौता बहुधा पाया जाता है।

(iii) परिगणना (Enumeration)—समूह में निर्णय मतदान विधि द्वारा किया सकता है। सदस्य किसी विशिष्ट विवाद पर मतदान करते हैं तथा बहुमत का जो निर्णय होता है, यह समूह का निर्णय मान लिया जाता है। यह एक प्रकार से समूह द्वारा निर्णय है। अल्पसंख्यक सदस्य विरोध में ही रहते हैं, परन्तु समूह को विघटन से बचाने के निमित्त वे मतदान के परिणाम को मानने के लिये सहमत हो जाते हैं। यदि वे ऐसा सहमत नहीं होते तो समूह के विघटित होने की आशंका होती है। आधुनिक प्रजातंत्रीय राजनीतिक समूहों में यही तरीका सामान्यतः अपनाया जाता है।

(iv) एकता (Integration)—समूह-निर्णय के उपर्युक्त तीन तरीकों में से कोई एक भी समूह के भीतर पूर्ण सामंजस्य की अभिव्यक्ति नहीं है। प्रथम तरीके में, सदस्यों के ऊपर निर्णय थोपा जाता है; दूसरे में, समझौता द्वारा केवल औपचारिक मतैक्य ही होता है; जबकि तीसरे में, यह बहुमत का निर्णय होने के कारण सदस्यों के मतभेदों को घोर विरोध में छोड़ देता है। इनमें से कोई भी तरीका समूह को एक मन और एक इच्छा से इकाई के रूप में अभिव्यक्त नहीं करता। यदि हम समूह को कार्यक्षम इकाई के रूप में देखना चाहते हैं तो अन्य प्रकार का तरीका ढूंढना होगा, जिसमें सदस्यों के मतभेदों का न दमन हो, न समझौता, परन्तु उनका सामंजस्य एवं समन्वय किया जाये। इस बात का प्रयत्न किया जाये कि समूह के सदस्यों के विभिन्न दृष्टिकोण एक प्रकार की सामासिकता में समंजित हो जायें, मानो सबकी इच्छाएँ ग्रहण कर अपने ही एक भाव से समूह एक मन बन गया है। विभिन्नता की मुक्त स्वीकृति द्वारा विभिन्न मतभेदों का एक सामासिक भाव (composite idea) में एकता को आदर्श समझा जाना चाहिये। यद्यपि ऐसे आदर्श की प्राप्ति कठिन हो सकती है, तथापि इसकी स्वीकृति समाज में एक नया सामंजस्य तथा सहकारी जीवन का नवीन आनन्द उत्पन्न करेगी।

गौण समूह (The Secondary Group)

गौण समूह का अर्थ (Meaning of secondary group)—गौण समूह का आधुनिक समाज में विशिष्ट महत्व है। विशालस्तरीय संगठन गौण समूह का मुख्यतम उदाहरण है। गौण समूह वह होता है जिसका आकार बड़ा होता है, यथा नगर, राष्ट्र, राजनीतिक दल, निगम, अंतर्राष्ट्रीय व्यापारी संघ तथा श्रमिक संघ। इन समूहों में व्यक्तियों के सम्बन्ध अवैयक्तिक एवं अनिश्चित होते हैं। सदस्यों के सम्बन्धों का क्षेत्र सीमित होता है। वे स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त इकट्ठे होते हैं। एक सदस्य का दूसरे सदस्य पर प्रभाव परोक्ष होता है। वह केवल कुछेक सदस्यों को ही वैयक्तिक रूप से जानता है तथा असंख्य सदस्यों के बीच एक अकेले व्यक्ति के रूप में कार्य करता है। अपने साथियों के साथ उसका सहयोग परोक्ष होता है तथा वह कदाचित् ही कभी उनसे आमने-सामने मिलता हो। वह उनके साथ परोक्ष साधनों, यथा लिखित शब्द के द्वारा सम्पर्क स्थापित करता है।

गौण अथवा द्वितीयक समूह की कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

(i) "गौण समूह वे हैं, जो अपने सम्बन्धों में अपेक्षाकृत अनिरन्तर और निर्वैयक्तिक होते हैं, क्योंकि गौण समूह व्यक्ति पर कुछ विशेष माँगें ही रखते हैं, वे उसकी निष्ठा का केवल थोड़ा-सा भाग पाते हैं और आम तौर से उसका कुछ ही समय और ध्यान चाहते हैं। उनके सम्बन्ध आम तौर से परस्पर सहायक होने की अपेक्षा प्रतियोगी होते हैं।"[1] —पी० एच० लैन्डिस

(ii) "जो समूह घनिष्ठता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं, उन्हें गौण समूह कहा जाता है।"[2] —आगबर्न एवं निमकाफ

(iii) "गौण समूह उस सबका विरोधी रूप है, जो प्राथमिक समूहों के बारे में कहा गया है।"[3] —डेविस

(iv) "जब सदस्यों के सम्बन्धों मे सम्मुखी सम्पर्क नहीं होते तो गौण समूह होता है।" —मजूमदार, एच० टी०

प्राथमिक समूह एवं गौण समूह में अन्तर (Difference between Primary Group and Secondary Group)

प्राथमिक समूह तथा गौण समूह में अन्तर की निम्नलिखित बातें है—

(i) आकार (Size)—प्राथमिक समूह आकार एवं क्षेत्र में छोटा होता है। इसकी सदस्य-संख्या सीमित होती है तथा इसका क्षेत्र निश्चित भूखंड तक फैला होता है। यह सारे संसार में फैला नहीं होता; उदाहरणार्थ, परिवार, क्रीड़ा-मंडली, अध्ययन-मंडली। सदस्यता छोटी सीमाओं के भीतर ही सीमित रहती है। दूसरी ओर, गौण समूह की सदस्यता व्यापक रूप से फैली हुई होती है। इसमें संसार के विभिन्न भागों मे फैले हुए हजारों सदस्य हो सकते हैं, यथा निगम में।

(ii) सहयोग का स्वरूप (Kind of co-operation)—गौण समूह में साथी-सदस्यों के बीच सहयोग परोक्ष होता है। यह किसी सामान्य रूप से स्वीकृत ध्येयों को प्राप्त करने हेतु सोच-समझकर निर्मित किया जाता है। सदस्यों का सहयोग समूह के उद्देश्य की प्राप्ति तक ही सीमित होता है। सदस्यों को एकीभूत करने वाला तत्व प्रक्रिया (process) नहीं होती; अपितु वह उद्देश्य होता है जिसकी प्राप्ति-हेतु वे इकट्ठा होते हैं। वे एकसाथ मिलकर काम नहीं करते, अपितु एक व्यक्ति दूसरे के लिये कार्य करता है। एक सामान्य उद्देश्य के लिये वे भिन्न-भिन्न निर्दिष्ट कार्य

---

1. "Secondary groups are those that are relatively casual and impersonal in their relationships.. Relationships in them are usually competitive rather than mutually helpful." —P. H. Landis.

2. "The groups which provide experience lacking in intimacy are called secondary groups." —Ogburn.

3. "Secondary groups can be roughly defined as the opposite of every thing already said about primary groups." —Davis.

4. "When face-to-face contacts are not present in the relations o. members, we have second ary group," —Mazumdar, H. T

करते हैं। व्यक्तियों को सारे समूह की ओर से कार्य करने के लिये चयित किया जाता है, जिससे प्राधिकारियों की एक अधिश्रेणी उत्पन्न हो जाती है और कार्यकारिणी समिति सदस्यों से भिन्न अवस्थिति धारण कर लेती है। इसके विपरीत, प्राथमिक समूह में सदस्यों का सहयोग प्रत्यक्ष होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समान प्रक्रिया में सहकारी होता है। वे मिल-जुलकर बैठते हैं, चर्चा करते हैं, खेलते हैं, निर्णय करते हैं।

(iii) **संरचना का प्रकार** (Types of structure)—प्रत्येक गौण समूह औपचारिक नियमों द्वारा नियमित होता है। निर्दिष्ट शक्तियों एवं सुस्पष्ट श्रम-विभाजन के साथ एक औपचारिक प्राधिकरण की स्थापना की जाती है, जिसमें प्रत्येक का कार्य शेष अन्य सभी के कार्यों के संदर्भ में सुनिश्चित होता है। संक्षेप में, *गौण समूह का सगठन सावधानी से निर्मित किया जाता है। प्राथमिक समूह* की संरचना अनौपचारिक होती है। सदस्य, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, समान प्रक्रिया में सहकारी होते हैं। समूह की क्रिया में सहज अनुकूलन होता है। किसी औपचारिक एवं विस्तृत नियमों की आवश्यकता नही होती। संरचना सरल होती है।

(iv) सम्बन्ध (Relationship)—प्राथमिक समूह में सदस्यों के सम्बन्ध प्रत्यक्ष, घनिष्ठ एवं वैयक्तिक होते हैं। इसके सदस्यों में बन्धुता होती है। उनके सम्पर्क सम्मुखी होते हैं। प्राथमिक समूह व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित होता है। सदस्यों के सम्बन्ध अन्तर्मुखी होते हैं। गौण समूह औपचारिक नियमों द्वारा नियमित किया जाता है, जिसका कार्य है वैयक्तिक सम्बन्धों के लिये अवैयक्तिक सम्बन्धों की स्थानापन्नता। सम्बन्ध गौण एवं औपचारिक बन जाते हैं। यह अपने सदस्यों पर केन्द्रीय प्रभाव नही डालता, क्योंकि वे एक-दूसरे के मन में बसे हुए नहीं होते। उनका सम्मुखी सम्पर्क में आना आवश्यक नही है। वे परोक्ष साधनों से एक-दूसरे के साथ संचार-स्थापना कर सकते हैं। वे अपना-अपना कार्य करते हैं, आदेशों का पालन करते हैं, ऋण चुकाते हैं तथा संघीय हित में अपना योगदान देते हैं, तथापि वे एक-दूसरे को नही मिलते। एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल के सदस्य अपना वार्षिक चंदा अदा करते हैं, हाईकमान के आदेशों का पालन करते हैं, दलीय हित के लिये कार्य करते हैं, परन्तु कदाचित् ही एक-दूसरे के साथ वैयक्तिक एवं प्रत्यक्ष सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। साधारण सदस्य का भाग निष्क्रिय रहता है। वह बहुधा महसूस करता है कि दल उसके नियंत्रण-क्षेत्र से बाहर है। पाल लैंडिस (Pal Landis) ने गौण समूहों को 'शीत संसार' (cold world) का प्रतिनिधि *कहा है। प्राथमिक समूह सम्बन्ध-अभिमुखी (relationship-directed)* होते हैं, जबकि गौण समूह उद्देश्य-अभिमुखी (goal-oriented)। वास्तव में सम्बन्धों की घनिष्ठता जो प्राथमिक समूहो मे पायी जाती है, गौण समूहों में नहीं होती। गौण समूह में सम्बन्ध 'छुओ और चले जाओ' (touch and go) प्रकार के होते हैं।

कुछ लेखकों का विचार है कि समूहों का प्राथमिक एवं गौण में वर्गीकरण अधिक संतोषजनक नहीं है। कोई भी समूह न तो पूर्ण रूप से प्राथमिक और न पूर्ण रूप से गौण हो सकता है। विशाल-स्तरीय समूह मे भी इसके सदस्यों के बीच

समूह के साथ समग्र रूप से कुछ तादात्म्य होता है, जिसके बिना यह कार्य नहीं कर सकता। समूहों को प्राथमिक एवं गौण में वर्गीकृत करने के बजाय सम्पर्कों को इस प्रकार श्रेणीबद्ध करना सरल होगा। प्राथमिक एवं गौण समूहों में वास्तविक अन्तर आकार अथवा संरचना का नहीं है, अपितु सम्बन्धों के प्रकार का है। यदि किसी राष्ट्र को गौण समूह कहा जाता है तो इसका कारण है कि उसके सदस्यों में घनिष्ठ, वैयक्तिक एवं निकटीय सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक गौण समूह में भी प्राथमिक समूह के तत्व विद्यमान होते हैं, क्योंकि किसी भी संगठित सामाजिक समूह के अस्तित्व के लिये उसके सदस्यों में हितों का तादात्म्य होना आवश्यक है। किसी समूह को गौण इसीलिए कहा जाता है कि उसके सदस्यों के सम्बन्ध घनिष्ठ एवं वैयक्तिक नहीं होते। इसमें वैयक्तिक अन्त.क्रिया का अभाव होता है; इसके सदस्यों में एकत्व की अभिव्यक्ति अवैयक्तिक एवं परोक्ष विधियों से होती है। यदि गौण समूह के सदस्य कभी सम्मुखी मिलते भी हैं तो यह 'छुओ और जाओ' प्रकार का मिलन होता है।

गौण समूह की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of Secondary Group)

(i) **औपचारिक एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध** (Formal and impersonal relations)—गौण समूह में व्यक्तियों के सम्बन्ध औपचारिक एवं अवैयक्तिक होते हैं। यह अपने सदस्यों पर केन्द्रीय प्रभाव नहीं डालता। सदस्यों का सम्मुखी सम्पर्क नहीं होता। वे अपने कार्य करते हैं, आदेशों का पालन करते हैं, अपने ऋण अदा करते हैं, तथापि किसी से मिलते तक नहीं। इसके सदस्यों के सम्बन्ध आकस्मिक होते हैं। हम बैंक में जाते हैं, लिपिक से मिलते हैं, अपना काम करते हैं और वापस चले आते हैं। हमें उसके जीवन के अन्य स्वरूपों की कोई चिंता नहीं होती। गौण समूह में सम्बन्धों की घनिष्ठता नहीं पायी जाती।

(ii) **बड़ा आकार** (Large in size)—गौण समूहों का आकार बड़ा होता है। वे सारे संसार में फैले हुए हो सकते हैं। उदाहरणतया, रैडक्रास सोसाइटी की सैकड़ों शाखाएँ संसार के देशों में फैली हुई हैं, जिनके हजारों सदस्य हैं।

(iii) **ऐच्छिक सदस्यता** (Option of membership)—अधिकांश गौण समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। रोटरी क्लब अथवा रैडक्रास का सदस्य बनना अनिवार्य नहीं है।

(iv) **क्रियाशील एवं निष्क्रिय सदस्य** (Active and inactive members)—गौड़ समूह का आकार बड़ा होता है। इसके सदस्यों में घनिष्ठता का अभाव होता है। घनिष्ठ सम्बन्धों के अभाव के कारण समूह के कुछ सदस्य निष्क्रिय बन जाते हैं, जबकि कुछ अन्य काफी क्रियाशील रहते हैं। एक राजनीतिक दल के अनेक सदस्य दलीय कार्य में कोई रुचि नहीं लेते। वे अपने को वार्षिक चंदे के भुगतान तक ही सीमित रखते हैं।

(v) **परोक्ष सम्बन्ध** (Indirect relations)—गौण समूह के सदस्यों का सम्मुखी सम्पर्क नहीं होता। वे देश के कोने-कोने में बिखरे हुए होते हैं। कभी-कभी वे संसार भर में फैले हुए हो सकते हैं, जैसे रैडक्रास अथवा रोटरी क्लब में। उनके बीच संचार परोक्ष साधनों द्वारा होता है।

(vi) औपचारिक नियम (Formal roles)—गौण समूह औपचारिक नियमों से नियमित होता है। एक औपचारिक प्राधिकरण की स्थापना की जाती है तथा श्रम का सुनिर्दिष्ट विभाजन किया जाता है। गौण समूह का संगठन सावधानी से निर्मित किया जाता है।

(vii) व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी भूमिका पर निर्भर करती है (Status of individual depends on his role)—गौण समूह में प्रत्येक सदस्य की प्रस्थिति उसकी भूमिका पर निर्भर करती है। ट्रेड यूनियन में अध्यक्ष की प्रस्थिति उसके द्वारा पालित भूमिका पर, न कि उसके वैयक्तिक गुणों अथवा जन्म पर निर्भर करती है।

(viii) ध्येय-अभिमुखी (Goal-oriented)—गौण समूह का प्रमुख उद्देश्य एक विशिष्ट ध्येय की प्राप्ति करना है। ट्रेड यूनियन का निर्माण मजदूरों को अधिक वेतन तथा अन्य सुविधाएं दिलाने के लिये किया जाता है। गौण समूह की सफलता इसके द्वारा किये गये कार्य की दक्षता से अंकित की जाती है।

गौण समूह प्राधिकार का संगठन (Organisation of Authority in Secondary Group)

गौण समूह के संगठन पर विचार करते समय एक प्रमु खसमस्या यह उठती है कि *प्राधिकार एवं स्वतंत्रता* का सुमेल किस प्रकार किया जाये। प्रत्येक गौण समूह, राज्य अथवा निगम, कुछ औपचारिक नियमों अथवा कानूनों द्वारा नियंत्रित होता है। कार्य-कुशलता, मितव्ययिता एवं व्यवस्था की प्राप्ति हेतु ये नियम प्रत्येक गौण समूह में आवश्यक होते हैं। परन्तु समय बीतने पर ये नियम लचीलेपन के मार्ग पर खड़े हो सकते हैं, जो परिवर्तित परिस्थितियों एवं वैयक्तिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। प्राधिकारी के मन में उन नियमों के प्रति एक प्रकार की धार्मिक पवित्रता विकसित हो जाती है, मानो वे स्वयं अपने में एक अन्तिम मूल्य रखते हों। वह केवल इनके क्रियान्वन से संबंधित रह कर मानव-मूल्यों की बलि तक दे देता है। संगठन में लालफीताशाही पनप उठती है तथा संगठन घिसा-पिटा बन जाता है। सरकारी संगठनों, राजनीतिक दलों, बृहत् समाज सेवा-अभिकरणों एवं विश्वविद्यालय-प्रशासनों में यही प्रवृत्ति पायी जाती है। अतएव विशाल संगठनों में प्राधिकार को इस प्रकार से संगठित करने की आवश्यकता है, ताकि स्वतंत्रता एवं नमनीयता की कुछ मात्रा को व्यवस्था एवं कार्य-कुशलता के साथ बनाये रखा जा सके।

विशाल-स्तरीय संगठनों का दो नियमों के आधार पर संगठन किया जा सकता है—

(i) संघात्मक सिद्धान्त (The federative principle)—इस प्रकार के संगठन में, समूह को अनेक स्थानीय अथवा प्रादेशिक इकाइयों में विभक्त किया जाता है, ताकि प्रत्येक इकाई को इतनी स्वायत्तता प्राप्त हो सके, जो समूह के लक्ष्यों के अनुरूप हो। राजनीतिक क्षेत्र में, इस प्रकार प्राधिकार को केन्द्र तथा राज्यों में विभाजित किया जाता है, और जो अपनी सत्ता को आगे स्थानीय निकायों में बाँट देते हैं। इसी प्रकार, राजनीतिक दल अपने अनेक कार्य स्थानीय इकाइयों को हस्तांतरित कर देते हैं, जिन्हें स्वायत्तता की कुछ मात्रा प्राप्त होती है। औद्योगिक

क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण का नियम पाया जाता है, विशेषीकृत कार्य औद्योगिक क्षेत्र या विभिन्न क्षेत्रों में विभक्त कर दिये जाते हैं।

संगठन के संघात्मक नियम के कुछ लाभ हैं। यह स्वायत्तता की माँग तथा प्राधिकार में तालमेल पैदा करता है। स्थानीय हितों का निर्धारण स्थानीय स्तर पर हो जाता है तथा वहीं पर इनकी कुशलतापूर्ण पूर्ति हो जाती है। लोग स्थानीय इकाइयों के साथ अधिक तत्परता से सहयोग करते हैं, क्योंकि ये उनके समीप कार्य करती हैं। केन्द्रीय इकाइयों का कार्यभार हल्का हो जाता है, जिससे वे अधिक व्यापक समस्याओं पर ध्यान दे सकती हैं। परन्तु इस नियम को एक निश्चित बिन्दु से आगे नहीं ले जाया जा सकता। प्रथमतया, आधुनिक समाज इतना जटिल एवं अन्योन्याश्रित है कि कुछेक हित ही स्थानीय रह जाते हैं। स्थानीय समस्याओं का समाधान भी अब राष्ट्रीय स्तर पर होता है। उदाहरणतया, किसी स्थानीय फैक्टरी मे कार्य करने वाले मजदूरों के वेतन की समस्या राष्ट्रीय निकायों द्वारा हल की जाती है। द्वितीय, कुछेक हितों की पूर्ति स्थानीयकरण के आधार पर नहीं हो सकती। मुद्रा अथवा आयात-निर्यात करों का नियमन राष्ट्रीय स्तर पर ही किया जाता है। समुद्री मार्ग अथवा हवाई मार्ग के नियम एक अंतर्राष्ट्रीय निकाय द्वारा निर्मित किये जाते हैं। अन्तिम, कुछेक हित तो इस प्रकार के होते हैं, जिनकी सर्वोत्तम पूर्ति स्थानीयकरण के आधार पर हो सकती है, यथा सांस्कृतिक हित; दूसरी ओर कुछेक हित विशेषतया आर्थिक हितों की पूर्ति राष्ट्रीय स्तर पर ही भलीभाँति हो सकती है, क्योंकि वर्तमान अर्थ-व्यवस्था स्थानीय न होकर दूसरे देशों पर आश्रित है।

इस प्रकार, संघीय नियम के क्रियान्वयन मे कुछ सीमायें हैं, जिनको यह लाँघ नही सकता, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि विशाल-स्तरीय संगठन में स्थानीय इकाई की महत्वपूर्ण भूमिका है। विशेषतया उस स्थिति में जब सेवा का प्रकार वैयक्तिक हो। सेवा जितनी कम प्रमाणीकृत होगी, उतना ही अधिक स्थानीय इकाइयाँ समीकरण का प्रतिरोध करती हैं। इस प्रकार विलास-सामग्री की दूकानें और फैशनेबिल दर्जी स्थानीय संगठनों के रूप में समृद्ध बनते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी स्थानीय इकाइयाँ अथवा स्थानीय न्यायालयों की आवश्यकता है, यद्यपि स्थानीय विधान-मंडलों के बिना हम काम चला सकते हैं।

(ii) शासकीय दायित्व का नियम (The principle of official responsibility)—यह नियम सर्वाधिक शक्तिशाली राजनीतिक संगठन, अर्थात् राज्य के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह प्रजातंत्रीय राज्य का अनिवार्य नियम है। चूँकि राज्य विशाल शक्तियों का स्वामी होता है, अतएव यह अत्यावश्यक है कि अपनी शक्तियों के प्रयोग में यह निरंकुश ढंग से कार्य न करे। प्रजातंत्रीय राज्य मे अधिकारी लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि के रूप में होते हैं, जो उनके नियंत्रणाधीन एवं उनकी ओर से कार्य करते हैं। यद्यपि अनुभव यह दर्शाता है कि अधिकारियों के केवल मात्र निर्वाचन से दायित्व के सिद्धान्त की प्राप्ति नहीं होती। लोग सामान्यतः प्रबुद्ध एवं लोकचेतना से प्रेरित नही होते। वे प्रशासन की जटिलताओं को नहीं समझ सकते और न ही इस कार्य के लिये अपेक्षित गुणों का निर्णय कर सकते हैं। तथापि निर्वाचन के

अतिरिक्त सरकार को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने का अन्य कोई साधन नहीं है। अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों एवं सार्वजनिक चुनाव में निहित समस्याओं के बावजूद भी दायित्व का सिद्धान्त अनेक आधुनिक राज्यों में कुछ सीमा तक प्राप्त किया गया है। यदि राज्य में दायित्व के सिद्धान्त की प्राप्ति हो जाती है तो यह अन्य समुदायों को व्यक्तियों के हितो पर अनुचित अतिक्रमण से रोक सकता है।

गौण समूह का महत्व (Importance of Secondary Group)

एक लघुस्तरीय एवं सरल समाज में प्राथमिक समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, परन्तु वर्तमान युग में प्रवृत्ति गौण समूहों की ओर पायी जाती है। लघु समुदायों के स्थान पर अब विशाल समुदायों का जन्म हो रहा है। कुटीर उद्योग के स्थान पर विशाल निगम जिनमे सहस्रों व्यक्ति कार्य करते हैं, की स्थापना हुई है। आधुनिक समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियो ने प्राथमिक समूहों को समाप्त कर दिया है। मनुष्य अब अपनी आवश्यकताओ की पूर्तिहेतु प्राथमिक समूहों के स्थान पर गौण समूहों पर अधिक निर्भर है। एक के बाद दूसरा कार्य प्राथमिक समूहों से छीना जा रहा है। पहले बच्चे का जन्म परिवार के सुखद वातावरण में होता था, अब उसका जन्म अस्पताल के शुष्क वातावरण में होता है। पहले जो आवश्यकताएँ गाँवों में पूर्ण हो जाती थी, अब उनकी पूर्ति के लिये नगरों में जाना पड़ता है। औद्योगीकरण ने श्रमिक को देहात से निकाल कर नगर मे ला पटका है, जिससे उसके स्थानीय सम्बन्धों में विघ्न आया है। इसने परिवार के कार्यों को भी प्रभावित किया है। कार्यालयों एवं उद्योगों में स्त्रियों के रोजगार ने घरेलू जीवन को प्रभावित किया है।

गौण समूहों के विकास ने जहाँ एक ओर विविध समस्याओं को जन्म दिया है, दूसरी ओर कुछ लाभ भी हुए हैं। ये लाभ निम्नलिखित हैं—

(i) दक्षता (Efficiency)—गौण समूह मे श्रम-विभाजन का रूप स्पष्ट होता है। इसके नियमन हेतु निश्चित नियम होते हैं। संगठन का प्रबन्ध करने के लिये एक औपचारिक सत्ता की नियुक्ति की जाती है। गौण समूह का संगठन सावधानीपूर्वक सोच-विचार कर बनाया जाता है। मुख्य बल कार्य की उपलब्धि पर होता है। भावना उपलब्धि के अधीन होती है। भौतिक सुखों में उन्नति लक्ष्य-निर्देशित गौण समूहों के उत्थान के बिना असम्भव होगी।

(ii) अवसर के माध्यम (Channels of opportunity)—द्वितीय, गौण समूहों ने अवसरो के माध्यमो को खोल दिया है। वे व्यक्तिगत गुणों के विकास के अधिक अवसर प्रदान करते हैं। प्राचीन समय में केवल कुछेक सीमित कार्य, यथा कृषि एवं लघु उद्योग थे, परन्तु अब सहस्रों व्यवसाय हैं, जो विशेष निपुणता-प्राप्त व्यक्तियों के लिये खुले हैं। योग्य व्यक्ति किसी अज्ञात कोने से व्यापार, उद्योग, सिविल अथवा तकनीकी सेवा में उच्चतम पद तक पहुँच सकता है।

(iii) विस्तृत दृष्टिकोण (Wider outlook)—गौण समूह अपने सदस्यो के दृष्टिकोण को विस्तृत कर देता है। प्राथमिक समूह स्वार्थी हितों का समूह होता है। इसके सदस्य किसी विशेष स्थान के निवासी होते हैं तथा इसका आकार लघु होता है। पड़ोस-समूह के सदस्य पड़ोस के हितो की ही देखभाल करते है, इसी प्रकार परिवार अपने हितों की ही चिन्ता करता है। इसके सदस्यों का दृष्टिकोण

अपने हितों तक सीमित रहने के कारण संकुचित हो जाता है। दूसरी ओर, गौण समूह के सदस्य बिखरे हुए होते हैं, उसकी सीमायें प्राथमिक समूह से परे होती हैं। गौण समूह में अनेक व्यक्तियों एवं स्थानों के हितों को ध्यान में रखना होता है, जिससे इसके सदस्यो का दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है। प्राथमिक समूह के निर्णय स्थानीय रीति-रिवाजों एवं वैयक्तिक दृष्टिकोणों से प्रभावित होते हैं, जबकि गौण समूह के निर्णय सार्वभौमिक होते हैं। यह स्थानीयवाद, प्रान्तीयवाद एवं जातिवाद के बंधनों को तोड़ सकता है।

यद्यपि आधुनिक समाज में गौण समूह ने प्राथमिक समूह के महत्व को घटा दिया है, तथापि प्राथमिक समूह के अस्तित्व का अन्त नही हुआ है। केवल प्राथमिक समूह मे ही साहचर्य की आवश्यकता की तुष्टि हो सकती है। मनुष्य उस समय तक दक्षतापूर्वक कार्य नही कर सकता, जब तक वह ऐसे लघु समूह से सम्बन्धित न हो, जिसके सदस्य वास्तव में उसकी चिन्ता करते हो। गौण समूह को भी अपने अस्तित्व-हेतु प्राथमिक समूह की आवश्यकता होती है। प्राथमिक समूहो के बिना, गौण समूह जड़हीन वृक्ष के समान होगा, जो अपने ही भार से गिर जायेगा। गौण समूह के अन्दर अवस्थित प्राथमिक समूह अवैयक्तिक जगत् मे आत्मीयता एवं वैयक्तिक अनु-क्रिया प्रदान करते हैं। ये गौण संगठन के विषम अंगों को एकीकृत करने में सहायक होते हैं तथा इसके सदस्यों को भावनात्मक सुरक्षा प्रदान करते हैं। गौण समूह प्राथमिक समूहों के साथ अवश्य सन्निहित होने चाहिये।

इसके अतिरिक्त, विशाल-स्तरीय समूह की प्रकृति ऐसी है कि यह साहचर्य एवं सामाजिकता की मानवी अन्तःअभिलाषा की सन्तुष्टि नही कर सकता। सामाजिकता की अभिलाषा की पूर्तिहेतु विशाल संगठनों के सदस्य गोष्ठियों अथवा क्लबों का निर्माण करते हैं, जहाँ ये वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करते है तथा अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करते हैं। चार्ल्स एच० कूले ने विशाल समूहों के अन्दर मनुष्य के व्यक्तित्व की अनिरुद्ध एवं सहज अभिव्यक्ति के लिये अवसरों की आवश्यकता पर बल दिया है।

५. संदर्भ समूह
(Reference Groups)

मनुष्य एक अनुकारी जीव है। उसमें दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों के अनु-करण की सहजप्रवृत्ति होती है। जब कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति को उन्नति करते हुए देखता है तो उसमे भी उसी प्रकार उन्नति की इच्छा उत्पन्न होती है। वह दूसरों से अपनी तुलना करता है तथा उनके पद एवं प्रस्थिति तक पहुँचने के लिये उनके समान व्यवहार करना आरम्भ करता है। दूसरों के साथ तुलना के उपरांत किये गये ऐसे व्यवहार को 'सन्दर्भ-व्यवहार' (reference behaviour) कहा जाता है। ऐसे व्यवहार के अन्तर्गत व्यक्ति स्वयं को अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों के साथ सम्बन्धित करता है तथा उनके मानकों अथवा मूल्यों को अपनाने का प्रयत्न करता है। जिन व्यक्तियों अथवा समूहों के व्यवहार का वह अनुकरण करता है, उन्हें ''सन्दर्भ-समूह' (reference groups) कहा जाता है। व्यवहार की यह अनुकरणीयता व्यक्ति तथा समूह दोनों स्तरों पर पायी जाती है।

समाजशास्त्र में सन्दर्भ-समूह की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग हाईमैन (Hyman) द्वारा किया गया था। तदुपरांत टर्नर (Turner), मर्टन (Merton) एवं शैरिफ (Sheriff) ने इस अवधारणा की विशद व्याख्या की। हाईमैन (Hyman) के अनुसार, प्रत्येक समाज में कुछेक व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके मूल्य एवं मानक अन्य व्यक्तियों के लिये आदर्श बन जाते हैं, जिनका वे अनुकरण करते हैं। शैरिफ ने सन्दर्भ-व्यवहार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उसके अनुसार, व्यक्ति सामान्यतया अपने समूह के आदर्शों एवं मूल्यों को ही अपनाता है, परन्तु कभी-कभी वह विख्यात व्यक्तियों के व्यवहार का अनुकरण करना आरम्भ कर देता है। लिंटन (Linton) के अनुसार, प्रत्येक समाज में कुछेक भूमिकायें एवं स्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिनको प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। सन्दर्भ-समूह-व्यवहार के दो कारण हैं—प्रथम, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति; द्वितीय, व्यक्ति अथवा समूह का मनोवैज्ञानिक स्तर। बहुधा देखा गया है कि निर्धन व्यक्ति धनी अथवा समृद्ध व्यक्तियों के व्यवहार को अधिक मान प्रदान करता है। इसी प्रकार, निम्न मानसिक स्तर के व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं।

शैरिफ (Sheriff) के अनुसार "सन्दर्भ समूह वे समूह हैं, जिनसे व्यक्ति अपने को समूह के अंग के रूप में सम्बन्धित करता है, अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से सम्बन्धित होने की आकांक्षा करता है।"[1] मर्टन (Merton) के अनुसार, "सन्दर्भ-समूह-व्यवहार सिद्धान्त का लक्ष्य मूल्यांकन एवं उपमूल्यांकन की उन प्रक्रियाओं के कारकों तथा परिणामों को क्रमबद्ध करना है, जिनमे व्यक्ति अन्य मनुष्यों एवं समूहों के मानकों अथवा मूल्यों को सन्दर्भ के तुलनात्मक बन्ध के रूप में अपनाता है।"[2] सन्दर्भ-समूह के सन्दर्भ मे तीन प्रकार के सदस्य होते हैं—(i) आकांक्षी सदस्य (aspiring members), (ii) संभावित सदस्य (potential members), तथा (iii) वास्तविक सदस्य (actual members)। कुछेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सन्दर्भ-समूह में प्रवेश करना चाहते हैं, परन्तु उनमे प्रवेश पाने की योग्यता अथवा सामर्थ्य नहीं होती। कुछेक व्यक्तियों की अन्य समूह मे प्रवेश की कोई इच्छा नहीं होती। कुछेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सन्दर्भ-समूह मे प्रवेश करने के इच्छुक तो हैं, परन्तु वैयक्तिक आदर्शों के कारण प्रवेश नहीं कर पाते। जब व्यक्ति सामर्थ्य एवं योग्यता के बावजूद भी अन्य समूह में प्रवेश नहीं कर सकते तो इसे नकारात्मक सदस्यता कहा जाता है। क्लाइनबर्ग (Klineberg) के अनुसार, सन्दर्भ-समूह काल्पनिक (imaginary) भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम इस प्रकार का व्यवहार करते हैं, जिन्हें हम सर्वोत्तम लोगों के व्यवहार के समान मानते हैं तो हो सकता है कि उन सर्वोत्तम लोगों के व्यवहार के सम्बन्ध में हमें जो कुछ भी ज्ञात है, वह बिल्कुल ही वास्तविक न होकर निरा काल्पनिक ही हो। यह जरूरी नहीं है कि

---

1. "Reference groups are those groups to which individual relates himself as a part or to which he relates himself psychologically."—Sheriff and Sheriff, *An Outline of Social Psychology*, p. 175.

2. "Reference group behaviour theory aims to systematize the determinants and consequences of those processes of evaluation and sub-apprisal, in which the individual takes the values or standards of other individuals and groups, as a comparative frame of reference."—Merton.

जिस समूह को हम अपना आदर्श मान रहे हैं, उसका वास्तविक अस्तित्व हो। क्लाइन-बर्ग के अनुसार, यह भी आवश्यक नहीं है कि सन्दर्भ-समूह हमारे लिये सदैव 'आदर्श समूह' ही होगा; यह समूह हमारे लिये एक विपरीत आदर्श का भी प्रतिनिधित्व कर सकता है। यह हमारे लिये सन्दर्भ-समूह इसलिए होगा, क्योंकि हम अपने व्यवहारों, आदर्शों तथा मूल्यों को एक विपरीत दिशा की ओर मोड़ना चाहते हैं। प्रो० न्यूकाम्ब (Newcomb) के विचार में भी सन्दर्भ-समूह का अस्तित्व वास्तव में हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। एक व्यक्ति के लिये वह समूह भी सन्दर्भ-समूह हो सकता है, जिसका वह कदापि सदस्य न रहा हो अथवा जो कि बहुत पहले समाप्त हो गया हो। यह समूह अंशतः या पूर्णतया काल्पनिक समूह (fictitious group) हो सकता है। अतएव, यह कहा जा सकता है कि सन्दर्भ-समूह वह समूह है जिसके मूल्यों, आदर्शों एवं व्यवहारों के साथ व्यक्ति अपने समूह के मूल्यों, आदर्शों एवं व्यवहारों की तुलना करता है तथा जिन्हें वह अपनाने का प्रयत्न करता है। ऐसे समूह का वास्तविक अस्तित्व होना आवश्यक नहीं है। यह ऐसा समूह भी हो सकता है, जो बहुत पहले ही समाप्त हो गया हो।

सन्दर्भ-समूह व्यवहार की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(i) व्यक्ति अथवा समूह अन्य व्यक्ति अथवा समूह के व्यवहार को आदर्श व्यवहार मानकर उसका अनुकरण करता है।

(ii) व्यक्ति अथवा समूह अपनी अन्य व्यक्ति अथवा समूह से तुलना करता है।

(iii) सन्दर्भ-समूह व्यवहार में व्यक्ति अथवा समूह सामाजिक पदक्रम में उच्च स्तर पर पहुँचना चाहता है, जिसके फलस्वरूप ऐसे व्यक्ति अथवा समूह को अपने दोषों अथवा कमजोरियों का ज्ञान हो जाता है।

(iv) दोषों अथवा कमजोरियों का ज्ञान व्यक्ति अथवा समूह में सापेक्ष वंचन (deprivation) की भावना उत्पन्न कर देता है।

इस प्रकार, सापेक्ष वंचन की भावना के कारण व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के मानकों अथवा मूल्यों को अपना लेता है, जो उसके व्यवहार में परिवर्तन ला देते हैं। शेरिफ़ (Sheriff) के अनुसार, मनुष्य ही केवल सन्दर्भ-समूह-व्यवहार के योग्य जीव है। वह दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के मूल्यों एवं मापदण्डों का आत्मीकरण करके अपने व्यवहार में परिवर्तन कर सकता है। ऐसा इस कारण होता है कि व्यक्ति की सामाजिक अन्तःक्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का दायरा उसके सदस्यता-समूह के दायरे से कहीं अधिक विस्तृत होता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर वह अपने को अन्य समूहों से संबंधित मान सकता है, जिनके व्यवहार-प्रतिमानों के आधार पर वह अपने व्यवहार को ढालने का प्रयत्न करता है।

यह भी ध्यान रखा जाय कि जब व्यक्ति अपने समूह से दूसरे समूह में प्रवेश करता है तो उसे दूसरे समूह में सात्मीकरण करने में कुछ समय लगता है। इस संक्रमण-काल में वह मानसिक दबावों और खिचावों का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति 'समूहहीनता' (grouplessness) की अवस्था को जन्म दे सकती है, जिसमें वह स्वयं को अपने समूह से विलग पाता है। जबकि एक ओर वह अपने समूह से विलग

हो जाता है, दूसरी ओर यह दूसरे समूह में सात्मीकृत नहीं हो पाता। वह एक ऐसी अवस्था में होता है जिसे 'समूहविहीन अवस्था' कहा जा सकता है।

उदग्र (vertical) गतिशीलता वाले उन्मुक्त समाज में संदर्भ-समूह-व्यवहार के परिणाम प्रकार्यात्मक होते हैं, जबकि क्षैतिज गतिशीलता वाले बंद समाज में इसके परिणाम अकार्यात्मक (dyfuctional) होते हैं।

संदर्भ-समूह-व्यवहार के सिद्धान्त की आलोचना निम्न आधारों पर की गई है—

(i) यह सिद्धान्त किसी नवीन तथ्य का अन्वेषण नहीं करता।

(ii) यह केवल व्यवहार की व्याख्या करता है, परन्तु इसे नियंत्रित करने के किसी साधनों का उल्लेख नही करता।

(iii) यह केवल इस तथ्य की व्याख्या करता है कि व्यक्ति किस प्रकार संदर्भ-समूह के द्वारा प्रभावित होता है, परन्तु यह इस बात की व्याख्या नहीं करता कि संदर्भ-समूह उस व्यक्ति के प्रवेश पर किस प्रकार प्रभावित होता है।

तथापि इस सिद्धान्त का महत्व इस तथ्य मे है कि यह हमें समाज के समूह-व्यवहार तथा उस दिशा, जिसमें किसी विशेष सामाजिक पर्यावरण में व्यक्ति का व्यवहार बदल सकता है, के विषय में ज्ञान कराता है। यह वर्तमान औद्योगीकृत एवं जटिल समाज में वर्तमान खिचावों एवं दबावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या में सहायक हो सकता है।

६. स्थानीय समूह
(Spatial Groups)

स्थानीय समूह वे समूह होते हैं, जिनका संगठन सदस्यों की स्थानीय समीपता के कारण किया जाता है। ऐसे समूह गोत्र (clan), वन्य जाति (tribe) एवं खाना-बदोशी दल (band) होते हैं।

गोत्र (Clan or Sib)

गोत्र ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो स्वयं को किसी वास्तविक अथवा पौराणिक पूर्वज की सामान्य संतान मानते हैं। **मजूमदार** (Mazumdar) के अनुसार, "एक गोत्र बहुधा कुछ वंश-समूहों का योग होता है, जो अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते हैं, जो मानव के समान पशु, पेड़-पौधा या निर्जीव वस्तु हो सकता है।"[1] किसी गोत्र में माता या पिता के किसी वंश के रक्त-सम्बन्धी होते हैं। यह माता या पिता के वंश के सब सम्बन्धियों को जोड़ने पर बनता है। यह किसी प्रमुख कल्पित या पौराणिक पूर्वज से शुरू होता है। प्रमुख और प्रतिष्ठित होने के कारण उस पूर्वज को उस परिवार का प्रवर्तक या संस्थापक मान लिया जाता है। उसी के नाम पर परिवार के सभी वंशजों का परिचय दिया जाता है। गोत्र कभी भी माता-पिता दोनों के वंशजों को मिलाकर नही बनता। उसके वंशज या तो मातृवंशीय वंश-

1. "A sib or clan is often the combination of few lineages and descent who may be ultimately traced to a mythical ancestor, who may be human, human like, animal, plant, or even inanimate"—Mazumdar and Madan, *Social Anthropology*, p. 114

समूहों के होते हैं या पितृवंशीय वंश-समूह के। यह सदैव एकपक्षीय (unilateral) होता है। यह एकपक्षीय परिवारों का बहिर्विवाही योग है। गोत्र की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) यह एक बहिर्विवाही समूह होता है। एक ही गोत्र के सदस्य आपस में विवाह नहीं करते।

(ii) एक गोत्र के सदस्य एक ही पूर्वज-कल्पित अथवा वास्तविक में विश्वास करते हैं।

(iii) यह एकपक्षीय समूह होता है। यह या तो माता या पिता के वंशज के सभी परिवारों का योग है।

गोत्र विभिन्न नामों से जाने जाते हैं, यथा—
(i) ऋषियों के नाम पर, जैसे भारद्वाज आदि।
(ii) टोटम (totem) के नाम पर, जैसे कुंजम, नागासोदी आदि।
(iii) उपनाम के आधार पर, जैसे कुमार, जगत आदि।
(iv) भूभाग के आधार पर, जैसे जयपुरिया आदि।

गोत्र तथा जाति में अन्तर (Difference Between Clan and Caste)

(i) जाति एक वास्तविक रूप से संगठित समूह है; कुल पौराणिक पूर्वज पर आधारित समूह है।

(ii) जाति अन्तर्विवाही समूह है; कुल बहिर्विवाही समूह होता है। जाति के सदस्य जाति के अंदर विवाह करते हैं, परन्तु एक ही गोत्र के सदस्य आपस में विवाह नहीं करते।

(iii) गोत्र में सदस्यों की स्थिति समान होती है, परन्तु जाति में सदस्यों की स्थिति में ऊँच-नीच होता है।

गोत्र के कार्य (Functions of Clan)

गोत्र एक महत्वपूर्ण समूह है। इसके सदस्यों में 'हम-भावना' (we-feeling) होती है, क्योंकि वे सभी स्वयं को समान पूर्वज की संतान समझते हैं। वे न केवल एक-दूसरे की आवश्यकता के समय सहायता करते हैं, अपितु एक-दूसरे के लिये प्राण तक देने को तैयार रहते है। गोत्र अपने सदस्यों पर सामाजिक नियंत्रण रखता है। वह उनको असामाजिक कार्य नही करने देता। यह गोत्र के अंदर शांति एवं व्यवस्था बनाये रखने में सरकार की सहायता करता है। गोत्र के सदस्यों के विवाद गोत्र का अध्यक्ष सुलझा देता है। विभिन्न गोत्रों में झगड़े हो जाने पर उन गोत्रों के अध्यक्ष आपस में वार्तालाप द्वारा झगड़ों का समाधान करा देते हैं। गोत्र अपने सदस्यों की धार्मिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। सामान्यतया, गोत्र का अध्यक्ष इसका पुजारी भी होता है।

जनजाति (Tribe)

जार्ज पीटर मरडोक (George Peter Murdock) के अनुसार, "जनजाति एक ऐसा सामाजिक समूह होता है, जिसके अंदर अनेक गोत्र, खानाबदोशी जत्थे, गाँव या अन्य उपसमूह होते हैं, जिनका साधारणतया एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता

है, एक अलग भाषा होती है, एक रूप और सबसे भिन्न संस्कृति होती है और या तो एक सामान्य राजनैतिक संगठन होता है या कम-से-कम बाहर के लोगों के विरुद्ध सामान्य दृढ़ता की एक भावना होती है।"[1] इम्पीरियल गजेटियर के अनुसार, "जनजाति परिवारों का एक ऐसा समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जो सामान्य बोली का व्यवहार करता है और जो एक सामान्य प्रदेश में रहता अथवा रहने का दावा करता है और प्रायः अन्तर्विवाह करने वाला नहीं होता, चाहे आरम्भ में अन्तर्विवाह करने की प्रथा रही हो।"[2] बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "जनजाति समूह की रक्षा की आवश्यकता पर, रक्त-सम्बन्धों पर और एक सामान्य धर्म की शक्ति पर आधारित है।"[3] जनजाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जो सामान्य निश्चित भूभाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं, जिनका एक सामान्य नाम होता है, धर्म एवं संस्कृति होती है। वे रक्त-सम्बन्ध के आधार पर एक-दूसरे से बँधे हुए होते हैं तथा उनका विशिष्ट राजनैतिक संगठन होता है। डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar) के अनुसार, "जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का संकलन होता है, जिनका एक सामान्य नाम होता है। इसके सदस्य एक निश्चित भूभाग पर रहते हैं, समान भाषा बोलते है और विवाह, व्यवसाय अथवा उद्योग के विषय में कुछ निषेधात्मक नियमों का पालन करते हैं और जिन्होंने परस्पर आदान-प्रदान और कर्तव्यों की पारस्परिकता की एक अच्छी तरह जाँची हुई व्यवस्था का विकास कर लिया है।"[4] आर० एन० मुकर्जी (R. N. Mukerjee) के अनुसार, "जनजाति वह क्षेत्रीय मानव-समूह है जो भूभाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यता के सूत्र में बँधा रहता है।"[5]

जनजाति के लक्षण (Characteristics of Tribe)

(१) सामान्य भू-भाग (Common Territory)—जनजाति एक निश्चित और सामान्य भू-भाग पर निवास करती है।

---

1. "Tribe is a social group in which there are many clans, nomadic bands, villages or other subgroups which usually have a definite geographical area, a separate language, a singular and distinct culture and either a common political organisation or atleast a feeling of common determination against the strangers."—George Peter Murdock, *Dictionary of Sociology.*

...llect on of families bearing a common name, speaking ... py a common territory and ... have been so."—Imperial

3. "The tribal group is based on the need for protection, on ties of blood relationships and on the strength of a common religion."—Bogardus.

4. "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a ... workers of which occupy the same territory, speak the same ... marriage, profession, or occupa- ... of reciprocity and mutuality of ... *India*, p. 355.

5. "A tribe is territorial human groups which is bound together by a commonness in respect to locality, moral codes and economic pursuits."—R. N. Mukerjee, *People and Institution of India* p. 43.

(२) एकता की भावना (Sense of unity)--किसी भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों को जनजाति नही कहा जा सकता, जब तक कि उसके सदस्यों में परस्पर एकता की भावना न हो।

(३) सामान्य भाषा (Common language)---जनजाति के सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं।

(४) अन्तर्विवाही (Endogamous)—जनजाति के सदस्य सामान्यतया अपनी जाति में ही विवाह करते हैं, यद्यपि अब इसमें कुछ परिवर्तन आने लगा है।

(५) रक्त-सम्बन्ध (Blood relationship)—जनजाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति किसी वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज से मानते हैं और इसलिए उनके सदस्यों मे रक्त-सम्बन्ध का बन्धन पाया जाता है।

(६) राजनीतिक संगठन (Political organisation)--प्रत्येक जनजाति का अपना राजनैतिक संगठन होता है। जनजाति के मुखिया का सब सदस्यों पर पूर्ण अधिकार होता है। उसे शासक के सब अधिकार प्राप्त होते हैं। उसकी सहायता के लिये एक जनजातीय परिषद् होती है, जो मुखिया को परामर्श देती है। जनजाति अनेक छोटे-छोटे समूहों में विभाजित होती है, जिनके अपने-अपने मुखिया होते हैं।

(७) धर्म का महत्व (Importance of religion)—जनजातीय संगठन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान होता है। जनजाति के सदस्य एक सामान्य पूर्वज की पूजा करते हैं।

(८) सामान्य नाम (Common name)—जनजाति का एक सामान्य नाम होता है।

जनजाति तथा गोत्र में अन्तर (*Distinction between Tribe and Clan*)

(१) जनजाति एक निश्चित सामान्य भू-भाग पर निवास करती है, जबकि गोत्र का कोई निश्चित प्रदेश नही होता।

(२) गोत्र की कोई सामान्य भाषा नही होती, परन्तु जनजाति की सामान्य भाषा होती है।

(३) गोत्र एक बहिर्विवाही समूह होता है, जनजाति अर्तविवाही समूह होता है।

जनजाति तथा जाति में अन्तर (*Distinction between Tribe and Caste*)

(१) जनजाति एक स्थानीय समूह है, जबकि जाति एक सामाजिक समूह है।

(२) जाति का जन्म श्रम-विभाजन के आधार पर हुआ, जबकि जनजाति एक निश्चित भू-भाग पर रहने के कारण तथा सामुदायिक भावना से बनी।

(३) जनजाति का राजनीतिक संगठन होता है, जबकि जाति राजनीतिक समूह नहीं होती।

है, एक अलग भाषा होती है, एक रूप और सबसे भिन्न संस्कृति होती है और या तो एक सामान्य राजनैतिक संगठन होता है या कम-से-कम बाहर के लोगों के विरुद्ध सामान्य दृढ़ता की एक भावना होती है।"[1] इम्पीरियल गजेटियर के अनुसार, "जनजाति परिवारों का एक ऐसा समूह है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जो सामान्य बोली का व्यवहार करता है और जो एक सामान्य प्रदेश में रहता अथवा रहने का दावा करता है और प्रायः अन्तर्विवाह करने वाला नहीं होता, चाहे आरम्भ में अन्तर्विवाह करने की प्रथा रही हो।"[2] बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "जनजाति समूह की रक्षा की आवश्यकता पर, रक्त-सम्बन्धों पर और एक सामान्य धर्म की शक्ति पर आधारित है।"[3] जनजाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जो सामान्य निश्चित भूभाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं, जिनका एक सामान्य नाम होता है, धर्म एवं संस्कृति होती है। वे रक्त-सम्बन्ध के आधार पर एक-दूसरे से बँधे हुए होते हैं तथा उनका विशिष्ट राजनैतिक संगठन होता है। डी० एन० मजूमदार (D. N. Majumdar) के अनुसार, "जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का संकलन होता है, जिनका एक सामान्य नाम होता है। इसके सदस्य एक निश्चित भूभाग पर रहते हैं, समान भाषा बोलते हैं और विवाह, व्यवसाय अथवा उद्योग के विषय में कुछ निषेधात्मक नियमों का पालन करते हैं और जिन्होंने परस्पर आदान-प्रदान और कर्तव्यों की पारस्परिकता की एक अच्छी तरह जाँची हुई व्यवस्था का विकास कर लिया है।"[4] आर० एन० मुकर्जी (R. N. Mukerjee) के अनुसार, "जनजाति वह क्षेत्रीय मानव-समूह है जो भूभाग, भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्यता के सूत्र में बँधा रहता है।"[5]

जनजाति के लक्षण (Characteristics of Tribe)

(१) सामान्य भू-भाग (Common Territory)—जनजाति एक निश्चित और सामान्य भू-भाग पर निवास करती है।

1. "Tribe is a social group in which there are many clans, nomadic bands, villag[illegible] area, a separ[illegible] political orga[illegible] strangers "—[illegible]

2. "[illegible] a common d[illegible] is not usuall[illegible] Gazette of India.

3. "The tribal group is based on the need for protection, on ties of blood relationships and on the strength of a common religion."—Bogardus.

4. "A tribe is a collection of families or groups of families bearing a [illegible] speak the same [illegible] on, or occupa- [illegible] nd mutuality of [illegible]

5. "A tribe is territorial human groups which is bound together by a commonness in respect to locality, moral codes and economic pursuits."—R. N. Mukerjee, *People and Institution of India* p. 43.

(२) एकता की भावना (Sense of unity)—किसी भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों को जनजाति नहीं कहा जा सकता, जब तक कि उसके सदस्यों में परस्पर एकता की भावना न हो।

(३) सामान्य भाषा (Common language)—जनजाति के सदस्य एक सामान्य भाषा बोलते हैं।

(४) अन्तर्विवाही (Endogamous)—जनजाति के सदस्य सामान्यतया अपनी जाति में ही विवाह करते हैं, यद्यपि अब इसमें कुछ परिवर्तन आने लगा है।

(५) रक्त-सम्बन्ध (Blood relationship)—जनजाति के सदस्य अपनी उत्पत्ति किसी वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज से मानते हैं और इसलिए उनके सदस्यों मे रक्त-सम्बन्ध का बन्धन पाया जाता है।

(६) राजनीतिक संगठन (Political organisation)—प्रत्येक जनजाति का अपना राजनैतिक संगठन होता है। जनजाति के मुखिया का सब सदस्यों पर पूर्ण अधिकार होता है। उसे शासक के सब अधिकार प्राप्त होते हैं। उसकी सहायता के लिये एक जनजातीय परिषद् होती है, जो मुखिया को परामर्श देती है। जनजाति अनेक छोटे-छोटे समूहों में विभाजित होती है, जिनके अपने-अपने मुखिया होते हैं।

(७) धर्म का महत्व (Importance of religion)—जनजातीय संगठन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान होता है। जनजाति के सदस्य एक सामान्य पूर्वज की पूजा करते हैं।

(८) सामान्य नाम (Common name)—जनजाति का एक सामान्य नाम होता है।

जनजाति तथा गोत्र में अन्तर (Distinction between Tribe and Clan)

(१) जनजाति एक निश्चित सामान्य भू-भाग पर निवास करती है, जबकि गोत्र का कोई निश्चित प्रदेश नही होता।

(२) गोत्र की कोई सामान्य भाषा नही होती, परन्तु जनजाति की सामान्य भाषा होती है।

(३) गोत्र एक बहिर्विवाही समूह होता है, जनजाति अंतर्विवाही समूह होता है।

जनजाति तथा जाति में अन्तर (Distinction between Tribe and Caste)

(१) जनजाति एक स्थानीय समूह है, जबकि जाति एक सामाजिक समूह है।

(२) जाति का जन्म श्रम-विभाजन के आधार पर हुआ, जबकि जनजाति एक निश्चित भू-भाग पर रहने के कारण तथा सामुदायिक भावना से बनी।

(३) जनजाति का राजनीतिक संगठन होता है, जबकि जाति राजनीतिक समूह नही होती।

(४) जाति के सदस्य अपने निश्चित व्यवसायों, जो समाज द्वारा निर्धारित कर दिये गये हैं, को ही करते हैं। जनजाति में व्यक्ति कुछ भी व्यवसाय कर सकते हैं, क्योंकि उनका किसी व्यवसाय से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है।

खानाबदोश दल (Band)

खानाबदोशी दल उन व्यक्तियों का समूह है, जो किसी न किसी कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। यह घुमक्कड़ लोगों का समूह है। इस समूह में थोड़े लोग रहते हैं और यह निश्चित भू-भाग में घूमता फिरता है। इनका जीवन बड़ा कठोर होता है। इसका कोई स्थायी निवास न होने के कारण ये अपनी आवश्यकता की वस्तुयें, पहनने-ओढ़ने के कपड़े, शिकार करने के हथियार तथा कार्य करने के उपकरण और घर-गृहस्थी की चीजें साथ लेकर चलते हैं।

आमतौर पर खानाबदोशी दल दो प्रकार के होते हैं—(i) शिकारी दल (hunting band), तथा (ii) पशुपालक जत्थे (pastoral band): खानाबदोश दल में दृढ़ सामुदायिक भावना पायी जाती है।

खानाबदोशी झुण्ड (horde) उन खानाबदोशी दलो को कहते हैं, जिनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है। अतएव खानाबदोशी झुण्ड तथा खानाबदोशी दल में केवल आकार (size) का अन्तर है। बोगार्डस (Bogardus)। खानाबदोशी झुण्ड को आधुनिक राज्य का उद्गम बतलाता है।

प्रश्न

(Questions)

१. प्राथमिक समूह तथा गौण समूह में अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा सामाजिक जीवन में उनके महत्व का वर्णन कोजिए।
२. विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहो का संक्षिप्त रूप से विवरण दीजिए।
३. प्राथमिक समूह का क्या अर्थ है ? आधुनिक भारतीय समाज में जाति का प्राथमिक समूह के रूप में क्या महत्व है ?
४. जनजाति एवं गोत्र पर टिप्पणी लिखिए।
५. प्राथमिक समूह की परिभाषा कीजिए। इसे प्राथमिक किस अर्थ में कहा जाता है ? इसका अन्तर गौण समूह से कीजिए।
६. सोदाहरण प्राथमिक एवं गौण समूहों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
७. संदर्भ-समूहों पर टिप्पणी लिखिए।

अध्याय १५

सामूहिक व्यवहार

[COLLECTIVE BEHAVIOUR]

१. सामूहिक व्यवहार का अर्थ

(The Meaning of Collective Behaviour)

सामान्य अर्थ में, सारी सामाजिक अंतःक्रिया सामूहिक व्यवहार है। जब दो या अधिक व्यक्ति समान ढंग से व्यवहार करते हैं तो इसे सामूहिक व्यवहार की संज्ञा दी जा सकती है। धार्मिक सभा में कही जाने वाली प्रार्थना एवं होली मनाने को सामूहिक व्यवहार कहा जा सकता है। परन्तु समाजशास्त्र में 'सामूहिक व्यवहार' का प्रयोग सीमित अर्थ में किया जाता है। इसका प्रयोग ऐसे सामाजिक व्यवहार तक सीमित है जो—

(i) नियमित अथवा नित्य न होकर आकस्मिक घटनाओं में दिखाई देता है;

(ii) किसी निश्चित नियमों अथवा प्रक्रियाओं से नियमित नहीं होता;

(iii) भविष्यवचनीय नहीं है; एवं

(iv) युक्तिहीन विश्वासों, आशाओं, भय अथवा घृणा से संचालित होता है।

सामाजिक जीवन सुसंरचित एवं स्थायी सम्बन्धों की व्यवस्था है। समाज को जीवित रहने के लिये उसमें व्यवस्था एवं समन्वय होना चाहिये। परन्तु सामाजिक जीवन का अन्य स्वरूप भी है, जिसकी विशेषता स्थायित्व की अपेक्षा परिवर्तन, भविष्यवचनीयता की अपेक्षा अनिश्चितता, संतुलन की अपेक्षा विघटन है। सामाजिक जीवन के इस स्वरूप को समाजशास्त्र में सामूहिक व्यवहार कहा गया है।

सामूहिक व्यवहार नियमित दिनचर्या में अवरोध अथवा संकट की स्थिति को प्रदर्शित करता है। यह ऐसी स्थितियों मे व्यक्तियों के मध्य सम्पर्क स्थापित करता है, जिनमें परम्परागत मार्गदिशायें एवं औपचारिक सत्ता निर्देशन करने तथा क्रिया के माध्यमों की पूर्ति मे असफल हो जाते हैं। इसके निर्धारक तत्व निम्न-लिखित हैं—

(i) संरचनात्मक सहायकत्व (Structural conduciveness)—परम्परागत समाज की अपेक्षा नगरीय समाज में सामूहिक व्यवहार अधिक पाया जाता है। औद्योगीकृत समाज मे आर्थिक संकट होते रहते हैं, जो सामूहिक व्यवहार को जन्म देते हैं।

(ii) संरचनात्मक तनाव (Structural strain)—बढ़ते हुए मूल्य, कम वेतन, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, अन्याय, लालफीताशाही, विशेष सुविधाओं

का मंचन तथा उत्पीड़न आदि सामूहिक व्यवहार के लिये अनुकूल भूमिका तैयार करते हैं।

(iii) सामान्यीकृत विश्वास का विकास एवं प्रसार (Growth and spread of a generalised belief)—सामूहिक क्रिया की एक पूर्व आवश्यकता यह है कि कर्ता समान विश्वास, जो धमकी के स्रोत, इससे बचने के साधन एवं इसकी पूर्ति के ढंग का अभिज्ञान कर लेता है, में संभागी हों।

(iv) उत्तेजनीय तत्व (Precipitating factors)—कोई न कोई तत्व ऐसा होता है, जो सामूहिक क्रिया को आन्दोलित कर देता है। ऐसा तत्व कोई प्रेस रिपोर्ट अथवा पुलिस द्वारा क्रूरता हो सकता है।

(v) क्रिया के लिये तैयारी (Mobilization for action)—सामूहिक क्रिया घटित हो जाती है।

(vi) सामाजिक नियन्त्रण की क्रियान्विति (Operation of social control)—सामूहिक क्रिया उपर्युक्त बिन्दुओं में से किसी बिन्दु पर नेतृत्व, पुलिस-शक्ति, शासकीय नीति एवं अन्य सामाजिक नियंत्रणों द्वारा रोकी जा सकती है।

सामाजिक बेचैनी सामूहिक व्यवहार का कारण एवं परिणाम दोनों हो सकती है। यह कभी-कभी नये मूल्यों एवं सामान्यतः स्वीकृत नीतियों को जन्म दे सकती है। क्रोधित भीड़ अनुशासनबद्ध समिति बन सकती है। सामूहिक व्यवहार में बड़ी शक्ति होती है। यह नमनीयता के वाहक तथा सामाजिक परिवर्तन के पूर्वगामी के रूप में कार्य कर सकती है।

सामाजिक व्यवहार में भीड़, जमघट (mob), जनता (public), सामाजिक आन्दोलन एव क्रांतियाँ जैसे विषय सम्मिलित हैं। इस अध्याय में हम भीड़ तथा जनता के विषय में अध्ययन करेंगे। सामाजिक आन्दोलन की परिचर्या अगले अध्याय में की जायेगी।

२. भीड़ का अर्थ
(The Meaning of Crowd)

भीड़ अस्थायी रूप से संगठित एवं एक-दूसरे के निकट सामीप्य मे इकट्ठे हुए व्यक्तियों का संग्रह है, जिनके उद्देश्य विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "भीड़ मानवों का शारीरिक एकत्रीकरण है, जिसमें मानव एक-दूसरे से प्रत्यक्ष, अस्थायी तथा असंगठित सम्पर्कों में आते हैं।"[1] किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "भीड़ बहुत से लोगों का एक केन्द्र अथवा

1. "Crowd is a physically compact aggregation of human being brought into direct, temporary and unorganised contact with one another."—MacIver, *The Society*, p. 422.

सामान्य ध्यान के बिन्दु के चारों ओर इकट्ठा होना है।"[1] ब्रिट (Britt) के अनुसार, "भीड़ में समान उत्तेजनाओं से प्रतिक्रियाओं का अनुभव करने वाले लोगों का एक अस्थायी रूप से एकत्रित होना सम्मिलित है।"[2] कॉन्ट्रिल (Contrill) के अनुसार, "भीड़ ऐसे व्यक्तियों का सम्मिलित समूह है, जिन्होंने अस्थायी रूप से सामान्य मूल्यों से अपने को एक समझा है और जो एक ही प्रकार के संवेग दिखा रहे हैं।"[3] थाउलस (Thouless) के अनुसार, "भीड़ एक अस्थिर, असंगठित तथा किसी सामान्य रुचि के फलस्वरूप बन जाने वाला व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जिसकी सीमाओं में कितना ही विस्तार किया जा सकता है।"[4] भीड़ तुरन्त बन जाती है तथा तुरन्त ही तितर-बितर हो जाती है। यह संगठित संसार में घटने वाली असंगठित अभिव्यक्ति है। बाग में पिकनिक के लिये इकट्ठे हुए लोगों को प्रायः भीड़ कहा जाता है, परन्तु ऐसे लोगों को भीड़ कहने की अपेक्षा 'इकट्ठ' (aggregate) कहना अधिक उपयुक्त होगा। सिनेमा-हाल पर धावा बोलने वाले विद्यार्थियों के समूह को जमघट (mob)—बेकाबू भीड़ कहा जाता है। भीड़, इकट्ठ तथा जमघट में अंतर केवल मात्रा का है, प्रकार का नहीं। भीड़ "मनुष्यों का शारीरिक रूप से गठित समूह है, जो एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष, अस्थायी एवं असंगठित सम्पर्क में आते हैं तथा जो समान उत्तेजनाओं के कारण समान ढङ्ग से प्रतिक्रिया कर रहे हैं।"[5] मजूमदार (Majumdar) के अनुसार, "भीड़ लोगों का समूह है, जो किसी पूर्व विचार के बिना तथा प्रत्याशा की किसी अस्थायी व्यवस्था तक के बिना किसी हित के कारण इकट्ठे हो जाते हैं।"[6] हार्टन एवं हंट (Horton and Hunt) के अनुसार, "भीड़ किसी उत्तेजना के कारण समान रूप से प्रतिक्रिया करने वाले लोगों का अस्थायी समूह है।"[7] भीड़ सदैव अस्थायी एवं क्षणिक संगठन होती है। इस प्रकार, सागर-तट पर रंगरेलियाँ मनाने वाला विद्यार्थियों का समूह 'इकट्ठ' (aggregate) है; यदि वे किसी फिल्म-अभिनेता का भाषण सुनने लगते हैं तो वे 'भीड़' का रूप धारण कर लेते हैं, परन्तु यदि नेता देश के लिये अपमानजनक शब्द कहता है और वे बेकाबू हो जाते हैं तो वे एक 'जमघट' (mob) बन जाते हैं।

---

1. "A crowd is a gathering of a considerable number of persons around a centre or point of common attraction "—Kimball Young, *Handbook of Social Psychology*, p 387.

2. "A Crowd involves a temporary physical gathering of people experiencing much of the same reaction from the same stimuli."—Britt.

3. "Crowd is a congregate group of individuals who have temporarily identified themselves with common values and who are expressing similar emotions."—Contrill

4. "A crowd is a transitary contiguous group organised with completely permeable boundaries, spontaneously formed as a result of some common interest."—Thouless, R H, *General & Social Psychology*, p. 258.

7. 'Crowd is a temporary collection of people reacting together to stimuli."—Horton and Hunt, *Sociology*, p. 274.

भीड़ की विशेषताएँ (Characteristics of Crowd)

भीड़ की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

भीड़ का एक अभिलक्षण शारीरिक उपस्थिति (physical presence) है। ऐसी शारीरिक उपस्थिति के अभाव में भीड़ दिखाई नहीं दे सकती। भीड़ के आकार की सीमा वहीं तक सीमित है, जहाँ तक आँखें देख सकती हैं और कान सुन सकते हैं। भीड़ के लिये पर्याप्त संख्या का होना जरूरी है। दो-चार व्यक्तियों के संग्रह को भीड़ नहीं कहा जा सकता। चूँकि लोग लम्बे समय तक शारीरिक रूप से इकट्ठे नहीं रह सकते, अतः भीड़ एक अस्थायी समूह होती है। यह क्षणिक होती है, जो किसी क्षण बन जाती है तथा इसका उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर तुरन्त समाप्त हो जाता है। भीड़ असंगठित होती है। इसका एक नेता हो सकता है, परन्तु इसमें कोई श्रम-विभाजन नहीं होता। यह अनियंत्रित होती है। भीड़ में प्रत्येक की स्थिति समान होती है। भीड़ के सदस्यों के रूप में सभी व्यक्ति समान होते हैं, क्योंकि इसका कोई संगठन नहीं होता, जो व्यक्तिगत भिन्नताओं का उपयोग कर सके।

इसके अतिरिक्त, भीड़ की निम्नलिखित विशेषताओं पर भी ध्यान दिया जा सकता है—

(i) अनामिका (Anonymity)—भीड़ अनामिक होती हैं, क्योंकि एक तो उनका आकार बड़ा होता है तथा दूसरे वे अस्थायी होती हैं। भीड़ के सदस्य एक-दूसरे को नहीं जानते। वे दूसरे सदस्यों पर व्यक्तिगत रूप में कोई ध्यान नहीं देते। भीड़ में व्यक्ति ऐसे व्यवहार को करने के लिये स्वतंत्र होता है, जिसे वह साधारणतया नहीं करेगा। भीड़ में नैतिक उत्तरदायित्व व्यक्ति से उठकर भीड़ पर आ जाता है।

(ii) सकुचित दृष्टि (Narrow attention)—भीड़ में विशाल दृष्टि का अभाव होता है। इसका ध्यान एक ही समय में एक या दो वस्तुओं पर ही केन्द्रित रहता है। इसमें तर्क का कोई स्थान नहीं होता तथा यह बड़ी सरलता से सवेग में बह जाती है। भीड़ के सदस्यो पर चतुर भाषण-कला का चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। भीड का नेता बड़ी चतुराई से बड़े-बड़े शब्दों के प्रयोग द्वारा ऐसा चित्र उपस्थित करता है, जो प्रभावी भावना के रंगों मे वास्तविक प्रतीत होता है।

(iii) सुझाव-ग्रहणशीलता (Suggestibility)—भीड़ के सदस्य कोई तर्क सुनने को तैयार नहीं होते। वे अपने विचारो का विरोध सहन नहीं करते। कोई भी विरोध उनके क्रोध को भड़का देता है। वे आँख बन्द करके ऐसे किस्से-कहानियाँ सुनते हैं, जो उनके मन को भाते हैं तथा खुल्लम-खुल्ला ऐसे सुझाव को अस्वीकृत कर देते हैं, जो उनके विचार के विपरीत हों। सुझाव की यह शक्ति अनेक स्थितियों में सम्मोहन (hypnosis) का काम करती है। यही कारण है कि भीड़ जब किसी गलत कार्य को करने पर ठनी हुई हो तो उसे भिन्न दिशा मे मोड़ना कठिन होता है। बड़े ध्यान तथा विचारपूर्ण कदम द्वारा ही भीड़ को गलत दिशा की ओर बढ़ने से रोका जा सकता है।

(iv) विश्वासशीलता (Credulity)—सुझाव ग्रहण करने की क्षमता बढ़ने के साथ-साथ भीड़ की विश्वासशीलता भी बढ़ जाती है। रास (Ross) के अनुसार, "भीड़ में तार्किक विश्लेषण और परीक्षण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। जिन शक्तियों में हम संदेह करते हैं, वे सो जाती हैं।"[1]

(v) निम्न मानसिक स्तर (Low mental level)—भीड़ के विचार विशाल अथवा गहन नहीं होते। इसके सदस्य भावुकता से भरे होते हैं। उन्हें दूसरों की दलील मे कोई तर्क दिखाई नहीं देता। भीड़ से बात करके कुछ भी करवाया जा सकता है। भीड़ में व्यक्ति की संकल्प-शक्ति का लोप हो जाता है। ऐसा भीड़ के निम्न बौद्धिक स्तर के कारण होता है।

(vi) भावुकता (Emotionality)—भीड़ के सदस्य बड़े आवेश मे होते हैं। वे केवल संवेगात्मक स्थिति पर ही उत्तेजित नही होते, अपितु भीड़ के अन्य सदस्यों के संवेगो का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। भीड़ के कुछेक सदस्य केवल इसलिए उत्तेजित हो जाते हैं, क्योंकि दूसरे लोग उत्तेजित होते हैं। ये अन्य लोग और अधिक उत्तेजित हो उठते हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती लोग उत्तेजित हैं। इस प्रकार भीड़ का ऐसा अन्तःउत्तेजनात्मक व्यवहार भीड़ के व्यवहार को भयानक स्थिति तक पहुँचा देता है। व्यक्ति कुछ समय के लिये 'भीड़ की भावना मे खो जाता है और बड़ी उत्तेजना से कार्यरत रहता है।' भीड़ के सदस्यों को यह भी ज्ञान नही रहता कि वे क्या कर रहे हैं। बर्नार्ड (Bernard) के शब्दों में "आम तौर से कोई तीव्र संवेग या जिज्ञासा की प्रवृत्ति भीड़ को संगठित करती है।" वह किस वक्त क्या कर बैठे, इसका कुछ पता नहीं रहता। रास (Boss) ने लिखा है, "एक क्षण मे इसका नेता अगले क्षण में इसका शिकार बन सकता है।"[2]

(vii) अनुत्तरदायित्व (Irresponsibility)—उत्तरदायित्व की दृष्टि से भीड़ के सदस्यों में इसका अभाव होता है। जब आतंक और घृणा उन पर छाये होते हैं तो वे अत्यधिक निर्लज्जता के कार्य करते हैं जिन पर बाद में वे स्वयं पछताते है। कार्यरत भीड़ बड़ी भयानक हो सकती है। लेबान (Lebon) ने लिखा है, "उत्तरदायित्व की भावना जो सदैव व्यक्तियों को नियंत्रित रखती है, भीड़ में पूर्णतया लुप्त हो जाती है।" सामाजिकता के अर्थ को ऐसे तोड़ा-मरोड़ा जाता है कि वह ऐसे व्यवहार की भी स्वीकृति दे देती है, जिसकी संस्कृति में मनाही होती है। कालेज-विद्यार्थी साधारणतया मोटर-गाड़ियों को आग नही लगाते और न टेलीफोन के खम्भों को उखाड़ते हैं, परन्तु हड़ताल में वे ऐसा करते हैं। भीड़ का व्यवहार सामान्य व्यवहार से भिन्न होता है, जिसका क्षणिक समर्थन भीड़ के सदस्यो द्वारा किया जाता है, जिससे व्यक्ति के ऐसे कार्यों, जो दैनिक जीवन में वर्जित होते हैं, को क्षणिक सामाजिक संतुष्टि प्राप्त हो जाती है। आवेश की स्थिति मे क्रांतिकारियों द्वारा किये गये खून उनकी मानसिक एवं नैतिक शक्तियों की कुंठा के द्योतक हैं। "अनामिकता के आवरण

1. "Rational analysis and test are out of question. The faculties we doubt with, are asleep."—Ross, E. A., *Social Psychology*, p. 55.

2. *Ibid.*

से डरे हुए लोग अपनी भावनाओं को खुली छूट देने में स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं।"[1] बर्नार्ड (Bernard) के शब्दों में "वे निम्न पशुओं के झुण्डों और रेवड़ों से अधिक मिलते-जुलते हैं।"[2] मैक्डूगल (McDougall) ने लिखा है, "भीड़ अत्यन्त संवेगात्मक, आतुर, अस्थिर, असंगठित, अनिश्चित तथा कार्य करने में अतिवादी, निम्न संवेगों तथा अपरिमार्जित भावनाओं को प्रदर्शित करने वाली, संकेत ग्रहण करने में तेज, विचार-विमर्श में उदासीन, निर्णय लेने में जल्दबाज, सुगम तथा अपूर्ण तर्कों को छोड़कर अन्य तर्क करने में असमर्थ, सरलता से बहकाई जाने वाली, आत्म-चेतना से रहित, आत्म-सम्मान तथा उत्तरदायित्व की भावना से हीन और अपनी शक्ति की चेतना में बह जाने वाली होती है। अतः उसका व्यवहार एक चपल बालक या एक विचित्र परिस्थिति में एक अनुशासनहीन उत्तेजित जंगली व्यक्ति और सबसे बुरी हालत में एक जंगली पशु के समान होता है।"[3]

भीड़ श्रोता-समूह (audience), जनता (public), जन-समूह (mass) तथा सभा (assembty) के बीच अन्तर को भी समझ लेना ठीक होगा। श्रोता-समूह संस्थागत भीड़ का एक रूप है। यह कुछ निश्चित नियमों एवं आचरण के मान्य प्रतिमान का अनुसरण करता है। भीड़ संगठित नहीं होती, जबकि श्रोता-समूह संगठित होता है। भीड़ संवेगों से चालित होती है, जबकि श्रोता-समूह विवेकशील होता है। भीड़ का व्यवहार नियमों पर आधारित नहीं होता।

जनता (public) वार्तालाप के सामान्य जगत् में विचरित व्यक्तियों का संग्रह है, जो किसी समस्या अथवा मूल्य से परेशान हैं, जिनके विचार उस समस्या के समाधान अथवा मूल्य के अंकन के बारे में भिन्न हैं और जो विचार-विमर्श में व्यस्त हैं।[4] किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "जनता एक बिखरा हुआ और व्यक्तियों का अस्थायी समूह है जिसकी एक सीधी और सामान्य रुचि होती है।"[5] गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "उन व्यक्तियों के असंगठित एवं आकार-हीन एकत्रीकरण को जनता की संज्ञा दी जाती है, जो समान विचारों और समान इच्छाओं द्वारा एक-दूसरे से बँधे होते हैं, लेकिन जो संख्या मे इतने अधिक होते हैं कि उनके लिये परस्पर व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाये रखना सम्भव नहीं होता।"[6] भीड़ में शारीरिक निकटता का होना जरूरी है, परन्तु जनता के लिये शारीरिक निकटता जरूरी नहीं है। भीड़ में विवेक का अभाव होता है, परन्तु जनता में बुद्धि और विवेक सबसे प्रबल होती है। जनता उद्वेगों में नहीं बहती। वह भीड़ के समान अनैतिक और आक्रामक नहीं बनती।

"जनसमूह (mass) व्यक्तियों का एक अज्ञात समूह है, जो एक-दूसरे से शारीरिक रूप से पृथक् हैं, जिनमें कोई प्रत्यक्ष अन्तःक्रिया अथवा अनुभव का आदान-

1. Ross, E. A., *Social Psychologp*, p. 46.
2. Bernard, L. L., *An Introduction to Social Psychology*, p. 458.
3. McDougall, *The Group Mind*, p. 78.
4. "Public is an aggregation of persons, moving in a common universe ... by an issue or a value, divided in their opinions regard... the value and engaging in discu...
5. ... 45.
6. ... *Society*, p. 137.

प्रदान नहीं होता, जो सामूहिक रूप में क्रिया करने में असमर्थ हैं, परन्तु प्रतीक एवं रूढ़ियाँ उत्पन्न करने में समर्थ हैं और जो स्थानीय समूहों की भीड़ अथवा श्रोता-समूह में बदल सकती हैं।"[1] इस प्रकार, भीड़ में शारीरिक समीपता होती है, जबकि जन-समूह शारीरिक रूप से पृथक् होता है। जन-समूह में कोई प्रत्यक्ष अन्तःक्रिया नहीं होती। यह भीड़ अथवा श्रोता-समूह का रूप धारण करके ही अन्तःक्रिया के समर्थ होती है।

सभा (assembly) वार्तालाप के सामान्य जगत् में विचरित तथा किसी सामान्य हित से प्रेरित व्यक्तियों की अस्थायी समिति है, जिन्हें प्राप्त किये जाने वाले मूल्य की निश्चित सामूहिक चेतना है।[2]

इस प्रकार, भीड़ अवांछनीय विशेषताओं को प्रदर्शित करती है, यथा सकुचित दृष्टिकोण, सकेत-ग्रहणीयता, संवेगात्मकता एवं अनुत्तरदायित्व। इसका कोई स्थायी संगठन नहीं होता, अतएव इसकी अपनी कोई संस्कृति अथवा परम्परा भी नहीं होती। सकेत-ग्रहणीयता एवं अपूर्व कथनीयता के कारण इसका स्वयं पर कोई आत्म-नियंत्रण नहीं होता। सामाजिक आदर्श-नियम भीड़ के निर्माण को रोकने का प्रयत्न करते हैं। विद्रोह, आन्दोलनों, झगड़ों, आतंकों के विरुद्ध पूर्वप्रबन्ध किये जाते हैं। भीड़ के विषय में तो थोड़ी-सी सावधानी अत्यधिक मूल्यवान् है, क्योंकि यदि भीड़ एक बार शुरू हो गयी तो यह विनाश की ऐसी शक्तिशाली स्रोत बन सकती है, जिसे रोका नहीं जा सकता है। सामान्य धारणा यही है कि भीड़ निर्माणकारी होने की अपेक्षा ध्वंसात्मक होती है, जो अच्छे-भले सामान्य व्यक्ति को पशु बना देती है। इसका संवेगात्मक स्वरूप तथा संगठन एवं आंतरिक नियन्त्रण का अभाव इसे कोई प्रशंसनीय उपलब्धि के अयोग्य बना देते हैं। यह निर्माण करने की अपेक्षा सरलता से विनाश कर सकती है। संक्षेपतः, भीड़ एक अवांछनीय सामाजिक घटना-वस्तु, व्यवस्थित समाज में एक अराजक तत्व समझी जाती है।

यद्यपि भीड़ अवांछनीय समझी जाती है, तथापि यह समाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मार्टिन (Martin) ने भीड़ की अवस्था को इसके सदस्यों की दबी हुई प्रत्याशाओं की मुक्ति का साधन एवं अवसर बतलाया है। साधारणतया भीड़ का निर्माण उस अवस्था में होता है, जब कुछेक व्यक्तियों की दबी हुई भाव-नाओं एवं इच्छाओं को अभिव्यक्ति का यथेष्ट मार्ग प्राप्त नहीं होता। जब अभि-व्यक्ति के सामान्य द्वार बंद हो जाते हैं तो लोग भीड़ का रूप धारण कर लेते हैं तथा विनाशकारी कार्यों में लग जाते हैं। प्रत्येक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था

---

1. "M... [illegible] ...viduals, physically separated or exchange of experience, ...ng symbols and stereotypes ...ito crowds or audiences."—

2. *Ibid.*, p. 138.

भीड़ की स्थिति के बारे में निरन्तर योजना बनाती रहती है। भीड़ की चक्रवत् अनुक्रिया एवं इसका तीव्र आवेश समूह-मूल्यों एवं पारस्परिक आदर्श-नियमों, जिनके सहारे समाज जीवित है, को धीरे-धीरे उतारने के लिये अत्यधिक प्रभावी साधन है। धर्म, राजनीतिक दल, सरकारें एवं महाविधालय व्यक्तियों अथवा विद्यार्थियों पर अपना काबू बनाये रखने के लिये भीड़ की स्थिति का प्रयोग करते हैं। सही स्थिति में भीड़ लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

३. भीड़ के प्रकार
(Kinds of Crowd)

लीबान (Lebon) ने भीड़ को दो श्रेणियों में विभक्त किया है, समजातीय (homogeneous) तथा विषमजातीय (heterogeneous)। विषमजातीय भीड़ अनाम, यथा सड़क पर खड़ी भीड़ अथवा ज्ञात जैसे संसदीय सभा हो सकती है, समजातीय भीड़ जातियाँ, वर्ग (classes) अथवा संप्रदाय (sects) हो सकती हैं।

ब्लूमर (Blumer) ने भीड़ को चार श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—

(i) आकस्मिक भीड़, (ii) परम्परागत भीड़, (iii) प्रदर्शनकारी भीड़ तथा क्रियाशील-भीड़।

सामान्य रुप से भीड़ को दो वर्गों में विभाजित किया जाता है—

(i) क्रियाशील (active) भीड़, तथा (ii) निष्क्रिय (inactive) भीड़।

क्रियाशील भीड़ (Active Crowd)

किम्बाल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "सक्रिय भीड़ व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो ध्यान के सामान्य केन्द्र के साथ कुछ अन्तर्निहित अभिवृत्तियों, उद्वेगों और क्रियाओं को प्रकट करते हैं। यह आकस्मिक एवं क्षणिक होती है। यह किसी सामान्य अभिप्राय से प्रेरित होती है तथा अपने सामान्य लक्ष्य की पूर्ति के लिये समान ढंग से व्यवहार करती है। उदाहरणतया, जब विद्यार्थी उपकुलपति के कार्यालय के सामने इकट्ठा हो जाते हैं, एवं परीक्षा में अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों को अगली कक्षा में पदोन्नति करने की माँग करते हैं तथा उनके कार्यालय पर पत्थर फेंकना आरम्भ कर देते हैं तो यह एक ऐसी भीड़ है जो समान अभिप्राय से प्रेरित होकर क्रियारत है एवं समान लक्ष्य की ओर समान प्रकार के व्यवहार को प्रदर्शित करती है।

क्रियाशील भीड़ चार प्रकार की हो सकती है—

(i) आक्रामक भीड़ (aggressive crowd)
(ii) भयग्रस्त भीड़ (panicky crowd)

(iii) अर्जनशील भीड़ (acquisitive crowd)

(iv) प्रदर्शनकारी भीड़ (expressive crowd)

(१) आक्रामक भीड़ (Aggressive crowd)—आक्रामक भीड़, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, आक्रामक अवस्था में आये हुए लोग हैं, जो कोई भी विनाश एवं पशुता के कार्य कर सकते हैं। यह आग लगा सकती है, खून कर सकती है, मार-पिटाई कर सकती है, बलात्कार कर सकती है। वातावरण बड़ा उत्तेजनापूर्ण होता है। ऐसी भीड़ के सदस्य विवेक अथवा औचित्य की भावना को पूर्णतया खो देते हैं। उन्हें भले-बुरे का कोई ज्ञान नहीं रहता। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय स्वतन्त्रता-योद्धाओं ने कभी-कभी पुलिस चौकियों को आग लगाकर, सरकारी दूकानों को लूटकर तथा सरकारी भवनों को गिराकर आक्रामक भीड़ का रूप धारण किया। भारत-विभाजन के समय आक्रामक भीड़ [illegible] थी। हिन्दू-मुसलमान दंगों में मकानों को आग लगायी गयी, बच्चों को जीवित जला दिया गया तथा स्त्रियों पर अमानवीय अत्याचार किये गये। आक्रामक भीड़ के मुख्य लक्षण निम्न-लिखित हैं—

(i) तीव्र संवेगशीलता (Intense emotionality)—आक्रामक भीड़ में तीव्र संवेगशीलता होती है। सभी लोग गहनतम उत्तेजक अवस्था में होते हैं। ऐसी भीड़ में लोग जोर से चिल्लाते दिखाई देते है। "मारो-पीटो-पकड़ो, भागने न पाये, आग लगा दो, उठाकर पटक दो, आदि शब्द खूब बोले जाते हैं। कोई किसी की पिटाई कर रहा होता है तो दूसरा किसी के पीछे भाग रहा होता है।

(ii) संकेत-ग्रहणीयता (Suggestibility)—आक्रामक भीड़ में व्यक्ति के विवेक का ह्रास हो जाता है। प्रत्येक एक-दूसरे का अनुकरण करता है। मुट्ठी भर लोग चतुर साधनों से सैंकड़ों व्यक्तियों के विवेक को कुंठित कर देते हैं, जिन्हें अपने कार्यों के 'क्यों' और 'क्या' का ज्ञान तक नहीं होता। एक साधारण-सी घटना यूँ हो सकती है। कोई विद्यार्थी किसी दूकानदार की बाइसिकिल से सड़क पर टकरा जाता है। वे एक-दूसरे को गाली देना आरम्भ कर देते हैं। गुजरने वाले व्यक्ति उनके शाब्दिक झगड़े को देखने के लिये खड़े हो जाते हैं। कुछ ही समय बाद अन्य विद्यार्थी घटना-स्थल पर पहुँच जाते हैं तथा दूकानदार की पिटाई शुरू कर देते हैं। निकटवर्ती लोग भीड़ की ओर भागते हैं। भीड़ बढ जाती है, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति उत्तेजित है तथा पिटाई में व्यस्त है। शायद ही किसी व्यक्ति ने विद्यार्थी की साइकिल से टक्कर होती देखी हो। उन्हें ज्ञात नहीं होता कि यह मार-पिटाई क्यों हो रही थी। इस सारी घटना का कारण संकेत-ग्रहणीयता है।

(iii) अफवाह का प्रभाव (Influence of rumour)—कभी-कभी लोग किसी अफवाह के सुनने पर भीड़ बना लेते हैं। एक सुपरिचित उदाहरण यह अफवाह हो सकती है कि सिनेमाघर पर किसी विद्यार्थी की पुलिस के सिपाही ने पिटाई कर दी है। कुछ ही क्षणों में अनेक विद्यार्थी इकट्ठे हो जाते हैं, जो क्रोधित अवस्था मे होते हैं तथा तुरन्त किसी विवेक का प्रयोग किये बिना सिनेमाघर की ओर चल देते हैं। वे चौराहे पर सिपाही को यातायात संचालित करते देखते हैं, जिसे पकड़ कर

वे उसकी पिटाई कर देते हैं, यद्यपि उस अबोध सिपाही का घटना से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे सिनेमाघर पहुँचते हैं, परन्तु वहाँ पर न तो कोई विद्यार्थी मिलता है और न कोई सिपाही। इस उदाहरण में किसी भी व्यक्ति ने उस अफवाह की सत्यता का पता लगाने तक का कष्ट नहीं किया।

(iv) अनुकरण की प्रवृत्ति (Tendency of imitation)—आक्रामक भीड़ में सदस्य एक-दूसरे के व्यवहार का अनुकरण करते हैं तथा विवेक-शक्ति का तनिक प्रयोग नहीं करते।

(v) समान व्यवहार (Similar behaviour)—आक्रामक भीड़ के सदस्यों का व्यवहार समान होता है। वे दूसरे पक्ष के तर्कों को सुनने के लिये तैयार नहीं होते। घटना की वास्तविकता का पता लगाने में भी उनकी कोई रुचि नहीं होती। जो कुछ उनके दिमाग में समा गया है, उसे तर्कों एवं विवेक द्वारा निकाल देना कठिन होता है। वे अपना उद्देश्य प्राप्त करने पर कटिबद्ध होते हैं।

(vi) निम्न शैक्षिक स्तर (Low educational level)—आक्रामक भीड़ में साधारणतया ऐसे व्यक्ति सदस्य होते हैं, जो अशिक्षित होते हैं अथवा उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं होते। श्रमिकों, रिक्शाचालकों, नौकरों आदि जैसे व्यक्तियों में सरलता से आक्रामक मानसिक अवस्था उत्पन्न की जा सकती है। विद्यार्थियों की आक्रामक भीड़ में भी अधिक सक्रिय नेता ऐसे विद्यार्थी होते हैं, जिन्हें अध्ययन में रुचि नहीं होती। बुद्धिमान एवं गंभीर विद्यार्थी कदाचित् ही आक्रामक भीड़ के सदस्य होते हैं।

(vii) नेता का महत्त्व (Importance of leader)—आक्रामक भीड़ में नेता सदस्यों की भावना को भड़काने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वह उन्हें अपने शब्दों एवं संकेतों से उत्तेजित करता है। वह आक्रमण करने वाला प्रथम व्यक्ति होता है तथा भीड़ को आक्रमण करने का आह्वान करता है। वह उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिसका भीड़ अनुसरण करती है। वह सदस्यों पर चामत्कारिक प्रभाव डालता है।

(२) भयग्रस्त भीड़ (Panicky crowd)—भयग्रस्त भीड़ एक ऐसी भीड़ है, जिसके सदस्य भयभीत होकर अपनी जान बचाने के लिये इधर-उधर भाग रहे हैं। युद्धकाल में भयग्रस्त भीड़ आमतौर से देखी जा सकती है। भयग्रस्त भीड़ में प्रत्येक सदस्य को संकट का ज्ञान होता है। उनमें भय की भावना होती है, जो संक्रामक रोग की तरह फैल जाती है। संक्षेपतः भयग्रस्त भीड़ के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

(i) यह भयग्रस्त होती है;
(ii) इसमें संकट की भावना व्याप्त होती है;
(iii) इसके सदस्यों में भागने की प्रवृत्ति होती है;
(iv) इसका कोई नेता नहीं होता है;
(v) इसमें उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है;

(vi) यह विवेकहीन एवं संवेगात्मक समूह होता है।

भयग्रस्त भीड़ तथा आक्रामक भीड़ में निम्नलिखित अन्तर हैं—

(i) आक्रामक भीड़ में सदस्य उत्तेजित होते हैं, जबकि भयग्रस्त भीड़ में वे भयग्रस्त होते हैं।

(ii) आक्रामक भीड़ के सदस्य विनाश की ओर प्रवृत्त होते हैं, जबकि भयग्रस्त भीड़ के सदस्य अपनी जान बचाने का प्रयत्न करते हैं।

(iii) आक्रामक भीड़ मे नेता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, परन्तु भयग्रस्त भीड़ में किसी को नेता की, यदि कोई है, कोई चिंता नही होती।

(३) अर्जनशील भीड़ (Acquisitive crowd)—अर्जनशील भीड़ के सदस्यों का उद्देश्य किसी वस्तु को अर्जित या प्राप्त करना होता है। सिनेमाघर की टिकट-खिड़की पर टिकट लेने वालो की भीड़, राशन की दूकान पर चीनी खरीदने वालों की भीड़ अर्जनशील भीड़ के उदाहरण हैं। इस प्रकार, अर्जनशील भीड़ ऐसे व्यक्तियों की भीड़ है जिसका उद्देश्य किसी वस्तु को प्राप्त करना होता है।

(४) प्रदर्शनकारी भीड़ (Expressive crowd)—प्रदर्शनकारी भीड़ में व्यक्ति अपनी माँगों अथवा भावनाओं का प्रदर्शन अथवा अभिव्यजन करने के लिये इकट्ठा होते हैं। एक परिचित उदाहरण विद्यालयों का है। परीक्षा में प्रश्नपत्र कठिन आया तो विद्यार्थी परीक्षा भवन से उठ आये और प्राचार्य के कार्यालय के सामने इकट्ठा हो गये तथा प्रश्नपत्र को दोबारा बनाये जाने की एवं परीक्षा को स्थगित करने की माँग पेश की। प्रदर्शनकारी भीड़ की मुख्य रुचि विनाश में न होकर अपनी शिकायतों की अभिव्यंजना में होती है। प्रदर्शनकारी भीड़ आक्रामक भीड़ का रूप धारण कर सकती है, यदि इसे हिंसात्मक साधनों द्वारा तितर-बितर करने का प्रयत्न किया जाय।

निष्क्रिय भीड़ (Inactive Crowd)

निष्क्रिय भीड़ साधारणतया श्रोता-समूह होती है, जो किसी शांतिपूर्ण उद्देश्य हेतु० यथा कोई सूचना प्राप्त करने अथवा धार्मिक प्रवचन सुनने के लिये इकट्ठा होती है। निष्क्रिय भीड़ की क्रियाओं में एक-दो घंटों के बाद भी कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं देता, जबकि आक्रामक भीड़ में परिवर्तन मिनट-मिनट में देखे जा सकते हैं। सक्रिय तथा निष्क्रिय भीड़ में अन्तर केवल सापेक्ष है। सक्रिय भीड़ कुछ अधिक क्रियाशील होती है, जबकि निष्क्रिय भीड़ सापेक्षतया निष्क्रिय होती है। निष्क्रिय भीड़ को (i) ज्ञानार्जनशील भीड़ (information seeking crowd), (ii) मनोरजनात्मक भीड़ (recreational crowd), (iii) धर्म-परिवर्तन-सम्बन्धी भीड़ (conversional crowd) तथा (iv) पदगामी भीड़ (pedestrian) में वर्गीकृत किया जा सकता है।

८. भीड़ व्यवहार के सिद्धान्त
(Theories of Crowd Behaviour)

यद्यपि इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भीड़ में रचनात्मक कार्यों को करने का सामर्थ्य होता है, परन्तु इसके विध्वंसात्मक स्वरूप ने ही समाजशास्त्रियों एवं मनोविज्ञानियों के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित किया है। भीड़ में व्यक्तियों का व्यवहार उनके साधारण व्यवहार से भिन्न क्यों होता है, इसकी व्याख्या अनेक सिद्धान्तों द्वारा की गई है। संक्षेप में, भीड़-व्यवहार के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) समूह-मन सिद्धान्त (Group-mind theory)—समूह-मन सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति भीड़ में अपना व्यक्तित्व खो देता है और भीड़ का एक अंग बन जाता है, जिसमे भीड़ चेतना का स्वतन्त्र रूप से विकास होता है। भीड़-चेतना व्यक्ति की चेतना को समेट लेती है। भीड़ के सदस्य भीड़-चेतना के भागी होते हैं, जो भीड़ द्वारा प्रदत्त उत्प्रेरणा के अनुसार कार्य करते हैं। व्यक्ति की मानसिकता का अवैयक्तीकरण हो जाता है और वह संवेगात्मक स्तर पर कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। यह संवेगात्मक स्तर सभी सदस्यों का सामान्य स्तर होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, भीड़ इतनी समस्वरित हो जाती है कि वह केवल उन अभ्यर्थनाओं, नारों, विचारों जो अवैयक्तिक मानसिकता के अनुरूप है, के प्रति ही अनुक्रिया करती है। समूह-मन, जो समूह के सदस्यों के मनो का योग नही है, एक विशिष्ट प्रकार का मन है, जो भिन्न स्तरो पर कार्य करता है। इसकी कार्य-रीति संवेगों, अपीलों, सुझावों एवं नारों पर आधारित होती है। इसके कार्य विवेकी कम, संवेगात्मक अधिक होते हैं। इसका किसी तात्कालिक उद्देश्य पर ध्यान केन्द्रित होता है तथा यह अनुत्तरदायी मन होता है। इसका मानसिक स्तर काफी निम्न होता है। यह शीघ्र ही उत्तेजक हो जाता है तथा सम्मोहक रीति से कार्य करता है। यही कारण है कि व्यक्ति भीड़ के सदस्यों के रूप मे अत्यधिक तर्कहीन कार्य करते है, जो वे अन्यथा वैयक्तिक रूप मे नही करते।

समूह-मन सिद्धान्त का प्रतिपादन लीबान (Lebon), एस्पीनाज (Espinas), ट्राटर (Trotter), मैक्डूगल (McDougall) एवं अल्पोर्ट (Allport) ने किया है। उनके संक्षिप्त विचार निम्नलिखित है—

लीबान का सिद्धान्त (Lebon's Theory)—लीबान सर्वप्रथम लेखक था, जिसने १८९२ में समूह-मन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपनी पुस्तक 'Crowds' मे उसने लिखा है, "भीड़ के समस्त व्यक्तियों के उद्वेग एवं विचार एक ही दिशा में बहने लगते हैं और उन व्यक्तियों का जागरूक व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। एक सामूहिक मन का निर्माण हो जाता है, जो निस्संदेह ही अस्थिर होता है, परन्तु निश्चित एवं स्पष्ट विशेषताओं को प्रस्तुत करता है।"[1] इस प्रकार लीबान

---

1. "The sentiments and ideas of all the persons in the gathering take one and the same direction and their conscious personality vanishes. A collective mind is formed, doubtless transitory but presenting very clearly defined characteristics."—Lebon, the *Crowd*, p. 1.

के अनुसार, समूह में व्यक्ति वैयक्तिक रूप में क्रियाशील नहीं होता, अपितु समूह-मन के माध्यम द्वारा विचार करते हैं, अनुभव करते हैं तथा कार्य करते हैं। जब व्यक्ति भीड़ में इकट्ठा हो जाते हैं तो उनके व्यक्तिगत मन सामूहिक मन का अंग बन जाते हैं। सामूहिक मन अपने ही ढंग से सोचता है तथा अपने विचारों एवं धारणाओं का स्वयं निर्माण करता है जिनका निर्माण व्यक्तिगत मन व्यक्तिगत रूप से नहीं करते। भीड़ में व्यक्ति का मन इस ढंग से कार्य करता है, जिस ढंग से वह स्वतन्त्र रूप में नहीं करेगा।

लीबान ने अचेतन अभिप्रेरणाओं पर अधिक बल दिया है। उसके अनुसार, भीड़ में अचेतन अभिप्रेणायें अधिक क्रियाशील हो उठती हैं। व्यक्ति इन अचेतन अभिप्रेरणाओं से प्रभावित होता है, जबकि उसकी अचेतन अभिप्रेरणा पृष्ठभूमि मे दब जाती है। समूह में व्यक्ति को अजेय शक्ति की भावना मिलती है, अतएव वह अपनी सहज कामुकताओ की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। लीबान ने लिखा है, "केवल यह तथ्य कि वह संगठित समूह का सदस्य है, मनुष्य सभ्यता की सीढी में कई पग नीचे उतर आता है। अकेला वह सभ्य प्राणी हो सकता है, परन्तु भीड़ में वह एक जंगली पशु, वृत्तियों के अधीन, बन जाता है। उसमे सहजता, हिंसा, रौद्र तथा आदिम व्यक्ति की वीरता एवं उसका उत्साह भी होता है।"[1]

एस्पीनाज का सिद्धान्त (Espina's theory)—एस्पीनाज एक फ्रेंच दार्शनिक एवं जीवशास्त्र का मान्य लेखक था। उसके द्वारा प्रस्तुत समूह-मन सिद्धान्त जैविक अवधारणाओं की अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार, जिस प्रकार मनुष्य में उसके शरीर के विभिन्न कोष्ठ (cells) मिलकर चेतना का निर्माण करते हैं, ठीक उसी प्रकार समाज मे सामूहिक चेतना का निर्माण अनेक व्यक्तिगत चेतनाओं को मिलाकर होता है। इस प्रकार, एस्पीनाज सामूहिक मन को सामाजिक चेतना कहता है। उसके अनुसार, प्रत्येक समूह में आत्मचेतना होती है और यही कारण है कि जब इसकी संस्कृति पर बाहर से आक्रमण होता है तो वह उसके विरुद्ध आवाज उठाती है।

ट्राटर का सिद्धान्त (Trotter's theory)—ट्राटर ने मनुष्य के सामाजिक व्यवहार की व्याख्या झुंडवृत्ति के आधार पर की है। उसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति में समूहप्रियता की वृत्ति होती है। यह समूहप्रियता उसकी मानसिक व्यवस्था को क्रियाशील बनाती है जिसके परिणामस्वरूप वह समूह के आदेश को बिना किसी तर्क के स्वीकार कर लेता है, तथा ऐसे आदेश के अनुसार कार्य करता है। चूंकि मनुष्य समूह मे रहना चाहता है, अतएव वह समूह को अप्रसन्न करने वाला कोई कार्य नही करता। तदनुसार उसका सामाजिक व्यवहार झुण्ड-प्रवृत्ति की उपज होता है।

दुर्खीम का सिद्धान्त (Durkheim's theory)—दुर्खीम ने समूह-व्यवहार की व्याख्या सामूहिक चेतना के आधार पर करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार, जब व्यक्ति समूह मे इकट्ठे होते हैं तो विचारों के आदान-प्रदान से सामूहिक चेतना का निर्माण हो जाता है। मस्तिष्क चेतना के प्रवाह का ही एक दूसरा नाम है। जब अनेक मस्तिष्क इकट्ठे होते हैं तो एक मस्तिष्क से दूसरे मे चेतना का प्रवाह

1. Lebon, *The Crowd : A Study of the Popular Mind*, p 36.

होता है। इस प्रवाह के परिणामस्वरूप, एक सामाजिक चेतना का निर्माण होता है, जो विभिन्न व्यक्तियों की चेतना का संग्रह मात्र नहीं होता। जिस प्रकार एक रासायनिक योग अनेक तत्वों का समूह होता है, परन्तु इसके गुण इसके विभिन्न तत्वों के गुणों से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक चेतना विभिन्न व्यक्तिगत चेतनाओं का योग होता है, परन्तु इसके गुण व्यक्तियों की चेतना से भिन्न होते हैं। दुर्खीम के अनुसार, सामाजिक चेतना व्यक्तिगत चेतना की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं विशाल होती है।

मैक्डूगल का सिद्धान्त (McDougall's theory)—मैक्डूगल ने एस्पीनाज एवं दुर्खीम द्वारा प्रतिपादित सामूहिक चेतना के सिद्धान्तों की आलोचना की है तथा इसके स्थान पर समूह-मन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मैक्डूगल के अनुसार, प्रत्येक समूह का अपना मन होता है। समूह-मन समूह के सभी सदस्य व्यक्तियों के मनों का संग्रह मात्र नहीं होता। समूह-मन में व्यक्तियों के मनों को प्रभावित करने की शक्ति होती है। समूह-मन की इस शक्ति के कारण ही व्यक्ति की विचारधारा, जब वह समूह का सदस्य बनता है, बदल जाती है। समूह मन का मानसिक स्तर निम्न होता है, अतः इसकी विचारधारा भी निम्न एवं संवेगात्मक होती है। यह शीघ्र ही उत्तेजक हो जाता है तथा सम्मोहक ढंग से कार्य करता है।

आलपोर्ट का सिद्धान्त (Allport's theory)—आलपोर्ट के अनुसार, भीड़ में व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक सरलीकरण (social facilitation) तथा अन्तः-उत्तेजना (inter-stimulation) की दो प्रक्रियाओं से प्रभावित होता है। सामाजिक सरलीकरण की प्रक्रिया के कारण सभी व्यक्ति समान ढंग से व्यवहार करते दिखाई देते हैं। समूह के सदस्य एक-दूसरे को अभिप्रेरित करते हैं। इस अन्तः-उत्तेजना के कारण समूह के सदस्य स्वयं को अजेय शक्ति का अधिकारी समझने लगते हैं। सामाजिक सरलीकरण एवं अन्तःउत्तेजना व्यक्तियों की विवेक-शक्ति को कुंठित कर देती हैं तथा उनमें सुझाव-ग्रहणीयता की वृद्धि करती है। परिणामस्वरूप, व्यक्ति इस ढंग से व्यवहार करते हैं, जिस ढंग से वे अकेले नहीं करेंगे। इस प्रकार पारस्पकि उत्तेजना, सामाजिक अन्तःक्रिया, सामाजिक आत्मीकरण, सामाजिक मान्यता, सवेगात्मक परिस्थिति के कारण भीड़ के सदस्य इस प्रकार का व्यवहार करते हैं।

समूह-मन का सिद्धान्त भीड़-व्यवहार के अन्यथा जटिल क्षेत्र की व्याख्या का सरल सिद्धान्त है, परन्तु जैसा मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है, "समूह-मन का प्रभाव उपलब्ध नहीं, जो स्वतन्त्र रूप से अलग रह सकता हो और भीड़ के सदस्यों के मन का नियन्त्रण कर सके।"[1] मैकाइवर इसे केवल एक 'साहित्यिक व्याख्या' मानता है। हम समूह-मन के विषय में केवल इतनी ही कल्पना कर सकते हैं कि यह समूह के सदस्यों का वह मन है जो समान रूप से सोचता है, अनुभव करता

1. MacIver, p. 378.

है और समान प्रतिक्रियाएँ करता है। अनुभूति के केन्द्र केवल व्यक्ति स्वयं हैं। सोचने की प्रक्रिया को मन से अलग नहीं किया जा सकता। समूह में एक मन दूसरे मन से संचार करता है, परन्तु इससे एक मन दूसरा नहीं बन जाता। जब यह कहा जाता है कि भीड़ में व्यक्तियों के मन किसी तात्कालिक हित की प्राप्ति हेतु निकट रूप से समरूप हो जाते हैं तो हम केवल आलङ्कारिक प्रयोग कर रहे होते हैं जिसका अर्थ यह होता है कि हम सभी मिलकर उस हित की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। यह सहयोग अथवा विभिन्न व्यक्तियों के मनों का समायोजन कभी भी ऐसा समन्वय नहीं बन सकता जो अकेले व्यक्ति के कार्यों के समान हो। अतएव भीड़ को मन से सुसज्जित करना, इसे व्यक्ति के मन के समरूप मानना, यद्यपि यह भिन्न स्तरों पर क्रियारत होता है, सामाजिक प्राणी की वैयक्तिकता के प्रति अन्याय है। समूह एक प्राणी नहीं है, अतः उसके पास प्राणी का मस्तिष्क नहीं हो सकता। रेनहार्ट (Reinhart) ने लिखा है, "यह माना जाता है कि कोई भी स्वस्थ मन का व्यक्ति यह विश्वास नहीं करता कि भीड़-मन, महत्वपूर्ण अहं के रूप में वातनाड़ी-मण्डल से भिन्न और पृथक् रूप रखता है।"[1]

तथापि समूह-मन का सिद्धान्त, यद्यपि भीड़-व्यवहार की सही व्याख्या करने मे असफल है, लोकप्रिय रहा है। भीड़ को कर्ता के रूप में मानकर उसे मन से विभूषित करना तथा इसमें व्यक्ति प्राणी के समान लक्षणों को देखना समूह-व्यवहार के अन्यथा जटिल विषय की सरल व्याख्या प्रस्तुत करता है।

(२) फ्रायड का सिद्धान्त (Freudian theory)—मार्टिन तथा फ्रायडवाद के अन्य लेखक भीड़-व्यवहार की व्याख्या अवदमित प्रवृत्तियों की मुक्ति के रूप में करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति के दैनिक जीवन में शक्तिशाली तनावों का विकास होता है, क्योंकि आधुनिक समाज में प्राकृतिक मानवीय मनोवेगों, यथा लैंगिक मनोवेग पर कृत्रिम प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। भीड़ न केवल मनुष्यों की चेतन रूप से अवदमित प्रवृत्तियों, अपितु उन सुप्त व अचेतन इच्छाओं जिन्हें सामाजिक जीवन के अनुशासन ने अवदमित कर दिया है, को भी प्रकाशित करती है। व्यक्ति के भीतर जिसे फ्रायड ने 'सैंसर' (censor) का नाम दिया, भीड़ मे अलग हो जाता है तथा साधारणतया व्यक्तित्व के अभ्यंतर से सम्बन्धित और वहीं तक सीमित प्रवृत्ति या मूल 'इड' (Id) के मनोवेग-सतह पर आ जाते हैं। इस प्रकार भीड़ अवदमित प्रवृत्तियों के लिए एक क्षणिक अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

फ्रायड का सिद्धान्त भीड़-व्यवहार के कुछेक लक्षणों की व्याख्या करने में सहायक अवश्य है, परन्तु यह वास्तविक अनुसंधानों से समर्थित नहीं होता। कभी-कभी भीड़-व्यवहार दैनिक जीवन के सामाजिक नियंत्रणों एवं अवस्थाओं द्वारा अवदमित प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हो सकता है, परन्तु ऐसा सभी भीड़-व्यवहारों के बारे मे नहीं कहा जा सकता। यह मानना गलत है कि सभी भीड़ अप्राकृतिक एवं व्याधिकीय होती

---

1. "It is assumed that no sane individual believes that a mob mind exists as a form of transcendent ego separate and apart from nervous tissue."—James Reinhart, *Social Psychology*, p. 206.

हैं। यदि हम भिन्न समयों पर भीड़ की अभिव्यक्ति की अनेक विविधताओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो हमें ज्ञात होगा कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों तथा भीड़ के विशिष्ट प्रकारों के बीच महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। मेरठ, लखनऊ, लुधियाना एवं इलाहाबाद जैसे बड़े नगरों में नवयुवकों के समूह ग्रामीण क्षेत्रों या छोटे कस्बों की अपेक्षा अधिक उन्मत्त प्रदर्शन क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये नगरीय पर्यावरण की अवस्थायें, उसकी समादिष्टता एवं उसकी अवैयक्तिकता को ध्यान में रखना होगा। दक्षिण में विद्यार्थी-उपद्रव कभी-कभी दिखाई देते हैं, क्यों ?—इसका उत्तर ढूंढने के लिये हमें उस क्षेत्र की संस्कृति पर ध्यान देना होगा। विभिन्न समाजो मे भीड-व्यवहार रुचिकर तुलनाएँ प्रस्तुत करता है। अंग्रेजीभाषी देशों में फ्रास की अपेक्षा प्रहार एवं मार-पीट अधिक संख्या में होते है। फ्रास में उपद्रवी व्यक्तियो पर प्रहार न करके सम्पत्ति का विनाश करते हैं। वहाँ सार्वजनिक भाषण को शांतिपूर्वक सुनने वाला श्रोता-समूह अथवा किसी खेल को देखने वाले दर्शक अचानक किसी आकस्मिक घटना के कारण भीड़ का रूप धारण कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त, भीड़ मे समैक्य (solidarity) का नियम भी पाया जाता है। यह मौलिक सामाजिक मनोवेगों को अभिव्यक्त करती है। भीड़ में उच्च एवं निम्न, धनी एवं निर्धन के भेद समाप्त हो जाते है और सभी सदस्य एक व्यक्ति के रूप में कार्य करते है। फ्रायड का सिद्धान्त भीड़-व्यवहार की इन विशेपताओ की व्याख्या करने में असमर्थ है।

(३) बहुकारक सिद्धान्त (Theory of multiple factors)—अत यह स्पष्ट है कि भीड-व्यवहार के जटिल विषय की कोई सरल व्याख्या नहीं दी जा सकती। भीड पर जादू छाया होता है। यह अपने सदस्यों को इन्द्रजाल की दुनिया मे ले जाती है, जहाँ घटनाएँ निराधार हुआ करती हैं। यह अपने सदस्यो को स्नेह में अविचारशील तथा द्वेप मे क्रूर बना देती है। भीड मे व्यक्ति दूसरे सदस्यो द्वारा प्रदत्त उत्तेजना के प्रति बिना किसी आलोचना के अनुक्रिया करता है। कहा जाता है कि भीड-व्यवहार सीखा जाता है। स्वभाव से व्यक्ति दूसरो की अधिकाशत स्वचालित अनुक्रियाएँ करना सीखता है, विशेपतया उनके प्रति जो सत्ताधारी हैं तथा जिनका वह आदर करता है। बाल्यावस्था से वह अपने मामलों के निर्देशन मे दूसरों के निर्णय पर निर्भर होता है जिसमें वह दूसरो की राय के सम्मुख बहुत अधिक झुक जाता है। वह उनका समर्थन प्राप्त करने के लिये उनके ढंगों एवं इच्छाओं का अनुकरण करता है। इन कारणों से जब वह स्वयं को व्यक्तियो की अनुकूल भीड़ में पाता है जिसमें सभी आवेशमय होते हैं तो वह भी स्वाभाविकतया उत्तेजित हो उठता है। सुझाव हमारी चेतना को विचलित कर देता है। सुझाव का स्रोत जितना ही संभ्रमपूर्ण होगा, विचलन की मात्रा उतनी ही अधिक होगी तथा स्वचालित व्यवहार भी उतना ही अधिक होगा। यदि भीड़ का नेता ऐसा व्यक्ति है जिसकी लोग प्रशंसा करते हैं तो सुझाव के प्रभाव में वृद्धि हो जाती है। भीड़ में व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, उतनी ही अधिक उत्तेजना होगी। इसके अतिरिक्त यदि सुझाव निरन्तर, नियमित एवं अबाध गति से आते हैं तो सुझाव के प्रभाव में और भी अधिक वृद्धि हो जाती है। समूह में अनामिकता व्यक्ति को ऐसा व्यवहार करने की ओर प्रेरित करती है, जिसे वह अकेले नहीं करेगा। रास (Ross) ने

लिखा है, "अनामिकता के आवरण से ढंके होने के कारण व्यक्ति अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में खुली स्वतन्त्रता महसूस करते हैं। भीड़ में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का लोप हो जाता है। भाग लेने वाले व्यक्ति अज्ञात रहते हैं। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता, जिसको प्राधिकारी अपराध के लिये उत्तरदायी ठहरा सके। समूह में व्यक्ति का अवैयक्तीकरण आंतरिक प्रतिबन्ध को कम तथा प्रदर्शनकारी व्यवहार की वृद्धि कर देता है।"[1]

हाँ, यदि सांस्कृतिक प्रभाव शक्तिशाली हों तो व्यक्ति भीड़ का अनुसरण नहीं करेगा। यदि व्यक्ति की आदतें और अभिवृत्तियाँ मूल रूप से भीड़ की आदतों से भिन्न हैं तो वह भीड़ की लहर में नहीं बहेगा। भीड़ ऐसे व्यवहार को कभी नहीं करा सकती, जिसके लिये पूर्व ही स्थापित अभिवृत्तियों एवं आदतों में अनुकूल आधार न हो। यदि सांस्कृतिक निर्देश शक्तिशाली एवं यथेष्ट हैं तो वे सुझाव ग्रहणीयता पर प्रभावी अंकुश सिद्ध होंगे। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, यथा शिक्षा अथवा वैज्ञानिक प्रशिक्षण विवेकहीन एवं अनुत्तरदायी व्यवहार की सम्भावनाओं को कम कर देता है। शिक्षा भीड़ के सक्रामक प्रभाव की सम्भावना को भले ही पूर्ण रूप से समाप्त न कर सके, कम अवश्य कर सकती है।

५. जनता
(The Publics)

जनता का अर्थ (The Meaning of Public)

साधारण बोलचाल में 'जनता' शब्द का अर्थ लोगों से लिया जाता है। परन्तु वास्तव में जनता लोगों का एक भाग है। सामान्य अर्थ में, जनता लोगों का एक विशाल वर्ग है, जिनके समान विचार, रुचि अथवा हित हैं, परन्तु जो संगठित नहीं हैं, बल्कि इधर-उधर तितर-बितर हैं। इस प्रकार जनता विविध प्रकार की होती है, यथा खेलकूद-प्रेमी जनता, अध्ययन-प्रेमी जनता आदि। 'जनता' शब्द की कुछेक परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) "जनता वैयक्तिक अन्तःक्रिया पर आधारित न होकर समान उद्दीपन (stimuli) के प्रति प्रतिक्रिया—ऐसी प्रतिक्रिया जो सदस्यों के शारीरिक रूप से आवश्यकतया निकट न होने के कारण उत्पन्न होती है, पर आधारित लोगों का एकीकरण है।"[2]
—जे० एस० इरोस

(२) "जनता अन्तर्मुखी हित-समूह है, जिसके सामाजिक प्रश्नों पर विभिन्न विचार होते हैं।"[3]
—आगबर्न

---

1. Ross, E. A, *op. cit* p. 75.

2. "The public is an integration of many people not based on personal interaction but on reaction to the same stimuli—a reaction arising without the members of the public necessarily being physically near to one another."—J. S. Eros

3. "Publics are inclusive interest groups, usually with divergent opinions concerning social issues "—Ogburn.

(३) "शब्द 'जनता' लोगों के समूह के लिये प्रयुक्त होता है, जिनके सामने कोई समस्या है, जो उस समस्या के समाधान के बारे में विभिन्न विचार रखते हैं, एवं उस समस्या पर विचार-विमर्श करते हैं।"[1]
—हरबर्ट ब्लूमर

(४) "जनता सामान्य हित अथवा उद्देश्य द्वारा परस्पर सहमत लोगों का समूह है।"[2]
—शेटलर

(५) "जनता किसी विषय पर विभक्त एवं रुचिगत लोगों का समूह है, जो उस पर विचार-विमर्श में लीन हैं, ताकि एक सामूहिक मत का निर्माण हो सके, जो किसी-न-किसी समूह अथवा व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करेगा।"[3]
—किलियन

(६) "जनता किसी विशिष्ट विषय में रुचि रखने वाले लोगों का समूह है।"[4]
—हार्टन एवं हंट

इस प्रकार जनता लोगों का समूह है जिसकी किसी विषय में सामान्य रुचि है। इसका संगठित होना अनिवार्य नहीं है। यह एक तितर-बितर समूह हो सकता है। शारीरिक सामीप्य आवश्यक नहीं है। जनता के सदस्य परस्पर अपरिचित हो सकते हैं।

जनता का स्वरूप (Nature of Publics)

(१) **बिखरा हुआ समूह (A dispersed group)**—भीड़ के असमान, जनता बिखरा हुआ समूह है। यह कभी इकट्ठा नहीं मिलता। इसमे अन्तःक्रिया लोक-संचरण के माध्यम द्वारा होती है। लोक-संचरण जनता को दूर-दूर तक अपनी सदस्यता बनाने में समर्थ बनाता है। किसी विषय पर विश्व-जनता भी हो सकती है।

(२) **विचारशील समूह (A deliberative group)**—द्वितीय, जनता एक विचारशील सामूहिकता है। जनता की विशेष अन्तःक्रिया-प्रक्रिया विचार-विमर्श है। इसमें संवेगात्मक तीव्रता नहीं होती। जनता के सदस्यों में विचारों का आदान-प्रदान होता है। इसकी विशेषताएँ हैं—विचार-विमर्श, वाद-विवाद, विचारों का

1. "The term public is used to refer to a group of people who are confronted by an issue, who are divided in their ideas as to how to meet the issue and who engage in discussion over the issue."—Herbert Blumer

2. "The public is a group of individuals who are united together by a common interest or objective."—Schettler

3. "Public is a dispersed group of people interested in and divided about an issue, engaged in discussion of the issue, with a view to registering a collective opinion which is expected to affect the course of action of some group or individual."—Killian.

4. "A public is a scattered group of people who share an interest in a particular topic."—Horton and Hunt.

आदान-प्रदान एवं नये तथ्यों की खोज। सदस्य किसी विषय पर विचार-विमर्श द्वारा सहमति पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

(३) निश्चित विषय (A definite issue)—जनता के सम्मुख कोई निश्चित विषय होता है। जनता के सदस्यों में एक ही सामान्य बात मिलती है और वह है उनकी किसी विषय में रुचि। यह विषय राजनीतिक, आर्थिक, स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कोई भी हो सकता है। जनता का निर्माण उसी समय होता है, जब कोई विषय उत्पन्न होता है।

(४) संगठन का अभाव (Lack of organization)—जनता का कोई संगठन नहीं होता। इसमें लोगों की कोई निश्चित स्थिति-भूमिकाएँ नहीं होतीं। इसमें कोई 'हम-भावना' (we-feeling) नहीं होती। जनता एक आकारहीन समूह है, जिसका आकार एवं जिसकी सदस्यता विषय के अनुसार बदलते रहते हैं।

(५) मतभेद (Disagreement)—जनता में मतभेद एवं वाद-विवाद पाया जाता है। जनता में वाद-विवाद आरम्भ होता है, जिसके दौरान तर्क दिये जाते हैं, आलोचना की जाती है तथा प्रतितर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। इसमें तर्क-वितर्क पाया जाता है।

(६) स्व-जागरूकता (Self-awareness)—जनता का सदस्य आत्मा एवं आत्महित के प्रति जागरूक होता है। उस पर दूसरों की उत्तेजक उपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह किसी विषय में रुचि लेता है, उस पर विचार-विमर्श करता है तथा उस पर निर्णय से सम्बन्धित होता है। निस्संदेह कुछ लोगों की अन्य की अपेक्षा उस विषय में अधिक रुचि हो सकती है।

जनता के स्वरूप के बारे में निम्नलिखित बातों पर भी ध्यान दिया जा सकता है—

(१) जनता के केन्द्रीय (core) एवं तटीय (fringe) सदस्य होते हैं। केन्द्रीय सदस्य वे होते हैं जो किये गये निर्णय पर सर्वाधिक प्रभाव डालते हैं।

(२) जनता की रचना निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, जब किसी विषय पर लोगों की रुचि उत्पन्न होती है अथवा ठंडी पड़ जाती है।

(३) एक व्यक्ति एक ही समय अनेक जनताओं का सदस्य हो सकता है।

(४) जनता में गुट सम्मिलित होते हैं।

(५) आधुनिक समाज में अधिकांश सामाजिक परिवर्तन का निर्णय जनता में होता है।

(६) जनता जितनी अधिक होगी तथा उनका आकार जितना विशाल होगा, प्रजातन्त्र उतना ही अधिक होगा।

जनता तथा भीड़ में अन्तर (Difference between Public and Crowd)

जनता तथा भीड़ में कुछेक बातें सामान्य हैं। दोनों व्यक्तियों की समग्रताएँ

हैं तथा साधारणतया असंगठित होती हैं । परन्तु दोनों समग्रताओं का स्वरूप भिन्न है—

(१) प्रथमतया, भीड़ के सदस्यों मे शारीरिक सामीप्य होता है, जबकि जनता के सदस्य अनेक स्थानों पर बिखरे हुए होते हैं ।

(२) द्वितीयतः, जनता भीड़ की अपेक्षा अधिक विशाल समूह है ।

(३) तीसरे, भीड़ पर 'बोले हुए शब्दों' का प्रभाव पड़ता है, जबकि जनता 'प्रकाशित शब्दों' से प्रभावित होती है । भीड़ में सम्पर्क के माध्यम से संक्रामक प्रभाव फैलता है, जबकि जनता मे सम्पर्क के बिना ही ऐसा प्रभाव हो जाता है ।

(४) चतुर्थ, भीड़ मे उत्तेजना एकसाथ फैलती है, जबकि जनता में यह बिखरी हुई होती है । भीड़ जनता की अपेक्षतया अधिक सुझाव-ग्रहणीय होती है ।

(५) पाँचवें, जनता मे विषय पर आलोचनात्मक ढंग से विचार-विमर्श होता है । भीड़ मे कोई आलोचनात्मक विचार-विमर्श सम्भव नहीं होता । भीड़ अस्थायी एवं संवेगात्मक होती है । जनता भीड़ की भाँति मार-पिटाई प्रक्रिया, तीक्ष्ण ध्यान-बिन्दु, संवेगात्मक गहनता एवं भावनात्मक सहमति प्रदर्शित नहीं करती ।

प्रश्न

१. भीड़ की विशेषताओं का वर्णन कीजिए । भीड़ का अन्य सम्बन्धित समूहों से अन्तर बतलाइए ।
२. भीड़ के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए । भीड़ तथा श्रोता-समूह में क्या अन्तर है ?
३. भीड़-व्यवहार के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए ।
४. मनुष्य भीड़ का सदस्य बनने पर भिन्न ढंग से व्यवहार क्यों करता है ? मनोवैज्ञानिक कारणों का उल्लेख कीजिए ।
५. भीड़-व्यवहार व्यक्तिगत व्यवहार से किस प्रकार भिन्न होता है ?
६. भीड़ की परिभाषा कीजिए तथा भीड़-व्यवहार के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए ।
७. 'जनता' शब्द का अर्थ एवं इसकी विशेषताएँ बतलाइए ।

अध्याय १६

सामाजिक आन्दोलन

[SOCIAL MOVEMENTS]

१. सामाजिक आन्दोलन का अर्थ

(The Meaning of Social Movements)

समाज में अनेक परिवर्तन लोगों द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप मे प्रयत्नों द्वारा लाये गये हैं। ऐसे प्रयत्नों को सामाजिक आदोलन की संज्ञा दी जाती है। अतः सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि "यह एक समग्रता है जो समाज अथवा समूह, जिसका यह अंग है, में परिवर्तन लाने अथवा रोकने के लिये कुछ निरन्तरता से कार्य कर रहा है।"[1] लुडबर्ग एवं अन्य ने सामाजिक आन्दोलन की परिभाषा इस प्रकार की है, "यह विशालतर समाज से अभिवृत्तियों, व्यवहार एवं सामाजिक सम्बन्धो में परिवर्तन लाने हेतु इकट्ठे प्रयत्नों में लीन लोगों की ऐच्छिक समिति है।"[2] इस प्रकार, सामाजिक आन्दोलन समाज मे परिवर्तन लाने के लिये किसी समिति द्वारा प्रयत्न है। सामाजिक आन्दोलन किसी परिवर्तन को रोकने के लिये भी किया जा सकता है। कुछ आन्दोलनों का उद्देश्य वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के कुछेक पहलुओं को बदलना होता है, जबकि अन्य आन्दोलनों का उद्देश्य इसे पूर्णतया परिवर्तित करना होता है। पूर्वोक्त को सुधार-आन्दोलन तथा अंतोक्त को क्रांतिकारी आन्दोलन कहा जाता है।

सामाजिक आन्दोलन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, यथा धार्मिक आन्दोलन, सुधार-आन्दोलन, क्रांतिकारी आन्दोलन, राजनीतिक आन्दोलन आदि।

सामाजिक आन्दोलनों का संस्थाओं से अन्तर स्पष्ट कर देना वांछनीय होगा। प्रथमतया, सामाजिक संस्थाएँ संस्कृति के अपेक्षतया स्थायी एवं स्थिर तत्व होती हैं, जबकि सामाजिक आन्दोलनों का जीवन अनिश्चित होता है। विवाह एक स्थायी सामाजिक संस्था है, परन्तु परिवार नियोजन आन्दोलन का काल निश्चित नही है। दूसरे, संस्थाओं को संस्थागत स्थिति प्राप्त होती है। उन्हे संस्कृति के आवश्यक एवं मूल्यवान रूप समझा जाता है। सामाजिक आन्दोलनो में संस्थागत स्थिति का अभाव होता है। कुछ लोग इसके प्रति उदासीन, यहाँ तक कि इसके विरोधी होते हैं।

सामाजिक आन्दोलनों तथा समिति मे भी अन्तर किया जा सकता है। प्रथमतया, समिति एक संगठित समूह होता है, जबकि कुछ सामाजिक आन्दोलन

---

1. "Social movement is a collectivity acting with some continuityto promote or resist a change in the society or group of which it is a part."

2. "Social movement is a voluntary association of people engaged in a concerted effort to change attitudes, behaviour and social relationships in a larger society."—Lundberg and Others.

पूर्णतया असंगठित हो सकते हैं। द्वितीय, समिति समाज के परम्परागत व्यवहार का पालन करती है, जबकि सामाजिक आन्दोलन व्यवहार के प्रतिमानों में कुछ परिवर्तन लाना चाहते हैं।

सामाजिक आन्दोलन की निम्नलिखित विशेषताओं पर ध्यान दिया जा सकता है—

(i) यह किसी समूह द्वारा प्रयत्न है;
(ii) इसका लक्ष्य समाज में परिवर्तन लाना या उसका विरोध करना होता है;
(iii) यह संगठित अथवा असंगठित दोनों प्रकार का हो सकता है;
(iv) यह शांतिपूर्ण अथवा हिंसात्मक हो सकता है;
(v) इसका जीवन-काल अनिश्चित होता है। यह दीर्घकाल तक चल सकता है अथवा शीघ्र ही समाप्त हो सकता है।

२. सामाजिक आन्दोलनों के कारण
(Causes of Social Movements)

सामाजिक आन्दोलन अकारण घटित नहीं होते। सामाजिक बेचैनी सामाजिक आन्दोलनों को जन्म देती है। सामाजिक बेचैनी के कारण निम्नलिखित हो सकते हैं—

(i) **सांस्कृतिक विस्थापन (Cultural drifts)**—समाज में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। सभी सभ्य समाजों में मूल्य एवं व्यवहार बदल रहे हैं। सांस्कृतिक विस्थापन की अवस्था में अधिकांश लोग नवीन विचारों को अपना लेते हैं। समाज में इन विचारों को क्रियान्वित करने हेतु वे आन्दोलन का संगठन करते हैं। प्रजातंत्रीय समाज का विकास, स्त्रियों का उद्धार, जनशिक्षा का प्रसार, अस्पृश्यता का उन्मूलन, स्त्री-पुरुष दोनों के लिये अवसर की समानता, धर्म-निरपेक्षता की वृद्धि सांस्कृतिक विस्थापन के कुछेक उदाहरण हैं।

(ii) **सामाजिक विघटन (Social Disorganisation)**—परिवर्तनशील समाज कुछ सीमा तक विघटित समाज होता है, क्योंकि समाज के विभिन्न अंगों में परिवर्तन साथ-साथ नहीं होते। एक अंग में परिवर्तन अधिक तीव्रता से हो जाता है, जिससे अनेक सांस्कृतिक विलम्बनाएँ (cultural lags) उत्पन्न हो जाती हैं। औद्योगीकरण ने नगरीकरण को जन्म दिया है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। सामाजिक विघटन से समाज में अनिश्चितता एवं अस्त-व्यस्तता फैल जाती है, क्योंकि प्राचीन परम्परायें आचरण को नियंत्रित करने में असमर्थ होती हैं। व्यक्ति दिशाहीन हो जाते हैं। वे स्वयं को समाज से पृथक् समझते हैं। उनमें यह भावना पनप जाती है कि समाज के नेता उनकी आवश्यकताओं के प्रति विमुख हैं। व्यक्ति असुरक्षित, निराश्रित एवं विचलित महसूस करते हैं। निराशा एवं अस्त-व्यस्तता सामाजिक आन्दोलनों को जन्म देती हैं।

(iii) सामाजिक अन्याय (Social injustice)—जब व्यक्तियों के किसी समूह के मन में यह धारणा बैठ जाती है कि उनके साथ अन्याय हुआ है तो वे निराश एवं विघटित महसूस करते हैं। अन्याय की ऐसी भावना सामाजिक आन्दोलनों के लिये उपजाऊ भूमि प्रदान करती है। सामाजिक अन्याय की भावना केवल निर्धन दुखियों तक ही सीमित नहीं होती। किसी भी पदीय स्तर पर कोई भी समूह स्वयं को सामाजिक अन्याय का शिकार समझ सकता है। धनी वर्ग नगरीय सम्पत्ति सीमा अधिनियम अथवा ऊँचे करों, जिनका उद्देश्य निर्धन वर्ग को लाभ पहुँचाना है, को अपने लिये अन्याय समझ सकता है। सामाजिक अन्याय व्यक्तिनिष्ठ मूल्य-निर्णय है। सामाजिक व्यवस्था तभी स्थिति में अन्यायपूर्ण होती है, जब इसके सदस्य ऐसा महसूस करें।

इस प्रकार, सामाजिक आन्दोलन उसी समय उत्पन्न होते हैं, जब अनुकूल परिस्थितियाँ हों। यह ध्यान रहे कि स्थिर, सुगठित समाज में आन्दोलन कम होते हैं। ऐसे समाज में सामाजिक तनाव अथवा विघटित समूह कम होते हैं। लोग संतुष्ट होते हैं। परन्तु परिवर्तनशील एवं निरन्तर विघटित समाज मे लोग तनावों से पीड़ित होते हैं। वे पूर्णतया संतुष्ट नहीं होते। ऐसे समाज में वे अन्याय महसूस करते हैं, एवं असंतुष्ट हो जाते हैं। असंतुष्ट लोग ही सामाजिक आन्दोलनों का निर्माण करते हैं। आधुनिक समाज सामाजिक आन्दोलनों से अधिक ग्रस्त है।

निम्नलिखित प्रकार के लोग सामाजिक आन्दोलनों के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं—

(i) ऐसे व्यक्ति, जो अधिक गतिशील हैं तथा जिन्हें सामुदायिक जीवन में एकीकृत होने के कम अवसर प्राप्त होते हैं;

(ii) ऐसे व्यक्ति जो समूह मे पूर्ण रूप से स्वीकृत तथा एकीकृत नहीं होते तथा जिन्हे सीमान्तीय (marginal) कहा जाता है;

(iii) ऐसे व्यक्ति जो समुदाय से पृथक् हैं;

(iv) ऐसे व्यक्ति जिन्हें आर्थिक अरक्षा एवं सामाजिक स्थिति के खोये जाने का भय है;

(v) ऐसे व्यक्ति जो कुसमायोजित हैं।

इस प्रकार ऐसे लोग जो बेकार एवं समाज में अनुपयुक्त हैं, जन-आंदोलनों के समर्थक होते हैं। यह भी ध्यान रहे कि कुछ लोग सामाजिक आंदोलनों मे ऐसे कारणों से भाग लेते हैं, जिनका आंदोलन के उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कुछ इसमें केवल अपना समय व्यतीत करने के लिये अथवा इसके सदस्यों के प्रति मैत्री-भावना के कारण भाग लेते हैं अथवा उनका उद्देश्य आंदोलन में किसी पद को प्राप्त करना हो सकता है, जिससे उनकी प्रतिष्ठा अथवा शक्ति की वृद्धि हो, बेशक उससे आंदोलन के उद्देश्यों की प्राप्ति का कोई सम्बन्ध न हो। इस बात पर पुनः बल देने की आवश्यकता है कि जब तक तीव्र एवं व्यापक सामाजिक असंतोष नहीं होगा, सामाजिक आंदोलनों का जन्म एवं विकास भी नहीं होगा। अधिकांश सामाजिक

आंदोलन बेचैनी, उत्तेजना, औपचारीकरण एवं संस्थायीकरण की चार अवस्थाओं से गुजरते हैं।

३. सामाजिक आन्दोलनों के प्रकार
(Kinds of Social Movements)

सामाजिक आंदोलनों का वर्गीकरण करना सरल नहीं है, क्योंकि कभी-कभी आंदोलन मिश्रित प्रकार का होता है अथवा विभिन्न चरणों में विभिन्न प्रकार का हो जाता है। तथापि इनको निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया गया है—

(i) **प्रवासी आंदोलन** (Migratory movement)—प्रवासी आंदोलन उस स्थिति में होता है, जब लोग विशाल संख्या में एक देश को छोड़कर दूसरे किसी स्थान पर निवास करने लगते हैं। जनप्रवास का कारण वर्तमान परिस्थितियों के प्रति असंतोष अथवा सुन्दर भविष्य का आकर्षण हो सकता है। लोगों के प्रवासमात्र को प्रवासी आंदोलन नहीं कहा जाता है। इसे प्रवासी आंदोलन उसी अवस्था में समझा जायेगा, जब असंतोष का सामान्य केन्द्र-बिन्दु, भविष्य के प्रति आशा तथा नये स्थान पर आने का सम्मिलित निर्णय हो। यहूदियों का आंदोलन, इजरायल में यहूदियों का बसना, प्रवासी सामाजिक आंदोलन था। इसी प्रकार, पूर्वी जर्मनी से पश्चिमी जर्मनी में लोगों का चले जाना भी प्रवासी सामाजिक आंदोलन कहा जा सकता है।

(ii) **प्रदर्शनकारी आंदोलन** (Expressive movement)—जब लोगों का ऐसी सामाजिक व्यवस्था से सामना पड़ता है, जिसको वे छोड़ नहीं सकते तथा जिसको बदलने में वे अपने को शक्तिहीन महसूस करते हैं तो इसका परिणाम सामाजिक आंदोलन होता है। प्रदर्शनकारी सामाजिक आंदोलन में व्यक्ति असुखद बाह्य वास्तविकता से उस वास्तविकता के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को बदल कर समझौता कर लेता है। वह किसी न किसी प्रकार जीवन को सहनीय बना लेता है। वह दुःखद वर्तमान को भूलने का प्रयत्न करता है तथा सुनहरे भविष्य पर आँखें लगा लेता है। हिप्पी आंदोलन प्रदर्शनकारी सामाजिक आंदोलन है।

(iii) **काल्पनिक आंदोलन** (Utopian movement)—काल्पनिक आंदोलन, एक ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था अथवा पूर्ण समाज की रचना करना चाहता है, जो वास्तविकता में नहीं, अपितु केवल मनुष्य की कल्पना में ही खोजा जा सकता है। उन्नीसवी शताब्दी में अनेक काल्पनिक समाजवादी, यथा राबर्ट ओवन (Robert Owen), तथा चार्ल्स फूरियर (Charles Fourior) हुए हैं। ऐसे आंदोलनों का आधार यह विश्वास होता है कि मनुष्य मूल रूप से नेक, सहयोगी एवं परमार्थी है। सर्वोदय आंदोलन को भी काल्पनिक आदोलन कहा जा सकता है।

(iv) **सुधार-आंदोलन** (Reform movements)—सुधार-आंदोलन का उद्देश्य समाज को पूर्णतया बदलने की अपेक्षा इसके कुछेक अंगों में सुधार लाना होता है। सुधार-आंदोलन केवल प्रजातंत्रीय समाज में ही सम्भव है, जहाँ लोगों को वर्तमान

संस्थाओं की आलोचना करने का अधिकार होता है तथा परिवर्तन लाये जा सकते हैं। अस्पृश्यता, दहेज-प्रथा का उन्मूलन करने, वन्य जीवन को सुरक्षित रखने, जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के हेतु आंदोलन सुधार-आंदोलन हैं। श्री जयप्रकाश नारायण के पूर्ण क्रांति आंदोलन को भी सुधार-आंदोलन कहा जायेगा।

(v) **क्रांतिकारी आंदोलन** (Revolutionary movement)—क्रांतिकारी आंदोलन अवस्थित सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकना तथा इसके स्थान पर एक पूर्णतया भिन्न प्रकार की व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। सुधार-आंदोलन तो अवस्थित सामाजिक व्यवस्था मे कुछ अपूर्णताओं को ठीक करना चाहता है, जबकि क्रांतिकारी आंदोलन स्वयं व्यवस्था को ही जड़-मूल से समाप्त कर देना चाहता है। क्रांतिकारी आंदोलन उस अवस्था में होता है, जब सुधार का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तथा क्रांति ही लोगों की वर्तमान दयनीय स्थिति का केवल एकमात्र विकल्प रह जाता है। सोवियत रूस तथा चीन के आंदोलन क्रांतिकारी आंदोलन थे।

(vi) **प्रतिरोधक आंदोलन** (Resistance movement)—प्रतिरोधक आंदोलन किसी प्रस्तावित परिवर्तन को अवरुद्ध करने अथवा पूर्वप्राप्त परिवर्तन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न है। क्रांतिकारी आंदोलन इस कारण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि लोग सामाजिक परिवर्तन की धीमी गति से असंतुष्ट होते हैं, जबकि प्रतिरोधक आंदोलन इस कारण उत्पन्न होते हैं, क्योंकि लोग सामाजिक परिवर्तन को अत्यधिक द्रुत समझते हैं। हिन्दी के विरुद्ध डी० एम० के० (D. M. K.) के आंदोलन को प्रतिरोधक आंदोलन कहा जा सकता है।

४. नेतृत्व का महत्व
(Role of Leadership)

सामाजिक आंदोलनो की सफलता के लिये इनके नेता को शक्तिशाली तथा संगठन को प्रभावी होना चाहिये। इसके सदस्यो अथवा समर्थकों को काफी संख्या में भर्ती किया जाना चाहिये, वित्तीय सहायता का प्रबन्ध हो तथा आंदोलन-सम्बन्धी विभिन्न कार्यों को उचित ढंग से विनिश्चित किया जाना चाहिये। कार्यकर्ताओं के मध्य उचित समन्वय हो। सामाजिक आंदोलनो में नेता का स्थान महत्वपूर्ण है। अधिकांश आंदोलन नेतृत्व के अभाव के कारण असफल हो जाते हैं।

नेतृत्व का अर्थ (Meaning of Leadership)

नेतृत्व की परिभाषा देना बहुत कठिन है। यह कहना कठिन है कि कुछ व्यक्तियों को कौन से गुण 'नेता' बना देते हैं। बार्नार्ड (Bernard) ने कहा है, "वस्तुत: मैंने कभी कोई नेता नहीं देखा, जो यह उचित रूप से कह सके कि वह क्यों नेता है, न अनुयायी ही पूरी तरह यह कह सकते हैं कि वे नेता का अनुसरण क्यों कर रहे हैं।"[1] नेतृत्व का स्वरूप मुख्यतया वैयक्तिक है। यह व्यवहार के किसी विशिष्ट क्षेत्र

1. "Indeed, I have never observed any leader who was able to state adequately or intelligently why he was able to be a leader, nor any statement of followers that exceptably expressed why they followed."—Hudson, Seckler, *Organisation and Management*, p. 37.

में व्यक्तिगत श्रेष्ठता अथवा उपलब्धि पर आधारित है। कहा जा सकता है कि श्रेष्ठ बल, श्रेष्ठ चतुराई, श्रेष्ठ ज्ञान, श्रेष्ठ इच्छाशक्ति—इनमें कोई एक अथवा सभी गुण नेतृत्व की प्राप्ति के साधन हैं। निःसंदेह से गुण किसी व्यक्ति को नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं, परन्तु नेतृत्व सदैव वैयक्तिक सर्वश्रेष्ठता ही नहीं होता। कुछेक व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी नेता नहीं होते। अतएव, वैयक्तिक सर्वश्रेष्ठता इन गुणों से कुछ अधिक है और यही 'कुछ अधिक' नेतृत्व का सार है। यह 'कुछ अधिक' है—नये उद्देश्यों को सामने रखना, ऊँची *प्रत्याशाएँ दिलाना तथा समूह* को उसकी शक्ति का आभास करा देना। नेता दूसरों से श्रेष्ठ होता है तथा उसमें दूसरों का मार्गदर्शन करने की योग्यता होती है। संक्षेप में, नेतृत्व व्यक्तिगत सर्वश्रेष्ठता तथा प्रबंधकीय गुण दोनो का मिश्रण है।

नेतृत्व का स्वभाव (Nature of Leadership)

नेतृत्व-सम्बन्धी दो दृष्टिकोण हैं—गुण-प्रधान (traitist) तथा परिस्थिति-प्रधान (situationist)। गुण-प्रधान दृष्टिकोण नेतृत्व का जन्म नेता के वैयक्तिक गुणों में मानता है। नेतृत्व व्यक्तित्व का प्रकार्य है। नेता में कुछेक विशेष गुण, यथा बुद्धि, आत्म-विश्वास, इच्छाशक्ति, उपक्रम, शक्ति, भाषण-क्षमता, प्रेरकता एवं दूसरों को विश्वस्त करा देने की क्षमता होते हैं। ये वैयक्तिक गुण उसे नेता बना देते हैं।

परिस्थिति-प्रधान दृष्टिकोण नेता को विशेष सामाजिक परिस्थिति की उपज मानता है। यदि उपयुक्त परिस्थिति न हो, तो व्यक्ति के वैयक्तिक गुणों को अभिव्यक्ति हेतु उचित क्षेत्र प्राप्त नहीं होगा तथा वह नेता नहीं बन सकेगा। दूसरे शब्दों में, नेतृत्व किसी विशेष परिस्थिति में विशिष्ट होता है। किसी समूह का नेता आवश्यक नहीं कि दूसरे समूह में भी नेता हो। एक राजनीतिक नेता, हो सकता है कि धार्मिक नेता न हो सके। यह समझना भूल होगी कि कोई नेता सभी परिस्थितियों मे नेतृत्व प्रदान कर सकेगा।

यह कहा जा सकता है कि नेतृत्व सामाजिक परिस्थिति एवं व्यक्तित्व, दोनों की उपज है। यह इन दोनों की अंतर्क्रियाओ का फल है। यद्यपि एक अर्थ में नेतृत्व को किसी विशेष परिस्थिति के लिये विशिष्ट व्यवहार समझा जा सकता है, तथापि व्यक्तित्व के कुछेक गुण ऐसे हैं, जिनके आधार पर कुछ लोगो को नेता कहा जाता है। यह भी ध्यान रहे कि विभिन्न परिस्थितियों मे नेताओ को भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। अतएव उन लोगों, जो विभिन्न सामाजिक आंदोलनो में नेता होते है, के गुणों मे काफी विभिन्नता पायी जाती है।

नेतृत्व के कार्य (*Functions of Leadership*)

सामाजिक आंदोलन में नेता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह समूह का प्रवक्ता होता है। वह समन्वयकर्ता तथा लक्ष्य एवं साधनो के बारे में निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भागीदार होता है। वह दूसरों के लिये अनुकरणीय होता है। उसे काफी शक्ति एवं सत्ता प्राप्त होती है। उसको काफी मान भी प्राप्त होता है। वह

वैयक्तिक गुणों में दूसरों से श्रेष्ठ होता है। उसके काफी दायित्व होते हैं। उससे इन दायित्वों को पूरा करने की प्रत्याशा की जाती है। उससे अपने वायदे पूरे करने, अपने अनुयायियों का साथ देने तथा समूह के आदर्शों को जीवित रखने की प्रत्याशा की जाती है। यदि वह प्रत्याशित स्तर को पूरा नहीं कर पाता तो उसके सम्मान एवं पद को हानि होती है। उससे नेतृत्व छीना जा सकता है। यदि वह विश्वासघात करता है तो उसकी हत्या भी की जा सकती है। इस प्रकार, नेता सामाजिक आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आंदोलन की सफलता अथवा विफलता काफी सीमा तक उस पर निर्भर करती है।

नेतृत्व के कार्य (i) लक्ष्य-प्राप्ति एवं (ii) सामाजिक आंदोलन को दृढ़ बनाने से सबंधित हैं। प्रथम वर्ग के कार्य समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन होते हैं। ये कार्य निम्नलिखित हैं—

(i) कार्य-हेतु सुझाव देना;
(ii) आंदोलन को लक्ष्य-प्राप्ति की ओर बढाना;
(iii) लक्ष्य से असगत कार्यों को रोकना·
(iv) लक्ष्य-प्राप्ति हेतु प्रभावी समाधान प्रस्तुत करना।

दूसरे वर्ग के कार्य आदोलन को दृढ़ता एवं निरन्तरता प्रदान करते हैं। ये कार्य निम्नलिखित हैं--

(i) सदस्यों को प्रोत्साहित करना;
(ii) तनावों को दूर करना;
(iii) प्रत्येक को अपने विचार अभिव्यक्त करने का अवसर देना;
(iv) समन्वित कार्य को उत्प्रेरित करना।

नेता का यह मुख्य दायित्व है कि सामाजिक आंदोलन अपने लक्ष्यो को प्राप्त करने मे सफल हो। अनुयायी नेता का अनुसरण इसलिए करते हैं, क्योंकि उन्हे आशा होती है कि नेता उन्हें लक्ष्य-प्राप्ति की ओर ले जायेगा। नेता को अपनी तकनीक का सावधानीपूर्वक चयन करना चाहिये। यह वास्तविकता-प्रधान होनी चाहिये। नेता को मालूम होना चाहिये कि आंदोलन की विफलता की स्थिति मे उसे दुत्कार, पद की हानि तथा दोष सहन करना पड़ सकता है। अतएव उसे नेतृत्व ग्रहण करते समय काफी सतर्क होना चाहिये तथा नेतृत्व ग्रहण कर लेने पर उसे इसका सफलतापूर्वक निर्वहन करने में सावधान रहना चाहिये। नेता जन-उत्साह को निर्माणकारी सामाजिक सुधारों की ओर दिशा प्रदान कर सकता है अथवा वह सामाजिक व्यवस्था का अन्ततोगत्वा विनाश कर सकता है।

प्रश्न

१. सामाजिक आंदोलनों की परिभाषा कीजिए। संस्था एवं समुदाय से सामाजिक आदोलन का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

२. सामाजिक आंदोलनों के क्या कारण हैं ? उनका जन्म एवं विकास कैसे होता है ?
३. सामाजिक आंदोलन सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल होने पर जन्म लेते हैं। ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ कौन-सी हैं ?
४. किस प्रकार के व्यक्ति सामाजिक आदोलनो के प्रति अधिक आकर्षित होते है ?
५. नेतृत्व का क्या अर्थ है ? नेतृत्व का विकास कैसे होता है ?
६. नेतृत्व की प्रकृति की विवेचना कीजिए।
७. सामाजिक आदोलनों में नेतृत्व की भूमिका का वर्णन कीजिए।

———

अध्याय १७

परिवार

[THE FAMILY]

समस्त मानवीय समूहों में परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राथमिकसमूह है। यह एक छोटा-सा सामाजिक समूह है, जिसमे सामान्यत माता-पिता तथा एक या अधिक बच्चे होते हैं। ऐतिहासिक रूप से, जैसा बर्गेस (Burgess) ने कहा है, "यह अनेक परिवर्तनों को पार करके जटिल सामाजिक संरचना अथवा संस्था के स्थान पर लोचपूर्ण मानवीय सम्बन्ध बन गया है।"[1] इस अध्याय में, हम इसी महत्वपूर्ण सामाजिक समूह के बारे में अध्ययन करेंगे, जो अपने आकार एवं कार्यों के बावजूद भी समुदाय की सेवा कर रहा है।

१. परिवार की परिभाषा

(The Meaning of Family)

कुछ परिभाषाएँ (Some definitions)—आरम्भ में शब्द 'परिवार' की व्याख्या कर लेना आवश्यक है। अंग्रेजी शब्द 'फेमिली' (family) रोमन शब्द 'फेमुलस' (famulus) जिसका अर्थ है नौकर, से लिया गया है। रोमन कानून के अन्दर यह शब्द स्वामियों एवं दासों और अन्य नौकरों तथा साथ ही सामान्य वंश अथवा विवाह के आधार पर संबंधित सदस्यों के लिये प्रयुक्त होता था। इसकी कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) "परिवार बच्चों की उत्पत्ति एवं पालन-पोषण की व्यवस्था करने हेतु पर्याप्त रूप में निश्चित और स्थायी यौन-सम्बन्ध से परिभाषित एक समूह है।"[2]

—मैकाइवर

(ii) "परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो विवाह, रक्त या गोद लेने के बंधनों से जुड़े हुए हैं, एक गृहस्थी का निर्माण करते है और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र और पुत्री, भाई और बहन अपने-अपने क्रमशः सामाजिक कार्यों, अन्तः-क्रिया एवं अन्त.संचार करते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते हैं।"[3]

—बर्गेस एवं लाक

---

1. Burgess and Locke, *The Family*, pp. 26-27.

2. "Family is a group defined by sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children."—MacIver, *Society*, p. 230.

3. "Family is a group of persons [illegible] ties of marriage, blood or [illegible] and inter-communicating [illegible] band and wife, mother and [illegible] ng a common culture"—

(iii) "परिवार पति-पत्नी, बच्चों सहित या उनके बिना अथवा मनुष्य अथवा स्त्री अकेले का बच्चों सहित कम या अधिक स्थिर समिति है।"[1]

—निमकाफ

(iv) "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो रक्त के आधार पर एक-दूसरे से संबंधित हैं तथा जो परस्पर नातेदार हैं।"[2] —डेविस

(v) "परिवार की परिभाषा एक दृष्टिकोण से यह की जा सकती है कि एक स्त्री, बच्चे सहित तथा एक पुरुष उनकी देखरेख हेतु।"[3] —बीसन्ज

(vi) "परिवार से हम सम्बन्धों की वह व्यवस्था समझते हैं जो माता-पिता और उनकी संतानों के बीच पाया जाता है।"[4] —क्लेयर

(vii) "परिवार पति, पत्नी एवं बच्चों से निर्मित एक जैविक सामाजिक इकाई है।"[5] —इलियट तथा मैरिल

(viii) "परिवार रक्त, विवाह अथवा गोद लेने के आधार पर संबंधित दो या अधिक व्यक्तियों का समूह है; इन सभी व्यक्तियों को एक परिवार का सदस्य समझा जाता है।"६ —अमेरिकन ब्यूरो ऑफ सेन्सस

इन परिभाषाओं के आधार पर परिवार की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) यौन-सम्बन्ध (A mating relationship)—परिवार का अस्तित्व उस समय शुरू होता है, जब एक पुरुष एवं स्त्री परस्पर यौन-सम्बन्ध की स्थापना करते हैं। यह सम्बन्ध थोड़े समय के लिये अथवा जीवन-पर्यन्त हो सकता है। जब वैवाहिक सम्बन्ध टूट जाता है, तो परिवार का विघटन हो जाता है।

(ii) विवाह का प्रकार (A form of marriage)—यौन-सम्बन्ध विवाह की संस्था द्वारा स्थापित होते हैं। विवाह सरलतम ढंग से, जैसा यूरोप में अथवा

---

1. "Family is a more or less durable association of husband and wife with or without children, or of a man or woman alone, with children"—Nimkoff, Meyer, F., *Marriage and the Family*, p. 6.

2. "Family is a group of persons whose relations to one another are based upon consanguinity who are therefore kin to another."—Davis, Kingsley, *Human Society*, p. 397.

3. "Thus the family in one sense be defined as a woman with a child and a man to look after them."—Biesanz and Biesanz, *Modern Society: An Introduction to Social Sciences*, p. 204

4. "Family is a system of relationship existing between parents and children"—Clare

5. "Family is the biological, social unit composed of husband, wife and children."—Elliott and Merrill

6. "Family is a group of two or more persons related by blood, marriage, or adoption and residing together; all such persons are considered as members of one family."—The American Bureau of the Census, Quoted by Johnson, H. M., *Sociology*, p. 155

लम्बी प्रक्रिया द्वारा जैसे भारत मे सम्पन्न किया जा सकता है। इसका कोई भी रूप—एक-पत्नीत्व अथवा बहुपतित्व हो सकता है। जीवन-साथियों का चयन माता-पिता द्वारा या संबंधित लडके-लड़की द्वारा किया जा सकता है।

(iii) **नामकरण की प्रथा** (A system of nomenclature)—प्रत्येक परिवार किसी नाम से पहचाना जाता है। इसकी वंशावली का क्रम अपने ही ढंग का होता है। यह वंशावली पुरुष या स्त्री किसी के भी परिवार-वंश से अनुमित हो सकती है। सामान्यतया स्त्री पति के सम्बन्धियो के साथ रहने के लिये जाती है। ऐसे भी कुछ उदाहरण हैं, जहाँ पितृस्थानीय (patrilocal) तथा मातृस्थानीय (matrilocal) दोनो प्रणालियो में वार्षिक परिवर्तन होता रहता है।

(iv) **आर्थिक व्यवस्था** (Economic provision)—प्रत्येक परिवार को आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्तिहेतु कोई न कोई आर्थिक कार्य करना पडता है। परिवार का मुखिया कोई व्यवसाय करता है तथा परिवार के भरण-पोषण के लिये धन कमाता है।

(v) **सामान्य आवास** (Common habitation)—परिवार को निवास-हेतु घर चाहिये। निवास-स्थान के बिना बच्चों का पालन-पोषण एवं उनके जन्म के कार्य को यथेष्ट रूप से पूर्ण करना कठिन होगा।

इस प्रकार, परिवार एक जैविक इकाई है, जिसमे पति-पत्नी के मध्य संस्थायीकृत यौन-सम्बन्ध होते हैं। परिवार की विशेषता इसका जैविक सम्बन्ध है। इसके सदस्य अन्य किसी समूह की अपेक्षा जनन की प्रक्रिया द्वारा एक-दूसरे से निकटवर्ती संबंधित होते हैं। यह यौन के तथ्य पर आधारित है जिसका महत्वपूर्ण कार्य बच्चों का जनन एवं पोषण है। इसमें माता-पिता एवं उनके बच्चे होते हैं। यह समिति एवं संस्था दोनो है। यह प्रत्येक युग एवं समाज मे पाई जाने वाली सार्वभौमिक संस्था है। यह एक प्रारम्भिक कोष्ठ है जिससे समुदाय का विकास होता है।

२. परिवार का स्वरूप
(Nature of Family)

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त, परिवार की अन्य कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। यह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को विविध प्रकार से प्रभावित करता है। इसका अन्य समूहों से निम्नलिखित बातों मे अन्तर है—

(i) **सार्वभौमिकता** (Universality)—परिवार सर्वाधिक सार्वभौमिक समूह है। मानव-इतिहास में यह सर्वप्रथम संस्था है। यह प्रत्येक काल एवं प्रत्येक समाज में अवस्थित रही है तथा संसार के सभी भागों में पायी जाती है। कोई भी समाज अथवा संस्कृति ऐसा नही होगी, जिसमें परिवार का कोई न कोई रूप न रहा हो। इसमें से प्रत्येक किसी न किसी परिवार का सदस्य है। अन्य कोई समूह इतना सार्वभौमिक नही है, जितना कि परिवार है।

(ii) **भावनात्मक आधार** (Emotional basis)—परिवार समाज की मौलिक इकाई है। यह यौन-सम्बन्ध, सन्तानोत्पादन, मातृ-वात्सल्य तथा पैतृक संरक्षण की मूल प्रवृत्तियों पर आधारित है। यह इन प्रवृत्तियों को दृढ़ बनाने वाला निकट संबंधित समूह है।

(iii) **सीमित आकार** (Limited size)—परिवार का आकार आवश्यक रूप से सीमित होता है, क्योंकि इसकी सदस्यता जन्ममूलक होती है। अन्य समूह परिवार से भी छोटे हो सकते हैं, परन्तु उनके छोटे होने का कारण जैविक परिस्थितियाँ नहीं होतीं।

(iv) **रचनात्मक प्रभाव** (Formative influence)—परिवार का इसके सदस्यों पर काफी प्रभाव पड़ता है। यह व्यक्तियों के चरित्र को ढालता है। बाल्य-काल में इसका प्रभाव व्यक्ति की व्यक्तित्व-संरचना को प्रभावित करता है। इसकी प्रारम्भिक इकाइयों—माता एव पिता से बच्चा अपने शारीरिक गुणों को प्राप्त करता है। **फ्रायड** (Freud) तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि बच्चा वयस्क आयु में उन्हीं मानसिक प्रवृत्तियों एव चरित्र को अभिव्यक्त करता है, जो वह परिवार मे प्राप्त करता है। कन्फ्यूसियस (Confucius) ने ठीक ही कहा था कि यदि आप समाज को उन्नत करना चाहते हों तो परिवार को उन्नत करो। "अच्छा जन्म पाना सब सौगातों में सबसे अच्छी सौगात है। घटिया जन्म के लिये इस संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो अच्छे जन्म के अभाव की पूर्ति कर सके।"[1]

(v) **केन्द्रीय स्थिति** (Nuclear position)—परिवार सभी अन्य सामाजिक समूहों का केन्द्र है। सम्पूर्ण सामाजिक संरचना पारिवारिक इकाइयों की निर्मिति है।

(vi) **सदस्यों का उत्तरदायित्व** (Responsibility of the members)—परिवार में बच्चा सामाजिक दायित्व का अर्थ एवं सहयोग की आवश्यकता सीखता है। **मैकाइवर** (MacIver) ने ठीक ही कहा है, "सकट-काल मे व्यक्ति देश के लिये कार्य करते हैं, युद्ध लडते हैं तथा शहीद हो जाते हैं, परन्तु परिवार के लिये तो वे जीवन-पर्यन्त परिश्रम करते हैं।"[1] परिवार बच्चे के समाजीकरण का महत्वपूर्ण स्रोत है।

(vii) **सामाजिक नियमन** (Social regulation)—परिवार सामाजिक रीति-रिवाजों एवं कानूनी नियमों से विशेषतया सुरक्षित होता है। उनको भग करना सरल नहीं है। परिवार एक ऐसा समूह है जिसमें संबंधित पक्ष इच्छापूर्वक प्रवेश करते हैं, परन्तु जिसे वे सुगमता से छोड़ या भग नहीं कर सकते। विवाह कोई मजाक नहीं है।

---

1. "To be well-born is to possess the greatest of all gifts. To be ill born there is nothing which this world can afford that will be adequate compensation for the lack of good heredity."—Holmes, S T., The *Eugenic Predicament*, p 10.

(viii) स्थायी एवं अस्थायी (Permanent and temporary)—परिवार संस्था के रूप में स्थायी एवं सार्वभौमिक है, परन्तु एक समिति के रूप में अस्थायी है। जब पुत्र का विवाह हो जाता है तो वह नया परिवार बसा लेता है, जो पुनः अन्य नये परिवारों को जन्म देता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि यद्यपि परिवार समाज का एक अत्यन्त सीमित समूह है, तथापि यह अपनी विलक्षणता के कारण सबसे भिन्न समूह है। यह सबसे छोटा नातेदारी समूह (kinship group) है। इसका आरम्भ सामान्यतया उस समय होता है जब दो साथी विवाह करते हैं तथा जब पुत्र विवाह कर लेते हैं तो इसका रूप बदल जाता है। जब एक साथी की मृत्यु हो जाती है तो यह समाप्त हो जाता है। जब बच्चे छोटे तथा पूर्णतया माता-पिता पर आश्रित होते हैं तो परिवार एक संगठित मानवी समूह दिखाई देता है। जब बच्चे बड़े होने लगते हैं तो यह संगठन ढीला होने लगता है तथा जब वे विवाह कर लेते हैं तो पुराना परिवार विघटित हो जाता है एवं नये परिवारों का जन्म हो जाता है। प्रारम्भिक सम्बन्ध उलट जाते हैं तथा माता-पिता बच्चों पर आश्रित हो जाते हैं।

३. परिवार की उत्पत्ति
(The Origin of Family)

प्राचीन काल में परिवार की उत्पत्ति के बारे में खोज करना और भी कठिन कार्य है। परिवार प्रत्येक मानव-समाज में मिलता रहा है। समाज की किसी भी ऐसी अवस्था, जिसमें लिंग-सम्बन्धों के ऊपर किसी हद तक सामाजिक नियमों के बंधन न हों, तथा जिसमें किसी भी रूप में परिवार का अस्तित्व न हो, की कल्पना कर सकना कठिन है। फिर भी, अनेक लोककथाओं में परिवार की उत्पत्ति-विषयक कथात्मक विवरण मिलते हैं। इन विवरणों में एक 'जैनिसिस' (Genesis) के दूसरे अध्याय में मिलता है। दूसरी एक संस्कृत की कथा है जो बहुत कुछ बिबलिकल (Biblical) कहानी से मिलती-जुलती है :

"आरम्भ में जब त्वष्टा नारी को बनाने लगा तो उसे पता चला कि पुरुष के निर्माण में वह सारी सामग्री समाप्त कर बैठा है और कोई स्थूल तत्व शेष नहीं रहे। इस उलझन में, बड़ी सोच-विचार के बाद उसने यूं किया कि उसने चन्द्रमा की वर्तुलता को, लताओं की वक्रता को, प्रतानों के लचीलेपन को, घास की कम्पन को, सरकंडे की तनुता को, पुष्पों के यौवन को, पत्तों के हल्केपन को, हाथी के सूंड़ के नुकीलेपन को, मृग की भासों को, भँवरों की पंक्तियों के झुरमुट को, सूर्य की किरणों की आनन्ददायक चाल को, बादलों की रिमझिम को, वायु की चंचलता को, खरगोश की भीरुता को, मोर के अभिमान को, तोते के वक्ष की कोमलता को, बादाम की सख्ती को, शहद की मिठास को, सिंह की निर्दयता को, अग्नि की लपट की गरमाई को, बर्फ की शीतलता को, कोयल की कूक को, क्रेन की दिखावट को, चक्रवाक की निष्ठा को लेकर और इन सबको मिला कर उसने नारी को बनाया और इसे नर को दे

दिया। परन्तु एक सप्ताह के पश्चात् नर उसके पास आया और कहने लगा—"प्रभो! यह जीव जो आपने मुझे दिया है, इसने मेरा जीना दूभर कर दिया है, इसलिए मैं इसे आपको लौटाने आया हूँ, क्योंकि मैं इसके साथ रह नहीं सकता।" त्वष्टा ने कहा—'बहुत अच्छा' और उसने उसे वापस ले लिया। फिर एक सप्ताह के पश्चात् नर उसके पास आया और कहने लगा—"प्रभो! मैं अनुभव करता हूँ, जब से वह प्राणी मैंने आपको लौटाया है, मेरा जीवन नितान्त एकाकी है। मुझे स्मरण है, वह कैसे मुझे नाच और गा कर दिखाती थी, और अपनी टेढ़ी दृष्टि से मेरी ओर निहारती थी, मेरे साथ खेलती थी, मुझे आलिंगन करती थी, उसकी हँसी संगीत थी, वह देखने में बहुत सुन्दर, छूने में नर्म थी, इसलिए वह मुझे लौटा दो।" त्वष्टा ने कहा—'बहुत अच्छा' और उसे वापस लौटा दिया। तब केवल तीन दिन के पश्चात् नर फिर उसके पास आया और कहने लगा—"प्रभो! मैं नहीं जानता यह क्या है! परन्तु मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि वह मेरे लिए प्रसन्नता की अपेक्षा दुःखदायी अधिक है, इसलिए कृपया आप इसे वापस ले लें।" परन्तु त्वष्टा ने कहा—"तुम यहाँ से चले जाओ! मैं इसे नहीं लौटाऊंगा, तुम जिस तरह भी हो, इसके साथ निर्वाह करो।" पुरुष ने कहा—"परन्तु मैं तो इसके साथ रह ही नहीं सकता।" और त्वष्टा ने उत्तर दिया—"तुम इसके बिना भी तो नहीं रह सकते थे।" और उसने नर की ओर से पीठ मोड़ ली। नर ने कहा—"हो सकता है। क्योंकि न ही मैं उसके साथ और न ही उसके बिना रह सकता हूँ।"

प्राचीन वर्णसंकर का सिद्धान्त (Theory of primitive promiscuism)—कुछ समय पहले मानव-विज्ञानी, जैसे जे० एल० ल्यूबोक (J. L. Lubbock), एच० एल० मार्गन (H. L. Morgan), जे० जी० फ्रेजर (J. G. Frazer) तथा हाल ही मे आर० ब्रीफाल्ट (R. Briffault) ने यह सिद्धान्त पेश किया कि "मानवता की सबसे आदिम अवस्था (the *original* state of mankind) पशुओं की तरह लैंगिक अभेदतावाली, आपस में बिना किसी प्रकार के दृढ़ वैवाहिक सम्बन्धो वाली थी। उस समय न तो परिवार और न विवाह की संस्था का कोई नाम था। परन्तु उस युग में मनुष्यों तथा स्त्रियों के मध्य केवल मिश्रित सम्बन्ध ही थे।" ब्रीफाल्ट (Briffault) ने 'माताएँ' (The Mothers) नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि मनुष्य आरम्भ में सामाजिक संकर की अवस्था मे रहता था और आदिम मानव-परिवार माता और उसके बच्चों से निर्मित था। बाद में जब माता ने स्वयं को किसी मनुष्य के साथ स्थायी रूप से बाँधने के आर्थिक लाभों को समझना शुरू कर दिया तो उसने आकस्मिक लैंगिक सम्बन्ध को स्थायी सम्बन्धों में बदलना शुरू कर दिया। उसने सिद्ध किया कि ऐसी संस्थाएँ—जैसे अपनी साली के साथ विवाह (Sororate), बड़े भाई की विधवा पत्नी के साथ विवाह (*Levirate*), लैंगिक आतिथ्य-सत्कार (sex hospitality), पत्नियों का विनिमय आदि वर्णसंकर की आरम्भिक अवस्थाओं की ओर इंगित करती हैं। इस सिद्धान्त के अनुयायी वर्गीकृत व्यवस्था (classificatory systems) से भी प्रभावित हुए, जिसके अंतर्गत बड़ी आयु के व्यक्तियों को जरूर ही 'पिता' अथवा 'माता', समान आयु वालों को 'भाई' तथा 'बहन', बच्चों की आयु वालों को 'पुत्र' अथवा 'पुत्रियाँ' कहा जाता था।

इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपनी धारणा—कि मानव-समाज की प्रारम्भिक अवस्था में वास्तविक अर्थों में कोई परिवार नहीं होता था—की पुष्टि के लिए मध्य आस्ट्रेलिया तथा ट्राब्रीयाड (Trobriand) द्वीप के निवासियों में पिता-सम्बन्धी अज्ञानता का भी उदाहरण दिया है।

उपर्युक्त प्रमाण इस तथ्य को गलत सिद्ध करने के लिए यथेष्ट नहीं है कि ज्ञात प्राचीनतम समाज में परिवार एक स्थापित संस्था थी। उपर्युक्त तथ्यों से इस परिणाम पर पहुंचना उचित नहीं कि प्रारम्भिक अवस्था सचमुच ही वर्णसंकरता की अवस्था थी। इन तथ्यों की अन्य तार्किक आधारों पर व्याख्या की जा सकती है। वर्गीकृत व्यवस्था बहिर्विवाह के नियमों का पालन करने की एक परम्परागत विधि थी। इन नियमों के अंतर्गत ऐसी सारी स्त्रियों को जिनसे विवाह करने की मनाही थी, 'बहन' कहा जाता था, जबकि पत्नियों का नाम उन स्त्रियों को दिया जाता था, जिनमें से एक को पत्नी चुनने की आज्ञा थी। आज भी हम शब्द 'बहन' अथवा 'भाई' अपने साथी सदस्यों के लिए प्रयोग करते हैं। इस विषय पर कोई सहमति नहीं है कि पिता-सम्बन्धी अज्ञानता यथार्थ थी अथवा पारस्परिक। मैलिनोस्की (Molinowski) इसे यथार्थ समझता है, भले ही वह यह विश्वास नहीं करता कि यह वर्णसंकर की प्रारम्भिक अवस्था का अवशेष था। इसके अतिरिक्त, अनेक आदिम व्यक्ति शारीरिक पैतृकता की ओर अधिक ध्यान नहीं देते थे। सामायिक लाइसेंस तथा विवाहपूर्ण वर्णसंकरता विवाह-प्रथा के कुछ रूपों के साथ असंगत नहीं थी। लैंगिक सम्बन्ध की स्वतंत्रता, यद्यपि सार्वभौम नहीं, कुछ मानव-समाजों में अवश्य प्रचलित है। विवाह से अन्यत्र गर्भाधान की स्वतंत्रता की अलबत्ता कभी स्वतंत्रता नहीं रही। उन समाजों में जहाँ विवाह से पूर्व लैंगिक सम्बन्ध को न्यायसंगत माना जाता है, वैध बच्चों के लिए विवाह पूर्व-शर्त होता है। इसलिए लैंगिक सम्बन्ध की स्वतंत्रता को पैतृक स्वतंत्रता के समकक्ष नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, संसार के किसी भाग में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ उच्छृंखल वर्णसंकरता स्थायी प्रथा के रूप में वर्तमान हो। एक आधुनिक मानवशास्त्री लिंटन (Linton) का कथन है कि "वर्णसंकर झुंड की प्राचीन अवधारणा को परिवार के विकास का आरम्भिक बिन्दु उस तर्क ने बनाया, जिसने विक्टोरियन परिवार को सामाजिक विकास का अन्तिम चरण बतलाया। परन्तु इसकी पुष्टि के लिए अन्य कोई प्रमाण नहीं है।" वेस्टरमार्क (Westermark) ने यह परिणाम निकाला कि "वर्णसंकर की अवस्था में न रहकर मनुष्य वास्तव में विवाह की एकपत्नीत्व-व्यवस्था में निवास करता था।"

परिवार की कोई उत्पत्ति नहीं (Family has no origin)—इस प्रकार, आदिम लोगों में वर्णसंकरीय लैंगिक सम्बन्धों के बारे में कोई स्पष्ट संकेत उपलब्ध नहीं है। इस अर्थ में परिवार का कोई उद्गम-बिन्दु नहीं है कि समाज के विकास में कभी कोई ऐसी अवस्था थी जब परिवार का कोई अस्तित्व नहीं था तथा परिवार का जन्म बाद में हुआ। आधुनिक मानवविज्ञान के साक्ष्य लोवी (Lowie) के इस

मत की पुष्टि करते हैं कि "परिवार तथा विशेष रूप से नानके, दादके वाला परिवार मानव-समाज की सार्वभौम इकाई रहा है।"[1]

परिवार की उत्पत्ति मानवीय आवश्यकताओं में (Family has its origin in certain needs of men)—परिवार की उत्पत्ति की व्याख्या किसी ऐसे ऐतिहासिक तथ्य अथवा अवस्था, जिसने मानव-इतिहास के किसी भी चरण में इसके अस्तित्व को निश्चित किया हो, के आधार पर नहीं की जा सकती, बल्कि इसकी व्याख्या मानव की कुछ आवश्यकताओं, जिनकी पूर्ति परिवार में होनी चाहिये, के आधार पर की जा सकती है। जैसे ही मनुष्य ने इन आवश्यकताओं को महसूस किया, उसी समय उनकी पूर्तिहेतु परिवार का जन्म हुआ।

(i) प्रजनन की आवश्यकता (The need for procreation)—परिवार की निरन्तरता के लिए बच्चों का प्रजनन आवश्यक है। प्लिस (Pliss) का कथन है, "धार्मिक एवं नैतिक उद्देश्यों के अतिरिक्त पुत्रेच्छा मानव की आत्म-संरक्षण की प्रवृत्ति के साथ जुड़ी हुई है। सामान्यतया, यह व्यक्तियों, प्रजातियों एवं लोगों की अत्यन्त आवश्यक आकांक्षाओं से संबंधित है जिसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती है।" इस कथन की पुष्टि में अनेक प्रमाण हैं। परिवार में बच्चों का अभाव बदकिस्मत माता-पिता को उदासीन बना देता है तथा कभी-कभी पारिवारिक कलह एवं मानसिक असंतुलन का कारण भी बन जाता है। पुत्र की लालसा माता में अधिक होती है, परन्तु पिता में भी यह कम नहीं होती। अपने नाम तथा सम्पत्ति को भावी पीढ़ियों के लिए छोड़ जाने की इच्छा, बुढ़ापे में सहारे की आवश्यकता उसे संतान पैदा करने के लिये अभिप्रेरित करते हैं।

(ii) लैंगिक लालसा (Sexual urge)—द्वितीय, लैंगिक तुष्टि की आवश्यकता मनुष्य को तुष्टि का मान्य आधार खोजने तथा असीमित प्रतियोगिता की अनिश्चितता के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त करने को अभिप्रेरित करती है। लैंगिक क्रिया का परिणाम परिवार है।

(iii) आर्थिक आवश्यकतायें (Economic needs)—तीसरे, आर्थिक आवश्यकतायें पुरुष और स्त्री को परिवार के बंधन में बाँध देती हैं। स्त्री घर के अंदर कार्य की देखभाल करती है तो पुरुष घर के बाहर कार्य को सँभालता है। दोनों परस्पर सहयोग द्वारा सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं।

इन तीनों—संतानोत्पत्ति, लैंगिक,संतुष्टि एवं आर्थिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य कई कारण भी हैं जिनके कारण लोग विवाह करते हैं। जीवन के सुखों तथा दुःखों में भाग लेने के लिए जीवन-साथी की आवश्यकता, स्नेह, प्रेम, श्रद्धा तथा कोमलता प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य को विवाह करने एवं परिवार की स्थापना के लिए अभिप्रेरित करती हैं।

उपर्युक्त विवरण से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि परिवार का

1. Lowie, *Social Organisation*, p.93.

जन्म किसी विशिष्ट तिथि को अनायास ही नहीं हो गया, अपितु जैसे ही मानव को उपर्युक्त आवश्यकतायें महसूस हुई', परिवार का जन्म हुआ। परिवार की उत्पत्ति की व्याख्या प्रवृत्तिमूलक आधार पर नहीं की जा सकती, यह तो सांस्कृतिक उपज है। यदि हम परिवार की उत्पत्ति की बात करना ही चाहते हैं तो हम केवल इसके विकास—एक छोटी आत्म-निर्भर इकाई से धीरे-धीरे विकसित हो रहे समाज में एक विशेषीकृत संस्था की ओर परिवर्तन की व्याख्या कर सकते हैं।

मार्गन (Morgan) के अनुसार, परिवार पाँच अवस्थाओं में से गुजरा है—

(i) रक्त-सम्बन्धीय परिवार (Consanguine family)—परिवार की इस अवस्था में रक्त-सम्बन्धियों के मध्य विवाह की मनाही नहीं थी।

(ii) समूह-परिवार (Punaluant family)—इस अवस्था में अगम्यागमन विवाह पर प्रतिबन्ध थे, परन्तु विभिन्न व्यक्तियों के मध्य लैंगिक सम्बन्धों की निश्चितता नहीं थी।

(iii) सिंडेस्मियन परिवार (Syndasmian family)—इस अवस्था में एक पुरुष का एक स्त्री के साथ विवाह होता था, पर उसी परिवार में विवाहित स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता प्रत्येक पुरुष को रहती थी।

(iv) पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal family)—इस अवस्था में पुरुष का आधिपत्य स्थापित हो गया था। वह एकाधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता था तथा उनके साथ यौन-सम्बन्ध रख सकता था।

(v) एकविवाह परिवार (Monogamous family)—यह परिवार का वर्तमान रूप है, जिसमें एक पुरुष एक स्त्री से ही यौन-सम्बन्ध रखता है।

यह विश्वास करना कठिन है कि सभी समाजों में परिवार का विकास उपर्युक्त अवस्थाओं मे क्रमबद्ध रूप से हुआ है। ऐतिहासिक तथ्य मार्गन के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। लिंटन (Linton) ने लिखा है, "समाजों ने विकास की एक अकेली समान रेखा को नहीं अपनाया है, अपितु अनेक विभिन्न रेखाओं को अपनाया है।"[1] डॉ० मजूमदार के शब्दों मे, "परिवार आज भी है जैसा कि पहले था, परन्तु ऐसा नहीं था, जैसा आज है।"[2]

४. परिवार के प्रकार

(Types of Family)

परिवार को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(१) सत्ता (Authority) के आधार पर परिवार का रूप पितृसत्तात्मक अथवा मातृसत्तात्मक हो सकता है—

---

1. Societies have not followed a single consistent line of evolution, but a multitude of diverging lines." Linton, R. *The Study of Man*, p. 147.
2. "Family is still what it was and at the same time it was not what it is." D. N. Mazumdar, *Races and Culture of India* p. 163.

पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family)

पितृसत्तात्मक परिवार प्राचीन काल के सभ्य समाजों में ही नहीं, अपितु सामंती समाज में भी प्रचलित था। इस प्रकार का परिवार संसार में प्रसिद्ध हो चुका है। पुरानी बाइबिल में कई पितृसत्तात्मक परिवारों, यथा अब्राहम, जैकब एवं इसाक के वणन मिलते हैं।

पितृसत्तात्मक परिवार का अर्थ (What is patriarchal family)—पितृसत्तात्मक परिवार में परिवार के मुखिया पुरुष के हाथो में सारी शक्तियाँ होती हैं। वह परिवार की सम्पत्ति का स्वामी और प्रबंधक होता है। परिवार के सभी सदस्य उसके अधीन होते हैं। वह परिवार के धार्मिक संस्कारों की अध्यक्षता करता है, वह परिवार के देवताओ तथा अग्निकुंड का संरक्षक होता है। संक्षेप मे, पिता अथवा परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष ही परिवार का रक्षक तथा संरक्षक हो है, जिसे परिवार के सभी सदस्यो पर पूर्ण सत्ता प्राप्त होती है।

इस प्रकार का परिवार इब्रानियों, यूनानियों, रोमनों तथा भारतीय आर्यों प्रचलित था। इब्रानियों में परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष पूर्णतया निरंकुश होता था रोम में परिवार का मुखिया अथवा दादा परिवार की सम्पत्ति का स्वामी, अपने लो का शक्तिशाली सरदार तथा कानून के सामने परिवार का प्रतिनिधि हो था। पिता की शक्ति परिवार के सदस्यों पर निरंकुश होती थी। सिजवि (Sidgwick) ने लिखा है, "अपनी पत्नी, बच्चो तथा उनकी सतानों पर पि ऐसा निरंकुश शासन करता था कि व्यक्तिगत सदस्यों का कोई कानूनी अस्तित्व न था।"[1] वह अपने बच्चों को दंड दे सकता था, उनको बेच सकता था, यहाँ तक उन्हें जान से मार भी सकता था। प्राचीन फिलिस्तीन में वह अपनी पुत्री को दास के रूप मे बेच सकता था। भारत मे भी, वैदिक काल का परिवार पूरे तौर प पितृसत्तात्मक था। पिता को अपनी पत्नी तथा बच्चों पर पूर्ण अधिकार था। उनक अपनी कोई सम्पत्ति नहो होती थी। सैद्धान्तिक रूप में पत्नी की स्थिति पूर्ण अधीनत की स्थिति थी। कानून में पति के विरुद्ध उसका कोई अधिकार अथवा स्वतंत्र स्थि नहीं होती थी। भारतीय नारी अपने पति की दासी थी। विवाह से पूर्व अपने पित की आज्ञा का पालन करना, विवाह के पश्चात् पति के आदेशो का पालन करना तथ वैधव्य की स्थिति में अपने पुत्र की आज्ञा मे रहना उसका कर्तव्य था। अर्वाची काल में भारतीय नारी की स्थिति मे कुछ कानूनों द्वारा सुधार किया गया है तथापि परम्परागत परिवारो में वह अब भी अपने पति के शासन के अधी रहती है।

कभी-कभी पितृसत्तात्मक परिवार मे किसी व्यक्तिगत स्त्री को विशे प्रसिद्ध प्राप्त हो सकती है। परन्तु यह केवल अपवाद मात्र है, क्योंकि स्त्री को घ से बाहर जाने तथा सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का कम अवसर प्राप्त होता है एथेन्स में, पत्नी एवं पुत्रियो को 'जनानखाने' में रखा जाता था। वे कुलपित

1. Sidgwick, *Development of European Polity*, p 47.

आज्ञा के बिना बाहर नही जा सकती थीं। चीन में, लड़कियों के पैर बांध देने प्रथा थी, जिसका एक आशय यह भी था कि उन्हें घर से बाहर जाने की तंत्रता नही थी।

पितृसत्तात्मक परिवार की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित है—

(i) पत्नी विवाह के उपरांत पति के घर रहने जाती है।

(ii) पिता परिवार की सम्पत्ति का सर्वोच्च स्वामी होता है।

(iii) वंशावली पिता के माध्यम से चलती है। बच्चो को उनके पिता के म से पुकारा जाता है।

(iv) बच्चे केवल अपने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो सकते हैं। हे माता के परिवार की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही होता।

तृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal Family)

मैकाइवर (MacIver) इसे मातृसत्तात्मक न कहकर मातृक (maternal) हना अधिक अच्छा समझता है। मातृसत्तात्मक परिवार में शक्ति परिवार की खिया स्त्री के हाथों मे रहती है, जबकि पुरुष उसके अधीन होता है। वह सम्पत्ति स्वामिनी होती है तथा परिवार पर शासन करती है। इस विषय में कुछ संदेह है क्या इस प्रकार के परिवारों का समाज मे अस्तित्व था, भले ही मार्गन Morgan), मैकलेनन (McLennan) एवं बैंचोपन (Bachopen) इसे रवार का आरम्भिक रूप मानते है। बैंचोपन का विचार है कि मानवता आदिम ल में वर्णसंकर की अवस्था मे रहती थी तथा परिवार का सबसे पहला रूप तृक था। मार्गन, जिसे अमेरिकन मानवशास्त्र का पिता कहा जाता है, का कथन कि परिवार कई अवस्थाओ, निम्नतम संकरता से उच्चतम एकपत्नीत्व, के बीच गुजरा है। मातृसत्तात्मक परिवार के मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं—

(i) वशावली माता के माध्यम से चलती है, पिता की रेखा से नही, ोकि मातृत्व एक वास्तविकता है, जबकि पैतृत्व केवल एक विचार है। इसे तृवंशीय (matrilineal) व्यवस्था कहा जाता है।

(ii) विवाह-संबंध अस्थायी होते हैं। पति कभी-कभी आकस्मिक मुलाकाती ता है।

(iii) बच्चो का पालन-पोषण पत्नी के संबंधियो के घर में होता है। वंशा- लीन केवल मातृक, अपितु मातृस्थानीय (matrilocal) होती है।

(iv) परिवार में सत्ता पत्नी अथवा पत्नी के रिश्तेदारों के किसी प्रतिनिधि हाथ में होती है।

(v) सम्पत्ति का हस्तांतरण माता के माध्यम से होता है तथा केवल स्त्रियां ी उत्तराधिकारिणी होती हैं।

मातृसत्तात्मक परिवार आदिम लोगों, जो घुमक्कड़ अथवा शिकारी का ीवन व्यतीत करते थे, में प्रचलित था। शिकारी युग में पिता दूर-दूर शिकार की ोज मे घूमा करता था, वह कभी-कभार ही घर आता था तथा लम्बे समय तक घर

से बाहर ही रहता था । घर से पिता की अनुपस्थिति के कारण स्त्री घर की अगुवा बन गई । यह अधिक समय तक परिवार की नेता बनी रहती थी । अतएव उसे परिवार में शक्ति प्राप्त हो गई । ब्रिफाल्ट (Briffault) ने अपनी पुस्तक 'The Mothers' में आदिम जातियों के पितृसत्तात्मक एवं मातृवंशीय संस्थाओं के उदाहरण दिए हैं । उसका तर्क है कि परिवार का आरम्भिकतम रूप मातृसत्तात्मक था । कृषि के विकास एवं पुरुष के आर्थिक प्रभुत्व के कारण ही पितृसत्तात्मक रूप का जन्म हुआ ।

मातृसत्तात्मक व्यवस्था संसार के कई स्थानों पर प्रचलित रही है, जैसे कि उत्तरी अमेरिका के भारतीयों में । मालाबार तथा भारत के कुछ अन्य भागों में । 'इरोकुइस' (Iroquois) भारतीयों को मातृनामी (metronymic) कहा गया है, क्योंकि कबीलों की सरकारें किसी हद तक स्त्रियों के हाथों में थीं । ट्राब्रियाण्ड (Trobriand) द्वीप के निवासियों में पितृत्व की अज्ञानता के तथ्य को मातृशासन (matriarchy) अथवा मातृसत्तात्मक वंश-परम्परा के समर्थन में प्रस्तुत किया गया है । जो शक्ति खासी (Khasi) पत्नी को परिवार की सम्पत्ति के ऊपर प्राप्त है तथा कुछ कबीलों में यह प्रथा कि स्त्रियों को घरों की स्वामिनी समझा जाता है, भले ही वे पुरुषों द्वारा बनाए अथवा खरीदें हुए हों, मातृशासन की पुष्टि करते हैं ।

कुछ भी हो, यह तथ्य कि इतिहास में स्त्रियों को आधिकारिक शक्ति प्राप्त थी, मातृसत्तात्मक व्यवस्था के निर्णायक साक्ष्य नहीं हैं । आज भी ब्रिटेन में महारानी एलिजाबेथ-द्वितीय का शासन है; भारत में श्रीमती इंदिरा गांधी का शासन रहा है । इन तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ब्रिटेन अथवा भारत में मातृसत्तात्मक व्यवस्था है । यह विचार कि मातृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री की स्थिति पितृसत्तात्मक व्यवस्था की अपेक्षा श्रेष्ठतर होती है, ठीक नहीं है । ब्राजीलियन गायना (Brazilian Guinea) के पितृवंशीय पोलिकर (Polikur) में स्त्री की दशा हिडात्सा (Hidatsa) के मातृवंशीय क्रो (Crow) की अपेक्षा अधिक अच्छी है । मातृवंशीय प्रथा ट्राब्रियांड द्वीप-निवासियों, अमेरिकन इरोकुइसों, लंका के वेडासों (Veddas), तथा कुछ अफ्रीकी कबीलों में भले ही वर्तमान हो, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि माता परिवार पर शासन करती है । मातृवंशीय व्यवस्था में माता केवल हस्तांतरण का माध्यम है, शक्ति की वास्तविक स्वामिनी नहीं । यह केवल 'मातृक अधिकार' की सूचक है, न कि 'मातृक-शासन' की ।

मातृवंशीय अथवा मातृस्थानीय परिवार की रचना सभी कबीलों में, जहाँ यह प्रचलित है, समान नहीं है । भारत में केरल के नायर तथा आसाम के खासी एवं गारो मातृवंशीय लोग हैं । परन्तु खासी परिवार की रचना गारो परिवार से भिन्न है । दक्षिण-पश्चिम में, मातृवंशीय रचना उत्तर-पूर्व से भिन्न है । खासियों में मातृस्थानीय निवास एवं मातृवंशीय वंश-परम्परा पायी जाती है । सम्पत्ति स्त्रियों के माध्यम से हस्तांतरित होती है तथा केवल स्त्रियाँ को उत्तराधिकारिणी हो सकती हैं । परन्तु परिवार की सम्पत्ति अविभाजनीय है । गारो में भी, वंश-परम्परा मातृवंशीय है तथा मातृस्थानीय निवास है । सम्पत्ति का हस्तांतरण स्त्रियों के माध्यम

से होता है, परन्तु सभी स्त्री सदस्यों को परिवार की सम्पत्ति में हिस्सा नहीं मिलता। माता-पिता एक पुत्री को उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते हैं। इस पुत्री का ज्येष्ठतम अथवा कनिष्ठतम होना आवश्यक नहीं है। यद्यपि स्त्री सम्पत्ति की स्वामिनी होती है, परन्तु पति उसको नियंत्रित करता है।

(२) रचना (Structure) के आधार पर परिवार को केन्द्रीय (nuclear) तथा विस्तारित (extended) परिवार में वर्गीकृत किया गया है। केन्द्रीय परिवार वह है जिसमें पति-पत्नी तथा उनके बच्चे सम्मिलित होते हैं। विवाह हो जाने पर बच्चे माता-पिता के परिवार को छोड़ देते है। केन्द्रीय परिवार एक स्वतंत्र इकाई है जिस पर बड़ों का नियंत्रण नही होता। क्योंकि नवविवाहित अलग निवास-स्थान बना लेते हैं। अतएव माता-पिता तथा बच्चों अथवा माता-पिता एवं दादा-दादी के बीच भौतिक दूरी बढ़ जाती है तथा उनमें अन्योन्याश्रिता कम हो जाती है। अमेरिकन परिवार केन्द्रीय परिवार है।

विस्तारित परिवार में सभी भाई, उनकी पत्नियाँ एवं बच्चे तथा अविवाहित कन्याएँ एक ही घर में माता-पिता के साथ रहती हैं। वृद्धतम पुरुष घराने का शासक होता है जिसका उत्तराधिकारी ज्येष्ठतम पुत्र होता है। हिन्दू परिवार विस्तारित परिवार है।

(३) निवास-स्थान (Residence) के आधार पर परिवार का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

(i) मातृस्थानीय परिवार (Matrilocal family)—इस प्रकार के परिवार मे पति पत्नी के घर रहने जाता है।

(ii) पितृस्थानीय परिवार (Patrilocal family)—इसमे पत्नी पति के घर रहने जाती है।

(४) विवाह (Marriage) के आधार पर परिवार का वर्गीकरण निम्न है—

(i) एकपत्नी परिवार (Monogamous family)—इसमें पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है।

(ii) बहुपत्नी परिवार (Polygamous family)—इस परिवार मे पुरुष एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता है।

(iii) बहुपति परिवार (Polyandrous family)—इसमे एक स्त्री एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करती है तथा उन सबके साथ अथवा क्रमशः एक दूसरे के साथ रहती है।

(५) वंश-परम्परा (Ancestry) के आधार पर परिवार मातृवंशीय तथा पितृवंशीय हो सकता है।

मातृवंशीय परिवार में माता वंश-परम्परा का आधार होती है। परिवार के प्रत्येक सदस्य के अधिकार माता के साथ उसके सम्बन्ध पर आधारित होते है।

पितृवंशीय परिवार में वंश-परम्परा पिता के माध्यम से चलती है। यह परिवार का आजकल प्रचलित रूप है।

(६) अन्तःसमूह एवं बाह्यसमूह सम्बन्धों (Ingroup and outgroup affiliations) के आधार पर परिवार अन्तःवैवाहिक (endogamous) तथा बहिर्विवाहिक (exogamous) हो सकता है। अन्त.वैवाहिक परिवार में अन्तःसमूह के सदस्यों में ही विवाह हो सकता है, जबकि बहिर्विवाहिक परिवार में बहिर्विवाह समूह के सदस्यों के साथ ही विवाह हो सकता है।

(७) नातेदारी (Blood relationship) के आधार पर परिवार को विवाह-सम्बन्धी परिवार (conjugal) तथा रक्त-सम्बन्धी (consanguinous) परिवार में विभक्त किया जा सकता है। विवाह-सम्बन्धी परिवार मे पति-पत्नी, उनके बच्चे एवं विवाह के आधार पर संबधित रिश्तेदार होते हैं। रक्त-सम्बन्धी परिवार मे रक्त-सम्बन्धी तथा उनके जीवन-साथी एवं बच्चे होते हैं।

इस तथ्य का भी उल्लेख कर देना वाछनीय होगा कि पितृसत्तात्मक अथवा पितृवंशीय अथवा पितृस्थानीय परिवार मातृसत्तात्मक अथवा मातृवंशीय अथवा मातृस्थानीय परिवार की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। खासी मातृवंशीय परिवार मे भी विघटन की प्रक्रिया चल रही है, जिसका अशत. कारण ईसाई धर्म का प्रभाव तथा अंशतः शिक्षित खासियों का नगरों मे प्रवास है। यद्यपि नवीन सामाजिक एवं आर्थिक शक्तियो के फलस्वरूप परम्परागत पितृसत्तात्मक परिवार के स्वरूप मे भी परिवर्तन आ गया है, तथापि संसार के अधिकांश भागो मे परिवार-व्यवस्था पितृसत्तात्मक ही है।

५ परिवार के कार्य

(Functions Of Family)

डेविस (Davis) ने परिवार के प्रमुख सामाजिक कार्यों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है—संतानोत्पत्ति, भरण-पोषण, स्थान-व्यवस्था एवं बच्चों का समाजीकरण। यह कुछ व्यक्तिगत कार्य भी करता है, परन्तु ऐसे कार्य इसके सामाजिक कार्यों के उपसिद्धान्त हैं।

लुंडबर्ग (Lundberg) ने परिवार के चार मूल कार्यों का वर्णन किया है—

(i) लैंगिक व्यवहार का नियमन तथा संतानोत्पत्ति;

(ii) बच्चों की देखभाल एवं उनका पालन-पोषण;

(iii) सहयोग एवं श्रम-विभाजन,

(iv) प्राथमिक समूह-संतुष्टियाँ।

इसके अतिरिक्त अन्य गौण कार्य भी है—

आगबर्न (Ogburn) ने परिवार के कार्यों को छः श्रेणियों मे विभक्त किया

है—(i) स्नेह-सम्बन्धी (affectional), (ii) आर्थिक (economic), (iii) मनोरंजनात्मक (recreational), (iv) सुरक्षात्मक (protective) (v) धार्मिक (religious), तथा (vii) शैक्षिक (educational)।

रीड (Reed) ने परिवार के निम्नलिखित कार्य बतलाये है—(i) प्रजाति संचरण, (ii) समाजीकरण, (iii) लैंगिक आवश्यकताओ का नियमन एव उनकी पूर्ति, (iv) आर्थिक कार्य।

मैकाइवर (MacIver) ने परिवार के कार्यों को अनिवार्य (essential) तथा ऐच्छिक (non-essential) में विभक्त किया है। अनिवार्य कार्यों के अंतर्गत उसने (i) लैंगिक आवश्यकता की स्थिर पूर्ति, (ii) संतानोत्पत्ति एवं बच्चों का पालन-पोषण, तथा (iii) घर की व्यवस्था को सम्मिलित किया है। गैरजरूरी कार्यों में उसने धार्मिक, शैक्षिक, आर्थिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी एवं मनोरंजन को सम्मिलित किया है। उसके अनुसार ये कार्य अब समाज में वर्तमान विशेषीकृत संस्थाओ को हस्तांतरित हो गए हैं।

अनिवार्य कार्य (Essential Functions)

(i) **लैंगिक आवश्यकता की तुष्टि** (Satisfaction of sex need)—यह परिवार का सर्वप्रथम अनिवार्य कार्य है। प्राचीन भारतीय विधिशास्त्री मनु लैंगिक संतुष्टि को परिवार का ध्येय मानता था। वात्स्यायन ने भी इसे परिवार का प्रमुख उद्देश्य कहा है। लैंगिक सतुष्टि पुरुष एवं स्त्री के बीच जीवन-पर्यन्त साथी बने रहने की इच्छा उत्पन्न करती है। कामभावना की तुष्टि सामान्य व्यक्तित्व को जन्म देती है। यदि कामभावना का दमन किया जाय तो व्यक्तित्व का संतुलन बिगड़ जाता है तथा सामाजिक सम्बन्ध भी बिगड़ जाते हैं। हैवलाक (Havelock) के अनुसार, "लैंगिक मधुरता की असफलता वैवाहिक बन्धन को शिथिल बना देती है।" आधुनिक परिवार में परम्परागत परिवार की अपेक्षा कामवासना की तुष्टि अधिक मात्रा में होती है। प्राचीन परिवार मे लैंगिक कर्म संतानोत्पत्ति एवं गर्भ के भय से जुड़ा हुआ था, जिस कारण दम्पति अपनी कामवासना को पूर्ण रूप से संतुष्ट करते घबराते थे। परन्तु आधुनिक परिवार में परिवार नियोजन के साधनो एव गर्भनिरोधको के आविष्कार से लैंगिक सतुष्टि का कार्य सरल हो गया है। आधुनिक पत्नी गर्भ के भय से मुक्त होकर लैंगिक भावना की तुष्टि अच्छी प्रकार कर सकती है।

यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जबकि कुछ समाजों में पूर्वविवाह एवं अतिरिक्तविवाह सम्भोग मान्य है, तथापि प्रत्येक समाज मे ऐसे संभोगों पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य होते है। कोई भी समाज पूर्णतया लैंगिक संकर (promiscuous) नही है। यह भी ध्यान रहे कि ऐसे समाज मे, जहाँ पति-पत्नी के सभोग को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के लैंगिक सम्बन्ध कानून एवं रीति-रिवाजों द्वारा प्रतिबधित हैं, भी पूर्वविवाह संभोग मान्य है। अनेक समाज तो अक्षतयोनि विवाह के विचार को मूर्खतापूर्ण मानते हैं। ऐसे समाजों में पूर्वविवाह लैंगिक अनुभव को विवाह की तैयारी, न कि मनोरजनात्मक खेल समझा जाता है। इसका उद्देश्य साधारणतया प्रजनन-शक्ति का निश्चय करना होता है। इनमें से अधिकाश समाजों ने न केवल पूर्व-विवाह लैंगिक व्यवहार की आज्ञा दे रखी है, अपितु इसे सस्थायीकृत भी कर रखा है।

(ii) **संतानोत्पत्ति तथा पालन-पोषण** (Production and rearing of children)—लिंग-संतुष्टि का अवश्यम्भावी परिणाम गर्भधारण है। प्रजाति की निरन्तरता को स्थिर रखना परिवार का महत्वपूर्ण कार्य है। हिन्दूशास्त्रों का विधान है कि मनुष्य की धार्मिक क्रियाएँ उस समय तक सम्पन्न नहीं होतीं, जब तक उसके पुत्र न हो। पहली पत्नी से बच्चा न होने की दशा में दूसरा विवाह करने की अनुमति है। हिन्दू विवाह पद्धति में वर वधू से कहता है कि "मैं तुमको श्रेष्ठ संतान-उत्पत्ति के लिए स्वीकार करता हूँ।" यद्यपि बच्चे का जन्म परिवार के बिना भी हो सकता है, परन्तु कोई भी समाज अवैध बच्चों को मान्यता नहीं देता। संतानोत्पत्ति तथा बच्चों के पालन-पोषण के लिए परिवार सर्वोत्तम संस्था है। कुछ देशों, यथा रूस में क्रांति के पश्चात् बच्चो के सामूहिक पालन-पोषण के प्रयोग किये गए, परन्तु इन प्रयोगों को शीघ्र ही तिरस्कृत कर दिया गया। बच्चे के पालन-पोषण का कार्य आजकल भूतकाल की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार किया जा सकता है, क्योंकि अब अज्ञात एवं नवजात बच्चे की देखभाल के लिए अधिक ज्ञान एव सुविधायें उपलब्ध हैं। बाल मृत्यु-दर काफी घट गई है। बच्चे के पालन-पोषण में परिवार के सहायतार्थ अनेक विशिष्ट सस्थाएँ, बाल-कल्याण केन्द्र आदि भी काम करते है। पश्चिमी देशों में एकत्रित आँकड़ों के अनुसार, अवैध बच्चो की संख्या में कमी हो रही है, वेश्यावृत्ति समाप्त हो रही है तथा विवाहों की संख्या में वृद्धि हो रही है, जो इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि संतानोत्पत्ति का कार्य परिवार के द्वारा ही किया जाता है।

कहा जाता है कि सन्तति-निग्रह के साधनों के प्रयोग से आधुनिक परिवार संतानोत्पत्ति के कार्य को त्याग रहा है तथा एक समय ऐसा आ सकता है, जब समाज के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जाए। परन्तु ऐसा भय निर्मूल है, क्योंकि मानवता शीघ्र की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुरूप अपना अनुकूलन कर लेती है।

(iii) **घर की व्यवस्था** (Provision of a home)--मनुष्य की अन्य आवश्यकताओ मे घनिष्ठ मानवी अनुक्रिया की आवश्यकता महत्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि मानसिक परेशानियों, व्यवहार-सम्बन्धी समस्याओ का सबसे प्रमुख अकेला कारण प्रेम का अभाव, अर्थात् घनिष्ठ साथियो के छोटे से दायरे में स्नेहमय एवं मधुर सम्बन्धों का अभाव है। परिवार मानव-प्राणियो की स्नेह के लिए आवश्यकता को पूर्ण करता है। अधिकाश समाज स्नेहमयी अनुक्रिया के लिए लगभग पूर्ण रूप से परिवार पर निर्भर है। मनुष्य दिन भर के कठोर परिश्रम के बाद घर लौटता है, जहाँ वह पत्नी तथा बच्चों के बीच अपनी थकान को दूर करता है। यद्यपि आधुनिक समय में अनेक क्लब, होटल आदि हैं, जो मनुष्य के मनोरंजन की व्यवस्था करते हैं, परन्तु जो आनन्द पुरुष अपने घर मे पत्नी, माता-पिता एवं बच्चो के मधुर दायरे में महसूस करता है, वह होटल एवं क्लब के क्षणिक मनोरंजन से कहीं अधिक सुखदायी एवं उत्तम है। इन अन्य मनोरजनात्मक एजेन्सियों के बावजूद भी घर अभी तक स्वर्ग-सा पवित्र स्थान है, जहाँ इसके सदस्यों को विश्राम एवं स्नेह मिलता है।

(i) **अप्रधान कार्य** (Non-essential functions)—परिवार के अप्रधान कार्य अनेक एवं विविध हैं। सर्वप्रथम, यह एक आर्थिक इकाई है। परम्परागत

परिवार में उपभोग की अधिकांश वस्तुएँ घर में ही तैयार की जाती थीं। परिवार के सभी सदस्य पारिवारिक उद्योगों में लगे रहते थे। प्राचीन हिन्दू संयुक्त परिवार एक प्रकार से पारस्परिक बीमा समुदाय का कार्य करता था। यह उत्पादन की इकाई तथा आर्थिक गतिविधियों का केन्द्र था। आजकल आर्थिक इकाई के रूप में परिवार का महत्व घट गया है, क्योंकि उपभोग की अधिकांश वस्तुएँ, यहाँ तक कि भोजन भी, बाजार से तैयार खरीद ली जाती हैं। आधुनिक परिवार के सभी सदस्य इकट्ठे कार्य नहीं करते, जैसा कि वे पुराने परिवार में किया करते थे। वे घर से बाहर विभिन्न कार्यों को करते हैं। परन्तु तब भी प्राचीन परम्परा पूर्णतया नष्ट नहीं हुई है, इसमें केवल परिवर्तन आया है। परिवार में कुछ न कुछ कार्य किया ही जाता है, भले ही यह भिन्न प्रकार का तथा भिन्न वातावरण में किया जाता हो। पुरुष और स्त्री के मध्य स्पष्ट श्रम-विभाजन होता है। परिवार के सदस्य परिवार के आर्थिक अनुकूलन में सहायता करते हैं। प्रत्येक परिवार का अपना आर्थिक सामर्थ्य होता है। सदस्य परिवार के लिए चल एवं अचल सम्पत्ति खरीदते हैं। सम्पत्ति एक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था है, जिसकी परिवार रक्षा करता है। सम्पत्ति का समान वितरण परिवार का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

(ii) धार्मिक (Religious)—परिवार का दूसरा अप्रधान कार्य धार्मिक प्रकार का है। यह बच्चों के लिए धार्मिक प्रशिक्षण का केन्द्र है, जो वे विभिन्न धार्मिक गुणों के द्वारा माता-पिता से सीखते हैं। पुराने परिवार में विभिन्न धार्मिक क्रियाएँ, यथा मूर्तिपूजा, यज्ञ, धार्मिक प्रवचन एवं उपदेश होते थे जिससे बच्चों का दृष्टिकोण धार्मिक बन जाता था। हिन्दू शास्त्रों में पत्नी के बिना धार्मिक रीतियाँ अपूर्ण समझी गई हैं। आधुनिक परिवार में धार्मिक संस्कार नहीं होते तथा इसका दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष बन गया है। पारिवारिक प्रार्थनाओं का अब रिवाज नहीं रहा है।

(iii) शैक्षिक (Educational)—परिवार का अन्य कार्य बच्चों की शिक्षा है। परिवार एक महत्वपूर्ण शैक्षिक इकाई है। बच्चा अपना पहला पाठ माता-पिता की देखरेख में सीखता है, यद्यपि वह आजकल इसे 'किंडरगार्टन' में सीखने लगा है। परम्परागत परिवार व्यावसायिक शिक्षा का केन्द्र था, क्योंकि बच्चों को बचपन से ही घरेलू व्यवसाय से सम्बद्ध कर दिया जाता था। आधुनिक परिवार ने व्यावसायिक शिक्षा का कार्य औद्योगिकी संस्थानों को सुपुर्द कर दिया है।

(iv) स्वास्थ्य-सम्बन्धी (Health)—इसी प्रकार स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्य जो कभी परिवार द्वारा किये जाते थे, अब चिकित्सालयों को हस्तांरित कर दिये गये है। पहले रोगी की देखभाल उसके सम्बन्धियों द्वारा परिवार में ही होती थी, परन्तु अब उसे अस्पताल में भर्ती कर दिया जाता है, जहाँ नर्सें उसकी देखभाल करती हैं। बच्चे का जन्म अब स्नेहपूर्ण घर के वातावरण में नहीं होता, अपितु स्नेहहीन, परन्तु सुसज्जित अस्पताल के प्रसूति-वार्डों में होता है। यह कहने की अपेक्षा कि 'यह वह घर है जहाँ मेरा जन्म हुआ था', आधुनिक हालात को देखते हुये यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि "यह वह अस्पताल है जहाँ मैं जन्मा था।"

(v) मनोरंजन (Recreation)—पुराना परिवार अपने सदस्यों का मनोरंजन भी करता था। वे इकट्ठे गाते तथा नृत्य किया करते थे तथा पारिवारिक सम्बन्धियों से मिलने जाते थे। आधुनिक परिवार में सम्बन्धो का स्वरूप सामूहिक न होकर व्यक्तिगत हो गया है। मनोरंजन के वर्तमान साधन, यथा टैनिस, ब्रिज, कैरम एवं सिनेमा एक या दो सदस्यों को मनोरंजन प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त अब मनोरंजन परिवार के स्थान पर होटल अथवा क्लब मे होता है।

(vi) नागरिक (Civic)—परिवार नागरिक गुणों की पाठशाला है। बच्चा नागरिकता का प्रथम पाठ परिवार में सीखता है। प्रेम, सहयोग, सहनशीलता, त्याग, आज्ञापालन एव अनुशासन के गुण बच्चे द्वारा परिवार में सीखे जाते हैं। इन गुणों को सीखकर बच्चा अच्छा नागरिक बनता है। इसी कारण, परिवार को नागरिक गुणो का पालना कहा गया है।

(vii) सामाजिक (Social)—परिवार सामाजिक रीति-रिवाजों का ज्ञान कराता है। यह अपने सदस्यों पर सामाजिक नियंत्रण रखता है जिससे सुसंगठित समाज की स्थापना में सहायता मिलती है। परिवार सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण अभिकरण है। यह संस्कृति-का रक्षक भी है।

समाजीकरण में परिवार का महत्व (Role of Family in Socialization)

हम छठे अध्याय में समाजीकरण की प्रक्रिया का पूर्व ही वर्णन कर चुके हैं। यहाँ हम इस प्रक्रिया में परिवार के महत्व पर प्रकाश डालना चाहते हैं। अपनी अनेक विशेषताओं के कारण परिवार समाजीकरण की प्रक्रिया मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सर्वप्रथम, परिवार मे ही बच्चा पहले आता है। वह इसमे जन्म लेता है। उसे समाज का कोई ज्ञान नहीं होता तथा बाद के वर्षों की अपेक्षा बचपन में अधिक नम्य होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ परिवार मे होता है। यह वह भूमि तैयार करता है, जिस पर बाद के अभिकरण निर्माण करते हैं। निर्माण-काल मे बच्चे के समय एवं उसके अनुभवों पर इसका सर्वाधिकार होता है। दूसरे बच्चे के ऊपर अन्य समूहों की अपेक्षा परिवार का प्रभाव अधिक टिकाऊ एवं गहन होता है। बच्चा अपने बचपन के क्रीड़ा-साथियों को छोड़ देता है, स्कूल बदल लेता है, स्कूल के साथियों को भूल जाता है, परन्तु माता-पिता उसके प्रारम्भिक जीवन के अधिकांश समय तक घनिष्ठ सम्पर्क बनाये रखते हैं। तीसरे, परिवार एक प्राथमिक समूह है। इसके सदस्यों में 'हम' भावना होती है, जो पारिवारिक भावनाओं एवं अभिवृत्तियों के पारगमन मे सहायक होती है। चतुर्थ, कोई अन्य समूह बच्चे की आवश्यकताओं को उतनी मात्रा तक पूरा नहीं करता जितना कि परिवार करता है। इस विषय में कोई भी समूह परिवार का प्रतियोगी नही हो सकता। पाँचवें, परिवार में दोनों—सत्तात्मक एव समानात्मक प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं। प्रत्येक प्रकार का सम्बन्ध समाजीकरण का एव विचित्र एवं आवश्यक तत्व है तथा परिवार में ये दोनों तत्व पाये जाते हैं। बच्चा मनुष्य, पति एवं पिता के रूप में रहना सीखता है, क्योंकि वह मनुष्य, पति एवं पिता द्वारा शिरोविभूषित परिवार में रहा है। अंतिम, बच्चा सदा स्वयं को अपने परिवार से सम्बन्धित रखता है। परिवार ही एक ऐसा समूह है जो मनुष्य के जीवन में सदैव वर्तमान रहता है।

इस प्रकार, परिवार अन्य किसी समूह की अपेक्षा अपनी सामूहिक स्थिति के कारण बच्चे की आदतों, अभिवृत्तियों एवं उसके सामाजिक अनुभवों पर निरन्तर, घनिष्ठ एवं महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यह व्यक्तित्व के निर्माण में सर्वप्रमुख भूमिका अदा करता है। सामाजिक संरचना में इसका मूल स्थान है।

६. आधुनिक परिवार
(The Modern Family)

आदि ऐतिहासिक समय में जिसका अभिलेख उपलब्ध है, परिवार मुख्यतया पितृसत्तात्मक थे, जिसमें पिता अथवा अन्य कोई पुरुष व्यक्ति परिवार के समूचे जीवन को नियंत्रित करता था। मातृ-शासन के अर्थ में तथाकथित मातृप्रधान व्यवस्था सामान्य नहीं थी। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, मातृप्रधान व्यवस्था जो प्रचलित थी, मे माता के अधिकार, न कि मातृशासन, को मान्यता दी गई थी। यूरोप में सामन्ती काल तक पितृसत्तात्मक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। सामन्ती शासन मे स्त्रियों की स्थिति और भी अधिक अधीनस्थ हो गई, जबकि पुरुष सदस्यो की स्थिति मे वृद्धि हुई जो सामन्तवाद के अधिकारयुक्त लोकाचारों का आवश्यक उपसिद्धान्त था।

पितृसत्तात्मक परिवार के पतन के कारण (Causes of the decay of patriarchal family)—धर्म-सुधार तथा पुनर्जागरण के उपरान्त विज्ञान एवं प्रजातन्त्र के युग का आरम्भ हुआ जिसने पितृसत्तात्मक परिवार की नींव को हिला दिया। एक ओर आर्थिक तत्व औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं गतिशीलता थे जिन्होंने पितृसत्तात्मक परिवार की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया तथा दूसरी ओर सांस्कृतिक तत्व प्रजातंत्रीय विचारों का विकास एवं धार्मिक रूढ़िवादिता का पतन थे जिनका पितृसत्तात्मक परिवार के विशेषाधिकारों एवं मनोवृत्तियों के साथ कम मेल था। इन तत्वों ने संयुक्त रूप से जिसे रूबेनहिल (Reubenhill) ने 'पारिवारिक पितृप्रधान' (familistic-patriarchal) परिवार कहा है, को समाप्त कर 'व्यक्ति-केन्द्रित प्रजातंत्रीय' (person-centred democratic) प्रकार के परिवार को जन्म दिया। इन तत्वों पर पृथक् विचार कर लेना चाहिये—

(i) **आर्थिक तत्व** (Economic factors)—औद्योगिक क्रांति ने हस्त-यंत्रों के स्थान पर शक्ति-संचालित यंत्रों को प्रस्थापित किया। उत्पादन की नवीन विधियों की प्रगति ने पुराने परिवार से उसके आर्थिक कार्य छीन लिये। नये भारी मशीनों वाले कारखाने स्थापित हुए, जिन्होंने परिवार के धन्धों एवं श्रमिकों को ले लिया। अब कपड़ा घर की खड्डियों पर न बनकर कपड़े के कारखानों में बनता था। कारखाने मे कार्यहेतु सहस्रों श्रमिकों की आवश्यकता थी जो घरों से निकाले गए। न केवल पुरुष, अपितु स्त्रियाँ भी कारखाने में काम करने जाने लगीं। स्त्रियों के कार्य पुरुषों की भाँति विशेषीकृत हो गये। परिवार के विविध कार्यों मे व्यस्त रहने की अपेक्षा स्त्रियाँ कारखानों एवं कार्यशालाओं में काम के लिए जाने लगी। स्त्रियाँ एवं पुत्रियाँ, पुरुषों एवं पुत्रों की भाँति परिवार की अर्जनशील सदस्य

बन गईं। स्त्रियों की इस अर्जन-शक्ति ने उन्हें पुरुषों के ऊपर निर्भरता से मुक्त कर दिया। १९५२ में अमेरिका में अर्जनशील जनसंख्या का २९.८ प्रतिशत भाग स्त्रियाँ थीं। इनमें से एक-तिहाई से अधिक स्त्रियाँ विवाहित थीं। इस प्रकार, आर्थिक एवं औद्योगिक परिवर्तनों ने पितृसत्तात्मक परिवार के स्वरूप को अत्यधिक प्रभावित किया। "परिवार" जैसा कि मैकाइवर ने कहा, "उत्पादन इकाई से उपभोक्ता इकाई में परिवर्तित हो गया।"[1]

औद्योगिक आविष्कारों ने अन्य प्रकार से भी पितृप्रधान परिवार को प्रभावित किया। इसने न केवल स्त्रियों की भारी संख्या को कर्मशालाओं में एवं घरेलू निर्मित वस्तुओं के स्थान पर बाजार-निर्मित वस्तुओं को प्रस्थापित किया, अपितु पारिवारिक कार्यों में श्रम बचत साधनों को भी आरम्भ किया। भोजन बनाने, कपड़े धोने, बच्चों के पालन में विभिन्न यन्त्रों का प्रयोग किया जाने लगा, जिससे घरेलू पत्नी के समय और उसकी शक्ति की बचत हुई। वह अब अपना समय एवं शक्ति अनिवार्य कार्यों पर लगा सकती थी।

औद्योगीकरण का एक अपरिहार्य परिणाम नगरीकरण का विकास हुआ है। नगरीकरण ने न केवल घर के आकार को, अपितु पारिवारिक जीवन की अनिवार्यताओं को भी प्रभावित किया है। इसने अनौपचारिक नियंत्रणों के स्थान पर कानूनी नियंत्रणों को प्रस्थापित किया है तथा परिवार को उन विशिष्ट अभिकरणों, जो तार्किक ढंग से विशेष हितों की देखभाल करते हैं, जिनके प्रति कोई आजीवन दायित्व निहित नहीं है, का प्रतियोगी बना दिया है। सामाजिक गतिशीलता ने पारिवारिक संरचना को और भी अधिक शिथिल बना दिया है।

(*ii*) **सांस्कृतिक तत्त्व** (Cultural factors) — राजनैतिक क्षेत्र में प्रजातंत्रीय संस्थाओं के उदय ने सामन्तवाद के अधिकारयुक्त लोकाचारों पर प्रहार किया। प्रजातंत्रीय राज्य ने परिवार के सदस्यों पर पिता के अधिकारों को समाप्त कर उन विषयों का जिन पर पिता को सर्वोच्च शक्ति प्राप्त थी, निर्णय करने के लिए अपने ही न्यायालयों की स्थापना की। अब तक सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों के नाते गृहस्थ को मतदान का जो अधिकार प्राप्त था, अब व्यक्तिगत अधिकार बन गया। परिवार के धार्मिक कृत्य भी घटने लगे। परिवार के दैवी विधान समझने एवं पिता के शासन को दैविक समझने की परम्परा शिथिल पड़ गई। जीवन-साथी का चयन माता-पिता द्वारा न होकर स्वयं व्यक्ति द्वारा किया जाने लगा। स्त्रियों को नयी राजनीतिक एवं कानूनी स्थिति प्राप्त हुई तथा वे आर्थिक रूप से स्वयं को स्वतन्त्र महसूस करने लगीं। अर्नेस्ट आर० मोरर (Ernest R. Mowrer) ने लिखा है, "यद्यपि अब भी पारिवारिक नाम पति के नाम पर चलता है, तथापि वह अनेक परिवारों में विभक्त घराने का मुखिया नहीं रहा है। वस्तुतः यदि उसके बच्चे उसे टाँग अड़ाने वाला बाहरी व्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ समझते हैं तो वह सौभाग्यशाली है।" विवाह अब स्त्री की पति के प्रति पूजा न होकर समान शर्तों पर साथ रहने की संविदा है।

1. MacIver, *op. cit*, p. 283.

उपर्युक्त तत्वों ने पितृसत्तात्मक परिवार पर भीषण संघात किया तथा आधुनिक परिवार की स्थापना की, जिसकी संरचना एवं जिसके कार्य परम्परागत परिवार से काफी भिन्न हैं।

आधुनिक परिवार की विशेषताएँ (Features of Modern Family)

ऊपर हमने उन तत्वों का वर्णन किया है, जिन्होंने परम्परागत पैतृक परिवार के स्थान पर आधुनिक परिवार को प्रस्थापित किया है। अब हम आधुनिक परिवार की कुछ विशेषताओं का वर्णन करेंगे—

(i) **विवाह संविदा का ह्रसित नियन्त्रण** (Decreased control of marriage contract)—विवाह परिवार का आधार है। परम्परागत परिवार में विवाह का निश्चय माता-पिता द्वारा किया जाता था। विवाह-क्रिया पुरुष की शक्ति-मत्ता एवं नारी के आज्ञापालन के सिद्धान्त पर आधारित थी। आधुनिक परिवार में लोग पैतृक नियन्त्रण के कम अधीन हैं कि वे किसके साथ विवाह करेंगे। अब विवाह सहचरों द्वारा स्वयं निश्चित किया जाता है। यह एक साथी के द्वारा दूसरे साथी का चयन है, जिसमें प्रेम अथवा प्रणय सामान्यतया पहले घटित हो जाते हैं।

(ii) **पुरुष एवं स्त्री के सम्बन्धों में परिवर्तन** (Changes in the relationship of man and woman)—आधुनिक परिवार में स्त्री पुरुष की उपासक नहीं है, अपितु समानाधिकारों सहित जीवन में समान सगिनी है। पति अब पत्नी को आदेश नहीं देता, अपितु उससे किसी कार्य को करने की विनम्र प्रार्थना करता है। वह मनुष्य की दासता से मुक्त हो गई है। वह पुराने समय की सेविका नहीं है। वह पति को उसी प्रकार तलाक दे सकती है, जैसे पति उसे दे सकता है। वह अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए पति के विरुद्ध मुकदमा दायर कर सकती है तथा उस पर भी मुकदमा चलाया जा सकता है।

(iii) **लैंगिक सम्बन्धों की शिथिलता** (Laxity in sex relationship)—लैंगिक सम्बन्धों से सम्बद्ध कठोर नियम आधुनिक परिवार में शिथिल पड़ गए हैं।

(iv) **आर्थिक स्वतंत्रता** (Economic independence)—आधुनिक परिवार में स्त्रियों को काफी आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त है। केवल पुरुष ही नहीं, अपितु स्त्री भी अब घर से बाहर कार्य करने जाती है। घर से बाहर कार्य करने वाली स्त्रियों की संख्या निरन्तर वृद्धि की ओर है। उच्च वर्गों मे स्त्रियाँ संपत्ति की स्वामिनी हैं तथा निम्न वर्गों में वे धन-उपार्जक या व्यावसायिक कार्यकर्मी हैं। इस आर्थिक स्वतन्त्रता ने आधुनिक नारी के दृष्टिकोण को बदल दिया है। पहले उसके सम्मुख कोई अन्य विकल्प नहीं था कि वह ऐसे पुरुष को अपना जीवन-साथी बनाए, जो उससे विवाह कर सके तथा उसका आर्थिक रूप से पालन कर सके। परन्तु अब वह स्वयं को पुरुष के सम्मुख असहाय महसूस नहीं करती, अपितु उसके साथ अपनी मर्जी से शर्तें निश्चित करती है। वह पुरुष की दासी नहीं है जो उसे भोजन, वस्त्र और शरण देता है, अपितु

वह स्वयं अपनी आजीविका कमा सकती है। मैकाइवर के अनुसार, "केवल आर्थिक व धार्मिक परिणामों ने ही नहीं, अपितु आधुनिक सभ्यता की समस्त प्रक्रिया ने समाज में और विशेषतः पुरुष के प्रति उसके सम्बन्धो मे एक नया स्थान प्रदान किया है।" संक्षेप में, आधुनिक परिवार की नारी ने पुरुष के समान अधिकार लगभग प्राप्त कर लिये हैं तथा बच्चे भी माता-पिता के नियन्त्रण से मुक्त हो गए हैं।

(v) छोटा परिवार (Smaller family)—आधुनिक परिवार छोटा परिवार है। यह अब संयुक्त परिवार नही रहा है। इसके अतिरिक्त, अब पति-पत्नी की प्रवृत्ति छोटे परिवार की ओर है। निरोधो का प्रयोग गर्भाधान को रोकने में सहायता देता है।

(vi) धार्मिक नियन्त्रण का ह्रास (Decline of religious control)—आधुनिक परिवार का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष है। परम्परागत परिवार की धार्मिक रीतियाँ, यथा प्रातःकालीन प्रार्थना, यज्ञ आदि आधुनिक परिवार में नहीं की जाती। विवाह भी धार्मिक सस्कार न होकर सिविल संविदा बन गया है। यह किसी भी समय भंग किया जा सकता है। विवाह एवं विच्छेद पर धर्म की सत्ता का अत्यधिक ह्रास हो गया है। आधुनिक परिवार मे विवाह-विच्छेद सामान्य घटना है, जबकि परम्परागत परिवार मे यह असामान्य घटना थी।

(vii) अप्रधान कार्यों का पृथक्करण (Separation of non-essential functions)—परम्परागत परिवार द्वारा किए जाने वाले अनेक कार्यों को आधुनिक परिवार ने छोड़ दिया है। इन कार्यों को अन्य विशेषीकृत अभिकरणो ने अपने हाथो में ले लिया है। इस प्रकार अस्पताल बच्चे के जन्म के लिए आवास प्रदान करता है, नर्सिंग होम मे उसका पालन-पोषण होता है, किंडरगार्टेन में उसकी शिक्षा होती है तथा क्रीडा के मैदान मे वह मनोरंजन करता है। केवल यही नही, परम्परागत परिवार के अन्य कार्य, यथा भोजन बनाना, कपडे धोना आदि भी विशिष्ट अभिकरणों द्वारा पूरित किए जाते हैं। ज्यो-ज्यों परिवार बनी-बनाई, तैयार की गई वस्तुओं पर अधिक निर्भर होते जायेंगे, यह प्रक्रिया और आगे बढती जाएगी।

(viii) सन्तानात्मक परिवार (Filocentric family)—आधुनिक परिवार में प्रवृत्ति सन्तानात्मक परिवार की ओर है। सन्तानात्मक परिवार ऐसा परिवार है, जहाँ बच्चे प्रभुत्वशाली होते है, एवं उनकी इच्छाएँ परिवार की नीति को निश्चित करती हैं। आधुनिक परिवार मे बच्चो को शारीरिक दण्ड विरल ही मिलता है। बच्चे ही अब निर्णय करते है कि उन्हे किस विद्यालय में पढ़ना है, वे किन वस्त्रों को पहनेंगे, क्या भोजन खायेंगे तथा कौन-सा चलचित्र देखने जायेंगे।

इस प्रकार परिवार के आर्थिक, सामाजिक और प्राणीशास्त्रीय स्वरूप मे अनेक परिवर्तन आ गए हैं। आधुनिक परिवार अब आर्थिक एवं आत्मनिर्भर इकाई नहीं है। स्त्रियाँ पुरुषो के अधीनस्थ नहीं हैं और न ही वे अब निरन्तर बच्चों को जन्म देने एवं उनका पालन करने तथा अन्य अविराम परिश्रम की दासता तक कैद हैं। गर्भ-निरोधक साधनो के प्रयोग ने बच्चों की संख्या को कम कर दिया है। रीति-रिवाजों और धर्म का अब परिवार से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा है। परिवार के सदस्यों

की वैयक्तिकता पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। परिवार के आकार एवं कार्यों में कमी हो गई है। इसकी संरचना तथा इसके कार्यों, दोनों में परिवर्तन आ गया है। इसमें अब विवाहित युगल एवं उनके बच्चे रहते हैं। इस छोटे से परिवार की इकाई में भी दरारें पड़ने लगी हैं। इसके कार्य विशेष अभिकरणों द्वारा ले लिये गए हैं। वर्तमान परिवार के कार्य व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगा रहे हैं। बर्गेस (Burgess) ने आधुनिक परिवार को "अन्तःक्रियाशील व्यक्तित्वों का एकक" कहा है। आधुनिक परिवार अपेक्षाकृत अधिक प्रजातंत्रीय एवं व्यक्तिपरक है, जहाँ स्त्रियों को उच्च स्थिति एवं मान प्राप्त है।

आधुनिक परिवार की अस्थिरता (Instability of Modern Family)

आधुनिक परिवार के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या इसकी अस्थिरता है। [illegible] वार था, जिसका विघटन विरल ही सोचा [illegible]। इसने इकाई बनकर दुनिया का सामना [illegible] आश्रय नहीं पा सकती थी। परिवार का [illegible]वसाय निश्चित था, जो भावी पीढ़ियाँ चालू रखती थीं। सामाजिक गतिशीलता [illegible] कम थी। परन्तु आज यह सब कुछ बदल गया है। परिवार का अपने सदस्यों पर [illegible]यत्रण कम हो गया है। नवयुवक अपने बड़े-बूढ़ों के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते। [illegible]रिवार के सदस्यों में एकता का अभाव है। एक-दूसरे पर विश्वास कम हो रहा है। [illegible]क ही घर में अलग-अलग चूल्हे हैं। कार्यशील स्त्रियों की समस्याओं ने बच्चों के [illegible]कास को अवरुद्ध कर दिया है तथा पति-पत्नी के झगड़े भी बढ़ गए हैं। पारस्परिक [illegible]श्वास समाप्त हो गया है। वैवाहिक बंधन शिथिल पड़ गए हैं। लैंगिक सम्बन्धों में [illegible]श्वसनीयता के प्राचीन आदर्श पर भी कुप्रभाव पड़ा है। पूर्वविवाह एवं अतिरिक्त-[illegible]वाह लैंगिक सम्बन्धों में वृद्धि हुई है। पति-पत्नी के बीच लैंगिक असधुरता है। अब [illegible]ई पारिवारिक धंधा अथवा व्यवसाय नहीं रहा। एक ही परिवार के सदस्य भिन्न-भिन्न [illegible]र्यों में संलग्न हैं। एक नौकरी करता है, दूसरा व्यापार तो तीसरा राजनीति में [illegible]। विशेष अभिकरणों की वृद्धि ने सामान्य सहभाग की मात्रा को कम कर दिया है, [illegible] परम्परागत परिवार की रीढ़ थी। आधुनिक परिवार के सदस्य घर के बाहर [illegible]धिक रुचि रखते हैं। वे अपना भोजन होटलों में करते हैं तथा अपनी रातें क्लबों [illegible] गुजारते हैं। घर तो वे केवल थोड़े से समय के लिए आते हैं। स्त्रियों के लिए [illegible]वाह ही एक मात्र जीवन नहीं है। वे कारखानों एवं कार्यालयों में काम करती हैं [illegible]था स्वतंत्र आजीविका का अर्जन करती हैं। आधुनिक परिवार का आकार एवं [illegible]सका कार्यक्षेत्र सिकुड़ गया है तथा यह अपने प्राथमिक स्वरूप को खो रहा है। [illegible]ज्य ने प्रसूतिपूर्ण देखभाल का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया है। उसने बाल-[illegible]क्षालय खोल दिए हैं। महँगी चिकित्सा-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। कार्यालय एवं कार-[illegible]ना कार्य के केन्द्र बन गए हैं। क्लब एवं होटल मनोरंजन प्रदान करते हैं। [illegible]दि लोग अपनी शिक्षा, अपना धंधा तथा अपना मनोरंजन घर से बाहर प्राप्त करते [illegible]तथा यदि स्त्रियों को ऐसे धंधे मिल सकते हैं जो उनमें स्वतंत्रता उत्पन्न कर देते हैं, [illegible] निश्चय ही आधुनिक परिवार को विघटित घर की संज्ञा दी जा सकती है।

अमेरिका तलाक में अग्रणी है (United States leads in divorce)—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अनेक लोग तलाकों की संख्या को देखकर दुखित हो जाते हैं। पहले कभी भी इतनी अधिक संख्या में कानून द्वारा विवाह-विच्छेद नही होते थे जितनी संख्या मे अब होते हैं। अमेरिका विवाह-विच्छेद के क्षेत्र में अन्य देशों से आगे है। १९०६ मे अमेरिका मे अन्य सभी देशों में तलाकों की संख्या के मुकाबले २०,००० अधिक विवाह-विच्छेद हुए। १९३६ में इंगलैंड में तलाक दर १० प्रति एक लाख, नार्वे में ३५, स्वेडन मे ४६, बेल्जियम में ३७, हालैंड में ३५, फ्रांस में ९२, जर्मनी में ७५, डैनमार्क में ८६ तथा अमेरिका मे १२९ थी। १९४६ में प्रत्येक चार विवाह मे एक तलाक मे कुछ अधिक संख्या का अनुपात था।

इन संख्याओ का विश्लेषण सुगम नही है। तलाक-दर पारिवारिक अस्थिरता का अत्यन्त परोक्ष मापन प्रदान करती है, क्योंकि इसमें उन विघटित परिवारों की संख्या सम्मिलित नही होती, जिन्होंने किसी कारणवश तलाक नहीं लिया है। यदि घरेलू झगड़ों, परित्याग एवं आंशिक तलाक (जिनमे तलाक नही होता) पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि परिवार की अस्थिरता वृद्धि की ओर है।

तलाक का क्या कारण है? (What leads to Divorce)

तलाक विवाहित युगल में पारस्परिक बिलगाव की लंबी प्रक्रिया का परिणाम होता है। अतः तलाक के किन्ही स्पष्ट कारणों का उल्लेख नहीं किया जा सकता, क्योंकि पारस्परिक बिलगाव का इतना बुरा उदाहरण भी हो सकता है, जिसका अंत तलाक मे नही हुआ। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृति एवं सामाजिक संरचना के कुछेक पहलू उच्च तलाक-दर को जन्म देते हैं। इन पहलुओं में महत्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—

(१) सामाजिक मूल्यों का ह्रास (Decay of social values)—न्यायालयो में विवाह-विच्छेद के जो कारण वादी द्वारा दिए जाते हैं, वे विविध हैं जिनमें लैंगिक व्यभिचार, निर्दयता, बाँझपन, असंगतता एवं गुप्त रोग प्रमुख कारण होते हैं। परन्तु ये विवाह-विच्छेद के केवल बाह्य कारण हैं। गंभीर कारण तो यह है कि आधुनिक परिवार मे सामाजिक मूल्यों, जिन पर परिवार आधारित है, का प्रत्यक्ष ह्रास हो रहा है। रोमांटिक प्रेम पर आधारित विवाह धार्मिक संस्कार न समझा जा कर केवल एक साधारण वायदा समझा जाता है। आजकल विवाह वैयक्तिक सुविधा न कि आध्यात्मिक मुक्ति के लिए किया जाता है। विवाह के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण भौतिकवादी एवं आत्म-केन्द्रित है, जिसने परिवार की नींव को खोखली कर दिया है। आधुनिक परिवार बराबर की साझेदारी है जिसमें पारस्परिकता की माँग होती है और जो स्वाभाविकतया पितृप्रधान परिवार, जो एकाधिपत्य परिवार था, की अपेक्षा कम स्थिर है। पारिवारिक जीवन के लिए सुदृढ नींव, त्यागमय रहन-सहन, वैयक्तिक पातिव्रत्य एवं सामाजिक दायित्व ग्रहण की आवश्यकता है और क्योंकि इन गुणों का अभाव है, अतएव विवाह-विच्छेद की दर बढ रही है।

(२) कम सामाजिक सुरक्षा (Less social protection)—परिवार प्रकार्यात्मक स्वरूप मे आए परिवर्तन ने भी पारिवारिक अस्थिरता में योग दिया है।

पितृसत्तात्मक परिवार में पारिवारिक सकट एवं तनावों की अवस्था मे आर्थिक आवश्यकता एवं सामाजिक दबाव जीवन-साथियों के मध्य समंजन ला देते थे। परन्तु आज आर्थिक आवश्यकता और सामाजिक दबाव कम हो गए हैं। कारखाने की व्यवस्था ने उत्पादक इकाई के रूप मे परिवार के महत्व को घटा दिया है तथा स्त्रियों के लिए व्यवसाय सुलभ कर दिए हैं। स्त्री स्वतंत्र आजीविका अर्जन करती है तथा पति पर रोटी के लिए आश्रित नही है। जैसे ही उसे अपना पति अच्छा नही लगता, वह उसे छोड़ देती है। समाज उसे परिवार मे रहने के लिए बाध्य नही करता क्योंकि नगरीकरण के इस युग मे मनुष्यों की एक-दूसरे में कोई रुचि नही है। संकट-वेला मे परिवार को अपने ही बल पर टिकना पड़ता है और चूंकि आधुनिक परिवार शिथिल नींव पर आधारित ढीला-ढाला संगठन है, अतएव यह सफल नहीं हो पाता। भूतकाल में आर्थिक अवस्थाओं ने परिवार को सशक्त सघ विशेषतया स्त्रियों के लिए बना रखा था, परन्तु आधुनिक नारी के लिए आर्थिक निर्भरता लगभग समाप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त, सेवाओं के व्यापारीकरण ने पुरुष और स्त्री को भोजन, वस्त्र, धुलाई एवं मनोरंजन के लिए घर पर निर्भरता से स्वतंत्रता दिला दी है। सभी औद्योगीकृत समाजों में तलाक की दर बढ़ रही है। इस बात की संभावना है कि जिस प्रक्रिया ने स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता को बढ़ाया है, वह और भी आगे बढ़ेगी जिसके परिणामस्वरूप पारिवारिक अस्थिरता में भी वृद्धि होगी।

अमेरिका अग्रणी क्यों है ? (Why America leads)—क्या कारण है जिससे अमेरिका में तलाक-दर अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है। जो कारण बतलाए जाते हैं, वे हैं : नगरीकरण, प्रेम-विवाह, कानूनी सुविधा तथा तलाक-सम्बन्धी कानूनों की बढ़ती हुई जानकारी। अमेरिका नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों का देश है, जहाँ तलाक-दर उन देशों की अपेक्षा जहाँ नगरों और औद्योगिक केन्द्रों की सख्या कम है, अधिक होना स्वाभाविक है। तलाक-सम्बन्धी कानूनों की जानकारी तथा इन कानूनों की बढ़ती हुई शिथिलता ने भी तलाको की वृद्धि की है। ऐसे लोग जो दो-तीन दशकों पूर्व तलाक की बाबत सोच ही नहीं सकते थे, उन्हें आज तलाक के कानूनों का ज्ञान है। वे आवश्यकता के समय इन कानूनों का खुला प्रयोग करने की प्रत्याशा से विवाह करते हैं। न केवल कानून शिथिल है, अपितु उनको स्वतंत्र रीति से प्रयोग किया जाता है। अमेरिकी न्यायाधीश उनके द्वारा स्वीकृत तलाकों की संख्या में गर्व महसूस करते हैं।

परन्तु उपर्युक्त तत्व तलाक-दर में अन्तर स्पष्ट करने की अपर्याप्त व्याख्याएँ हैं। केवल नगरीकरण ही इस अन्तर की एक मात्र व्याख्या नही। इसी प्रकार, कानूनी सुविधा भी इसका उत्तर नही है, क्योंकि नार्वे एवं स्वीडन में दोनो पक्षों की पारस्परिक अनुमति से ही तलाक दिया जा सकता है, तथापि इन देशों मे तलाक-दर कम है। तलाक अधिकतर इस तथ्य पर निर्भर करता है कि विवाह एवं परिवार के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण क्या है। यह दृष्टिकोण परम्परा, धर्म, कानूनी स्थितियों एवं समाज में रोमांटिक प्रेम के मूल्यांकन पर निर्भर करता है। जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, विवाह के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण यह है कि यह वैयक्तिक सुविधा के लिए अस्थायी समझौता है, जो स्वर्ग-निर्मित नहीं है। विवाह लैंगिक संतुष्टि एवं सहवास

का केवल माध्यम है। इससे परे इसका कोई महत्व नहीं है। यह अब आर्थिक साझेदारी, राजनीतिक संधि, सामूहिक विषय एवं धार्मिक संस्कार नहीं रहा है। स्वाभाविकतया, एक अथवा दो वर्षों के पश्चात् जब इसके परिणाम असुविधाजनक होते हैं, तो इसे तोड़ दिया जाता है। तलाक व्यक्ति की प्रमुख क्रियाओं में कोई बाधा नहीं डालता। लैंगिक संतुष्टि एवं सहवास के लिए दूसरा विवाह पुराने की अपेक्षा अधिक आनन्ददायक हो सकता है; कम से कम यह आजमाने योग्य है।

क्योंकि तलाक वैवाहिक समंजन की असफलता है, अतएव इससे बचने के लिए दस सुझाव दिए जाते हैं[1]—

(i) नाराजगी की सभी भावनाओं का त्याग किया जाए;
(ii) अनावश्यक चिढ़ाने वाली एवं क्रुद्ध करने वाली बातों से बचा जाए;
(iii) नए आनन्ददायक कार्यों को मिलाकर करने के साधनों की खोज की जाए;
(iv) संतानोत्पादन हो, परन्तु पारस्परिक सहमति से;
(v) अपने जीवन-साथी को समझो;
(vi) पारिवारिक समस्याओं पर अपने जीवन-साथी से विचार-विमर्श परन्तु व्यर्थ तर्क-वितर्क से बचो;
(vii) सहमति के क्षेत्रों की खोज कर संयुक्त कार्यक्रमों की योजना बनाओ,
(viii) अनावश्यक बातों का त्याग करो। अपनी तथा अपने जीवन-साथी प्रसन्नता को छोटी-सी बात पर नष्ट न करो, जिसका मूल्य इस द्वारा उत्पन्न आँसुओं एवं मानसिक कष्ट की तुलना में तुच्छ है;
(ix) सह-अस्तित्व पर विश्वास करो;
(x) परिवार के कल्याण को प्राथमिकता दो तथा चिड़चिड़ापन छोड़ दो।

परिवार का पुनर्निर्माण (Reconstructing the Family)

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि परिवार जैसा कि यह प्राचीन काल था, काफ़ी कुछ बदल गया है। इसने एक नया स्वरूप धारण कर लिया है, अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। हूवर (Hoover) ने लिखा है, "हमारे घर अब पारिवारिक जीवन के पुण्यस्थल नहीं रहे हैं, जो वे कभी हुआ करते थे। यदि अमेरिका को महान् राष्ट्र के रूप में जीवित रहना है तो हमें ऐसे घर चाहिए जहाँ बच्चे अपने माता-पिता, राज्य-नियम, ईश्वर एवं धार्मिक नियमों का आदर करना सीखें।"[2] अनेक लेखकों का यह विचार है कि पाश्चात्य परिवारों में विघट

1. Adapted from Hart's article in '*Sociology*', edited by Koenig, Hooper Gross.
2. "Our homes are not the sanctutaries of family life they once were. We homes where children learn respect for their parents, respect for law, for God and the religious principles which must be perpetuated if is to survive as a great nation." Hoover, E. A., *A Third Front George*, The New York Times Magazine, Feb. 1944.

विच्छेद एवं घरेलू झगड़ों की बढ़ती हुई प्रवृत्तियाँ, यदि उन्हें न रोका गया, सभ्यता के पतन का कारण बनेंगी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि आधुनिक परिवार को अनेक गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, जिनका समाधान अत्यन्त आवश्यक है, ताकि घर "प्यारा घर" बन सके। इसके लिए निम्नलिखित सुझाव हैं—

(i) श्रेष्ठ विवाह (Better marriages)—परिवर्तनशील अवधारणाओं, वैयक्तिकता की बढ़ती हुई भावना एवं स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता से उत्पन्न चुनौती के बावजूद भी विवाह सर्वाधिक अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण पारिवारिक संस्था है। विवाह के प्रतिबंधों एवं दायित्वों के होते हुए भी लोग इच्छापूर्वक विवाह की संस्था के चौखटे में रहना चाहते हैं। अतएव परिवार के पुनर्निर्माण में हमें सर्वप्रथम श्रेष्ठ विवाहों की व्यवस्था करनी होगी। विवाह पुरुष एवं स्त्री को पारिवारिक जीवन में प्रवेश कराने वाली संस्था है। जो विवाह बिना सोचे-समझे जल्दबाजी में किए जाते हैं, वे पारिवारिक झगड़ों के मूल कारण बन जाते हैं जिससे तलाक तक की नौबत आ जाती है। अनेक नवयुवक एवं नवयुवतियों का विचार है कि विवाह कोई गंभीर मामला नहीं है तथा वे स्वयं इसके विषय में निर्णय ले सकते हैं। वे विवाह से पूर्व ही 'रोमांस' करने लगते हैं तथा कुछ दिनों के रोमांस के बाद विवाह कर लेते हैं। वे भूल जाते हैं कि प्रेम अंधा होता है तथा प्रेमियों का सम्बन्ध एक बात है और माँ-बाप का सन्तान के साथ सम्बन्ध दूसरी बात है। जब रोमांस की तरंग कम हो जाती है तो वे परिवार को भार समझने लगते हैं तथा इससे निकलने की योजना बनाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि रोमांटिक प्रेम को विवाह का सच्चा बंधन न समझा जाए, क्योंकि रोमांटिक प्रेम स्वयं ही परिवार को उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं से साधारणतया बचाए नहीं रख सकता। जब कि प्यार विवाह को आगे बढ़ाता है। यह दिशा-निर्देश नहीं कर पाता, जो एक-दूसरे को समझने एवं सहयोग से ही प्राप्त होता है। छोटी-सी मुलाकात पर किया गया विवाह भ्रांति सिद्ध होता है। सावधान चिंतन, स्वभावों एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि की अच्छी जानकारी जीवन-साथी के चयन से पूर्व प्राप्त करनी आवश्यक है। निर्णय चाहे सहचर स्वयं करें, परन्तु सहानुभूतिपूर्ण एवं अनुभवी बड़ों का परामर्श उनके लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

यह भी वांछनीय है कि ऐसे व्यक्तियों जिनकी आयु में बड़ा अन्तर है, जो मानसिक रोगी हैं अथवा गुप्त रोगों के शिकार हैं, जिनकी सांस्कृतिक एवं प्रजातीय पृष्ठभूमि बहुत भिन्न है, के विवाह पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिए। परन्तु कानूनी प्रतिबंध ही काफी नहीं है। लोकमत कानून का समर्थन करे। यदि जनमत इसका समर्थन नहीं करता तो केवल कानून पारित कर देने से स्थिति में सुधार नहीं हो सकेगा। जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, पारिवारिक अस्थिरता शिथिल वैवाहिक-अभिवृत्तियों पर आधारित है तथा शिथिल वैवाहिक अभिवृत्तियाँ जनमत पर। परिवार का पुनर्निर्माण मानवी अभिवृत्तियों के क्षेत्र का विषय है। विवाह को केवल लैंगिक संतुष्टि का साधन मात्र नहीं समझा जाना चाहिये, अपितु इसे सामाजिक सुरक्षा का अनिवार्य माध्यम समझा जाए। विवाह सामाजिक संस्था एवं द्विपक्षीय पुरुष-स्त्री का संबंध दोनों है। परिवार को केवल साझेदारी नहीं समझा जाना चाहिए, अपितु इसे सामाजिक तौर पर अनिवार्य एवं पावन संस्था समझा जाना चाहिए।

युवकों एवं नवयुवतियों को विवाहित जीवन बिताने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस शिक्षा के अंतर्गत न केवल लैंगिक सम्बन्धों की जानकारी होनी चाहिए, अपितु इस बात का भी ज्ञान कराया जाना चाहिए कि विवाह को सफल एवं परिवार को स्थिर बनाने के क्या उपाय हैं।

सफल विवाह के लिए नौ प्रदर्शन-स्तम्भ हैं—

(i) ऐसा बंधन जो दोनों के लिए उपयुक्त हो;

(ii) निर्णय दोनों के लिए जो अच्छा है, के आधार पर न कि किसी एक के स्वार्थी हितों अथवा सकुचित इच्छा के आधार पर लिए जाएँ;

(iii) जीवन-साथी से कोई ऐसी अपेक्षा न करो, जिससे उसके व्यक्तित्व में घोर परिवर्तन की आवश्यकता पड़े;

(iv) अत्यधिक एकाग्रता से बचा जाय;

(v) न केवल वर्तमान से चिपके रहो और न बीते समय को वापस लाने की आकांक्षा करो। प्रत्येक क्षण स्वयं में अच्छा और नया है;

(vi) अत्यधिक भावुक न हो, दूसरे को ठेस न पहुँचाओ, एक-दूसरे पर विश्वास करो;

(vii) आगे बढ़ते रहने की इच्छा होनी चाहिए। विवाह तो मिलकर चलने की आजीवन प्रक्रिया है, जिसके लिए परिपक्वता की आवश्यकता है;

(viii) किशोरावस्था के अंधे प्रेम की बजाय परिपक्व स्नेह होना चाहिए;

(ix) विवाह केवल लैंगिक समंजन नहीं है; यह जीवन का समंजन है, लैंगिकता तो केवल इसका एक भाग है।

(ii) मानसिक समंजन (Mental adjustment)—वैवाहिक आनन्द जीवन-साथियों के मानसिक समंजन पर अधिकांशतः निर्भर है। व्यक्तित्व वैवाहिक समंजन का अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक है। टर्मन (Terman) ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व-गुण वैवाहिक आनन्द को प्रभावित करते हैं। उसने लिखा है, "हमारी मान्यता यह है कि विवाह का परिणाम उसमें प्रवेश करने वाले तत्वों पर आश्रित है और इन तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण हैं—अभिवृत्तियाँ, अभिरुचियाँ, विमुखता, आदत-प्रतिमान एव भावुक अनुक्रियायें, जो संगतता की अभिक्षमता प्रदान करती हैं अथवा उससे दूर रखती हैं।" यह स्वीकार करना होगा कि मानसिक सम्बन्ध का प्रत्येक विघ्न, विशेषतया लिंग-संतुष्टि में, परिवार-विच्छेदन का तर्कसंगत कारण नही है। परिवार को विघटन से बचाने के लिए दम्पति मे अभिवृत्तियो का समंजन लाने का प्रत्येक प्रयत्न किया जाना चाहिए। समंजन कैसे लाया जा सकता है, इस विषय पर कोई दृढ़ नियम नही है, क्योकि समस्याएँ वैयक्तिक तथा भिन्न-भिन्न होती हैं। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि यदि मानसिक विरोधों एवं निराशाओं से बचना है तो लैंगिक जीवन की वास्तविकताओ की अधिक सामान्य

धानकारी होनी चाहिए तथा सम्बन्ध-विच्छेद को प्रत्येक पारिवारिक असामजस्य का स्वचालित समाधान नही समझना चाहिए।

हार्ट्स (Harts) ने वैवाहिक झगड़ों को कम करने के निमित्त कुछ अग्रलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिए है—(i) अनावश्यक तनावों की समाप्ति, (ii) स्पष्ट विचार-विमर्श परन्तु तर्क-वितर्क नहीं, (iii) न्याययुक्त होना, परन्तु सदैव न्याय की प्रत्याशा न करना, (iv) योजनाओ को मिल-जुल कर तैयार करना, (v) सहमति के क्षेत्रों को विस्तृत करने की ओर विशेष ध्यान देना, (vi) अप्रधान बातो पर झगड़ा न करना एवं तुच्छ मतभेदो पर ध्यान न देना, (vii) अच्छे खिलाड़ी की भाँति भूमिका निभाना।[1] दूसरे शब्दों मे, परिवार की संरचना प्रजातंत्रीय आधार पर होनी चाहिए। प्रजातंत्रीय परिवार वह परिवार है, जिसमें पति-पत्नी की सत्ता लगभग समान होती है तथा जिनमें पूर्वनियोजित श्रम-विभाजन होता है। यह एक ऐसा समूह है जिसका जीवन प्राधिकार के बल एव भय पर आधारित न होकर पारस्परिक आदर एवं स्नेह पर आधारित होता है। ऐसे परिवार मे विवेकात्मक स्नेह का शासन होता है।"[2] पारस्परिक आत्म-त्याग प्रजातंत्रीय परिवार का नियम है। इसमे सदस्य एक-दूसरे की आवश्यकताओं के प्रति स्वाभाविक रूप से समंजन कर लेते हैं तथा एक-दूसरे की समस्याओं को सुनते तथा समझते हैं। यदि माता-पिता को प्रजातंत्रीय पैतृत्व तथा नवयुवकों को तार्किक विवाहों के नियमो का प्रशिक्षण दे दिया जाए तो समाज परिवार-समूह को अपनी एक स्थिर संस्था के रूप मे सुरक्षित रख सकेगा।[3] विवाहित जीवन एक गंभीर मामला है, परन्तु यह अकेलेपन के जीवन से अधिक उत्तम है तथा सुगम भी है। यह एकाकीपन के विरुद्ध आभ्यान्तरिक आलम्ब है।

परिवार का भविष्य (Future of the Family)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि परिवार के कार्यों मे काफी परिवर्तन हो गया है। जबकि लगभग सौ वर्ष पूर्व परिवार एक समुदाय (community) था, अब यह एक समिति (association) बन गया है। इसने "संस्था से सार्थीपन" के परिवर्तन को पूर्ण कर लिया है। परिवार का महत्व ही शिथिल हो गया है। यह अब अपने सदस्यों के लिए मनोरंजन-हेतु घर, बच्चो के लिए शिक्षा का स्थान अथवा धार्मिक प्रशिक्षण का केन्द्र नहीं रहा है। अनेक पारिवारिक दायित्व जो पहले माता-पिता द्वारा किए जाते थे, अब बाह्य अभिकरणों को हस्तांरित कर दिए गए हैं। भोजन बनाना, कपड़े धोना एवं बच्चो की देखभाल के कार्य पश्चिमी देशों के असंख्य तथा पूर्वी देशों के कुछेक घरो में नहीं किए जाते। अनेक बाह्य अभिकरणो, यथा मातृत्व अस्पताल, बाल क्लीनिक, बालगृह, बेबीसिटर, होटल, क्लब एवं सिनेमा ने परिवार के कार्यों को ले लिया है। आधुनिक परिवार के कार्य अत्यन्त सीमित हैं। संतानोत्पत्ति के कार्य का भी ह्रास हुआ है। निःसदेह लैंगिक संतुष्टि का कार्य आधुनिक परिवार

1. Hornell and Ella Hart, *Personality and the Family*, pp.32-34.
2. Bogardus, *Sociology*, p. 105.
3. Ibid., p. 105.

युवकों एवं नवयुवतियों को विवाहित जीवन बिताने की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस शिक्षा के अंतर्गत न केवल लैंगिक सम्बन्धों की जानकारी होनी चाहिए, अपितु इस बात का भी ज्ञान कराया जाना चाहिए कि विवाह को सफल एवं परिवार को स्थिर बनाने के क्या उपाय हैं।

सफल विवाह के लिए नौ प्रदर्शन-स्तम्भ हैं—

(i) ऐसा बंधन जो दोनों के लिए उपयुक्त हो;

(ii) निर्णय दोनों के लिए जो अच्छा है, के आधार पर न कि किसी एक के स्वार्थी हितों अथवा संकुचित इच्छा के आधार पर लिए जाएँ;

(iii) जीवन-साथी से कोई ऐसी अपेक्षा न करो, जिससे उसके व्यक्तित्व में घोर परिवर्तन की आवश्यकता पड़े;

(iv) अत्यधिक एकाग्रता से बचा जाय;

(v) न केवल वर्तमान से चिपके रहो और न बीते समय को वापस लाने की आकांक्षा करो। प्रत्येक क्षण स्वयं में अच्छा और नया है;

(vi) अत्यधिक भावुक न हो, दूसरे को ठेस न पहुँचाओ, एक-दूसरे पर विश्वास करो;

(vii) आगे बढ़ते रहने की इच्छा होनी चाहिए। विवाह तो मिलकर चलने की आजीवन प्रक्रिया है, जिसके लिए परिपक्वता की आवश्यकता है;

(viii) किशोरावस्था के अंधे प्रेम की बजाय परिपक्व स्नेह होना चाहिए;

(ix) विवाह केवल लैंगिक समंजन नहीं है; यह जीवन का समंजन है, लैंगिकता तो केवल इसका एक भाग है।

(ii) मानसिक समंजन (Mental adjustment)—वैवाहिक आनन्द जीवन-साथियों के मानसिक समंजन पर अधिकांशत: निर्भर है। व्यक्तित्व वैवाहिक समंजन का अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक है। टर्मन (Terman) ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार विभिन्न व्यक्तित्व-गुण वैवाहिक आनन्द को प्रभावित करते हैं। उसने लिखा है, "हमारी मान्यता यह है कि विवाह का परिणाम उसमें प्रवेश करने वाले तत्वों पर आश्रित है और इन तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण हैं—अभिवृत्तियाँ, अभिरुचियाँ, विमुखता, आदत-प्रतिमान एवं भावुक अनुक्रियायें, जो संगतता की अभिक्षमता प्रदान करती हैं अथवा उससे दूर रखती हैं।" यह स्वीकार करना होगा कि मानसिक सम्बन्ध का प्रत्येक विघ्न, विशेषतया लिंग-संतुष्टि में, परिवार-विच्छेदन का तर्कसंगत कारण नहीं है। परिवार को विघटन से बचाने के लिए दम्पति में अभिवृत्तियों का समंजन लाने का प्रत्येक प्रयत्न किया जाना चाहिए। समंजन कैसे लाया जा सकता है, इस विषय पर कोई दृढ़ नियम नहीं है, क्योंकि समस्याएँ वैयक्तिक तथा भिन्न-भिन्न होती हैं। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि यदि मानसिक विरोधों एवं निराशाओं से बचना है तो लैंगिक जीवन की वास्तविकताओं को अधिक सामान्य

जानकारी होनी चाहिए तथा सम्बन्ध-विच्छेद को प्रत्येक पारिवारिक असामजस्य का स्वचालित समाधान नहीं समझना चाहिए।

हार्ट्स (Harts) ने वैवाहिक झगड़ों को कम करने के निमित्त कुछ अग्रलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिए है—(i) अनावश्यक तनावों की समाप्ति, (ii) स्पष्ट विचार-विमर्श परन्तु तर्क-वितर्क नही, (iii) न्यायमुक्त होना, परन्तु सदैव न्याय की प्रत्याशा न करना, (iv) योजनाओं को मिल-जुल कर तैयार करना, (v) सहमति के क्षेत्रों को विस्तृत करने की ओर विशेष ध्यान देना, (vi) अप्रधान बातों पर झगड़ा न करना एवं तुच्छ मतभेदों पर ध्यान न देना, (vii) अच्छे खिलाड़ी की भाँति भूमिका निभाना।[1] दूसरे शब्दों में, परिवार की संरचना प्रजातंत्रीय आधार पर होनी चाहिए। प्रजातंत्रीय परिवार यह परिवार है, जिसमें पति-पत्नी की सत्ता लगभग समान होती है तथा जिनमे पूर्वनियोजित श्रम-विभाजन होता है। यह एक ऐसा समूह है जिसका जीवन प्राधिकार के बल एव भय पर आधारित न होकर पारस्परिक आदर एवं स्नेह पर आधारित होता है। ऐसे परिवार मे विवेकात्मक स्नेह का शासन होता है।"[2] पारस्परिक आत्म-त्याग प्रजातंत्रीय परिवार का नियम है। इसमें सदस्य एक-दूसरे की आवश्यकताओं के प्रति स्वाभाविक रूप से समंजन कर लेते हैं तथा एक-दूसरे की समस्याओं को सुनते तथा समझते हैं। यदि माता-पिता को प्रजातंत्रीय पैतृत्व तथा नवयुवकों को तार्किक विवाहों के नियमो का प्रशिक्षण दे दिया जाए तो समाज परिवार-समूह को अपनी एक स्थिर संस्था के रूप में सुरक्षित रख सकेगा।[3] विवाहित जीवन एक गंभीर मामला है, परन्तु यह अकेलेपन के जीवन से अधिक उत्तम है तथा सुगम भी है। यह एकाकीपन के विरुद्ध आभ्यान्तरिक आलम्ब है।

परिवार का भविष्य (Future of the Family)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि परिवार के कार्यों में काफी परिवर्तन हो गया है। जबकि लगभग सौ वर्ष पूर्व परिवार एक समुदाय (community) था, अब यह एक समिति (association) बन गया है। इसने "संस्था से साथीपन" के परिवर्तन को पूर्ण कर लिया है। परिवार का महत्व ही शिथिल हो गया है। यह अब अपने सदस्यों के लिए मनोरंजन-हेतु घर, बच्चों के लिए शिक्षा का स्थान अथवा धार्मिक प्रशिक्षण का केन्द्र नहीं रहा है। अनेक पारिवारिक दायित्व जो पहले माता-पिता द्वारा किए जाते थे, अब बाह्य अभिकरणो को हस्तांरित कर दिए गए हैं। भोजन बनाना, कपड़े धोना एवं बच्चो की देखभाल के कार्य पश्चिमी देशों के असख्य तथा पूर्वी देशों के कुछेक घरो में नहीं किए जाते। अनेक बाह्य अभिकरणों, यथा मातृत्व अस्पताल, बाल क्लीनिक, बालगृह, बेबीसिटर, होटल, क्लब एवं सिनेमा ने परिवार के कार्यों को ले लिया है। आधुनिक परिवार के कार्य अत्यन्त सीमित हैं। सतानोत्पत्ति के कार्य का भी ह्रास हुआ है। निःसंदेह लैंगिक सतुष्टि का कार्य आधुनिक परिवार

1. Hornell and Ella Hart, *Personality and the Family*, pp.32-34.
2. Bogardus, *Sociology*, p. 105.
3. Ibid , p. 105.

दायित्वों की परिभाषा करता है। यह पारिवारिक सम्पत्ति के उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम बनाता है तथा वसीयत की स्वतंत्रता को सीमित करता है। यद्यपि ये नियम प्रत्येक देश में भिन्न होते हैं, तदपि राज्य परिवार के स्वरूप एवं उसके स्वभाव का महत्वपूर्ण निर्णायक है।

राज्य-नियंत्रण का प्रजनन-आधार (Procreative basis of state control)—राज्य का परिवार पर अन्य किसी समिति अथवा संघ की अपेक्षाकृत इतना अधिक नियंत्रण क्यों होता है ? पहले, धार्मिक आधारों पर राज्य परिवार पर नियंत्रण करता था। राज्य धर्म का संरक्षक था, अतएव इसका दायित्व था कि परिवार धर्म के प्रचार-हेतु कार्य करे। परन्तु आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त इस विचार से सहमत नहीं है। राज्य-नियंत्रण का कारण राज्य के स्वरूप तथा परिवार के प्राथमिक कार्य के साथ इसके सम्बन्ध में खोजा जाना चाहिए। जैसा ऊपर बतलाया गया है, परिवार का प्राथमिक कार्य संतानोत्पत्ति तथा बच्चों का पालन-पोषण है। शिशु कल्याण जाति का कल्याण होने के कारण राज्य के लिए चिंता का विषय है। चूंकि बच्चों को आदर्श नागरिक बनना है, अतएव राज्य इस मामले को परिवार का निर्माण करने वाले सदस्यों की वैयक्तिक इच्छा पर पूर्णतया नहीं छोड़ सकता। और क्योंकि विवाह का प्रजनन के साथ सम्बन्ध है, अतः राज्य द्वारा समाज के हितार्थ इसको नियमित करना युक्तिसंगत है। विवाह एवं परिवार पर राज्य-नियंत्रण का अधिकार इस तथ्य पर आधारित है कि शिशु-जीवन की सुरक्षा, इसके भावी नागरिकों की सुरक्षा राज्य की प्राथमिक चिन्तना है।

राज्य परिवार के संदर्भ में दो प्रकार के कार्य—बलात्मक एवं सहयोगात्मक—करता है। यह कम आयु वाले तथा संक्रामक गुप्त रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के विवाहों पर प्रतिबंध लगाता है। कुछ राज्यों में मानसिक रोगियों के विवाह पर भी प्रतिबंध होते हैं। राज्य परिवार के सदस्यों के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को नियमित करता है। यह तलाक की शर्तों का निर्धारण करता है। विवाह, सम्पत्ति एवं तलाक सम्बन्धी नियमों को क्रियान्वित करने में राज्य बलात्कारी कार्यों को करता है।

परन्तु बलात्करण के अतिरिक्त राज्य सहयोगात्मक रीति से भी परिवार की संस्था को सुरक्षित रखता है। राज्य विवाह में इच्छुक युगल को विवाह के बारे में तथा विवाहित दम्पति को पारिवारिक झगड़ों को दूर करने में परामर्श,-हेतु अनेक सेवा संस्थाओं, यथा विवाह परामर्शदायी ब्यूरो एवं पारिवारिक सम्बन्ध क्लीनिकों की स्थापना कर सकता है। शिशु-कल्याण केन्द्रों द्वारा यह बालक को समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण करने में सहायता कर सकता है। यह बेघर बच्चों के लिए सार्वजनिक घरों का निर्माण तथा दरिद्र माता-पिता के बच्चों के लिए शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना कर सकता है। बच्चों के सुचारु पालन-पोषण हेतु यह माता-पिता को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है। वास्तव में, सहयोगात्मक कार्यों का क्षेत्र विशाल है। आधुनिक राज्य उनका केवल अंश मात्र ही पूरा कर रहे हैं।

प्रश्न

१. परिवार के अर्थ एवं इसके स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

गर्भाधान के भय के बिना अधिक उत्तम रीति से पूरा करता है। संक्षेप में, परिवार ने अपने कुछ पुराने कार्यों को छोड़ दिया है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि परिवार के कार्य कम हो गए हैं, तथापि यह ध्वस्त होने नहीं जा रहा है। संतानोत्पत्ति का कार्य, जो सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक कार्य है, परिवार के भीतर ही सम्पन्न हो रहा है। यह कार्य समाज की संरचना में आमूल परिवर्तन के बिना किसी अन्य अभिकरण को हस्तांरित करना संभव नहीं है। यदि विवाह का उद्देश्य संतानोत्पत्ति नहीं है तो विवाह करने का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि साहचर्य एवं संतुष्टि तो विवाह के बंधन की औपचारिकताओं के बिना भी प्राप्त किए जा सकते हैं। पहले की अपेक्षा अब अधिक व्यक्ति विवाह कर रहे हैं। इसके अधिक स्त्रियाँ संतानोत्पत्ति कर रही हैं।

परिवार पुरुष एवं स्त्री की न केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति है, अपितु उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं—प्यार करने एवं प्यार किए जाने की इच्छा—को भी पूरा करता है। परिवार के सदस्यों में पारस्परिक स्नेह ... की अनेक मानसिक कठिनाइयों मे शांति प्रदान करता है। अनेक संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिवर्तनों के बावजूद भी परिवार का अब भी सामाजिक दृढ़ता, सामाजिक एकता में महत्वपूर्ण योगदान है। यह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की है। *यह मानवी प्रकृति का अविच्छिन्न अंग है।* बर्गेस एवं लाक (Burgess Locke) ने लिखा है, "यह पूर्वकथन करना सुरक्षित है कि परिवर्तनशील स्थितियों के प्रति अनुकूलता के लंबे इतिहास तथा वैयक्तिक संतोष एवं व्यक्तित्व के विकास स्नेह के लेन-देन के महत्वपूर्ण कार्यों के कारण परिवार जीवित रहेगा।"[1]

७. परिवार तथा राज्य

(The Family and the State)

राज्य-नियंत्रण : एक सार्वभौमिक घटना (State cotrol : a universal phenomenon)—परिवार राज्य की नींव है, इसका जीवाणु कोष है, यह बात उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है। परिवार राज्य द्वारा अत्यधिक प्रभावित होता है, जो काफी सीमा तक नियमित एवं नियंत्रित करता है। संभवतः परिवार के ऊपर राज्य का नियंत्रण अन्य किसी समिति व सहयोग की अपेक्षा अधिक है। व्यक्तियों को विवाह के मामले में खुली स्वतंत्रता नहीं है। राज्य सम्बन्धों की सीमाओं का निर्धारण करता है, जिसके भीतर सदस्य विवाह नहीं कर सकते। यह विवाह के लिए न्यूनतम आयु सीमा निश्चित करता है तथा इस बात का भी निश्चय करता है कि व्यक्ति कितनी बार विवाह कर सकता है। विवाह-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन अपराध माना जाता है। राज्य सन्तान के प्रति माता-पिता तथा पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य

1. "It seems safe to predict that the family will survive, both because of the long history of adaptability to changing conditions and because of the importance of its functions of affection-giving and receiving in personal satisfaction and in personality development."—Burgess and Locke, *The Family*, p. 715.

दायित्वों की परिभाषा करता है। यह पारिवारिक सम्पत्ति के उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम बनाता है तथा वसीयत की स्वतंत्रता को सीमित करता है। यद्यपि ये नियम प्रत्येक देश में भिन्न होते हैं, तदपि राज्य परिवार के स्वरूप एवं उसके स्वभाव का महत्वपूर्ण निर्णायक है।

राज्य-नियंत्रण का प्रजनन-आधार (Procreative basis of state control) —राज्य का परिवार पर अन्य किसी समिति अथवा संघ की अपेक्षाकृत इतना अधिक नियंत्रण क्यों होता है ? पहले, धार्मिक आधारों पर राज्य परिवार पर नियंत्रण करता था। राज्य धर्म का संरक्षक था, अतएव इसका दायित्व था कि परिवार धर्म के प्रचार-हेतु कार्य करे। परन्तु आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त इस विचार से सहमत नहीं है। राज्य-नियंत्रण का कारण राज्य के स्वरूप तथा परिवार के प्राथमिक कार्य के साथ इसके सम्बन्ध में खोजा जाना चाहिए। जैसा ऊपर बतलाया गया है, परिवार का प्राथमिक कार्य संतानोत्पत्ति तथा बच्चों का पालन-पोषण है। शिशु कल्याण जाति का कल्याण होने के कारण राज्य के लिए चिंता का विषय है। चूंकि बच्चों को आदर्श नागरिक बनना है, अतएव राज्य इस मामले को परिवार का निर्माण करने वाले सदस्यों की वैयक्तिक इच्छा पर पूर्णतया नहीं छोड़ सकता। और क्योंकि विवाह का प्रजनन के साथ सम्बन्ध है, अतः राज्य द्वारा समाज के हितार्थ इसको नियमित करना युक्तिसंगत है। विवाह एवं परिवार पर राज्य-नियंत्रण का अधिकार इस तथ्य पर आधारित है कि शिशु-जीवन की सुरक्षा, इसके भावी नागरिकों की सुरक्षा राज्य की प्राथमिक चिन्तना है।

राज्य परिवार के संदर्भ में दो प्रकार के कार्य—बलात्मक एवं सहयोगात्मक—करता है। यह कम आयु वाले तथा संक्रामक गुप्त रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के विवाहों पर प्रतिबंध लगाता है। कुछ राज्यों में मानसिक रोगियों के विवाह पर भी प्रतिबंध होते हैं। राज्य परिवार के सदस्यों के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार को नियमित करता है। यह तलाक की शर्तों का निर्धारण करता है। विवाह, सम्पत्ति एवं तलाक सम्बन्धी नियमों को क्रियान्वित करने में राज्य बलात्कारी कार्यों को करता है।

परन्तु बलात्करण के अतिरिक्त राज्य सहयोगात्मक रीति से भी परिवार की संस्था को सुरक्षित रखता है। राज्य विवाह में इच्छुक युगल को विवाह के बारे में तथा विवाहित दम्पति को पारिवारिक झगड़ों को दूर करने में परामर्श,-हेतु अनेक सेवा संस्थाओं, यथा विवाह परामर्शदायी ब्यूरो एवं पारिवारिक सम्बन्ध क्लीनिकों की स्थापना कर सकता है। शिशु-कल्याण केन्द्रों द्वारा यह बालक को समाज में अपना उचित स्थान ग्रहण करने में सहायता कर सकता है। यह बेघर बच्चों के लिए सार्वजनिक घरों का निर्माण तथा दरिद्र माता-पिता के बच्चों के लिए शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना कर सकता है। बच्चों के सुचारु पालन-पोषण हेतु यह माता-पिता को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है। वास्तव में, सहयोगात्मक कार्यों का क्षेत्र विशाल है। आधुनिक राज्य उनका केवल अंश मात्र ही पूरा कर रहे हैं।

प्रश्न

१. परिवार के अर्थ एवं इसके स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।

२. पितृसत्तात्मक परिवार एव मातृसत्तात्मक परिवार की तुलना कीजिए तथा स्त्रियों की स्थिति पर उनके प्रभाव का वर्णन कीजिए।
३. परिवार के विभिन्न प्रकार क्या है ?
४. परिवार के कार्यों का वर्णन कीजिए । इसका सामाजिक महत्व क्या है ?
५. परिवार की उत्पत्ति की व्याख्या कीजिए ।
६. परिवार किस प्रकार समाज की मौलिक एवं प्राथमिक इकाई है ?
७. परम्परागत परिवार एव आधुनिक परिवार की सरचना एव उनके कार्यों का वर्णन कीजिए ।
८. "परिवार व्यवस्था मे घोर परिवर्तनों के बावजूद भी परिवार के परम्परागत कार्यों मे केवल परिवर्तन आया है, इनकी समाप्ति नही हुई है।"—व्याख्या कीजिए ।
९. परिवार एव राज्य के मध्य सम्बन्ध की विवेचना कीजिए ।
१०. "परिवार का विघटन आधुनिक सभ्यता का अपरिहार्य परिणाम है।"—व्याख्या कीजिए ।
११. परिवार की अस्थिरता के कारण क्या हैं ? क्या परिवार की संस्था आधुनिक समाज मे वर्तमान संकट को पार कर जाएगी ?
१२. परिवार के समाजशास्त्रीय महत्व का वर्णन कीजिए । क्या समकालीन परिवार विघटन की प्रक्रिया से गुजर रहा है ?

अध्याय १८

भारत में परिवार

[FAMILY IN INDIA]

समाजशास्त्र के भारतीय विद्यार्थियों के लिए भारतीय परिवार-प्रथा का अध्ययन विशेष महत्व रखता है, केवल इसलिए नहीं कि उनका जन्म भारतीय परिवार में हुआ है, बल्कि इसलिए भी कि भारतीय परिवार-प्रणाली पश्चिमी परिवार-प्रणाली से अनेक सारगर्भित बातों में भिन्न है। भारतीय परिवार में केवल पति-पत्नी तथा उनके बच्चे ही नही होते, बल्कि उनके चाचा, ताऊ, उनके बच्चे और पौत्र भी होते हैं। यह प्रथा, जिसे संयुक्त परिवार प्रथा कहा जाता है, भारतीय सामाजिक जीवन की एक विशेषता है। पुत्र विवाह के उपरान्त साधारणतया अपने माता-पिता से अलग नही होता, अपितु उनके साथ ही उसी मकान में इकट्ठा रहता है तथा इकट्ठा भोजन करता है और पारिवारिक सम्पत्ति में साझेदारी रखता है। परिवार की सम्पत्ति संयुक्त होती है और प्रत्येक सदस्य जन्म से ही उसका भागीदार बन जाता है। सभी सदस्यों की कमाई एक साझे कोष में रखी जाती है, जिसमे से घर का सारा खर्च चलाया जाता है। न कमाने वाला सदस्य भी कमाने वाले सदस्य की भाँति सम्पत्ति में समान भाग प्राप्त करता है। इस प्रकार भारतीय परिवार एक प्रकार का समाजवादी समुदाय है, जिसमे प्रत्येक अपने सामर्थ्यानुसार धनोपार्जन करता है और अपनी आवश्यकतानुसार खर्च करता है।

१. संयुक्त परिवार का अर्थ

(Meaning of Joint Family)

संयुक्त परिवार की कुछेक परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) "संयुक्त परिवार व्यक्तियों का समूह है, जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, एक चूल्हे पर बना भोजन खाते हैं, साझी सम्पत्ति रखते हैं, साझी पूजा में भाग लेते हैं तथा जो आपस में विशेष नातेदारी से बँधे होते हैं।" —कार्वे

(२) "हम ऐसे घराने को संयुक्त परिवार कहते हैं, जिसमे पीढ़ी की गहराई परिवार की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है तथा जिसके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति, आय एवं पारस्परिक अधिकारों एव दायित्वो के आधार पर सम्बन्धित होते हैं।"
—आई० पी० देसाई

(३) "एक संयुक्त परिवार में न केवल माता-पिता एवं बच्चे, भाई तथा सौतेले भाई साझी सम्पत्ति पर निर्वाह करते हैं, अपितु इसमें कभी-कभी कई पीढ़ियों के सगोत्र सम्बन्धी एवं पूर्वज भी शामिल होते हैं।" —जोली

(४) "हिन्दू संयुक्त परिवार एक समूह है, जिसमें जीवित पूर्वज एवं पुत्र तथा विवाह द्वारा इन पुत्रों से सम्बन्धित रिश्तेदार सम्मिलित होते हैं।"

—हेनरी मेन

संयुक्त परिवार की विशेषताएं (Characteristics of Joint Family)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **विशाल आकार** (Large size)—संयुक्त परिवार की प्रथम विशेषता इसका विशाल आकार है। अकेले परिवार में केवल पति-पत्नी एवं उनके बच्चे होते हैं, परन्तु संयुक्त परिवार मे माता-पिता, बच्चे, पौत्र तथा उनकी पत्नियों से सम्बन्धित निकटवर्ती रिश्तेदार भी होते हैं। यह एक ऐसा समूह है, जिसमें अनेक अलग परिवार एक ही समय में इकट्ठे रहते हैं।

(२) **संयुक्त सम्पत्ति** (Joint property)—सयुक्त परिवार मे धन का स्वामित्व, उत्पादन एवं उपभोग सयुक्त आधार पर होता है। यह ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी की भाँति एक सहकारी सस्था है, जिसकी सम्पत्ति सयुक्त होती है। परिवार का मुखिया एक न्यासधारी (trustee) के समान होता है, जो परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध परिवार के सदस्यों के भौतिक एव आध्यात्मिक कल्याण के लिए करता है। परिवार के सभी सदस्यों की कमाई इकट्ठी एक कोष में जमा होती है।

(३) **साझा निवास** (Common residence)—संयुक्त परिवार के सदस्य सामान्यतया एक ही मकान में रहते हैं। वे एक-दूसरे के निकट अलग मकानों में भी रह सकते हैं। वे एक ही प्रकार का भोजन करते हैं तथा एक ही प्रकार के वस्त्र पहनते हैं।

(४) **सहकारी संगठन** (Co-operative organisation)—संयुक्त परिवार-प्रथा का आधार सहकारिता है। संयुक्त परिवार मे सदस्यो की सख्या बहुत अधिक होती है, अतएव वे यदि आपस मे सहयोग नही करेंगे तो संयुक्त परिवार की संरचना को स्थिर रखना कठिन हो जाएगा।

(५) **साझा धर्म** (Common religion)—सामान्यतया संयुक्त परिवार के सदस्य समान धर्म मे विश्वास रखते है तथा समान देवी-देवताओ की पूजा करते हैं। वे इकट्ठे पारिवारिक, धार्मिक दायित्वों एवं संस्कारो को करते हैं। वे सभी पर्व एवं सामाजिक कार्यों को संयुक्त रूप से मनाते है। वे सामाजिक सस्कारो, यथा विवाह, मृत्यु एव पारिवारिक शोक तथा खुशियो के लिए समान रूप से उत्तरदायी होते हैं। वे परिवार के भार को इकट्ठा मिलकर उठाते हैं।

(६) **उत्पादक इकाई** (A productive unit)—संयुक्त परिवार की यह विशेषता कृषिकर परिवारो मे मिलती है। सभी सदस्य एक ही खेत में कार्य करते हैं। वे इकट्ठे फसल को बोते एव काटते है। शिल्पी परिवारों मे भी परिवार के सभी सदस्य मिल कर एक ही काम करते हैं।

(७) **पारस्परिक अधिकार एव दायित्व** (Mutual rights and obligations)—संयुक्त परिवार के सदस्यो के अधिकार एवं दायित्व समान होते हैं।

परिवार के मुखिया को छोड़कर किसी भी अन्य सदस्य के विशेषाधिकार नहीं होते। परिवार के प्रत्येक सदस्य के समान दायित्व होते हैं। यदि एक स्त्री सदस्य रसोई मे काम करती है, तो दूसरी कपड़े धोने का काम करती है तथा तीसरी बच्चो को संभालती है। इन कार्यों में आवर्तन भी होता रहता है।

संयुक्त परिवार-प्रथा का जन्म (Origin of joint family system)—यह नहीं समझा जाना चाहिए कि संयुक्त परिवार-प्रथा का जन्म भारत मे हुआ। यह संस्था संसार के विभिन्न भागों में आर्यों के निवास का परिणाम कही जा सकती है। इस प्रकार की संस्था संसार के लगभग सभी भागों में मिलती है। जैसा कि हम पूर्व ही पढ़ चुके हैं, प्राचीन रोम समाज में सर्वोच्च सत्ता परिवार के सबसे बड़े सदस्य के हाथों मे होती थी, जो पारिवारिक मामलो को चलाने के लिए सभी कदम उठा सकता था। जब चरवाह-युग समाप्त हो गया और लोगों ने भूमि जोत कर, मकान बना कर, बपौती को सुरक्षित रख कर स्थायी रूप से जीवन बिताना शुरू किया तो संयुक्त परिवार-प्रथा का जन्म हुआ। संचार एवं यात्रा की कठिनाइयों ने परिवार के सभी सदस्यों को इकट्ठा रहने तथा कृषि या व्यापार को पारिवारिक व्यवसाय के तौर पर संयुक्त रूप से करने के लिए विवश किया। इन कारणों के अतिरिक्त नातेदारी के विचार तथा उस धर्म, जिसके अन्तर्गत पूर्वजों की पूजा पर जोर दिया जाता था, ने संयुक्त परिवार को एक जटिल संगठन बना दिया, जो समाज का निर्माण करने वाले बड़े पारिवारिक समूहों की आर्थिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। संसार के अन्य भागों में संयुक्त परिवार-प्रथा, विलीन हो गई है, परन्तु भारत में यह आज भी प्रचलित है, यद्यपि औद्योगीकरण एव नगरीकरण द्वारा उत्पन्न अनेक तनावों से ग्रसित है।

२. संयुक्त परिवार प्रथा के गुण
(Merits of Joint Family System)

संयुक्त परिवार-प्रथा के गुण निम्नलिखित हैं—

(१) **आर्थिक उन्नति को निश्चित करता है** (Ensures economic progress)—यह देश की आर्थिक उन्नति में योगदान करती है, क्योंकि यह परिवार के प्रत्येक सदस्य को जीविका प्रदान करती है, जो आर्थिक उन्नति की पहली शर्त है। यदि लोगो को दो समय भरपेट भोजन एवं रहने के लिए मकान सुलभ न हो तो वे देश की उन्नति के किसी कार्य में कोई रुचि नही लेंगे। राष्ट्रीय प्रगति की यह प्रथम शर्त है कि इसके निवासियों को कम-से-कम दो समय भोजन तो मिले। संयुक्त परिवार अपने सदस्यों के लिए यह सब कुछ जुटाता है, जिससे वे राष्ट्र के उत्थान में तत्पर होते हैं।

(२) **श्रम-विभाजन** (Division of labour)—इससे श्रम-विभाजन के लाभों की भी प्राप्ति होती है। परिवार के प्रत्येक सदस्य को बिना किसी प्रकार का अनुचित दबाव डाले उसकी योग्यतानुसार कार्य दिया जाता है। परिवारिक जीवन के प्रत्येक पहलू को सभी सदस्यों—स्त्रियों एवं बच्चों सहित संभाला जाता है।

इस प्रकार, कटाई के समय परिवार का प्रत्येक सदस्य फसल की कटाई में सहायता देता है। बाहर से श्रम की आवश्यकता नहीं होती।

(३) **बचत** (Economy)—इससे व्यय की भी बचत होती है, क्योंकि वस्तुओं का उपभोग बड़ी मात्रा मे होता है, अतः उन्हे कम मूल्य पर क्रय किया जा सकता है। अल्प साधनों से ही बड़े परिवार का निर्वाह हो सकता है, यदि वह संयुक्त रूप से रहे।

(४) **विश्राम के लिए अवसर** (Opportunity for leisure)—इससे सदस्यों को विश्राम का अवसर भी मिलता है। स्त्री सदस्य घरेलू कार्य को विभक्त कर लेती हैं, जिसे वे थोड़े से समय में ही समाप्त कर विश्राम का आनन्द ले सकते हैं।

(५) **सामाजिक बीमा** (Social insurance)—संयुक्त परिवार-प्रथा में अनाथ बेघर रहने की अपेक्षा सुखदायक आवास प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार, विधवाओं, जिनका पुनर्विवाह भारत मे असम्भव है, को भी उचित रहन-सहन की सुविधा मिल जाती है। संयुक्त परिवार वृद्धों, बीमारों एवं अपंगों के लिए सामाजिक बीमा कम्पनी का कार्य करता है।

(६) **सामाजिक गुण** (Social virtues)—संयुक्त परिवार-प्रथा अनेक सामाजिक गुणों, यथा बलिदान, स्नेह, सहयोग, निःस्वार्थ सेवा, व्यापक दृष्टिकोण आदि का विकास करती है। परिवार सामाजिक गुणो का पालना बन जाता है। बड़े-बूढ़ों के संरक्षण में युवकों की अवाछनीय एवं असामाजिक बुराइयों को रोका जाता है और उन्हें गलत मार्ग पर चलने से रोक दिया जाता है। उन्हे आत्म-नियंत्रण सिखाया जाता है। सभी सदस्य परिवार के नियमों का पालन करते हैं तथा अपने बड़े सदस्यों का सम्मान करते हैं।

(७) **भूखण्डन को रोकता है** (Avoids fragmentation of holdings)—यह भूखंडन तथा इसके दोषो को रोकता है, जिससे सम्पत्ति अनेक भागों में विभक्त नहीं होती।

(८) **समाजवाद** (Socialism)—**हेनरी मेन** (Henry Maine) के अनुसार, सयुक्त परिवार एक निगम (corporation) की भाँति होता है, जिसका न्यासधारी पिता होता है। संयुक्त परिवार में प्रत्येक व्यक्ति अपने सामर्थ्यानुसार कार्य करता है, परन्तु अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है। इस प्रकार यह समाजवादी आदर्श को साकार बनाता है।

३. सयुक्त परिवार के अवगुण
(Demerits of Jonit Family)

जहाँ संयुक्त परिवार-प्रथा की उसके अनेक गुणो के कारण प्रशंसा की गई है, वहाँ इसकी निन्दा भी कम नही की गई है। इस प्रथा के प्रमुख अवगुण निम्न-लिखित हैं—

(१) **निकम्मों का घर** (Home for idles)—संयुक्त परिवार निकम्मों का घर है, क्योंकि न कमाने वाले व्यक्ति जीविकोपार्जन का कोई कार्य करना नहीं

चाहते। जब कोई व्यक्ति बिना परिश्रम किए आराम से भोजन पा सकता है, तो वह पका देने वाले किसी कार्य को क्यों करेगा। बहुधा, संयुक्त परिवारों में यह देखा जाता है कि कुछ सदस्यों को तो बहुत काम करना पड़ता है, जबकि दूसरे नितान्त आलस्य का जीवन व्यतीत करते हैं।

(२) **व्यक्तित्व के विकास में बाधक** (Hindrance in the development of personality)—संयुक्त परिवार में सदस्यों को व्यक्तित्व के विकास अथवा आत्मनिर्भरता के अवसर बहुत कम प्राप्त होते हैं। परिवार का सम्पूर्ण पर्यावरण व्यक्ति के विकास के लिए अनुकूल नहीं होता, क्योंकि वह परिवार के मुखिया द्वारा निर्धारित मामूली से मामूली नियमों एवं विनियमों से बँधा होता है। परिवार का मुखिया पुरुषों एवं स्त्रियों को बालिग हो जाने के बाद भी बच्चे ही समझता है।

(३) **मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन** (Encourages litigation)—संयुक्त परिवार-प्रथा मुकदमेबाजी को बढ़ावा देती है। पारिवारिक सम्पत्ति के विभाजन के समय सामान्यतया विवाद उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका निर्णय कचहरी में पहुँचने के बाद ही होता है। कृषक परिवारों में विभाजन से भूखंडन होता है, जिससे कृषि-विकास को बाधा पहुँचती है।

(४) **झगड़ों को उत्पन्न करती है** (Leads to quarrels)—यह झगड़ों तथा फूट, विशेषतया स्त्री-सदस्यों में, का कारण है। आमतौर पर भाइयों की पत्नियों में घृणा एवं द्वेष होता है। बच्चों के ऊपर बहुधा कहा-सुनी होती रहती है। विचारों एवं स्वभाव का भी टकराव होता है, जिससे परिवार के बुजुर्ग तथा युवक सदस्यों के मध्य निरन्तर झगड़े होते रहते हैं।

(५) **एकान्त वर्जित** (Privacy denied)—संयुक्त परिवार में नव विवाहित दम्पति को एकान्त नहीं दिया जाता। पुत्रों की बहुओं को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं मिल पाता। वे सारे परिवार की सेवा गुलामों की तरह करती हैं। वे दिन के समय अपने पतियों से नहीं मिल पातीं। परिवार के अन्य सदस्यों की उपस्थिति बहू को लज्जित कर देती है और वह अपने पति से खुलकर बात नहीं कर सकती। पति-पत्नी के स्वाभाविक प्रणय को फलने-फूलने से रोका जाता है। सास के अत्याचार की भी कोई सीमा नहीं होती। कुछ उदाहरणों में अत्याचार इतना अमानवीय होता है कि बहुओं को आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता।

(६) **सम्पत्ति संचय को रोकता है** (Unfavourable accumulation of capital)—संयुक्त परिवार-प्रथा बड़ी मात्रा में सम्पत्ति-संचय के अनुपयुक्त है। जब किसी व्यक्ति को अपनी आय पूरे परिवार में बाँटनी पड़ती है तो अधिक बचत करना सम्भव नहीं होता। कभी-कभी सम्पत्ति के संयुक्त होने के कारण इसे फ़ज़ूल खर्च किया जाता है।

(७) **अनियंत्रित प्रजनन** (Uncontrolled procreation)—संयुक्त परिवार में बच्चों के पालन-पोषण एवं उनकी शिक्षा का दायित्व बँटा हुआ होता है।

कोई भी सदस्य परिवार की सीमित आय को ध्यान में रखकर प्रजनन को सीमित करना नहीं चाहता। एक सदस्य के बच्चों का पालन दूसरे सदस्यों के बच्चों के समान ही होगा। उनको समान सुख-सुविधाएँ दी जायेंगी। परिवार के सदस्यों की स्थिति में कोई भेदभाव नहीं किया जाता। इस प्रकार किसी सदस्य को परिवार-नियोजन या अधिक कमाई करके कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता।

इस प्रकार संयुक्त परिवार-प्रथा के घोर समर्थक तथा आलोचक दोनों ही हैं। फिर भी, हमें यह याद रखना है कि कोई भी संस्था पूर्ण नहीं होती और कोई भी दोषपूर्ण संस्था चिरस्थायी नहीं हो सकती। संयुक्त परिवार-प्रथा उस समय से अस्तित्व में है, जब समाज ने आर्थिक विकास के चरवाहे युग से कृषक-युग में प्रवेश किया। जबकि यह प्रथा नगरों में समाप्त हो रही है, यह ग्रामों मे, विशेषतया कृषक परिवारों में, अब भी प्रचलित है। यद्यपि यहाँ-वहाँ इसके कुछ अपवाद भी हो सकते हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रथा का सर्वथा लोप हो गया है। निःसंदेह यह सत्य है कि यह प्रथा जिसे किसी समय सामाजिक स्थिरता का स्तम्भ समझा जाता था, मूल्यों के परिवर्तन तथा सामाजिक गतिशीलता के दबाव के कारण धीरे-धीरे नष्ट हो रही है।

४. संयुक्त परिवार का विघटन
(Disintegration of Joint Family)

संयुक्त परिवार प्रथा के विघटन के निम्नलिखित कारण हैं—

(१) **औद्योगीकरण** (Industrialization)—संयुक्त परिवार-प्रथा कृषक परिवारों के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। भारत आज औद्योगीकरण के पथ पर है। नए कारखानों की स्थापना के कारण लोग गाँव छोड़कर नगर में आ जाते हैं, जिससे संयुक्त परिवार का विघटन होता है।

(२) **संचार एवं आवागमन के साधनों का विस्तार** (Extension of the means of communication and transport)—जैसा कि हमने ऊपर देखा कि प्राचीन समय में संचार एवं यात्रा की कठिनाइयों ने परिवार के सभी सदस्यों को एक स्थान पर मिलकर रहने तथा पारिवारिक व्यवसाय, कृषि अथवा व्यापार को संयुक्त रूप से करने के लिए विवश किया। आज संचार एवं यातायात के साधनों का विकास हो जाने के कारण परिवार के सदस्यों के साथ रहकर पारिवारिक व्यवसाय को करना आवश्यक नही रह गया है। अब वे नगरों में जाते हैं और किसी अन्य धन्धे को अपनाते हैं अथवा गाँव में रहते हुए भी किसी अन्य कारोबार को करते हैं और जब वे पारिवारिक व्यवसाय से भिन्न कोई व्यवसाय अपना लेते हैं, तो वे नया घर बसा लेते हैं।

(३) **कृषि एवं ग्रामीण उद्योगों का ह्रास** (Decline of agriculture and village trades)—भारत में संयुक्त परिवार प्रथा प्राचीन काल में अत्यन्त फली-फूली, जबकि ग्रामों में कृषि एवं व्यापार की उन्नत दशा थी। आजकल कारखानों की स्थापना हो जाने के कारण ग्रामीण शिल्पियों द्वारा निर्मित वस्तुएँ कारखानों में निर्मित वस्तुओं का उनके मूल्य एवं गुण के आधार पर मुकाबला नहीं कर

सकतीं। इसका परिणाम यह होता है कि ग्रामीण शिल्प को नुकसान पहुँचता है और कुछ समय के पश्चात् वे समाप्त हो जाते हैं। ग्रामीण उद्योगों के बन्द हो जाने पर कारीगर नगरो में चले जाते हैं। भूमि पर दबाव बढने के कारण भी लोग गाँव छोड़कर नगरों में काम की तलाश में आ जाते हैं। देहातों से नगरों में आ जाने के कारण हिन्दू संयुक्त परिवार-प्रथा का विघटन हो जाता है। कृषि एवं व्यापार के ह्रास के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं, जो लोगो को नगरों में आने के लिए प्रेरित करते हैं। गाँवो मे मनोरंजन तथा मनोविनोद की सुविधाओं का अभाव होता हैं, शिक्षित व्यक्तियों के लिए नौकरी के कम अवसर होते हैं तथा बच्चों की शिक्षा के साधन अपर्याप्त होते हैं। सम्भ्रांत कहलाने वाले व्यक्ति को गाँव में ठहरने के लिए कोई आकर्षण प्रतीत नही होता।

(४) **पश्चिम का प्रभाव** (Impact of the West)—भारत आज अपने सामाजिक दृष्टिकोण मे पाश्चात्य विचारधारा तथा आदर्शों से प्रभावित है। विवाह एवं तलाक सम्बन्धी हमारे आधुनिक कानून पाश्चात्य ढंग पर बनाए गए हैं। हमारी शिक्षा का दृष्टिकोण सर्वथा पाश्चात्य है। परिवार को हमने धार्मिक संस्कार के रूप में न देखकर उसे साझेदारी (partnership) के रूप में देखना प्रारम्भ कर दिया है। लैंगिक एव पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में, विशेषकर नवयुवक और नवयुवतियों के विचारो में काफी परिवर्तन आ गया है। व्यक्तिवाद ने भारतीय दृष्टिकोण को गहरा आघात पहुँचाया है।

(५) **नवीन सामाजिक विधान** (New social legislation)—नए सामाजिक अधिनियमों, यथा सिविल मैरिज ऐक्ट (१८७२); हिन्दू मैरिज ऐक्ट (१९५५); तथा हिन्दू उत्तराधिकार कानून (१९५६) ने संयुक्त परिवार-प्रथा पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। सिविल मैरिज कानून ने वयस्क युवकों एवं युवतियों को माता-पिता की इच्छा के विपरीत विवाह करने का अधिकार दिया। हिन्दू उत्तराधिकार कानून ने स्त्रियों को सम्पत्ति में समान अधिकार दिया। इन सभी कानूनों ने संयुक्त परिवार की दृढ़ता को तथा भाई-बहन एवं माता-पिता तथा बच्चों के सम्बन्धो को आघात पहुँचाया है।

के० एस० सम्बासिवन (K. S. Sambasivan), एक समकालीन भारतीय लेखक ने भारत के मजदूर परिवारों पर आधुनिक शक्तियों के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है—

"औद्योगीकरण ने परिवार को छिन्न-भिन्न कर दिया है। इसके परिणामस्वरूप बहुत-सी गाँठें, जो कृषक समाज मे परिवार के सभी सदस्यो को एक-दूसरे से बाँधती थी, ढीली पड़ने लगी हैं। पुन: मजदूर भी कारखानो के जीवन तथा उनकी कार्यप्रणाली से अनभ्यस्त होने के कारण टूट जाता है और ऐसी दशा मे वह परिवार का आनन्द नही उठा पाता। यह दशा उसके मन पर भी प्रभाव डालती है और वह वेश्या तथा मदिरा आदि अप्राकृतिक साधनों द्वारा आनन्द खोजने के लिए प्रेरित होता है। कारखाना व्यवसाय ने एक ही परिवार के सदस्यों को आर्थिक स्तर पर

स्वतन्त्र बना दिया है। संयुक्त परिवार प्रथा, जो भारत में सामान्य रूप से प्रचलित थी, धीरे-धीरे लुप्त हो रही है।"[1]

जब शोधकर्ताओं ने स्त्रियों से पूछा तो उन्होंने बतलाया कि वे संयुक्त परिवार-प्रथा के विरुद्ध हैं तथा अलग परिवारों में रहना चाहती हैं।[2] इसका अर्थ है कि आधुनिक प्रभावों के अधीन सयुक्त परिवार-प्रथा क्षीण हो रही है।

फिर भी यह स्मरण रहे कि भारत में संयुक्त परिवार-प्रथा का पूर्णतया विनाश नही हुआ है। इसके विघटन के जो कारण हैं, वे अधिकांशतः सामाजिक हैं। भारतीय लोग अब भी पारिवारिक लगाव को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं और परम्परागत नैतिकता का अवलम्बन लेते हैं। हिन्दू विचारधारा आज भी संयुक्त परिवार का समर्थन करती है। जो विचारक इसकी आलोचना करते हैं, वे इसे भली-भाँति नहीं समझ सके हैं। मेल-जोल एवं पारस्परिक सामंजस्य भारतीय संयुक्त परिवार के मूलाधार हैं। संयुक्त परिवार व्यक्तित्व को कुचल देने वाला स्थान नही है, अपितु यह एक सहकारी संस्था है, जहाँ प्रत्येक सदस्य ज्येष्ठ सदस्यों के मार्गदर्शन मे अपने कर्तव्यों को पूरा करता है। इसमे वैयक्तिक तथा सामान्य हितों का समन्वय पाया जाता है; यहाँ पर सामाजिक गुणों का प्रशिक्षण मिलता है जिससे व्यक्ति श्रेष्ठ नागरिक बनता है और सबके लिए जीने का पाठ पढ़ता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि उन उपायों की खोज की जाए, जिनसे संयुक्त परिवार-प्रथा के गुणो को कायम रखा जा सके। इस कार्य में प्रशासकों, सामाजिक वैज्ञानिकों एवं प्रबुद्ध जनमत के बुद्धिपूर्ण सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी।

प्रश्न

१. संयुक्त परिवार की परिभाषा कीजिए तथा इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

२. संयुक्त परिवार-प्रथा पर औद्योगीकरण का क्या प्रभाव पड़ा है?

३. संयुक्त परिवार प्रथा के गुणों एवं अवगुणो का वर्णन कीजिए।

अध्याय १९

विवाह

[MARRIAGE]

१. विवाह का अर्थ

(Meaning of Marriage)

विवाह वह संस्था है, जो नर और नारी को पारिवारिक जीवन में प्रवेश दिलाती है। यह वह दृढ़ सम्बन्ध है, जिसमे पुरुष और स्त्री को बच्चे उत्पन्न करने की सामाजिक आज्ञा मिल जाती है, बच्चे उत्पन्न करने के अधिकार में लैंगिक (sexual) सम्बन्ध अंतर्निहित हैं। एडवर्ड वेस्टरमार्क (Edward Westermark) ने विवाह की परिभाषा इस प्रकार की है: "नर और नारी के मध्य न्यूनाधिक स्थायी सम्बन्ध जो प्रजनन की क्रिया से परे बच्चों के जन्म के उपरांत भी बना रहता है।" अर्नेस्ट आर० ग्रोव्ज (Ernest R. Groves) ने इसे "संगी बन कर रहने की सार्वजनिक स्वीकृति तथा कानूनी पंजीकरण" कहा है। लोवी (Lowie) ने इसे "जायज साथियों मे अपेक्षतया पक्का सम्बन्ध" कहा है। मेलीनोव्स्की (Malinowski) ने कहा है कि "विवाह बच्चों की उत्पत्ति और देखभाल हेतु इकरारनामा है।" लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, विवाह "वे नियम एव विनियम हैं जो पति-पत्नी के एक-दूसरे के प्रति अधिकारों, कर्तव्यों एवं विशेषाधिकारों का वर्णन करते हैं।"[1] हार्टन एवं हंट (Horton and Hunt) के अनुसार, "विवाह एक स्वीकृत सामाजिक प्रणाली है, जिसके अनुसार दो या अधिक व्यक्ति परिवार की स्थापना करते हैं।"[2] मजूमदार, विवाह की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "विवाह पुरुष एवं स्त्री का सामाजिक रूप से स्वीकृत मिलन है, अथवा पुरुष और स्त्री के सहवास एवं मिलन को स्वीकृति प्रदान करने के लिए समाज द्वारा आविष्कृत एक गौण संस्था है, जिसके उद्देश्य हैं, (i) घर की स्थापना, (ii) लैंगिक सम्बन्धों में प्रवेश, (iii) प्रजनन, एवं (iv) बच्चों का पालन-पोषण।"[3] एंडरसन एवं पार्कर (Anderson and Parker)

---

1 "Marriage consists of the rules and regulations which define the rights, duties, and privileges of husband and wife, with respect to each other." Lundberg, *Sociology*, p. 133.

2. "Marriage is the approved social pattern whereby two or more persons establish a family." Horton and Hunt, *Sociology*, p. 216

3. [illegible]

के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषों तथा एक या अधिक स्त्रियों के बीच समाज द्वारा स्वीकृत स्थायी सम्बन्ध है, जिसमें पितृत्व-हेतु संभोग की आज्ञा निहित है।" जान लेवी एवं रूथ मनरो (John Levy and Ruth Munroe) के अनुसार, लोग विवाह इसलिए करते हैं, क्योंकि वे महसूस करते हैं कि परिवार में रहकर ही अच्छी प्रकार जीवन व्यतीत किया जा सकता है। वे इस कारण विवाह नहीं करते, क्योंकि वे परिवार की संस्था को निरन्तरता प्रदान करना अपना सामाजिक दायित्व समझते हैं अथवा क्योंकि धर्मग्रंथों में इसकी सिफ़ारिश की गई है अथवा क्योंकि वे एक-दूसरे के साथ प्रेम करने लगे हैं, परन्तु इसलिए करते हैं, क्योंकि वे बचपन में एक परिवार में रहे, अतः वे इस भावना पर काबू नहीं पा सकते कि परिवार में रहना ही समाज मे रहने की एकमात्र उचित विधि है। लगभग सभी समाजों में विवाह का कोई न कोई रूप विद्यमान है।

२. विवाह के प्रकार
(Forms of Marriage)

(१) एक पत्नी, बहु पति : बहुपतित्व (One wife, many husbands: polyandry)—संसार के कुछ भागों मे बहुपतित्व की प्रथा प्रचलित रही है। यह विवाह का वह रूप है, जिसमे एक स्त्री एक ही समय एक से अधिक पुरुषों के साथ विवाह करती है। तिब्बत मे यह प्रथा आम प्रचलित है, जहाँ सामाजिक जीवन की दशाएँ काफी कठोर हैं तथा जहाँ शायद एक परिवार के भरण-पोषण के लिए दो या अधिक पुरुषों के प्रयत्नों की आवश्यकता है। पोलीनीसिया (Polynesia) के मार्क्वेज़न्स (Marquesans) तथा मालाबार के तोडों (Todas) मे भी यह सत्य प्रचलित है। हिंदू धर्मशास्त्र में पाँच पांडवों की एक ही पत्नी द्रौपदी की कथा आती है। कुछ कबीलों, जैसे नमीब बुशमैन, वेन्ज्यूला के यारूरो, एलचाको के लेंगुआ, सिंहली, मुंडा तथा मलाया प्रायद्वीप के प्राचीन कबीलों मे बहुपतित्व प्रथा प्रचलित कही जाती है। कुछ भी हो, यह विवाह की अन्य पद्धतियों से कम प्रचलित है तथा साधारणतया कुछ विशेष एवं उग्र परिस्थितियों का मुकाबला करने हेतु कामचलाऊ व्यवस्था है। बहुपतित्व के दो रूप हो सकते हैं—

(i) भ्रातीय बहुपतित्व (Fraternal polyandry)—इस प्रकार के बहुपतित्व में एक पत्नी सभी भाइयों की पत्नी समझी जाती है, जो उसके साथ लैंगिक सम्बन्ध रखते हैं। बच्चे ज्येष्ठतम भाई की संतान समझे जाते हैं। टोडो में बहुपतित्व भ्रातीय प्रकार का है।

(ii) अभ्रातीय बहुपतित्व (Non-fraternal polyandry)—इस प्रकार में एक स्त्री के अनेक पति होते हैं, जिनके साथ वह बारी-बारी से सहवास करती है। इन पतियों का भाई होना आवश्यक नहीं है। जब भी किसी बच्चे का जन्म होता है तो उसके पिता का निर्धारण एक धार्मिक संस्कार द्वारा किया जाता है, जो उसका सामाजिक पिता कहलाता है।

(२) एक पति, अनेक पत्नी : बहुपत्नीत्व (One husband, many wives: polygyny)—इस प्रथा के अनुसार, एक पुरुष एक ही समय में दो या अधिक पत्नियों

रखता है। बहुपत्नीत्व को आमतौर पर बहुविवाह (polygamy) कहा जाता है, परन्तु बहुविवाह एक आम शब्द है, जिसमें बहुपतित्व तथा बहुपत्नीत्व दोनों शामिल हैं। बहुपत्नीत्व प्रथा एस्कीमो, कबीलों, क्रो तथा उत्तरी अमेरिका के हिदात्सा (Hidatsa) तथा अफ्रीका के हब्शियो में मिलती है। आदिमकाल में यह एसाइरो-बेबिलोनियनों (Assyro-Babylonians) तथा इब्रानियों (Hebrews) में भी प्रचलित थी। भारत में आज भी मुसलमानों तथा हिन्दुओं में भी यह प्रथा देखी जा सकती है। बहुपतित्व की अपेक्षा इसका प्रचार कहीं अधिक है। बहुपत्नीत्व का दासप्रथा से निकटवर्ती सम्बन्ध है। आमतौर पर, युद्ध में बन्दी बनाई स्त्रियों को विजेता अपनी पत्नियाँ तथा रखेलें बना लेता था। कई बार सरदार या राजा कई दर्जन स्त्रियों को अपनी पत्नियों के रूप में खरीद लेता था। मुसलमानों के शासन-काल में अवध के नवाबों की बहुत-सी बेगमें सुनने में आती हैं। कई बार तो इनकी संख्या सैंकड़ों तक पहुँच जाती थी। बहुपत्नीत्व आंशिक रूप से पुरुष के निम्नस्तरीय लैंगिक रुचियों तथा आंशिक अनेक उत्तराधिकारी छोड़ कर जाने की इच्छा पर आधारित है। वेस्टरमार्क ने बहुपत्नीत्व के निम्नलिखित कारण बतलाए हैं—

(i) **बाधित ब्रह्मचर्य** (Enforced celibacy)—पुरुष गर्भावस्था एवं बच्चे द्वारा अपनी माता का दूध पीने के काल में अपनी पत्नी के साथ सहवास नहीं करते। इस प्रकार के बाधित ब्रह्मचर्य के लम्बे काल के कारण दूसरी पत्नी रखी जाती थी।

(ii) **स्त्री का शीघ्र बूढ़ी होना** (Earlier ageing of the female)—असभ्य कबीलों में व्यक्ति अनेक बार विवाह इसलिए करते थे, क्योंकि स्त्रियाँ जल्दी बूढ़ी हो जाती थी।

(iii) **विविधता** (Variety)—विविधता की इच्छा भी बहुपत्नीत्व का एक कारण है।

(iv) **अधिक संतान** (More children)—अधिक संतान प्राप्त करने का एक साधन बहुपत्नीत्व है।

(v) **सामाजिक सम्मान** (Social prestige)—कुछ कबीलों में नेता अपनी सर्वोच्चता को सिद्ध करने के लिए अनेक पत्नियाँ रखते हैं। एक अकेली पत्नी गरीबी का चिह्न समझी जाती है।

(vi) **आर्थिक आवश्यकता** (Economic necessity)—कुछ क्षेत्रों में बहुपत्नीत्व का कारण यह है कि इससे पत्नियों के रूप में सस्ते एवं विश्वसनीय श्रमिक मिल जाते हैं। हिमालय के क्षेत्रों में व्यक्ति अनेक बार विवाह अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा तथा कृषि के लिए सहायता प्राप्त करने के लिए करते हैं।

बहुपत्नीत्व दाम्पत्य द्रोह के मामलों को कम कर देता है, परन्तु इससे पत्नियों में घृणा एवं द्वेष उत्पन्न हो जाता है।

(३) **एक पुरुष, एक पत्नी : एकपत्नीत्व** (One man, one wife : mo-

कर सकता है। यह विवाह का प्रमुख रूप है। इसके लाभ अब पूर्ण रूप से स्पष्ट हो चुके हैं। यह उच्चतम प्रकार का स्नेह एवं सौहार्द्र की भावना उत्पन्न करता है। बच्चों का पालन-पोषण भली प्रकार होता है। माता-पिता दोनों अपने बच्चों के पालन पर पूर्ण ध्यान केन्द्रित रखते हैं। बहुपत्नीत्व में पिता अपनी प्रत्येक पत्नी तथा बच्चे की ओर पूरा ध्यान नही दे सकता, क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक होती है। वास्तव में वह कई परिवारो का मुखिया होता है तथा पितृत्व का वैयक्तिक अर्थ में कोई अस्तित्व ही नही होता। बहुपत्नीत्व में पारिवारिक आनन्द भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि पत्नियों में आपसी ईर्ष्या तथा कलह रहता है एवं बच्चों को भी एक-दूसरे से अलग रखा जाता है। माता-पिता के बीच स्नेह, माता-पिता एवं बच्चो मे स्नेह और बच्चो का आपस में स्नेह, बहुपत्नीत्व जिसमे युवा पत्नी के मुकाबले मे प्रौढ पत्नी को तिरस्कृत कर दिया जाता है, की अपेक्षा एकपत्नीत्व में बहुत अधिक होता है। एकपत्नीत्व मे बूढ़े माता-पिता को बच्चों से पूरी देखभाल मिलती है। बहुपत्नीत्व में उनके बुढ़ापे के दिन बड़े कष्ट गुजरते हैं। मैलिनोस्की (Malinovsky) के अनुसार, "एकपत्नीत्व विवाह का एक मात्र उचित प्रकार है, रहा है और रहेगा।" यह शायद एकपत्नीत्व के अनेक लाभों के कारण है कि भारत में सरकारी कर्मचारियों को बहुपत्नीत्व की कानूनी मनाही है।

(४) मैत्री विवाह (Companionate marriage)—यह दो व्यक्तियों का इस समझौते पर विवाह है कि जब तक कोई बच्चा पैदा नही होता, विवाह-सम्बन्ध को दोनों की इच्छा पर बड़ी आसानी से भंग किया जा सकता है। जज बेन बी० लिंडसे (Judge Ben B. Lindsey) का यह विचार है कि यह ढंग उन्मुक्त प्रेम अथवा परीक्षण विवाह से बहुत अच्छा है, क्योंकि इस बात की जानकारी, कि यदि कोई बच्चा न हुआ तो तलाक प्राप्त किया जा सकता है, विवाह की ओर पूर्ण रुचि आकर्षित करेगी। इस विधि के आलोचक, चाहे इसके पक्ष में कुछ भी कहा जाए, यह कहते हैं कि इसका परिणाम 'तुरन्त विवाह' और 'तुरन्त तलाक' होता है तथा इसका एकमात्र आशय लैंगिक सम्बन्ध होता है।

(५) प्रयोगात्मक विवाह (Experimental marriage)—कुछ विचारकों ने स्थायी एकता का जीवन व्यतीत करने से पूर्व नर और नारी की संगतता को जानने के लिए प्रयोगात्मक विवाह की राय दी है। नर और नारी को अस्थायी रूप से विवाहित जीवन व्यतीत करने की स्वीकृति दी जानी चाहिए, ताकि यह जाना जा सके कि वे स्थायी रूप से विवाहित सम्बन्ध में बँध सकते हैं या नहीं। इस प्रकार के विवाह से बाद मे सम्बन्ध-विच्छेद के अवसरो में कमी हो जाएगी। प्रयोग-काल में वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व से परिचित हो जायेंगे। यदि वे अनुभव करें कि उनके व्यक्तित्व संगत हैं तो वे पक्के विवाह-सम्बन्ध में बँध जाएँ, अन्यथा एक-दूसरे से अलग हो जाएँ। प्रयोगात्मक विवाह के पक्ष में अवश्य कुछ कहा जा सकता है। परन्तु प्रयोगात्मक उपागम प्रयोगशाला मे ही बढ़िया है, विवाह में नही।

यहाँ यह उल्लेख भी किया जा सकता है कि बहुत से समाज अतिरिक्त वैवाहिक (extra-marital) या पूर्ववैवाहिक (pre-marital) यौन सम्बन्धों की अनुमति देते हैं। यह विशेषाधिकृत सम्बन्धों की विधि, जैसाकि मानव-वैज्ञानिकों ने

इसका नामकरण किया है, एक निरंकुश विधि नही है। जिन समाजों में ऐसे सम्बन्ध होते हैं, यदि उनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाए तो इसके कारण समझ मे आ जायेंगे। हम जानते हैं कि यौन विशेषाधिकार एक प्रकार के विशेष सम्बन्ध को पक्का करता है। विशेषाधिकृत यौन सम्बन्धों को सामाजिक सम्बन्धों का दृढ़ीकरण और प्रतीक कहा जा सकता है। हमारे समाज में यौन सम्बन्धों की ओर दृष्टिकोण अत्यधिक प्रतिबन्धात्मक है। हमारे विचार मे यौन सम्बन्ध विवाह तक ही सीमित होने चाहिए और व्यक्ति को एक समय में एक से अधिक साथी नही रखना चाहिए। परन्तु यह नियम भग भी किया जाता है। यह देखा गया है कि पूर्वविवाह यौन सम्बन्ध रखने वाले पुरुषो का प्रतिशत नारी की अपेक्षा उच्च है। पश्चिम में पूर्व-विवाह यौन सम्बन्ध रखने वाले नर और नारियो का अनुपात भारत की अपेक्षा उच्च है। कुछ समाजो मे पूर्वविवाह सम्बन्धो के विरुद्ध विचार अन्य समाजो की अपेक्षा अधिक कठोर हैं। यह बात सत्य है कि कोई भी समाज विवाह को पूर्णतया अनियमित नही छोडता। विवाह के प्रसंग में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिनकी व्याख्या हो जानी आवश्यक है, जिनमे से एक Sororal Polygyny है, जिसका अर्थ एक पुरुष का कई बहनो के साथ विवाह कर लेना है। Levirate एक और शब्द है जिसका भाव एक पुरुष का अपने मृत भाई की निस्संतान विधवा के साथ विवाह कर लेना है। Sororate तीसरा शब्द है, जिसका अभिप्राय एक पुरुष का अपनी स्वर्ग-वासी, नि:संतान पत्नी की बहन के साथ विवाह करना है। Concubinage पति तथा पत्नी के रूप में बिना विवाह कराए इकट्ठे रहने की एक हालत है। यह एक या बहुत स्त्रियो के साथ जो पत्नी अथवा पत्नियो से अलग है, के साथ लैंगिक सम्बन्ध रखने का नाम है। Concubinage को कई समाजो मे स्वीकृति भी प्रदान रही है। Hypergamy के अर्थ पुत्री के किसी अच्छे तथा ऊँचे घराने में विवाह करने से है। भारत में यह प्रथा बहुत प्रचलित है। यदि माता-पिता अपनी पुत्रियों को नीच घराने मे शादी करते है तो इसे परिवार की मर्यादा पर एक कलंक समझा जाता है।

३. साथी का चुनाव
(Mate-choice)

इससे पूर्व कि विवाह-सस्कार सम्पन्न हो, पहली तथा जरूरी शर्त साथियों का चुनाव है। ठीक साथी का चुनाव इतना महत्वपूर्ण है कि गलत चुनाव हो जाने की सूरत मे परिवार मुसीबत में फँस जाता है। भले ही भाई-बिरादरी की ओर से चुनाव का कोई खास स्तर नियत नही, क्योंकि साथी के चुनाव की समस्या बिल्कुल व्यक्तिगत है तथा इसका भाई-बिरादरी से कोई सम्बन्ध नही, परन्तु फिर भी कई बार साथियों के चुनाव के लिए कई कायदे बना दिए जाते हैं।

बहिर्विवाह (Exogamy)

लोग ऐसे विवाहो को रोक देते हैं जिनका आपस मे कोई खून का रिश्ता अथवा नजदीक का रिश्ता हो। इसे बहिर्विवाह अथवा समूह से बाहर विवाह के नाम से पुकारा जाता है। एक पुरुष अपनी पत्नी का चुनाव अपने गोत्र से बाहर ही न करे, बल्कि दादे-परदादे के गोत्रो से भी बाहर चुने।

इससे आगे कुछ ऐसे रिश्ते भी हैं जिनमें विवाह नहीं किया जाता। परन्तु ऐसे रिश्तों की विभेद-रेखा हर एक समुदाय में अलग-अलग है। माता-पिताओं का अपने बच्चों के साथ विवाह सारे संसार में वर्जित है। मैलेनेशिया तथा आस्ट्रेलिया में एक पुत्र अपने पिता की पत्नी के साथ विवाह कर सकता है, यदि वह स्त्री उसकी माँ न हो; अथवा एक पुरुष अपने भाई की पुत्री के साथ विवाह कर सकता है। भाई का सगी बहन के साथ भी विवाह वर्जित है, भले ही मिस्र, पर्शिया, स्याम, लंका तथा हवाई द्वीपों के राजघरानों मे राजवंश की रेखा की रक्षा के लिए भाइयों तथा बहनों में विवाह करवा दिए जाते थे। चचेरे बहन-भाइयों में विवाह का, विशेषकर मुसलमानों में, अब तक रिवाज़ है। रोमन कैथोलिक धर्म एक विधुर को अपनी साली के साथ विवाह करने से मना करता है। १९०७ तक ऐसे विवाह अवैध समझे जाते थे।

वेस्टरमार्क के अनुसार बहिर्विवाह का सबसे जरूरी कारण नजदीक के सम्बन्धित व्यक्तियों में काम-भावना का न होना अथवा लैंगिक उदासीनता का होना है। परन्तु अपने रिश्तेदारों के साथ व्यभिचार की मिसालें, जिन पर समाज की ओर से रोक है, आम देखने को मिलती हैं, जिनकी वेस्टरमार्क के सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या नहीं हो सकती। डेविस (Davis) के अनुसार कौटुम्बिक व्यभिचार-वर्जन (incest taboos) इसलिए विद्यमान हैं, क्योंकि वे अनिवार्य हैं और पारिवारिक संरचना का एक भाग हैं।[1] कौटम्बिक व्यभिचार की वर्जनाओं के अभाव में परिवार में विभिन्न पदों और सम्बन्धों में गड़बड़ हो जाएगी और उससे परिवार की संस्थात्मक और प्रकार्यात्मक कुशलता समाप्त हो जाएगी। उदाहरण के लिए, यदि बहन-भाइयों को विवाह की अनुमति दे दी जाए तो इससे न केवल भाइयों और बहनों में यौन-सम्बन्धी होड़ का विकास होगा, बल्कि परिवार में सम्बन्धों की गड़बड़ भी होगी। भाई अपने बच्चे का केवल पिता ही नहीं होगा, बल्कि उसका मामा भी होगा और बहन केवल उसकी माँ ही नहीं होगी, बूआ भी होगी। एक परिवार में दूसरा परिवार पैदा हो जाएगा। यदि माता-पिता और बच्चों में यौन सम्बन्धों की स्वीकृति दे दी जाती है तो न केवल माँ और बेटी तथा पिता और पुत्र में यौन सम्बन्धी होड़ होगी, पदों की गड़बड़ विशेष दर्शनीय होगी। पिता-पुत्री के संगम से उत्पन्न बच्चा अपनी ही माँ का भाई, अपने चाचा का भाई और अपने ही पिता का पोता होगा। इस प्रकार पीढ़ियों की गड़बड़ होगी। इस प्रकार कौटम्बिक व्यभिचार की वर्जनाएँ परिवार के लिए अनिवार्य हैं और यही कारण है कि कौटम्बिक व्यभिचार पर वर्जनाएँ हर स्थान पर लगायी गई हैं। यह केवल भावावेग की नहीं, बल्कि कर्तव्य और समूह के प्रति दायित्व की माँग है। जार्ज मुरडाक (George Murdock) लिखता है : "लैंगिक प्रतियोगिता एवं ईर्ष्या से बढ़ कर संघर्ष का कोई अन्य रूप अधिक घातक नहीं है। माता-पिताओं और बच्चों के मध्य तथा सहोदरों (*siblings*) के बीच यौन ईर्ष्या का अभाव परिवार को एक सहकारी सामाजिक समूह के रूप में दृढ़ करता है, इसकी समाज-सम्बन्धी सेवाओं की कुशलता में वृद्धि करता है तथा समाज को पूर्ण रूप से शक्तिशाली बनाता है।"[2] भारत मे सगोत्र विवाह अभी हाल तक अवैध थे, जिसे १९४८ में पुनः वैध बना दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता

1. Davis, Kingsley, Human Society, p. 402.
2. Murdock, G. P., Social Structure, p. 295.

है कि प्राचीन काल में एक ही घर के अंदर रहने वालों को अन्तर्विवाह करने की आज्ञा नहीं थी, परन्तु जैसे-जैसे परिवार का विभाजन होता गया, विवाह की विवर्जन-रेखा भी कम होती गई।

वहिर्विवाह के रूप (Forms of Exogamy)

भारत में विद्यमान बहिर्विवाह के निम्नलिखित रूप हैं—

(i) गोत्र बहिर्विवाह (Gotra exogamy)—हिंदुओं मे प्रचलित प्रथा गोत्र से बाहर विवाह करने की है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि एक ही गोत्र के व्यक्तियो का समान खून होता है, अतएव उनका अंतर्विवाह वर्जित है।

(ii) प्रवर बहिर्विवाह (Pravar Exogamy)—'प्रवर' शब्द का शाब्दिक अर्थ आह्वान करना है। वैदिक युग मे पुरोहित अग्नि प्रज्वलित करते समय अपने प्रसिद्ध ऋषि, पूर्वजों के नामों का प्रारम्भ करते होंगे। प्रवर से एक पुरोहित के ऋषि, पूर्वजों का आभास होता है। धीरे-धीरे इन पुरोहितों के यजमानों ने भी इन प्रवरों को स्वीकार कर लिया तथा वे अपने पुरोहित के प्रवर मे विवाह-सम्बन्ध नहीं करते थे। वास्तव में, प्रवरो का विचार मुख्यतः ब्राह्मणों में ही पाया जाता है।

(iii) ग्राम बहिर्विवाह (Village exogamy)—कुछ भारतीय कबीलों में गाँव से बाहर रहने वाले व्यक्ति से विवाह करने की प्रथा है। ऐसा प्रतिबन्ध मुंडा तथा मध्य प्रदेश में छोटा नागपुर के अन्य कबीलों में पाया जाता है। आसाम में नागा कबीला 'खैलों' (Khels) में विभाजित है। 'खैल' किसी विशिष्ट स्थान पर रहने वाले व्यक्तियों को कहा जाता है तथा एक 'खैल' के व्यक्ति अंतर्विवाह नहीं कर सकते।

(iv) पिंड बहिर्विवाह (Pinda exogamy)—हिंदू समाज में सपिण्ड विवाह भी वर्जित है। पिंड का अर्थ है सामान्य पूर्वज। पिण्ड चावल के उन गोलों को कहते हैं जो श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किए जाते हैं। यह अर्थ दायभाग (Dayabhaga) के अनुसार है। मिताक्षरा (Mitakshara) के अनुसार सपिण्ड वे व्यक्ति होते हैं जो किसी भी पूर्वज के शरीर के कणों को अपने शरीर में रखते हैं। सूत्रकार वशिष्ठ तथा गौतम के अनुसार, माता की पाँच पीढ़ियों तथा पिता की सात पीढ़ियों में विवाह नहीं करना चाहिए। हिन्दू विवाह अधिनियम में इन पीढ़ियों को क्रमशः तीन और पाँच कर दिया गया है।

अन्तर्विवाह (Endogamy)

कई बार यह रोक लगा दी जाती है कि दूसरा साथी उसी जाति अथवा श्रेणी में से चुना जाए, जिससे पहला साथी सम्बन्धित है। श्रेणी के अन्दर विवाह को अन्तर्विवाह कहते हैं। इस प्रकार बाह्य समूह (outgroup) के सदस्यों के साथ विवाह वर्जित होता है। आज भी अन्तर्जातीय विवाहों को पसन्द नहीं किया जाता। हिटलर ने आर्य एवं यहूदी के बीच विवाह को अपराध घोषित किया था। यहाँ तक कि भारत मे एक ब्राह्मण अपनी जाति मे ही, बल्कि अपनी उपजाति के अन्दर ही विवाह कर सकता है। वैश्य का एक ब्राह्मण के साथ विवाह सामाजिक तौर पर वर्जित है। प्राचीन पोलीनिशियन समाज में कुलीन तथा सामान्य व्यक्तियों के बीच विवाह-सम्बन्धों का होना मना था। आज

भी एक मजदूर उद्योगपति की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। भारत में विवाह एक आवश्यक बन्धन है, भले ही आजकल अन्तर्विवाह-सम्बन्धी ढीला पड़ गया है। अब कभी-कभी अन्तर्जातीय विवाह भी होते हैं, संख्या अधिक नहीं है। यह भी स्मरण रहे कि अन्तर्विवाह तथा दो विरोधात्मक प्रक्रियाएँ नहीं हैं, अपितु एक-दूसरे की पूरक हैं। इस प्रकार वैश्य जाति एक अन्तर्विवाहीय समूह है, परन्तु उसकी उपजाति, अर्थात् गोत्र विवाहीय समूह है।

अन्तर्विवाह के रूप (*Forms of Endogamy*)

भारत में अन्तर्विवाह के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

(i) कबीलीय अन्तर्विवाह (Tribal endogamy)—इस प्रकार के अन्तर्विवाह में व्यक्ति अपने कबीले से बाहर विवाह नहीं कर सकता।

(ii) जातीय अन्तर्विवाह (Caste endogamy)—इस प्रकार में विवाह जाति के अन्दर होना चाहिए।

(iii) श्रेणी अन्तर्विवाह (Class endogamy)—इस प्रकार के अन्तर्विवाह में विवाह एक ही श्रेणी अथवा एक ही प्रस्थिति वाले व्यक्तियों के बीच हो सकता है।

(iv) उपजाति अन्तर्विवाह (Subcaste endogamy)—इस प्रकार के अन्तर्विवाह में विवाह उपजातियों के बीच ही हो सकता है।

(v) प्रजाति अन्तर्विवाह (Race endogamy)—इस प्रकार में व्यक्ति प्रजाति (race) के अन्दर ही विवाह कर सकते हैं।

समूह से बहिर्विवाह पर रोक लगाकर अंतर्विवाह—

(i) समूह की सजातीयता को सुरक्षित रखता है;
(ii) इसके मान एवं पद को स्थिर रखता है;
(iii) समूह की संख्यात्मक शक्ति को कायम रखता है;
(iv) समूह की रक्तशुद्धता को बनाए रखता है;
(v) समूह में एकता की भावना को बढ़ाता है।

सुप्रजनीन कारण (Eugenic Considerations)

कुछ समाजों में जीवन-साथी का चुनाव सुप्रजनीन दृष्टिकोण से किया जाता है। यह महसूस किया गया है कि किसी रोगग्रस्त व्यक्ति को विवाह करने की आज्ञा नहीं मिलनी चाहिए, जिससे रोगी बच्चों का जन्म न हो। भले ही इस दृष्टिकोण के महत्व को अभी तक पूर्ण रूप से नहीं समझा गया, तथापि हम उस भविष्य की कल्पना कर सकते हैं जब जीवन-साथी के चुनाव में सुजननीय कारकों का भी ध्यान रखा जाएगा।

माता-पिता द्वारा चुनाव (Selection b Parents)

पूर्वी देशों में जीवन-साथी [illegible] न्यतया माता-पिता द्वारा अथवा बुजुर्गों द्वारा किया [illegible] भावी [illegible]

शुभ-अशुभ को भली प्रकार समझ सकते हैं। जवान लड़का तथा लड़की अल्हड़ होने के कारण स्थायी मूल्यों के स्थान पर अस्थायी रुचियों को सामने रखते हैं। पश्चिम में जीवन-साथी के चुनाव का ढंग सामान्यतः प्रेम में फँसना होता है, जो चुनन के ठोस सिद्धान्त की परवाह नहीं करता। ये तथाकथित 'प्रेम-विवाह' आम तौर पर असफल रहते हैं। इसका मतलब यह होता है कि 'पहली नजर में प्यार, दूसरी नजर में तलाक'। बोगार्डस (Bogardus) ने लिखा है "प्रेम बहुधा अंधा होता है, जो केवल कामक्रीड़ा में आनन्द का अनुभव करता है।"[1]

यह कहा जाता है कि साथियों का चुनाव करते समय माता-पिता आमतौर पर अपने वैयक्तिक विचारों एवं इच्छाओं को सामने रखते हैं, तथा वैवाहिक बन्धन में बँधने वाले साथियों की इच्छाओं का ध्यान नहीं रखते। वे ऐसे लड़के-लड़कियों को विवाह-पाश में बाँध देते हैं जो एक दूसरे को पसन्द नहीं हैं। यह विचार निर्मूल नहीं है। कई बार देखने को मिलता है कि माता-पिता अपने पुत्र या पुत्री का विवाह ऐसे स्थान पर कर देते हैं, जहाँ मानसिक अथवा शारीरिक स्तर पर वे योग्य दम्पति नहीं होते अपितु जिससे केवल माता-पिता की स्थिति एवं मान को बढ़ावा मिलता है। इसलिए यह वांछनीय है कि माता-पिता विवाह-सम्बन्ध पक्का करने से पहले अपने लड़के और लड़कियों की राय ले लिया करें, अपने द्वारा चुनाव के कारणों से उन्हें अवगत करा दें और जोर-जबर्दस्ती की अपेक्षा उनके मनों को अपील कर उनकी सहमति प्राप्त कर लें। परम्परागत दृष्टिकोण नव-विवाह के मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए।

आजकल नवयुवकों और नवयुवतियों में 'आदर्श विवाह' (perfect marriage) की उत्कट अभिलाषा लक्षित होती है। इन नवयुवकों द्वारा कल्पित आदर्श विवाह की धारणा इतनी परम्परागत तथा घिसी-पिटी होती है कि यह विचित्र-सी लगती है। अपने भावी जीवन-साथी में वे शारीरिक सौंदर्य की सभी विशेषताएँ, अविचलित प्रेम, श्रद्धा एवं भक्ति, तथा पूर्ण मित्रता एवं आत्म-अभिव्यक्ति चाहते हैं। वे विश्वस्त हो जाना चाहते हैं कि विवाह उन्हें प्रत्येक आशंसित वस्तु प्रदान करेगा तथा उनका व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहेगा। वे भूल जाते हैं कि प्रत्येक मानव-सम्बन्ध की कुछ प्राकृतिक कमियाँ होती हैं। वे विवाह की वास्तविकता को देख नहीं पाते तथा जब उनका वैवाहिक जीवन असफल हो जाता है तो उसका दोष अपने जीवन-साथी को देते हैं, न कि अपनी उन अनुचित एवं अकृत्रिम अपेक्षाओं को, जिनको वह विवाह में पाने का स्वप्न सँजोये थे। इससे पूर्व कि दो आत्माएँ स्वयं को विवाह-सूत्र में बाँधने को सहमत हों, उन्हें एक नई इकाई, जो उन दोनों से बड़ी है, की उत्पत्ति हेतु अपने आपको डुबाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। उन्हें अपने सम्बन्ध को अपने जीवन की स्थायी संरचना समझनी चाहिए।

४. भारत में विवाह
(Marriage in India)

विवाह : एक धार्मिक संस्कार (Marriage : a sacrament)—भारत में परम्परागत हिन्दू कानून के अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है, न कि एक

1. Bogardus, *op. cit*, p. 71

सिविल इकरारनामा। यह प्रत्येक हिन्दू के लिए एक आवश्यक संस्कार अथवा पवित्र अनुष्ठान है। हिन्दू धर्मग्रंथों मे विवाह को एक दायित्व बतलाया गया है, क्योंकि एक अविवाहित पुरुष अधिकांशतया महत्वपूर्ण धार्मिक कार्यों को सम्पन्न नही कर सकता। अतएव भारत मे विवाह धार्मिक कार्यों के समापन हेतु एक पवित्र संयोग है। यह संयोग पवित्र तथा जीवन भर अभेद्य है जो पति की मृत्यु के बाद भी चलता रहता है। माता-पिता का नैतिक कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों के लिए जीवन-साथी का चुनाव करें और बच्चों का कर्तव्य है कि वे इस चुनाव का आदर करें। विवाह दो संयुक्त परिवारों का मिलन है, न कि दो युवक व्यक्तियों का। अतएव हिन्दू विवाह मे जीवन-साथी के चुनाव का आधार रोमान्टिक प्रेम नहीं है। कोर्टशिप के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि नवयुवक जोड़ा विवाह से पूर्व एक-दूसरे को देख नहीं पाते। रोमान्टिक प्रेम विवाह का प्रतिफल हो सकता है, कारण नहीं। मनु ने पारस्परिक चुनाव को विवाह के किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया है। संक्षेपतः, हिन्दुओ में विवाह अनिवार्य है। यह एक धार्मिक संस्कार है, एक अभेद्य और गुप्त मिलन है। दूसरा विवाह, विशेषतया स्त्रियों के लिए वर्जित है।

विवाह के रूप (Forms of Marriage)

भारत में प्राचीन काल से ही विवाह-सम्बन्धी नियम वर्तमान थे। महाभारत में संकरता एवं लैंगिक व्यभिचार का प्रसंग आता है, जो काल्पनिक प्रतीत होता है। वैदिक युग में विवाह सम्बन्धित व्यक्तियों की अपनी पसन्द पर छोड़ दिया जाता था। विवाह में दहेज देने की भी प्रथा थी। बाद की संहिताओं में वधू-मूल्य का भी जिक्र आता है। स्मृति में आठ प्रकार के विवाहों को मान्यता दी गई है, परन्तु इनमें से चार को ही धार्मिक रूप से मान्य ठहराया गया हैं। आठ प्रकार के विवाहों में ब्रह्म विवाह को सबसे उत्तम माना गया है। ब्रह्म विवाह विवाह का वह रूप है जिसमे कन्या का पिता अथवा संरक्षक वर से कोई वधू-मूल्य नही लेता। यह आसुरी रूप से नितान्त भिन्न है, क्योंकि आसुरी रूप में वर कन्या अथवा उसके संबंधियो को कुछ न कुछ मूल्य दिया करता है। किसी भी जाति का हिन्दू इन दोनो में से कोई-सा विवाह कर सकता है। राक्षस विवाह उच्चजातीय हिन्दुओं के लिए वर्जित था। इसमें पुरुष बलपूर्वक रोती-पीटती कन्या को उसके घर से उसके सम्बन्धियों को मारकर अथवा घायल करके अपहरण करता था। इस प्रकार के विवाह का विधान केवल क्षत्रिय जाति के लिए था। स्वयंवर, विवाह के रूप मे बाद मे आया।

१९५५ का हिन्दू विवाह अधिनियम (Hindu Marriage Act of 1955)—हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ ने हिन्दुओं मे विवाह की छः आवश्यक शर्तें निर्धारित की हैं। ये शर्तें निम्नलिखित हैं—

(i) विवाह के समय किसी भी पक्ष की पत्नी या पति जीवित नहीं होने चाहिए।

(ii) दोनों पक्षों में से कोई भी विवाह के समय विकृत-मस्तिष्क या पागल न हो।

(iii) वर ने १८ वर्ष तथा वधू ने १५ वर्ष की आयु विवाह के समय पूरी कर ली हो।

(iv) दोनों पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धों की श्रेणी (degrees of prohibited relationship) में न आते हों, जब तक कि कोई प्रथा, जिसके द्वारा वे नियंत्रित होते हों, इस प्रकार के विवाह करने की आज्ञा न देती हो।

(v) दोनों पक्ष एक-दूसरे के सपिण्ड नहीं होने चाहिए, जब तक कि कोई प्रथा, जिसके द्वारा वे नियंत्रित होते हैं, इस प्रकार के विवाह करने की आज्ञा न देती हो।

(vi) यदि वधू ने १८ वर्ष की आयु प्राप्त नहीं की है, तो उसके संरक्षक, यदि कोई हो, की अनुमति विवाह के लिए प्राप्त करना जरूरी है।

हिन्दू विवाह बहिर्विवाह पर आधारित है (Hindu marriage based on exogamy)—हिन्दू कानून के रीति-रिवाजों के अन्तर्गत यदि कोई दो व्यक्ति, जो अपने पिता की सातवीं पीढ़ी तक एक-दूसरे के सम्बन्धी हैं, आपस में विवाह नहीं कर सकते। माता की रेखा में इसकी सीमा पाँचवीं पीढ़ी तक है। हिन्दू विवाह अधिनियम के अन्तर्गत इन पीढ़ियों को पिता की रेखा में पाँच और माता की रेखा में तीन कर दिया गया है। हिन्दू ही केवल ऐसे सभ्य लोग हैं जिनके विवाह-सम्बन्धी नियम बहिर्विवाह पर आधारित हैं। ऊँचे से ऊँचे ब्राह्मण से लेकर आसाम और नीलगिरी के जंगली कबीलों तक बहिर्विवाह की प्रथा प्रचलित है। ब्राह्मण और वैश्यों में बहिर्विवाह इकाई का नाम 'गोत्र' (Gotra) है। राजपूतों में इसका नाम 'नुख' (Nukh) है, जबकि उत्तरी भारत की निम्न जाति में इसे 'कुल' (Kul) कहते हैं। दक्षिण भारत में इसे इन्टीपेरू (Intiperu), अथवा हिलाई (Hilai) अथवा बालि (Bali) या बेधूल (Bedhul) कहा जाता है। 'इन्टीपेरू' एक तेलगू शब्द है। 'इन्टी' का अर्थ है 'घर' तथा 'पेरू' का अर्थ है 'नाम'। अतएव इन्टीपेरू का अर्थ हुआ 'घर का नाम'। यह परम्परागत नाम है जिसे पिता से पुत्र और उनसे आगे उनके बच्चे प्राप्त करते हैं। अविवाहित कन्याएँ अपने पिता का इन्टीपेरू तथा शादी होने पर अपने पति का इंटीपेरू धारण करती हैं। एक ही गोत्र के पुरुष-स्त्रियाँ आपस में विवाह नहीं कर सकते।

विवाह की रीतियाँ (Marriage rituals)—इससे पूर्व कि विवाह वैध रूप धारण करे, कुछ रीतियों का पालन आवश्यक है। ये रीतियाँ एक जाति से दूसरी जाति में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में भिन्न हैं। कभी-कभी तो ये रीतियाँ बड़ी हास्यास्पद तथा खेल-सी प्रतीत होती हैं, परन्तु उन्हें अत्यावश्यक, महत्वपूर्ण एवं धार्मिक समझा जाता है। हिन्दुओं में वैवाहिक रीतियाँ अत्यन्त जटिल हैं। यहाँ पर इन सभी रीतियों का वर्णन करना जरूरी नहीं है जो वधू के घर आने तक मनाई जाती हैं। आप में से प्रत्येक को किसी विवाह में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ होगा या आपके परिवार में कोई विवाह हुआ होगा, जहाँ पर आपने स्वयं इन रीतियों को देखा होगा। यहाँ हम पाठकों का ध्यान 'सप्तपदी' की ओर आकर्षित करते हैं। सप्तपदी

का अर्थ है, वर-वधू पवित्र अग्नि के सामने सात भँवर लेते हैं। सातवीं भँवर ले लेने पर विवाह कानून की दृष्टि में वैध एवं पूर्ण हो जाता है। सातवीं भँवर लेने से पहले विवाह पूर्ण नहीं होता तथा इसे तोड़ा जा सकता है। अतएव सप्तपदी की सम्पन्नता हिन्दू विवाह की एक अनिवार्य शर्त है।

भारत में तलाक (Divorce in India)

हिन्दू शास्त्रों में विवाह को एक धार्मिक बंधन कहा गया है जिसे कभी भी तोड़ा नहीं जा सकता। पत्नी अपने पति को ईश्वर की भाँति पूजती है। तलाक की प्रथा केवल निचली जातियों में ही विद्यमान थी। १९५५ के हिन्दू विवाह अधिनियम ने भारतीय पत्नी को तलाक का अधिकार दे दिया है। पति की भाँति पत्नी भी तलाक दे सकती है। इस अधिनियम की धारा १३ के अनुसार कोई भी विवाह, चाहे वह अधिनियम लागू होने से पूर्व या पश्चात् किया गया हो, पति या पत्नी किसी के भी द्वारा प्रार्थना-पत्र देने पर किन्हीं भी निम्नलिखित आधारों पर विवाह-विच्छेद की राजाज्ञा (decree of divorce) द्वारा समाप्त किया जा सकता है—

(i) दूसरा पक्ष परव्यक्ति-गमन (adultery) की स्थिति में रहता हो;

(ii) दूसरा पक्ष धर्म-परिवर्तन करने के कारण हिन्दू न रह गया हो;

(iii) दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र देने के तीन वर्ष पूर्व विपाक्त कुष्ठ, जिसका उपचार न हो सके, से पीड़ित हो;

(iv) दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र देने के कम से कम तीन वर्ष पूर्व से संक्रामक यौन सम्बन्धी रोग से पीड़ित हो;

(v) दूसरे पक्ष ने सन्यास ले लिया हो;

(vi) दूसरा पक्ष सात वर्षों से जीवित न सुना गया हो;

(vii) दूसरे पक्ष ने न्यायिक पृथक्करण के लिए राजाज्ञा प्राप्त होने के उपरात दो वर्ष या उससे अधिक समय से सहवास प्रारम्भ न किया हो;

(viii) दूसरे पक्ष ने वैवाहिक अधिकारों के प्रत्यस्थापन (restiution of conjugal rights) की राजाज्ञा के उपरात दो वर्ष या उससे अधिक से राजाज्ञा का पालन न किया हो।

पत्नी उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त निम्न दो आधारों पर भी विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकती है—

(i) इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व पति ने दूसरा विवाह कर लिया हो या प्रार्थी के विवाह के समय उसकी दूसरी पत्नी जीवित हो। प्रार्थना-पत्र के समय उसकी दूसरी पत्नी को जीवित होना चाहिए।

(ii) पति विवाह के उपरान्त बलात्कार, गुदामैथुन (sodomy) या पशुगमन का अपराधी हो।

विवाह-विच्छेद के लिए प्रार्थना-पत्र विवाह के तीन वर्ष के अन्दर प्रस्तुत नहीं किया जाएगा। दूसरे शब्दों में, ऐसा प्रार्थना-पत्र विवाह के तीन वर्ष के उपरांत ही दिया जा सकेगा। किन्हीं अत्यन्त कठोर परिस्थितियों में ही तीन वर्ष के अन्दर प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है।

धारा १० में न्यायिक पृथक्करण की भी व्यवस्था है। न्यायिक पृथक्करण के निम्न आधार हो सकते हैं—

(i) दूसरे पक्ष ने प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने से पहले कम से कम दो वर्षों से प्रार्थी का निरन्तर परित्याग कर रखा है;

(ii) प्रार्थी के साथ इतना अधिक अत्याचार का व्यवहार किया गया है कि प्रार्थी के मस्तिष्क में यह सही भय हो कि दूसरे पक्ष के साथ रहना प्रार्थी के लिए हानिकारक है;

(iii) दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के एक वर्ष पूर्व से विषाक्त कोढ़ से पीड़ित हो;

(iv) दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के तुरन्त बाद कम से कम तीन वर्ष से संक्रामक मैथुन-सम्बन्धी रोगों से पीड़ित हो तथा उस रोग को प्रार्थी से न प्राप्त किया हो;

(v) दूसरा पक्ष प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने के बाद कम से कम दो वर्ष पूर्व से विक्षिप्त मस्तिष्क का हो;

(vi) दूसरे पक्ष ने विवाह के उपरांत किसी दूसरे व्यक्ति से लैंगिक संसर्ग स्थापित किया हो।

यद्यपि यह ठीक है कि तलाक-सम्बन्धी इन व्यवस्थाओं ने स्त्रियों के मन में स्वतंत्रता की भावना को जन्म दिया है, तथापि यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि न्यायालयों को सम्बन्ध-विच्छेद की प्रार्थना तुरन्त स्वीकार कर लेनी चाहिए। इस तथ्य से इंकार करना कठिन है कि सम्बन्ध-विच्छेद परिवार के अस्थायित्व को जन्म देता है। पारिवारिक जीवन पर गंभीर प्रभाव पड़ने के कारण सम्बन्ध-विच्छेद न्यायालय से प्राप्त कर लेना सरल नहीं होना चाहिए। पति-पत्नी के बीच पुन-मिलन स्थापित करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। तलाक उसी अवस्था में मंजूर किया जाए, जब इसके सिवाय अन्य कोई रास्ता न हो तथा यह पति-पत्नी दोनों एवं समाज के भी हित में हो।

हिन्दू कौन है (Who is a Hindu)—अधिनियम के अन्तर्गत हिन्दू शब्द में बौद्ध, जैनी, सिख एवं अन्य जो मुसलमान, ईसाई, पारसी अथवा यहूदी न हो, सम्मिलित हैं।

अधिनियम का कार्यक्षेत्र (Scope of the Act)—यह अधिनियम, जैसा कि इसकी धाराओं से परिलक्षित होता है, न केवल हिंदू विवाह अथवा सम्बन्ध-विच्छेद

के कानून को नियमबद्ध करता है, अपितु इसमें अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन भी करता है। इसमें न केवल अंतर्जातीय विवाह की आज्ञा दी गई है, अपितु यह बौद्ध, जैनी, सिखों एवं हिंदू के बीच विवाह की भी अनुमति देता है। इसने वर्जित सम्बन्धों के अंशों (degrees) को घटा दिया है, जिससे अब ऐसे सम्बन्धियों के बीच विवाह हो सकता है, जो परम्परागत हिंदू कानून में नहीं हो सकता था।

५. भारत में विवाह एवं परिवार सम्बन्धी समस्याएँ

(Marrige and Family Problems in India)

(i) नारी की वर्तमान निम्न स्थिति (Present lower status of women)—भारत में विवाह एवं परिवार सम्बन्धी समस्याओं को समझने से पूर्व हमें परिवार में स्त्री की स्थिति को समझना चाहिए। भारतीय परिवार के आलोचकों का कथन है कि भारतीय स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र मे समान अधिकारों का उपभोग नही करती, क्योकि उनके साथ दुर्व्यवहार होता है, और वे परिवार की सम्पत्ति में भागीदार नहीं होतीं। विवाह से पूर्व स्त्री अपने पिता पर आश्रित होती है, विवाह के पश्चात् अपने पति पर और बुढ़ापे मे अपने पुत्रो पर। अपने विवाह के मामले मे वह अपनी स्वतंत्र राय को प्रकट नहीं कर सकती, एवं उसे उस व्यक्ति के साथ विवाह करना पड़ता है, जिसके साथ उसके माता-पिता चाहते हैं। वह परिवार के सदस्यों की पूर्ण अनुमति के बिना घर से बाहर कदम नही रख सकती। अपनी इच्छा एवं अनिच्छा के अनुसार उसका कोई स्वतंत्र जीवन नही है। उसे तो वैसा ही जीवन व्यतीत करना होता है, जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए उसके सरक्षक विवश करते हैं। जन्म से लेकर मरने तक उसे हीनता तथा अपमान को सहन करना पड़ता है और यदि पति उसे यौवनावस्था में ही छोड़ कर चल बसे तो उसे वैधव्य का जीवन-यापन के लिए मजबूर किया जाता है और उसे पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी जाती।

प्राचीन भारत में नारियों का स्थान बहुत ऊँचा था। नारी के सहयोग के बिना कोई धार्मिक अनुष्ठान पूरा हुआ नही समझा जाता था। मनु का कथन है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का वास होता है, परन्तु जहाँ उनका सम्मान नहीं होता, वहाँ कोई पवित्र अनुष्ठान फलदायक नहीं होता है। उसे परिवार की 'देवी', 'गृहलक्ष्मी' कहा जाता था। इसके कुछ ऐतिहासिक तत्व हैं, जिनसे स्त्री आधुनिक समाज में ऐसे निम्न स्तर पर पहुँची हुई है। आर्य जाति ने द्रविड़ों से अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए कुछ प्रतिबन्ध नारी पर लगाए। "अन्त मे उसकी स्वतंत्रता को कम करने वाली सामाजिक लहर उसके पतन का कारण बनी। नारी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की धारक न रही, अपितु पुरुष की दासी बन गई। भारतीय आर्य स्त्री की सामाजिक शक्ति विलीन हो गई। पुरुष ने नियम बनाए और पुरुष ने ही अपने दृष्टिकोण से स्त्री के भाग्य का निर्णय किया। स्त्री के रूप मे वह मृत थी। उसका अनुदान लोगों के सांस्कृतिक जीवन में सकारात्मक, निश्चित एवं यथार्थ नहीं था, यह केवल नकारात्मक एवं बाह्य था।"[1]

1. Topa, Ishwar (Dr.), *Our Cultural Heritage*, pp. 31-32.

गुप्त-काल मे ब्राह्मणवाद के पुनर्स्थापन पर नारियों के अन्य अधिकारों पर भी रोकें लगा दी गई। नारी के लिए विवाह एक अनुग्रह बन गया। सती की प्रथा प्रचलित हुई। राजपूत-काल मे इस प्रथा का बड़ी कठोरता से पालन होने लगा। अपने पति की चिता पर पत्नी को अपना जिन्दा शरीर फेंकना पड़ता था। विधवाओं का पुर्नविवाह निषिद्ध था। इस्लाम के आगमन पर बालविवाह आरम्भ हुआ और पर्दा-प्रथा बड़ी व्यापक हो गई। संक्षेप में, स्त्री की दशा इस अवस्था तक बिगड़ती गई कि नाम-मात्र भी नारी के पास कोई अधिकार न रहा। उसकी जिज्ञासु भावनाएं कुंठित हो गई और ज्ञान के अधिकार से वंचित वह अज्ञान एवं विद्वेष मे डूब गई। सामाजिक विद्वेष उसके विरुद्ध इतने तीव्र थे कि उसे उन्नति एवं आत्माभिव्यञ्जना के अवसर या स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी।

सुधार आन्दोलन (Reform movements)—राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रानाडे तथा नटराजन जैसे समाज-सुधारकों ने कुछेक अमानवीय प्रथाओं को बन्द करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किए। ये सुधारक किसी हद तक सफल भी हुए और कुछ कुप्रथाओ को बन्द करवाने के लिए कानून पास करवाने में सफल हुए। अखिल भारतीय महिला समागम ने भी स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए थोड़ा बहुत प्रयत्न किया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता-संघर्ष में नारी को पुरुषों के साथ मिल कर काम करने लिए ललकारा। यह ललकार व्यर्थ नहीं गई। नारियों की एक बड़ी संख्या स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने लगीं। उन्होंने जो कार्य किया, उसे देखकर विश्व चकित रह गया। शराब तथा विदेशी माल वाली दुकानों के आगे धरना, प्रदर्शनों में शामिल होना, जेल जाना, लाठियों तथा गोलियों के प्रहारों को सहना, यह सब कुछ उस देश के इतिहास में अद्वितीय था, जहाँ पर स्त्रियाँ शताब्दियों से अपमानित, तिरस्कृत एवं दबी रही हों। सदियों पुरानी रुकावटें एकदम नष्ट हो गई और उन्हे बिना माँगे ही अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त होने लगे। १९५५ का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा १९५६ का उत्तराधिकार अधिनियम भारतीय स्त्रियों की उन विवशताओं, जिनमे वे पीड़ित हैं, को दूर करने के प्रयास हैं। फिर भी बहुत कुछ करना अभी बाकी है, विशेषकर ग्राम में रहने वाली स्त्रियो के लिए, जहाँ पुरातन विद्वेष तथा प्रथाएँ पारिवारिक जीवन मे अपना घर बनाए हुए हैं।

(ii) दहेज-प्रथा (Dowry system)—भारत में वैवाहिक समस्याओं-सम्बन्धी एक समस्या विवाह का व्यापारिक पक्ष है। हमारा अर्थ दहेज-प्रथा से है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नही है कि यह प्रथा कितनी बुराइयो से भरी हुई है। लड़की के पिता को केवल इसलिए आत्महत्या कर लेनी पड़ती है कि वह वर-पक्ष की ओर से माँगे हुए दहेज का प्रबन्ध करने मे असमर्थ है। इस दहेज-प्रथा के कारण माता-पिता अपनी बेटी का विवाह ऐसे आदमी से करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो उसका पिता होने के अधिक योग्य है। माता-पिता बहुधा दहेज के प्रबन्ध के लिए चोरी, धोखा, गबन आदि करते हैं। भारतीय सरकार ने इस प्रथा की कुरीतियों को देखते हुए, 'दहेज निषेध अधिनियम' पारित किया है। इस अधिनियम के पारित हो जाने पर यह आशा की जाती है कि इस प्रथा की बहुत-सी बुराइयाँ दूर

के कानून को नियमबद्ध करता है, अपितु इसमें अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन भी करता है। इसमें न केवल अतर्जातीय विवाह की आज्ञा दी गई है, अपितु यह बौद्ध, जैनी, सिखों एवं हिंदू के बीच विवाह की भी अनुमति देता है। इसने वर्जित सम्बन्धों के अंशों (degrees) को घटा दिया है, जिससे अब ऐसे सम्बन्धियों के बीच विवाह हो सकता है, जो परम्परागत हिंदू कानून मे नही हो सकता था।

५. भारत में विवाह एवं परिवार सम्बन्धी समस्याएँ
(Marrige and Family Problems in India)

(i) नारी की वर्तमान निम्न स्थिति (Present lower status of women)—भारत में विवाह एव परिवार सम्बन्धी समस्याओं को समझने के पूर्व हमें परिवार मे स्त्री की स्थिति को समझना चाहिए। भारतीय परिवार के आलोचकों का कथन है कि भारतीय स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र मे समान अधिकारो का उपभोग नही करती, क्योकि उनके साथ दुर्व्यवहार होता है, और वे परिवार की सम्पत्ति में भागीदार नहीं होती। विवाह से पूर्व स्त्री अपने पिता पर आश्रित होती है, विवाह के पश्चात् अपने पति पर और बुढापे में अपने पुत्रो पर। अपने विवाह के मामले मे वह अपनी स्वतंत्र राय को प्रकट नहीं कर सकती, एव उसे उस व्यक्ति के साथ विवाह करना पड़ता है, जिसके साथ उसके माता-पिता चाहते हैं। वह परिवार के सदस्यों की पूर्ण अनुमति के बिना घर से बाहर कदम नही रख सकती। अपनी इच्छा एवं अनिच्छा के अनुसार उसका कोई स्वतंत्र जीवन नही है। उसे तो वैसा ही जीवन व्यतीत करना होता है, जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए उसके संरक्षक विवश करते हैं। जन्म से लेकर मरने तक उसे हीनता तथा अपमान को सहन करना पड़ता है और यदि पति उसे यौवनावस्था मे ही छोड़ कर चल बसे तो उसे वैधव्य का जीवन-यापन के लिए मजबूर किया जाता है और उसे पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी जाती।

प्राचीन भारत मे नारियों का स्थान बहुत ऊँचा था। नारी के सहयोग के बिना कोई धार्मिक अनुष्ठान पूरा हुआ नही समझा जाता था। मनु का कथन है कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओ का वास होता है, परन्तु जहाँ उनका सम्मान नहीं होता, वहाँ कोई पवित्र अनुष्ठान फलदायक नहीं होता है। उसे परिवार की 'देवी', 'गृहलक्ष्मी' कहा जाता था। इसके कुछ ऐतिहासिक तत्व हैं, जिनसे स्त्री आधुनिक समाज मे ऐसे निम्न स्तर पर पहुँची हुई है। आर्य जाति ने द्रविड़ों से अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए कुछ प्रतिबन्ध नारी पर लगाए। "अन्त मे उसकी स्वतंत्रता को कम करने वाली सामाजिक लहर उसके पतन का कारण बनी। नारी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की धारक न रही, अपितु पुरुष की दासी बन गई। भारतीय आर्य स्त्री की सामाजिक शक्ति विलीन हो गई। पुरुष ने नियम बनाए, और पुरुष ने ही अपने दृष्टिकोण से स्त्री के भाग्य का निर्णय किया। स्त्री के रूप मे वह मृत थी। उसका अनुदान लोगों के सास्कृतिक जीवन मे सकारात्मक, निश्चित एवं यथार्थ नहीं था, यह केवल नकारात्मक एवं बाह्य था।"[1]

---

1. Topa, Ishwar (Dr.), *Our Cultural Heritage*, pp. 31-32.

गुप्त-काल मे ब्राह्मणवाद के पुनर्स्थापन पर नारियों के अन्य अधिकारों पर भी रोकें लगा दी गई। नारी के लिए विवाह एक अनुग्रह बन गया। सती की प्रथा प्रचलित हुई। राजपूत-काल मे इस प्रथा का बड़ी कठोरता से पालन होने लगा। अपने पति की चिता पर पत्नी को अपना जिन्दा शरीर फेंकना पड़ता था। विधवाओं का पुनर्विवाह निषिद्ध था। इस्लाम के आगमन पर बालविवाह आरम्भ हुआ और पर्दा-प्रथा बडी व्यापक हो गई। संक्षेप में, स्त्री की दशा इस अवस्था तक बिगड़ती गई कि नाम-मात्र भी नारी के पास कोई अधिकार न रहा। उसकी जिज्ञासु भावनाएं कुंठित हो गई और ज्ञान के अधिकार से वंचित वह अज्ञान एवं विद्वेष में डूब गई। सामाजिक विद्वेष उसके विरुद्ध इतने तीव्र थे कि उसे उन्नति एवं आत्माभिव्यञ्जना के अवसर या स्वतंत्रता प्राप्त नही थी।

सुधार आन्दोलन (Reform movements)—राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रानाडे तथा नटराजन जैसे समाज-सुधारकों ने कुछेक अमानवीय प्रथाओं को बन्द करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किए। ये सुधारक किसी हद तक सफल भी हुए और कुछ कुप्रथाओं को बन्द करवाने के लिए कानून पास करवाने में सफल हुए। अखिल भारतीय महिला समागम ने भी स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए थोडा बहुत प्रयत्न किया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता-संघर्ष मे नारी को पुरुषों के साथ मिल कर काम करने लिए ललकारा। यह ललकार व्यर्थ नही गई। नारियों की एक बड़ी संख्या स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने लगी। उन्होने जो कार्य किया, उसे देखकर विश्व चकित रह गया। शराब तथा विदेशी माल वाली दुकानों के आगे धरना, प्रदर्शनों में शामिल होना, जेल जाना, लाठियों तथा गोलियों के प्रहारों को सहना, यह सब कुछ उस देश के इतिहास में अद्वितीय था, जहाँ पर स्त्रियाँ शताब्दियों से अपमानित, तिरस्कृत एवं दबी रही हों। सदियों पुरानी रुकावटें एकदम नष्ट हो गई और उन्हें बिना माँगे ही अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त होने लगे। १९५५ का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा १९५६ का उत्तराधिकार अधिनियम भारतीय स्त्रियों की उन विवशताओं, जिनमे वे पीडित हैं, को दूर करने के प्रयास हैं। फिर भी बहुत कुछ करना अभी बाकी है, विशेषकर ग्राम मे रहने वाली स्त्रियों के लिए, जहाँ पुरातन विद्वेष तथा प्रथाएँ पारिवारिक जीवन में अपना घर बनाए हुए हैं।

(ii) **दहेज-प्रथा (Dowry system)**—भारत में वैवाहिक समस्याओं-सम्बन्धी एक समस्या विवाह का व्यापारिक पक्ष है। हमारा अर्थ दहेज-प्रथा से है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नही है कि यह प्रथा कितनी बुराइयों से भरी हुई है। लड़की के पिता को केवल इसलिए आत्महत्या कर लेनी पड़ती है कि वह वर-पक्ष की ओर से माँगे हुए दहेज का प्रबन्ध करने में असमर्थ है। इस दहेज-प्रथा के कारण माता-पिता अपनी बेटी का विवाह ऐसे आदमी से करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो उसका पिता होने के अधिक योग्य है। माता-पिता बहुधा दहेज के प्रबन्ध के लिए चोरी, धोखा, गबन आदि करते हैं। भारतीय सरकार ने इस प्रथा की कुरीतियों को देखते हुए, 'दहेज निषेध अधिनियम' पारित किया है। इस अधिनियम के पारित हो जाने पर यह आशा की जाती है कि इस प्रथा की बहुत-सी बुराइयाँ दूर

के कानून को नियमबद्ध करता है, अपितु इसमें अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन भी करता है। इसमे न केवल अतर्जातीय विवाह की आज्ञा दी गई है, अपितु यह बौद्ध, जैनी, सिखों एवं हिंदू के बीच विवाह की भी अनुमति देता है। इसने वर्जित सम्बन्धों के अंशों (degrees) को घटा दिया है, जिससे अब ऐसे सम्बन्धियों के बीच विवाह हो सकता है, जो परम्परागत हिंदू कानून में नही हो सकता था।

५. भारत में विवाह एवं परिवार सम्बन्धी समस्याएँ

(Marrige and Family Problems in India)

(i) **नारी की वर्तमान निम्न स्थिति** (Present lower status of women)—भारत में विवाह एव परिवार सम्बन्धी समस्याओं को समझने से पूर्व हमें परिवार में स्त्री की स्थिति को समझना चाहिए। भारतीय परिवार के आलोचकों का कथन है कि भारतीय स्त्रियां पुरुषों की भांति सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक क्षेत्र मे समान अधिकारो का उपभोग नही करती, क्योकि उनके साथ दुर्व्यवहार होता है, और वे परिवार की सम्पत्ति में भागीदार नही होनी। विवाह से पूर्व स्त्री अपने पिता पर आश्रित होती है, विवाह के पश्चात् अपने पति पर और बुढ़ापे में अपने पुत्रो पर। अपने विवाह के मामले मे वह अपनी स्वतंत्र राय को प्रकट नहीं कर सकती, एवं उसे उस व्यक्ति के साथ विवाह करना पड़ता है, जिसके साथ उसके माता-पिता चाहते हैं। वह परिवार के सदस्यों की पूर्ण अनुमति के बिना घर से बाहर कदम नही रख सकती। अपनी इच्छा एव अनिच्छा के अनुसार उसका कोई स्वतंत्र जीवन नही है। उसे तो वैसा ही जीवन व्यतीत करना होता है, जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए उसके संरक्षक विवश करते हैं। जन्म से लेकर मरने तक उसे हीनता तथा अपमान को सहन करना पडता है और यदि पति उसे यौवनावस्था मे ही छोड़ कर चल बसे तो उसे वैधव्य का जीवन-यापन के लिए मजबूर किया जाता है और उसे पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं दी जाती।

प्राचीन भारत मे नारियों का स्थान बहुत ऊँचा था। नारी के सहयोग बिना कोई धार्मिक अनुष्ठान पूरा हुआ नही समझा जाता था। मनु का कथन कि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओ का वास होता है, परन्तु जहाँ उनका सम्मान नही होता, वहाँ कोई पवित्र अनुष्ठान फलदायक नहीं होता है। उसे परिवार की 'देवी', 'गृहलक्ष्मी' कहा जाता था। इसके कुछ ऐतिहासिक तत्व। जिनसे स्त्री आधुनिक समाज में ऐसे निम्न स्तर पर पहुँची हुई है। आर्य जाति द्रविड़ो से अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए कुछ प्रतिबन्ध नारी पर लगाए "अन्त मे उसकी स्वतंत्रता को कम करने वाली सामाजिक लहर उसके पतन का कारण बनी। नारी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की धारक न रही, अपितु पुरुष की दासी बन गई। भारतीय आर्य स्त्री की सामाजिक शक्ति विलीन हो गई। पुरुष ने नियम बनाए और पुरुष ने ही अपने दृष्टिकोण से स्त्री के भाग्य का निर्णय किया। स्त्री रूप मे वह मृत थी। उसका अनुदान लोगों के सांस्कृतिक जीवन मे सकारात्मक निश्चित एवं यथार्थ नहीं था, यह केवल नकारात्मक एवं बाह्य था।"[1]

1. Topa, Ishwar (Dr.), *Our Cultural Heritage*, pp. 31-32.

गुप्त-काल में ब्राह्मणवाद के पुनर्स्थापन पर नारियों के अन्य अधिकारों पर भी रोकें लगा दी गई। नारी के लिए विवाह एक अनुग्रह बन गया। सती की प्रथा प्रचलित हुई। राजपूत-काल मे इस प्रथा का बड़ी कठोरता से पालन होने लगा। अपने पति की चिता पर पत्नी को अपना जिन्दा शरीर फेंकना पड़ता था। विधवाओं का पुनर्विवाह निषिद्ध था। इस्लाम के आगमन पर बालविवाह आरम्भ हुआ और पर्दा-प्रथा बड़ी व्यापक हो गई। संक्षेप में, स्त्री की दशा इस अवस्था तक बिगड़ती गई कि नाम-मात्र भी नारी के पास कोई अधिकार न रहा। उसकी जिज्ञासु भावनाएं कुंठित हो गई और ज्ञान के अधिकार से वंचित यह अज्ञान एवं विद्वेष मे डूब गई। सामाजिक विद्वेष उसके विरुद्ध इतने तीव्र थे कि उसे उन्नति एवं आत्माभिव्यञ्जना के अवसर या स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी।

सुधार आन्दोलन (Reform movements)—राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रानाडे तथा नटराजन जैसे समाज-सुधारकों ने कुछेक अमानवीय प्रथाओं को बन्द करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किए। ये सुधारक किसी हद तक सफल भी हुए और कुछ कुप्रथाओं को बन्द करवाने के लिए कानून पास करवाने मे सफल हुए। अखिल भारतीय महिला समागम ने भी स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए थोड़ा बहुत प्रयत्न किया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता-सघर्ष मे नारी को पुरुषों के साथ मिल कर काम करने लिए ललकारा। यह ललकार व्यर्थ नही गई। नारियों की एक बड़ी संख्या स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लेने लगी। उन्होंने जो कार्य किया, उसे देखकर विश्व चकित रह गया। शराब तथा विदेशी माल वाली दुकानों के आगे धरना, प्रदर्शनों में शामिल होना, जेल जाना, लाठियों तथा गोलियो के प्रहारों को सहना, यह सब कुछ उस देश के इतिहास में अद्वितीय था, जहाँ पर स्त्रियाँ शताब्दियों से अपमानित, तिरस्कृत एवं दबी रही हों। सदियों पुरानी रुकावटें एकदम नष्ट हो गई और उन्हें बिना मांगे ही अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त होने लगे। १९५५ का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा १९५६ का उत्तराधिकार अधिनियम भारतीय स्त्रियों की उन विवशताओं, जिनसे वे पीड़ित हैं, को दूर करने के प्रयास हैं। फिर भी बहुत कुछ करना अभी बाकी है, विशेषकर ग्राम मे रहने वाली स्त्रियों के लिए, जहाँ पुरातन विद्वेष तथा प्रथाएँ पारिवारिक जीवन मे अपना घर बनाए हुए हैं।

(ii) दहेज-प्रथा (Dowry system)—भारत में वैवाहिक समस्याओं-सम्बन्धी एक समस्या विवाह का व्यापारिक पक्ष है। हमारा अर्थ दहेज-प्रथा से है। यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नही है कि यह प्रथा कितनी बुराइयों से भरी हुई है। लड़की के पिता को केवल इसलिए आत्महत्या कर लेनी पड़ती है कि वह वर-पक्ष की ओर से मांगे हुए दहेज का प्रबन्ध करने में असमर्थ है। इस दहेज-प्रथा के कारण माता-पिता अपनी बेटी का विवाह ऐसे आदमी से करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो उसका पिता होने के अधिक योग्य है। माता-पिता बहुधा दहेज के प्रबन्ध के लिए चोरी, धोखा, गबन आदि करते हैं। भारतीय सरकार ने इस प्रथा की कुरीतियों को देखते हुए, 'दहेज निषेध अधिनियम' पारित किया है। इस अधिनियम के पारित हो जाने पर यह आशा की जाती है कि इस प्रथा की बहुत-सी बुराइयाँ दूर

हो जायेंगी। किन्तु यह कानून अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में तब तक असमर्थ रहेगा, जब तक कि इस प्रथा के विरुद्ध लोकमत का विकास नहीं होता।

६. नातेदारी

Kinship

नातेदारी का अर्थ (Meaning of kinship)—मनुष्य समाज में ... नहीं रहता। जन्म से मृत्यु तक वह अनेक व्यक्तियों द्वारा घिरा हुआ होता है। ... व्यक्तियों में से कुछ उसके सम्बन्धी, कुछ मित्र, कुछ पड़ोसी होते हैं तथा शेष ... उसके लिए अपरिचित होते हैं। जिन व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध होता है, ... सम्बन्ध खून अथवा विवाह से उत्पन्न सम्बन्ध होता है। खून अथवा ... आधारित सम्बन्ध निकटीय अथवा दूरवर्ती होते हैं। खून अथवा विवाह का ... बंधन जो व्यक्तियों को एक समूह में बाँधता है, नातेदारी कहा जाता है। मानव विज्ञान शब्दकोश के अनुसार, नातेदारी प्रणाली में कल्पित तथा ... वंशानुगत बंधनों पर आधारित समाज द्वारा मान्य सम्बन्धों को सम्मिलित ... जाता है। ऐसे सम्बन्ध सामाजिक अंतःक्रिया के परिणाम एवं समाज द्वारा मा... होते हैं।

नातेदारी के प्रकार (Types of Kinship)

नातेदारी के दो प्रकार है—(i) वैवाहिक नातेदारी (affinal kinship, तथा (ii) समरक्तीय नातेदारी (consanguineous kinship)।

(i) वैवाहिक नातेदारी (Affinal kinship)—विवाह के बंधन ... आधारित नातेदारी को वैवाहिक नातेदारी कहा जाता है। जब कोई पुरुष ... कन्या से विवाह करता है तो वह न केवल उस कन्या से अपना सम्बन्ध ... करता है, अपितु कन्या के परिवार में अनेक अन्य सदस्यों से भी उसका सम्ब... स्थापित हो जाता है। इसके अतिरिक्त, न केवल विवाह करने वाले पुरुष ... अपितु उसके परिवार के सदस्यों का भी कन्या के परिवार के सदस्यों के ... सम्बन्ध स्थापित हो जाते है। इस प्रकार, विवाह सम्पन्न होते ही अनेक सम्बन्धों ... निर्माण हो जाता है। उदाहरणतया, विवाह होने पर व्यक्ति न केवल पति ... जाता है, अपितु बहनोई एवं दामाद (son-in-law) भी बन जाता है। ... यह भी बतला देना आवश्यक होगा कि अंग्रेजी भाषा मे विवाह द्वारा निर्मित ... सम्बन्धों के लिए एक ही शब्द का प्रयोग किया जाता है; उदाहरणतया बहनो... साला, जीजा एवं साढ़ू के लिए Brother-in-Law शब्द प्रयुक्त होता है। ... हो जाने पर व्यक्ति फूफा, नन्दोई एवं मौसा भी बन जाता है। इसी ... कन्या का विवाह हो जाने पर वह न केवल पत्नी बनती है, परन्तु पुत्रवधू, ... भाभी, देवरानी, जेठानी, मामी आदि भी बन जाती है। इस प्रकार विवाह से ... सम्बन्धों का निर्माण होता है जिन्हें वैवाहिक रिश्तेदार कहा जाता है।

(ii) समरक्तीय नातेदारी (Consanguineous kinship)—खून के ... को समरक्तीय नातेदारी कहते हैं। समरक्तीय रिश्ते खून के आधार पर

हैं, जबकि वैवाहिक नाते विवाह के आधार पर बँधे होते हैं। इस प्रकार, माता-पिता एवं बच्चों के बीच सम्बन्ध तथा सहोदरों का सम्बन्ध समरक्तीय संबंध है। सहोदर समान माता-पिता के बच्चों को कहते हैं। इस प्रकार पुत्र, भ्राता, बहन, चाचा, ताऊ, भतीजा एवं चचेरा भाई समरक्तीय सम्बन्ध में आते हैं। इस सम्बन्ध मे यह भी बतला देना आवश्यक है कि खून का रिश्ता काल्पनिक तथा वास्तविक दोनों प्रकार का हो सकता है। बहुपतीय कबीलों मे, बच्चे के असली पिता का पता नहीं होता। गोद लिए हुए बच्चे को अपने द्वारा जन्म दिए गए बच्चे के समान समझा जाता है। इस प्रकार, खून का रिश्ता न केवल जीवशास्त्रीय, अपितु सामाजिक मान्यता के आधार पर भी स्थापित हो सकता है।

नातेदारी के वंश (Degree of Kinship)

निकटता अथवा दूरी के आधार पर सम्बन्धियों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ सम्बन्धी तो काफी निकटीय, प्रत्यक्ष एवं घनिष्ठ होते हैं; उदाहरणतया, पिता-पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी। इनको प्राथमिक सम्बन्धी कहा जाता है। डॉ० दुबे (Dr Dubey) के अनुसार, आठ प्रकार के प्राथमिक सम्बन्धी (primary kin) होते हैं। इनके नाम हैं: पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्री, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, छोटे-बड़े भाई, छोटी-बड़ी बहनें, तथा भाई-बहन।

द्वितीय, गौण सम्बन्धी (secondary kins) होते हैं। वे प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी होते हैं। दूसरे शब्दों मे, वे प्राथमिक सम्बन्धियों के माध्यम से सम्बन्धी होते हैं। वे हमारे प्राथमिक सम्बन्धी नही होते, अपितु हमारे प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी होते हैं, अतः हमारे गौण सम्बन्धी हुए। उदाहरणतया, पिता का भाई (चाचा), बहन का पति (बहनोई) गौण सम्बन्धी हैं। पिता मेरा प्राथमिक सम्बन्धी है, जबकि उसका भाई पिता का प्राथमिक सम्बन्धी है, अतएव पिता का भाई मेरा गौण सम्बन्धी हुआ। इसी प्रकार, बहन मेरी प्राथमिक सम्बन्धी है, परन्तु उसका पति मेरा गौण सम्बन्धी है।

तृतीय, तीसरे क्रम के सम्बन्धी होते हैं जिनको तृतीयक सम्बन्धी (tertiary kin) की संज्ञा दी जा सकती है। वे हमारे प्राथमिक सम्बन्धी के गौण सम्बन्धी तथा गौण सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होते हैं। इस प्रकार, साले की पत्नी जिसे 'सलहज' कहते हैं, तृतीयक सम्बन्धी है, क्योंकि साला मेरा गौण सम्बन्धी है तथा उसकी पत्नी साले की प्राथमिक सम्बन्धी है। इसी प्रकार, मेरे भाई का साला मेरा तृतीयक सम्बन्धी है, क्योंकि भाई मेरा प्राथमिक सम्बन्धी है और उसका साला मेरे भाई का गौण सम्बन्धी है।

मुरडाक (Murdock) के अनुसार, किसी व्यक्ति के गौण सम्बन्धियों की संख्या तैंतीस तथा तृतीयक सम्बन्धियों की संख्या १५१ होती है।

नातेदारी पारिभाषिक शब्द (Kinship Terms)

नातेदारी पारिभाषिक शब्द उन शब्दों का नाम है जिनका प्रयोग विभिन्न

प्रकार के सम्बन्धियों का नामांकन करने के लिए किया जाता है। मारगन (Morgan) ने इन शब्दों का महत्वपूर्ण अध्ययन किया है। उसने इन शब्दों को (i) वर्गीकृत प्रणाली (classificatory system), एव (ii) वर्णनात्मक प्रणाली (descriptive system) में श्रेणीबद्ध किया है।

(i) वर्गीकृत प्रणाली (Classificatory system)—वर्गीकृत प्रणाली मे, विभिन्न सम्बन्धियों को एक ही श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है तथा सबके लिए समान शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार शब्द 'अंकिल' (uncle) एक वर्गीकृत शब्द है, जिसका प्रयोग चाचा, मामा, मौसा, फूफा, ताऊ आदि सभी सम्बन्धियों के लिए किया जाता है। इसी प्रकार, 'nephew', 'cousin' एव 'in-law' वर्गीकृत शब्द हैं। आसाम के सेमा नागा लोग 'अजा' (aja) शब्द का प्रयोग माता, पिता के भाई की पत्नी तथा माता की बहन के लिए करते हैं। कूकी (Kuki) वंशो में हेपु (hepu) शब्द का प्रयोग पिता के पिता, माता के पिता, माता के भाई, पत्नी के पिता, माता के भाई के पुत्र, पत्नी के भाई, पत्नी के भाई के पुत्र के लिए होता है। इस प्रकार, विभिन्न आयु-समूहों के व्यक्तियो को समान शब्द से संबोधित किया जाता है। अगामी नागाओं में एक ही शब्द विरोधी लिंगों के सदस्यों के लिए प्रयोग किया जाता है। शब्द 'शी' (shi) बड़े भाई, पत्नी की ज्येष्ठ बहन, पति के ज्येष्ठ भाई, ज्येष्ठ बहन के पति, ज्येष्ठ भाई की पत्नी, माता के भाई की पत्नी, पिता के भाई की पत्नी के लिए प्रयुक्त होता है। हिन्दी शब्द 'समधी' एक वर्गीकृत शब्द है जिसका प्रयोग दामाद तथा पुत्रवधू दोनों के माता-पिता के लिए किया जाता है।

(ii) वर्णनात्मक प्रणाली (Descriptive system)—वर्णनात्मक प्रणाली में एक शब्द एक ही सम्बन्धी का बोध कराता है। यह किसी व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ निश्चित सम्बन्ध का वर्णन करता है। उदाहरणतया, शब्द 'पिता' (father) एक वर्णनात्मक शब्द है। इसी प्रकार 'माता' (mother) भी एक वर्णनात्मक शब्द है। हिंदी भाषा में अधिकांशतया वर्णनात्मक शब्द है। इस प्रकार चाचा, मामा, मौसा, ताऊ, साला, बहनोई, नन्दोई, भांजा, भतीजा, भाभी, देवर आदि वर्णनात्मक शब्द हैं, जो व्यक्ति के अन्य व्यक्ति के निश्चित सम्बन्ध का परिचय देते हैं।

यह भी बतला देना जरूरी है कि संसार में कोई स्थान ऐसा नहीं है, जहं विशुद्ध वर्णनात्मक अथवा वर्गीकृत प्रणाली का पूर्णतया प्रयोग किया जाता हो। दोन ही प्रणालियाँ प्रचलित हैं।

नातेदारी रीतियाँ (Kinship Usages)

नातेदारी प्रणाली का अध्ययन विभिन्न प्रकार के सम्बन्धियों तथा वर्गीकरण के आधार का वर्णन कर देने से ही समाप्त नही हो जाता, अपितु विभिन्न सम्बन्धियों के व्यवहार-प्रतिमानो का अध्ययन भी सम्मिलित है। पिता प्रति पुत्र का व्यवहार आदर का होता है, जबकि पति का पत्नी के प्रति व्यवहार प्रणय का होता है। भाई का बहन के प्रति व्यवहार स्नेहपूर्ण होता है। विभिन्न सम्बन्धियों के व्यवहार को नियमित करने के लिए कुछ रीतियाँ हैं, जिन्हें नातेदारी

रीतियाँ (kinship usages) की संज्ञा दी गई है। कुछेक रीतियाँ निम्न हैं—

(i) परिहार (Avoidance)—सभी समाजों में परिहार की रीति किसी न किसी रूप में प्रचलित है। इसका अर्थ है कि दो सम्बन्धियों को एक-दूसरे से दूर रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में, उन्हें एक-दूसरे को छूना नहीं चाहिए। उन्हें न केवल लैंगिक सम्बन्धों से दूर रहना चाहिए, अपितु कुछेक रिश्तों में एक-दूसरे का मुँह भी नहीं देखना चाहिए। इस प्रकार, ससुर को पुत्रवधू से दूर रहना चाहिए। दामाद को सास से दूर रहना चाहिए। हिंदू परिवारों में पर्दा-प्रथा परिहार रीति की सूचक है। इस रीति के कारणों की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है।

(ii) परिहासीय सम्बन्ध (Joking relationship)—यह परिहार-सम्बन्ध का विपरीत है। इस रीति में सम्बन्धी को दूसरे सम्बन्धी के साथ मज़ाक करने या उसे तंग करने की अनुमति होती है। देवर-भाभी, जीजा-साली के सम्बन्ध परिहासीय सम्बन्ध हैं। यह सम्बन्ध गालियों एवं लिंग-सम्बन्धी भद्दे मजाक तक भी पहुँच सकता है।

(iii) बच्चे के नाम पर सम्बन्ध (Teknonymy)—यह शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है। 'टेकनो' (teknon) शब्द का अर्थ है शिशु। मानव-विज्ञान में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग टेलर (Tylor) ने किया था। इस रीति के अनुसार, किसी सम्बन्धी को प्रत्यक्ष ढंग से उसका नाम लेकर नहीं पुकारा जाता, परन्तु किसी अन्य सम्बन्धी के माध्यम से बुलाया जाता है। इस प्रकार, दो सम्बन्धियों के मध्य तीसरा सम्बन्धी संदर्भ का माध्यम बन जाता है। परम्परागत हिंदू परिवार में पत्नी अपने पति का नाम लेकर उसे नहीं पुकारती, अपितु उसे 'मुन्नू के पापा' अथवा 'मुन्नी के पापा' कह कर सम्बोधित करती है।

(iv) मामा-विषयक सम्बन्ध (Avunclate)—यह नातेदारी रीति मातृक प्रणाली की एक विचित्र विशेषता है। इसमें मामा को भान्जों एवं भान्जियों के जीवन में प्रमुख स्थान दिया जाता है। उसका उनके प्रति पिता से अधिक दायित्व होता है। उसे उनकी वफ़ादारियों पर प्रधान अधिकार होता है। सभी पुरुष सम्बन्धियों में उसका स्थान अग्रणी होता है।

(v) Amitate—जब पिता की बहन को विशिष्ट महत्व दिया जाता है तो उस रीति को amitate कहते हैं। माता की अपेक्षा बुआ को अधिक मान दिया जाता है।

(vi) Couvade—यह एक विचित्र रीति है, जो खासी (Khasi) तथा टोडा (Toda) जैसी अनेक आदिम जातियों में पाई जाती है। इस रीति में पत्नी के सूतिकागृह में जाने पर पति भी बीमारी का बहाना करके पड़ा रहता है। वह कोई परिश्रम का कार्य नहीं करता तथा रोगियों वाला भोजन करता है। वह उन सभी वर्जनाओं का पालन करता है जिनका उसकी पत्नी करती है। इस प्रकार यह रीति पति-पत्नी दोनों पर लागू होती है।

प्रश्न
(Questions)

१. विवाह के प्रमुख रूपों का वर्णन कीजिए।

२. जीवन-साथी के चुनाव की प्रणालियों का परम्परागत विवाह तथा आधुनिक विवाह के सन्दर्भ में वर्णन कीजिए।

३. अन्तर्विवाह का क्या अर्थ है ?

४. भारत में विवाह पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए।

५. क्या हिंदू कानून तलाक की आज्ञा देता है ? इस संदर्भ में हिंदू विवाह अधिनियम, १९५५ के उपबन्धों की व्याख्या कीजिए।

६. भारतीय परिवार में स्त्री की स्थिति का वर्णन कीजिए।

७. नातेदारी का क्या अर्थ है ? इसके प्रकारों का वर्णन कीजिए।

८. 'वर्गीकृत नातेदारी' एवं 'वर्णनात्मक नातेदारी' शब्दों की व्याख्या कीजिए।

९. विभिन्न नातेदारी रीतियों का वर्णन कीजिए।

१०. (i) प्राथमिक सम्बन्धी; (ii) गौण सम्बन्धी; (iii) तृतीयक सम्बन्धी पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय २०

सामाजिक स्तरीकरण

[SOCIAL STRATIFICATION]

जब हम अपने आसपास के समाज पर दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि इसका स्वरूप विषम है। कही धनी हैं तो कही निर्धन; कही उद्योगपति है तो कहीं कृषक; कही शासक है तो कही जमादार। सर्वत्र समाज विभिन्न श्रेणियों—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक में विभक्त है। इस अध्याय में हम समाज के इसी विषम स्वरूप, जो सर्वव्यापक है और समाजों के ढाँचे मे गहरा स्थान रखता है, का वर्णन करेंगे।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ

(Meaning of Social Stratification)

वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मनुष्यों और समूहो को प्रस्थिति के पदानुक्रम में न्यूनाधिक स्थायी रूप से श्रेणीबद्ध किया जाता है, स्तरीकरण कहलाती है।[1] रेमण्ड मुरे (Raymond W. Murray) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण समाज का 'उच्च' और 'निम्न' सामाजिक इकाइयों मे सामान्तर विभाजन है।" प्रत्येक समाज पृथक् समूहों में विभक्त है। प्राचीनतम समाजों में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण था। जैसा कि सोरोकिन (Sorokin) ने कहा है: "अस्तरीकृत समाज जिसके सदस्यो में वास्तविक समानता हो, केवल एक कल्पना है, जो मानव-इतिहास में कभी साकार नहीं हुई।" कोई भी समाज अस्तरीकृत नही है। स्तरीकरण में समाज के सदस्यो मे असमान अधिकारो एवं विशेषाधिकारों का वितरण निहित है। गिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण का आशय समाज का विभिन्न ऐसी स्थायी श्रेणियो और समूहों मे विभाजन है, जो उच्चता और अधीनता के सम्बन्धो से परस्पर-सम्बद्ध होते हैं।" टालकाट पारसन्स के शब्दों मे, "सामाजिक स्तरीकरण से अभिप्राय किसी सामाजिक व्यवस्था मे व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे के पदानुक्रम मे विभाजन है।" जान एफ० क्यूबर एवं विलियम एफ० केन्कल (John F. Cuber and Willian F. Kenkel) ने इसे "विभेदक विशेषाधिकार को अधिरोपित श्रेणियों का प्रतिमान" कहा है। ये विशेषाधिकार किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की समाज मे प्रस्थिति का निर्धारण करते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उच्च या निम्न, श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ व्यक्तियों की स्थिति होती है। कुर्ट बी० मेयर (Curt B. Mayer) के अनुसार, "सामाजिक स्तरीकरण विभेदीकरण की एक विधि है, जिसमे सामाजिक पदों का वंशानुक्रम निहित होता है, जिसमे इन पदों के स्वामी को एक-दूसरे के संदर्भ में महत्वपूर्ण सामाजिक बातों मे श्रेष्ठ, समान

1. Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, p. 343.

या निम्न समझा जाता है।" लुंडबर्ग (Lundberg) ने लिखा है, "स्तरीकृत समाज वह है, जिसमे असमानता होती है तथा ऐसे विभेद होते हैं, जो उनके द्वारा निम्न और उच्च आँके जाते हैं।"

प्रस्थिति की असमानता—सामाजिक स्तरीकरण की विशेषता (Inequality of states—the feature of social stratification)—इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रस्थिति की असमानता अथवा पद का विभेदीकरण, सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषता है। जहाँ सामाजिक स्तरीकरण होगा, वहाँ सामाजिक असमानता होगी। यद्यपि मानव ने सदैव ऐसे ससार का स्वप्न देखा है जिसमे प्रस्थिति का भेदभाव न हो और सभी व्यक्ति समान हों। फिर भी, यह कटु सत्य है कि समाज विभिन्न पदों को विभिन्न अधिकार एवं सुविधाएं प्रदान करता है। कुछ व्यक्तियो और समूहों को उनके द्वारा भोगे जाने वाली सुविधाओं और विशेषाधिकारों के आधार पर दूसरों की अपेक्षा उच्च माना जाता है। उदाहरण के लिए, भारत मे डाक्टरो या इजीनियरों को अध्यापको की अपेक्षा उच्च माना जाता है। श्रेणी के रूप मे पूर्वोक्त का उच्च सामाजिक मान है। विभिन्न पदो से सलग्न मान या प्रतिष्ठा सामाजिक व्यवस्था का एक भाग बन जाती है और यही स्तरीकरण है।

हाँ, यह स्मरण रखना चाहिए कि विभिन्न पदों से संलग्न मान या मर्यादा का प्रकार अथवा इसकी मात्रा सभी समाजों में समान नही होते। और भी, विभिन्न पदों से विभिन्न मानों को संलग्न करने का आधार भी तर्कसंगत होना आवश्यक नहीं। मान के विभेदों के अनेक कारण हो सकते है। इनमें से कुछ पूर्णतया अंधविश्वासी, अतार्किक तथा विस्मृत एव पुरातन मत में छिपे हुए कारण हो सकते है। संभव है कि किसी पद को धार्मिक आस्था के कारण कल्पित दैवी आदेश द्वारा उच्च मान प्रदान किया गया हो।

स्तरीकरण से अत.क्रिया सीमित हो जाती हैं, जिसके फलस्वरूप विभिन्न श्रेणियो के बीच अंतःक्रिया की अपेक्षा किसी विशेष श्रेणी के मनुष्यो के बीच अंत.क्रिया अधिक हो जाती है। किसी विशिष्ट स्तरीकरण प्रणाली मे, कुछ प्रकार की अंत क्रिया अन्य की अपेक्षा अधिक प्रतिबन्धित हो सकती है। जीवन-साथी के चुनाव में, व्यवसाय के चुनाव मे, मित्रो को बनाने मे स्वचालित ट्रैफिक के प्रवाह की अपेक्षा अधिक प्रतिबन्ध हो सकते हैं। मोटर-चालक निर्धारित नियमों के अनुसार न कि अपनी अथवा दूसरे चालको की सामाजिक प्रस्थिति के अनुसार आगे-पीछे गुजर जाने का रास्ता देता या लेता है।

स्तरीकरण का आरम्भ कैसे हुआ (How did stratification originate) —गम्पलोविज (Gumplowicz), ओपेनहीमर (Oppenheimer) तथा अन्य समाजशास्त्रियों का विचार है कि सामाजिक स्तरीकरण का प्रारम्भ एक समूह द्वारा दूसरे की विजय मे ढूंढ़ा जा सकता है। विजयी समूह प्राचीन काल मे विजित श्रेणी पर प्रभुत्व स्थापित कर स्वयं को उच्च श्रेणी का समझता था, जिससे विजित श्रेणी निम्न बन गई। सीसल नार्थ (Cesil North) भी एक समूह की दूसरे समूह

पर विजय को विशेषाधिकार की उत्पत्ति का कारण मानता है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि "जब तक जीवन का शांतिपूर्ण क्रम चलता रहा,तब तक कोई तीव्र और स्थायी श्रेणी-विभाजन प्रकट नहीं हुआ।" परन्तु सोरोकिन (Sorokin) इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार, संघर्ष स्तरीकरण को सुगम बनाने वाला तो हो सकता है, परन्तु उसे आरम्भ करने वाला नहीं। स्तरीकरण सभी समाजो, शांतिपूर्ण एवं युद्धप्रिय, में पाया जाता है। उसने स्तरीकरण का कारण वंशानुगत मानवीय विभेदों एवं पर्यावरण-सम्बन्धी दशाओं के अन्तरों को माना है।

निःसंदेह प्रस्थिति के अंतर सभी समाजों में पाए जाते हैं। डेविस (Davis) ने स्तरीकरण को प्रकार्यात्मक आवश्यकता पर बल दिया है। उसके अनुसार, समाज में ऐसे पुरस्कार होने चाहिए, जिनका प्रयोग वह प्रलोभनों के रूप में कर सके तथा ऐसी विधि होनी चाहिए, जिनसे इनका वितरण पद के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में हो सके। सामाजिक पदों के अनुसार पुरस्कारों का वितरण सामाजिक स्तरीकरण को जन्म देता है। ये पुरस्कार आर्थिक प्रलोभनों, सौंदर्यात्मक प्रलोभनों एवं प्रतीकात्मक प्रलोभनों के रूप में हो सकते हैं। प्रतीकात्मक प्रलोभन ऐसे प्रलोभन हैं, जो व्यक्ति के मान एवं अहं की वृद्धि करते हैं। पुरस्कारों का वितरण सामाजिक असमानता को जन्म देता है। डेविस के अनुसार, सामाजिक असमानता, अचेतन रूप से अपनाई हुई ऐसी विधि है, जिसके द्वारा विभिन्न समाज यह विश्वास दिलाते हैं कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदों पर चेतन रूप से सर्वाधिक योग्य व्यक्तियों को रखा गया है। अतएव प्रत्येक समाज में आवश्यक रूप से संस्थागत असमानता अथवा सामाजिक स्तरीकरण रहना चाहिए।

क्योंकि सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ है, समाज का सामाजिक वर्गों में विभाजन, अतएव अब हम 'सामाजिक वर्ग' के विचार की व्याख्या करेंगे।

२. सामाजिक वर्ग का अर्थ एवं स्वरूप
(Meaning and Nature of Social Class)

प्रस्थिति—सामाजिक वर्ग की कसौटी (Status—the criterion of social class)—"सामाजिक वर्ग व्यक्तियों के एक, दो या अधिक समूह हैं, जिन्हें समुदाय के सदस्यों द्वारा सामाजिक रूप से श्रेष्ठ एवं अश्रेष्ठ पदों में श्रेणीबद्ध किया जाता है।"[1] मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "वर्ग व्यक्तियों के समूह हैं, जिन्हें सुविधाएँ प्राप्त करने इतने के समान अवसर प्राप्त हैं तथा जिनका जीवन-स्तर समान है। यह समुदाय का एक अंश या व्यक्तियों का संग्रह है, जिसके सदस्य एक-दूसरे के समान हैं तथा जो समुदाय के अन्य अंशों से श्रेष्ठता एवं अश्रेष्ठता के मान्य अथवा स्वीकृत मानदण्डों के आधार पर पृथक् हैं।"[2] प्रत्येक विशिष्ट सामाजिक वर्ग के अपना विशेष सामाजिक व्यवहार, अपने मानदण्ड एवं व्यवसाय होते हैं। यह सांस्कृतिक रूप से पृथक् समूह होता है, जिसे समाज में एक विशिष्ट पद या प्रस्थिति प्रदान किया जाता है। समाज में किसी वर्ग का सापेक्षिक पद उसकी प्रस्थिति

---

1. Lapiere, R.T. *Sociology*, p. 452.
2. Ogburn and Nimkoff, *op cit.*, p. 348.

से संलग्न मान की मात्रा से ज्ञात होता है। जहाँ कहीं भी उच्च एवं निम्न प्रस्थिति की विचारणाएँ सामाजिक संसर्ग को परसीमित कर देती हैं, वही सामाजिक वर्ग होता है। प्रस्थिति सामाजिक वर्ग की मूल कसौटी है, अथवा दूसरे शब्दों में वर्ग एक प्रस्थितिसूचक समूह है। मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) ने लिखा है, "सामाजिक वर्ग की एक भिन्न प्रस्थिति-समूह के रूप में व्याख्या एक सही अवधारणा है, जो किसी स्थान पर प्रचलित सामाजिक स्तरीकरण की प्रणाली पर सामान्यतया लागू होती है। आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक सत्ता तथा उनके समरूप जीवन एवं संस्कृति की अभिव्यंजनाओं के विशिष्ट स्वरूपो द्वारा प्रोत्साहित प्रस्थिति की भावना ही वर्गों को एक-दूसरे से पृथक् करती है, प्रत्येक वर्ग को एकता प्रदान करती है तथा सम्पूर्ण समाज का स्तरीकरण करती है।"

इस प्रकार, सामाजिक वर्ग में सर्वप्रथम, एक वर्ग विशेष के सदस्यों में समानता की भावना होती है, एक प्रकार की चेतना होती है कि एक सदस्य का आचरण उस वर्ग के अन्य सदस्यो के आचरण के साथ मेल खाएगा। एक सामाजिक वर्ग के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे समान जीवन-स्तर बनाए रखेंगे तथा अपने व्यवसायों का चयन भी सीमित परिधि के अन्दर ही करेंगे। एक ही वर्ग के सदस्यो की रुचियाँ एवं व्यवहार मे समानता होती है। द्वितीय, जो व्यक्ति सामाजिक स्तर में ऊँचे होते हैं, उनके समक्ष हीनता की भावना होती है। तृतीय, जो व्यक्ति सामाजिक पदानुक्रम में निम्न होते हैं, उनके समक्ष उच्चता की भावना होती है।

इस प्रकार, सामाजिक वर्ग का आधारभूत गुण अन्य सामाजिक वर्गों के सापेक्ष मे इसकी उच्चता अथवा हीनता की सामाजिक स्थिति है। सामाजिक स्थिति ही ऐसी वस्तु है, जो किसी व्यक्ति के मान, प्रतिष्ठा एवं प्रभाव की मात्रा का निर्धारण करती है। यह व्यवस्था सैनिक व्यवस्था, जिसमें कमिशंड (commissioned) और गैर-कमिशंड (non-commissioned) अधिकारी होते हैं, से मिलती-जुलती है। उदाहरणतया, रोम में गुलाम, प्लेबियन तथा पाँच उच्च वर्ग थे। मध्यकालीन समाज मे, 'थिओ' वर्ग (theow), खिदमती कृषक (cottar), कृषक दास (villeins), स्वतन्त्र कृषक (free tenants) सम्भ्रान्त तथा शीर्ष पर कुलीन, राजवंशीय एवं धार्मिक अधिकारी होते थे। 'थिओ' वर्ग में दास थे, जिन्हे इच्छानुसार विक्रय किया जा सकता था। खिदमती एवं कृषक दास भूमि से बन्धित दास थे। स्वतन्त्र कृषकों की अपनी भूमि होती थी। राजकीय सत्ता सम्भ्रान्त, धार्मिक एवं राजवंशीय अधिकारियों के हाथों मे थी।

प्रत्येक सामाजिक वर्ग के सदस्य एक प्रकार के अन्त.समूह का निर्माण करते हैं। वे एक-दूसरे को सामाजिक स्तर पर समान तथा स्वयं को अन्य वर्गों के सदस्यों से अनेक बातों में भिन्न समझते हैं। वे अपने वर्ग के सदस्यों के साथ मिल-जुल कर तथा दूसरे वर्गों के सदस्यों से पृथक् रहते हैं। उनकी अपनी विशेष जीवन-यापन विधियाँ होती हैं। एक अर्थ मे, प्रत्येक सामाजिक वर्ग समाज में एक पृथक् समाज है, परन्तु यह एक पूर्ण एवं स्वतन्त्र समाज नही है।

स्थिरता का तत्व (Element of stability)—सामाजिक वर्ग अन्य वर्गों से रस्म-रिवाज आदि के दृष्टिकोण से भी अपना अलग अस्तित्व बनाए रखता है।

ऐसी चीजों में कपड़े आदि पहनने का ढंग, यातायात के साधन, मनोरंजन के ढंग और खर्च के वितरण आदि के ढंग शामिल हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग शारीरिक श्रम से मुक्त है। इसके सदस्य सेवक न होकर स्वामी होते हैं। इसके सदस्य कुटियों की अपेक्षा महलों मे रहते है, मनचाहा भोजन करते हैं और आनन्द से रहते हैं। समाज कई बार किसी वर्ग विशेष मे अपेक्षित आचरण के भंग को सहन नही करता। कई बार निम्न श्रेणी के लोग अपने अचरण में उच्च वर्ग के लोगों द्वारा मानवीय आधारो पर किए गए हस्तक्षेप को भी सहन नही करते।

यह भी देखने योग्य है कि एक सामाजिक वर्ग के सदस्य उन लोगों के मार्ग में रोड़े अटकाते हैं जो उनकी स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि कोई एक वर्ग जिसके कुछ विशेषाधिकार हैं, वह उन अधिकारो को केवल अपने पास रखना ही नहीं, बल्कि उनको बढाना भी चाहता है। पूंजीवादी और उच्च वर्गों के लोग अपनी इच्छा से अपने विशेषाधिकारो को छोड़ना नहीं चाहते।

३. वर्ग का विकास
(Development of Class)

'कूले' (Cooley) के अनुसार, सामाजिक वर्गों के विकास की तीन प्रमुख दशाएं हैं।[1] वे हैं—(i) जनसंख्या के घटक अंशों में महत्वपूर्ण भेद; (ii) अल्प-संचार के साधन और ज्ञान एवं (iii) सामाजिक परिवर्तन की धीमी दर। जब जन-संख्या मे विभिन्न जातियां होती हैं, तो समाज की यह विषमता सामाजिक वर्गों के निर्माण में सहायक होती है, क्योंकि जातीय रुकावटें खड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार अमरीका में हब्शियों का अपना पृथक् सामाजिक वर्ग है। लोगो में अन्त:संचार की कमी भी सामाजिक वर्गों के जन्म मे सहायक होती है, क्योंकि सामाजिक सम्पर्क कम होते हैं और दूरियां बढ़ जाती हैं। कदाचित् सामाजिक परिवर्तन की धीमी दर सामाजिक वर्गों के जन्म तक विकास मे सहायक मुख्य तत्व है। जब समाज मे परिवर्तन नही होता और सामाजिक दशा पुश्त-दर-पुश्त एकसमान रहती है, तो सामाजिक वर्गों का विकास हो जाता है। भारतीय समाज लगभग ३००० वर्ष तक स्थिर रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि हरिजनो को सार्वजनिक कुओं पर जाने या मन्दिर-प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। वे सामाजिक मानक्रम मे निम्नतम रखे गए। औद्योगीकरण और नगरों के विकास के पश्चात् ही ये वर्गभेद ढीले पड़े। शहरो में हरिजनो को उनकी जाति से उच्च धन्धो में लगाने की स्वीकृति दी गई। नगर-जीवन की अनामिता ने जाति-पहचान को कठिन कर दिया।

सभ्यता की आरम्भिक अवस्थाओं में, अर्थात् आदि जंगली कबीलो के युग में कोई सामाजिक वर्ग नही थे। कारण यह है कि जंगली अपने पड़ोसियों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने की स्थिति मे नहीं था, क्योंकि वह सदैव अपनी आजीविका कमाने में ही लगा रहता था और कठिनाई से अपना निर्वाह कर पाता था।

1. Coolee, *Social Organization*, p. 217.

हावहाउस (Hohouse) लिखता है, "अपने सदस्यों और बाहर वालों में सदा भेद रहा है, दोनों लिङ्गों द्वारा भोगे जाने वाले अधिकारों में भी थोड़ा बहुत भेद रहा है। दूसरे पहलुओं में इसके नैतिक जीवन के दायित्व बहुत कुछ समान हैं।"[1] दूसरे शब्दों में, आदि जंगली कबीलों में पद की समानता पाई जाती थी। किन्हीं विशेष समूहों द्वारा उपयुक्त पदों की विभिन्नताएँ नही थी। धनी और निर्धन में कोई अन्तर नही था, क्योंकि सम्पत्ति इतनी सीमित होती थी कि उससे धनराशि के भेद उत्पन्न हो नहीं हो सकते थे।

दास-प्रथा की उत्पत्ति (Rise of slavery system)—परन्तु ज्योंही जंगली कबीले संस्कृति में और विशेपतया सैनिक शक्ति में आगे बढ़े तो सर्वप्रथम परिणाम यह हुआ कि विजित शत्रुओ को खाया जाने लगा, दुखित किया जाने लगा और किसी-किसी दशा मे मार दिया जानें लगा। कुछ समय के पश्चात् प्रवृत्तियों में कुछ नरमाई आ जाने पर कैदियो को न मारा जाता था, न खाया जाता था, बल्कि दास बनाकर रख लिया जाता था। पहले-पहल यह नारियों और बच्चों तक ही सीमित था, परन्तु बाद में पुरुष कैदियो को भी दास बनाया जाने लगा। इस प्रकार दासों का एक वर्ग बन गया जो विजयी कबीले के अधीन रहता था। इस वर्ग के कोई अधिकार नही थे। एक दास को पीटा, बेचा, गिरवी रखा, बदला या मारा जा सकता था।

गिल्ड प्रथा (Guild system)—आधुनिक वर्ग मध्ययुगीन वर्गीय ढांचे से विकसित हुए हैं, जबकि सामन्ती स्वामी अथवा जागीरदार समाज के उच्च पद पर थे और कृपक दासो को कोई पूछता तक न था। तब उन दोनों वर्गों के मध्य में एक वर्ग और था, जिसमें घरेलू नौकर, सिपाही, युद्ध में लड़ने वाले सैनिक और शिल्पकार थे। ग्यारहवी शताब्दी के निकट नगरो मे जागीरदारो का दबदबा नही था, इसलिए नगरों में छोटे दूकानदारो और शिल्पकारो का प्रभुत्व हो गया। उन लोगो ने अपने आप को गिल्डों (guilds) में जत्थेबन्द कर लिया। यही गिल्ड मध्ययुगीन आर्थिक ढांचे के मूल आधार हैं। उन गिल्डो के ऊपर वकीलों, डाक्टरो और महाजनों का स्थान था, जो अधिकाश यहूदी हुआ करते थे। इन लोगों को शहरों का उच्च वर्ग गिना जाता था।

बूर्जुआ प्रणाली (Bourgeoise system)—अठारहवी और उन्नीसवी सदी के बूर्जुआ लोग मध्य युग के शहरी कर्मकारों आदि के उत्तराधिकारी हैं। महाद्वीपीय यूरोप में बूर्जुआ लोगो ने अपने राजनैतिक अधिकारों के लिए संघर्ष आरम्भ किए। उनका यह संघर्ष फ्रांसीसी क्रांति में रंग लाया। इंग्लैण्ड मे कई सुधार-अधिनियम पास किए गए। इनके द्वारा बूर्जुआ लोगों को आदरणीय स्थान प्राप्त होता गया।

पूँजीवादी और प्रोल्तारी (Capitalist and proletariat)—औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ मध्ययुग के वर्गीय ढांचे मे परिवर्तन आया। अब समाज दो स्पष्ट भागों में बँट गया—पूँजीवादी और प्रोल्तारी। पूँजीवादी उत्पादन के साधनों के स्वामी थे, उनकी राजनैतिक सत्ता भी अधिक थी, इसलिए उनकी

1. Quoted by Ogburn and Nimkoff, *op. cit.*, p. 217.

सामाजिक स्थिति ऊँची थी। प्रोलतारी कारखाने के मजदूर थे, जिनके पास धन नहीं था, उद्योगों के प्रबन्ध मे उनका कोई भाग नहीं था, और मेहनत का पूरा फल भी उन्हे प्राप्त नही होता था। वे केवल अपनी मेहनत ही बेचते थे।

आधुनिक पूँजीवादी वर्ग मध्ययुगीन आभिजात्य वर्ग की अपेक्षा कम संसंजिक (cohesive) है, क्योंकि उस आभिजात्य वर्ग का विशिष्ट उच्चरक्त से सम्बन्ध था। आज के पूँजीवाद में इस प्रकार का कोई गुण नही है। इसमें दूसरे वर्गों से आने वाले सदस्यों के लिए कोई रोक-टोक नही थी। कोई भी कर्मकारी अपनी मेहनत के बल पर किसी भी समय पूँजीवादी वर्ग में दाखला पा सकता था। सामाजिक पद-क्रम में उन्नति करने के विरुद्ध उस पर कोई रोक-टोक नहीं थी, कोई बन्धन नही था। रॉकफेलर, कार्नेगी, हैनरी फोर्ड, बिरला आदि ऐसे ही महानुभाव हैं, जिन्होने अपने उपक्रम के सहारे औद्योगिक समाज के उच्चतम स्तरो पर पहुँचे है।

मध्यवर्ग (Middle class)—समाज का पूँजीवादियो और प्रोलतारियों मे बिल्कुल कोई अन्तिम विभाजन नही था। इसके साथ ही मध्यवर्ग नामक एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ, इसने सामाजिक संरचना के परम्परागत पूँजीवादी और प्रोलतारी द्वैतवाद में परिवर्तन किया। यह नया मध्यवर्ग मध्ययुगीन मध्यवर्ग से भिन्न है; मध्ययुगीन मध्यवर्ग मे तो केवल छोटे व्यापारी लोग ही थे, और वह सजातीय-सा वर्ग था। आज का मध्यवर्ग विषय-जातीय वर्ग है, इसमे डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, अध्यापक और बाबू लोग आदि शामिल हैं। इस मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति पूँजीपतियों और श्रमिको के बीच मे है। इसका सामाजिक मान पूँजीपतियों से निम्न तथा श्रमिकों से उच्च है।

मध्यवर्ग के उपभेद (Subdivisions of middle class)—मध्यवर्ग के आय एवं जीवन-यापन स्तर की दृष्टि से तीन उपभेद हैं। ये हैं—उच्च मध्यम वर्ग, मध्यम वर्ग, तथा निम्न मध्यम वर्ग। उच्च मध्यम वर्ग और पूँजीपति वर्ग में बहुत ही थोड़ा अन्तर है। निम्न मध्यम वर्ग मध्य वर्ग की ओर अग्रसर रहता है, परन्तु निम्न मध्य वर्ग में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनकी स्थिति श्रमिक वर्ग के सदस्यो की स्थिति से श्रेष्ठ नही कही जा सकती। वास्तव में, लापियर (Lapiere) लिखता है, "साधारणतया श्रमिक वर्ग के उच्च लोग निम्न मध्य श्रेणी के सदस्यों की अपेक्षा अधिक दैनिक मजदूरी कमाते हैं।"[1]

४. वर्ग—विभेदों की कसौटियाँ

(Criteria of Class Distinctions)

सामाजिक वर्गों के विकास के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि समाज विभिन्न कालों मे विभिन्न वर्गों में विभक्त रहा है। अब प्रश्न यह है कि सामाजिक वर्गीकरण के विभिन्न नियम क्या हैं ?

समाज में मान-प्रतिष्ठा के इतने विभिन्न आधार हैं कि हमको आश्चर्य होता है कि क्या सामाजिक वर्ग निश्चित सदस्यता वाले निश्चित समूह हैं अथवा केवल सामाजिक श्रेणियाँ हैं, जिनकी पारिभाषिक विशेषताएँ एवं सदस्यता समाजशास्त्रियों

1. Lapiere, R. T., *Sociology*, p. 466.

द्वारा कुछ निरंकुश ढंग से निर्धारित की गई हैं। व्यक्तियों की प्रस्थिति को निर्धारित करने के लिए समय-समय पर अलग-अलग आधार अपनाए गए हैं। हम किसी व्यक्ति को पदक्रम के ऊँचे अथवा नीचे स्तर पर किसी निश्चित विशेषता के आधार पर रखते हैं। परन्तु विभिन्न समाजों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विभिन्न लोग विभिन्न विशेषताओं को विभिन्न पद प्रदान करते हैं। वास्तव में कोई भी विशेषता, यथा व्यवसाय, सम्पत्ति, जन्म, जाति, धर्म, शिक्षा, बोलचाल, शिष्टाचार आदि सामाजिक श्रेणीकरण का आधार बन सकती है। कभी-कभी दो अथवा अधिक विशेषताएँ मिलकर प्रस्थिति का निर्धारण कर सकती हैं।

जन्म की कसौटी (Criterion of birth)—सामन्ती एवं प्रारम्भिक मध्ययुगीन काल में प्रस्थिति का निर्धारक तत्व जन्म था। उन दिनों कुछ व्यक्ति दास होते थे तो कुछ स्वामी, कुछ कुलीन थे तो कुछ भू-दास (serf); कुछ सम्भ्रान्त थे तो कुछ जनसाधारण। जब प्रस्थिति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है तो वर्ग-संरचना अनमनीय एवं अखंड बन जाती है। सामाजिक गतिशीलता असम्भव हो जाती है। प्रत्येक वर्ग के सदस्यों के दृष्टिकोण अभ्यस्त एवं अर्द्ध-स्वचालित से बन जाते हैं।

सम्पत्ति की कसौटी (Criterion of wealth)—प्रस्थिति के निर्धारक के रूप में जन्म सामाजिक पद का नियंत्रक तत्व उस समय तक रहा, जब तक नए सामाजिक एवं आर्थिक विकासों ने सामन्तीय प्रणाली को विस्थापित नहीं कर दिया। मध्य वर्ग सामन्तीय वर्ग-व्यवस्था में क्रांति मचा देने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से उत्तरदायी था। इसने सम्पत्ति के आधार पर सामाजिक प्रस्थिति की नई परिभाषा प्राप्त की। सामन्तीय व्यवस्था के भीतर भूमि सम्पत्ति का प्रधान प्रकार थी। वास्तव में, सामन्तीय सम्बन्धों की संपूर्ण व्यवस्था भू-स्वामित्व पर आधारित थी, जो सामन्तीय संरचना का प्रारम्भिक तत्व था। अधीनता, वफादारी, कर्त्तव्य, मान आदि की विचारणा इस तथ्य पर आधारित थी कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भूमि प्राप्त करता है, जो पूर्वोक्त व्यक्ति से 'उच्च' बन जाता है। "मैं आपका आदमी हूँ, क्योंकि जमीन का यह टुकड़ा आपका दिया हुआ है। इसलिए मैं आपके प्रति जीवन-सम्बन्धी एवं सांसारिक मान सम्बन्धी मामलों में वफादार रहूँगा, अन्य किसी के प्रति नहीं"—यह थी श्रद्धांजलि की शपथ।

परन्तु औद्योगिक क्रांति एवं व्यापारिक, वित्तीय तथा कर्मशाला-उत्पादन के उद्यम के विकास के साथ, सम्पत्ति की पुनःपरिभाषा की गई, जिससे भूमि सम्पत्ति का एक प्रधान प्रकार होते हुए भी धन एवं ऋण के नए प्रकारों के अधीन बन गई। सम्पत्ति का स्वतंत्र सामाजिक मूल्य के रूप में विकास हुआ, जिसमें प्रस्थिति के निर्धारक तत्व के रूप में जन्म का स्थान कम महत्वपूर्ण हो गया। एक नई वर्ग-व्यवस्था का जन्म हुआ, जो अनमनीय नहीं थी, तथा जिसमें व्यक्तिगत उपलब्धियों के आधार पर उद्यमी एवं उपक्रमी व्यक्ति पदक्रम में ऊँचे चढ़ सकते थे। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अब जन्म के आकस्मिक तत्व के आधार पर सदा सदा के लिए निर्धारित नहीं होती थी। इसके स्थान पर उन्मुक्त वर्ग-रचना का विकास हुआ, जिसमें व्यक्ति स्वतंत्र रूप से प्रवेश कर सकते थे। नए गतिशील पूँजीवादी समाज ने

सम्पत्ति ने अधिक महत्वपूर्ण निर्धारक स्थान प्राप्त किया है। आधुनिक समाजों में आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। परम्परागत वर्गीय सीमांकन धुंधले पड़ गए तथा एक नवीन सामाजिक संरचना का जन्म हुआ, जिसमें श्रमिक एवं पूंजीपति दोनों पदक्रम में ऊँचा चढ़ने के लिए समान रूप से परिश्रम करने लगे। सम्पत्ति सभी सामाजिक विभाजनों में प्रवेश कर गई और यह सामाजिक स्तरीकरण का एक सार्वभौमिक एवं महत्वपूर्ण आधार बन गई। इन वर्गों को उच्च वर्ग, मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग कहा गया।

व्यवसाय की कसौटी (Criterion of occupation)—इस प्रकार, आधुनिक समुदायों में सम्पत्ति सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख निर्धारक है। सम्पत्ति ही इस बात का अधिकांशत: निर्णय करती है कि किसी व्यक्ति की शिक्षा क्या होगी और इस शिक्षा की बदौलत कौन-से व्यवसाय उसके लिए खुले हैं। सामाजिक वर्ग एवं उसके व्यवसाय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यवसाय भले ही प्रस्थिति का पूर्णतया सही सूचक न हो, परन्तु फिर भी इससे सामाजिक वर्ग, इसके जीवन-यापन की विधि तथा सामान्य सामाजिक स्थिति का पता चल जाता है।

उदाहरण के लिए किसानों को लीजिए। प्राचीन काल में भूमि के साथ दो प्रकार के लोगों का सम्बन्ध था : भू-स्वामी एवं कृषक। आधुनिक काल मे एक नए वर्ग 'स्वामी कृषक' (owner cultivators) का जन्म हुआ है। भारत में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के बाद काश्तकार मुजारों को ही मालिक काश्तकार बना दिया गया है। अब उसके ऊपर भूमिपतियों का आधिपत्य नहीं है। वह अपने परिवार के अतिरिक्त कुछ थोड़े से मजदूर लगा लेता है। उन मजदूरों के साथ उसका वही सम्बन्ध नहीं होता, जो जमींदारों का मुजारों के साथ था। मालिक काश्तकारों और मुजारा काश्तकारों का अब एक वर्ग है, जिसे कृषक वर्ग कह सकते हैं। इस वर्ग की, उनके व्यवसाय से संबंधित, अलग विशेषताएँ हैं। उनके रहन-सहन का एक सामान्य ढंग है, उनकी आमदनी अपेक्षाकृत कम एवं अनम्य है, उनमें सामान्य समूह-चेतना है तथा उनका एक पृथक् सामाजिक वर्ग है।

आजकल कृषक वर्ग के भीतर भी सामाजिक स्तरीकरण का विकास हो रहा है। कृषि के यंत्रीकृत रूपों के आविष्कार से कुछेक कृषक ट्रैक्टरों के मालिक एवं 'सफ़ेदपोश' (white-collar) कृषक बन गए हैं। दूसरी ओर, निम्न श्रेणी के कृषक हैं, जिनके पास पुराने ढंग के साधन हैं और जो उच्चवर्गीय कृषक वर्ग से पृथक् हैं।

इसी प्रकार, अकृषिकर क्षेत्रों में भी व्यवसाय सामाजिक स्थिति का एक उपयोगी सामान्य सूचक है। तथाकथित 'सफ़ेदपोश' व्यवसायों की सामाजिक प्रस्थिति अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अधिक है, चाहे उसमें आय कम ही हो। कम वेतन पाने वाले अध्यापक का सामाजिक पद अधिक वेतन पाने वाले मिस्त्री से अधिक है। स्पष्टतया, आय सामाजिक स्थिति का निर्धारण नहीं करती। मंत्रियों, सचिवों, आयुक्तों का सामाजिक पद धनी व्यापारियों के सामाजिक पद से अधिक ऊँचा है, चाहे पूर्वोक्तों की आर्थिक स्थिति निम्न ही क्यों न हो। व्यवसाय-सम्बन्धी सामाजिक पद का सर्वेक्षण

संयुक्त राज्य में 'राष्ट्रीय मतशोध केन्द्र' (National Opinion Research Centre) द्वारा १९४७ में किया गया था। इस सर्वेक्षण से पता चला कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को पदक्रम में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था, जबकि बूट पालिश करने वाले को निम्नतम। इस अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि सरकारी कर्मचारियों की अधिक प्रतिष्ठा थी, लिपिकों एवं प्रबन्धकीय पदों का स्थान सामान्य था, जबकि सेवकों एवं मजदूरों का निम्नतम स्थान था।

प्रश्न उठता है कि किसी व्यवसाय की प्रतिष्ठा का निर्धारण करने वाले तत्व क्या हैं ? डेविस (Davis) के अनुसार, "विभिन्न व्यवसायों के अपेक्षित स्तर-निर्धारण के दो प्रमुख तत्व हैं : प्रथम, किसी व्यवसाय का कार्यात्मक महत्व; और दूसरे, माँग की अपेक्षा उस व्यवसाय के आदमियों की कमी।"[1] हेनरी एम० जानसन (Henry M. Johnson) ने डेविस द्वारा प्रस्तुत व्याख्या को स्वीकृत करने मे कई समस्याओ का उल्लेख किया है।[2] प्रथम, एक ही व्यवसाय मे विभिन्न बुद्धि, वैभव, ज्ञान और कौशल के व्यक्ति होते हैं। इसलिए किसी व्यवसाय की प्रतिष्ठा की व्याख्या सामाजिक गुणो के आधार पर होनी चाहिए, न कि व्यवसाय के कार्यात्मक महत्व के संदर्भ में। दूसरे, एक ही व्यवसाय में विभिन्न कार्य या नौकरियाँ होती हैं, जो मान अथवा प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस प्रकार एक छोटे कस्बे के स्कूल-हेडमास्टर की प्रतिष्ठा बड़े नगर के स्कूल-हेडमास्टर की अपेक्षा कम हो सकती है। इसी प्रकार, एक डाक्टर की प्रतिष्ठा का अंकन उसके रोगियों की औसतन प्रतिष्ठा से किया जा सकता है। इस प्रकार, किसी व्यवसाय के कार्यात्मक महत्व का अनुमान लगाते समय उस व्यवसाय की विभिन्न व्यावसायिक दशाओं को भी ध्यान में रखना चाहिए। तीसरे, किसी व्यवसाय को करने वाले व्यक्तियों की उस व्यवसाय मे सफलता की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। इसलिए किसी व्यक्ति के लिए उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा का अंकन करते समय उसकी व्यावसायिक कुशलता को ध्यान मे रखना होगा। चतुर्थ, 'अपेक्षित कार्यात्मक महत्व निरकुश समाज की अपेक्षा छोटी सामाजिक प्रणाली मे सामान्यतः अधिक सुगमता से आँका जा सकता है। कार्यात्मक महत्व मे काफी विभिन्नताएँ हो सकती हैं। इस प्रकार, भारत में धार्मिक कार्यों को रूस की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, किसी भी कार्य का अपेक्षित महत्व विभिन्न कालों में सामाजिक प्रणाली की आतंरिक संरचना के अनुसार बदलता रहता है। भारत में ब्राह्मण-काल में धार्मिक कार्यों को जो मान प्राप्त था, वैसा आज नहीं है।

इसलिए यह बिल्कुल संभव है कि किसी काल में कुछ व्यवसाय अधिक मानित या कम मानित हो। व्यवसायों को उनके पूर्ण अर्थ में कार्यात्मक महत्व के अनुसार श्रेणीबद्ध नही किया जा सकता, बल्कि उनका श्रेणीकरण किसी विशेष सामाजिक प्रणाली में उनके महत्व के आधार पर किया जाता है।

किसी व्यवसाय का मान कुछ सीमा तक उसको करने वाले व्यक्तियों की

1. Davis, *Human Society*, p 368.
2. Johnson, Henry, M., *Society*, pp. 487-490.

औसत आय से भी प्रभावित होता है। यद्यपि उच्च औसत आय का कारण आंशिक रूप से उस व्यवसाय का कार्यात्मक महत्व तथा सुयोग्य व्यक्तियों की अपेक्षाकृत कमी हो सकता है, तथापि केवल ये ही तत्व किसी व्यवसाय की औसत आय को प्रभावित नही करते। एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व उसको करने वाले व्यक्तियों द्वारा पारिश्रमिक प्राप्त करने का स्रोत है। इस प्रकार, कोई प्राइवेट फर्म किसी विशेष व्यवसाय के लिए लोकहितकारी संस्था की अपेक्षा अधिक वेतन दे सकती है। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि स्वतंत्र तत्व के रूप में आय किसी व्यवसाय की प्रतिष्ठा का केवल एक आरंभिक सूचक है। उदाहरण के लिए, किसी बड़े सार्वजनिक निगम के प्रबंधक को देश के राष्ट्रपति से अधिक वेतन मिल सकता है, परन्तु केवल अधिक वेतन के आधार पर प्रबंधक को राष्ट्रपति की अपेक्षा उच्च नहीं समझा जा सकता।

इसलिए विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध प्रतिष्ठा मात्र किसी व्यवसाय के कार्यात्मक महत्व, जो परिवर्तनशील तत्व है, या उस व्यवसाय की कमी, या उससे उपलब्ध आय पर आश्रित नही है, बल्कि व्यवसायो में अपेक्षित कौशल, उनके लिए अपेक्षित प्रशिक्षण एवं ज्ञान, उनमें व्यस्त लोगों की प्रतिष्ठा, उनका अभाव, उन व्यवसायो में संभाव्य वैयक्तिक स्वतंत्रता की मात्रा तथा अन्य अनेक अयुक्तिक तत्वों पर आधारित है, जो लोगों द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यों के मूल्यांकन को प्रभावित करते हैं, और जो मूल्यांकन विभिन्न समाजों मे तथा एक ही समाज में विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न होता है।

शासनतन्त्र की कसौटी (Criterion of polity)—आधुनिक समाज मे राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण निर्धारक है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था का आदर्श सामाजिक भेदभावो की समाप्ति कर सामाजिक समानता की स्थापना करना है, जिसका अर्थ है कि किसी व्यक्ति को आय, व्यवसाय अथवा जन्म के आधार पर ऊँचा या नीचा नहीं आंका जाएगा। दूसरी ओर कुलीनतंत्रीय व्यवस्था इस विचार पर आधारित है कि समाज में कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए जन्म लेते है तो अन्य शासित होने के लिए। ऐसी व्यवस्था समाज को दो वर्गों, शासक एवं शासितों, में विभक्त कर देती है। प्रत्येक समाज मे शासक को उच्च मान प्राप्त रहा है। प्रजातंत्र में भी विधायको एवं मंत्रियों को उच्च प्रतिष्ठा दी जाती है, भले ही उनमें से कुछ अनपढ़ हों।

शिक्षा की कसौटी (Criterion of education)—सामाजिक वर्ग एवं शिक्षा दो प्रकार से अंत क्रिया करते हैं। प्रथम, उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। धनी वर्गों के बच्चे उत्तम शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, जो उन्हें सामाजिक पदों की शृंखला मे सर्वोच्च पद पर आसीन कर सकती है। निर्धन नवयुवक उच्च शिक्षा का व्यय-भार सहन नहीं कर सकते, अतएव वे सामाजिक पद-शृंखला के निम्नतम स्तर पर ही रह जाते हैं। दूसरे, शिक्षा की मात्रा एवं इसका प्रकार वर्ग में व्यक्ति के पद को भी प्रभावित करता है। उच्च शिक्षा न केवल व्यावसायिक कौशल की वृद्धि करती है, अपितु रुचियों, शिष्टाचार, वाणी, अभिरुचियों एवं लक्ष्यों को भी प्रभावित करती है।

इस प्रकार, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि आधुनिक समुदायों में भले ही सम्पत्ति सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण तत्व है, परन्तु यह एकमात्र तत्व नहीं है। किसी समुदाय का विभिन्न समूहों के प्रति दृष्टिकोण अनेक तत्वों से प्रभावित होता है। इस प्रकार जाति, आयु, लिंग, वंशावली, धर्म, व्यवसाय, शिक्षा तथा जीवन-यापन विधि प्रस्थिति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को उपान्तरित और सीमित करते हैं। कभी-कभी किसी समुदाय द्वारा धारित दृष्टिकोण किसी तर्कयुक्त तत्व का परिणाम न होकर केवल मात्र परम्परागत हो सकता है। उस दशा में यह जानने के लिए कि कोई समुदाय किसी विशिष्ट वर्ग को उच्च या निम्न क्यों मानता है, हमें उन भूतकालीन अथवा वर्तमान अनुभवों का अध्ययन करना होगा, जिन्होंने ऐसे दृष्टिकोण को जन्म दिया है। संयुक्त राज्य में नीग्रो वर्ग को निम्न पद देने के प्रचलित दृष्टिकोण की व्याख्या इस ऐतिहासिक तथ्य पर की जा सकती है कि नीग्रो को सौ वर्षों या अधिक समय तक दास का पद दिया गया था। प्रत्येक समाज में विशुद्ध परम्परागत, स्वभावगत एवं अकार्यात्मक वर्ग-स्तरीकरण होता है जिसका कोई तर्कयुक्त औचित्य नहीं दिया जा सकता। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण के तथ्य की व्याख्या करते समय हमें उन तत्वों को ओझल नहीं कर देना चाहिए, जिनकी कोई तर्कयुक्त व्याख्या नहीं खोजी जा सकती। हमें सामाजिक संगठन के अनेक तथ्यों के लिए तर्कयुक्त आधार न होने पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

५. वर्गों के कार्य

(Functions of Classes)

समाज में लोगों को विभिन्न वर्गों में क्यों बाँटा जाता है ? क्यों न सभी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत गुणों के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करें, बजाय उस वर्ग के आधार जिससे उसे कुछ विशेषताओं के कारण संबद्ध कर दिया गया है ? क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि, शिक्षा, उसके व्यक्तित्व, चातुर्य और चरित्र में बड़ी भिन्नता होती है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के साथ बिना किसी वर्गीकरण को ध्यान में रखे उसके गुणों के आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए। यह सुझाव वास्तव में प्रशंसनीय है, परन्तु अव्यावहारिक है।

(i) **सरलीकरण (Simpification)**—व्यक्तियों का वर्गों मे श्रेणीकरण संसार को सरलीकृत करने का एक साधन है। समाज में हम अजनबी व्यक्तियों से मिलते हैं, जिनके व्यक्तिगत गुणों का हम पता नहीं लगा सकते। इसलिए हम उनको वर्गीकृत करने की प्रणाली का सहारा लेते हैं और उनके साथ वर्ग के सदस्यों के रूप मे व्यवहार करते हैं। ऐसे वर्गीकरण के अभाव में हमें सभी व्यक्तियों के व्यक्तिगत गुणों का पता लगाने के लिए तथा उनकी प्रस्थिति का निर्धारण करने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ेगा। उदाहरणतया, अध्यापकों की नियुक्ति सामान्यतया उपाधि-प्राप्त व्यक्तियों के वर्ग मे से होती है। लोकसेवा आयोग जिसे अनेक व्यक्तियों का चुनाव करना पड़ता है और जो उसके लिए अपरिचित होते हैं, इस विधि के प्रयोग द्वारा पूर्णरूपेण कम गल्तियाँ करेंगे, अपेक्षाकृत उस समय जब वे प्रार्थियों के व्यक्तिगत एवं वैयक्तिक खोज के आधार पर अध्यापकों का चुनाव

करें। इसलिए विशिष्ट वर्गों के व्यक्तियों को ही प्रार्थना-पत्र देने की आज्ञा दी जाती है।

अभिप्रेरणा एवं समन्वय (Motivation and co-ordination)—इसके अतिरिक्त, प्रतिष्ठा के आधार पर लोगों का वर्गीकरण एक वर्ग को इस योग्य बना देता है कि वह उससे प्रत्याशित कार्यों को अधिक तत्परता से करे। डब्ल्यू० लायड वार्नर (W. Lloyd Warner) लिखता है, "जब कोई समाज जटिल होता है, जब इसमें बहुत से व्यक्ति विभिन्न और जटिल कार्यों को करने में लगे हुए और विभिन्न रीतियों से क्रियाशील होते हैं, तो उसमें व्यक्तियों, पदों एवं व्यवहारों को मूल्यांकित एवं श्रेणीबद्ध किया जाता है। यह मुख्य रूप से इसलिए होता है, ताकि समाज स्वयं को स्थिर रखने के लिए अपने सभी सदस्यों के प्रयत्नों को सारे उद्यमों मे समन्वित करके इन सभी उद्यमों को एक कार्यशील सम्पूर्ण व्यवस्था में दृढ़ एवं समाकलित कर सके।"[1]

यह सम्भव है कि लोगों का किसी वर्ग में वर्गीकरण तथा उनको उस वर्ग की प्रतिष्ठा प्रदान करना कुछेक के लिए अन्यायकारी हो, परन्तु इस अन्याय का समाधान सामाजिक स्तरीकरण की प्रणाली को समाप्त कर देना नहीं है। इसका समाधान तो वर्गीकरण की अधिक यथार्थ एवं सुसंगत पद्धति को अपनाना है। इसके अतिरिक्त, व्यक्तियों को समाज में उस स्थान को प्राप्त करने का खुला अवसर होना चाहिए, जिसके लिए वे योग्य हैं, अन्यथा समाज में अदक्षता एवं रोष छा जाएँगे।

६. सामाजिक वर्ग एवं जीवन – शैली

(Social Class and Style of Life)

व्यक्ति की जीवन-शैली उसके सामाजिक वर्ग से, जिसका वह सदस्य है, प्रभावित होती है। एक सामाजिक वर्ग को अन्य वर्गों से व्यवहार की कुछेक विधियों के आधार पर भिन्न समझा जाता है। इन विधियों मे ऐसी वस्तुएँ, यथा वस्त्रों को पहनने का ढंग, परिवहन का प्रकार, मनोरंजन के तरीके तथा भोजन की वस्तु आदि सम्मिलित हैं। एक विशिष्ट वर्ग के सदस्यों को न्यूनाधिक समान जीवन-अवसर, अर्थात् जीवन की श्रेष्ठ वस्तुओं को प्राप्त करने की समान सम्भावना प्राप्त होती है। लासवैल (Lasswell) ने ठीक ही कहा है कि "प्रभावी व्यक्ति वे होते हैं जिन्हें प्राप्य वस्तुओं में सबसे अधिक प्राप्त होता है।" इस प्रकार, एक सामाजिक वर्ग के सदस्यों को समान सामाजिक अवसर प्राप्त होते हैं और क्योंकि वर्गों के सामाजिक अवसर भिन्न होते हैं, इसलिए उनमें इस बात की भी भिन्नता होती है कि वे क्या शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे कैसे व्यवहार करते हैं तथा उनका दूसरों के प्रति क्या दृष्टिकोण है। हम विभिन्न सामाजिक वर्गों के दृष्टिकोणों एवं व्यवहारों में पर्याप्त भिन्नता पाते हैं। इस प्रकार, उच्च वर्ग के सदस्य शारीरिक परिश्रम से घृणा करते

---

1. W. Lloyd Warner, Social Class in America, *Science Research Associates*, 1949, p. 8

हैं। वे कोठियो में रहते हैं, स्वचालित यानों पर सवारी करते हैं, मनपसन्द भोजन खाते हैं, सुन्दरतम वस्त्र पहनते हैं तथा चिकनी भाषा बोलते हैं। मनोरंजन-हेतु वे मलबों मे जाते हैं तथा कुलीन खेल, जैसे टेनिस, बैडमिंटन, शतरंज, गोल्फ आदि खेलते है। दूसरी ओर, निम्न श्रेणी के सदस्य शारीरिक परिश्रम करते हैं, झोंपड़ियों मे रहते हैं तथा मोटा भोजन खाते हैं। उनके वस्त्र फटे-पुराने होते हैं और मनोरंजन के नाम से अनभिज्ञ होते हैं। इसी प्रकार, उच्च वर्ग के लोग शिक्षित होते हैं, उच्च सार्वजनिक पदो पर या बड़े-बड़े उद्योगों में काम करते हैं। निम्न श्रेणी के लोग अधिकांशत: अनपढ़ तथा मजदूर होते हैं। वे स्वामी न होकर सेवक होते हैं।

यह भी देखा गया है कि निम्न श्रेणी के सदस्यों मे उच्च श्रेणी की अपेक्षा अपराध की मात्रा अधिक होती है। सामाजिक पदानुक्रम के निम्न स्तरो पर ही अपराधियो की सबसे अधिक सज़ा मिलती है।

अध्ययनो से विभिन्न सामाजिक वर्गों के पारिवारिक व्यवहार की भिन्नताओं का भी पता चला है। निम्न श्रेणी के बच्चों का पालन-पोषण घरो मे ही होता है। उनके सदस्यो में कठोर लैंगिक नियम पाए जाते हैं। उच्च वर्गों मे बच्चो का पालन-पोषण नौकरानियो द्वारा किया जाता है। उन्हे माता के स्तनो का दूध न मिलकर बोतल का दूध मिलता है। उच्च वर्ग के बच्चों को नम्रता, शिष्टाचार, अच्छे प्रकार के वस्त्र पहनने, समान साथियो के साथ खेलने, स्कूलो में उच्च ग्रेड पाने तथा शिखर पर पहुँचने की शिक्षा दी जाती है। निम्न श्रेणी के बच्चे अधिकाशतया विरोधी दिशा मे जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक वर्ग जीवन-शैली को प्रभावित करता है। उच्च वर्ग के सदस्यों को अधिक मान, पद तथा सत्ता प्राप्त होती है। उन्हे आत्म-महत्व का बड़ी भारी अहं होता है। दूसरी ओर, निम्न श्रेणी के सदस्य आज्ञाकारी होते हैं। वे उच्च श्रेणी के सदस्यों की इच्छाओं के आगे झुक जाते हैं। वस्तुत: जीवन का कदाचित् ही कोई पक्ष हो, जिस पर वर्ग का प्रभाव न पड़ता हो। सामाजिक वर्ग उप-संस्कृतियो (sub-cultures) का निर्माण करते हैं, अतएव जो वर्ग भिन्न रूप से रहते हैं, वे भिन्न रूप से सोचते एवं व्यवहार भी करते हैं।

७. वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा

(Marxian Concept of Class)

साम्यवाद के पिता, कार्ल मार्क्स ने वर्ग की आर्थिक व्याख्या की है। इस प्रकार उसने बूर्जुआ (Bourgeoisie), जो उत्पादन के स्वामी हैं तथा श्रमिक-वर्ग (Proletariat), जिनके पास उत्पादन के साधन नही है, में विभेद किया है। बूर्जुआ की समाज मे उच्च स्थिति है, क्योंकि उनके पास सम्पत्ति है, जबकि श्रमिक-वर्ग की स्थिति निम्न है, क्योंकि उत्पादन के साधनो के स्वामी होने के बजाय वे केवल परिश्रम करते हैं। इसलिए मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनो का स्वामित्व व्यक्तियों की प्रस्थिति का निर्धारण करता है। मैक्स वेबर (Max Weber) ने भी वर्ग की परिभाषा आर्थिक तत्वो का प्रतिफल कह कर की है। उसका कथन है कि "वर्ग का निर्धारण

व्यक्ति की 'मार्केट स्थिति', जो प्रमुख रूप से इस बात पर आश्रित है कि उसके पास सम्पत्ति है या नहीं, से होता है।" गिन्सबर्ग (Ginsberg) का भी विचार है कि वर्ग के प्राथमिक निर्धारक तत्व आर्थिक होते हैं।

मार्क्स ने यह भी कहा था कि सभी पूर्व इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। *वर्ग-संघर्ष तब समाप्त होगा जब श्रमिक-वर्ग संगठित होकर रक्तीय क्रांति द्वारा* पूंजीवाद को उखाड़ कर समानता पर आधारित एक अंतर्राष्ट्रीय वर्गहीन समाज की स्थापना करने में सफल हो जाएगा।

मैकाइवर (MacIver) ने मार्क्स द्वारा बूर्जुआ एवं श्रमिक-वर्ग में किए गए अंतर को मूल रूप से त्रुटिपूर्ण एवं गलत तथ्यों पर आधारित बतलाया है। आर्थिक विभाजन के आधार पर सामाजिक वर्गों का श्रेणीकरण दो कारणो से त्रुटिपूर्ण है। प्रथम, कुछ वर्ग-प्रस्थिति के अंतर ऐसे हैं,जो आर्थिक अन्तरो से मेल नही खाते। इस प्रकार, ब्राह्मण वर्ग के सदस्य जो उच्च वर्ग है, एक निम्न वर्ग के नौकर हो सकते हैं और सम्पत्ति के दृष्टिकोण से उनका स्थान अन्तोक्त से निम्न हो सकता है। मार्क्स के विचारानुसार, ब्राह्मण वर्ग एक निम्न वर्ग होगा, क्योंकि उनके पास कोई सम्पत्ति नहीं है और वे नौकरी करते हैं, परन्तु हिंदू समाज मे उनको उच्च पद प्राप्त होता है। पुन. एक पुरातन संस्थापित भूमिदार वर्ग धनी वर्ग की अपेक्षा सामाजिक पदक्रम में उच्च समझा जा सकता है। आर्थिक कारको के रूप में इनमें विभेदीकरण करना कठिन होगा। एक सफेदपोश क्लर्क एक मजदूर से बेशक अधिक न कमाता हो, चाहे कम ही कमाता हो, फिर भी समाज मे मजदूर की अपेक्षा उसका पद ऊँचा है। इस प्रकार वह आर्थिक दृष्टि से निम्न है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उच्च है। इसके अतिरिक्त,सभी श्रमिकों को एक अकेले वर्ग—प्रोलीटेरियट—में श्रेणीबद्ध नहीं किया जा सकता। आधुनिक पश्चिमी समाज मे विभिन्न क्षेत्रों तथा विभिन्न कौशल के श्रमिको में विभेद किया जाता है। वे अपनी अभिरुचियों, दृष्टिकोणों एवं भावनाओं में एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। श्रमिकों मे प्रतियोगी वर्ग-भावना पाई जाती है। कोई उन्हे एक वर्ग से सम्बन्धित सोच भी नहीं सकता। पूंजीपतियो का भी एक अकेला वर्ग नही है। छोटे पूंजीपतियो के हित बड़े पूंजीपतियो के हितों के विरोधी है; उनके हितो मे टक्कर है, अतएव उनको एक ही सामाजिक वर्ग के सदस्य नही माना जा सकता।

दूसरे, यदि हम सामाजिक वर्ग की परिभाषा किसी वस्तुनिष्ठ कसौटी, जैसे सम्पत्ति का स्वामित्व, के आधार पर करें तो इसका समाजशास्त्रीय महत्व धुंधला पड़ जाता है। वर्ग की प्रमुख विशेषता इसकी 'वर्ग-चेतना' की भावना है, जो किसी वर्ग के सदस्यों को इकट्ठा रखती है और उन्हें दूसरों से अलग करती है। यदि 'सफेदपोश' श्रमिक स्वयं को औद्योगिक श्रमिकों से अलग समझते है तो फिर उनका एक सामाजिक वर्ग कैसे हो सकता है। एक वर्ग के सदस्यो की भावना समान होती है और यदि उनकी भावना समान नही है तो वे एक वर्ग का निर्माण नहीं कर सकते। मार्क्स का कथन था कि समान आर्थिक दशाएँ वर्ग के सदस्यो में समान विचारो एवं दृष्टिकोणों, अर्थात् वर्ग-चेतना को जन्म देती हैं। परन्तु मैकाइवर के अनुसार, आर्थिक

कसौटी पर परिभाषित वर्ग-सदस्यता एवं आत्मनिष्ठ वर्ग-चेतना के मध्य कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। टानी (Towney) का कथन है कि "वर्ग के तथ्य को वर्ग-चेतना जो भिन्न वस्तु है, के साथ भ्रान्ति से बचना आवश्यक है। तथ्य चेतना को उत्पन्न करता है, चेतना तथ्य को नहीं।"

उपर्युक्त के अतिरिक्त मार्क्स उद्योगवाद के भावी विकास को ठीक न देख सका। अब प्रबंधकीय कार्य स्वामित्व के कार्यों से भिन्न है तथा एक नए मध्य वर्ग, जिसमें क्लर्क, निचले पदों पर काम करने वाले प्रबंधक तथा तकनीकी व्यक्ति शामिल हैं, का जन्म हुआ है। मध्य वर्ग के विकास ने पूंजीपति एवं औद्योगिक श्रमिकों के दो विलग गुटों की ओर प्रवाह को समाप्त कर दिया है। इस प्रकार, आधुनिक संसार में वर्गों के विकास के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई है। वर्गों के मध्य विभेद केवल आर्थिक नहीं है, अपितु सामाजिक, राजनीतिक, दृष्टिकोणीय तथा जीवन-शैली पर आधारित है। मनुष्य का व्यवहार पूर्णतया आर्थिक हितों से ही अभिप्रेरित नहीं होता।

८. वैबलिन का अवकाश वर्ग का सिद्धान्त

(Veblen's Theory of Teisure Class)

थार्सटेन वैबलिन (Thorstein Veblen) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अवकाश-वर्ग का सिद्धान्त' (The theory of the leisure class), १८९९ में प्रकाशित, में अवकाश-वर्ग के आरम्भ, उसकी प्रकृति और विशेषताओं का विश्लेषण किया है। उन्होने मानव-संस्कृति को प्रमुख तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है—जंगली, बर्बर और सभ्य। इन तीन अवस्थाओं को उन्होंने पुनः निम्न और उच्च में विभक्त किया है। निम्न जंगली समाजों का कोई 'अवकाश-वर्ग' नहीं था। विभेदीकरण प्रमुखतया नर और नारी के बीच श्रम-विभाजन पर आधारित था। नारी को घटिया काम सौंपे जाते थे। आदिम समाज के योद्धा समाज में परिवर्तन के साथ ही 'अवकाश-वर्ग' प्रकट हुआ। ऐसे वर्ग को उत्पन्न करने वाली दो अवस्थाएँ थीं: जीवन का पर-भक्षी ढंग (predatory mode of life) और जीवन की आवश्यकताओं का पर्याप्त या उचित सभरण (adequate supply of the necessities of life)। अंतोक्त अवस्था ने लोगों के एक समूह को उत्पादन-श्रम से मुक्त करना सम्भव बना दिया। लोगों के एक ऐसे समूह का जन्म हुआ, जो कोई उत्पादन-कार्य नहीं करता था। वे अपना समय अपने आप को बिना किसी औद्योगिक व्यवसाय में लगाए अवकाश में व्यतीत करते थे और इसी प्रकार अवकाश-वर्ग और श्रमिक-वर्ग में विभेद उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अवकाश-वर्ग की परिभाषा हुई, "लोगों का ऐसा समूह जो सामाजिक संतुष्टियों के उत्पादन में कोई योगदान नहीं देता और जिसके पास अपने अवकाश का आनन्द उठाने के लिए काफी धन है।" वे अपने कुछ या बहुत से विशेषाधिकार बनाए रखते हैं, यद्यपि वे अपने कार्यात्मक महत्व को खो बैठते हैं। काम से छूट अवकाश-वर्ग की एक प्रमुख विशेषता है, जो इसे निम्न वर्गों से भिन्न बनाती है। बर्बरता की निम्न अवस्थाओं में वैबलिन का कथन है कि अवकाश-वर्ग अभी अपनी आरम्भिक अवस्था में है। बर्बरता की उच्च अवस्थाओं में रोजगार

के आधार पर यह विभेद पूर्ण हो जाता है और अवकाश-वर्ग पूर्णतया स्थापित हो जाता है।

कुछ समाजों में कुछ लोगों के लिए किसी भी प्रकार के कार्य की पूर्ण वर्जना (taboo) होती है। वैबलिन ने पोलिनीशियन सरदारों का उदाहरण दिया है, जिन्हें अपने आप खाने की मनाही है। वे भूखे मर जायेंगे, परन्तु अपने मुंह मे स्वयं भोजन नहीं डालेंगे। एक फ्रांसीसी बादशाह की कथा है जो आग के पास बिछाई हुई कुर्सी को नौकर की अनुपस्थिति में न उठा सकने के कारण जलकर मर गया।

यद्यपि उन आधारों में, जिनकी बिना पर अवकाश-वर्ग बना था, परिवर्तन हो गया है, फिर भी वे आधुनिक समाज में बने हुए हैं। छोटे या घटिया काम के लिए आज भी आदतन नफरत है। तथाकथित उच्च वर्ग कोई काम नहीं करते। उनके पास काफी संगृहीत धन है। उन्हें काम करने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार आज भी कुछ लोग सामाजिक तुष्टियों के लिए कोई उत्पादन-कार्य नहीं करते। उनके *पास अपने उपभोग के लिए काफी रुपया है। वैबलिन के अनुसार संगृहीत धन,* आधुनिक समाज में उच्च और निम्न के विभेदीकरण में नितान्त महत्वपूर्ण आधारों मे से एक है। वैबलिन का कथन है कि अब हम देखते हैं कि "आधुनिक संस्कृति आर्थिक सस्कृति (pecuniary cutture) में परिवर्तित हो रही है, जिसकी विशेषताएं हैं आर्थिक स्पर्द्धा, आर्थिक जीवन-स्तर, आर्थिक अभिरुचियाँ और इन सबके साथ उत्कृष्ट अवकाश और उत्कृष्ट उपभोग।"

अवकाश-वर्ग यद्यपि समाज के सामाजिक रूप से उत्पादनशील सदस्यों के सहारे स्थित है, फिर भी इसका अपना सामाजिक महत्व है। यद्यपि उनकी समाज को कोई वास्तविक देन नहीं हैं, तथापि वे श्रमिक-वर्ग के सदस्यों के लिए स्वप्नों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह कहा गया है कि प्रत्येक समाज में कुछ शौकीन अभिजाततंत्र होना चाहिए, जिसकी ओर साधारण जन देखें। परन्तु ऐसा वर्ग छोटा होना चाहिए। यदि यह जनसंख्या का एक बड़ा भाग हो जाएगा तो यह अपने विशेषाधिकारों को बनाए रखने के लिए सत्ता का प्रयोग कर सकता है, जिससे सामाजिक असंतुलन उत्पन्न होगा।

९. वर्ग चेतना
(Class Consciousness)

वर्ग-चेतना क्या है ? (What is class consciousness ?)—समाज में वर्ग-चेतना कुछ न कुछ मात्रा अथवा किसी न किसी रूप मे अधिकांशतः सर्वव्यापी है। वर्ग-चेतना "वह भावना है जो मानव के अपने तथा अन्य वर्गों के सदस्यों के बीच सम्बन्ध को अंकित करती है।"[1] यह "वर्ग के सदस्यों के साथ व्यवहार एवं

1. "Class consciousness is the sentiment that characterizes the relations of men toward the members of their own and other classes."—MacIver, *Society*, p. 358.

दृष्टिकोण की समानता को अनुभव करने से संबंधित है।"[1] यह वर्ग का 'आंतरिक स्वरूप' है जो उन व्यक्तियों को जो स्वयं को अन्य वर्गों से अलग समझते हैं, मिलता है। मानहीम (Mannheim) के अनुसार, वर्ग-चेतना "सामाजिक अवसरों की समानता का ज्ञान है, हितों की समानता के बारे में विचार की उत्पत्ति है, अनुभवों की इस समानता से संबद्ध भावनात्मक बंधन का विकास है, तथा किसी साझे सामान्य लक्ष्य की ओर साझा प्रयत्न है।"[2] वर्ग-चेतना ऐसा साधन है, जिसके द्वारा ऐसे व्यक्तियों, जिनकी समान सामाजिक प्रस्थिति एवं जीवन-अवसर होते हैं, का आध्यात्मिक एकीकरण साझी सामूहिक गतिविधि का रूप धारण कर लेता है। श्रमिकों के वर्ग-चेतना इस बात में है कि वे समझें कि उनके स्वार्थ साझे के हैं और चूंकि उनके स्वार्थ साझे के हैं, इसलिए उनमें वर्ग-संगठन होना चाहिए, जिससे वे अपने साझे शत्रु पूंजीपति का सफलतापूर्वक सामना कर सकें। कार्ल मार्क्स ने श्रमिक-वर्ग में वर्ग-चेतना के विकास पर अत्यधिक बल दिया है। उसका प्रयत्न श्रमिकों में उनकी संयुक्त (corporate) क्षमता की चेतना की वृद्धि करना था। इसलिए उसका यह नारा था, "दुनिया भर के मजदूरो इकट्ठे हो जाओ।" परन्तु केवल वर्ग-चेतना से ही किसी वर्ग को सक्रिय नहीं बनाया जा सकता, यह तो केवल समान गतिविधियों के सरल विकास के लिए भूमि तैयार करती है, जो सामाजिक आंदोलनों के विकास के लिए अनुकूल होती है। वर्ग का कोई अंग ऐसा अवश्य उत्पन्न होना चाहिए, जो इस चेतना को क्रियाशीलता का रूप दे। ऐसा सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग राजनीतिक दल है। यही कारण है कि लेनिन ने मार्क्सवाद में श्रमिकों को क्रांति के लिए तैयार करने हेतु दल के विचार का योग किया।

वर्ग-चेतना की शर्तें (The Conditions of cousciousness)—वे कौन-सी शर्तें हैं जिनके कारण किसी वर्ग के सदस्यों में चेतना आती है? गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने तीन शर्तों का उल्लेख किया है।[3] पहली है, सामाजिक गतिशीलता की सुविधा और मात्रा। यदि दोनों ओर गतिशीलता सुगम और तेज होगी तो जीवन-यापन के भेद मिट जायेंगे। यदि गतिशीलता असम्भव है तो विभिन्न वर्गों के सदस्यों की एक-दूसरे के प्रति प्रवृत्तियाँ अभ्यस्त और अर्धस्वचालित हो जायेंगी। यदि यह सम्भव है, परन्तु सुगम नहीं तो विभेदों की चेतना बढ़ जायगी। वर्ग-चेतना की दूसरी शर्त प्रतिस्पर्धा और संघर्ष है जब किसी वर्ग के सदस्यों के हित साझे के होते हैं। स्वार्थ तभी साझे के होते हैं जब कोई साझा दुश्मन हो। उदाहरण के लिए, साझे हितो वाले मजदूरों में वर्ग-चेतना होती है, क्योंकि उन्हें साझे शत्रु पूंजीपति से अपनी रक्षा करनी होती है। उनका वर्ग लक्षण में साहचर्यिक है। तीसरा तत्व है साझी रीति-रिवाजों का विकास, जिसमें मूल्यों के साझे मानक और साझे अनुभव होते हैं। जब सदस्यों की परम्पराएं साझी हो जाएं और उनके अनुभव साझे हो जाएं तो उनमें वर्ग-चेतना की भावना आ जाती है।[4]

1. ... in the realization of a similarity of attitude and behaviour ... Sociology, p. 163.
2. ... the similarity of social chances, ... interests, the growth of an emotional ... experiences and of a common ... heim, *Systematic Sociology*, p. 127
3. Ginsberg ...
4. Ibid., 163-64.

सोरोकिन (Sorokin) के अनुसार, आदर्श समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमताओं के अनुसार रोजगार और पद को प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय है कि व्यक्तियों के लिए अपनी सामाजिक स्थिति को बदलने और सुधारने के सुविधा-मार्ग खुले हों। अतः सुविधा का सामाजिक गतिशीलता से सम्बन्ध है। सिद्धान्त रूप मे तो एक गतिशील समाज यह अवसर प्रदान कर सकता है, परन्तु व्यावहारिक रूप मे कठिन है। सुविधा का अर्थ है कि व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य और स्थिति प्रदान की जाए। इसलिए यह आवश्यक है कि किसी निश्चित कसौटी (criterion) और पर्याप्त परीक्षणों द्वारा व्यक्ति की योग्यताओं का निर्धारण किया जाए। परन्तु गतिशील समाजों में परीक्षण की विधियाँ अपर्याप्त रही हैं और उसका परिणाम यह हुआ कि समाज प्रत्येक व्यक्ति के साथ योग्यतानुसार व्यवहार करने में असफल रहा। उसका परिणाम यह होता है कि घुसपैठिए, उत्तरदायित्वहीन जोखिम उठाने वाले, छल नेता और खुशामदी उन उच्च पदों को प्राप्त कर लेते हैं, जिनके वे योग्य नहीं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि गतिशील समाजों में प्रत्येक को उचित स्थान दिया जाता है। दूसरी ओर कुछ अगतिशील समाज हैं (जैसे भारतीय), जिनमें स्थितियों की बाँट इतनी बुरी नहीं है। हाँ, सोरोकिन का यह विचार था कि सामाजिक गतिशीलता गम्भीर कमियों या दोषों के बावजूद भी सामाजिक उन्नति और भलाई को सुगम बनाती है। यह भी समझ रखना चाहिए कि सामाजिक गतिशीलता ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि इसमें असमानता कम हो।

संसृष्ट वर्ग-चेतना (Corporate class consciousness)—मैकाइवर ने संसृष्ट वर्ग-चेतना तथा प्रतियोगात्मक वर्ग-भावना के बीच अंतर किया है।[1] संसृष्ट वर्ग-चेतना ऐसा भाव है, जो समान सामाजिक स्थिति का भोग करने वाले समूचे समूह को एकीभूत करता है। श्रमिक-वर्ग में संसृष्ट वर्ग-चेतना सबसे अधिक देखने में मिलती है जिसका विकास शक्तिशाली आर्थिक अभिप्रेरणाओं की उत्तेजना के कारण हुआ तथा जिसे पूर्ण स्थिति को ध्वस्त करने या कायम रखने के संघर्ष से अधिक बल मिला। कार्ल मार्क्स ने श्रमिक-वर्ग में संसृष्ट वर्ग-चेतना की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया। उसका लक्ष्य सम्पत्तिहीन मजदूरों, सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग के संगठन और उसकी एकता का विकास करना था। उसके अनुसार, सर्वहारा वर्ग अनिवार्यतः सम है। इसके हित साझे हैं तथा बूर्जुआ की दया पर निर्भर है। अतएव इस वर्ग के सदस्यों में किसी प्रकार का प्रतियोगितात्मक संघर्ष उनके सामान्य हित एवं संगठन के लिए हानिकारक है।

प्रतियोगितात्मक वर्ग-भावना (Competitive class feeling)—प्रतियोगितात्मक वर्ग-भावना आधुनिक समाज में विकसित प्रतियोगितात्मक प्रणाली की विशेषता है। यह "वर्ग-भावना का वैयक्तिक प्ररूप है जो समूचे समूहों की स्पष्ट मान्यता अन्तर्भूत किए बिना एक-दूसरे के प्रति व्यक्तियों के आचरण का निश्चय करता है।"[2] यदि श्री 'क' श्री 'ख' को क्लब में निर्वाचन की असम्मति प्रकट करे तो

1. MacIver, *Society*, p. 359
2. *Ibid.*, p. 360.

'क' यह नहीं समझता कि इसके द्वारा अपने समूचे वर्ग के हित व स्तरों का उसने समर्थन किया है। अथवा जब श्री 'क' श्री 'ख' को आश्रय देता है तो इसका भी अर्थ यह नहीं है वह श्री 'ख' के वरिष्ठों की सम्पूर्ण व्यवस्था से एकात्म अनुभव करता है। ऐसी दशाओं में श्री 'क' का आचरण विशिष्ट वयक्तिक है जो प्रतियोगितात्मक वर्ग-भावना की अभिव्यक्ति है। मैकाइवर के अनुसार, संसृष्ट वर्ग-चेतना तथा प्रतियोगितात्मक वर्ग-भावना मूलत: प्रतिरोधी हैं। पूर्वोक्त वर्ग के साझे हित का प्रकटीकरण है, जबकि अंतोक्त अधिक मात्रा में व्यक्तिगत अथवा स्वसीमित हित को प्रकट करता है।

वर्ग-चेतना जातीय तत्व की मात्रा के अनुसार शक्तिशाली या निर्बल होती है। जब सामाजिक दशाएं तथा रीति-रिवाज जीवन में मनुष्य की प्रस्थिति को स्थिर कर देते हैं तो वह अपने वातावरण के अन्य मनुष्यों के साथ स्वयं को अनुकूलित करता है। जातिप्रधान समाज में, उदाहरणतया भारतीय समाज में, वर्ग-भावना का रूप शक्तिशाली है, जैसा कि हरिजनों में है। इसलिए जब प्राधिकारयुक्त धर्म की रीतियाँ समाज की लगाम को मजबूती से पकड़े हुए हों, तो समूह के सभी व्यक्ति अपने वरिष्ठों का आदर करते हैं। परन्तु यदि रीतियाँ टूट जाएं तो महान् सामाजिक परिवर्तन आ जाता है। निम्न श्रेणी के लोग अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों एवं उद्यमों के बलबूते पर सामाजिक पदक्रम में ऊपर चढ़ जाते हैं। यदि यह विश्वास आम हो जाए कि प्रस्थिति कोई दृढ़ अथवा कठोर वस्तु है और उच्च प्रस्थिति को व्यक्तिगत रूप से प्राप्त किया जा सकता है तो सामाजिक वर्ग-संगठन टूट जाता है और वर्ग-चेतना निर्बल हो जाती है। दूसरे शब्दों में वर्ग-चेतना की भावना मुक्त समाज की अपेक्षा बंद समाज में अधिक दृढ़ होती है। यह भी देखा जा सकता है कि आधुनिक समाजों में वर्ग-स्तरीकरण अस्थिर अवस्था में है। कुछेक समाजों, यथा साम्यवादी समाजों में अनम्य वर्ग-संगठन है, जबकि अन्य में व्यक्ति प्रजातंत्रीय संगठन की ओर बढ़ रहे हैं, जिसमें वर्ग-भावना पर कम बल दिया जाता है।

प्रश्न

१. सामाजिक वर्ग की परिभाषा कीजिए तथा आधुनिक समाज में वर्ग-संरचना का वर्णन कीजिए।

२. प्रस्थिति का क्या अर्थ है? इसका निर्धारण किस प्रकार होता है? व्यक्ति के लिए इसका क्या महत्व है?

३. वर्ग की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

४. वर्ग-चेतना से आप क्या समझते हैं? संसृष्ट वर्ग-चेतना तथा प्रतियोगितात्मक वर्ग-भावना के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

५. प्रजातंत्रीय समाजों में सामाजिक स्तरीकरण को आप किस प्रकार युक्तिसंगत सिद्ध करेंगे?

६. वर्ग-प्रणाली के क्या गुण हैं?

७. आपके समाज में वर्ग-चेतना किस सीमा तक वर्तमान है? क्या यह बढ़ रही है या घट रही है? क्यों?

८. सामाजिक वर्ग जीवन-शैली को किस प्रकार प्रभावित करता है?

अध्याय २१

भारत में सामाजिक स्तरीकरण

[SOCIAL STRATIFICATION IN INDIA]

भारत में सामाजिक स्तरीकरण का एक विशेष रूप पाया जाता है, जिसे जाति-व्यवस्था कहा जाता है। यद्यपि संसार के अनेक भागों, यथा मसाई (Massai), पोलिनेशियन (Polynesians), बर्मा एवं अमेरिका में जाति-व्यवस्था के प्रमाण मिलते हैं, तथापि भारत जाति-व्यवस्था का सबसे पूर्ण उदाहरण है। यहाँ हमें एक ऐसा सामाजिक संगठन मिलता है, जो अनेक तत्वों से निर्मित अपने किसी शिवालय की भाँति विशद्, परन्तु कहीं अधिक जटिल है।[1]

१. जाति की परिभाषा

(The Meaning of Caste)

अंग्रेजी भाषा का शब्द 'caste' स्पेनिश भाषा के शब्द 'casta' से लिया गया है। 'कास्टा' शब्द का अर्थ है 'नस्ल, प्रजाति अथवा आनुवंशिक तत्व या गुणों का संग्रह'। पुर्तगालियों ने इस शब्द का प्रयोग भारत के उन लोगों के लिए किया, जिन्हें 'जाति' के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी शब्द 'caste' मौलिक शब्द का ही समंजन है।

विभिन्न परिभाषाएँ (Various definitions)—'जाति' शब्द की विभिन्न परिभाषाएं निम्नलिखित हैं—

(i) "जाति परिवारों का संग्रह अथवा समूह है जो एक ही पूर्वज, जो काल्पनिक मानव या देवता हो, से वंश-परम्परा बताते हैं और एक ही व्यवसाय करते हों और उन लोगों के मत में जो इसके योग्य हों, एक सजाति समुदाय माना जाता हो।"[2] —रिजले

(ii) "जाति एक अनमनीय सामाजिक वर्ग है, जिसमें मनुष्यों का जन्म होता है और जिसे वे बड़ी कठिनाई से ही छोड़ सकते हैं।"[3] —लुंडबर्ग

---

1. Case, C.M., *Outlines of Introductory Sociology*, p. 516.
2. "Caste is a collection of families or group of families bearing a common name ; claiming a common descent from a mythical ancestor, human or divine : professing to follow the same hereditary calling, and regarded by those who are competent to give an opinion as forming a single homogeneous community." Risley, *People of India*
3. "A caste is merely a rigid social class into which members are born and from which they can withdraw or escape only with extreme difficulty." Lundberg, *Sociology*, p. 476.

(iii) "जाति एक अन्तर्विवाही समूह या समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता पैतृक होती है और जो अपने सदस्यों पर सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध लगाती है। जो एक परम्परागत सामान्य पेशे को करती है या एक सामान्य उत्पत्ति का दावा करती है और सामान्यतया एक सजातीय समुदाय को बनाने वाली समझी जाती है।"[1] —ब्लंट

(iv) "जब वर्ग पूर्णतया आनुवंशिकता पर आधारित होता है, तो हम उसे जाति कहते हैं।"[2] —कूले

(v) "जब प्रस्थिति पूर्णतया पूर्वनिश्चित हो, ताकि मनुष्य बिना किसी परिवर्तन की आशा के अपना भाग्य लेकर उत्पन्न होते हैं, तब वर्ग जाति का रूप धारण कर लेता है।"[3] —मैकाइवर

(vi) "जाति दो विशेषताएँ रखने वाला एक सामाजिक समूह है: (i) सदस्यता उन्हीं तक सीमित होती है, जो सदस्यों से उत्पन्न होते हैं और इसमें इस तरह उत्पन्न सभी व्यक्ति शामिल होते हैं, (ii) सदस्यों को एक अनुल्लंघनीय सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिया जाता है।"[4] —केतकर

(vii) "जाति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है, जिनके कर्तव्यों तथा विशेषाधिकारों का हिस्सा जन्म से निश्चित होता है, जो जादू तथा धर्म दोनों से समर्थित तथा स्वीकृत होता है।"[5] —मार्टिन्डेल और मोनोकेसी

(viii) "जाति अन्तर्विवाही समूह या ऐसे समूहों का संकलन है, जिनका एक सामान्य नाम होता है, जिनका परम्परागत व्यवसाय होता है, जो अपने को एक ही मूल से उद्भूत मानते हैं और जिन्हें साधारणतया एक ही सजातीय समुदाय का अंग समझा जाता है।"६ —ई० ए० गेट

---

1. ... "...on of endogamous groups, bearing a ... imposing on its members ... urse; either following a ... ion origin; and generally ... munity." —E A H. Blunt.
2. "When a class is somewhat strictly hereditary, we may call it a caste" ..., ...al Organization p. 211.
3. ... re born to their lot ... treme form of caste."
4. ... "—(i) ... embership is confined ... all persons so born, (ii) the ... cial law to men outside the ... 15.
5. ... of obligations and privileges are fixed by birth, ... religion and usage."—Martindale and Monochesi.
6. "Caste is an endogamous group or collection of such groups bearing a common name, having the same traditional occupation claiming descent from the same source, and commonly regarded as forming a single homogeneous community."—E. A Gait.

(ix) "जाति स्तरीकरण की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें प्रस्थिति की सीढ़ी पर ऊपर या नीचे की ओर गतिशीलता, कम से कम आदर्शात्मक रूप में नहीं पायी जाती।"[1] —ग्रीन

(x) "जाति सामाजिक वर्गीय संरचना का वह कठोर रूप है, जिसमें व्यक्तियों का पद, प्रस्थिति-क्रम में, जन्म अथवा आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित होता है।"[2]

इस प्रकार, विचारकों ने जाति की परिभाषा विभिन्न ढंग से की है। परन्तु जैसा घुरये (Ghurye) ने लिखा है, "इन विद्वानों के परिश्रम के बावजूद भी जाति की कोई वास्तविक सामान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है।"[3] जाति के अर्थ को समझने का सर्वोत्तम ढंग जाति-व्यवस्था में अन्तर्भूत विभिन्न तत्वों को जान लेना है।

मेगस्थनीज, ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के चीनी यात्री, ने जाति-व्यवस्था के दो लक्षण बतलाए थे। वह लिखता है, "इसे अन्य जाति के व्यक्ति के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं होती, न ही एक व्यवसाय या व्यापार को छोड़कर दूसरा व्यवसाय या व्यापार, तथा न ही एक व्यक्ति को एक से अधिक व्यवसाय करने की अनुमति होती है, सिवाय दार्शनिक जाति के सदस्य को, जिसे उसकी प्रतिष्ठा के कारण ऐसा करने की अनुमति दे दी जाती है।"[4] इस प्रकार, मेगस्थनीज के अनुसार जाति-व्यवस्था के दो तत्व हैं—(i) अन्तर्विवाह की मनाही, तथा (ii) व्यवसाय को नहीं बदला जा सकना। मेगस्थनीज का विचार यद्यपि जाति-व्यवस्था के दो प्रमुख लक्षणों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, तथापि यह इस व्यवस्था का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं करता। जाति-व्यवस्था का सम्पूर्ण विचार प्राप्त करने के लिए इसकी निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है—

(1) समाज का खंडात्मक विभाजन (Segmental division of society)—जाति-व्यवस्था के अंतर्गत समाज अनेक जातियों में विभक्त होता है। प्रत्येक जाति का अपना जीवन होता है, जिसकी सदस्यता जन्म के आधार पर निर्धारित होती है। व्यक्ति की प्रस्थिति उसके स्थान पर नहीं, अपितु उस जाति के परम्परागत महत्व पर निर्भर करती है, जिसमें उसे जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जाति आनुवंशिक होती है। धन, पश्चात्ताप अथवा प्रार्थना की कोई माया उसकी जाति-स्थिति को नहीं बदल सकती। प्रस्थिति का निर्धारण व्यवसाय से नहीं, अपितु जन्म से होता है। मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है, "पूर्वी सभ्यता में वर्ग एवं प्रस्थिति का मुख्य निर्णायक तत्व जन्म है तो पाश्चात्य सभ्यता में धन के निर्धारक तत्व के रूप में समान अथवा अधिक महत्व है तथा धन जाति की अपेक्षा कम अनमनीय तत्व है।"[5] जाति के

1. "Caste is a system of stratification in which mobility, up and down the status ladder, at least ideally may not occur."—Green, *Sociology*, p. 202.
2. "Caste is that extreme form of social class organization in which the position of individuals in the status hierarchy is determined by descent and birth." Anderson and Parker, *Socolgy*, p. 370
3. "With all the labours of these students, however, we do not possess a real general definition of caste."—Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, p. 6.
4. *Ibid*, p. 1.
5. MacIver, *op. cit*, p. 124.

विभिन्न सदस्यों के व्यवहार को नियमित एवं नियंत्रित करने हेतु जाति-परिषदें होती हैं। यह परिषद् संपूर्ण जाति पर शासन करती है तथा सर्वाधिक शक्तिशाली संगठन होती है जो सभी सदस्यों को उनके उचित स्थानों पर रखती है। जाति की शासक संस्था को पंचायत कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है पाँच सदस्यों की संस्था, परन्तु वास्तव में इस संस्था मे अधिक व्यक्ति भी निर्णय के समय इकट्ठे हो सकते थे। यह वर्जनाओं के विरुद्ध दोषों का निर्णय करती थी। इन वर्जनाओं में अधिकांशतः ऐसी बातें हुआ करती थीं जो दूसरी जाति के सदस्यों के साथ खाने, पीने, हुक्का पीने तथा विवाह सम्बन्धी बातें, जिनमें जाति से बाहर विवाह मना था, से संबंधित थीं। यह दीवानी एवं फौजदारी मामलों का निर्णय करती थी। पंचायत इतनी अधिक शक्तिशाली होती थी कि यह अंग्रेजी शासन-काल में सरकारी न्यायालयों के द्वारा निर्णीत मुकदमों का पुनः निर्णय किया करती थी। इसके द्वारा दिए गए मुख्य दंड—(i) जुर्माना, (ii) अपने सजातियों को प्रीतिभोज, (iii) शारीरिक दंड, (ivi) धार्मिक पवित्रता, यथा गंगा-स्नान आदि एवं (v) जाति-बहिष्कार आदि हुआ करते थे। संक्षेप में, जाति स्वयं अपनी शासक होती है। इसका अपना छोटा एवं पूर्ण सामाजिक संसार होता है। यह अपने में प्रभु संस्था, अन्तर्मुखी एवं दूसरी जातियों से विलग तथापि विशालतर एवं व्यापक समाज का भाग होती है।"[1] नागरिकों की अपनी प्रथम निष्ठा सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर जाति के प्रति होती है।

यद्यपि आधुनिक समय में न्यायालयों के विस्तार एवं जाति पंचायत के स्थान पर ग्राम पंचायत की प्रतिस्थापना से जाति पंचायत की सत्ता कुछ कम हो गई है। तथापि अब भी जाति अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित एवं प्रभावित करती है।

(ii) सामाजिक एवं धार्मिक सोपान (Social and religious hierarchy)—जाति-व्यवस्था का दूसरा महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि इसमें सामाजिक श्रेणियों का एक सुनिश्चित क्रम होता है। प्रत्येक जाति का एक परम्परागत नाम, यथा बनिया, ब्राह्मण आदि होता है, जो इसे दूसरी जातियों से विलग कर देता है। संपूर्ण समाज विभिन्न जातियों में विभाजित होता है, जिनमें उच्च तथा निम्न का विचार होता है। इस प्रकार, भारत में सामाजिक सोपान के उच्चतम शिखर पर ब्राह्मणों का स्थान है। मनु के अनुसार, "ब्राह्मण सारी सृष्टि का राजन है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति ईश्वर के सबसे पवित्र अंग 'मुख' से हुई है। ब्राह्मण के रूप मे जन्म मात्र से कोई भी व्यक्ति सनातन नियम का साकार रूप समझा जाता है। ब्राह्मणों को भोजन कराना धार्मिक पुण्य प्राप्त करने का एक मान्य ढंग है। ब्राह्मण का सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर अधिकार है। सारा संसार इसकी सम्पत्ति है तथा दूसरे लोग उसकी कृपा से जीवित हैं।" इस सम्बन्ध में विष्णु मनु से भी आगे हैं। वह लिखता है, "ऐसे हैं अदृश्य देवता है; ब्राह्मणों के सहारे संसार खड़ा है; ब्राह्मणों की कृपा से ही देव स्वर्ग में निश्चित होकर आराम करते हैं; ब्राह्मण का कोई शब्द कभी गलत सिद्ध नहीं होता। ब्राह्मण प्रसन्न होकर जो कुछ कह दें, देव उसका अनुसमर्थन कर देते हैं। जब दृश्य देव प्रसन्न हैं तो अदृश्य देव भी निश्चित रूप में प्रसन्न होंगे।"[1]

1. Ghurye, *op. cit.*, p. 91.

ब्राह्मणों की इस उच्च स्थिति के मुकाबले में शूद्रों की स्थिति पूर्णतया हीन थी। वे सार्वजनिक मार्गों, कूपों, विद्यालयों, मंदिरों आदि का उपयोग नहीं कर सकते थे। दासता शूद्रों की स्थायी स्थिति थी। प्रथम तीन जातियों के सदस्य को शूद्र के साथ यात्रा नहीं करनी चाहिए। उनके स्पर्श मात्र से बिस्तर अथवा आसन दूषित हो जाता है। कुछ अपराधों के लिए शूद्रों को कठोर दंड दिया जाता था। इस प्रकार, कौटिल्य के अनुसार, "यदि कोई शूद्र ब्राह्मण स्त्री की पवित्रता को भंग करता है तो उसे जीवित जला दिया जाएगा। यदि वह किसी ब्राह्मण को गाली देता है अथवा उस पर आक्रमण करता है तो उसे उसके दोषी अंग को काट दिया जाएगा।"

(iii) भोजन एवं सामाजिक समागम पर प्रतिबन्ध (Restrictions on feeding and social intercourse)—जाति-व्यवस्था का एक अन्य तत्व यह भी है कि उच्च जातियाँ अपनी रस्मी पवित्रता की सुरक्षा हेतु अनेक जटिल वर्जनाएँ लगा देती हैं। प्रत्येक जाति अपनी उपसंस्कृति का विकास कर लेती है। इस प्रकार, भोजन एवं सामाजिक समागम पर अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। किस जाति के सदस्य से किस प्रकार का भोजन स्वीकार किया जा सकता है, इस विषय पर विस्तृत नियम निर्धारित कर दिए जाते हैं। उदाहरणतया, ब्राह्मण किसी भी जाति से घी में पका हुआ भोजन तो स्वीकार कर सकता है, परन्तु वह किसी अन्य जाति से 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं कर सकता।

उच्च जातियों द्वारा प्रतिपादित 'दूषण' का सिद्धान्त सामाजिक समागम पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देता है। इस प्रकार, दूरी के बारे में प्रतिबन्ध हैं। केरल में नायर को नम्बूदरी ब्राह्मण के निकट आने की आज्ञा तो है, परन्तु वह उसे छू नहीं सकता; तियान (Tiyan) के लिए यह आदेश था कि वह ब्राह्मण से छत्तीस कदम दूर रहे, जबकि पुलयान (Pulayan) छियानबे कदम दूर रहता था। पुलयान को किसी भी हिन्दू जाति के निकट नहीं आना चाहिए। यदि निम्न जाति के लोग कूपों से पानी लेंगे तो कुएँ भी दूषित हो जाएँगे। जाति के नियम इतने कठोर थे कि ब्राह्मण शूद्र के अहाते में स्नान भी नहीं कर सकता था। "ब्राह्मण वैद्य शूद्र रोगी की नब्ज देखते समय उसका हाथ नहीं छूता था, बल्कि वह उसकी कलाई पर रेशमी वस्त्र बाँधकर नब्ज देखता था, ताकि वह उसके चर्म को छूकर दूषित न हो जाए।"[1]

(iv) अन्तर्विवाह (Endogamy)—व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता था, वह आजीवन उसी जाति में रहता था। प्रत्येक जाति उपजातियों में विभक्त थी, और प्रत्येक उपजाति का यह विधान था कि वह अपने सदस्यों को अपनी उपजाति में ही विवाह की अनुमति दे। इस प्रकार प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही समूह होता है। "अन्तर्विवाह जाति-व्यवस्था का सार है।"[2] अन्तर्विवाह के नियम केवल कुछेक ही

1. Ghurye, *op. cit.*, p. 9.
2. Westermarck, E. A., *History of Human Marriage*, p. 59.

अपवाद हैं, जो अनुलोम (hypergamy) की प्रथा के कारण हैं। परन्तु प्रतिलोम विवाह (hypergamy) सहन नहीं किए जाते थे। अनुलोम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही उपजाति में विवाह करना होता है। इस नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को जाति से निष्कासित कर दिया जाता है।

(v) व्यवसाय के चयन पर प्रतिबन्ध (Lack of unrestricted choice of occupation)—जाति-विशेष के सदस्यों से उसी जाति के व्यवसाय को अपनाने की आशा की जाती है। वे दूसरे व्यवसाय को नहीं अपना सकते थे। वंशानुगत व्यवसाय को त्यागना ठीक नहीं समझा जाता था। कोई जाति अपने सदस्यों को यह अनुमति नहीं देती थी कि वे मदिरा निकालने अथवा सफाई करने का अपवित्र पेशा अपनाएं। ऐसा प्रतिबन्ध न केवल अपनी जाति की ओर से था, परन्तु दूसरी जाति के लोग भी इसे ठीक नहीं समझते थे कि अन्य जाति के लोग उनके पेशे को अपनाएं। जो व्यक्ति ब्राह्मण के घर में उत्पन्न न हुआ हो, उसे पुरोहित का कार्य करने की अनुमति नहीं थी। परन्तु अभिलेखों से पता चलता है कि ब्राह्मण सभी प्रकार के कार्य किया करते थे। मराठा आदोलन के दौरान एवं उसके उपरांत वे सैनिक बने। अकबर के शासन-काल में वे व्यापारी तथा खेतिहर बने। आजकल भी भले ही ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करते हैं, तथापि पुरोहिताई केवल ब्राह्मणों का ही व्यवसाय है। इसी प्रकार आजकल क्षत्रिय एवं वैश्य अपने मूल व्यवसाय के अतिरिक्त भले ही अन्य कई व्यवसाय करते हैं, तथापि वे अधिकांशतः अपने मूल व्यवसाय में ही संलग्न हैं। थोड़े बहुत अपवादों को छोड़कर प्रत्येक व्यवसाय प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति के लिए खुला हुआ है। बेन्स (Baines) ने लिखा है, "जाति का व्यवसाय परम्परागत है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस जाति के सभी सदस्य अपनी आजीविका उसी व्यवसाय से कमाते हैं।"[1]

(vi) सिविल एवं धार्मिक अक्षमताएँ (Civil and religious disabilities)—साधारणतया अशुद्ध जातियों को नगर की बाहरी सीमा पर रखा जाता है। दक्षिणी भारत में नगर अथवा ग्राम के कुछेक मार्गों में छोटी जातियों के लोग नहीं रह सकते। ऐसा उल्लिखित है कि मराठों और पेशवाओं के शासन-काल में पूना नगर के अन्दर तीन बजे दोपहर से नौ बजे प्रातः काल तक महार और मंग जातियों के सदस्यों को आने की अनुमति नहीं थी, क्योंकि उक्त समय में उनकी परछाईं इतनी बड़ी होती थी कि दूर बैठा उच्च जाति का व्यक्ति भी अपवित्र हो सकता था। सारे भारत में शूद्र जाति के लोगों को उन कुओं से पानी भरने की आज्ञा नहीं थी, जहाँ से उच्च जाति वाले लोग पानी भरते थे। पब्लिक स्कूलों में चमार एवं महार जाति के बच्चों को प्रवेश नहीं मिलता था। शूद्र लोग वेदादि का अध्ययन नहीं कर सकते थे। स्वामी माधवराव के काल में पेशवा सरकार ने यह नियम बनाया था कि चूँकि महार अतिशूद्र हैं, अतएव ब्राह्मण उनके विवाह संस्कार सम्पन्न न करवाएँ। शूद्र मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। ब्राह्मण को मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जा सकता था। कैद की स्थिति में उसके साथ दूसरों की अपेक्षा उदार व्यवहार किया जाता था।

1. Baines, Athelstane, *Ethnography, Castes and Tribes*, p. 11.

२. वर्ग एवं जाति में अन्तर
(Difference Between Caste and Class)

ऊपर हमने जाति-व्यवस्था के लक्षणों का वर्णन किया है, जो साधारणतया वर्ग की अवधारणा में नहीं पाए जाते। जाति तथा वर्ग के बीच अन्तर को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है, "जबकि पूर्वी सभ्यताओं में वर्ग एवं प्रस्थिति का मुख्य निर्धारक जन्म था, पाश्चात्य सभ्यताओं में धन समान अथवा अधिक महत्वपूर्ण वर्ग-निर्धारक तत्व है। धन जन्म की अपेक्षा कम अनमनीय निर्धारक है; यह अधिक स्थूल है, अतः इसके दावों को अधिक सुगमता से चुनौती दी जाती है। यह 'मात्रा' का विषय है। इसमें 'प्रकार' के अन्तर उत्पन्न नहीं होते। ये अन्तर पृथक्करणीय, हस्तांतरणीय एवं उपार्जनीय होते हैं। इसमें भेद की ऐसी स्थायी रेखा नहीं होती जैसी जन्म का तत्व खींच देता है।"[1] वर्ग का जाति से अन्तर स्पष्ट करते हुए आगबर्न एवं निमकाफ ने लिखा है, "कुछ समाजों में व्यक्तियों के लिए सामाजिक शृंखला में ऊपर या नीचे जाना असामान्य नहीं है। जहाँ ऐसा सम्भव है, वह समाज 'उन्मुक्त' (open) वर्गों का समाज होता है। दूसरे समाजों में ऐसा उतार-चढ़ाव कम होता है, व्यक्ति उसी वर्ग में आजीवन रहते हैं जिनमें उनका जन्म होता है। ऐसे वर्ग 'बन्द' (closed) वर्ग होते हैं और यदि इनके बीच अति विभेद किया जाए तो जाति-व्यवस्था का निर्माण हो जाता है।"[2] जब वर्ग आनुवंशिक बन जाता है तो उसे, कूले के अनुसार, जाति कहते हैं।

वर्ग तथा जाति में अन्तर की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(i) उन्मुक्त बनाम-बन्द (Open vs. closed)—वर्ग जाति की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त होता है। हिलर (Hiller) ने लिखा है, "वर्ग-व्यवस्था उन्मुक्त व्यवस्था होती है"'। यदि संस्तरीकरण उदग्र गतिशीलता (vertical mobility) के विरुद्ध बन्द बन जाता है तो यह वर्ग-व्यवस्था न रहकर जाति-व्यवस्था बन जाती है।"[3] चूँकि वर्ग उन्मुक्त होता है और नमनीय सामाजिक गतिशीलता सुगम होती है, अतएव मानव अपने उद्यम एवं परिश्रम से अपना वर्ग बदल सकता है तथा उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है। यदि कोई मनुष्य मजदूर वर्ग में जन्म लेता है तो उसके लिए आजीवन उस वर्ग में रहना तथा उसी में मृत्यु को पा जाना आवश्यक नहीं है। वह जीवन में सफलता एवं धन के लिए प्रयास कर सकता है, तथा सम्पत्ति से अपनी प्रस्थिति बदल सकता है। जाति-व्यवस्था में अपनी जाति-प्रस्थिति को बदलना असम्भव है। एक बार मनुष्य का जन्म जिस जाति में हो जाता है, वह आजीवन उसी में रहता है तथा उसके बच्चों का भाग्य भी यही होता है। इस प्रकार, जाति एक बन्द वर्ग है। व्यक्ति का सामाजिक पद उसकी जाति के पद

1. MacIver, *op cit*, p. 166.
2. Ogburn and Nimkoff, *op. cit*. p 56.
3. "A class system is an open system of rating levels . . a hierarchy become closed against vertical mobility, it ceases to be a class system and becomes a caste system " *op. cit.*, p 56.

से निर्धारित होता है, उसकी अपनी उपलब्धि का इस पद पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी ओर, वर्ग की सदस्यता वंशानुगत आधार पर निर्भर नहीं होती, अपितु व्यक्ति की सांसारिक उपलब्धियों पर निर्भर करती है। इस प्रकार, वर्ग-व्यवस्था उन्मुक्त एवं नमनीय व्यवस्था होती है, जबकि जाति-व्यवस्था बन्द एवं अनमनीय होती है।

(ii) दैविक-बनाम-धर्मनिरपेक्ष (Divine vs. secular)—दूसरे, जाति-व्यवस्था को दैविक विधान समझा जाता है। मैकाइवर ने लिखा है, "यदि कठोर धार्मिक आग्रह नहीं होते तो जाति के निश्चित सीमांकन का निर्वाह नहीं किया जा सकता था। जाति की अपनी अलौकिक उत्पत्ति की व्याख्या के साथ धार्मिक विश्वास जाति-व्यवस्था की स्थिति के लिए अपरिहार्य है। विजय के पारिणामिक रूप में दासता अथवा अधीनता से हिन्दू जाति-रचना उद्भूत हुई होगी और शायद अन्तर्विवाही समुदाय को दूसरे समुदाय के अधीन करने के द्वारा प्रजाति की शक्ति, प्रतिष्ठा तथा गर्व द्वारा समूहों के सामाजिक पृथक्करण के साथ जाति-प्रथा उत्पन्न हुई होगी। वास्तव में ये समूह स्पष्ट सामाजिक चिह्नों से अलग नहीं किए गए हैं, परन्तु उनका पृथक्करण पारिणामिक स्थिति के बुद्धिकरण से हुआ है और धार्मिक रहस्यों से वे 'अमर' बनाए गए हैं।"[1] प्रत्येक व्यक्ति का यह धार्मिक दायित्व है कि वह अपने धर्मानुसार अपने जाति-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को पूरा करे। भगवद्गीता में ईश्वर ने चारों जातियों के कार्यों एवं कर्त्तव्यों को निर्धारित कर दिया है। व्यक्ति को अपनी जाति के कर्त्तव्यों को पूरा करना चाहिए, अन्यथा उसका पुनर्जन्म निम्न जाति में होगा, तथा उसे मोक्ष-प्राप्ति नहीं होगी। निम्न जाति के लोग यदि अपने कर्तव्यों को पूरा करते हैं तो उनका अगला जन्म उच्च जाति में होगा। यदि धर्म ने जाति-व्यवस्था को पवित्र एवं अनुल्लंघनीय न बना दिया होता तो शायद में यह इतनी शताब्दियों तक जीवित न रहती। दूसरी ओर, समाज के वर्गीय स्तरीकरण में दैवीय उत्पत्ति का कोई प्रश्न नहीं है। वर्गों की उत्पत्ति धर्मनिरपेक्ष है। उनका आधार धार्मिक विश्वास नहीं है।

(iii) अन्तर्विवाही (Endogamous)—तीसरे, जाति-व्यवस्था में विवाह साथियों का चयन जाति के अन्दर ही होता है। सदस्यों को अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करना होता है। जाति से बाहर विवाह करने वाले व्यक्ति को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वर्ग-व्यवस्था में ऐसे कोई प्रतिबन्ध नहीं होते। धनी व्यक्ति निर्धन कन्या से बिना जाति बहिष्कृत हुए विवाह कर सकता है। शिक्षित कन्या अशिक्षित व्यक्ति से शिक्षकों के वर्ग से बाहर निकाले गए बिना विवाह कर सकती है।

(iv) वर्ग-चेतना (Class consciousness)—चतुर्थ, वर्ग का निर्माण करने हेतु वर्ग-चेतना आवश्यक तत्व है, परन्तु जाति के सदस्यों में ऐसी किसी भावना-परक चेतना की अनिवार्यता नहीं है।

(v) प्रतिष्ठा (Prestige)—पाँचवें, विभिन्न जातियों की सापेक्ष सामाजिक

1. MacIver, *Ibid*, p. 183.

प्रतिष्ठा सुनिर्धारित है, परन्तु वर्ग-व्यवस्था में प्रतिष्ठा का कोई अनमनीय निर्धारित क्रम नहीं होता।

४. जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति
(The Origin of Caste System)

जाति-व्यवस्था की ठीक उत्पत्ति की खोज नहीं की जा सकती। इस व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ, ऐसा कहा जाता है। भारत-आर्य संस्कृति के अभिलेखों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है तथा उन तत्वों का निरन्तर इतिहास भी मिलता है, जिनसे जाति-व्यवस्था का निर्माण हुआ। जिन लोगों को भारत-आर्य कहा जाता है, वे भाषाशास्त्रीय दृष्टि से एक बड़े परिवार भारत-यूरोपीय अथवा भारत-जर्मन से सम्बन्ध रखते हैं। उनमें एंग्लो-सैक्सन, कैल्ट (Celts), रोमन, स्पेनिश, पुर्तगीज और ईरानी आदि सम्मिलित हैं। इन लोगों का एक वर्ग, जो ईसापूर्व २५०० वर्ष भारत पहुँचा, भारत-आर्य कहलाया।

(i) प्रजातीय सिद्धान्त (Racial theory)—डा० मजूमदार के अनुसार, जाति-प्रथा का जन्म भारत में आर्यों के आगमन के पश्चात हुआ। अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखने के लिए भारत-आर्यों ने कुछेक व्यक्तियों के समूहों के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार उन्होंने 'दास वर्ण' शब्द को दास लोगों के लिए प्रयुक्त किया। ऋग्वेद में आर्य तथा दास के अन्तर को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है। केवल रंग में ही नहीं, अपितु बोलचाल, धार्मिक प्रथाओं एवं शारीरिक लक्षणों में भी अन्तर था। ऋग्वेद में तीन वर्गों ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का बहुधा वर्णन आता है। चौथे वर्ग 'शूद्र' का वर्णन केवल एक बार मिलता है। प्रथम दो वर्ग, अर्थात् ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कवि-पुरोहित तथा योद्धा के दो व्यवसायों का क्रमशः प्रतिनिधित्व करते थे। वैश्य वर्ग में सभी सामान्य लोग थे। शूद्र वर्ग में घरेलू नौकर, जिनकी स्थिति दास-जैसी थी, शामिल थे। इन चारों वर्गों के परस्पर सम्बन्धों के बारे में ऋग्वेद में कोई विशिष्ट वर्णन नहीं है, तथापि ब्राह्मण को निश्चित रूप से क्षत्रिय से श्रेष्ठ बतलाया गया है।

(ii) राजनीतिक सिद्धान्त (Political theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों द्वारा स्वयं को सामाजिक सोपान में उच्चतम स्तर पर रखने हेतु आविष्कृत चतुर युक्ति है। डा० घुरये (Ghurye) ने लिखा है, "जाति भारत-आर्य संस्कृति का ब्राह्मणिक बच्चा है, जिसका पालन गंगा के मैदान में हुआ, जो वहाँ से भारत के दूसरे भागों में हस्तांरित किया गया।"[1] 'उत्तर-वैदिक युग' के ब्राह्मणीय साहित्य में कुछ संकर तथा बहिष्कृत जातियों का उल्लेख है। चार वर्णों में, आर्य एवं शूद्र के अन्तर को द्विज एवं शूद्र के नाम से वर्णित किया गया है। प्रथम तीन वर्णों को 'द्विज' (दो बार जन्मा) कहा गया है क्योंकि उनका यज्ञोपवीत संस्कार होता है, जो पुनर्जन्म का द्योतक है। शूद्र को 'एक जाति' कहा गया। इसके बाद

1. "Caste is a Brahmanic child of Indo-Aryan culture cradled in the land of the Ganges and thence transferred to other parts of India."—Ghurye, G. S, *op. citd*, p. 178.

'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के विभिन्न उपभागों के लिए किया गया। परन्तु इस अन्तर का कठोरतापूर्वक पालन नहीं किया गया। कभी-कभी 'जाति' शब्द का प्रयोग 'वर्ण' के लिए भी हुआ। ब्राह्मण युग में ब्राह्मणों की स्थिति में कई गुना वृद्धि हुई। निम्न तीन वर्गों को ब्राह्मण की शिक्षा के अनुसार जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया गया। राजा को भी अपना आचरण उनकी शिक्षा के अनुसार नियमित करने के लिए कहा गया। ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठता ने उसको कानून-निर्माताओं से अनेक सामाजिक विशेषाधिकार दिलवा दिए। यह कथन कि 'शूद्र' को ईश्वर ने सभी का दास बनने के लिए उत्पन्न किया, बार-बार दोहराया गया तथा उसे 'पादज' (चरणों से उत्पन्न) कहा गया।

जैसे-जैसे भारत में पुरोहित वर्ग का प्रभाव बढ़ता गया, रीति एवं आचरण के जटिल नियमों का निर्माण हुआ, जिन्हें धार्मिक पुस्तकों में सम्मिलित किया गया। ब्राह्मणों ने अपने वर्ग को बन्द कर लिया तथा दूसरे वर्गों पर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने का प्रयत्न किया। यह ठीक है कि प्रारम्भ में अनमनीय प्रतिबन्ध नहीं थे, परन्तु धीरे-धीरे पृथकत्व की अवधारणा कठोर बनती गई। रीतिगत पवित्रता ने कालान्तर में उग्र रूप धारण कर लिया। पवित्र एवं अपवित्र वस्तुओं के बीच अन्तर किया जाने लगा। भोजन एवं पान की वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाए गए। जब ब्राह्मणों ने अपने वर्ग को बन्द कर लिया तो स्वाभाविकतया अन्य वर्गों ने भी उनका अनुसरण किया।

(iii) व्यावसायिक सिद्धान्त (Occupational theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार जाति-प्रथा का उद्गम लोगों के विभिन्न समूहों द्वारा किए गए सामाजिक कार्य के स्वरूप एवं गुण में खोजा जा सकता है। अच्छे एवं सम्मानित समझे जाने वाले व्यवसायों को करने वाले व्यक्ति, उन व्यक्तियों की अपेक्षा जो गन्दे व्यवसाय करते थे, उच्च समझे गए। नैसफील्ड (Nesfield) के अनुसार, "केवल व्यवसाय ही भारत में जाति-संरचना के उद्गम का कारण है। प्रकार्यात्मक विभेदीकरण ने व्यावसायिक विभेदीकरण को जन्म दिया तथा विभिन्न उपजातियों, यथा लोहार, सोनार, चमार, बढ़ई, पटवा, तेली, नाई, धोबी, तम्बोली, कहार, गड़रिया, माली आदि का जन्म हुआ।"

(iv) परम्परागत सिद्धान्त (Traditional theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार, जाति-व्यवस्था का उद्गम दैवीय है। वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि जातियाँ ब्रह्मा, सर्वोच्च निर्माता, द्वारा निर्मित की गईं, ताकि लोग समाज के अस्तित्व-हेतु विभिन्न सामाजिक कार्यों को समरसतापूर्वक पूरा करते रहें। डा० मजूमदार के अनुसार, "यदि हम वर्णों के दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त को समाज के प्रकार्यात्मक विभाजन की आलङ्कारिक व्याख्या मानें तो यह सिद्धान्त व्यावहारिक महत्व प्राप्त कर लेता है।"

(v) गिल्ड सिद्धान्त (Guild theory)—डेंजिल इब्बाटसन (Denzil Ibbetson) के अनुसार, जातियाँ गिल्डों का परिवर्तित रूप हैं। उसके विचार में जाति-व्यवस्था तीन तत्वों की अन्त:क्रिया की उपज है। ये तत्व हैं—(i) जनजातियाँ,

(ii) गिल्ड, एवं (iii) धर्म। जनजातियों ने कुछेक निश्चित व्यवसायों को अपनाया एवं गिल्डों का रूप धारण किया। प्राचीन भारत में पुरोहितों को बड़ा सम्मान प्राप्त था। वे आनुवंशिक एवं अन्तर्विवाही समूह थे। अन्य गिल्डों ने भी समान रीतियों को अपनाया, जो कालान्तर में जातियाँ बन गईं।

(vi) धार्मिक सिद्धान्त (Religious theory)—होकार्ट (Hocart) तथा सिनार्ट (Senart) इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक हैं। होकार्ट के अनुसार, सामाजिक स्तरीकरण की उत्पत्ति धार्मिक नियमों एवं रीति-रिवाजों के कारण हुई। प्राचीन भारत में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा को ईश्वर का प्रतिबिम्ब समझा जाता था। पुरोहित राजा विभिन्न व्यावसायिक समूहों को विभिन्न पद प्रदान करते थे। सेनार्ट ने कड़े सांस्कारिक भोजन-सम्बन्धी वर्जनाओं के आधार पर जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उसका विचार है कि भिन्न पारिवारिक कर्त्तव्यों के कारण सांस्कारिक भोजन के बारे में कुछेक प्रतिबन्धों का जन्म हुआ। किसी विशेष देवता के अनुयायी स्वयं को समान पूर्वज की संतान मानते थे, एवं अपने देवता को विशिष्ट प्रकार का भोजन श्रद्धांजलि के रूप में भेंट करते थे। समान देवता में विश्वास करने वाले लोग स्वयं को उन लोगों से भिन्न समझते थे, जो अन्य किसी देवता के उपासक थे।

(vii) विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार, जाति-व्यवस्था का जन्म अचानक किसी एक नियत तिथि को नहीं हुआ। यह सामाजिक विकास की लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। वर्तमान जाति-व्यवस्था के विकास में अनेक तत्वों ने योगदान दिया है। इन तत्वों में प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(i) आनुवंशिक व्यवसाय;

(ii) ब्राह्मणों की स्वयं को पवित्र रखने की इच्छा;

(iii) राज्य के कठोर एकात्मक नियन्त्रण का अभाव;

(iv) कानून एवं प्रथा के क्षेत्र में समान नियमों को लागू करने के बारे में शासकों की अनिच्छा तथा विभिन्न समूहों के भिन्नात्मक रीति-रिवाजों को मान्यता प्रदान करने की तत्परता;

(v) पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त में विश्वास;

(vi) एकान्तिक परिवार, पूर्वजों की पूजा एवं सांस्कारिक भोजन-सम्बन्धी विचार;

(vii) विरोधी संस्कृतियों विशेषतया पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक प्रणालियों का संघर्ष;

(viii) प्रजातियों का संघर्ष, वर्ण-पूर्वाग्रह एवं विजय;

(ix) विभिन्न विजेताओं, विशेषतया अंग्रेजों द्वारा अनुसरित विचारपूर्ण आर्थिक एवं प्रशासकीय नीतियाँ;

(x) भारतीय द्वीप का भौगोलिक पृथकत्व;

(xi) हिंदू समाज का गतिहीन स्वरूप;

(xii) विदेशी आक्रमण;

(xiii) ग्रामीण सामाजिक संरचना।

उपर्युक्त सभी तत्वों ने समय-समय पर तुच्छ आधारों पर छोटे-छोटे समूहों के निर्माण को प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे इन समूहों में एकता एवं सामुदायिक भावना का विकास होता गया और ये समाज के स्थायी समूह बन गए। फिर भी यह ध्यान रहे कि जाति-व्यवस्था पर भारत का ही एकाधिकार नहीं है। यह संसार के अनेक भागों में थी और अब भी वर्तमान है। मध्ययुगीन यूरोप की सामन्ती व्यवस्था, जाति-व्यवस्था का ही एक अंग थी। कुछेक प्रजातीय समूह, यथा यहूदियों एवं हब्शियों को अमेरिका सहित अब भी अनेक सभ्य देशों में निम्न जाति का समझा जाता है। हिंदू जाति-व्यवस्था की विचित्र बात यह है कि इसमें कुछेक समूहों को अस्पृश्य एवं अगम्य समझा जाता है।

४. भारतीय जाति-व्यवस्था के गुण एवं दोष

(Merits and Demerits of Caste System in India)

जाति-व्यवस्था के गुण

समय-समय पर भारतीय जाति-व्यवस्था की विभिन्न लेखकों द्वारा आलोचना की गई है। समाज में जितनी बुराइयाँ है, उन सबके लिए जाति-व्यवस्था को दोषी ठहराया गया है। परन्तु एक मात्र यही तथ्य कि इतने आक्षेपों के बावजूद भी यह पहले की भाँति अभी तक चल रही है, इस बात का प्रमाण है कि यह व्यवस्था इतनी बुरी नहीं है, जितनी समझी जाती है। ब्राह्मणों ने २,००० वर्ष तक अपनी प्रभुता को स्थिर रखा, यह उनकी योग्यता को प्रमाणित करता है। जाति-व्यवस्था के लाभ निम्न हैं—

(i) ट्रेड यूनियन एवं अनाथालय (Trade union and orphanage)—जाति-व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को स्थिर सामाजिक पर्यावरण प्रदान करती है। हट्टन (Hutton) के शब्दों में, "व्यक्ति को समितियों का एक स्थायी निकाय मिल जाता है, जो उसके सम्पूर्ण व्यवहार एवं सम्पर्कों को नियंत्रित करते हैं। उसकी जाति विवाह-साथी के चयन में दिशा प्रदान करती है, उसके ट्रेड यूनियन के रूप में कार्य करती है। यह उसके लिए क्लब और अनाथालय है, स्वास्थ्य बीमा है तथा आवश्यकता पड़ने पर दाह-क्रिया तक का प्रबन्ध करती है।"[1]

(ii) सहयोग की भावना (Spirit of co-operatoin)—जाति-व्यवस्था एक ही जाति के सदस्यों में सद्भावना एवं सहयोग की भावना का विकास करती है।

---

1. "He is provided in this away with a permanent body of associations which control almost all his behaviour and contacts. His caste canalizes his choice in marriage, acts as his trade union, his friendly or benefit society, his state-club and his orphanage; it takes place for him of health insurance and if need be, provides for his funeral."—Hutton, *op. cit.*, pp. 66-67.

निर्धन एवं जरूरतमंदों की सहायता करती है, जिससे राज्य-सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह ईर्ष्या अथवा दुख को कम कर देती है।

(iii) **आर्थिक व्यवसायों का निर्धारण** (Defines economic pursuits)—यह व्यक्ति के आर्थिक व्यवसाय का निर्धारण करती है। प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट व्यवसाय होता है, जिससे न केवल बच्चे का भविष्य ही निश्चित हो जाता है, अपितु उसे प्रशिक्षु (apprenetice)होने का भी उचित अवसर प्राप्त होता है। चूंकि जाति के साथ व्यवसाय का तादात्म्य होता है, जिसमें परिवर्तन की ओर कम ध्यान दिया जाता है, अतएव कारीगरी में गर्व अनुभव होता है। प्राचीन भारत में कारीगरों की कई पीढ़ियाँ होती थीं, जो अपने कौशल में सिद्धहस्त थे। इस प्रकार खेतिहर भी अपने काम में निपुण हुआ करते थे।

(iv) **प्रजातीय शुद्धता** (Racial purity)—अन्तर्जातीय विवाहों पर प्रतिबंध लगाकर इसने उच्च जातियों की प्रजातीय शुद्धता को सुरक्षित बनाए रखा है। इसने सास्करिक शुद्धता पर बल देकर सफाई की आदतों का विकास किया है।

(v) **मानसिक निर्माण को प्रभावित करती है** (Influences intellectual make-up)—यह व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता को प्रभावित करती है। चूंकि जाति व्यक्ति को भोजन, संस्कार और विवाह सम्बन्धी जातिगत नियमों के पालन का आदेश देती है, अतः राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर उसके विचार उसकी जातीय प्रथाओं द्वारा प्रभावित हो जाते हैं। इससे समूहों में समानता की भावना का भी विकास होता है।

(vi) **देश का एकीकरण** (Integration of the country)–वर्ग-संघर्ष की वृद्धि किए बिना यह वर्ग-चेतना का विकास करती है। इसने वर्ग-संघर्षों एवं गुटों को जन्म दिए बिना हिन्दू समाज के दक्ष संगठन को जन्म दिया है। विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों के लोगों को एक ही समाज मे संगठित करने की यह सर्वोत्तम युक्ति थी। इसने देश को संघर्षरत प्रजातीय समूहों में विभक्त होने से बचाया। इसने भारतीय समाज को एक विशाल एवं बहुरंगी समुदाय में समन्वित किया तथा देश को सुरक्षा एवं निरन्तरता का सुनिश्चित आधार प्रदान किया, जिससे समाज की स्थिर एवं व्यवस्थित संरचना सम्भव हो सके।

(vii) **विभिन्न कार्यों की व्यवस्था** (Provides for various functions)—यह सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक विभिन्न कार्यों "शिक्षा से लेकर सफाई तक, शासन से लेकर घरेलू सेवा तक का प्रबंध करती है और यह व्यवस्था धार्मिक विश्वास कर्म सिद्धान्त में विश्वास की संपुष्टि लेकर करती है, जिससे कार्यों के विषम विभाजन को भी संसार का दैवी विधान समझ कर स्वीकार कर लिया जाता है।" यह यूरोपीय वर्ग-व्यवस्था की अपेक्षाकृत अधिक उत्तम श्रम-विभाजन की व्यवस्था करती है।

(viii) **सांस्कृतिक विसरण** (Cultural diffusion)—जाति-व्यवस्था स के अंदर सांस्कृतिक विसरण में सहायता करती है। जातीय प्रथाएँ, विश्वास,

व्यवहार एवं व्यापारिक रहस्य स्वयमेव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित हो जाते हैं। इस प्रकार संस्कृति एक युग से दूसरे युग में पहुँच जाती है।

(ix) सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का पृथक्करण (Separation of social from political life)—इसने सामाजिक जीवन को राजनीतिक जीवन से पृथक् रखकर अपनी स्वतंत्रता को राजनीतिक प्रभावों से मुक्त रखा है। एस० सी० हिल (S. C. Hill) का कहना है, "हिन्दुओं का सामाजिक जीवन राजनीतिक अवपातों से पूर्णतया अछूता रहा है।" यह एक महान् मन्दिर का कार्य भी करती है तथा जातीय देवताओं की पूजा द्वारा इसने अपनी धार्मिक व्यवस्था को बनाए रखा है।

जाति-व्यवस्था के दोष (Demerits of Caste System)

परन्तु इस व्यवस्था ने कुछ दोषों को भी जन्म दिया है—

(i) श्रम की गतिशीलता पर प्रतिबंध (Denies mobility of labour)—चूँकि व्यक्ति को अपने जातीय व्यवसाय को ही करना पड़ता है, जिसे वह अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा के अनुसार बदल नहीं सकता, अतएव इसने श्रम की गतिशीलता को रोका है। इससे गतिहीनता उत्पन्न हुई है।

(ii) अस्पृश्यता (Untouchability)—इसने अस्पृश्यता को जन्म दिया है। महात्मा गांधी के अनुसार, "अस्पृश्यता जाति-व्यवस्था की सबसे अधिक घृणात्मक अभिव्यक्ति है।" अधिककांश लोग दासता की स्थिति को पहुँच गए हैं। इसके इसने अन्य दोषों, यथा बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, परदा-प्रणाली और जातिवाद को भी जन्म दिया है।

(iii) एकता में बाधक (Solidarity retarded)—इसने एक जाति को दूसरी जाति से पृथक् करके तथा उनके बीच किसी भी सामाजिक समागम को प्रतिबंधित करके हिंदू समाज में सद्भावना एवं एकता के विकास को रोका है। इसने हिंदू समाज का विघटन किया तथा इसे निर्बल बना दिया।

(iv) व्यवसाय में अनुपयुक्त व्यक्ति (Wrong man in occupation)—व्यक्ति को कई बार गलत व्यवसाय को अपनाना पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि पुरोहित का पुत्र भी पुरोहित बनना पसन्द करे अथवा उसमें सफल पुरोहित बनने की योग्यता हो। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वह अन्य कोई व्यवसाय नहीं अपना सकता, भले ही उसमें तदर्थ योग्यताएँ एवं रुचि हों। यह लोगों की समर्थताओं एवं क्षमताओं का पूर्ण उपयोग नहीं करती, जिससे यह अधिकतम उत्पादन में बाधक सिद्ध होती है।

(v) राष्ट्रीय एकता में बाधक (Obstacle to national unity)—जाति-व्यवस्था देश में राष्ट्रीय एकता के विकास में बड़ी भारी बाधक सिद्ध हुई है। जातियाँ अपने प्रति सामाजिक व्यवहार पर असन्तोष महसूस करती हैं। घुरये ने लिखा है, "जाति-भक्ति की भावना ने दूसरी जातियों के प्रति घृणा उत्पन्न की; इससे एक अस्वस्थ वातावरण पैदा हुआ, जो राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए अनुकूल

नहीं था।" ई० श्मिट (E. Schmidt) का भी विचार है कि जाति-व्यवस्था का सबसे अधिक दुखदायी परिणाम यह है कि इसने सामान्य राष्ट्रीय चेतना के विकास को रोका है।

(vi) सामाजिक प्रगति में बाधक (Obstacle to social progress)—यह राष्ट्र की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में भी बड़ी भारी बाधक रही है। चूंकि लोग कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, अतएव वे परम्परावादी हो जाते हैं, और चूंकि उनकी आर्थिक स्थिति निश्चित होती है, इससे उनमें जड़ता आ जाती है तथा उनका उपक्रम एवं उद्यम समाप्त हो जाता है।

(vii) अप्रजातंत्रीय (Undemocratic)—अन्त में, जाति-व्यवस्था अप्रजातंत्रीय है, क्योंकि इसमें सबको जाति, रंग अथवा विश्वास के भेदभाव के बिना समान अधिकार नहीं दिए जाते। निम्न जाति के लोगों के मार्ग में विशेषतया सामाजिक रुकावटें खड़ी कर दी जाती हैं, जिन्हें मानसिक एवं शारीरिक विकास की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती तथा तदर्थ अवसर भी प्रदान नहीं किए जाते।

जाति-व्यवस्था के गुणों एवं दोषों की तुलनात्मक व्याख्या के उपरांत यह स्पष्ट है कि इसके दोष अधिक हैं, गुण कम। जाति-व्यवस्था स्थिर एवं सुस्त समाज को जन्म देती है। चूंकि प्रस्थिति का निर्धारण जन्म के आधार पर होता है, जिसे व्यक्ति अपने कार्यों से न बदल सकता है और न ही उन्नत कर सकता है, अतएव विशिष्ट प्रयासों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। बहुत कम लोग उनसे अपेक्षित काम को पूरा करेंगे और कुछ तो बिल्कुल ही नहीं करेंगे। कुलीन चाहे काम करे या खेले, कुलीन ही रहेगा। भले ही हरिजन व्यक्ति कितना ही परिश्रम करे, वह दासता से बच नहीं सकता। यह भारतीय जाति-व्यवस्था का बन्द स्वरूप ही है, जिसके कारण भारत के लोगों में उपक्रम का अभाव है तथा समाज समग्र रूप में जड़ और उदासीन है। जेम्स ब्राइस (James Bryce) ने कहा है, "सामाजिक संरचना महत्वपूर्ण तत्व है। जहाँ लोग भाषा, धर्म, प्रजाति अथवा व्यवसाय पर आधारित जातीय भेदों के कारण विभक्त हो जाते हैं, वहाँ पारस्परिक अविश्वास एवं शत्रुता उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनके लिए इकट्ठे मिलकर कार्य करना अथवा प्रत्येक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के अधिकारों को समान समझना कठिन हो जाता है।"[1] जब तक जातीय अवरोधकों को समाप्त नहीं कर दिया जाता, ताकि निम्न प्रस्थिति के व्यक्ति को व्यक्तिगत प्रयत्नों का लाभ सम्भव हो सके, ऐसे प्रयत्न नहीं होंगे और समाज को अन्ततः हानि होगी।

५. जातियों की अन्योन्याश्रिता
(Interdependence of Castes)

जाति-व्यवस्था, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, भारतीय समाज की एक विचित्र विशेषता है। ग्रामीण क्षेत्रों में नगरों की अपेक्षा इसका अधिक चलन है। जाति सामाजिक व्यवहार के नियमों को निश्चित करती है, जिनका उल्लघन नहीं किया जा सकता। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति अपने सदस्यों पर अपना

1. Bryce, James, *Modern Democracy*, Vol. I, p. 68.

प्रभुत्व बनाए रखने तथा उनके व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयत्न करती है। एक जाति की प्रथाएँ, रीतियाँ एवं व्यवहार के नियम दूसरी जाति से भिन्न होते हैं। यद्यपि विभिन्न जातियाँ सामाजिक स्तर पर एक-दूसरे से पृथक् रहती हैं, तथापि अनेक सामाजिक अवसर ऐसे आते हैं, जब एक जाति को दूसरी जाति से सहायता लेनी पड़ती है। जातियों की ऐसी निर्भरता को श्रीनिवास ने उदग्र (vertical) एकता कहा है। इसे 'जजमानी' व्यवस्था भी कहा गया है, जिसमें प्रत्येक समूह दूसरी जातियों के लिए कुछ स्तरीय सेवाएँ प्रदान करता है। ऐसी महत्वपूर्ण जातियाँ, जो अन्य जातियों को सेवाएँ प्रदान करती हैं, निम्नलिखित हैं—

(i) ब्राह्मण (Brahamans)—ब्राह्मण जाति का प्रमुख कर्तव्य विभिन्न धार्मिक एवं सांस्कारिक रीतियों को कराना है। बालक के जन्म पर ब्राह्मण को जन्म का समय लिखने तथा उसकी जन्मपत्री तैयार करने के लिए बुलाया जाता है। वह 'चौथी' एवं 'बारह' की तिथि और समय भी निश्चित करता है। वह 'मुंडन' संस्कार का दिन एवं समय भी निकालता है। विवाह के समय वह वैवाहिक रीतियों को कराता है तथा मंत्रों को उच्चारित करता है। मृत्यु के समय वह अन्तिम संस्कार कराने के लिए बुलाया जाता है। यदि उसे कुछ अपशकुन दिखलाई दे तो वह उनसे बचने की विधियाँ भी बतलाता है। अपनी सेवाओं के बदले में ब्राह्मण को नकद तथा वस्तु आदि के रूप में अदायगी मिलती है। साधारणतया, जमींदार लोग नकद नहीं देते अपितु कटाई के समय फसल का कुछ अंश देते हैं। ब्राह्मण आज भी उपर्युक्त सेवाएँ सभी जातियों के लिए करता है।

(ii) कुम्हार (Kumhars)— कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता है। देहातों मे लोग अनाज का भंडार रखने एवं अन्य घरेलू कार्यों के लिए मिट्टी के बर्तनों का उपयोग करते हैं। इन बर्तनों की पूर्ति कुम्हारों द्वारा होती है। वे जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय भोजादि के लिए 'कुल्हड' भी देते हैं। अपने द्वारा दिए गए बर्तनों के बदले उन्हें नकद धन अथवा अनाज मिलता है। कभी-कभी उनको वस्त्र भी मिल जाते हैं।

(iii) नाई (Nai)—नाई अनेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों के लिए महत्वपूर्ण सेवक है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय वह परिवार के सदस्यों के बाल काटता है। वह सगे-सम्बन्धियों को विवाह अथवा मृत्यु संदेश भी ले जाता है। कभी-कभी वह विवाह की बातचीत कराने मे मध्यस्थ की भूमिका भी निभाता है। अपनी सेवा के प्रतिफल के रूप में उसे वस्त्र एवं फसलो का अंश मिलता है।

(iv) धोबी (Dhobi)—धोबी अपने जजमान के वस्त्रों को धोता है। अपनी सेवा के बदले उसे कुछ अनाज मिलता है। विवाह अथवा जन्म के विशेष अवसरों पर उसे वस्त्र अथवा बर्तन भी मिलते हैं।

(v) बढ़ई एवं लोहार (Barhi and Lohar)—बढ़ई तथा लोहार कृषकों के परम्परागत कृषि के यंत्रों की मरम्मत अथवा उनका निर्माण करते हैं। वे दरवाजे अथवा खिड़कियाँ आदि बनाने का कार्य भी करते हैं। वे विभिन्न सेवाओं के बदले

निश्चित अदायगी की दरें प्राप्त करते हैं। इन जातियों की सेवाओं की सभी जातियों को आवश्यकता पड़ती है।

(vi) दर्जी (Dargi)—दर्जी नए वस्त्र तैयार करता है अथवा पुराने वस्त्रों को ठीक करता है। उसकी सेवाओं की भी सभी जातिमों को आवश्यकता होती है। साधारणतया, दर्जी पुराने वस्त्रों को निःशुल्क ठीक करता है, परन्तु नए वस्त्रों को सीने के लिए वह निश्चित मूल्य प्राप्त करता है। कुछ परिवारों में उसे कटाई के समय फसलों का अंश भी मिलता है।

(vii) चमार (Chamar)—चमार साधारणतया जूते बनाने अथवा मरम्मत करने का कार्य करते हैं। अन्य अवसरों पर भी उनकी सेवाओं की जरूरत पड़ती है। वे निम्न कार्य, यथा पशु-गृहों को साफ करने एवं पशुओं की देखभाल का भी कार्य करते हैं। वे पशुओं की लाशों को भी उठाते हैं। वे कृषक-मजदूर का भी कार्य करते हैं। उन्हें भोजन, अनाज अथवा नकद के रूप में भुगतान मिलता है। पशुओं की लाश उठाने के बदले में उन्हें पशु की खाल भुगतान के रूप में मिलती है।

(viii) गड़रिया (Gadaria)—गड़रिया गाय, भैंस, बकरी एवं भेड़ आदि पशुओं को पालता है। वे दूध बेचते हैं तथा नकद भुगतान पाते हैं। कटाई के पश्चात् वे पशुओं को खेतों मे ले जाते है, ताकि भूमि उर्वर हो सके। गड़रिए भूमि भी जोतते हैं।

(ix) भंगी (Bhangi)—भंगी अथवा जमादार सफाई का कार्य करते हैं। गाँवों मे फ्लश या सदा स्वच्छ रहने वाले शौचालय नही होते। भंगी घरों से विष्टा को उठाकर गाँव से दूर फेंकते हैं। सांस्कारिक अवसरो पर उनकी सेवा विशेषतया महत्वपूर्ण होती है, जिसके लिए उन्हें नकद एवं वस्तु दोनो रूप में भुगतान किया जाता है। वे कृषक-मजदूर का कार्य भी करते हैं, जिसके लिए उन्हें कटाई के समय फसल का भाग मिलता है। उन्हें अपने जजमानों से पहनने के लिए पुराने वस्त्र भी मिलते हैं।

(x) बनिया (Bania)—बनिया साधारणतया ग्रामीणों को दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ नकद अथवा उधार बेचता है। वह कृषकों एवं अन्य जातियों को ऋण भी देता है। ब्याज सामान्यतया मिश्रधन होता है। ऐसे ऋण बैल, कृषि के यंत्र खरीदने अथवा वैवाहिक व्ययों की पूर्ति के लिए दिए जाते हैं। कृषक अपनी भूमि को बन्धक भी रख देते हैं।

जजमानी व्यवस्था के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से निम्नलिखित विशेषताओं का पता लगता है—

(i) जजमानी सम्बन्ध स्थायी होते हैं (Jagmani relations are permanent)—जजमानी अधिकार स्थायी होते हैं। जजमान अपने 'प्रजन' को इच्छानुसार हटा नहीं सकता। उसकी कठिनाई उसको हटाने मे नहीं होगी, अपितु उसका प्रतिस्थापन खोजने में होगी।

(ii) जजमानी व्यवस्था वंशानुगत है (Jagmani system is hereditary)—जजमानी अधिकार सम्पत्ति अधिकार है, अतएव उत्तराधिकारिता के नियमों के अनुसार ही ये हस्तांरित होते हैं।

(iii) वस्तु-विनिमय व्यवस्था (Barter system)—सेवाओं का अदल-बदल धन प्रणाली पर नहीं, अपितु वस्तु-विनिमय प्रणाली पर आधारित होता है। सेवक परिवार को सेवा के प्रतिदान में वस्तुएँ मिलती हैं, यद्यपि कुछेक मामलों में धन भी मिल जाता है। वस्तुतः जजमान एवं प्रजन के मध्य सम्बन्ध मालिक और नौकर का नहीं होता। जजमान अपने प्रजन की सारी आवश्यकताओं की देखभाल करता है तथा जब भी आवश्यकता होती है, उसकी सहायता करता है।

जजमानी व्यवस्था लाभदायक है, क्योंकि—(i) यह व्यवसाय की सुरक्षा प्रदान करती है, व्यवसाय वंशानुगत होते हैं; (ii) यह आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती है, क्योंकि जजमान अपने सेवक परिवार की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है; (iii) यह जजमान तथा प्रजन के सम्बन्धों को दृढ़ बनाता है जो आर्थिक की अपेक्षा वैयक्तिक अधिक होते हैं।

परन्तु जजमानी व्यवस्था ने, जो किसी समय भारतीय समाज मे लाभदायक थी, धीरे-धीरे निम्न जातियों के शोषण का रूप धारण कर लिया है। उच्च जातियाँ निचली जातियों के लोगो का शोषण करती हैं, जो स्वयं को अपने अभिभावकों की धनशक्ति के सामने असहाय अनुभव करते हैं। जजमानी व्यवस्था मे जाति-व्यवस्था के सभी दोष वर्तमान है। नगरीकरण के प्रभाव एवं यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास के कारण जजमानी व्यवस्था विघटित हो रही है, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि जातियों की प्रकार्यात्मक अन्योन्याश्रितता देहातों में भारतीय जाति-व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता हैं।

६. भारतीय जाति-व्यवस्था की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Modern Trends of Caste System in India)

जाति-व्यवस्था की विशेषताओ का उल्लेख करते समय हमने कहा था कि जाति-व्यवस्था अनमनीय व्यवस्था है। परन्तु निरंकुश जाति-व्यवस्था को बनाए रखना सम्भव नही है। भारत में यह व्यवस्था कभी भी पूर्ण नहीं रही। मुसलमानों और अंग्रेजों से बहुत समय पूर्व भारत मे ऐसे तत्व थे, जिन्होने इस व्यवस्था के विरुद्ध कार्य किया। वस्तुत. ऐसी व्यवस्था, जिसमे निरंकुश सामाजिक असमानता के आदर्श पर बल होता है, स्वयमेव विरोधात्मक है। यह न केवल आंतरिक रूप से अस्थिर, अपितु सामाजिक आवश्यकताओं के अनुपयुक्त होती है। कार्यरूप मे परिणत होने के लिए इस आदर्श को स्थिर सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है, परन्तु कोई भी समाज पूर्णतया स्थिर नहीं होता। जिन बाह्य अवस्थाओं मे समाज रहता है, एवं जिनके प्रति इसे स्वयं को जीवित रखने के लिए समजित करना होता है, निरन्तर परिवर्तनशील है। सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक अनुकूलन की आवश्यकता है। सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित दशाओं से अवश्य ही समंजन करना चाहिए। इस प्रकार के समंजन से अवश्य ही सामाजिक गतिशीलता की पु

मात्रा उत्पन्न होती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रस्थिति के निरंकुश स्थिरीकरण के नियम का उल्लंघन होता है।

प्राचीन भारत में, निरंकुश अनमनीयता कभी भी नहीं रही। यहाँ-वहाँ कुछ नमनीयता दृष्टिगत होती है, उदाहरणतया विश्वामित्र, जो शूद्रों का पुरोहित और वशिष्ठ का प्रतिद्वंदी था, परम्परानुसार क्षत्रिय था। आधुनिक समय में जाति-व्यवस्था के इस अनमनीय तत्व में अनेक परिवर्तन आ गए हैं। इन परिवर्तनों को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पुराने बन्धन धीरे-धीरे ढीले हो रहे हैं। विभिन्न तत्व जिनके कारण जाति-व्यवस्था में परिवर्तन आया है, निम्नलिखित हैं—

(i) सुधार आन्दोलन (Reformist movements)—जाति-व्यवस्था की जड़ों पर प्रहार करने वाला प्रथम महत्वपूर्ण तत्व पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार था। अंग्रेज अपने साथ भारत में जातिहीन संस्कृति तथा मानव-स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों से परिपूर्ण साहित्य लाए। जिन भारतीयों ने अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया, उन पर अंग्रेज लेखकों के विचारों का प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप कुछ भारतीयों, यथा राजाराम मोहन राय एवं देवेन्द्र नाथ टैगोर ने भ्रातृभाव के लक्ष्य को लेकर आंदोलन आरम्भ किए। ब्रह्म समाज का आदर्श ऐसे समाज की स्थापना थी, जिसमें जाति के आधार पर मनुष्यों का विभाजन नहीं होगा। स्वामी दयानन्द ने आधुनिक जाति-पाँति की विभिन्नता का खण्डन कर प्राचीन चार वर्णों की स्थापना का आन्दोलन चलाने हेतु 'आर्य समाज' नामक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य वैदिक समाज की प्राचीन पवित्रता को जागृत करना था। आर्य समाज का प्रमुख केन्द्र पंजाब था। पूना में, ज्योतिराव फोयले माली जाति के साधारण एवं कम पढ़े-लिखे व्यक्ति ने १८७३ में जाति के भेदभाव बिना मनुष्यों के मूल्य को जताने हेतु सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उसने स्थानीय निकायों, सरकारी सेवाओं एवं संस्थाओं में हिन्दुओं की सभी श्रेणियों के प्रतिनिधित्व की माँग की तथा पूना में तथाकथित अस्पृश्य लोगों के लिए स्कूल की स्थापना की। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अछूतोद्धार को राष्ट्रीय समस्या का रूप दिया। उनका नाम इस सम्बन्ध में सदैव स्मरणीय रहेगा।

(ii) ब्रिटिश शासन-काल में विधान (Legislation during British rule)—भारतीय सुधारकों के प्रयत्नों के अतिरिक्त, अंग्रेज शासकों ने देश पर प्रभुत्व स्थापित कर लेने के उपरांत पाश्चात्य संस्कृति को भारत पर थोपने का प्रयास किया और ऐसा करने में उनका इस देश में वर्तमान जाति-व्यवस्था से संघर्ष हुआ। ब्रिटिश न्यायालयों एवं समान दंड संहिता की स्थापना से जातीय पंचायतों के क्षेत्राधिकार से अनेक मामले छीन लिए गए। इसके उपरांत ब्रिटिश शासकों ने दीवानी मामलों की ओर ध्यान दिया। १८५६ में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ, जिसमें निचली जातियों के रीति-रिवाजों के विपरीत नियम थे। १८७६ में बम्बई के उच्च न्यायालय ने घोषित किया कि कानून की अदालतें किसी विवाह को अवैध घोषित करने अथवा किसी स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति देने के बारे में जाति के प्राधिकार को मान्यता नहीं देतीं। इसके बाद विभिन्न उच्च न्यायालयों ने निर्णय दिया कि लोग

किसी भी पुरोहित की सेवा प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिए वंशानुगत पुरोहित की ही सेवाओं को प्राप्त करना बाध्यकारी नहीं है। इससे विभिन्न जातियों को इकट्ठा रखने वाला तत्व सामान्य पुरोहिताई समाप्त हो गई। १८५० के जाति असमर्थता उन्मूलन अधिनियम ने जाति की एकता पर एक अन्य प्रहार किया। इस अधिनियम ने धर्म-परिवर्तन की, सम्पत्ति के अधिकार को प्रभावित किए बिना अनुमति दी। इसके बाद १८७२ में विशेष विवाह अधिनियम (Special Marriage Act) पारित हुआ, जिसने किसी भी जाति अथवा धर्म के व्यक्ति को किसी अन्य जाति अथवा धर्म में विवाह करने की अनुमति दे दी, बशर्ते कि ऐसे विवाह का पंजीकरण कराया जाए, जिसमें यह घोषणा करनी होगी कि वे किसी धर्म को नहीं मानते। इस धारा को १९२३ के संशोधन अधिनियम द्वारा बदल दिया गया। यह अधिनियम अब केवल हिन्दुओं जिसमें जैन, सिक्ख और ब्राह्म शामिल हैं, पर लागू होता है। ब्रिटिश शासकों ने अछूत लोगों की नागरिक अयोग्यताओं को दूर करने के लिए एक और अन्य कदम उठाया। उन्होंने अछूतों के शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार को एवं सभी सामाजिक, राज-नीतिक एवं आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने के अधिकार को मान्यता दे दी। १९२१ में मद्रास में सभी सार्वजनिक कुओं एवं पब्लिक स्कूलों को सभी जातियों के लिए खोल दिया गया। पिछड़ी जातियों के बच्चों को शुल्क में छूट एवं सरकारी वजीफे दिए गए। मांटेग्यू चैम्सफोर्ड सुधार के अधीन पिछड़ी जातियों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर विभिन्न कानून पारित किए, जिन्होंने कुछ सीमा तक निचली जातियों की अयोग्यताओं को दूर किया। परन्तु इन कानूनों तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा की गई अन्य कार्यवाहियों ने जाति की समस्या के समाधान में कोई अधिक योगदान नहीं दिया। ब्रिटिश सरकार की अधिकांश गति-विधियाँ प्रशासन के हित को सम्मुख रख कर की गई, न कि जाति-प्रथा की कठोरता को दूर करने के उद्देश्य से। ब्रिटिश शासकों ने जाति-प्रथा की समस्या पर कोई अधिक ध्यान नहीं दिया, न ही उन्होंने जाति को अहानिकर बनाने हेतु कोई साहसी कदम उठाने की इच्छा व्यक्त की। उनके द्वारा निर्मित कानून खंडशः एवं अधमने थे, जिनको ब्रिटिश प्रभुता की सुरक्षा को ध्यान में रखकर बनाया गया था।

(iii) **औद्योगिक क्रांति का प्रभाव** (Impact of industrial revolution)—औद्योगिक क्रांति भी हिंदू सामाजिक संरचना को बदलने में एक उत्तरदायी तत्व रहा है। भारतीय जाति-व्यवस्था काफी सीमा तक ग्रामीण उद्योगों एवं हस्तकलाओं से सम्बद्ध है। ग्रामीण हस्तकलाओं एवं वंशानुगत व्यवसायो के पतन ने, जो औद्योगीकरण का अपरिहार्य परिणाम है, अनेक प्रकार से सामाजिक संरचना को प्रभावित किया है। पुराने व्यवसायों के समाप्त हो जाने पर नए व्यवसायो का जन्म हुआ, जिनमे ब्राह्मण एवं शूद्र स्वतन्त्रतापूर्वक मिल-जुल कर काम करते हैं। पुराने समय की अपेक्षा व्यवसाय के चयन मे आज अधिक स्वतन्त्रता है। वर्तमान समय में ब्राह्मण जाति के लोग लगभग प्रत्येक व्यवसाय, भंगी के व्यवसाय को छोड़ कर, में लगे हुए हैं। विभिन्न शिल्पी जातियों के अनेक सदस्य दूकानदार, बैंक-लिपिक एवं शिक्षक हैं। जाति द्वारा व्यवसाय के चयन पर लगाए गए प्रतिबंध अब समाप्त हो गए हैं।

औद्योगीकरण जनता के नगरीकरण को जन्म देता है। ग्रामीण लोग जो जाति-पाँति का अत्यधिक ध्यान रखते हैं, नगरों की ओर भागे जा रहे हैं। नगर में लोगों को अपने रूढ़िगत विचारों को त्याग देना पड़ता है तथा दूसरी जाति के लोगों द्वारा तैयार भोजन खाना पड़ता है। संचार के साधनों के प्रसार से वैयक्तिक सम्पर्कों में वृद्धि हुई है, जिससे जातियों को पृथक् करने वाले विचारों पर प्रभाव पड़ा है। जाति पंचायतों का स्थान श्रमिक-संघों, कानूनी अदालतों एवं ऐसे ही अन्य निकायों ने ले लिया है। श्रमिक-संघ में प्रत्येक श्रमिक, चाहे वह किसी जाति का हो, सदस्य होता है। कारखाने मे जातीय प्रतिबंधों को क्रियान्वित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वहाँ तो निचली श्रेणी के सदस्य उच्च श्रेणी के सदस्यों के साथ कंधे से कंधा मिला कर काम करते हैं।

(iv) **भारतीय संविधान द्वारा प्रहार** (Attack by Indian Constitution)—जाति-व्यवस्था पर सबसे क्रमबद्ध एवं प्रभावशाली प्रहार भारतीय संविधान द्वारा किया गया है। इसकी प्रस्तावना में उद्घोषणा की गई है कि भारत के लोगों ने स्वयं को प्रजातन्त्रीय, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी प्रभुसत्तात्मक गणराज्य में संगठित कर लिया है तथा संविधान का लक्ष्य भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय; विचारों, विश्वास तथा उपासना की स्वतंत्रता; *प्रस्थिति एवं अवसर की समानता प्रदान करना तथा व्यक्ति के मान को विश्वस्त* करते हुए सभी लोगों में भ्रातृभाव को उन्नत करना है। इस प्रकार न केवल अवसर, अपितु प्रस्थिति की समानता का भी आश्वासन दिया गया है। प्रस्थिति की समानता केवल वर्गहीन समाज, जातिहीन में भी नहीं, में ही जीवित रह सकती है।

समानता के अधिकार की गारंटी देते हुए भारतीय संविधान की धारा १५ में लिखा है—

(i) राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।

(ii) कोई भी नागरिक धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर निम्न बातों के लिए अयोग्य व प्रतिबंधित नही किया जाएगा—

(अ) दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में जाने से;

(ब) कुओं, तालाबों, नहाने के घाटों व सैर के स्थानों, जिनकी राज्य के खजाने से देखभाल की जाती है अथवा जो सार्वजनिक प्रयोग के लिए खोले गए हैं।

धारा १६ के अन्तर्गत राज्य के अधीन किसी भी कार्यालय में रोजगार अथवा नियुक्ति के मामलों में सभी नागरिकों को धर्म, जाति, वंश, लिंग, निवास-स्थान अथवा जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी के भी भेदभाव के बिना अवसर की

समानता प्राप्त होगी। धारा १७ ने अस्पृश्यता का उन्मूलन करते हुए इसे अपराध घोषित किया है। धारा १९ के अन्तर्गत प्रदत्त स्वतंत्रता के अधिकार में किसी प्रतिबंध के बिना किसी भी वैध व्यवसाय को करने की स्वतंत्रता है।

इस प्रकार संविधान ने जाति एवं इसके निरर्थक रीति-रिवाजों का उन्मूलन कर दिया है। संविधान का यह पवित्र वायदा है कि विधान मंडल एक ऐसे समाज का निर्माण करने का प्रयत्न करेगा, जिसमें प्रस्थिति की असमानता नहीं होगी।

भारत में जाति-व्यवस्था का भविष्य (Future of caste system in India)—भारत में जाति-व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए अभी तक किए गए उपायों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि जाति-व्यवस्था का प्रभाव धीरे-धीरे घट रहा है, तथापि यह पूर्व की भाँति जीवित है तथा लोगों के विचारों एवं अभिवृत्तियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। जाति का अन्त-विवाही स्वरूप लगभग उसी प्रकार चल रहा है, केवल इतना अन्तर आया है कि जहाँ पहले जाति से बाहर विवाह करना सोचा भी नहीं जा सकता था, अब कुछ प्रेम-विवाह के इच्छुक नवयुवक और नवयुवतियाँ जाति के बंधन को तोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार के विवाह में नारी संगिनी पुरुष संगी से निम्न जाति की होती है। पुरानी पीढ़ी अब भी जातीय अर्थों में ही सोचती है। व्यक्ति को अब भी संकटमय स्थितियों में, यथा विवाह एवं मृत्यु के समय अपनी ही जाति पर मुख्यतया निर्भर रहना पड़ता है। नागरिक जीवन में अनेक नेताओं का सम्बन्ध केवल अपनी जाति के उद्धार से है। भारत में निर्वाचन जातिवाद के आधार पर लड़े जाते हैं। मतदाताओं से अपनी जाति के उम्मीदवार को वोट देने के लिए कहा जाता है, अतएव चुनावों के बाद भी निर्वाचित नेता जातिवाद को स्थिर रखते हैं। राजनीतिक दल भी किसी विशेष निर्वाचन-क्षेत्र से ऐसा उम्मीदवार खड़ा करते हैं, जिसकी जाति के लोगों की संख्या का उस क्षेत्र में बहुमत हो। सरकारी सेवाओं एवं विधान मंडलों में जातिवाद अब भी जीवित है। सरकारी सेवाओं तथा विधान मंडलों में अनुसूचित एवं पिछड़ी हुई जातियों के लिए स्थान सुरक्षित किए गए हैं। उन्हें शिक्षा हेतु विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। जातीय पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं। इस प्रकार भारतीय प्रजातंत्र ने जाति-व्यवस्था को निरुत्साहित करने की अपेक्षा उसे प्रोत्साहित किया है। घुरये (Ghurye) ने ठीक ही कहा है कि भारत में जाति-व्यवस्था के निकट भविष्य में समाप्त होने का कोई भय नहीं है। उनके अनुसार, "पुरानी व्यवस्था तथा समकालीन व्यवस्था में केवल इतना अन्तर है कि जहाँ प्राचीन संगठन में जाति-व्यवस्था के उपर्युक्त तथ्य सार्वभौमिक रूप से प्रचलित थे, आज समाज का एक वर्ग—आधुनिक शिक्षित लोग—जिसकी संख्या थोड़ी परन्तु महत्वपूर्ण है, जातीय प्रतिबंधों से ऊपर उठ गया है।"[1] जातियों में पारस्परिक अविश्वास एवं बहिर्मुखीपन की मनोवृत्तियाँ अब भी जीवित हैं। केवल कानूनों से पाँच हजार वर्ष पुरानी सामाजिक संस्था का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। आवश्यकता है जनमत को शिक्षित करने एवं जाति-भक्तिवाद की प्रभाव-

1. Ghurye, *Ibid*, p. 216.

शाली ढंग पर निन्दा करने की। युगीन अस्पृश्यता को कानूनी स्तर पर समाप्त कर दिया गया है, परन्तु स्तरीकरण-व्यवस्था अब भी भारतीय समाज की जड़ों में दृढ़ता से जमी हुई है। नवयुवकों का उत्साह अवश्य ही जाति के कृत्रिम बंधनों को निश्चित रूप से तोड़ने मे सफल होगा। शिक्षा के प्रसार एवं आर्थिक स्थिति के उन्नत होने से आशा है कि भारतीय लोग समय की पुकार को समझ कर जाति-व्यवस्था को उखाड़ फेंकेंगे।

७. सामाजिक गतिशीलता
(Social Mobility)

ऊपर हमने इस बात का विवेचन किया है कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों की विशिष्टता है। हमने यह भी अध्ययन किया है कि वर्गों एवं व्यक्तियों को सामाजिक मूल्य-मान के अनुसार उनके द्वारा गृहीत विशेषताओं के आधार पर उच्च अथवा निम्न समझा जाता है। मूल्य-मान में कोई परिवर्तन अथवा विशेषताओं में कोई परिवर्तन विभिन्न वर्गों की प्रस्थिति में भी परिवर्तन ला देता है। इस प्रकार विभिन्न समाजों अथवा उसी समाज में विभिन्न समयों पर विभिन्न व्यवसायों को प्रतिष्ठा की विभिन्न मात्रा प्राप्त होती है। भारत में किसी समय पुरोहित वर्ग के सदस्यों को अन्य वर्गों के सदस्यों की अपेक्षा अधिक उच्च समझा जाता था, परन्तु आज ऐसा नहीं है। डाक्टर अथवा इंजीनियर को अब अधिक सम्मान प्राप्त है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति साधारण दूकानदार से मंत्री बन जाता है तो उसकी प्रस्थिति भी उच्च हो जाती है। दूसरी ओर, यदि मंत्री अपना मंत्रिपद खो देता है तथा पुरानी दूकान पर लौट आता है तो मंत्री के रूप में उसकी जो प्रस्थिति थी, वह भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार समाज में लोगों को प्रस्थिति मान में ऊपर-नीचे जाते देखा जा सकता है। इस गति को सामाजिक गतिशीलता कहा जाता है। गतिशीलता (mobility) स्थानान्तरण (migration) से भिन्न है, क्योंकि स्थानान्तरण में भौगोलिक स्थान में गति है।

गतिशीलता को क्षैतिज (horizontal) एवं उदग्र (vertical) में वर्गीकृत किया गया है। क्षैतिज गतिशीलता का अर्थ निवास-स्थान अथवा व्यवसाय के परिवर्तन से है, जिसमें प्रस्थिति का परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतया, एक अध्यापक एक स्कूल को छोड़कर दूसरे स्कूल में चला जाता है, अथवा कारखाने में कल्याण अधिकारी बन जाता है। उदग्र गतिशीलता जीवन के तीनों क्षेत्रों, अर्थात् वर्ग, व्यवसाय एवं सत्ता या किसी एक क्षेत्र में गति से संबंधित है। ऊपर या नीचे व्यक्ति की गतिशीलता इस तथ्य का माप है कि उसकी प्रदत्त प्रस्थिति एवं प्राप्त स्थिति में क्या सम्बन्ध है।

सामाजिक गतिशीलता अपरिहार्य है (Social mobility is inevitable)—ऊपर हमने इस तथ्य का वर्णन किया है कि निरंकुश वर्ग अथवा जाति-व्यवस्था असम्भाव्य है। सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक क्रिया है और जिस क्षण सामाजिक परिवर्तन होता है, उसी क्षण सामाजिक गतिशीलता भी होती है। संभवतः कोई भी समाज सामाजिक गतिशीलता का पूर्णतया निषेध नहीं करता और न ही कोई

समाज अगतिशील होता है। उदाहरणतया, यदि हम यह चाहें कि प्रत्येक जाति पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसी प्रस्थिति को प्राप्त किए रखे तो प्रत्येक जाति मे जनसंख्या-प्रतिस्थापन की दर समान होनी आवश्यक है। परन्तु, जैसा कि प्रकृति का नियम है, कुछ जातियों की जनसंख्या में वृद्धि आती है तो अन्य में घट जाती है। उन जातियों के लिए, जिनकी जनसंख्या में वृद्धि होती है, कुछेक नए व्यवसायों को खोजना होगा, जबकि घटने वाली जातियों के धंधों को करने के लिए अन्य जातियों से प्रतिस्थापना करनी होगी। इस प्रकार, जनसंख्या में अन्तर विभिन्न जातियों की जनसंख्या का घटना अथवा बढ़ना सामाजिक अगतिशीलता को असम्भव बना देता है।

इसी प्रकार, भौगोलिक अनुकूलन सामाजिक अनुकूलन को आवश्यक बना देते हैं। समाज की भौगोलिक स्थापना में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे जनसंख्या बढती है, अधिक आवासीय स्थान का प्रबंध करने हेतु वनों और खेतों को समाप्त कर दिया जाता है। नए संकट एवं रोग जन्म लेते रहते हैं। नए आर्थिक एवं राजनीतिक विकास होते हैं। स्वाभाविकतया, सामाजिक व्यवस्था को भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तनों के साथ स्वयं को समंजित करना होगा। ऐसे समंजन में अपरिहार्य रूप से सामाजिक गतिशीलता की कुछ मात्रा निहित होती है।

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक समाज वैयक्तिक आकांक्षा के लिए भी कुछ अवसर प्रदान करता है। यदि ऐसा न होता तो कोई प्रगति न होती। प्रत्येक व्यवस्था में विभिन्न उपलब्धियों के लिए विभिन्न पुरस्कार होते हैं, तथा मनुष्य सबसे अधिक पुरस्कृत उपलब्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह विश्वास कि व्यक्ति अपने वैध प्रयत्नों से उन्नति कर सकता है, सामाजिक प्रगति का आधार है। कोई सामाजिक मान मूल्यों के मान से संबंधित एवं उसके ऊपर आधारित हैं। कोई समूह जो अपने मानकों को उन्नत करता है, अपनी सामाजिक प्रस्थिति को भी उन्नत कर लेगा और अपरिहार्य रूप से कुछ समूह स्वयं को उन्नत करने का प्रयास करेंगे। इस प्रकार, विभिन्न विशेषताओं के लिए विभिन्न मूल्यों की व्यवस्था स्वयं ही लोगों को सामाजिक प्रस्थिति के मान में ऊपर जाने के लिए अभिप्रेरित करती है।

उन तत्वों में जो किसी समाज मे गतिशीलता की कुछ मात्रा को अपरिहार्य बनाते हैं, हेनरी एम० जानसन ने निम्नलिखित को महत्वपूर्ण बतलाया है—

(i) सामाजिक प्रतिष्ठा अन्ततः स्वीकृत मूल्य-व्यवस्था पर निर्भर होती है। यदि उपलब्धियों के कुछेक गुणों को सामाजिक रूप में मूल्यवान् समझा जाता है, तो कुछ लोग उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

(ii) बुद्धि एवं अन्य प्रकार की क्षमताएँ केवल उच्च श्रेणियों की बपौती नहीं हैं। कृपकों एवं श्रमिकों के बच्चों के लिए समाज मे सर्वोच्च पदों तक पहुंचना असामान्य नहीं है।

(iii) विभिन्न प्रकार के कौशल की माँग में गति की भिन्न दरों पर परिवर्तन सदा होते रहे हैं।

(iv) प्रत्येक वर्ग की जन्म-दर उस वर्ग के सभी पदों को पूर्ण रूप से नहीं भर पाती।

(v) उच्च वर्गों में जन्म कभी-कभी अनेक व्यक्तियों में आत्मतृप्ति की भावना विकसित कर देती है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज में अवसर की असमानता के बाधक तत्व के बावजूद भी प्रत्येक समाज में काफी गतिशीलता घटित होती रहती है।

गतिशीलता की मात्रा (Amount of Mobility)

सामाजिक गतिशीलता ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी हो सकती है। अधोगामी गतिशीलता प्रत्येक समाज में स्वीकृत है। यदि उच्च वर्ग का सदस्य उस वर्ग से अपेक्षित मानकों का पालन नहीं करता, तो वह वर्ग प्रस्थिति से नीचे गिर जाएगा। भारत में किसी व्यक्ति को अपनी जाति से निचली जाति में विवाह कर लेने पर जाति से बहिष्कृत किया जा सकता है। जहाँ तक ऊर्ध्वगामी गतिशीलता का प्रश्न है, किसी भी समाज में इसका पूर्ण निषेध नहीं होता, परन्तु इसकी सुगमता एवं मात्रा कुछेक तत्वों पर निर्भर है। ये तत्व निम्नलिखित हैं—

(i) सामाजिक परिवर्तन (Social change)—साधारणतया गतिशीलता के लिए अनुकूल अथवा बाधक तत्व सामाजिक परिवर्तन की मात्रा है। तीव्र सामाजिक परिवर्तन की स्थितियाँ, यथा औद्योगिक क्रांति अथवा प्रदेशीय विस्तार सामाजिक गतिशीलता का अवसर प्रदान करती हैं, जबकि अत्यल्प प्रौद्योगिकी अथवा प्रदेशीय परिवर्तन व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति से ऊँचा उठने का कम अवसर देती है। यह ध्यान रहे कि राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक अथवा अन्य क्रान्तियाँ तीव्र सामाजिक गतिशीलता को जन्म दे सकती हैं, जिससे उच्च श्रेणी के लोग सामाजिक स्थान के निम्नतम स्तर पर तथा निम्न स्तर के लोग उच्च श्रेणियों में पहुँच जाते हैं।

(ii) संचरण (Communication)—कोई ऐसी व्यवस्था जो वर्गों के मध्य संचरण को परिसीमित करती है, अथवा जीवन-अवस्थाओं के ज्ञान को अपने वर्ग तक ही सीमित रखती है, सामाजिक गतिशीलता को निरुत्साहित करती है। इसके विपरीत, ऐसी व्यवस्था जिसमें सभी वर्गों के सदस्य दूसरे वर्गों की जीवन-अवस्थाओं से परिचित होते हैं, गतिशीलता को सुगम बनाती है। निस्संदेह, गतिशीलता की सीमा का निर्धारण उन अवसरों एवं आवश्यकताओं से, जो विभिन्न वर्गों में विद्यमान हैं, तथा उन परम्पराओं से जो दूसरे वर्ग के सदस्यों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाती हैं, होगा।

(iii) श्रम-विभाजन (Division of labour)—अन्त में, सामाजिक गतिशीलता पर किसी समाज में विद्यमान श्रम-विभाजन की मात्रा का भी प्रभाव होता है। यदि श्रम-विभाजन अत्यधिक विकसित अवस्था में है, तथा विशेषीकरण एवं कुशल प्रशिक्षण की मात्रा बहुत उन्नत है, तो एक वर्ग के सदस्य के लिए दूसरे वर्ग में प्रवेश कठिन होता है। इसी प्रकार ऐसी पूर्ण परिभाषित जातियाँ, जिन्हें कुछेक

परम्परागत कार्य सुपुर्द किए गए हैं, इस तथ्य के बावजूद भी कि अन्य दशाएँ सामाजिक गति के अनुकूल हैं, सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध कर सकती हैं।

यहाँ इस तथ्य पर बल देना आवश्यक है कि आर्थिक प्रगति किसी देश में गतिशीलता की दर को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण तत्व है। आर्थिक प्रगति औद्योगीकरण से संबद्ध है, तथा औद्योगीकरण गतिशीलता की ऊँची दर से। इस विषय पर, एक समाजशास्त्री, ओसोवास्की (*Ossowaski*) का कथन महत्वपूर्ण है, "समाजवादी व्यवस्था में पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक विकास की अधिक आवश्यकता है। अतएव, समाजवादी राज्यों के नेताओं का एक तात्कालिक लक्ष्य औद्योगीकरण, नगरीकरण, संचार के साधनों के विकास एवं जनशिक्षा में अधिक उन्नत पूँजीवादी देशों के स्तर को प्राप्त करना था। इन सभी प्रक्रियाओं में समाजवादी तथा अन्य देशों में भी सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि निहित है।"

हम इस बात पर पुनः बल देना चाहते हैं कि सभी देशों में सामाजिक गतिशीलता की दर समान नहीं होती। यह विभिन्न देशों में विभिन्न होती है। औद्योगीकृत देशों में भी यह समान नहीं होती। भारत में सामाजिक गतिशीलता की दर जाति-व्यवस्था तथा कृषि-संस्कृति के कारण स्वाभाविकतया कम है। यद्यपि आधुनिक परिवर्तनों के प्रभावाधीन निम्न सामाजिक भाग के लोग ऊपर उठ रहे हैं, तथापि दर धीमी है।

प्रश्न

१. जाति की परिभाषा कीजिए। इसका वर्ग से अंतर बतलाइए।

२. वर्ग की परिभाषा कीजिए। यह आर्थिक अन्तर पर किस सीमा तक आधारित है?

३. जाति-व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं?

४. जाति-व्यवस्था के उत्पत्ति-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

५. जाति-व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

६. क्या जाति सामाजिक स्तरीकरण का अधिक कठोर रूप है?

७. भारतीय जाति-व्यवस्था में क्या परिवर्तन हो रहे हैं? भारत में जाति-व्यवस्था का भविष्य क्या है?

८. सामाजिक गतिशीलता पर टिप्पणी लिखिए।

९. जातियों की अन्योन्याश्रिता से क्या अभिप्राय है? भारतीय समाज में जाति-अन्योन्याश्रिता का सोदाहरण वर्णन कीजिए।

अध्याय २२

भूमिका एवं प्रस्थिति

[ROLE AND STATUS]

प्रस्थिति का तत्व सामाजिक स्तरीकरण की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रस्थिति की असमानता, जैसा कि हमने पूर्व अध्याय में देखा है, प्रत्येक समाज का प्रमुख लक्षण है। इस अध्याय में हम भूमिका एवं प्रस्थिति के तत्व पर विचार करेंगे।

१. भूमिका का स्वरूप

(Nature of Role)

यदि हम समाज पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञात होता है कि व्यक्ति न केवल लिंग, वर्ण, आयु, लम्बाई, ऊँचाई में भिन्न होते हैं, अपितु उनके व्यवसाय भी भिन्न-भिन्न होते हैं। वे विभिन्न कार्य करते हैं। कुछ अध्यापक हैं तो अन्य चिकित्सक हैं, कुछ श्रमिक हैं तो अन्य वैज्ञानिक हैं, कुछ कूटनीतिक हैं तो अन्य सिपाही हैं। यदि व्यक्ति अपने-अपने कार्यों को उचित ढंग से करते रहें तो सामाजिक संगठन भी ठीक कार्य करेगा। कोई व्यक्ति सभी कार्य नहीं कर सकता और न ही सभी व्यक्तियों को एक-सा कार्य दिया जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था श्रम-विभाजन पर आधारित है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को करने के लिए एक विशिष्ट कार्य दिया जाता है।

व्यक्ति द्वारा पूरित कार्य समुदाय के जीवन मे प्रत्याशित उसकी भूमिका का निर्माण करता है। लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, "सामाजिक भूमिका किसी समूह अथवा परिस्थिति में व्यक्ति से प्रत्याशित व्यवहार का प्रतिमान है।"[1] यह उस कार्य को निश्चित करता है, जिसकी किसी व्यक्ति से अपने समूह अथवा समुदाय की गतिविधियों मे पूरा किए जाने की प्रत्याशा की जाती है। आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार, "भूमिका किसी समूह में किसी विशेष पद से सम्बद्ध सामाजिक स्तर पर प्रत्याशित एवं स्वीकृत व्यवहार-प्रतिमानों का संग्रह है, जिसमें कर्तव्य एवं विशेषाधिकार, दोनों सम्मिलित हैं।"[2] प्रत्येक समूह प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्याशित व्यवहार का निर्धारण करता है। समूह की सदस्यता में कुछेक विशेषाधिकार एवं दायित्व निहित होते हैं। भूमिका समूह के प्रति व्यक्ति के दायित्वों को निर्दिष्ट करती है। गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "प्रस्थिति एक पद होता है, जबकि भूमिका उस पद को पूरित करने का प्रत्याशित ढंग है।"

---

1. "A social role is a pattern of behaviour expected of an individual in a certain group or situation." —Lundberg, *Sociology*, p. 31.
2. "Role is a set of socially expected and approved behaviour patterns, consisting of both duties and privileges, associated with a particular position in a group."—Ogburn and Nimkoff, *op. cit.*, p. 113.

डेविस (Davis) के अनुसार, "भूमिका वह ढंग है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति अपने पद के दायित्वों को वास्तविकतया पूरा करता है।"[1] सार्जेंट (Sargent) के अनुसार, "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ऐसा प्रतिमान अथवा प्ररूप है, जो उसे परिस्थिति-विशेष के अनुसार उसके समूह के अन्य लोगों की माँगों तथा प्रत्याशाओं के अनुरूप प्रतीत होता है।"[2] किम्बल (Kimball) के अनुसार, "व्यक्ति जो कार्य करता अथवा करवाता है, उसे हम भूमिका कहते हैं।" मूल रूप में 'Role' शब्द का अर्थ 'Roll' था, जिस पर अभिनेता का पार्ट लिखा होता था। जिस प्रकार किसी नाटक की सफलता उसके अभिनेताओं की सफल भूमिका पर निर्भर करती है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन का सुचारु निर्वाह इस तथ्य पर निर्भर करता है कि सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न समूहों का प्रत्येक सदस्य कितनी कुशलता एवं अबाध रीति से अपने कार्य को पूरा करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भूमिका समुदाय में व्यक्ति के प्रत्याशित व्यवहार का प्रतिमान है।

भूमिका-संघर्ष (Role conflict)—जैसा कि पहले कहा गया है, सामाजिक समूह का जीवन सुसंगत एवं सुगमतापूर्वक उसी सीमा तक चलता है जिस सीमा तक भूमिकाओं का स्पष्ट निर्धारण हो, एवं प्रत्येक सदस्य प्रत्याशानुसार अपनी निर्धारित भूमिका का निर्वाह करे। परन्तु वास्तविक रूप में हम देखते हैं कि किसी निर्धारित भूमिका में प्रत्याशित व्यवहार के बारे में शंका अथवा असहमति होती है तथा कभी-कभी व्यक्ति उसके लिए निर्धारित भूमिका का विरोध करता है और प्रत्याशाओं की पूर्ति करने में असफल रहता है। परिणामस्वरूप, समूह मे तनाव और संघर्ष बढ़ जाता है। एक सादे, सांस्कृतिक रूप से समरूप एवं सापेक्षतया स्थिर समाज में भूमिका-संघर्ष की मात्रा अपेक्षाकृत कम हो सकती है, परन्तु जटिल एवं विषमांग सामाजिक व्यवस्था में, जैसी हमारी है, भूमिका-संघर्ष इतना बढ़ गया है कि समूह-तनाव बढ़ते जा रहे हैं। परिवार, उद्योग, सरकार, राजनीति—प्रत्येक क्षेत्र में तनाव वृद्धि पर हैं। कई बार व्यक्ति इस उलझन मे पड़ जाता है कि क्या उचित है और क्या नही। व्यक्ति को विभिन्न समूहों में विभिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। परिवार के मुखिया के रूप में उसकी भूमिका का उसकी डाक्टर की भूमिका से संघर्ष हो सकता है। उससे कई बार अपने व्यावसायिक हितों के लिए परिवार के प्रति अपने दायित्वो का बलिदान करने की अपेक्षा की जा सकती है। इसके अतिरिक्त दो अथवा अधिक व्यक्तियों से सम्बद्ध भूमिका में संघर्ष हो सकता है जिन्हें समान स्थिति में समान अथवा अत्यधिक समरूप कार्य करने का अधिकार होता है। उदाहरणतया, यह विवाद कि किसी विशेष मामले में शान्ति बनाए रखने का दायित्वराज्य-सरकार का है, अथवा केन्द्रीय सरकार का। दो अथवा अधिक व्यक्तियों

---

1. "Role is the manner in which a person actually carries out the requirements of his position." Davis, K., *Human Society*, p. 90.
2. "A person's role is a pattern or type of social behaviour which seems situationally appropriate to him in terms of the demands and expectations of those in his group." S S Sargent, "Concepations of Role and Ego in Contemporary Psychology" in Social Psychology or the Crossroads, p. 360

की भूमिका का संघर्ष इस कारण से भी हो सकता है, क्योंकि उनके कार्य उनकी प्रस्थिति के समरूप नहीं हैं। भोजनालय का रसोइया, जिसकी प्रस्थिति ऊँची है, बैरे से आदेश प्राप्त करता है, जिसकी प्रस्थिति निम्न है। अंत में, लोगों में किसी व्यक्ति से प्रत्याशित व्यवहार के बारे में मतभेद हो सकता है। उदाहरणतया, मालिक एवं कर्मचारी संघ के नेताओं में कर्मचारियों के प्रत्याशित व्यवहार के बारे में मतभेद हो सकता है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति का अपने कर्त्तव्यों के बारे में दूसरे व्यक्तियों के तत्संबंधित ज्ञान से मतभेद हो सकता है। इस प्रकार कर्मचारी का अपने कर्त्तव्यों एवं दायित्वों के बारे में मत उसके मालिक एवं संघ के नेता के मत से भिन्न हो सकता है।

नई प्रौद्योगिकी एवं स्थानिक गतिशीलता की माँगों को पूरा करने हेतु हमारी सामाजिक सरचना के पुनर्गठन की आवश्यकता के भारस्वरूप प्रस्थितियों एवं भूमिकाओ की हमारी व्यवस्था टूट रही है, जबकि आधुनिक जीवन की वास्तविक दशाओ से उपयुक्त नई व्यवस्था का अभी तक जन्म नहीं हुआ है। अतएव आज का व्यक्ति स्वय को कई बार ऐसी स्थितियों मे पाता है जिनमे वह अपनी एवं अन्य व्यक्तियों की भूमिका के बारे मे निश्चित नही हो पाता। उसे न केवल स्वयं ही भूमिका का चयन करना पड़ता है, अपितु उसे इस बात का भी विश्वास नही हो पाता कि उसका चयन ठीक है। इसका परिणाम होता है—निराशा एवं कुंठा। कभी-कभी संघर्षशील भूमिकाओं से उत्पन्न तनाव इतना अधिक हो सकता है कि इससे गंभीर व्यक्तित्व-सम्बन्धी परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक समाज में भूमिकाएँ अनगिनत, जटिल, नितान्त भिन्न एवं कभी-कभी संघर्षमय होती हैं। तीव्र सामाजिक परिवर्तन के काल में संघर्षशील भूमिकाओं से उत्पन्न स्नायु-तनाव अधिक होता है, क्योंकि प्रत्येक भूमिका की अपेक्षाएँ एवं समुदाय की प्रत्याशाएं अनिश्चित होती हैं। विभिन्न भूमिकाओं का जिस सीमा तक स्पष्ट उल्लेख होगा, और जिस सीमा तक प्रत्येक भूमिका में निहित अधिकारो एवं कर्त्तव्यों का स्पष्ट रूप से ज्ञान होगा तथा जिस सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका को प्रत्याशित व्यवहार के अनुसार पूरा करेगा, सामाजिक व्यवस्था उसी सीमा तक सुचारु रूप से चलेगी तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अल्पतम तनाव पड़ेगा।

२. प्रस्थिति का स्वरूप

(Nature of Status)

'प्रस्थिति' शब्द का प्रयोग समूह अथवा समुदाय में व्यक्तियों को विभिन्न निर्दिष्ट भूमिकाओं के लिए प्रदत्त मान अथवा सम्मान का बोध कराने हेतु किया जाता है। व्यक्ति की प्रस्थिति उच्च होती है, यदि उसकी भूमिका को समाज अतिमहत्वपूर्ण समझता है। परन्तु यदि भूमिका कम महत्वपूर्ण है तो प्रस्थिति भी कम होगी। इस प्रकार, व्यक्ति की प्रस्थिति सामाजिक मूल्यांकन पर आधारित है। सेकार्ड एवं बकमैन (Secord and Buckman) के अनुसार, "प्रस्थिति सम-

व्यक्तियों के वर्ग द्वारा अनुमानित किसी व्यक्ति का मूल्य है।"[1] आगबर्न एवं निमकाफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार "प्रस्थिति किसी भूमिका अथवा भूमिकाओं के संकलन को समूह द्वारा निर्दिष्ट क्रमबद्ध पद है।"[2] समाज में व्यक्ति विभिन्न भूमिकाएँ निभाते हैं तथा समाज इन भूमिकाओं का भिन्नात्मक रीति से मूल्यांकन करता है। कुछ भूमिकाओं को अधिक मूल्यवान् समझता है तथा इन भूमिकाओं के कर्ताओं को उच्चतर प्रस्थिति प्रदान की जाती है। इस प्रकार प्रस्थिति दूसरों के मत से जनित होती है। मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "प्रस्थिति वह सामाजिक पद है जो इसके कर्ता के मान, सम्मान एवं प्रभाव, उसके वैयक्तिक गुणों अथवा सामाजिक सेवाओं से अलग, को निर्धारित करती है।"[3] डेविस (Davis) ने प्रस्थिति की विशद् परिभाषा दी है। वह लिखता है, "प्रस्थिति सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में समग्र समाज द्वारा मान्य एवं समर्थित पद है, जो विचारपूर्वक निर्मित न होकर सहज विकसित एवं लोकाचारों तथा लोकरीतियों पर आधारित होती है।"[4] मार्टिन्डेल एवं मेनाचेसी (Martindale and Menachesi) के अनुसार "प्रस्थिति सामाजिक समुदाय में वह पद है जिसके साथ सम्मान चिह्नों एवं क्रियाओं का प्रतिमान सम्बद्ध होता है।"[5] गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "प्रस्थिति किसी सामाजिक समूह अथवा संकलन में अन्य व्यक्तियों के अन्य पदों के सापेक्ष मे पद है।"[6] मजूमदार (Majumdar) के अनुसार, "प्रस्थिति का अर्थ समूह में व्यक्ति की स्थिति, पारस्परिक दायित्वों एव विशेषाधिकारों, कर्तव्यों तथा अधिकारों के सामाजिक ताने-बाने में उसके पद से है।"[7] लापियर (Lapiere) ने लिखा है, "सामाजिक प्रस्थिति साधारणतः व्यक्ति की समाज में स्थिति समझी जाती है।"[8] किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "प्रत्येक समाज और प्रत्येक समूह में प्रत्येक सदस्य के कुछ कार्य या क्रियाएँ है, जिनसे वह सम्बद्ध है और

---

1. "Status is the worth of a person as estimated by a group or a class of persons." —Secord and Buckman, *Social Psychology*, p. 294.
2. "Status is the rank-order position assigned by a group to a role or to a set of roles.",—Ogburn and Nimkoff, *op. cit.*, p 117.
3. "Status is the social position that determines for its possessor, apart from his personal attribute or social services, a degree of respect, prestige and influence."—MacIver, *op. cit.*, p 418
4. "Status is a position in the general institutional system, recognised and supported by the entire society spontaneously evolved rather than deliberately created, rooted in the folkways and mores."—Davis, K., *Human Society*, p. 88.
5. "Status is a position in social aggregate identified with a pattern of prestige symbols and actions."—Martindale and Menachesi.
6. "A status is a position in a social group or grouping, in relation to other positions held by other individuals in the group or grouping"—Ginsberg, *Sociology*, p 43.
7. "Status means the location of the individual within the group—his place in the social network of reciprocal obligations and privileges, rights and duties." Mazumdar, H. T., *op cit.*, p. 384
8. "Social status is commonly thought of as the position which an individual has in society."—Lapiere, R. T, *A Theory of Social Control*, p. 71.

जो शक्ति या प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा अपने साथ ले चलती हैं। इस प्रतिष्ठा या शक्ति से हम उसकी स्थिति को संकेत करते हैं।"[1] लिन्टन (Linton) के अनुसार, "विशेष व्यवस्था में वह पद, जिसे कोई व्यक्ति किसी विशेष समय में प्राप्त करता है, उस व्यवस्था के अनुसार उसकी प्रस्थिति की ओर संकेत करता है।"[2]

इन परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्थिति की अवधारणा में सामाजिक विशेषाधिकारों का कुछ विशेष संग्रह निहित होता है। ये विशेषाधिकार प्रत्येक व्यक्ति के रहन-सहन एवं जीवन-ढंग को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार, उच्च प्रस्थिति के व्यक्ति को समाज में उच्च मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त होते हैं। व्यक्ति को अपनी सामाजिक प्रस्थिति के कारण ही मान प्राप्त होता है। व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थितियों में वृद्धि उसे पहले की अपेक्षा अधिक मान के योग्य बना देती है।

कभी-कभी 'प्रस्थिति' शब्द का प्रयोग समाज में व्यक्ति की सम्पूर्ण स्थिति के संदर्भ में किया जाता है। इस अर्थ में, इसके अन्तर्गत उसकी सभी विशेष प्रस्थितियाँ एवं भूमिकाएँ, जहाँ तक इनका उसकी सामान्य सामाजिक प्रस्थिति पर प्रभाव पड़ता है, सम्मिलित हो जाती हैं। जैसा हमें ज्ञात है, प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न भूमिकाएँ निभाता है। वह एक पिता, डाक्टर, टेनिस का खिलाड़ी एवं रोटरी क्लब का प्रधान है। पिता के रूप में वह अपने बच्चों की ओर से लापरवाह है एवं अपने पद की अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं करता, परन्तु डाक्टर के रूप में वह अपने व्यवसाय में अधिकांश समय लगाता है तथा अच्छा कार्य करता है। वह अच्छा खिलाड़ी है, परन्तु कमजोर प्रधान है। ऐसी दशा में हमें उसकी प्रस्थिति का मूल्यांकन करते समय सापेक्ष शब्दावली का प्रयोग करना होगा। हम कहेंगे कि श्री 'अ' की अपने व्यवसाय में उच्च प्रस्थिति है, जिसका अभिप्राय होगा कि उसकी अनेक प्रस्थितियाँ हैं तथा हम केवल उसकी एक विशेष प्रस्थिति का ही मूल्यांकन कर रहे हैं। प्रस्थिति के व्यक्ति की सभी प्रस्थितियों का योग समझना उचित नहीं है, क्योंकि प्रस्थितियों का योग करना उसी प्रकार कठिन है, जैसे दो सेबों का दो संतरों के साथ योग करना। जब हम किसी व्यक्ति की प्रस्थिति का उल्लेख करते हैं तो हम सामान्यीकरण न करके केवल चयन करते हैं।

यह भी ध्यान रहे कि प्रस्थिति एवं भूमिका का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्थिति एक पद होती है। भूमिका का अर्थ उस ढंग से है जिसमें उस पद की पूर्ति की अपेक्षा की जाती है। प्रत्येक पद में दोनों प्रस्थिति एवं भूमिका होते हैं।

---

1. "In every soci[illegible]
with which [illegible]
power or pre[illegible]
status."—K. [illegible]

2. [illegible] ial occupies or a [illegible] to that system." [illegible] omb and Eugene [illegible]

प्रस्थिति समाज द्वारा प्रदत्त होती है तथा भूमिका अथवा व्यवहार का प्रतिमान सामाजिकतया अपेक्षित उस प्रस्थिति से सम्बन्धित होता है। भूमिका-प्रत्याशाओं की क्रियान्विति भूमिका-पूर्ति होती है। प्रस्थिति एवं भूमिका एक सिक्के, अर्थात् सामाजिक पद, जो अधिकारों एवं कर्त्तव्यों तथा उनको अभिव्यक्त करने वाले वास्तविक व्यवहार का संग्रह होता है, के दो पहलू हैं।

प्रस्थिति एवं पद (Status and office)—पद से तात्पर्य सामाजिक संगठन में व्यक्ति के स्थान से है जो विशिष्ट एवं निश्चित नियमों द्वारा प्रशासित, तथा सामान्यतः प्रदत्त की अपेक्षा अर्जित होता है। उदाहरण है—प्राचार्य का पद, प्रबंधक का पद, निदेशक का पद, उपायुक्त का पद, फोरमैन का पद, आदि। यह स्पष्ट है कि किसी पद का धारण पदाधिकारी को प्रस्थिति प्रदान कर देता है। प्रस्थिति का प्रकार जो पद प्रदान करता है, उस पद के महत्व, क्षेत्र एवं कार्य पर आश्रित है। इसी प्रकार, किसी विशेष प्रस्थिति का धारण व्यक्ति को किसी पद के प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। सामान्यतः, व्यावसायिक एवं धनी व्यक्तियों के बच्चों को गैर-व्यावसायिक एवं निर्धन व्यक्तियों के बच्चों की अपेक्षा उच्च पद प्राप्त करने के अधिक अच्छे अवसर प्राप्त होते हैं। मनुष्य की प्रस्थिति अनेक प्रकार से उसके विशिष्ट पद का निर्धारण करती है। इसी प्रकार उसका पद उसकी प्रस्थिति को प्रभावित करता है। पद एवं प्रस्थिति में निकट अन्योन्याश्रिता है। व्यावसायिक पद बहुधा प्रस्थिति एवं पद दोनों होता है। साधारण जनता की दृष्टि से देखने पर यह प्रस्थिति है, परन्तु किसी विशेष व्यापार अथवा एजेन्सी के दृष्टिकोण से यह एक पद है।

किसी पद की प्रस्थिति प्रदान करने के दो ढंग हैं। प्रथमतया, हम किसी पद के साथ इस बात का विचार न करते हुए कि उस पद पर कौन है अथवा इसकी अपेक्षाओं की पूर्ति किस प्रकार होती है, स्वतंत्र मूल्य सम्बद्ध कर देते हैं। दूसरे, हम उस पद के दायित्वों को अच्छे अथवा बुरे ढंग से पूरा करने के अनुपात में व्यक्ति-विशेष को मूल्य प्रदान करते हैं। पहले प्रकार के स्वतंत्र मूल्य को 'प्रतिष्ठा' (prestige) तथा दूसरे प्रकार को 'मान' (esteem) कहते हैं। व्यक्ति किसी विशेष व्यवसाय को उच्च मूल्य प्रदान करते हैं, इस बात का विचार किए बिना कि कौन व्यक्ति उस व्यवसाय को कर रहा है। इस प्रकार, उपायुक्त की प्रस्थिति ऊँची होती है। कोई भी व्यक्ति जो उस पद पर होता है, उपायुक्त पद से सम्बद्ध प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

परन्तु उपायुक्त पद के सभी पदाधिकारी अपने दायित्वों को समान अच्छे ढंग से पूरा नहीं करते। परिणामस्वरूप, जनता उनका समान आदर नहीं करती। वह व्यक्ति जो अपने दायित्वों को अच्छी प्रकार निभाता है, उस व्यक्ति की तुलना में, जो अपने दायित्वों को निभा नहीं पाता, अधिक मान प्राप्त करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उच्च प्रतिष्ठा वाले पद को प्राप्त कर लेने पर भी व्यक्ति का मान कम हो सकता है अथवा दूसरे शब्दों में समान पद पर आसीन दो व्यक्तियों की प्रतिष्ठा समान होते हुए भी उनका मान भिन्न हो सकता है। मान पद से सम्बन्धित प्रत्याशाओं की पूर्ति पर निर्भर करता है, जबकि प्रतिष्ठा (prestige) उस पद से संबद्ध

होती है। सभी पदों के साथ उच्च अथवा निम्न प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा सलग्न होती है। एक जमादार अपने कार्य को चाहे जितने भी अच्छे ढग से करे, फिर भी अपने दस कार्य के बावजूद, उसका स्थान निम्न रहता है।

३. प्रस्थिति के निर्धारक
(Determinants Of Status)

किसी सामाजिक वर्ग अथवा व्यक्ति की प्रस्थिति उन सामाजिक मूल्यांकनो पर निर्भर करती है जिनके द्वारा समुदाय कुछ लक्षणों अथवा विशेषताओं को अन्य की अपेक्षा कम अथवा अधिक मूल्यवान् समझता है। कौन से लक्षण उच्च प्रस्थिति प्रदान करते हैं, यह मूल्यांकन करने वाले व्यक्तियों पर निर्भर करता है। ये लक्षण सम्पूर्ण समाज अथवा किसी छोटे समूह की आवश्यकताओ एव मूल्यों से सम्बद्ध हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, प्रस्थिति के लिए इन लक्षणों का मूल्य विभिन्न समूहों में विभिन्न हो सकता है। इस प्रकार, उदाहरणतया, चिकित्सकों में शल्य-चिकित्सक की प्रस्थिति उच्च होती है; प्राध्यापकों में किसी विशिष्ट अनुसंधान कार्य का प्रकाशन प्रस्थिति की वृद्धि करता है। इसी प्रकार, सामाजिक मूल्यांकनों के आधार एक समाज में दूसरे समाज से भिन्न हो सकते हैं तथा उसी समाज में समय-समय पर भिन्न हो सकते हैं। पश्चिमी यूरोप मे रक्त की कुलीनता का किसी समय बहुत मान था, परन्तु आज यदि दूसरे गुण उपस्थित नही हैं तो इतना मान नही है। सामन्ती युग में भूमि का स्वामित्व उच्च स्थिति प्रदान करता था, परन्तु आज नही। हमारे समाज में धन का स्वामित्व उच्च स्थिति का महत्वपूर्ण निर्धारक समझा जाता है।

प्रस्थिति के विभिन्न आधारों में सेकार्ड एवं बकमैन (Secord and Bukman) ने निम्नलिखित तीन की गणना कराई है—

(i) व्यक्ति की उनको, जिनके साथ वह अंतःक्रिया करता है, पुरस्कृत करने की समर्थता;

(ii) सीमा, जहाँ तक वह पुरस्कार प्राप्त कर रहा है;

(iii) उसकी लागत एवं निवेश (investments)।

इन तीनों आधारों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(१) उच्च प्रस्थिति-प्राप्त व्यक्तियों का पुरस्कार-मूल्य (Reward value of high status persons)—व्यक्तियों को, यदि उनके गुण समूह के प्रत्येक सदस्य के लिए पुरस्कार-योग्य हैं, उच्च स्थिति प्रदान की जाती है। वह गुण जो अधिकतम संख्या को अधिकतम पुरस्कार देते हैं, अधिकतम मान्यता तथा अधिकतम प्रस्थिति प्राप्त करता है। परन्तु इन गुणो का विरल संभरण होना चाहिए। कुछ क्रियाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकती हैं, परन्तु यदि सभी सदस्य इन क्रियाओं को करने लगें तो किसी भी सदस्य को अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त नहीं होगा। अतएव केवल ऐसे गुण ही, जो विरल पाए जाते हैं, प्रस्थिति मे योगदान देते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिको के समूह में गहन अन्तर्दृष्टि और मेधा वाला व्यक्ति ही उच्च

प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है, क्योंकि समूह के अन्य सदस्यों में वैसी अन्तर्दृष्टि एवं मेधा नहीं होती।

(ii) **प्राप्त पुरस्कार एवं खर्च लागत** (Reward received and costs incurred)—व्यक्ति को उच्च प्रस्थिति प्रदान की जाती है, यदि उसे ऐसे पुरस्कार प्राप्त होते हैं जो दूसरों को प्राप्त नहीं हुए। मान एक ऐसा पुरस्कार है। व्यक्ति को समाज में उच्च प्रस्थिति प्राप्त होती है, यदि अन्य व्यक्ति उसका अत्यधिक मान करते हैं। 'वीर चक्र' को प्राप्त करने वाला व्यक्ति उच्चतर प्रस्थिति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार सर्वप्रियता भी व्यक्ति की उच्च प्रस्थिति में योगदान दे सकती है।

इसी प्रकार, व्यक्तियों की प्रस्थिति उनके द्वारा खर्च की गई लागतों पर भी निर्भर कर सकती है। देश की सुरक्षा-हेतु अपने जीवन को बलिदान कर देने वाले व्यक्ति को उच्च प्रसिद्धि मिल सकती है। कभी-कभी तो यह प्रसिद्धि मरणोपरान्त मिलती है। परन्तु सभी लागतें प्रसिद्धि प्रदान नहीं करतीं। केवल ऐसी लागतें, जो अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा व्यय नहीं की जातीं तथा जो समूह के मूल्यों की प्राप्ति में सहायक होती हैं, प्रसिद्धि प्रदान करती हैं। वह सिपाही जो अनावश्यक ही शत्रु के सामने आ जाता है, पुरस्कृत होने की अपेक्षा दण्डित हो सकता है।

(iii) **निवेश** (Investments)—निवेश में ऐसी विशेषताएँ, जैसे प्रजाति, वंशीय पृष्ठभूमि, परिवार, आयु, लिंग एवं वरिष्ठता आदि सम्मिलित होती हैं। ये विशेषताएँ व्यक्ति को विशिष्ट प्रस्थिति का अधिकारी बना देती हैं। इस प्रकार, कुलीन परिवार के सदस्य की प्रस्थिति अकुलीन परिवार के व्यक्ति की अपेक्षा उच्च हो सकती है। वरिष्ठता साधारणतः अधिक विशेषाधिकार दिलाती है। वरिष्ठ प्राध्यापक अपने अवर साथियों में कार्य-विभाजन करता है, उसे निजी कार्यालय मिलता है, उच्च वेतन पाता है तथा उसे कुछेक अवकाश-सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार, प्रस्थिति अन्तःक्रिया की उपज है। व्यक्तियों को उसी मात्रा तक उच्च प्रस्थिति प्राप्त होती है, जहाँ तक उनके गुण समूह के सदस्यों के लिए पुरस्कार योग्य होते हैं। व्यक्ति से जितने अधिक पुरस्कारों की कल्पना की जाती है, उतनी प्रस्थिति उतनी ही उच्च होती है। इसी प्रकार उसका गत इतिहास अथवा पृष्ठभूमि भी उसकी प्रस्थिति में योगदान दे सकती है।

प्रस्थिति-तुलना (Status comparison)—साधारणतः व्यक्ति अपनी एवं दूसरे की प्रस्थिति, अर्थात् खर्च की गई लागतों, एकत्रित निवेश एवं प्राप्त पुरस्कारों की तुलना करते हैं। यदि वे निवेशों को परिणामों के अनुपात में ठीक नहीं पाते तो उन्हें असंतुष्टि होती है। व्यक्तियों का ऐसा समूह जो ऐसे निवेशों, जैसे वरिष्ठता एवं ज्ञान में श्रेष्ठ है, असंतुष्ट महसूस करेगा, यदि व्यक्तियों के अन्य समूह, जो वरिष्ठता एवं ज्ञान में निम्न हैं, को वेतन एवं स्वायत्तता में अधिक उत्तम पुरस्कार मिल जाएँ। इसलिए लोगों को संतुष्ट रखने के लिए होमांस (*Homans*) ने वितरणशील न्याय (distributive justice) कहा है, होना चाहिए। लोग क्रुद्ध होते हैं, जब उनका लाभ उनके निवेशों की अपेक्षा कम होता है, क्योंकि

बतलाया गया था कि उच्च निवेश से उच्च पुरस्कार प्राप्त होते हैं। जब उनकी यह प्रत्याशा पूरी नहीं होती, उन्हें स्वाभाविकतया दुःख होता है।

यह भी ध्यान रहे कि व्यक्ति अपनी तुलना प्रत्येक के साथ नहीं करते। जिन लोगों से और जिस मात्रा मे वह अपनी तुलना करता है, उसका निर्धारण वितरण-शील न्याय, व्यक्ति का अपनी शक्ति के बारे में अवधारणा तथा तुलना हेतु सुलभ अवस्थाओं के नियमों पर होता है। निम्नलिखित कुछ अवस्थाएँ हैं जिनके अधीन प्रस्थिति को तुलना की जाती है—

(i) प्रथमतया, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के पुरस्कारों, लागतों एवं निवेशों का पर्यवेक्षण करने योग्य हो, ताकि वह उनकी अपने साथ तुलना कर सके;

(ii) द्वितीय, प्रत्येक व्यक्ति में पुरस्कार प्राप्त करने अथवा लागतों से बचने के लिए लगभग समान शक्ति होनी चाहिए;

(iii) तीसरे, व्यक्ति अपनी तुलना उन व्यक्तियों से करेगा, जिनके पुरस्कार एवं लागत उसके पुरस्कारों एवं लागतों से अधिक भिन्न न हों;

(ix) चतुर्थ, तुलनाएँ समान निवेशों वाले व्यक्तियो से ही होनी चाहिए, क्योंकि उनके पुरस्कार एवं लागत समान होने चाहिए।

सहोदर प्रतिस्पर्द्धा प्रस्थिति तुलना का एक प्रमुख उदाहरण है। सहोदर प्रतिस्पर्द्धा को दूर रखने के लिए माता-पिता को बच्चो को पुरस्कार प्रदान करने में नितान्त न्यायोचित होना चाहिए, अथवा उनके पुरस्कार इतने विभिन्न प्रकार के हों कि उनमे तुलना सम्भव न हो सके।

चूँकि व्यक्तियों में अपनी प्रस्थिति को बनाए रखने की प्रवृत्ति होती है, अतएव वे प्रस्थिति के लिए घातक परिवर्तनों का प्रतिरोध करते हैं। ऐसा प्रतिरोध प्रस्थिति-संरचना की स्थिरता को जन्म देता है। उच्च प्रस्थिति वाले व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से संगत मूल्यों के समर्थन द्वारा पूर्वस्थिति (status quo) को बनाए रखते हैं। व्यक्ति में स्वयं को इस प्रकार प्रस्तुत करने की आकांक्षा होती है कि जिससे उसकी प्रस्थिति अधिकतम लगे। परन्तु यह उसे सामाजिक संस्तरीकरण में दूसरे व्यक्तियों तथा स्वयं के स्थान के बारे में भ्रम उत्पन्न कर सकता है।

४. अर्जित एवं आरोपित प्रस्थिति

(Achieved and Ascribed Status)

समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्माण करने वाली दो प्रक्रियाएँ होती हैं जो अर्जन (achievement) एवं आरोपण (ascription) की प्रक्रियाएँ हैं। प्रत्येक समाज इन दो प्रक्रियाओं में चयन करने की समस्या का सामना करता है। किसी समाज में प्रस्थिति आरोपित तो अन्य में अर्जित हो सकती है, परन्तु कोई भी समाज इन दोनों नियमो में से एक का बहिर्मुखी प्रयोग नहीं करता। प्रत्येक समाज दोनों का प्रयोग करता है। केवल प्रश्न यह है कि किसी विशेष मामले में प्रस्थिति का निर्धारण, अर्जन अथवा आरोपण द्वारा किस मात्रा तक हुआ है।

आरोपित प्रस्थिति (Ascribed status)—बच्चा, जो प्रस्थिति समाजीकरण की प्रक्रिया के आरम्भ मे प्राप्त करता है, उसकी आरोपित प्रस्थिति होती है, क्योंकि उसने इसे अर्जित नहीं की होती। यह प्रस्थिति उसे ऐसे समय प्रदान की जाती है जब समाज को उसकी क्षमताओं का ज्ञान नहीं होता। चूंकि बच्चे की क्षमताओं का ज्ञान नही होता तथा समाजीकरण की प्रक्रिया हेतु उसे कोई प्रस्थिति प्रदान की जानी आवश्यक है, अतएव समाज उसे अपने नियमों के आधार पर प्रस्थिति प्रदान कर देता है। साधारणतः समाज इस समय निम्नलिखित चार तत्वों पर प्रदान देता है—

(i) लिंग (Sex)—सभी समाज पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए भिन्न भूमिकाएं निर्धारित करते हैं तथा उनके प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। इन को दोनों लिंगों के शारीरिक भेदों के कारण न्याययुक्त कहा जाता है। परन्तु पुरुषों एवं स्त्रियो के लिए निर्दिष्ट भूमिकाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जाता है कि जैविक भिन्नताएँ प्रस्थिति के आरोपण का ठोस कारण नहीं हैं। मान लेना बहुत दूर की बात है कि जैविक विशेषताएँ स्त्री जाति के प्रदत्त की सीधी व्याख्या करती हैं, प्रथमतया, क्योंकि पुरुषों एवं स्त्रियों, अधिक नही हैं कि वे उनके मध्य सामाजिक भेदों की व्याख्या कर सकें; क्योंकि सामाजिक भेद स्वयं स्थायी नहीं हैं और एक समाज से दूसरे तथा एक समय से दूसरे समय में बदलते रहते हैं। कुछ समाजों में पुरुष पर रहते हैं, तो अन्य में स्त्रियाँ। कुछ जनजातियों में पुरुष जादूगरी का कार्य करते तो अन्य में स्त्रियाँ। स्त्री के लिए निर्दिष्ट प्रस्थिति का एक ही कारण है, यह है प्रजनन-हेतु उसकी शारीरिक विशेषता। क्योंकि उसे अपने शरीर में भ्रूण को लम्बे समय के लिए धारण करना पड़ता है, अतएव उसकी सीमित हो जाती है। उसे ऐसे कार्य दिए जाते हैं जो उसके शिशु-जनन कार्य खाते हैं। घर सँभालना, भोजन बनाना, बागवानी, सेवा करना, बर्तन आदि सभी कार्य उसके शिशु-जनन कार्य के साथ चल सकते हैं। ये कार्य ऐसे हैं घर में रहने देते हैं, उसके गर्भ-धारण में अधिक बाधा नही डालते शारीरिक की अपेक्षा सामान्य सहन शक्ति की आवश्यकता हैं। यद्यपि में स्त्रियों के लिए निर्दिष्ट प्रस्थिति में काफी परिवर्तन हुए हैं, तथापि इसमें है कि लिंग के आधार पर प्रस्थिति का आरोपण समाज से कभी जाएगा।

(ii) आयु (Age)—आयु भी सभी समाजों द्वारा प्रयुक्त एक महत्वपूर्ण तत्व है। लिंग की भाँति यह भी निश्चित एवं दृश्य शारीरिक तथ्य है। साधारणतः समाज में पाँच बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था को मान्यता कुछ समाज दो अन्य विचित्र आयु-काल, अर्थात् अजन्मित एवं मृत्यु अवस्था को महत्व देते हैं। अजन्मित प्रस्थिति से जीवित की प्रस्थिति में द्वारा लक्षित होता है।

शैशवावस्था से बाल्यावस्था में संक्रमण सरल होता है तथा

समाज इस पर कोई विशेष ध्यान देता है। बाल्यावस्था से किशोरावस्था में परिवर्तन में शारीरिक परिवर्तन अभिलक्षित होते हैं। प्रौढ़ावस्था में परिवर्तन को रीति-रिवाज, संस्कार एवं कानून द्वारा मान्यता दी जाती है। विवाह सामान्यतः इसी परिवर्तन के पश्चात् होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रौढ़ावस्था तक का शारीरिक संक्रमण व्यक्ति की एक कोटि से दूसरी कोटि के सामाजिक परिवर्तन से मेल खाए। बालक तब तक प्रौढ़ नहीं बनता, जब तक वह शारीरिक रूप से परिपक्व नहीं बन जाता है। आधुनिक समाज में बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था में संक्रमण पर अत्यधिक तनाव चार कारणों से है। प्रथमतया, शिक्षण-काल का समय शारीरिक परिपक्वता के काल से बहुत आगे तक बढ़ जाता है। द्वितीय, मनुष्य प्रत्येक क्रिया हेतु सामाजिक रूप से योग्य नहीं बन जाता, अपितु उस समय बनता है जब वह सामाजिक रूप से प्रौढ़ हो जाता है। उसकी विवाह-आयु मतदान-आयु से बहुधा पूर्व आ जाती है, इसी प्रकार संविदा करने की आयु नौकरी प्राप्त करने की आयु से कम होती है। तृतीय, माता-पिता उसके प्रौढ़ हो जाने के पश्चात् तक उस पर अपनी सत्ता का प्रयोग करते रहते हैं। बहुधा माता-पिता जो बच्चों के कल्याण-हेतु अपनी सत्ता बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं तथा बच्चों के मध्य, जो पैतृक प्रभुत्व से स्वतंत्रता चाहते हैं, संघर्ष एवं प्रतियोगिता हो जाती है। चतुर्थतया, लैंगिक परिपक्वता एवं विवाह के बीच काफी समय का अन्तर पड़ जाता है। अविवाहित अवस्था का दीर्घीकरण एवं पूर्वविवाह-संभोग की अमान्यता लैंगिक तनाव के तत्व को उत्पन्न कर देती है जिससे प्रौढ़ावस्था की समस्या जटिल बन जाती है।

प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था में संक्रमण सरलता से दर्शनीय नहीं है। कोई स्पष्ट शारीरिक रेखा नहीं होती, यद्यपि अवकाश-प्राप्ति की आयु निर्धारित होती है जो नितान्त स्वैच्छिक होती है। इसकी स्वैच्छिकता इस तथ्य से सिद्ध होती है कि कुछ व्यक्ति अवकाश-प्राप्ति से पूर्व अपनी स्फूर्ति एवं शक्ति खो बैठते हैं, जबकि अन्य व्यक्ति बहुत समय बाद तक मानसिक रूप से ओजस्वी बने रहते हैं। वृद्ध लोगों के लिए निर्धारित कार्यों का रूप विभिन्न समाजों में भिन्न है। कुछ समाजों में उन्हें परिश्रम से अवकाश मिल जाता है, तो अन्य में उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता है। कुछ स्थानों पर उनका आदर नहीं होता, एवं उन्हें अनावश्यक भार समझा जाता है, जबकि अन्य में उनका मान होता है तथा उनसे परामर्श लिया जाता है। कभी-कभी यह आरोप लगाया जाता है कि बूढ़े अपने पदों पर चिपटे रहते हैं तथा नवयुवकों को आगे बढ़ने के लिए मार्ग नहीं देते। सामान्यतः यह सच है कि वृद्ध व्यक्ति अपनी सत्ता से चिपके रहते हैं, परन्तु वे ऐसा कर सकने में अपनी श्रेष्ठता के कारण समर्थ होते हैं—ऐसी श्रेष्ठता, जो आयु एवं वरिष्ठता के आधार पर प्रस्थिति के आरोपण द्वारा विकसित हुई है। परन्तु वर्तमान समाज में श्रेष्ठता एवं मान के अधिकारों का ह्रास हो रहा है, क्योंकि आधुनिक परिवार वैयक्तीकृत इकाई बन गया है जो सामान्य आर्थिक उद्यम में संयुक्त नहीं रहा है। यह विचित्र बात है कि प्रौढ़ बच्चे अपने बूढ़े माता-पिता की कोई परवाह नहीं करते, जबकि देखभाल की उन्हें अधिक आवश्यकता होती है।

सामान्यतया, समाजों में बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था में संक्रमण को तो महत्त्व

दिया जाता है, परन्तु प्रौढ़ावस्था से वृद्धावस्था में संक्रमण की अवहेलना की जाती है। जहाँ इसका आंशिक कारण यह है कि वृद्धावस्था के आरम्भ-काल का निर्धारण कठिन है, दूसरी ओर इसका मुख्य कारण यह है कि प्रौढ़ावस्था में नवागन्तुक समाज के कल्याण एवं इसकी शाश्वतता में अधिक योग देते हैं।

समाज में मृतकों को भी प्रस्थिति प्रदान की जाती है। ऐसा विशेषतया उन संस्कृतियों में पाया जाता है जहाँ पूर्वजों की पूजा होती है। किसी स्मारक का निर्माण किया जाता है तथा लोग उसकी पूजा करने एवं भेंट चढ़ाने जाते हैं। हिन्दुओं में श्राद्ध नामक पर्व मृतकों को भेंट देने के लिए मनाया जाता है।

(iii) नातेदारी (Kinship)—सामान्यतया, समाज बच्चे को उसके माता-पिता एवं सहोदरों *के साथ सम्बन्ध के आधार पर प्रस्थिति आरोपित* करता है। उसकी प्रस्थिति उसके माता-पिता की प्रस्थिति के समान होती है। यद्यपि ऐसा तादात्म्य स्वैच्छिक है, क्योंकि माता-पिता की समर्थताओं एवं सन्तान की समर्थताओं में कोई *आवश्यक सम्बन्ध नहीं है, तथापि* बच्चे को *शेष समाज से* सबंधित करने एवं उसे तदनुसार प्रशिक्षित करने का यह सबसे सुगम सामाजिक उपाय है। नागरिकता, धार्मिक संबद्धता एवं सामुदायिक सदस्यता का आरोपण अधिकांशतया माता-पिता के साथ तादात्म्य से होता है। जाति-व्यवस्था में बच्चे को उसके माता-पिता की ही प्रस्थिति प्राप्त होती है। बच्चे एवं माता-पिता के बीच निकटस्थ सम्बन्ध तथा उसके पालन-पोषण में माता-पिता की प्रमुख जिम्मेदारी के कारण यह स्वाभाविक है कि *बच्चे को आरम्भ मे उसके माता-पिता की प्रस्थिति प्रदान* की जाए।

(iv) *सामाजिक तत्व (Social factors)*—लिंग, आयु एवं नातेदारी ही प्रस्थिति-आरोपण के केवल मात्र तत्व नहीं हैं। कभी-कभी विशुद्ध सामाजिक तत्व भी आरोपण का आधार होते हैं। सभी समाज अपने सदस्यों को विभिन्न वर्गों अथवा श्रेणियों में वर्गीकृत कर उन्हें विभिन्न प्रकार की प्रस्थिति प्रदान करते हैं। ये श्रेणियाँ अनेक आधारों पर उत्पन्न हो सकती हैं। प्रौद्योगिक कौशल अथवा अन्य योग्यताओं मे अन्तर इनको जन्म दे सकता है। ये कुछ *सामाजिक* इकाइयों, यथा प्राध्यापक समुदाय अथवा प्राधिकारी क्लब के संगठन के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकती हैं। सामाजिक रूप से अनुगृहीत समूह के सदस्य निम्न समूहों मे प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। प्रवेश पर ऐसे प्रतिबन्ध की प्रवृत्ति समाज में अनेक *वंशानुगत* वर्गों एवं जातियों को जन्म दे सकती है। ऐसी वंशानुगत जातियाँ अथवा वर्ग प्रस्थिति-आरोपण हेतु सन्दर्भ-बिन्दु के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। भारत में, परिवार एवं जाति *व्यक्ति के स्थान को निर्धारित करने मे आरोपक तत्वों के* रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status)

जबकि प्रस्थिति का आरोपण आवश्यक है, ताकि बच्चे का समाजीकरण शीघ्र आरम्भ हो सके, प्रस्थिति के निर्धारण को मात्र आरोपण पर पूर्णतया नहीं छोड़ा जा सकता। कोई भी समाज पूर्णतया आरोपित प्रस्थिति पर आधारित नहीं होता। इसमे प्रतिभा एवं प्रयत्नों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के अनुसार प्रस्थिति के सुचारु एवं उचित परिवर्तन की व्यवस्था होती है। यदि समाज अपने सदस्यों

को अपने प्रयत्नों एवं प्रतिभाओं के अनुसार प्रस्थिति-परिवर्तन की अनुमति नहीं देता तो प्रतिभावान् व्यक्ति अवैध मार्गों की ओर प्रवृत्त हो जाएँगे। उनकी समर्थताओं का सामान्य सामाजिक लक्ष्यों हेतु उपयोग करने के लिए समाज को प्रस्थिति के अर्जन को संस्थायीकृत करना होगा। ऐसा करने से यह व्यक्तियों को अपना सर्वोत्तम प्रयत्न तथा उपक्रम करने के लिए प्रेरित करेगा। इससे उनकी क्षमता को प्रोत्साहन मिलेगा तथा केवल आरोपित प्रस्थिति के आधार पर अयोग्य व्यक्तियों को ऊँचे पदों पर जाने से रोकेगा।

सामान्यतः, आदिम समाजों में आरोपित प्रस्थिति पर अधिक बल दिया जाता है। सभ्य समाजों में अर्जित प्रस्थिति पर अधिक बल होता है। जीवन की नगरीय अवस्थाओं, अति श्रम-विभाजन एवं द्रुत सामाजिक परिवर्तन ने व्यक्तियों के लिए अपनी उपलब्धियों के आधार पर प्रस्थिति अर्जित करना सम्भव बना दिया है। सामाजिक परिवर्तन की विशेषता ने नई प्रस्थितियों को जन्म दिया है और क्योंकि ये प्रस्थितियाँ नई हैं, अतएव इन्हें आरोपण द्वारा नहीं भरा जा सकता। इसी प्रकार, नगर ने लोगों को अपनी अभिव्यक्त उपलब्धियों के अनुसार विशिष्ट पदों पर चयन-योग्य बना दिया है। आधुनिक समाज की व्यापारिक गतिविधियों ने व्यक्ति के लिए अपनी समर्थताओं के प्रयोग द्वारा प्रगति के उत्तम अवसर प्रदान कर दिए हैं।

यह ध्यान रहे कि सभी प्रस्थितियाँ उपलब्धि-हेतु खुली नहीं होतीं। उनमें से केवल कुछ ही उपलब्धि-हेतु खुली रखी जाती हैं। ऐसी प्रस्थितियाँ—(i) जिनमें असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता है; (ii) जो जनता की अनौपचारिक एवं सहज स्वीकृति पर आधारित हैं; एवं (iii) जिनके लिए महँगी एवं लम्बी शिक्षा की आवश्यकता है, उपलब्धि-हेतु खुली होती हैं।

क्या प्रस्थिति के अर्जन पर कोई सीमा होनी चाहिए? जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, लिंग, आयु एवं सामाजिक संबद्धता-जैसे तत्व कुछ प्रस्थितियों, जिनके लिए असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता होती है, के अर्जन को सीमित कर देते हैं। परन्तु समाज भी सीमाएँ आरोपित करता है। देशीयकृत (naturalised) नागरिक संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति नहीं बन सकता, न ही कोई स्त्री अब तक राष्ट्रपति बनी है, तथा यह भी संशयात्मक ही है कि कोई स्त्री कभी राष्ट्रपति बन सकेगी। स्त्री रोटरी क्लब की सदस्या नहीं बन सकती। भारत में अनमनीय जाति-संरचना के कारण सामाजिक प्रस्थिति निश्चित है। प्रतियोगिता के क्षेत्र परिसीमित हैं। अनमनीय रूप से संगठित समाज की सदस्यता व्यक्ति को अपनी विशेष प्रतिभाओं की अभिव्यक्ति के अवसरों से वंचित कर देती है।

यह कहा जाता है कि अर्जित प्रस्थिति-हेतु प्रतियोगिता पर सीमाएँ लोगों को अभिक्रम एवं अपना सर्वोत्तम प्रयत्न करने से निरुत्साहित करती हैं जिससे समाज प्रतिभावान् व्यक्तियों की सेवा से वंचित हो जाता है। परन्तु, सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण सामान्य व्यक्ति, जो किसी भी भूमिका को यदि प्रतिभा-पूर्वक नहीं तो यथेष्ठ रूप से पूरित करने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है, की

समर्थताओं के आधार पर होता है। लुंडबर्ग (Lundberg) ने लिखा है, "... प्रस्थिति का आरोपण सदर्थ संभव गहन प्रशिक्षणसहित इस बात का आश्वासन कि उस भूमिका का सम्पादन हो जाएगा, यद्यपि ऐसा सम्पादन मध्यम है। ... का आरोपण कुछ भूमिकाओं के प्रतिभापूर्वक सम्पादन को बलिदान कर ... सम्पादन को निश्चित बना देता है।"[1]

जब सामाजिक व्यवस्था अपने पर्यावरण के साथ अच्छी प्रकार ... जाती है, तो यह विशेष प्रतिभाओं के प्रयोग बिना भी सुचारु ढंग से चल सकती ... परन्तु जब सामाजिक परिवर्तन होता है, तो इसे इन प्रतिभाओं का प्रयोग ... पड़ता है, तथा उन्हें मान्यता प्रदान करनी होती है। इस प्रकार, नई ... परिवर्तनशील अवस्थाओं के अधीन समाज अर्जन-योग्य प्रस्थितियों एवं सदर्थ-... योगिता की व्यापक परिसीमाओं से सामान्यतः अभिलक्षित होते हैं। परन्तु ... समाजों में अर्जित प्रस्थिति की अपेक्षा अभिरोपित प्रस्थिति की प्रधानता होती ... प्रतियोगात्मक समाजों में भी अभिरोपित प्रस्थिति अर्जित प्रस्थिति को ... लेती है।

५. प्रस्थिति-व्यवस्था की सामाजिक आवश्यकता
(Social Need of Status System)

सामाजिक प्रस्थिति व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण ... व्यक्ति को समाज में मान अपनी प्रस्थिति के कारण मिलता है। व्यक्ति की प्र... में वृद्धि उसको पहले की अपेक्षा अधिक मान का पात्र बना देती है। ... प्रत्येक समाज में विवाह प्रस्थिति के आधार पर निश्चित किए जाते हैं। ... व्यक्ति अपने पुत्र और पुत्री का यदि अधिक नहीं तो समान प्रस्थिति वाले ... में विवाह करना चाहता है। भूमिका एवं प्रस्थिति का घनिष्ठ सम्बन्ध ... व्यक्ति की भूमिका उसकी प्रस्थिति को निर्धारित करती है तथा उसकी ... प्रस्थिति में परिवर्तन के साथ बदल जाती है। किसी समूह ... उसकी प्रस्थिति-संरचना के अनुकूल होती है। प्रस्थिति व्यक्ति को अनेक अ... धिकार प्रदान करती है, यथा इंग्लैंड में कोई व्यक्ति शाही परिवार के ... मुकदमा दायर नहीं कर सकता। इस प्रकार, व्यक्ति अपनी सामाजिक प्रस्थिति के ... कारण अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लाभ प्राप्त करता है।

जैसा हमने ऊपर देखा है, प्रस्थिति-व्यवस्था मानव-समाज की सार्व... विशेषता है। यह सामूहिक जीवन का आधार है और इस बात का निर्धारण ... है कि किसे आदेश देने हैं तथा किसे उनका पालन करना है। प्र... कार्य के विशेषीकरण एवं समुदाय में विशिष्ट कार्यों के समन्वय के लिए आवश्यक ... यह प्रयत्न-हेतु प्रेरणा प्रदान करने एवं सहकारी जीवन-हेतु आवश्यक उतार ... निर्भरता एवं स्थिरता की भावना उत्पन्न करने के लिए महत्वपूर्ण है। परन्तु ... व्यवस्था अनमनीय नहीं होनी चाहिए। यह नमनीय होनी चाहिए। ऐसी ...

---

1. Lundberg, *op. cit.*, p. 324.

वस्था जिसमें नमनीयता का अभाव है और जो परिवर्तनशील परिस्थितियों के नुसार परिवर्तित नहीं होती, व्यक्ति में तनाव उत्पन्न कर समूह के जीवन पर निकर प्रभाव डाल सकती है।

प्रश्न

१. भूमिका का क्या अर्थ है ? आधुनिक समाज में भूमिका-संघर्ष के तथ्य ी विवेचना कीजिए।

२. प्रस्थिति की अवधारणा का वर्णन कीजिए। प्रस्थिति के निर्धारक तत्वों ा उल्लेख कीजिए।

३. प्रस्थिति-तुलनाएँ सभी परिस्थितियों में नहीं की जातीं। प्रस्थिति-तुलना ो उत्पन्न करने में कौन-सी परिस्थितियाँ अधिक सहायक हैं ?

४. आरोपित प्रस्थिति का क्या अर्थ है ? प्रस्थिति-आरोपण हेतु कौन-से दर्भ-बिंदुओं का चयन होता है ?

५. "प्रस्थिति आंशिक आरोपित एवं आंशिक अर्जित होती है।"—इस कथन ी व्याख्या कीजिए।

६. समाज में प्रस्थिति-व्यवस्था के सामाजिक महत्व का वर्णन कीजिए।

अध्याय २३

नेतृत्व एवं शक्ति

[LEADERSHIP AND POWER]

पुरातन काल से ही नेतृत्व ने मानव-इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इतिहासकारों ने युद्ध में वीरों का यशोगान किया है और भावी पीढ़ियों के लिए उनके कार्यों के महत्व की सराहना की है। साम्राज्यों, प्रदेशो एवं राष्ट्रों के विस्तार में राजनीतिज्ञों, कूटनीतिज्ञों एवं सम्राटों की भूमिका को सामाजिक इतिहास में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। आधुनिक समाज में भी नेतृत्व पर अत्यधिक बल दिया जाता है। नेतृत्व के गुणों से युक्त मनुष्यों की निरन्तर खोज रहती है। भारत में वर्तमान संकट नेतृत्व का संकट है जो लोकतंत्र एवं समाजवाद की अवधारणाओं के अनुरूप जन-उत्साह को नई दिशाएँ प्रदान कर सके।

१. नेतृत्व का अर्थ

(The Meaning of Leadership)

नेतृत्व की परिभाषा देना बहुत कठिन है, अथवा दूसरे शब्दों मे यह बतलाना बहुत कठिन है कि व्यक्तियों को कौन-सी बातें नेता बना देती हैं। बारनर्ड (Barnard) ने ठीक ही कहा है कि "वस्तुत: मैंने कभी कोई नेता नहीं देखा, जो यह बतला सके कि वह क्यों नेता है, न अनुयायी ही पूरी तरह यह बतला सकते हैं कि उन्होंने अपने नेता का अनुसरण क्यों किया।" नेतृत्व किसी सगठन के व्यवहार का महत्वपूर्ण परिवर्तनकारी है। यह व्यवहार के विशेष क्षेत्र में उपलब्धि अथवा उत्कृष्टता पर आधारित प्रमुख रूप से वैयक्तिक समझा जाता है। इस प्रकार उत्कृष्ट बल, उत्कृष्ट चतुरता, उत्कृष्ट बुद्धि, उत्कृष्ट ज्ञान, उत्कृष्ट इच्छा-शक्ति, इनमें से कोई अथवा सभी नेतृत्व की प्राप्ति करा सकते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि ये वैयक्तिक गुण लाभकारी हैं परन्तु नेतृत्व नितान्त वैयक्तिक उत्कृष्टता नही है। यह इससे 'कुछ अधिक' है और यही 'कुछ अधिक' नेतृत्व का सार है। यह 'कुछ अधिक' नए लक्ष्यो को स्थापित करने, समूह को नई एवं ऊँची प्रत्याशाएँ दिलाने तथा उस समूह को इसकी कुलीन शक्तियों का आभास करा देने की समर्थता है। अतएव नेतृत्व के दो अर्थ हैं। शब्दकोश के अनुसार, "नेतृत्व करना' क्रिया मे दो भाव निहित हैं—(१) दूसरो के आगे बढ़ना, श्रेष्ठ होना; एवं (२) दूसरों का मार्गदर्शन करना, किसी संगठन का अध्यक्ष होना, बागडोर सँभालना।" पूर्वोक्त अर्थ में, नेतृत्व व्यक्तिगत सर्वश्रेष्ठता है, जबकि उत्तरोक्त अर्थ में इसे संगठनात्मक कौशल से अभिन्न समझा जाता है। इस प्रकार, वैयक्तिक नेतृत्व का समूह-नेतृत्व से अन्तर किया जा सकता है। वैयक्तिक नेतृत्व के गुण जन्मजात होते हैं, परन्तु समूह-नेतृत्व के गुण सीखने पड़ते हैं।

नेतृत्व बनाम शक्ति (Leadership vs. power)—नेतृत्व एवं शक्ति की अवधारणाओं मे अधिक साम्य है। कुछेक व्यक्ति इसलिए नेता हैं, क्योंकि उनके

हाथ में शक्ति है। वस्तुतः नेता के शक्तिहीन होने की कल्पना निर्मूल है। फलस्वरूप, प्रभाव का प्रयुक्तीकरण नेतृत्व की अधिकांश परिभाषाओं का केन्द्रीय तत्व है। लापियर (Lapiere) के अनुसार, "नेतृत्व ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को उनका व्यवहार नेता के व्यवहार को प्रभावित करने की अपेक्षा अधिक प्रभावित करता है।"[1] पीगोर (Pigor) के अनुसार, "नेतृत्व व्यक्तित्व-पर्यावरण के सम्बन्ध में प्रयुक्त उस स्थिति का वर्णन करने की अवधारणा है, जब कि कोई व्यक्ति उस पर्यावरण में ऐसा स्थान रखता है कि उसकी इच्छा, भावना एवं अन्तर्दृष्टि सामान्य उद्देश्य के अनुसरण में दूसरे व्यक्तियों को नियंत्रित एवं निर्देशित करती है।"[2] एच० टी० मजूमदार (H. T. Mazumdar) के अनुसार, "नेता ऐसा व्यक्ति होता है जिसके पास शक्ति एवं सत्ता होती है।" परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नेतृत्व एवं शक्ति समानार्थक हैं और न ही शक्ति एवं सत्ता का समान अर्थ है। शक्ति सत्ता अथवा आदेश को अभिलक्षित करती है एवं किसी समूह में इनका प्रयोग कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किया जाता है, परन्तु नेतृत्व-क्रिया में शक्ति के इन साधनों का चयन होता है। नेता सदैव इन साधनों पर निर्भर नहीं रह सकता और न ही वह रहेगा, तथा यदि उसे उनका प्रयोग भी करना पड़ता है तो वह इनका प्रयोग अंतिम अवस्था में करेगा। उसका मौलिक कार्य उत्प्रेरित एवं प्रोत्साहित करना है। एलन (Allen) के अनुसार, "नेतृत्व लोगों को सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति में सहयोग देने के लिए प्रवृत्त करने की क्रिया है।" टेरी (Terry) के अनुसार, "नेतृत्व पारस्परिक उद्देश्यों हेतु इच्छापूर्वक प्रयास करने हेतु लोगों को प्रभावित करने की क्रिया है।" नेतृत्व में सदैव किसी परिस्थिति में अनुयायी अथवा अनुयायियों के व्यवहार को प्रभावित करने के प्रयत्न निहित होते हैं। सैकलर हडसन (Seckler Hudson) के शब्दों में, "वृहत् संगठनों में नेतृत्व की परिभाषा है किसी उद्यम (enterprise) के उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु सामान्य प्रयत्न में लोगों को मिल कर काम करने के लिए प्रभावित एवं उत्साहित करना।" उसके अनुसार, नेतृत्व पर (i) व्यक्ति, (ii) अनुयायियों, एवं (iii) अवस्थाओं, तीन बातों का प्रभाव पड़ता है। नेतृत्व परिस्थितियों अथवा अवस्थाओं से प्रभावित होता है, जिनके प्रति शक्ति ध्यान नहीं देती। शक्ति वह सत्ता है जो नेता से नीचे की ओर जाती है। नेता कदाचित् ही उस समूह का, जिसका वह स्वयं एक भाग है, स्वतंत्र होकर नेतृत्व करता है। उसके अनुयायी उसके प्रभाव को, जो वह अपने अनुयायियों के व्यवहार पर डालता है, प्रभावित करते हैं। जबकि नेता अनुयायियों को प्रभावित करता है, अनुयायी भी उसके व्यवहार को प्रभावित करते हैं। यह दो मार्गीय मामला है। किसी भी समाज में नेता विशुद्ध निरंकुश ढंग से शक्ति का प्रयोग नहीं करते। कहा गया है कि जो जन-समुदाय का नेतृत्व करता है, उसे जन-समुदाय का अनुसरण करना चाहिए। इस

---

1. "Leadership is a behaviour that affects the behaviour of other people more than their behaviour affects that of the leader."—Lapiere, R. T., *Social Psychology*, p. 259.
2. [illegible] environment relation [illegible] in the environment [illegible] others in pursuit of [illegible]

प्रकार नेतृत्व-सम्बन्धों में धारा दोनों ओर प्रवाहित होती है, परन्तु शक्ति-सम्बन्धों में धारा केवल एक ओर प्रवाहित होती है। यह डी०सी० (D. C.) विद्युत्-धारा न होकर ए० सी० (A. C.) विद्युत्-धारा है।

शक्ति प्रभाव (influence) का समानार्थक नहीं है। एक नवजात शिशु अपने माता-पिता के व्यवहार को प्रभावित एवं परिवर्तित कर सकता है, परन्तु यह प्रभाव परिवार में शक्ति के समकक्ष नहीं है।

नेतृत्व बनाम अध्यक्षता (Leadership vs. headship)—नेतृत्व आवश्यक रूप से अध्यक्षता नहीं होता। अध्यक्षता का अर्थ पदीय सोपान मे किसी पद से होता है। एक व्यक्ति जो किसी संगठन का अध्यक्ष है, उसका इसके सदस्यों पर हो सकता है, कोई प्रभाव न हो। यह प्रभावहीन अध्यक्ष हो सकता है। परन्तु ज्यों ही वह प्रभावशाली बन जाता है, नेता हो जाता है क्योंकि नेतृत्व में प्रभावित करने की समर्थता मूलतः निहित है।

नेतृत्व की विशेषताएँ (Characteristics of leadership)—उपर्युक्त वर्णन से हम नेतृत्व की अवधारणा में निम्नलिखित प्रमुख तत्वों की खोज कर सकते हैं—

(i) प्रथम, नेतृत्व में नेता एवं उसके अनुयायियों के मध्य पारस्परिक व्यवहार का प्रतिमान निहित होता है।

(ii) द्वितीय, नेतृत्व दो-मार्गीय मामला है। अनुयायी नेता के व्यवहार को उतना ही प्रभावित करते हैं, जितना नेता उनके व्यवहार को प्रभावित करता है।

(iii) तृतीय, नेतृत्व की अवधारणा की अनुयायियों के संदर्भ में ही व्याख्या की जा सकती है, क्योंकि यदि अनुयायी नहीं होंगे तो कोई नेता भी नहीं होगा।

(iv) चतुर्थ, नेतृत्व में अनुयायियों द्वारा ऐच्छिक आज्ञापालन का तत्व निहित है। नेतृत्व सहयोग एवं सद्भावना पर आधारित है। मात्र भय-प्रदर्शन एवं बल के आधार पर कोई व्यक्ति अधिक समय तक नेता नहीं बना रह सकता।

(v) अंतिम, नेतृत्व विशिष्ट परिस्थिति से संबंधित होता है। एक व्यक्ति सभी क्षेत्रों में नेता नहीं हो सकता।

२. नेतृत्व का स्वरूप
(Nature of Leadership)

नेतृत्व के स्वरूप-सम्बन्धी दो मुख्य उपागम हैं—गुण-प्रधान (traitist) एवं परिस्थिति-प्रधान (situationist)। प्राचीन काल मे नेतृत्व के मूल नेता के वैयक्तिक गुण समझे जाते थे तथा समूह-संरचना एवं परिस्थिति के योगदान पर कम ध्यान दिया जाता था। आरम्भिक अध्ययनों मे कुछ गुणों पर ध्यान केन्द्रित रहता था जिनके आधार पर नेताओं की अनेताओं के साथ तुलना की जाती थी, परन्तु उत्तरकालीन अध्ययनों ने गुण-प्रधान उपागम के तर्कदोष को स्पष्ट कर दिया। गिब (Gibb) ने कहा कि नेता के गुण विशेष सामाजिक परिस्थिति

से संबंधित होते हैं तथा उनकी अभिव्यक्ति एकान्त में नहीं होती। उसने बतलाया कि नेताओं की विशिष्टता को अभिव्यक्त करने वाले गुणों के स्थिर प्रतिमान की खोज असफल रही है। उसका कथन है कि नेतृत्व के गुण व्यक्तित्व की एक अथवा वह सभी विशेषताएँ हैं, जो किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को इस योग्य बना देती हैं कि वह समूह-लक्ष्य की प्राप्ति में योगदान दे सकता है, अथवा दूसरे सदस्य उसको ऐसा करते हुए देख सकते हैं। वह व्यक्ति जो नेता बन जाता है, किसी विशेष परिस्थिति में ध्येय की पूर्ति के लिए आवश्यक गुणों में दूसरों से आगे होता है। वह लिखता है, "नेतृत्व सामाजिक परिस्थिति का कार्य एवं व्यक्तित्व का कार्य दोनों है, परन्तु यह इन दोनों अतःक्रियाओं का कार्य है, एक योगात्मक अवधारणा पर्याप्त व्याख्या नहीं है। इस कथन में कोई औचित्य नहीं है कि व्यक्तित्व के वे गुण, जो नेतृत्व का निर्माण करते हैं, उस समय तक सुप्त अवस्था में रहते हैं जब तक किसी सामाजिक परिस्थिति मे उनको प्रयुक्त नहीं किया जाता।"[1]

नेतृत्व का परिस्थित्यात्मक उपागम गुणात्मक उपागम के दोषों को दूर कर देता है। गुणात्मक उपागम नेताओं को अनन्य रूप के उत्कृष्ट व्यक्ति समझता है, जो किसी भी परिस्थिति अथवा समय में नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं। हेलन जेनिंग्स (Helen Jennings) ने लिखा है, "नेतृत्व न तो किसी विशेष व्यक्तित्व के गुण मे और न सम्बन्धित गुणों के समूह में निवास करता है, अपितु इसका निवास तो अन्तःवैयक्तिक देन में है, जिसके योग्य कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट परिस्थिति में हो जाता है, जिससे उसमें अपेक्षित गुण निकल आते हैं।"[2] नेता सदैव महत्वपूर्ण अर्थ में परिस्थिति का, जिसमें वह स्वयं को पाता है, कार्य है।

परिस्थित्यात्मक उपागम इस तथ्य पर बल देता है कि नेतृत्व किसी विशेष परिस्थिति मे विशिष्ट होता है। यह विभिन्न परिस्थितियों मे, विभिन्न मात्राओं में व्यक्तियों द्वारा अभिव्यक्त व्यवहार का ढंग है। यह आवश्यक नहीं है कि एक समूह का नेता दूसरे में भी नेता हो। कक्षा का नेता क्रीड़ा-स्थल का नेता नहीं हो सकता है। इसी प्रकार स्कूल कक्षा का नेता वह बालक हो सकता है जिसमें अध्यापक को मात देने का साहस हो, जबकि महाविद्यालय कक्षा की नेता वह लड़की हो सकती है जो अपने पुरुष सहपाठियों से निःसंकोच एवं बहुधा मिलती है। संक्षेप में, नेतृत्व के गुण व्यक्तित्व के कोई अथवा सभी वे गुण हैं जो किसी विशेष परिस्थिति में किसी व्यक्ति के लिए समूह-लक्ष्य की प्राप्ति में योगदान संभव बना देते हैं, और समूह को संयुक्त रखने में सहायक होते हैं।

यद्यपि नेतृत्व को किसी विशेष परिस्थिति में विशिष्ट व्यवहार समझा जा सकता है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि गुणों की ऐसी कोई सामान्यता नहीं है, जिनके आधार पर कुछ व्यक्तियों को नेता कहा जा सकता है। कार्टर (Carter) ने ठीक ही कहा है कि यदि नेतृत्व पूर्णतया किसी विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट व्यवहार है तो यह वैज्ञानिक विश्लेषण एवं सामान्यीकरण का विषय नहीं हो सकता।

1. Gibb, C. A., *The Principles and Traits of Leadership*, Journal of Abnorm: and Social Psychology (1947) p. 268.
2. Jennings, H. H., *Leadership and Isolation*, p. 205.

लेखकों ने नेताओं के वैयक्तिक गुणों के विषय में सामान्यीकरणों का उल्लेख किया है। इस प्रकार बुद्धि, आत्म-विश्वास, मिलनसारिता, उपक्रम, आग्रहशीलता, ख्याति, प्रवर्तनशीलता, निर्णयशीलता, कार्यशक्ति, लोगों को परखने की समर्थता, अभिव्यक्तिशीलता एवं सज्जनता आदि कुछ ऐसे गुण हैं जो व्यक्ति को नेता बनने में सहायक होते हैं। वान टुंगलीन (Van Tunglein) के अनुसार, नेता के गुण हैं कि वह (i) लोगों में रुचि रखता है, (ii) लोगों के लिए रुचिकर है, एवं (iii) लोगों की समस्याओं के समाधान में उनके साथ रुचि रखता है।

यह भी उल्लेखनीय है कि नेता आवश्यक रूप से समूह का अंग होता है, एवं नेतृत्व उस समूह में एक भूमिका एवं प्रस्थिति है। यह स्पष्ट है कि नेतृत्व केवल दूसरे लोगों के सम्बन्ध में ही घटित हो सकता है। कोई भी स्वयं में नेता नहीं हो सकता। नेता के अन्य व्यक्तियों के साथ जो सम्बन्ध होते हैं, वे भूमिका एवं प्रस्थिति के सम्बन्ध हैं। वह समूह-संरचना का अंग है, अतएव समूह के अन्य सदस्यों के साथ उसके पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं। ये सम्बन्ध समूह में उसकी भूमिका को परिभाषित करते हैं। जब नेतृत्व को समूह-संरचना में प्रस्थिति एवं उस विशेष संरचना में अन्य व्यक्तियों के साथ पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा परिभाषित भूमिका के रूप में देखा जाता है तो यह समझना सुगम हो जाता है कि नेताओं के गुणों के बारे में सामान्यीकरण क्यों नहीं किया जा सकता। विभिन्न समूहों में नेताओं को विभिन्न भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं, तथा उसी समूह में विभिन्न सदस्य विभिन्न भूमिकाएँ पूरी करते हैं। अतएव स्वाभाविकतया, उन व्यक्तियों के गुणों में व्यापक भिन्नता पाई जाती है जो विभिन्न समूहों में नेता होते हैं, अथवा एक ही समूह में विभिन्न भूमिकाएँ पूरी करते हैं। संक्षेप में—

(i) नेतृत्व व्यक्तित्व का गुण नहीं है, यह तो दूसरों के साथ स्वयं को संबंधित करने की विधि है। नेतृत्व उन व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो दूसरों का ध्यान इस ढंग से रखते हैं कि समूह-जीवन एवं समूह-एकता सुगम हो सके। दूसरे शब्दों में, नेतृत्व दो अर्थों में प्रकार्यात्मक है : यह अन्तःवैयक्तिक सम्बन्धों का कार्य है तथा इसका समूह-जीवन में कार्य है।

(ii) नेतृत्व परिस्थित्यात्मक होता है। नेता कौन है, यह स्थूल परिस्थितियों पर आश्रित है। आवश्यक नहीं कि एक समूह का नेता दूसरे समूह का भी नेता हो।

३. नेतृत्व के कार्य
(Functions of Leadership)

नेतृत्व के कार्यों के बारे में मतैक्य नहीं है। इसका कारण यह है कि कार्यों का उल्लेखन किसी व्यक्ति द्वारा नेतृत्व की सामान्य अवधारणा पर आश्रित है। साधारण शब्दों में, नेतृत्व के कार्य ध्येय-प्राप्ति एवं समूह को सुदृढ़ तथा स्थिर रखने से संबंधित हैं। पूर्वोक्त श्रेणी के कार्यों में, जो समूह-उद्देश्यों की प्राप्ति में साधन होते हैं, क्रियाहेतु सुझाव देना, आंदोलन को उद्देश्य की ओर बढ़ाना, उद्देश्य से अवगत

कार्यों को रोकना तथा उद्देश्य-प्राप्ति हेतु प्रभावी समाधान प्रस्तुत करना सम्मिलित हैं। उपर्युक्त श्रेणी के कार्यों में सदस्यों को प्रोत्साहित करना, तनाव दूर करना तथा प्रत्येक को अपने विचार अभिव्यक्त करने का अवसर देना सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में, नेतृत्व के मुख्य कार्य समूह-उद्देश्य की उपलब्धि-हेतु योगदान करना एवं समूह को दृढ़ बनाए रखना है।

बर्नार्ड (Bernard) के अनुसार, नेता चार कार्य करता है—

(i) उद्देश्यों का निर्धारण;

(ii) साधनों को जुटाना;

(iii) क्रिया की साधनात्मक शक्ति का नियंत्रण;

(iv) समन्वित क्रिया को प्रोत्साहित करना।

नेतृत्व के कार्यों का वर्णन करने का सबसे अधिक विस्तृत प्रयास ओहियो राज्य विश्वविद्यालय में किए गए अध्ययनों द्वारा किया गया है। ओहियो राज्य का अनुसंधान १९४६ से १९५३ तक, सात वर्षों तक चला। यह मुख्यतया औपचारिक संगठनों, विशेषतया अमेरिकन नौसेना में नेतृत्व से संबंधित था। इसमें नौ विमितियों की स्थापना की गई, जिनमे तीन निम्नलिखित हैं—

(i) **सदस्यता को स्थिर रखना** (Maintenance of membership)—इसमे नेता की समूह के साथ समीपता, उसकी अन्तःक्रियाओं की आवृत्ति एवं समूह को उसकी स्वीकारिता सम्मिलित हैं।

(ii) **उद्देश्य-प्राप्ति** (Objective attainment)—नेता का यह मूल दायित्व है कि वह यह ध्यान रखे कि कार्य-प्रतिमान स्थिर एवं समझने योग्य है। उसे यह भी ध्यान रखना होगा कि समूह अपने उद्देश्यो की प्राप्ति करे।

(iii) **समूह-अंतःक्रिया का सरलीकरण** (Group interaction facilitation)—नेता का कार्य समूह के सदस्यों के बीच प्रभावी अन्तक्रिया को सरल बनाना है। इस विमिति की महत्वपूर्ण विशेषता संचार-व्यवस्था है।

यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि नेता अकेला समूह-ध्येय की प्राप्ति नही कर सकता और न ही इसकी सुदृढ़ता एवं शक्ति को स्थिर रख सकता है। नेतृत्व एक अकेले व्यक्ति का कार्य नहीं है। विशाल संगठन में यह सामूहिक क्रिया होती है, क्योंकि कोई भी अकेला व्यक्ति समग्र संगठन को चलाने हेतु विशाल अपेक्षाओं की पूर्ति नही कर सकता। इसने इस विचारणा को जन्म दिया है कि शक्ति की भाँति नेतृत्व भी संगठन के अन्दर बिखरा हुआ होता है। किसी भी एक व्यक्ति के पास नेतृत्व के सभी कार्य नहीं होते। संगठन के कार्य विभाजित होते हैं, अतएव प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने पद से उस सीमा तक नेतृत्व प्रदान करता है, जहाँ तक वह समूह-ध्येय की प्राप्ति एवं समूह-एकता को स्थिर रखने में योगदान देता है।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि सोपानात्मक संगठन में नेतृत्व अनेक स्तरों पर प्रदान किया जाता है, तथापि व्यक्तिगत नेतृत्व का काफ़ी महत्व है। नेता प्रतीकात्मक प्रवक्ता, सर्वोच्च समन्वयकारी, ध्येय-सम्बन्धी निर्णयों में महत्व-

पूर्ण भागी, एवं संगठन के लिए एक आदर्श होता है। हम जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध में चैम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल के स्थानापन्न से ब्रिटिश सरकार को कितना भारी लाभ हुआ। निःसंदेह हमे 'व्यक्तिगत पूजा' से सावधान रहना चाहिए तथा हमें संगठन के अन्य स्तरों पर नेतृत्व की भूमिका को उचित महत्व देना चाहिए। इस प्रकार नेतृत्व सामूहिक गतिविधि है जिसमे सभी प्रमुख व्यक्ति शीर्षस्थ नेता के सम्पूर्ण नियंत्रण के अधीन भाग लेते हैं। प्रस्थिति-सोपान के शीर्ष नेता के रूप मे वह समूह का सबसे महत्वपूर्ण अकेला व्यक्ति होता है।

नेता को समूह मे विशाल शक्ति एवं सत्ता प्राप्त होती है। उसका बड़ा मान भी होता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह समूह के द्वारा किए जाने वाले प्रत्येक कार्य में सर्वश्रेष्ठ हो, परन्तु समूह से विशेष संबंधित मामलों मे उसमें कुछ निपुणता अवश्य होनी चाहिए तथा कुछ क्षेत्रों में उसे सर्वश्रेष्ठ भी होना चाहिए। सत्ता एवं शक्ति, जो उसे प्राप्त होते हैं, के प्रतिरूप में उसके दायित्व एवं उनको पूर्ण करने हेतु अपेक्षाएं भी महान् होती हैं। नेता से अपना वचन पूरा करने, सदस्यों का अंत तक साथ देने तथा समूह के आदर्श प्रतिमानों को स्थिर रखने की अपेक्षा की जाती है। यदि वह अपेक्षित स्तर पर पूरा नहीं उतरता तो समूह-संरचना में वह अपना मान एवं पद तक खो देता है। नेता अपने दायित्वों एवं कर्त्तव्यों को पूरा करता है या नहीं—यह समूह के मनोबल एवं उसकी दृढ़ता का एक मौलिक तत्व है।

व्यक्ति नेता क्यों बनता है ? (Why a person assumes leadership ?)—कोई व्यक्ति समूह का नेतृत्व ग्रहण करेगा अथवा नहीं, यह उसके एवं उसके अनुयायियों के द्वारा अपेक्षित पुरस्कार-लागत परिणामों पर निर्भर करता है। नेतृत्व के पुरस्कार दोहरे हैं—प्रथम तो कार्यों की सफल पूर्ति से प्राप्त संतुष्टियाँ हैं; दूसरे, नेतृत्व-क्रिया से ही प्राप्त पुरस्कार हैं। इनमें उपलब्धि एवं प्रभुता की आवश्यकताओं तथा अन्य सामाजिक भावनात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि सम्मिलित है।

जो व्यक्ति नेतृत्व ग्रहण करते हैं, उन्हें कुछ मूल्य चुकाने पड़ते हैं। उन्हें अपना समय एवं शक्ति व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उन्हें तनाव, चिंता, घुड़कियाँ, प्रस्थिति की हानि तथा असफलता के लिए दोष सहन करना पड़ता है। उसे अपने उन मित्रों की मित्रता से भी हाथ धोना पड़ता है, जिनके मान एवं पद मे उसके द्वारा नेतृत्व ग्रहण करने के कारण प्रतिकूल प्रभाव हुआ है। उसकी लोकप्रियता के समाप्त हो जाने का भी भय है। उसे अकेलेपन का भी सामना करना पड़ सकता है, क्योंकि अनेक लोग उसकी शक्ति के भय से उससे दूर रहने लगते हैं तथा क्योंकि उसने शत्रुता भी मोल ले ली है।

अनुयायियों को प्राप्त पुरस्कार दो हैं—प्रथम, उद्देश्य-प्राप्ति। अनुयायी नेता का अनुसरण इसलिए करते हैं, क्योंकि उनके विचारानुसार नेतृत्व के बिना समूह के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती। दूसरे, नेता का अनुसरण करके वे समूह से संबंधित किसी विशेष परिस्थिति का समाधान करने हेतु निर्णय लेने के भार से बच जाते हैं। तीसरे, अनुयायी असफलता की दशा में चिंता एवं दोष से बच जाते हैं।

अनुयायी को जो मूल्य चुकाना पड़ता है, वह है समूह मे उसकी निम्न प्रस्थिति।

उसकी प्रस्थिति नेता की प्रस्थिति से हीन होती है। उसे वे पद एवं मान प्राप्त नहीं होते, जो नेता को प्राप्त होते हैं। उसका दूसरे सदस्यों की गतिविधियों पर नियंत्रण भी अपेक्षाकृत कम होता है। वह उस भावनात्मक संतुष्टि से भी वंचित रहता है जो किसी व्यक्ति को नेतृत्व-क्रियाओं से प्राप्त होता है।

नेतृत्व कौन अपनाएगा, यह परिस्थिति की अपेक्षाओं एवं व्यक्तियों की विशेषताओं के बीच अन्तःक्रिया से उत्पन्न पुरस्कारों एवं मूल्यों पर निर्भर करता है। जिनके पास अपेक्षित निपुणता उच्च मात्रा में होती है, वे कम मूल्य से काम चला सकते हैं। समूह के सदस्यों की विभिन्न विशेषताएँ विभिन्न परिस्थितियों में उनके पुरस्कार-मूल्य परिणामों को विभिन्न रूप से प्रभावित करती हैं।

४. नेतृत्व के प्रकार
(Types of Leadership)

एच० टी० मजूमदार (H. T. Mazumdar)[1] के अनुसार, नेतृत्व तीन प्रकार का होता है : (i) परम्परागत (traditional); (ii) नौकरशाही (bureaucratic); एवं (iii) करिश्मावादी (charismatic)। परम्परागत नेता अपनी सत्ता को परम्परागत प्रस्थिति, जो उसे प्राप्त होती है, के माध्यम से प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्राह्मण हिंदू समाज का परम्परागत नेता है। नौकरशाही नेता अपनी सत्ता एवं शक्ति प्रत्यायोजन, अर्थात् निर्वाचन अथवा नियुक्ति, के माध्यम से प्राप्त करता है। करिश्मावादी नेता अपनी सत्ता स्वयं उत्पन्न करता है। वह दल नेता, धार्मिक नेता, सामाजिक नेता अथवा क्रांतिकारी नेता हो सकता है।

बोगार्डस (Bogardus) ने निम्नलिखित पाँच प्रकार के नेतृत्वों का उल्लेख किया है—

(i) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नेतृत्व;
(ii) सामाजिक, कार्यकारणी एवं मानसिक नेतृत्व;
(iii) दलगत एवं वैज्ञानिक नेतृत्व;
(iv) पैगम्बर, संत, विशेषज्ञ एवं मालिक;
(v) निरंकुश, करिश्मावादी, पैतृक एवं जनतांत्रिक नेतृत्व।

५. नेतृत्व की प्रविधियाँ
(Leadership Techniques)

नेतृत्व की प्रविधियों के प्रमुख तीन प्रकार हैं—(i) सत्तावादी; (ii) जनतांत्रिक; एवं (iii) अहस्तक्षेपवादी। सत्तावादी (authoritarian) प्रविधि के अन्तर्गत नेता समूह की गतिविधियों एवं नीति-प्रक्रियाओं का निर्धारण करता है। जनतांत्रिक प्रविधि में नेता समूह-मामलों के विषय में निर्णय लेने में सदस्यों द्वारा भाग लेने को

1. Mazumdar, H. T, *op cit*, p. 479.

प्रोत्साहित करता है। वह सदस्यों के साथ मित्रता एवं सद्भावना का व्यवहार करता है, प्रविधि को सहायता देता है तथा विकल्पात्मक प्रक्रियाओं का सुझाव देता है। अहस्तक्षेपीय प्रविधि मे नेता सदस्यों को निर्णयों एव नीति-विषयक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है तथा अपने उपक्रम एवं सुझावों को न्यूनतम प्रयोग करता है। १९३९ मे लेविन (Lewin), लिपिट (Lippitt) एवं ह्वाइट (White) ने नेतृत्व की प्रविधियो के विषय पर शोध किया। उनके निष्कर्ष निम्नलिखित थे—

सत्तावादी नेतृत्व मे नेता के ऊपर अधिक पराश्रितता, सदस्यो में अत्यधिक क्षोभशीलता एवं आक्रामकता, समूह-कार्यों एवं समूह-नीतियों के लिए सुझावों की निम्न आवृत्तियाँ, समूह-गतिविधियो पर असंतोष तथा मात्रा मे अधिक, परन्तु गुण में कम उत्पादनशीलता को प्रेरित करता है।

अहस्तक्षेपीय नेतृत्व में समूह-नेता के ऊपर कम पराश्रितता, अधिक क्षोभशीलता एवं आक्रामकता, समूह-कार्य एवं समूह-नीति हेतु सुझावों की उच्च आवृत्तियाँ, समूह-गतिविधियों के प्रति पर्याप्त असंतोष एवं मध्यम उत्पादनशीलता पाई जाती हैं।

प्रजातत्रीय नेतृत्व मे नेता के ऊपर कम निर्भरता, सदस्यों में क्षोभशीलता एवं आक्रामकता की कम मात्रा, समूह-नीति एव समूह-कार्यों मे सुझावों की उच्च आवृत्तियाँ तथा ऊँचे प्रकार की मध्यम मात्रा मे उत्पादनशीलता पाई जाती है।

इस तथ्य से इकार नहीं किया जा सकता कि प्रजातत्रीय प्रविधि 'मानवीय संबंध' उपागम है जो प्रजातंत्रीय मूल्यों को स्थान देता है। यह समूह के सभी सदस्यों की स्वतंत्रता की वृद्धि करता है, अतएव उनके मनोबल को ऊँचा करता है। परन्तु इसे प्रत्येक स्थिति में पूर्णतया लागू नही किया जा सकता। प्रजातंत्रीय नेतृत्व के लाभ परिस्थिति की अपेक्षाओं, समूह में प्रतिभाओ के वितरण एवं समूह की प्रत्याशाओं तथा अन्य तत्वों पर निर्भर करते हैं। दुर्भाग्य से इन योग्यताओं की अवहेलना की जाती है तथा प्रजातंत्रीय नेतृत्व का गुणगान किया जाता है। गिब (Gibb) ने लिखा है, "वर्तमान समय मे हमारी सस्कृति में सत्तावादी नेतृत्व पर नकारात्मक मूल्यो का आरोपण सामान्य-सी बात हो गई है। यह प्रवृत्ति अधिक-तया इसलिए प्रचलित हुई प्रतीत होती है, क्योकि सत्तावादी रूप में संगठित संस्कृतियों के प्रति सैद्धान्तिक विरोध बहुत लंबे समय से होता आ रहा है। प्रवृत्ति यह है कि सत्तावादिता को नेतृत्व के परम रूप मे समझा जाता है तथा दूसरे सदस्यों पर व्यक्तिगत सत्ता के सभी रूपों की निन्दा की जाती है। कार्यरत समूहों के अध्ययन से यह पता लगता है कि कुछ परिस्थितियो मे सत्तावादी नेतृत्व का बहुत अधिक मूल्य है।"[1]

कुछ परिस्थितियों मे सत्तावादी प्रकार का नेतृत्व अधिक प्रभावी हो सकता है। ऐसी परिस्थितियाँ वे हो सकती हैं जहाँ समूह को आपातकालीन क्रिया की आवश्यकता का सामना करना पड़ता है।

1. Gibb C. A., *Leadership*—published in *Handbook of Social Psychology*, Vol. 2, p. 911.

संक्षेप में, नेतृत्व प्रविधियों को सदस्यों की अभिवृत्तियों, नेता एवं सदस्यों के बीच सम्बन्ध के विशिष्ट रूप तथा उस प्रस्थिति, जिसमें नेता समूह-संरचना के एक अंग के रूप में कार्य करता है, के साथ सम्बद्ध करना होगा। गिब (Gibb) ने लिखा है, "महत्वपूर्ण बात यह है कि हम सत्तावादिता एवं प्रजातंत्र को सातत्य (continuum) के छोर मानें, जिनमें से कोई भी एक पूर्णतया अच्छा अथवा पूर्णतया बुरा नहीं है, परन्तु जो परिवर्तनीय नेतृत्व प्रविधियों की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो परिस्थिति, संस्कृति, व्यक्तित्व, अन्तर्वस्तु, संरचनात्मक, अन्तर्सम्बन्धों एवं कार्य के सभी तत्वों के अनुकूल होनी चाहिए।"[1]

६. सामाजिक शक्ति
(Social Power)

सामाजिक शक्ति सामाजिक अन्तःक्रिया का सार्वभौमिक पहलू है। यह समूह के सदस्यों के सम्बन्धों को आकृति देने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। समूहों में कुछ सदस्य दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं और इस तथ्य का समूह की क्रिया-प्रणाली पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक अंतःक्रिया के सभी प्रकारों में सदस्यों की सापेक्ष शक्ति में अन्तर निहित होते हैं। इस प्रकार शक्ति के अन्दर माता-पिता एवं बालक, मालिक एवं नौकर, राजनीतिज्ञ एवं मतदाता तथा प्राध्यापक एवं विद्यार्थी के सम्बन्धों को निर्धारित करने में भाग लेते हैं।

शक्ति का अर्थ (Meaning of Power)—किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के अनुसार, "शक्ति अपने निजी लक्ष्यों के अनुसार दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार का निर्धारण है।"[2] शेरिफ एवं शेरिफ (Sheriff and Sheriff) के अनुसार, "शक्ति समूह-संरचना में सदस्य के द्वारा व्यवहार के सापेक्ष बल को इंगित करती है।"[3] वेबर (Weber) ने शक्ति की परिभाषा करते हुए कहा है कि यह "एक संभावना है कि सामाजिक सम्बन्धों की संरचना में कोई व्यक्ति अपनी इच्छा को विरोध के बावजूद भी इस बात की ओर ध्यान दिए बिना कि उसका आधार क्या है, मनवा सकता है।"[4] इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि शक्ति की अवधारणा एक व्यापक अवधारणा है। सामान्य रूप में, इसका अर्थ विरोध के बावजूद अपनी इच्छाओं को मनवा लेने की क्षमता से है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति की शक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक है तो हमारा तात्पर्य दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करने की उसकी क्षमता से होता है। परन्तु शक्ति को 'प्रभाव'

---

1. Gibb, C A, Leadership—published in *Handbook of Social Psychology*, Vol. 2, p 911.
2. "Power is the determination of the behaviour of others in accordance with [illegible]
3. [illegible] member in a group [illegible] *Psychology*, p. 22.
4. [illegible] al or group) within a [illegible] will despite resistance, [illegible]—Quoted by Johnson, [illegible]

(influence) का समानार्थक उस स्थिति का ध्यान किए बिना, जिसमें यह घटित होती है, नहीं समझना चाहिए। एक नवजात शिशु अपने माता-पिता के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। सड़क पर एक अजनबी यह कह कर 'उस बस से बचो' दूसरे व्यक्तियों के कार्य को प्रभावित कर सकता है। परन्तु ऐसा प्रभाव समूह की क्रिया-प्रणाली में शक्ति का समानार्थक नहीं होता। शक्ति की परिभाषा में महत्वपूर्ण तत्व विरोध के बावजूद अपनी इच्छाओं के अनुसार दूसरों के व्यवहार को निर्धारित करने के सामर्थ्य से है। जैसा ग्रीन (Green) ने कहा है, "शक्ति सरल शब्दों में दूसरों को नियंत्रित करने की क्षमता है जिससे वे वही कार्य करें, जो उनको करने के लिए कहा जाता है।"[1] लुंडबर्ग तथा अन्य व्यक्तियों का भी कथन है, "शक्ति से अभिप्राय उस सीमा से है जिस सीमा तक व्यक्ति अथवा समूह दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों के व्यवहार को नियमित अथवा परिसीमित कर सकते हैं, उनकी इच्छा से अथवा उनकी इच्छा के विपरीत।"[2]

यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति एक स्थिति में शक्तिमान है, वह सभी स्थितियों मे शक्तिमान होगा। राजनीतिज्ञ में अपने मतदाताओं के व्यवहार को प्रभावित करने की शक्ति हो सकती है, परन्तु हो सकता है कि संसद् में अपने साथियों के व्यवहार को प्रभावित करने का उसमें सामर्थ्य न हो। एक विद्यार्थी में किसी भार को उठाने का सामर्थ्य हो सकता है, परन्तु हो सकता है कि उसमें अपने सहपाठियों के व्यवहार को निर्धारित करने की क्षमता न हो। पिता में अपने बच्चों के ऊपर अपनी इच्छा को थोपने की शक्ति हो सकती है, परन्तु अपने मालिक के व्यवहार को प्रभावित करने की उसमें क्षमता न हो। इस प्रकार एक व्यक्ति, जो किसी स्थिति में शक्तिमान है, दूसरी स्थितियों में शक्तिहीन हो सकता है। दूसरे शब्दों मे, शक्ति सापेक्ष विषय है। जब तक किसी विशेष स्थिति में किसी की शक्ति की वास्तविक रूप से जाँच नहीं कर ली जाती, उस समय तक केवल कुछ संभावना ही हो सकती है कि वह विरोध के बावजूद अपनी इच्छा को क्रियान्वित कर सकेगा। भिन्न स्थिति में संभावना भिन्न होगी।

किसी व्यक्ति की शक्ति की सीमा दो बातों मे मालूम की जा सकती है: (i) कितने व्यक्ति अपने व्यवहार में प्रभावित हुए, तथा (ii) उनका व्यवहार कितनी बार प्रभावित हुआ। जितने अधिक व्यक्ति जितनी अधिक बार प्रभावित होंगे, नेता उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। व्यक्ति की शक्ति की सीमा उसकी प्रस्थिति का निर्धारण कर सकती है। प्रधान मंत्री की प्रस्थिति उच्च होती है क्योंकि उसकी शक्ति अधिक होती है, परन्तु कभी-कभी व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी शक्ति की सापेक्षतया ऊँची हो सकती है, यथा रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रस्थिति बहुत ऊँची थी, यद्यपि लोगों के व्यवहार को प्रभावित करने की उनकी शक्ति कम थी।

1. "Power is simply the extent of capability to control others so that they do what they are wanted to do." Green, Arnold, *op. cit.*, p. 542.
2. "By power we mean the extent to which persons or groups can limit or regulate the alternative courses of action open to other persons or groups, with or without their consent." Lundberg and Others, *Sociology*, p. 4[illegible].

नये दृष्टिकोण को अपना लेता है। इस प्रक्रिया में विरोधी पक्ष अपने विचारों को त्याग देता है, और नये विचार धारण कर लेता है। सामान्यतया धर्म के क्षेत्र में ही मत-परिवर्तन की बात सोची जाती है, परन्तु राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रयोग हो सकता है।

(६) युक्ति-युक्तता (Rationalization)—युक्ति-युक्तता के माध्यम से समायोजन का तरीका यह है कि इसमें व्यक्ति अपनी गलती स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपने आचरण या व्यवहार को ठीक प्रमाणित करने के लिए वह समुचित बहाने या सफाई पेश करता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी योग्यता की कमी को स्वीकार नहीं करता, बल्कि अपनी हार का कारण भेदभाव बता कर अपने व्यवहार को उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। केवल व्यक्ति ही नहीं, समूह भी ऐसे काल्पनिक आधारों पर अपने कामों का औचित्य प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए, नाजी जर्मनी ने दूसरा महायुद्ध शुरू करने के लिए यह बहाना ढूँढ़ा था कि मित्र राष्ट्र जर्मनी को नष्ट करने की योजना बना रहे थे। इसी प्रकार, अमरीका ने युद्ध में शामिल होने के लिए इस बात की आड़ ली कि वह संसार को फासिज्म के चंगुल से मुक्त करना चाहता था।

(७) वरीयता और अधीनता (Super-ordination and sub-ordination) —समायोजन का सर्वाधिक प्रचलित रूप वरीयता और अधीनता की व्यवस्था की स्थापना तथा उसकी मान्यता है। इसी प्रकार के समायोजन के फलस्वरूप ही हर समाज का संगठन होता है। परिवार में माता-पिता और बच्चों के बीच सम्बन्ध वरीयता तथा अधीनता के नियम पर आधारित होते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक आधार पर बने बड़े-बड़े समूहों में इसी आधार पर सम्बन्ध निर्धारित किये जाते हैं। यहाँ तक कि लोकतंत्रीय व्यवस्था में भी नेता और उनके अनुयायी होते हैं, नेता आदेश देते हैं और अनुयायी उन आदेशों का पालन करते हैं। किसी व्यवस्था में जब व्यक्ति अपनी सापेक्ष स्थितियों को स्वीकार कर लेते हैं, तो समायोजन पूर्णता की अवस्था को पहुँच जाता है। दास-प्रथा और जाति-प्रथा में ऐसा ही होता है। जब दो समूहों के बीच संघर्ष की समाप्ति इस प्रकार होती है कि एक समूह दूसरे की अधीनता स्वीकार कर लेता है, तो दोनों समूहों के बीच समायोजन हो जाता है, क्योंकि अधीनता स्वीकार करने वाले समूह के लोग अपनी हीन स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं, और कालान्तर में वे अपनी स्थिति को बिल्कुल स्वाभाविक तथा न्याय-संगत मानने लगते हैं, और इस धारणा की जड़ें इतनी गहरी हो जाती हैं कि वर्तमान व्यवस्था को ही सर्वाधिक ठीक माना जाने लगता है। जब समायोजन ऐसी स्थिति तक पहुँच जाता है, तो उस अवस्था को स्थिर बनाने के लिए बाहरी शक्तियों की आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि हीन स्थिति को स्वीकार करने वाले लोगों की भावनायें और उनकी सहजवृत्तियाँ ही उस अवस्था को स्थायी बनाये रखती हैं। तब वे अपनी अवस्था को अपने लिए गर्व की बात समझने लगते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे समायोजन के फलस्वरूप वरीय तथा अधीन व्यक्तियों के बीच सौहार्द, मैत्री-सम्बन्ध तथा सहानुभूति पैदा होती है। इस बात का एक उदाहरण अमरीकी गृह-युद्ध के समय नीग्रो जाति के लोगों का है। घरेलू नीग्रो लोगों ने अपनी दास-स्थिति के साथ

अपना इतना समंजन कर लिया था कि गृहयुद्ध के समय भी जो उन दासों को स्वतन्त्र करने के लिए ही लड़ा गया था, वे अपने मालिकों के प्रति स्वामिभक्त रहे, और उनका साथ नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि स्वतन्त्र होने के बाद भी बहुत से नीग्रो जीवन भर अपने पूर्ववर्ती मालिकों के प्रति स्वामिभक्त बने रहे, क्योंकि अपनी स्वतन्त्र अवस्था के साथ वे अपना समायोजन नहीं कर पाये।

समायोजन की सार्वभौमिकता (Universality of Accommodation)—क्योंकि संघर्ष समूह के एकीकरण में बाधक है, और क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के लिए सामाजिक स्थिरता अपेक्षित है, इसलिए सभी समाजों में संघर्षरत समूहों में संघर्ष को समाप्त करने के प्रयत्न किये गये हैं। समायोजन के बिना समाज चल नहीं सकता। समायोजन से संघर्ष रुकते हैं, और व्यक्ति एवं समूह सहयोग बनाये रखने में समर्थ होते हैं, जो सामाजिक जीवन का मूलमन्त्र है। इसके अतिरिक्त, ये व्यक्ति अपने को परिवर्तित स्थितियों में समंजित करने योग्य बनाते हैं। इस प्रकार यह न केवल संघर्ष को कम या नियन्त्रित करता है, बल्कि सामाजिक व्यवस्था की आवश्यक सुरक्षा को भी बनाये रखता है, जिसके बिना व्यक्ति कदाचित् अपने जीवन की क्रियाविधियों को मिलाकर चलाने में कठिनाई का अनुभव करें। हमारे विषम और जटिल समाज में इतने अधिक भिन्न हित और दृष्टिकोण हैं कि सामाजिक जीवन को क्षुब्ध होने से बचाने के लिए समायोजन की आवश्यकता है। समाज अनिवार्यतः समायोजन का परिणाम है।

(v) सात्मीकरण
(Assimilation)

सात्मीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति एवं समूह दूसरे समूह, जिसमें वह रहने आते हैं, के मूल्यों एवं अभिवृत्तियों, उसकी चिन्तन-प्रणाली एवं व्यवहार प्रतिमानों, अर्थात् उसके जीवन-ढंग को अपनाकर उसकी संस्कृति को अर्जित कर लेते हैं। सात्मीकरण की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) "सात्मीकरण एक-दूसरे में पैठने और मिल जाने की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति और समूह दूसरे व्यक्तियों या समूहों की स्मृतियों, भावनाओं और रुखों को अपना लेते हैं, और उनके अनुभव तथा इतिहास में हिस्सा लेकर एक सामान्य सांस्कृतिक जीवन में शामिल हो जाते हैं।"[1]
—पार्क एवं बर्गेस

(२) "सात्मीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अन्य व्यक्तियों की मनोवृत्तियाँ एकीकृत हो जाती हैं, और इस प्रकार वे एक संयुक्त समूह के रूप में विकसित होते हैं।"[2]
—बोगार्डस

---

1. [illegible] and fusion in which [illegible] her person[illegible] orated with [illegible] Science of Sociology, p. 735.

2. "Assimilation is a process whereby attitudes of many persons are united, and thus develop into a united group."—Bogardus, E. S., *Sociology*, p. 533.

कूलन करते हैं, ताकि प्रतियोगिता, अतिक्रमण या संघर्ष के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को पार किया जा सके।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर समायोजन के निम्नलिखित तत्वों की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है—

(i) समायोजन संघर्ष का प्राकृतिक परिणाम है। यदि संघर्ष न होते तो समायोजन की कोई आवश्यकता न पड़ती।

(ii) समायोजन मुख्यत: अचेतन क्रिया है।

(iii) समायोजन सार्वभौमिक है।

(iv) समायोजन एक निरन्तर प्रक्रिया है।

(v) समायोजन प्रेम एवं घृणा, दोनों का मिश्रण है।

समायोजन के प्रकार या ढंग (Forms or Methods of Accommodation)

समायोजन एक सामाजिक अनुकूलन है जिसमें ऐसी विधियों को खोजा या उधार लिया जाता है, जिनसे एक सहजातीय समूह आर्थिक और जीवन की दूसरी परम्पराओं का विकास करता है, जो दूसरे समूहों की पूरक या परिशिष्ट होती हैं। इसका मुख्यतया सम्बन्ध व्यक्तियों और समूहों के मध्य संघर्ष से उत्पन्न होने वाले समंजन के साथ होता है। समाज में व्यक्तियों को अपने संघर्ष शीघ्र या विलम्ब से हल करने ही होते हैं। संघर्परत पक्षों द्वारा किया गया समझौता 'समायोजन' कहा गया है। जैसा कि पार्क और बर्गेस ने कहा था, समायोजन में संघर्षरत तत्वों के मध्य विरोध को अस्थायी रूप से नियमित कर दिया जाता है। इसलिए समर (Summer) ने समायोजन को 'विरोधात्मक सहयोग' (antagonistic co-operation) कहा था। समायोजन या संघर्षों की समाप्ति कई प्रकार से हो सकती है, जिसमें से कुछ महत्वपूर्ण नीचे दिये जाते हैं—

(१) दबाव के सामने झुक जाना या अपनी हार मान लेना (Yielding to coercion or admitting one's defeat)—किसी संघर्ष को समाप्त करने के लिए शक्ति का प्रयोग करना या शक्ति प्रयोग करने की धमकी देना ही दबाव है। ऐसा प्राय: तब होता है, जब दोनो पक्ष समान रूप से शक्तिशाली नहीं होते। कमजोर पक्ष दब जाता है, क्योंकि दूसरा पक्ष हावी हो जाता है या पहले पक्ष को यह भय पैदा हो जाता है कि दूसरा पक्ष उस पर हावी हो जायगा। युद्ध के बाद युद्ध-विराम या सन्धि इस प्रकार के समायोजन का एक उदाहरण है। वास्तव में युद्ध शुरू हो जाने और शक्ति का प्रयोग आरम्भ हो जाने के बाद संघर्ष तब समाप्त होता है जब एक पक्ष अपने विपक्षी पर पूरी तरह से विजय प्राप्त कर लेता है। पराजित पक्ष को या तो विजयी पक्ष द्वारा पेश की गई सन्धि की शर्तों को मानना पड़ता है या फिर उसे अपने पूर्ण विनाश का खतरा मोल लेकर युद्ध जारी रखना होता है।

... process by which competing and conflicting ... relationship to each other in order to over- ... competition, contravention or conflict."—

(२) समझौता (Compromise)—जब दोनों पक्षों की शक्ति समान होती है और उनमें से कोई भी दूसरे को पराजित नहीं कर पाता, तो वे समझौते द्वारा समायोजन कर लेते हैं। समझौते में दोनों पक्षों को एक-दूसरे की कुछ बातें माननी पड़ती हैं, और कुछ झुकना पड़ता है। 'समग्र या कुछ नहीं' की सहजवृत्ति कुछ की प्राप्ति के लिए कुछ को त्यागने को सहमत हो जाती है। "समझौता प्रकृति से एक ऐसी थिगलियों वाली रजाई है, जिसमें हरएक अपनी थिगली को पहचानता है; वह अपनी निराशा के प्रति यह सोचकर कि हरएक दूसरा भी निराश है, संतोष प्राप्त करता है।" संसद् में विवादों का समझौता इस प्रकार के समायोजन से होता है।

(३) पंचनिर्णय और राजीनामा (Arbitration and conciliation)—पंचनिर्णय और राजीनामा द्वारा भी समायोजन हो जाता है। इस उपाय का सहारा लेने में एक तीसरा पक्ष संघर्षरत पक्षों के बीच पड़ता है, जो संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। मजदूर व मालिक के बीच होने वाले संघर्षों, पति-पत्नी के बीच होने वाले संघर्षों और कभी-कभी राजनैतिक संघर्षों को भी किसी ऐसे पंचनिर्णय या मध्यस्थ की सहायता से निबटाया जाता है जिसमें दोनों पक्षों को पूरा विश्वास होता है।

मध्यस्थता तथा पंचनिर्णय के बीच अन्तर जान लेना चाहिए। मध्यस्थता एक विधि है, जिसके द्वारा विरोधी व्यक्तियों को निकट लाया जाता है, और उनमें इस बात की इच्छा पैदा की जाती है कि अपनी कठिनाई को हल करने के लिए सम्भव उपाय पर विचार करें। यदि विरोधी पक्षों के पास मेल का कोई आधार न हो, तो मध्यस्थ स्वयं भी उनमें मेल कराने के लिए अपनी ओर से कोई आधार बता सकता है, परन्तु मध्यस्थ द्वारा पेश किये गये सुझावों को सम्बन्धित पक्ष स्वीकार करें या न करें, उनकी मर्जी होती है। पंचनिर्णय मध्यस्थता से भिन्न होता है। इसमें जो लोग पंच बनते हैं, वे विवाद के मामले पर अपना निर्णय देते हैं, और वह निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ता है।

(४) सहिष्णुता (Toleration)—सहिष्णुता समायोजन का वह रूप है जिसमें मतभेद या झगड़े को हल नहीं किया जाता, बल्कि प्रत्यक्ष संघर्ष को टाल दिया जाता है। सहिष्णुता में किसी भी पक्ष को किसी बात में न दबना पड़ता है और न दोनों की मूलनीति में कोई परिवर्तन होता है। फिर भी दोनों समूह किसी न किसी रूप सहिष्णु बने रहते हैं। सहिष्णुता का सर्वोत्तम उदाहरण धर्म के क्षेत्र में मिलता है। जहाँ भिन्न प्रकार के धार्मिक समूह साथ-साथ रहते हैं, और हर धार्मिक समूह दूसरे धार्मिक समूह को उस प्रकार के अधिकार देता है, जो उसे स्वयं प्राप्त होते हैं। विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक प्रणालियों वाले देश, जैसे साम्यवादी और पूँजीवादी देशों, का सह-अस्तित्व सहिष्णुता का एक अन्य उदाहरण है। ऐसे राज्यों के बीच जो भेद होता है, उसे दूर नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनकी अपनी-अपनी पक्की विचारधारायें होती हैं।

(५) मत-परिवर्तन (Conversion)—मत-परिवर्तन की प्रक्रिया वह होती है जिसमें दोनों विरोधी पक्षों में से एक पक्ष यह मान लेता है कि वह गलत था और दूसरा पक्ष सही था। परिणामस्वरूप वह दूसरे पक्ष की बात मान लेता है और

सदस्यों के साथ संघर्ष में ला देती है। यदि किसी प्रकार उसे संघर्ष को समाप्त भी कर दिया जाय तो यह किसी अन्य रूप में बना रहता है। यह सामाजिक जीवन का अपरिहार्य अंग है। वास्तव में, सामाजिक संघर्ष का कोई ऐसा रूप नहीं है जिसमें सहयोगी गतिविधि निहित न हो। उदाहरणतया, अन्तःसमूह संघर्ष अन्तःसमूह सहयोग का स्पष्ट द्योतक है। वाह्य संघर्ष किसी समूह को आन्तरिक रूप में शक्तिशाली बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यदि यह अन्तःसमूह संघर्ष को दूर नहीं करता तो यह उसे दबा अवश्य देता है। दूसरे शब्दों में, किसी समूह को आन्तरिक रूप से दृढ़ करने में संघर्ष जो कार्य करता है, उसकी अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। इसमें आन्तरिक संघर्ष कम होता है जब यह किसी वाह्य समूह के साथ संघर्ष में उलझा होता है। यहूदियों की एकता को दृढ़ बनाने में किसी अन्य साधन ने उतनी सहायता नहीं की जितनी कि उन पर सर्वत्र होने वाले अत्याचारों ने की है।

इसके विपरीत, समाज में सहकारी जोखिम के कोई ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें संघर्ष किसी न किसी रूप में वर्तमान न हो। मैकाइवर (MacIver) ने ठीक ही कहा है कि "संघर्ष से काटा हुआ (विरोधी) सहयोग जहाँ कहीं प्रकट होता है, वहाँ समाज के लक्षण ही प्रकट करता है—प्यूब्लो इण्डियन्स में, जूनी लोगों की संस्कृति में अथवा उत्तर-पश्चिमी कबीलों में, सोवियत रूस की सामूहिक अर्थव्यवस्था में अथवा अन्य राष्ट्रों की प्रतियोगात्मक अर्थव्यवस्थाओं में, औपचारिक वाद-विवाद गोष्ठी में, अथवा घनिष्ठ मित्रों में।"[1]

(iv) समायोजन
(Accommodation)

जैसा कि हमने ऊपर देखा है, संघर्ष एक निरन्तर यद्यपि सविराम सामाजिक प्रक्रिया है। परन्तु यदि समूह संघर्परत रहें तो जीवन चल नहीं सकता। अतएव, सामाजिक जीवन को शांतिपूर्ण बनाने के लिये संघर्षों का वियोजन होना चाहिये। समायोजन संघर्षों का वियोजन है जिसका सामान्य अर्थ है स्वयं को नये वातावरण के अनुकूल ढालना। समंजन (adjustment) भौतिक अथवा सामाजिक वातावरण के साथ हो सकता है। भौतिक वातावरण के साथ समंजन वंशानुगति द्वारा हस्तान्तरित जैविक या संरचनात्मक संशोधन के माध्यम से होता है जिसे अनुकूलन (adaptation) कहा जाता जाता है। सामाजिक वातावरण के साथ समंजन तब होता है जब मनुष्य समाज में प्रचलित व्यवहार के नये मानकों को अर्जित एवं स्वीकृत कर लेता है। इस प्रकार के समजन को समायोजन (accommodation) कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य से नीचे स्तर के पशु अनुकूलन द्वारा ही स्वयं मे समंजन करते हैं; मनुष्य समायोजन के द्वारा समंजन करता है, क्योंकि वह वास्तविक सामाजिक वातावरण में रहता है। समायोजन एक सामाजिक प्रक्रिया है; अनुकूलन जीवशास्त्रीय (biological) प्रक्रिया है। जे० एम० वाल्डविन (J. M. Baldwin) के अनुसार, समायोजन व्यक्तियों के व्यवहार में अर्जित परिवर्तनों को निर्दिष्ट करता है जिनसे वे अपने वातावरण के साथ समंजन कर लेते हैं। समायोजन की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. MacIver, *Society*, p. 65.

(१) रयूटर एवं हार्ट—"समायोजन एक प्रक्रिया के रूप में प्रयत्नों का वह क्रम है जिसके द्वारा मनुष्य परिवर्तित अवस्थाओं द्वारा आवश्यक बन गई आदतों और मनोवृत्तियों का निर्माण करके जीवन की परिवर्तित अवस्थाओं में सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं।"[1]

(२) मैकाइवर—"समायोजन शब्द खास तौर से उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसमें मनुष्य अपने पर्यावरण से सामंजस्य की भावना पाता है।"[2]

(३) आगबर्न एवं निमकाफ—"समायोजन का प्रयोग समाजशास्त्रियों द्वारा विरोधी व्यक्ति या समूहों के समंजन को निर्दिष्ट करने के लिये किया गया है।"[3]

(४) लुंडबर्ग—"समायोजन शब्द का प्रयोग उस समंजन को निर्दिष्ट करने के लिये किया गया है जो समूहों मे रहने वाले व्यक्ति प्रतियोगिता एवं संघर्ष से उत्पन्न खिचाव एवं थकान से छुटकारा पाने के लिये करते हैं।"[4]

(५) हार्टन एवं हंट—"समायोजन संघर्षशील व्यक्तियों या समूहों के बीच अस्थायी क्रियाशील सम्मति विकसित करने की प्रक्रिया है।"[5]

(६) एच० टी० मजूमदार—"समायोजन अहिंसात्मक अनुक्रिया अथवा समंजन है—

(i) एक दृढ़ स्थिति जिसको बदला नहीं जा सकता, के प्रति या

(ii) एक स्थिति के प्रति जो हिंसा या विरोध अथवा नये नियमों और आवश्यकताओं के कारण बदल गई है।"[6]

(७) गिलिन एवं गिलिन—"समायोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रति-योगी और संघर्षरत व्यक्ति और समूह एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का अनु-

---

1. "As a pr[illegible] is the sequence of steps by which persons are reconcil[illegible] through the formation of habits and attitudes [illegible] conditions themselves."—Reuter and Hart, [illegible]

2. "The term accommodation refers particularly to the process on which man attains a sense of harmony with his environments."—MacIver.

3. "Accommodation is a term used by the sociologists to describe the adjustment of hostile individual or groups."—Ogburn and Nimkoff.

4. "The word accommodation has been used to designate the adjustments which people in groups make to relieve the fatigue and tensions of competition and conflict."—Lundberg.

5. "Accommodation is a process of developing temporary working agreements between conflicting individuals or groups."—Horton and Hunt, *op. cit*, p 311.

6. "Accommodation is a non-violent response or adjustment (a) to [illegible] be changed, or (b) to a situation which has [illegible] and hostility, or as a result of new rules and [illegible], *op. cit.*, p. 461.

हैं और न ही उनका विरोध करने का प्रयत्न करते है, क्योंकि ऐसा करने से वह प्रत्यक्ष संघर्ष बन जायगा। प्रतियोगिता मे नैतिक मानकों का सदैव ध्यान रखा जाता है; परन्तु अधिकांशतः संघर्ष में ऐसा नहीं होता, जैसा कि इस कहावत से सिद्ध होता है कि "युद्ध में सब कुछ उचित है।" प्रतियोगिता और संघर्ष के बीच बड़ी सूक्ष्म विभाजन-रेखा है। प्रायः अपने निजी या अपने समूह के हित-साधन की इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है कि प्रतियोगिता संघर्ष का रूप धारण कर लेती है।

अन्त में, प्रतियोगिता एक निरन्तर प्रक्रिया है जबकि संघर्ष सविराम प्रक्रिया है। संघर्ष के पुनः पैदा होने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि अन्तर सदा के लिए कभी भी दूर नही किये जा सकते। संघर्ष उत्पन्न होने और रुकने का यह गुण इसे प्रतियोगिता से अलग करता है।

संघर्ष और प्रतियोगिता के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित बिन्दुओं को ध्यान में रखा जा सकता है—

(१) संघर्ष चेतन प्रक्रिया है, प्रतियोगिता एक अचेतन प्रक्रिया है।

(२) संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है, जबकि प्रतियोगिता अवैयक्तिक प्रक्रिया है।

(३) संघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है। संघर्ष कुछ काल तक चलता है और फिर समाप्त हो जाता है। प्रतियोगिता एक निरन्तर प्रक्रिया है। मनुष्य में अपनी स्थिति को ऊपर उठाने की इच्छा प्रतियोगिता को निरन्तरता प्रदान करती है।

(४) संघर्ष में हिंसा एक महत्वपूर्ण तत्व है, जबकि प्रतियोगिता में हिंसा, धोखेबाजी आदि को कोई स्थान नहीं मिलता।

(५) संघर्ष दोनों विरोधियों को हानि पहुँचा सकता है। प्रतियोगिता में दोनों विरोधियो को लाभ हो सकता है।

(६) संघर्ष में सामाजिक नियमों का पालन नही किया जाता, जबकि प्रतियोगिता में किया जाता है। ग्रीन के अनुसार, "प्रतियोगिता सदैव नैतिक नियमों से बँधी रहती है, जबकि संघर्ष में ऐसी कोई विशेषता नही होती।"

(७) संघर्ष से उत्पादन नही बढ़ता, बल्कि उसमें मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक साधनों का दुरुपयोग होता है। प्रतियोगिता मे उत्पादन में वृद्धि होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक और अच्छा कार्य करके एक-दूसरे से आगे बढ़ना चाहता है।

इन अन्तरों के बावजूद प्रतियोगिता और संघर्ष दोनो ही सार्वभौमिक प्रक्रियाएँ हैं और मानव-समाज के आवश्यक अंग हैं।

सहयोग एवं संघर्ष साथ-साथ चलते हैं (Co-operation and Conflict go together)

सहयोग और संघर्ष सामाजिक जीवन के सार्वभौमिक तत्व हैं। वे मनुष्यों तथा पशुओं, दोनों में पाये जाते हैं और इकट्ठे रहते हैं। जिस प्रकार भौतिक जगत्

में आकर्षण और विकर्षण की दोनों शक्तियाँ एकसाथ कार्यकारी हैं जो शून्य में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति की निर्धारक हैं, उसी प्रकार सामाजिक जगत् में व्यक्तियों और समूहों की क्रियाओं में सहयोग एवं संघर्ष दोनों व्याप्त हैं। इस रूप में इनकी तुलना प्यार और घृणा की संयुक्त भावनाओं से की जा सकती है। मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों भावनायें एक ही व्यक्ति में साथ-साथ हो सकती हैं। एक बालक अपनी माँ से प्यार करता है, क्योंकि वह उसे संतोष एवं प्रसन्नता देती है, परन्तु इसके बावजूद भी वह उससे घृणा करता है, क्योंकि वह उसे अनुशासन के बन्धन में रखना चाहती है। इसी प्रकार सहयोग तथा संघर्ष प्रायः साथ-साथ रहते हैं।

कूले (Cooley) का कथन है कि संघर्ष तथा सहयोग अलग-अलग वस्तुएँ नहीं, अपितु एक ही प्रक्रिया की अवस्थाएँ हैं जिसमें दोनों का कुछ न कुछ अंश अवश्य होता है। निकटतम मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों तथा घनिष्ठतम मेल-मिलाप में भी एक ऐसा बिन्दु होता है जहाँ दोनों पक्षों के हित भिन्न-भिन्न होते हैं या दोनों पक्षों की अभि-वृत्तियाँ भिन्न होती हैं। जैसे, जीवन-साथी के चुनाव में जब दो मित्र एक ही लड़की से प्यार करते हैं। उस बिन्दु से आगे दोनों पक्षों मे कोई सहयोग नहीं हो सकता और दोनों में संघर्ष का होना अपरिहार्य है। उदाहरण के लिये, परिवार में सदस्यों के बीच अधिकतम सहयोग होता है, फिर भी झगड़े होते रहते हैं। कूले ने आगे कहा है कि "ऐसा लगता है कि अन्य लोगों के साथ हमारे सम्बन्धो तथा पारस्परिक सहायता के सम्बन्धो में भी संघर्ष का तत्व अनिवार्यतः होता है; जीवन की सम्पूर्ण योजना इसकी अपेक्षा करती है, हमारी अपनी शरीर-रचना इसका प्रतिबिम्ब है; तथा प्रेम और कलह मनुष्य के मस्तिष्क में साथ-साथ बैठे होते हैं। विरोध के आकार बदल जाते हैं, परन्तु इसकी मात्रा यदि स्थिर नहीं तो कम-से-कम अल्पत्व के किसी सामान्य नियम के अधीन भी नहीं है।

. कुछ संघर्ष समाज का जीवन है। प्रगति उस संघर्ष से जन्म लेती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्था अपने नेक आदर्शों की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं। इस संघर्ष की गहनता लोगो की शक्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है एवं इसकी समाप्ति, यदि विचारणीय है, तो मृत्यु होगी।"

सहयोग संघर्ष की शर्त है। आन्तरिक समरसता तथा बाह्य संघर्ष एक ही सिक्के के दो विरोधी पहलू हैं। संघर्ष को समाज से मिटा देना कठिन है। जहाँ तक अन्त.समूह (intra-group) संघर्ष का प्रश्न है, संसार अभी तक एक सामाजिक इकाई के रूप में संगठित नहीं है, अतः केवल इसी कारण मात्र अन्त समूह संघर्ष को समाप्त नहीं किया जा सकता। जहाँ तक अन्त समूह (inter-group) संघर्ष का प्रश्न है, प्रत्येक समूह इसे समाप्त करने का प्रयत्न करता है, परन्तु इसके बावजूद भी यह चलता रहता है। संघर्ष से समूह की एकता भंग होने का भय रहता है, परन्तु फिर भी इसको पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि कुछ सामान्य उद्देश्य ऐसे होते हैं जिनके कारण व्यक्ति समूहों का निर्माण करते हैं, फिर भी ऐसे उद्देश्य भी हैं जिनका सम्बन्ध केवल स्वयं व्यक्ति से है। इन वैयक्तिक उद्देश्यों, यथा भोजन, वस्त्र, विश्राम, मनोरंजन एवं सामाजिक मान की पूर्ति व्यक्ति को अपने ही समूह में

समाजशास्त्री लज्जा (shyness) को भी आंशिक पृथक्करण का एक प्रकार समझते हैं। यह जीवन के कुछ क्षेत्रों में समुचित अनुक्रियायें करने की असमर्थता के कारण उत्पन्न होती है। अधिकांशत इसका कारण बचपन मे कोई मानसिक धक्का होता है। यह धक्का उस समय लगता है जब बच्चा गौण सम्पर्कों के क्षेत्र मे प्रवेश करता है। लज्जा व्यक्तित्व को विघटित करती है। यह व्यक्ति की सामान्य निर्णयात्मक शक्ति में भी बाधक हो सकती है। कुआंरापन कभी-कभी लज्जा का परिणाम होता है।

एकान्त (privacy) भी आंशिक पृथक्करण का एक प्रकार है। एकान्त का अर्थ है कि व्यक्ति अपने आंतरिक आत्म के कुछ अंश को जन-नियंत्रण से हटा लेता है। इस स्थिति में व्यक्ति के जीवन के कुछ क्षेत्र नियंत्रण से बाहर होते हैं, यथा निजी अन्तःकरण के मामले, निजी आस्थाओं के मामले या पारिवारिक मामले। आधुनिक नगरीय क्षेत्रों में नागरिकों का निजी जीवन लोगों की दृष्टि से सुरक्षित रहता है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों मे ऐसा नहीं होता जहाँ पर सम्पूर्ण गाँव किसान की समस्याओं और उसके घरेलू जीवन से संबंधित होता है। गाँव में व्यक्ति के पारिवारिक जीवन के प्रत्येक पक्ष पर जन-नियंत्रण होता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि गाँव मे व्यक्ति की गतिविधियों का क्षेत्र समग्र समुदाय की गतिविधियों से सम्बन्धित होता है। नगरीय क्षेत्रों में ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा एकांत में लीन हो जाने की अधिक सम्भावनाएँ हैं। यह ध्यान रहे कि ये बाह्य परिस्थितियाँ ही होती हैं जो ऐसी भावनाओं एवं मनोवृत्तियों को उत्पन्न करती हैं, जिन्हें निजी कहा जाता है।

एकान्त व्यक्तीकरण के विकास में एक महत्वपूर्ण सहायक तत्व है। यह आंतरिक व्यक्तीकरण की प्रवृत्ति का पोषण करता है। यह दोनो कानूनी एवं नैतिक आदर्शों के दोहरे मानक को उत्पन्न करता है। अत्यधिक एकान्त व्यक्तित्व को विघटित कर सकता है। एकान्त के आंतरिक संसार तथा सामान्य गतिविधियों के संसार के बीच आंतरिक सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति दो अलग-अलग संसारों में रहने लगता है।

पृथक्करण : इसका नकारात्मक महत्व (Isolation : Its Negative Value)

व्यक्ति का एकान्त नकारात्मक महत्व रखता है जिसका क्षतिपूरक लाभ हो या न हो। भक्त की ऐच्छिक निवृत्ति भी स्वयं भक्त द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की बड़ी कीमत समझी जाती है। व्यक्ति एकान्त पसन्द नही करते। इसके कारण स्पष्ट हैं। मानव-समाज के सदस्य अन्योन्याश्रित है। वे स्वयं अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकते। उन्हें मानव-संगति की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी अर्जित रुचियाँ है जिनकी संतुष्टि दूसरों पर आश्रित है, यथा ड्रामा, गीत अथवा बाह्य संसार की खबरें, आदि। इसके साथ-ही, मानव-व्यक्तित्व की सरचना स्वयं सामाजिक अन्तःक्रिया की उपज है। जब यह अन्तःक्रिया समाप्त हो जाती है, मानव-व्यक्तित्व का पतन शुरू हो जाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व केवल मानव-सम्बन्धो के बीच ही विकसित हो सकता है। सामाजिक सम्बन्धों के साधनात्मक मूल्य के अतिरिक्त, सामाजिक सम्बन्ध स्वयं एक साध्य भी हैं। मनुष्य मे मानव-संगति के लिये

उत्कट अभिलाषा होती है। सामाजिक दृढ़ता के लिये सामाजिक सम्बन्धों के महत्व पर बल देने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी व्यक्ति सदा के लिये एकान्त को सहन नहीं कर सकता।

व्यक्ति के पूर्ण पृथक्करण को समाज के लिये लाभदायक नहीं कहा जा सकता। परन्तु अस्थायी अथवा आंशिक पृथक्करण कई बार वांछनीय और लाभकारी होता है। वस्तुतः, व्यक्ति का पृथक्करण सामाजिक संगठन के एक भाग के रूप में केवल अस्थायी और आंशिक ही होता है। व्यक्ति को कभी-कभी स्वयं को समाज से दूर करना पड़ता है, स्वयं को अपने में सीमित करना पड़ता है, ताकि वह अपने व्यक्तित्व की विघटन से रक्षा कर सके और इसकी पूर्णता को बनाये रख सके। परन्तु यदि वह स्वयं को समाज से पूर्णतया अलग कर लेता है तो उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जायगा। पृथक्करण जितना पूर्ण एवं लम्बा होगा, उतना ही गहरा अन्तर व्यक्ति तथा समूह के ध्येयों में उत्पन्न हो सकता है।

समाजों और समूहों का पृथक्करण (*Isolation of societies and groups*)—बहुत कम समाज दीर्घ काल तक दूसरे सभी समाजों से पूर्णतया पृथक् रहे हैं। तदपि कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो सामाजिक पृथक्करण की पराकाष्ठा के द्योतक हैं। समाजों में दो कारणों से पृथक्करण हो सकता है—भौतिक एवं भाषायी। पर्वत, बड़ी-बड़ी नदियाँ, बन तथा अन्य भौतिक बाधाएँ एक समूह को दूसरे समूह से अलग करने में महत्वपूर्ण तत्व रहे हैं। भौतिक पृथक्करण सामाजिक पृथक्करण को उत्पन्न करता है, क्योंकि भौतिक रूप से पृथक् समूह को दूसरे समूहों की संस्कृति से उधार लेने के कम अवसर तथा कम प्रवृत्ति भी होती है। पहाड़ों के दूरस्थ निवासियों पर पिछले सौ वर्षों की ऐतिहासिक घटनाओं और सांस्कृतिक प्रगति का बहुत कम प्रभाव पड़ा है। उनका अभी तक पुराना पारिवारिक जीवन चलता है और उन्होंने आधुनिक संस्कृति के सम्पर्क का लाभ अभी उठाया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भौतिक अभिगम्यता विदेशों से सांस्कृतिक तत्व उधार लेने में सहायक होती है। नगरों की सामरिक महत्व की स्थिति ही उनको देश के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक केन्द्र बना देती है।

परन्तु यह कहा जा सकता है कि यातायात के साधनों के विकास ने समूहों के भौतिक एकान्त को समाप्त कर दिया है जिससे समूह की संस्कृति के निर्धारण में पर्वतों, नदियों, समुद्रों अथवा अन्य भौगोलिक तत्वों का महत्व कम हो गया है। जो किसी समय भौतिक बाधाएँ थीं, वे अब यात्रा के मार्ग बन चुके हैं। अटलान्टिक महासागर जिसने कभी अमेरिका के आदिवासियों को यूरोप से पृथक् कर दिया था, अब जहाजरानी में उन्नति हो जाने से यात्रा का मार्ग बन गया है। वर्तमान प्रौद्योगिकियों ने व्यक्ति को प्राकृतिक बाधाएँ लाँघने के समर्थ बना दिया है जिससे उनके आने-जाने के मार्ग में बाधाएँ कम हो गई हैं। यदि एक पर्वत रेल-मार्ग में बाधक है तो उसमें सुरंग बनाई जा सकती है। हवाई अड्डा बनाने के स्थान पर यदि कोई पहाड़ी है तो उसे समतल किया जा सकता है। संक्षेप में, भौतिक पृथक्करण अब कम महत्वपूर्ण रह गया है।

या नहीं, यह विवास्पद प्रश्न है। हर एक व्यक्ति सम-आदर्शों का संभागी हो और सम्पूर्ण राष्ट्र की सम-भावनाओं में भाग ले—इस पर कुछ बल अवश्य दिया जाना चाहिये, ऐसा कुछ का मत है। परन्तु कुछ दूसरों का कथन है कि बहुत से सांस्कृतिक अल्पसंख्यक समूहों का अस्तित्व एक अत्यधिक धनी संस्कृति को जन्म देता है। उनका सांस्कृतिक बहुलवाद में विश्वास है। उनका यह भी विश्वास है कि 'सांस्कृतिक बहुलवाद' पूर्वाग्रहों की अनेक समस्याओं को हल कर सकता है।

समायोजन और सात्मीकरण में अन्तर (Distinction between Accomodation and Assimilation)

एक बार पुन: यह उपयुक्त होगा कि हम समायोजन तथा सात्मीकरण नामक दोनों सामाजिक प्रक्रियाओं का, जो व्यक्तियों या समूहों के अन्तर को दूर करती हैं, अन्तर स्पष्ट कर लें।

(१) सात्मीकरण स्थायी है, समायोजन अस्थायी (Assimilation is permanent, accommodation is non-permanent)—सात्मीकरण समायोजन का एक रूप है और अन्त.समूह भेद-भावों मे समंजन पैदा करने का एक अधिक अच्छा तथा स्थायी ढंग है। अपने आस-पास के समूह से भिन्न सांस्कृतिक समूह कालान्तर मे लगभग स्थायी आधार पर उसमें समाविष्ट हो जाता है। परन्तु समायोजन में समूहों के पारस्परिक अन्तर स्थायी रूप से समाप्त नहीं होते, जैसा कि हम समायोजन के विभिन्न रूपों के सम्बन्ध में पढ़ चुके हैं।

(२) सात्मीकरण मंद प्रक्रिया है, समायोजन अचानक प्रक्रिया है (Assimilation is a slow process, accommodation is a sudden process)—दूसरे, सात्मीकरण मंद तथा निरन्तर प्रक्रिया है, जबकि समायोजन अचानक तथा कई बार क्रान्तिकारी प्रक्रिया है। एक बड़े समुदाय में जब छोटा समुदाय आ मिलता है तो कालान्तर में वह उसमे घुल-मिल जाता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है, कारण कि इसमें अधिक तथा सूक्ष्म परिवर्तन निहित होते हैं। दूसरी ओर समायोजन तुरन्त हो जाता है तथा इसमे क्रान्तिकारी परिवर्तन भी तुरन्त हो सकते हैं, जैसे धर्म-परिवर्तन के मामले में होता है।

(३) सात्मीकरण अचेतन प्रक्रिया है, समायोजन विचारशील है (Assimilation is unconscious, accommodation is deliberate)—तीसरे सात्मीकरण की प्रक्रिया किसी समूह की सोची-समझी तथा सचेत कोशिश के बिना होती है। वास्तव में सात्मीकरण के अन्दर व्यक्ति अथवा समूह इस बात का ध्यान किये बिना कि क्या हो रहा है, दूसरी संस्कृति में ढल जाते हैं जिसका उन्हें पूर्वज्ञान नहीं होता। दूसरी ओर समायोजन सम्बन्धित पक्षों द्वारा किसी समझौते पर पहुँचने के लिए सोचे-समझे प्रयत्नों का परिणाम होता है। इस प्रकार यह एक सचेत प्रक्रिया है।

३. पृथक्करण
(Isolation)

सामाजिक अन्तःक्रिया में सम्पर्क निहित है। सम्पर्क का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तियों के शरीर एक-दूसरे पर अतिक्रमण करें। केवल इतना ही आवश्यक है कि

अन्तःक्रियाशील पक्षों के मध्य प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संवेदनात्मक उद्दीपन हो। उद्दीपन में कुछ भाव निहित होता है और जब तक संवेदनात्मक सम्पर्क अर्थपूर्ण न हो, इसे सामाजिक सम्पर्क नहीं कहा जा सकता। मानव प्राणियों के सामाजिक व्यवहार में अन्य व्यक्तियों की अर्थपूर्ण अनुक्रियाओं के उत्तर में अर्जित अनुक्रियाएं सम्मिलित होती हैं। अतएव, सामाजिक अन्तःक्रिया संचारशील अन्तःक्रिया होती है।

संचारशील अन्तःक्रिया अथवा सामाजिक सम्पर्क के अभाव को पृथक्करण (isolation) कहते हैं। यह सामाजिक सम्पर्करहित स्थिति है। व्यक्ति एवं समूह दोनों का पृथक्करण हो सकता है और दोनों ही अवस्थाओं में पृथक्करण के परिणाम गंभीर होते हैं। पूर्ण पृथक्करण इस अर्थ में कि व्यक्ति का किसी भी समय दूसरे व्यक्ति से कोई सम्पर्क नहीं होता, केवल एक काल्पनिक वस्तु है। शिशु भी कभी पृथक्करण की स्थिति में नहीं होता। यद्यपि वह शैशवावस्था में वाणीहीन होता है, तथापि वह अपने माता-पिता के संपर्क में रहता है जो उसका पालन-पोषण करते हैं। यह पैतृक देखभाल केवल मात्र सहज (innate) एवं स्वचालित नहीं है, अपितु अर्थपूर्ण भी है। बच्चा पैतृक संरक्षण के द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया में से गुजर रहा है।

पृथक्करण के प्रकार (Kinds of Isolation)

पृथक्करण के दो प्रमुख प्रकार हैं—स्थानिक पृथक्करण (spatial isolation) एवं जैविक पृथक्करण (organic isolation)। स्थानिक पृथक्करण बाह्य होता है। यह सम्पर्कों का बलपूर्वक हरण है, जैसे कैदियों के लिये जब किसी को समुदाय से बहिष्कृत कर दिया जाता है अथवा एकान्त कारावास मे डाल दिया जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपने समूह के संरक्षण से वंचित हो जाता है। स्थानिक पृथक्करण के अधीन व्यक्ति उग्र हो जाते हैं जिनमें समाज-विरोधी व्यवहार की प्रवृत्ति अधिक हो जाती है। किसी समय यह विचार किया जाता था कि एकान्त कारावास अपराधियों के चरित्र में सुधार करता हैं, परन्तु इसके परिणाम गभीर हुए। इससे विभिन्न मानसिक दशाओं, लैंगिक विकृतियों तथा समाज-विरोधी मनोवृत्तियो का जन्म हुआ।

जैविक पृथक्करण का अर्थ है ऐसा पृथक्करण जो व्यक्ति के किसी अंग-विकार जैसे बहरापन या गूंगापन के कारण उत्पन्न होता है। यह किसी बाह्य सत्ता द्वारा थोपा नही जाता, अपितु जैविक होता है। बहरे और अंधे व्यक्ति उन सब अनुभवों से वंचित रहते हैं जो स्वस्थ्य व्यक्ति प्राप्त करता है। बीथोवन (Beethoven) ने इस भाव को सशक्त अभिव्यक्ति दी जब उसने कहा कि "मेरे बहरेपन ने मुझे वनवासी बनने को बाध्य किया।" बहरे और अंधे व्यक्ति जनसंसर्ग मे असमर्थ होते हैं। परिणामस्वरूप उनको अपने मित्रों के चुनाव मे असुविधा होती है। उनका साहचर्य-क्षेत्र सीमित हो जाता है जिसके कारण उनकी बौद्धिक क्षमताओं का विकास नही हो पाता। ये शक्की, अविश्वासी, चिड़चिड़े और निराश्रित हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति जीवन मे सामान्य पद पाने की आशा छोड़ देता है और उसका व्यक्तित्व विघटित हो जाता है। जैविक पृथक्करण आंशिक पृथक्करण है।

सात्मीकरण में बाधाएँ और सहायताएँ (Hindrances and Aids to Assimilation)

सात्मीकरण सरल नहीं, अपितु एक जटिल प्रक्रिया है। कुछ कारण ऐसे होते हैं जो सात्मीकरण में सहायक होते हैं, और कुछ कारण ऐसे होते हैं जो इसमें बाधा डालते हैं, इसकी प्रगति को रोकते हैं। किसी अल्पसंख्यक संस्कृति के सात्मीकरण की गति इस बात पर निर्भर होती है कि सहायता देने वाले या बाधा डालने वाले कारणों में कौन प्रभावशाली है। गिलिन एवं गिलिन के कथनानुसार, सात्मीकरण के लिए सहायक कारक ये हैं—सहिष्णुता, समान आर्थिक अवसर, प्रभावशाली समूह द्वारा अल्पसंख्यक दल के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार, प्रभावशाली संस्कृति का अनावरण, प्रभावशाली तथा अल्पसंख्यक समूहों की संस्कृति में समानता, विलय तथा अन्तर्विवाह (एक-दूसरे समूह में विवाह)। इसके विपरीत सात्मीकरण में बाधक या अवरोधक कारक ये हैं—रहन-सहन की अलग अवस्थाएँ, प्रभावशाली समूह के अन्दर अपने को अपेक्षाकृत श्रेष्ठ मानने की अभिवृत्ति, समूहों में अत्यधिक शारीरिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक विभिन्नताएँ और बहुसंख्यक समूह द्वारा अल्पसंख्यक समूह पर अत्याचार।

मैकाइवर ने निम्नलिखित कारकों का वर्णन किया है, जिसके कारण अपेक्षाकृत विरोधी समूहों में शीघ्र ही मेल-मिलाप हो जाता है—

(१) जिस समाज में लोग जाते हैं, उसके विकास की व्यवस्था (Stages of the development of the society entered)—किसी नये स्थान पर आप्रवासियों का कैसा स्वागत होगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि जिस समय वे वहाँ जाते हैं, उस समय वहाँ की स्थिति कैसी है। उदाहरण के लिए, सन् १८८० ई० के पूर्व अमरीका में, जब नई भूमि तथा विकासोन्मुख उद्योगों के विकास के लिए हर प्रकार की शक्ति तथा कार्य-निपुणता की आवश्यकता थी, आप्रवासियों के लिए रास्ते बिल्कुल खुले थे, परन्तु १८८० के बाद वहाँ जाने वालों का पहले जाने वालों जैसा स्वागत नहीं हुआ। यहाँ तक कि सन् १९३३ के बाद वहाँ जाने वाले लोगों को वहाँ के मूल निवासियों के कल्याण-मार्ग में एक खतरा-सा समझा जाने लगा है।

(२) व्यावसायिक कौशलों की पृष्ठभूमि (Background of occupational skill)—यदि आप्रवासियों में वह निपुणता तथा ट्रेनिंग हो, जिसकी उस देश में आवश्यकता हो, जहाँ वे जाते हैं, तो वे बड़ी लाभदायक स्थिति में होते हैं। उदाहरण के लिए, उद्योग की दृष्टि से अर्द्धविकसित देशों में औद्योगिक निपुणता वाले व्यक्तियों को सम्मान के साथ रख लिया जाता है और इसी प्रकार खेतिहर अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में उन लोगों को सम्मान के साथ स्वीकार किया जाता है जिनमें ग्रामीण धन्धों का ज्ञान होता है।

(३) संख्या (The number involved)—प्रायः देखा गया है कि आप्रवासियों की संख्या यदि कम होती है, तो जहाँ वे जाते हैं, वहाँ के लोगों का दृष्टिकोण उनके प्रति सहिष्णुतापूर्ण होता है। किसी भी समुदाय में एक चीनी या जापानी या मैक्सिकन परिवार को सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लिया जायगा, बशर्ते कि उस

परिवार के सदस्यों को वहाँ के लोग व्यक्तिगत रूप में स्वीकार कर सकते हो। यदि इन परिवारों की संख्या बढ़ जाय, तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जायगी। मोरेनो (Moreno) ने अपनी पुस्तक 'हू शैल सरवाइव' (Who Shall Survive) में सिद्ध कर दिया है कि अनेक मामलों में आक्रोश की वृद्धि आप्रवासियों की संख्या में वृद्धि के अनुपात से अधिक हो गयी है।

(४) **शारीरिक अन्तर** (Physical differences)—शरीर की आकृति, रंग और अन्य शारीरिक लक्षणो में विभिन्नता होने के कारण भी सात्मीकरण में सहायता या बाधा पैदा हो सकती है। जातीय अवरोध से सात्मीकरण में रुकावट होती है, क्योंकि व्यक्ति अपनी संस्कृति को तो छोड़ सकता है, परन्तु अपनी चमड़ी को नहीं बदल सकता। सामान्यतया ऐसे आप्रवासियों का समंजन सरलतम होता है जिनका रंग-रूप वहाँ के मूल-निवासियों के रंग-रूप से मिलता-जुलता हो। ध्यान रहे कि केवल शारीरिक अन्तर ही लोगों में विरोध या पूर्वाग्रह नहीं पैदा करते, जैसा कि दक्षिण-पूर्व और लैटिन-अमरीका के मामले में हुआ; परन्तु जब अन्य कारण समूह-संघर्ष पैदा कर देते हैं तो शारीरिक अन्तर छोटेपन या अवाछनीयता की भावना को जन्म देते हैं।

(५) **सांस्कृतिक अन्तर** (Cultural differences)—भाषा और धर्म सामान्यतया संस्कृति के दो मुख्य घटक माने जाते हैं। यदि आप्रवासियों की भाषा और उनका धर्म वही हो, जो वहाँ के मूल निवासियों का है तो वे शीघ्र ही वहाँ के लोगों से घुल-मिल सकते हैं। उदाहरण के लिए, अमरीका में अंग्रेजी बोलने वाले प्रोटेस्टट जल्दी ही घुल-मिल जाते हैं, परन्तु गैर-ईसाई और अंग्रेजी न जानने वाले लोगों के सात्मीकरण में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। रीति-रिवाज तथा आस्थाएँ ऐसे अन्य सांस्कृतिक लक्षण हैं जो सात्मीकरण में सहायक या बाधक हो सकते हैं।

(६) **अर्द्ध-समुदाय का महत्व** (The role of semi-community)—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अप्रवासी लोग अपनी घनी बस्तियाँ बना कर उन्ही में रहने लगते हैं और अपने आस-पास रहने वाले लोगो के जीवन मे भाग लेने की अपेक्षा वे अपने मूल रीति-रिवाजों का ही पालन करते हैं। ऐसे अर्द्ध-समुदाय सात्मीकरण की प्रक्रिया में दोहरी भूमिका अदा करते हैं। एक ओर तो ऐसे समुदाय रहन-सहन के अपने मूल रीति-रिवाजों को अपनाये रहते हैं जिससे नवागन्तुक लोगों को वहाँ आने पर अपने जैसे लोग मिलते हैं और नई जगह या स्थिति मे वे अपने को आसानी से ढाल लेते हैं। दूसरी ओर, वहाँ के बहुसंख्यक मूल-निवासी ऐसे समुदायों को विदेशी तथा अरुचिकर समझते हैं।

सात्मीकरण मात्रा की वस्तु है। किसी भी बड़े समाज मे पूर्ण सात्मीकरण व्यावहारिक विद्यमान दशा की अपेक्षा शायद एक काल्पनिक वस्तु है। आप्रवासी समूह न केवल मूल-निवासियों की संस्कृति मे योगदान देते हैं, बल्कि बहुत-सी अपनी विशेषताओं को भी बनाये रखते हैं। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक बहुलवाद (cultural pluralism) का जन्म होता है जो अपूर्ण सात्मीकरण का द्योतक है। अल्पसंख्यक समूह की संस्कृति को सात्मीकरण के लिए बाध्य किया जा

(३) "सात्मीकरण वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति और समूह समान भावनाओं, मूल्यों और लक्ष्यों को स्वीकार कर लेते हैं।"[1] —बीसंज

(४) "सात्मीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा किसी समय असमान रहे एकाधिक व्यक्ति या समूह समान हो जाते हैं, अर्थात् अपने स्वार्थ तथा दृष्टिकोण के मामले में उनके बीच एकरूपता पनप जाती है।"[2] —आगबर्न और निमकाफ

(५) "सात्मीकरण पारस्परिक समंजन की प्रक्रिया को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त शब्द है, जिसके द्वारा सांस्कृतिक रूप से भिन्न समूह धीरे-धीरे अपने विभेदों को उस सीमा तक मिटा देते हैं कि उन्हें सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण अथवा पर्यवेक्षणीय नही समझा जाता।"[3] —लुंडबर्ग

(६) "पारस्परिक सांस्कृतिक विसरण की प्रक्रिया जिसके द्वारा समूह सामान्य संस्कृति के सम्भागी बन जाते हैं, सात्मीकरण कहलाती है।"[4] —हर्टन एवं हंट

इस प्रक्रिया मे, जैसा फेयरचाइल्ड (Fairchild) ने कहा है, अराष्ट्रीयकरण (denationalisation) तथा पुनर्राष्ट्रीयकरण (renationalisation) दोनों निहित होते हैं। इससे सामाजिक मनोवृत्तियाँ बदल जाती हैं। जब दो विभिन्न संस्कृतियों का सम्पर्क होता है, तो प्रारम्भ में उन दोनों के बीच पारस्परिक संघर्ष की भावना पायी जाती है, परन्तु वे धीरे-धीरे एक-दूसरे के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात् कर लेती हैं। समाजीकरण की भाँति सात्मीकरण भी सीखने की प्रक्रिया है, परन्तु इस प्रक्रिया का आरम्भ तभी होता है जब व्यक्ति अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क मे आता है। सात्मीकरण एक मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक प्रक्रिया है। अलबत्ता हेज (Hayes) का विचार है कि सात्मीकरण अन्तःक्रिया की प्रक्रिया की अपेक्षा एक परिणाम है।

सात्मीकरण केवल एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है (Assimilation is not limited to a single field only)—सात्मीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण उन विदेशियों का है जो अपनी संस्कृति को छोड़कर उस देश की संस्कृति को अपना लेते हैं, जहाँ वे जाकर रहने लगते हैं। परन्तु सात्मीकरण को केवल इसी क्षेत्र तक सीमित रखना गलत होगा। सात्मीकरण अन्य अवस्थाओं में भी होता है। उदाहरण के लिए, जब बच्चे बड़े हो जाते हैं और व्यवहार की विधि सीख लेते हैं तो उनका वयस्क समाज में सात्मीकरण हो जाता है। गोद लिए हुए बच्चे कभी-कभी

---

1. "[illegible] ...ss whereby individuals or groups [illegible] —Biesanz.

2. "[illegible] ...whereby individuals or groups once dissimilar become similar, and identified in their interests and outlook."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology* p. 261.

3. "Assimilation is a word used to designate a process of mutual adjustment through which culturally different groups gradually obliterate their differences to the point where they are no longer regarded as socially significant or observable."—Lundberg, *Sociology* p. 248.

4. "The process of mutual cultural diffusion through which persons and groups come to share a common culture is called assimilation."—Horton and Hunt, *Sociology*, p. 314.

अपने गोद लेने वाले माता-पिता के रहन-सहन के नये ढंगों को इस प्रकार पूरी तरह अपना लेते हैं कि उनके पूर्ववर्ती घर के प्रभाव बिल्कुल ही समाप्त हो जाते हैं। असमान परिस्थितियों में पले लड़के-लड़की विवाह के बाद पति-पत्नी के रूप में होने से प्रायः उनमें रुचि एवं उद्देश्य की असाधारण समता पैदा हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में धर्म-परिवर्तन द्वारा एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म में लाये जाते हैं। चूँकि सात्मीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है, अतः यह सामान्य समूह-जीवन का लक्षण है, न कि किसी विशेष प्रकार के समूहों का।

सात्मीकरण की प्रक्रिया में चरण (Stages in the Process of Assimilation)

सात्मीकरण एक मंद तथा क्रमिक प्रक्रिया है। भिन्न प्रकार के व्यक्तियों और समूहों मे, अर्थात् उनकी रुचियों तथा उनके दृष्टिकोण में समानता पैदा होने में कुछ समय अवश्य लगता है। उत्संस्करण (acculturation) सात्मीकरण का प्रथम चरण है। उत्संस्करण की स्थिति तब होती है, जब एक सांस्कृतिक समूह किसी अन्य सांस्कृतिक समूह के सम्पर्क में आने पर उसकी संस्कृति के कुछ तत्व ग्रहण कर लेता है, और उनका समावेश करके अपनी संस्कृति में परिवर्तन करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दो समूहों में सम्पर्क होने से दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है, यद्यपि यह स्वाभाविक है कि जिस समूह की संस्कृति कमजोर होती है, वह मजबूत संस्कृति वाले समूह से अपेक्षाकृत कुछ अधिक ग्रहण करेगा। उदाहरण के लिए, अमरीकी भारतीयों तथा श्वेतों के बीच जब सम्पर्क आया तो अमरीकी भारतीयों ने श्वेतों की संस्कृति के कुछ तत्व ग्रहण किये, परन्तु श्वेतों ने भी अमरीकी भारतीयों की संस्कृति के कुछ तत्व अपना लिए। इस प्रकार सात्मीकरण की दो अवस्थाएँ हैं, एक तो पैतृक संस्कृति का दमन, दूसरा नये तरीकों का अर्जन, जिसमें नई भाषा भी सम्मिलित है। दोनों में से कोई अवस्था पहले या पीछे हो सकती है।

जब कोई सांस्कृतिक समूह किसी प्रभावशाली संस्कृति की कुछ विशेषताएँ अपना लेता है, तो उस सांस्कृतिक समूह के प्रभावशाली संस्कृति में मिल जाने के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। कुछ विशेषताएँ तो ऐसी होती हैं कि दोनों समूहों में तनिक-सा सम्पर्क पैदा होते ही वे एक-दूसरे की विशेषताएँ अपना लेते हैं। अमरीकी भारतीयों ने तुरन्त ही श्वेतों से नशीली वस्तुओं तथा आग्नेय शस्त्रों का प्रयोग सीख लिया। इसके विपरीत, अमरीका के प्राचीन निवासियों ने आलू और मक्का जैसी खाने की चीजों का प्रयोग बिना किसी संकोच के भारतीयों से सीख लिया। इसी प्रकार अमरीका या यूरोप में आने वाले अप्रवासी वहाँ पहुँचते ही अमरीकी या यूरोपीय वेष-भूषा पहनने लगते हैं।

इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का अन्तिम परिणाम सात्मीकरण होता है। सात्मीकरण की प्रक्रिया की गति, उनके बीच (समूहों के बीच) स्वरूप पर निर्भर होती है। यदि सम्बन्ध प्राथमिक हैं तो सात्मीकरण स्वाभाविक और शीघ्र होगा, परन्तु यदि सम्बन्ध गौण अथवा अप्रत्यक्ष या कृत्रिम हैं, तो उनका परिणाम सात्मीकरण नहीं, बल्कि समायोजन होगा।

अधीनस्थ शक्तियों के कार्यक्षेत्र एवं उनकी सीमाओं को निश्चित कर सकता है। यह ही समाज के विभिन्न संगठनों को एक बड़े सामाजिक चौखटे के अन्तर्गत समन्वित कर सकता है। संक्षेप में, राज्य सार्वजनिक व्यवस्था का संरक्षक एवं गारंटीदाता है।"[1] परन्तु व्यवस्था स्वयं अपने लिए नहीं होती, इसका उद्देश्य सुरक्षा, संधारण एवं विकास है। इसे उसी सीमा तक न्याययुक्त ठहराया जा सकता है, जहाँ तक यह समुदाय की आवश्यकताओं को उसके आदर्श नियमों, विशेषतया न्याय एवं स्वतंत्रता के नियमों के अनुसार पूर्ण करती है। व्यवस्था के संरक्षण हेतु राज्य अनेक गौण कार्य करता है, यथा अन्य संघों के कार्यों को नियमित एवं समन्वित करना, नागरिकता के अधिकारों एवं दायित्वों को परिभाषित करना, यातायात एवं संचार के साधनों की स्थापना करना, माप-तोल आदि के मानक एवं इसकी इकाइयों का निर्धारण करना, परिवार के सदस्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों का निश्चय करना, सेना खड़ी करना, पुलिस का प्रबन्ध करना तथा न्याय की व्यवस्था करना।

संधारण तथा विकास (Conservation and development)—दूसरे प्रकार के कार्यों, अर्थात् ऐसे कार्य जिन्हें राज्य सुचारु रूप से करने योग्य है, में मैकाइवर "मानवी क्षमताओं एवं भौतिक साधनों के विकास एवं संधारण" को सम्मिलित करता है। राज्य संपूर्ण समुदाय की वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के हितार्थ प्राकृतिक साधनों के प्रयोग को नियमित करने के लिए पूर्ण उपयुक्त है। यदि प्राकृतिक साधनों के प्रयोग को निजी व्यक्तियों के हाथों में छोड़ दिया जाय तो वे सामुदायिक लाभ के स्थान पर व्यक्तिगत लाभ के लिए उनका प्रयोग करेंगे। राज्य सम्पूर्ण समुदाय के हितों की रक्षा अच्छी प्रकार कर सकता है। अतएव वनों, मत्स्य का संधारण तथा खनिज पदार्थों का शोषण ऐसे कार्य हैं जिन्हें राज्य को करना चाहिए।

मानवी समर्थताओं का संधारण एवं विकास भी प्राकृतिक साधनों के संधारण एवं विकास से कम महत्वपूर्ण नहीं है। राज्य को शिक्षा, सार्वजनिक पार्कों, संग्रहालयों, क्रीड़ा-स्थलों की व्यवस्था करनी चाहिए तथा विज्ञान के विकास एवं कला के प्रोत्साहन में योगदान देना चाहिए। यद्यपि अन्य निकाय भी इन कार्यों को कर सकते हैं, परन्तु उनमें से कोई भी इनको ऐसे सुचारु ढंग से एवं विशाल स्तर पर तथा ऐसे प्राधिकार के साथ नहीं कर सकता, जैसे राज्य कर सकता है।

अतः स्पष्ट है कि आधुनिक राज्य ने अपने क्रिया-कलापों को अनेक दिशाओं में बढ़ा लिया है। सरकारी कर्मचारियों की संख्या का अनुपात कुल जनसंख्या की तुलना में बढ़ रहा है। सरकारी गतिविधियों का यह विस्तार लाभदायक है अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति इन बढ़ी हुई गतिविधियों एवं सेवाओं के लाभ तथा इन पर व्यय लागत के विषय में क्या सोचता है। इस प्रश्न पर गंभीर मतभेद हो सकता है। एक ओर, आलोचक नौकरशाही के विकास के दोषों जो बढ़ती हुई सरकारी गतिविधियों का अपरिहार्य परिणाम है, को इंगित करते हैं तो दूसरी ओर, यह कहा जाता है कि अर्वाचीन सामाजिक एवं प्रौद्योगिक परिवर्तनों ने राज्य के

1. *Ibid.*, p. 162-163.

लिए यह आवश्यक बना दिया है कि वह अन्य संस्थाओं द्वारा जो कार्य पहले किए जा रहे थे, उनको अपने हाथों में ले ले। हम उस युग में रह रहे हैं, जिसमें सरकार का स्वरूप केन्द्रीयकृत एवं दीर्घकाय है तथा जो असंख्य कार्य करती है एवं व्यापक शक्तियों का प्रयोग करती है। कदाचित् अब छोटे-छोटे समुदाय वाले समाज की ओर लौटना सम्भव नहीं है। अतएव हमारी समस्या राज्य को समाप्त करने अथवा इसके कार्यों को कम करने की नही है, अपितु अधिक यथेष्ठ वैज्ञानिक ज्ञान एवं विधियों का विकास करना है, ताकि सरकार की बढी हुई शक्तियों का जनता के हितार्थ कुशल प्रयोग हो सके।

लोकमत को नियंत्रित नहीं करना चाहिए (Should not control public opinion)—उन कार्यों में जो राज्य को नहीं करने चाहिए, मैकाइवर कहता है, "राज्य को जनमत पर नियन्त्रण नही करना चाहिए, चाहे मत कुछ भी हो, जब तक कि कानूनों का उल्लंघन करने अथवा इसकी सत्ता के उल्लघन को उत्तेजित न किया जाए। कानून के उल्लंघन को प्रेरित करना आधारमूलक व्यवस्था पर प्रहार करना है जिसकी स्थापना राज्य का प्रथम कार्य है, एवं जिसके सरक्षण-हेतु इसे दमनात्मक शक्ति प्राप्त है।"

नैतिकता आरोपित न करे (Should not enforce morality)—द्वितीय, राज्य नैतिकता को आरोपित न करे। नैतिकता का क्षेत्र राजनीतिक कानून के क्षेत्र से भिन्न है। नैतिकता सदैव व्यक्तिगत होती है और इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण वस्तु-स्थिति के साथ होता है, राजनैतिक तथ्य उसका केवल एक अंशमात्र है। राज्य नैतिकता नाम की कोई वस्तु नही होती। व्यक्तिगत नैतिकता से अलग अन्य कोई नैतिकता नही है। कानून नैतिकता को निर्देशित नही कर सकता, वह अधिक से अधिक बाह्य अवस्थाओ को निश्चित कर सकता है। सभी नैतिक दायित्वों को कानूनी दायित्वों मे परिवर्तित कर देना नैतिकता का विनाश करना होगा।

रीति-रिवाज एवं फैशन में हस्तक्षेप न करे (Should not interfere with custom and fashion)—तृतीय, राज्य को रीति-रिवाज एवं फैशन के मामलों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नही करना चाहिए। राज्य को रीति-रिवाजों का निर्माण करने एवं उन्हे समाप्त करने की शक्ति न के बराबर है, यद्यपि अप्रत्यक्ष ढंग से यह उन परिस्थितियों में परिवर्तन करके, जिनमें इनका जन्म होता है, रीति-रिवाजों को प्रभावित करती है। मैकाइवर के ओजस्वी शब्दों मे, "यदि रीति-रिवाजों पर आक्रमण किया जाता है तो रीति-रिवाज भी कानून पर उल्टा आक्रमण करते हैं। ये केवल कानून-विरोधी कानून पर ही आक्रमण नहीं करते, अपितु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कानून-पालन की भावना, सामान्य इच्छा की एकता पर भी आक्रमण करते हैं।"[1] राज्य का फैशन पर और भी कम नियंत्रण है। मैकाइवर ने लिखा है, "लोग उन ढंगों को बड़े उत्साह के साथ नकल करते हैं जिनकी घोषणा एक सीमित वर्ग द्वारा

1. "Custom, when attacked, attacks law in turn, attacks not only the particular law which opposes it, but, what is more vital, the spirit of law and even the unity of the general will."—MacIver, *The Modern State*, p. 161.

लन्दन, पेरिस तथा न्यूयार्क के अज्ञात स्थानों पर होती है। यदि राज्य इतने महत्त्वहीन परिवर्तनो की घोषणा स्वयं करे तो इसे पाशविक क्रूरता समझा जाएगा, जिसका परिणाम क्रांति भी हो सकता है।"

संस्कृति का निर्माण न करे (Should not create culture)—अंतिम, राज्य संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकता, क्योंकि संस्कृति किसी युग अथवा राष्ट्र की भावना की अभिव्यक्ति होती है। यह समुदाय की कृति है जो कानून से भी अधिक शक्तिशाली आंतरिक शक्तियों द्वारा पोषित होती है। कला, साहित्य एवं संगीत प्रत्यक्षतः राज्य के क्षेत्र में नहीं आते। इन सभी गतिविधियो मे राष्ट्र अथवा कोई सभ्यता उन प्रभावों एवं परिस्थितियों, जिनसे राज्य अधिकांशतः अपरिचित है तथा जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है, के प्रति संवेदनशील होते हुए अपने मार्ग पर बढ़ते जाते हैं।

यहाँ इस बात पर बल दिया जा सकता है कि अर्वाचीन समय में राज्य के कार्यों की वृद्धि की ओर प्रवृत्ति रही है। आज कोई नागरिक अथवा कोई संगठन नही है जो इसकी शक्ति के घेरे से बाहर हो। अर्थ-व्यवस्था एवं सरकार के बीच दूरी अब कम होती जा रही है। कल्याणकारी राज्य अब लोकप्रिय आदर्श है। कदाचित् ही जीवन का कोई ऐसा पक्ष हो जिसमें राज्य सेवाकर्ता, मध्यस्थ अथवा नियंत्रक के रूप में प्रवेश न करता हो। दो विश्वयुद्धो ने राज्य के कार्यों को और अधिक विस्तृत कर दिया है। सरकारी कार्यों के विस्तार की प्रवृत्ति भविष्य में भी जारी रहेगी। यह प्रवृत्ति इस विचार के विकास एवं प्रसार का परिणाम है कि राज्य अपने नागरिकों की आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है।

राज्य कार्यों के प्रश्न के बारे में मैकाइवर जिस परिणाम पर पहुँचा है वह यह है कि सामान्य तौर पर राज्य को सामाजिक जीवन की उन बाह्य अवस्थाओं को, जो मानवीय इच्छा के स्वीकृत उद्देश्यो के संदर्भ में सार्वभौमिक सम्बन्ध के हैं नियंत्रित करना चाहिए। इसे उन मामलो में हस्तक्षेप नही करना चाहिए जो इसके अपने नहीं हैं। यदि यह ऐसे कार्यों को करने का प्रयत्न करेगा जो इसे नही करने चाहिए तो यह उन कार्यों को उचित प्रकार नही कर सकेगा जो इसे करने चाहिए। राज्य का कार्यक्षेत्र निःसंदेह विशाल है, परन्तु यह सर्वशक्तिमान् नही है। इसे उन कार्यों, जिनके यह अयोग्य है, को करने के व्यर्थ एवं हानिकारक प्रयत्न से दूर रहना चाहिए तथा उन कार्यों, जिनके लिए यह सुयोग्य है, को अधिक दृढ़ता एवं अधिक कुशलता से करने में कटिबद्ध होना चाहिए।

५. राज्य बल की संस्था के रूप में
(State as an Institution of Force)

बल की प्रशंसा (Force applauded)—राज्य की विशिष्टताओं का वर्णन करते समय हमने बतलाया था कि राज्य की दूसरी प्रमुख विशेषता इसकी दमनात्मक शक्ति है। राज्य को सदैव बल से सम्बद्ध किया जाता रहा है। लेनिन ने राज्य को

"बूर्जुआ द्वारा सर्वहारा वर्ग को तथा थोड़े से धनियों द्वारा करोड़ों श्रमिकों के शोषण की विशेष दमनात्मक शक्ति"[1] कहा है। बोसांके (Bosanquet) ने लिखा है कि "राज्य सभी संस्थाओं का क्रियाशील समीक्षक होने के नाते आवश्यक रूप से बल है।"[2] समाजशास्त्रीय शब्दकोश मे "राज्य को ऐसा निकाय, समाज का स्वरूप अथवा उसकी संस्था बतलाया गया है जिसे बल-प्रयोग करने अथवा दमनात्मक नियंत्रण प्रयुक्त करने का अधिकार है।"[3] बेगहाट एवं स्पेंसर समूहों के मध्य संघर्ष को राज्य के उत्थान में प्राथमिक तत्व समझते हैं। मैकावली ने भी इस बात पर बल दिया कि राज्य की उत्पत्ति युद्ध से हुई है एवं जीवित रहने हेतु इसे विजय द्वारा स्वयं को विस्तारित करते रहना चाहिए। बोदीन (Bodin) का भी विचार था कि संघर्ष राज्य की उत्पत्ति का कारण है। ओपेनहीम (Oppenheim) एवं गम्पलोविज (Gumplowicz) तथा अन्य लेखकों का विश्वास है कि ऐतिहासिक काल में वर्ग-निर्माण हिंसात्मक विजय एवं पराधीनता का परिणाम था। ओपेनहीम ने लिखा है, "राज्य अपने मूल में अनिवार्यतः तथा अपने अस्तित्व के पहले चरण में लगभग पूर्णतया विजित समूह द्वारा पराजित समूह पर आरोपित सामाजिक संस्था थी जिसका एकमात्र उद्देश्य विजित लोगों पर विजयी समूह के आधिपत्य को नियमित करना था।" गम्पलोविज का विचार था कि सभी संस्कृतियाँ समूह-संघर्ष की उपज हैं। उसका विचार था कि मानव-संगठन के जन्म-काल पर समूह नातेदारी के बंधन से संयुक्त थे एवं अपेक्षतया शांति से रहते थे। परन्तु कालान्तर में विभिन्न समूहों के हितों में संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में शक्तिशाली समूह ने निर्बल समूह को अपने अधीन कर लिया और इस प्रकार एक शासक समूह एवं शोषित समूह का जन्म हुआ। शासक समूह ने शोषित समूह को कुछ सुविधाएँ प्रदान करके उसका समर्थन प्राप्त कर लिया। तदुपरांत इसने अन्य विजयी युद्ध किए। इस प्रकार राज्यों मे विभिन्न वंशात्मक समूह इकट्ठे हो गए जो कुछ समय उपरांत आपस में घुल-मिल गए। गम्पलोविज़ के अनुसार, "किसी भी राज्य का विकास प्रारम्भिक वंशीय विभिन्नता के बिना नहीं हुआ है। संघर्ष राज्य में बाह्य है। अन्तर्समूह संघर्ष अन्तरा-समूह संघर्ष द्वारा विस्थापित हो जाता है, जिसका स्वरूप मुख्यतया आर्थिक है। संघर्ष प्रगति एवं विकास का प्रमुख तत्व है। इसे गम्पलोविज का संघर्ष सिद्धान्त कहा जाता है। संघर्ष, जैसा कि प्राचीन लेखकों का विचार है, प्रत्येक वस्तु का जनक है।"[4]

यहाँ पर दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं: प्रथम, क्या बल राज्य के निर्माण का एकमात्र तत्व है? दूसरे, बल को राज्य उपकरण के रूप मे किस सीमा तक प्रयुक्त कर सकता है?

राज्य का जन्म बल से नहीं हुआ (State did not originate in force)—प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए हम पूर्व ही वर्णित कर चुके हैं कि राज्य की उत्पत्ति बल के कारण नही हुई, यद्यपि इसने इसके विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

1. Lenin, *The State and the Revolution*, p. 28.
2. Bosanquet, *Philosophical Theory of the State*, p. 62.
3. Fairchild, H. P. (Ed.) *Dictionary of Sociology*
   Barker, E., *Social and Political Theory*, p. 178.

है। राज्य-निर्माण के प्रेरक कारण मानव-चेतना के अन्तराल में अवस्थित हैं जो नियमों की ऐसी प्रणाली को स्थापित करने के इच्छुक हैं, ताकि मनुष्यों द्वारा पारस्परिक मिलन के लाभों को प्राप्त किया जा सके। इन कारणों में प्रथम कारण, राज्य की अनिवार्यता का प्रबल विश्वास है, दूसरा कारण कानून की स्थायी प्रणाली को स्थिर रखने की इच्छा है तथा तीसरा कारण इन कानूनों का सामान्यतः पालन करने की सहमति है। *जब राज्य में बल का प्रयोग होता है तो यह सामाजिक* व्यवस्था को स्थिर रखने की हमारी इच्छा एवं सहमति का ही परिणाम है। यह राज्य का सार नहीं है, अपितु इसके संरक्षण-हेतु है। बार्कर (Barker) के अनुसार, "बल कानून की उत्पत्ति नहीं है, अपितु इसका अन्ततः परिणाम है। यह ऐसा परिणाम है जो इच्छा का अनुसरण करता है, इच्छा विश्वास का अनुसरण करती है जो अन्त में कानून की उत्पत्ति है, वस्तुतः कानून है। बल, संक्षेप में, विश्वास जिसे कानून कहते हैं, का सेवक है, ऐसा सेवक जो अपने स्वामी को बहकने अथवा सुप्त होने से बचाता है।" गम्पलोविज ने बल के तत्व की अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या की है। उसने शांतिपूर्ण तत्वों को, जिनका महत्व बल से कम नहीं है, भुला दिया है। उसने डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' के सिद्धान्त को सामाजिक एवं राजनीतिक विकास की व्याख्या में अति शाब्दिक अर्थ में प्रयुक्त किया है।

सहयोग उतनी ही मूल सामाजिक प्रक्रिया है, जितनी प्रतियोगिता एवं संघर्ष हैं। गम्पलोविज की विचारधारा सम्भवतः इस तथ्य से प्रभावित थी कि *वह आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य में निवास करता था, जिसमें सदैव संघर्ष रहता था।* जबकि बल का तत्व अनेक राज्यों के जन्म की अवश्य व्याख्या करता है, यह प्रत्येक राज्य के विकास एवं जन्म की व्याख्या का यथेष्ठ तत्व नहीं है। अनेक उदाहरणों में शांतिपूर्ण तत्व, यथा सहानुभूति, पारस्परिक सहायता, सहयोग-हेतु आवश्यकता, वाणिज्य एवं व्यापार संघर्ष के तत्व के साथ मिलकर निर्णायक सिद्ध हुए हैं। काम्टे, जैक्वस नोवीको (Jacques Novicow), गिडिंग्स, स्माल एवं ई० सी० हेज (E. C. Hayes) ने इसी विचार को स्वीकृत किया है।

बल राज्य का लक्ष्य नहीं है (Force is not the end of state)—बल को राज्य का लक्ष्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। राज्य आदेश देता है, क्योंकि यह सेवा करता है। बल केवल एक तत्व, एकमात्र तत्व नहीं, यद्यपि राज्य के निर्माण में सर्वाधिक अनिवार्य तत्व है। लास्की (Laski) ने लिखा है, "राज्य व्यक्तियों को विशालतम सम्भव स्तर पर सामाजिक हित को प्राप्त करने के योग्य बनाने वाला संगठन है। इसके कार्य आचरण की कुछ समानताओं को उन्नत करने तक सीमित हैं एवं इसका कार्यक्षेत्र अनुभव के अनुसार घटता-बढ़ता जाएगा। इसके पास बल है, क्योंकि इसके कुछ कर्त्तव्य हैं। यह व्यक्तियों को अपना सर्वोत्तम प्राप्त करने के योग्य बनाने हेतु अवस्थित है।"[1]

बल सीमित प्रयोग का साधन है (Force is a means of limited application)—अतएव यह स्पष्ट है कि बल न तो राज्य की उत्पत्ति का कारण

1. Laski, H. J., *A Grammar of Politics*, pp. 25-28.

और न ही इसका लक्ष्य है। यह सामाजिक संरचना को व्यवस्थित रखने का केवल एक साधन है। इसका स्थान महत्वपूर्ण है, परन्तु यह राज्य का आधार नहीं है। राज्य बल का प्रयोग स्वयं इसके हेतु नहीं, अपितु समाज में व्यवस्था स्थिर रखने जो इसका प्राथमिक कार्य है, हेतु करता है। साधन के रूप में भी बल का प्रयोग सीमित प्रकार का है, एवं इसकी प्रभावी शक्ति अत्यधिक कम है। बल किसी को भी एक सूत्र में नहीं बाँध सकता। यह सदा हानिकारक है यदि इसे सामान्य इच्छा के अधीन न रखा जाए। "बल के द्वारा प्राप्त करना एवं स्थिर रखना लेने वालों एवं प्रतिरोध करने वालों दोनों की शक्तियों का विनाश करते हैं, जिन शक्तियों को वे पारस्परिक सहयोगात्मक प्रयास में लाभप्रद ढंग से प्रयुक्त कर सकते थे।"[1] सामाजिक जीवन का अर्थ है, इच्छाओं का सहयोग एवं उनकी एकता जो अनिवार्यतः आंतरिक एवं आध्यात्मिक होती है, अतः जिसको बल के बाह्य उपकरण द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। मैकाइवर ने लिखा है, "समाज में केवल दुष्ट एवं मूर्ख व्यक्ति ही अपने लक्ष्यों को बल द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। पाशविक शक्ति से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यह केवल आततायी को अपनी पत्नी को पीटने योग्य ही बनाता है। क्षुद्रतम प्रकार का शारीरिक श्रम ही इससे प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु मानवी धरोहरों में इसका स्थान निम्नतम है। यह बुद्धि का निम्नतम सेवक है। यह तो अनधिकार प्रवेशक है, जिसका प्रतिरोध किया जाता है एवं जिसे बाँध कर रखा जाता है। यदि इसे खुला छोड़ दिया जाए तो यह केवल भौतिक वस्तुओं का ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक उपलब्धियों, सत्य की आत्मा, मस्तिष्क की कृति एवं विचारों की उत्पादक शक्ति को ही नष्ट कर देगा।"[2] दमन के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्ष्म एवं विरोधहीन प्रभाव हैं जो हमें नियंत्रित एवं संयमित करते हैं। सामाजिक प्रवृत्तियाँ एवं जनमत ऐसे ही प्रभाव हैं। इच्छा, न कि बल, राज्य का आधार है। निरंकुश राज्य को भी अपने सदस्यों की भक्ति प्राप्त करनी होती है। "राज्य में सदस्यों के बहुमत द्वारा आज्ञापालन बल के प्रयोग अथवा इसके भय पर निर्भर नहीं करता और न कर सकता है, अपितु राज्य के उद्देश्यों की स्वीकृति, इसके प्रति वफादारी, आज्ञापालन की भावना अथवा सामाजिक निन्दा के भय पर निर्भर है।"[3]

इस प्रकार राज्य बल की संस्था नहीं है, यद्यपि यह यदा-कदा इसका प्रयोग करती है। राज्य का प्राथमिक तत्व बल नहीं, अपितु सामाजिक गतिविधियों को आधार प्रदान करने वाली सार्वभौमिक व्यवस्था है। राज्य की सार्वभौमिकता बल को आवश्यक बना देती है। राज्य जो कुछ करता है, वह इस ज्ञान के आधार पर किया जाए कि लोग इसका पालन करेंगे। आज्ञापालन सामान्य इच्छा पर निर्भर है। बल उल्लंघनों को रोकने हेतु आवश्यक है, परन्तु बल-प्रयोग मौलिक सहमति के कारण ही सम्भव हो सकता है। बल-प्रयोग अपवाद है, सहमति नियम है।"[4]

---

1. MacIver, *The Modern State*, p. 222.
2. *Ibid.*, p. 223.
3. MacIver, *The Elements of Social Science*, p. 83.
4. MacIver, *The Modern State*, p. 230.

६. नौकरशाही
(The Bureaucracy)

नौकरशाही का अर्थ (Meaning of bureaucracy)—नौकरशाही का विकास आधुनिक समाज की प्रमुख सामाजिक प्रवृत्ति है। यह सार्वजनिक एवं निजी संगठनों, दोनों में पाई जाती है। शाब्दिक रूप में शब्द 'ब्यूरोक्रेसी' का अर्थ है, 'ब्यूरो द्वारा प्रशासन'। ब्यूरो एक प्रशासकीय इकाई होती है। नौकरशाही की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "नौकरशाही कौशल, निष्पक्षता तथा मानवता के अभाव से अभिलक्षित होती है।"[1]

(ii) ग्रीन (Green) के अनुसार, "नौकरशाही सत्ताधारक संगठन है, जिसमें प्रस्थितियों एवं पदों का सोपान होता है एवं जिसके कार्य पूर्व ही नियोजित होते हैं तथा जिसमें कर्मचारी वर्ग की सरकारी गतिविधियाँ प्रत्येक स्तर पर उससे अगले उच्च स्तर द्वारा नियंत्रण के शीर्ष तक नियंत्रित होती चली जाती हैं।"[2]

(iii) रोजनबर्ग (Rosenberg) के अनुसार, "नौकरशाही पद-सोपानात्मक संगठन का वह प्रकार है जिसका निर्माण विशालस्तरीय प्रशासकीय क्रियाओं की पूर्ति हेतु अनेक व्यक्तियों के कार्यों को समन्वित करने के लिए बुद्धियुक्त ढंग से किया जाता है।"[3]

(iv) विलोबी (Willoughby) के अनुसार, "नौकरशाही वह कार्मिक प्रणाली है जिसमें कर्मचारियों को उपविभाग, प्रभाग, ब्यूरो, विभाग एवं ऐसे ही अन्य भागों की सोपानात्मक प्रशासनीय व्यवस्था में वर्गीकृत किया जाता है।"[4]

(v) फिफनर (Pfiffner) के अनुसार, "नौकरशाही कार्यों एवं व्यक्तियों का एक प्रतिमान में क्रमबद्ध संगठन है जो अत्यन्त प्रभावी ढंग से सामूहिक प्रयत्नों के लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकता है।"[5]

---

1. "Bureaucracy is a system of administration characterised by expertness, impartiality and the absence of humanity."—Max Weber, *Essays on Sociology*, p. 197.
2. "Bureaucracy is a power-weilding organization with a hierarchy of ranks, *the statuses and functions of which are planned in advance and in which* the official activities of personnel in each rank are supervised by the next higher rank upto the apex of control."—Green, Arnold, *op. cit.*, p. 307.
3. "Bureaucracy is that type of hierarchical organization which is designed rationally to coordinate the work of many individuals in pursuit of large scale administrative tasks."—Rosenberg.
4. "Bureaucracy is any personnel system where the employees are classified in a system of administration composed of a hierarchy of sections, divisions, bureaus, departments and the like." Willoughby.
5. "Bureaucracy is the systematic organization of tasks and individuals into a pattern which can most effectively achieve the ends of collective efforts." —Pfiffner, J. M., *Public Administration*, p. 41.

नौकरशाही अधिकारियों का पिरैमिड (Pyramid) है जो किसी संगठन के कार्यों को बुद्धियुक्ति ढंग से चलाते हैं। मैक्स वेबर ने नौकरशाही की तीन विशेषताएँ बतलाई है—

(i) नियमित क्रियाएँ सरकारी दायित्वों के रूप में स्थायी तौर पर विभक्त कर दी जाती हैं;

(ii) इन दायित्वों को पूर्ण करने हेतु अपेक्षित आदेश देने की सत्ता स्थिर रूप से विभाजित होती है, जो नियमों द्वारा परिसीमित होती है;

(iii) इन दायित्वों की नियमित एवं सतत् पूर्तिहेतु सुचारु व्यवस्था की जाती है।

वेबर आगे कहता है कि—

(i) सभी नौकरशाही संगठनों में पद-सोपानात्मक नियम पाया जाता है;

(ii) लिखित प्रलेखों, फाइलों तथा आधुनिक कार्यालय-प्रबन्ध के अन्य उपकरणों पर विश्वास किया जाता है;

(iii) कार्यालय के प्रबन्ध के लिए सामान्य नियमों अथवा रीतियों का निर्माण किया जाता है।

थाम्पसन (Thompson) ने नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएँ बतलाई हैं—

(i) विशिष्टीकरण (Specialization)—इसका अर्थ है कि प्रत्येक कार्य एक विशेषज्ञ को सुपुर्द किया जाता है।

(ii) योग्यता-नियुक्ति (Merit appointment)—सरकारी पदों पर नियुक्तियाँ बिना किसी वैयक्तिक पक्षपात के योग्यता के आधार पर की जाती हैं।

(iii) पदावधि (Job tenure)—अधिकारी निश्चित अवधि तक अपने पदों पर कार्य करते हैं।

(iv) औपचारिक अवैयक्तिकता (Formalistic impersonality)—निष्पक्षता लाने हेतु औपचारिक नियमों एवं प्रक्रियाओं का पालन किया जाता है।

(v) आदेश की शृंखला (Chain of command)—आदेश का सोपान होता है। प्रत्येक अधीनस्थ कार्यालय उच्चतर कार्यालय की देखरेख एवं उसके नियंत्रण में कार्य करता है।

संक्षेप में, नौकरशाही की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) कार्यों का विभेदीकरण;

(ii) प्रविधिक विशेषीकरण;

(iii) पद-सोपानात्मक संगठन एवं अनुशासन-प्रणाली;

(iv) कार्यप्रणाली की वस्तुनिष्ठता;

(v) नियमों का पूर्ण परिपालन;

(vi) फाइलों एवं रिकार्ड को रखना;

(vii) कर्मचारियों की नियुक्ति न कि निर्वाचन;

(viii) निश्चित वेतनमान;

(ix) उत्पादन अथवा प्रशासन के साधनों के स्वामित्व से सरकारी कर्मचारी का पृथक्कीकरण,

(x) राजनीतिक तटस्थता।

नौकरशाही की वृद्धि (Growth of bureaucracy)—यह कहा जाता है कि नौकरशाही आधुनिक समाज की प्रमुख धारा है। निःसंदेह अपने कुछ रूपों में नौकरशाही आधुनिक है, परन्तु यह प्राचीन प्रणाली है। कुछ प्रारम्भिक समाजों की संरचना नौकरशाही प्रकार की थी। उदाहरणतया, प्राचीन मिस्र एवं चीन का शासन सरकारी नौकरशाहियों द्वारा होता था। इंग्लैंड में नार्मन राजाओं के अधीन सरकारी सेवकों की संख्या एवं उनकी शक्ति में काफी वृद्धि हुई, जिन्होंने इंग्लैंड को केन्द्रीयकृत प्रशासन प्रदान किया। मध्ययुग में नौकरशाही बीसवीं शताब्दी के समान क्रियाशील एवं प्रभावी थी। परन्तु आधुनिक तथा प्राचीन नौकरशाही में महत्वपूर्ण अन्तर है जो निम्नलिखित हैं—

प्रथमतया, प्राचीन नौकरशाही अपने आकार एव कार्यक्षेत्र में सीमित थी। प्राचीन समाज लघुस्तरीय था। आधुनिक काल की अपेक्षा साधन भी अल्प थे। समस्याएँ भी थोड़ी एवं सरल थी। अतएव कार्यों का विशेषीकरण केवल कुछ साधारण सीमा तक ही प्रचलित था। सरकारी सेवक आधुनिक सेवक की अपेक्षा कम विशेषीकृत था। आधुनिक समाजों मे साधनों का अत्यधिक विकास हो गया है। समस्याएँ भी विविध एवं जटिल हो गई हैं। आधुनिक सरकारी कर्मचारी अधिक विशेषज्ञ व्यक्ति हैं। नागरिक कर्मचारियों की संख्या भी कई गुनी बढ़ गई है। आधुनिक नौकरशाही असंख्य नियमो एवं लाखो फाइलों से घिरी हुई विशाल संरचना है। प्राचीन नौकरशाही व्यक्ति के जीवन के केवल अल्प भाग को ही नियंत्रित करती थी। सामाजिक जीवन नातेदारी एवं ग्रामीण आधार पर समूहों में संगठित था। अतएव इस पर नौकरशाही का नियंत्रण नही था। परन्तु आज हमारा अधिकांश जीवन नौकरशाही द्वारा नियंत्रित है। हमारे वैयक्तिक मामले, यथा विवाह एवं परिवार भी नौकरशाही के नियंत्रणाधीन हैं। इस प्रकार प्राचीन नौकरशाही की तुलना में आधुनिक नौकरशाही का आकार एवं क्षेत्र दोनों विशाल हैं।

द्वितीय, प्राचीन नौकरशाही शासकीय थी, अर्थात् यह सरकार के प्रशासन से ही सम्बद्ध थी परन्तु आधुनिक नौकरशाही न केवल शासकीय है, अपितु आर्थिक भी है। पूँजीवादी व्यवस्था ने नौकरशाही की वृद्धि मे प्रमुख भूमिका निभाई है। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन-प्रणाली को बदला। घरेलू उद्योगो के स्थान पर कारखानों की स्थापना हुई। कालान्तर में दीर्घकाय कारखाने स्थापित हुए। बड़े-बड़े उद्योगों का प्रबन्ध करने हेतु निगमों की स्थापना की गई। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन की

मात्रा अत्यधिक बढ़ी, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण को स्थान मिला। उत्पादन विनिमय एवं तत्संबंधित मामलों के विभिन्न स्वरूपों के प्रबन्ध हेतु विभिन्न विभागों की स्थापना की गई। आधुनिक समाज में विशालस्तरीय उत्पादन नौकरशाही को आवश्यक रूप से विकसित करता है। शासकीय नौकरशाही के साथ-साथ आर्थिक नौकरशाही की एक व्यापक संरचना भी अवस्थित हो गई है। यह ध्यान रहे कि समाजवादी व्यवस्था नौकरशाही की वृद्धि को रोकने की अपेक्षा इसकी और अधिक उच्च मात्रा को जन्म देगी।

नौकरशाही के सामाजिक परिणाम (Social consequences of bureaucracy)—नौकरशाही आधुनिक संस्कृति का आवश्यक स्वरूप है। जनप्रशासन की . . . ताओं हेतु यह नितान्त अनिवार्य है। मैक्स वेबर ने नौकरशाही प्रशासन को सर्वाधिक बुद्धियुक्त प्रशासन कहा है। इसके कुछ अच्छे परिणाम हुए हैं जो निम्नलिखित हैं—

(i) यह प्रविधिक ज्ञान पर बल देता है;

(ii) इसमें नियुक्ति के सिद्धान्त को प्रमुखता दी जाती है;

(iii) इसमें कठोर अनुशासन मिलता है;

(iv) कार्यों का विशेषीकरण प्रशासकीय दक्षता की वृद्धि करता है;

(v) सुनिश्चित नियम होते हैं, जिनको बिना किसी पक्षपात के समानता से लागू किया जाता है;

(vi) नौकरशाही प्रशासन वस्तुनिष्ठ होता है;

(vii) प्रशासन में निष्पक्षता एवं वस्तुनिष्ठता होती है;

(viii) बुद्धियुक्त प्रकार का संगठन होने के कारण नौकरशाही प्रशासन की गहन एवं विस्तृत दोनों रूपों में वृद्धि हुई है।

नौकरशाही ने अपने उद्देश्यों, जिनकी पूर्ति हेतु इसकी स्थापना की गई थी, को प्राप्त करने में काफी सफल रही है, तथापि इसकी आलोचना की जाती है। इसने कुछ दोषपूर्ण सामाजिक परिणामों को जन्म दिया है जो निम्नलिखित हैं—

(i) **अवैयक्तीकरण** (Depersonalization)—नौकरशाही को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। नागरिक सेवकों को 'ब्यूरोक्रेट' (bureaucrat) कहकर निन्दित किया जाता है। एक 'ब्यूरोक्रेट' अवैयक्तिक नौकरशाही तन्त्र का पुर्जा मात्र बन जाता है। प्रक्रिया को परिणाम से अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक वस्तु 'उचित माध्यम द्वारा' गुजरती है। कहीं पर भी मानवीय भावना छू तक नहीं पाती। एक ब्यूरोक्रेट सरलता से नियमों तथा सरकारी कर्मचारी के रूप में अपने दायित्वों का हवाला देकर अपने पक्ष का समर्थन ढूंढ़ लेता है, परन्तु उसका अवैयक्तीकृत दृष्टिकोण नागरिक को क्रोधित कर देता है जो स्वयं को नौकरशाही का शिकार समझता है। . . . प्रशासन का अवैयक्तिक स्वरूप जनता में असंतोष एवं कुभावना को जन्म देता है।

(ii) **औपचारिकता** (Formalism)—नौकरशाही का अन्य महान् दोष औपचारिकता का अत्यधिक कठोर परिपालन है। निर्धारित नियम एवं मुद्रित प्रपत्र

। सरकारी पत्रों की भाषा, उनका रूप, टिप्पणी लिखने का ढंग, पत्रों को ऊपर-
के भेजने की प्रक्रिया सब कुछ पूर्वनिर्धारित होता है। प्रत्येक अधिकारी यन्त्रवत्
र्य करता है। इससे अधिकारी का उपक्रम एवं निर्णय की भावना नष्ट हो जाती
। जब कभी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके नियमन हेतु पूर्वनिर्धा-
त नियम उपस्थित नहीं होते तो अधिकारी कोई भी पग नहीं उठाता, क्योंकि उसे
र्तमान नियमों के अंतर्गत कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(iii) लाल फीताशाही (Red Tape)—लाल फीताशाही नौकरशाही प्रशासन
एक गंभीर दोष है। नित्यचर्या (routine) क्रियाएं वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति का
भावी साधन बनने की अपेक्षा स्वयं में ध्येय बन जाती हैं। नियमों का, जिनमे से
छ पुराने एवं तिथिबाह्य (out of date) हो जाते हैं, अंधानुसरण किया जाता
। ब्यूरोक्रेट कार्य-व्यापार के नियमों को इसके सार की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण
मझते हैं। संगठन, प्रक्रिया में ही पूर्वव्यस्त हो जाता है, जिससे इसे उत्पादक क्रियाओं
लिए कोई समय नहीं मिलता। ब्यूरोक्रेटों में नियमों एवं औपचारिक प्रक्रिया का
नुसरण करने की धुन होती है। उन पर विभागीय निर्णयों एवं पूर्वउद्धरणों की
नमनीय सत्ता का भूत सवार रहता है। वे नागरिक की सुविधा के प्रति पूर्णतया
मुख होते हैं।

(iv) अनमनीयता (Inflexibility)—नौकरशाही का दृष्टिकोण साधारणतः
नमनीय होता है। यह पुरानी प्रक्रियाओं का अंधानुसरण करती रहती है तथा देश
बदलती हुई राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार प्रतिक्रिया नहीं
रती। दिनचर्या प्रक्रियाएँ अनमनीयता उत्पन्न करती हैं। अधिकारी जनता के प्रति
भिमुखी न होकर प्रविधियों के प्रति अभिमुख हो जाता है।

(v) दायित्व का विभाजन (Division of responsibility)—यह नौकरशाही
अन्य दोषपूर्ण स्वरूप है। कोई भी अधिकारी पद-सोपान के विभिन्न स्तरीय
कारियों से परामर्श किए बिना कोई निर्णय नहीं ले सकता। नागरिक उस व्यक्ति
खोजने मे असमर्थ रहता है जो उसके मामले मे निर्णय ले सके। वह एक मेज से
री मेज पर चक्कर काटता फिरता है और दफ्तरी घुमाव-फिराव मे खो जाता है।

(vi) भक्ति का विभाजन (Bifurcation of allegiance)—विभाजन का
है विभिन्न भागों मे विभाजित करना। नौकरशाही मे यह नागरिक के प्रति सेवा
। नियमों एवं प्रक्रियाओं के परिपालन के बीच विभाजन का रूप लेता है। नौकर-
ही का उद्देश्य नागरिक की सेवा करना है तथा नियमों का इस सेवा को ध्यान में
कर ही निर्माण किया जाता है। परन्तु वास्तविकता मे सेवा तो पृष्ठभूमि में चली
ती है और प्रक्रियाएँ अग्रभाग में आ जाती हैं। प्रक्रियाएँ स्वयं मे एक लक्ष्य बन
ती हैं। ब्यूरोक्रेट तो यह सोच लेता है कि नागरिक की शिकायत के ऊपर रिपोर्ट
र करके उसने सब कुछ कर दिया है, परन्तु नागरिक संतुष्ट नही होता, क्योंकि
की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। संस्थाएँ व्यक्तियों को ढँक लेती हैं।

(vii) नए सामाजिक वर्ग की उत्पत्ति (Creation of a new social
ass)—नौकरशाही ने एक नए सामाजिक वर्ग को जन्म दिया है, जिसमें सफेदपोश

बाबू सम्मिलित हैं। उनमे आत्म-महत्व की अत्यधिक भावना होती है। नागरिक से अलग रहते हैं तथा उसकी सुविधा अथवा भावना के प्रति उनके अपने अलग क्लब एवं जीवन-विधि होते हैं। उनमें अहं की उनका सरकारी तंत्र की वृद्धि में स्वार्थ होता है। एक बार स्थापित नौकरशाही स्थिर राजनीतिक संरचना का रूप धारण कर लेती है। रैमे (Ramsay Muir) नौकरशाही की सत्ता की वृद्धि का कठोर ब्यूरोक्रेट आत्मारहित यंत्र बन जाता है। उसमें प्राधिकारयुक्त दृष्टिकोण हो जाता है। उसकी दृष्टि चुंधिया जाती है।

संक्षेप में, नौकरशाही ने अनेक सामाजिक परिणामों को जन्म दिया है डब्ल्यू० ए० राबसन (W. A. Robson) ने नौकरशाही के दोषों इन शब्दों में उल्लेख किया है, "नौकरशाही की व्यवस्था में जो दोष प्रायः उनमें अधिकारियों का मिथ्या आत्म-गौरव, अपने कार्य को अधिक चित भावना, नागरिकों की सुविधा अथवा भावना की उपेक्षा, पूर्व निर्णयों, प्रबन्ध अथवा फार्मों की अनमनीय एवं बाध्य सत्ता का मूल, की परवाह किए बिना कि किसी विशेष मामले पर किसी निर्णय का प्रभाव पड़ सकता है, विनियमों एवं औपचारिक प्रक्रिया पर हठ, विशेष इकाइयों की गतिविधियों में पूर्व व्यस्तता एवं सरकार को समग्र सकने की असमर्थता, शासक एवं शासित के सम्बन्ध को प्रजातंत्रीय अनिवार्य तत्व के रूप में देखने का असामर्थ्य प्रमुख हैं।"

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि आधुनिक सरकार कोलाहल से भरपूर है जिनकी आज कोई उपयोगिता भी नहीं रही है तथा स्वरक्षक दस्तूरी निकाय बन गए हैं। परन्तु यह तो नौकरशाही के तर्कयुक्त की आवश्यकता के महत्व को दर्शाता है। नौकरशाही व्यवस्था को इस प्रकार ठित किया जाए जिससे अनावश्यक देरी, लालफ़ीताशाही एवं औपचारिकवाद हो सके तथा कर्मचारियों मे प्रशासन के साथ तादात्म्य की भावना उत्पन्न ऐसे अंकुशों की खोज की जाए कि ब्यूरोक्रेट जनता के सच्चे सेवक बने रहें।

प्रश्न

१. राज्य की परिभाषा कीजिए तथा इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए

२. समाज एवं राज्य कीजिए।

५. "राज्य सीमित निकाय है।" इस उक्ति के संदर्भ में राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए।

६. 'राज्य दमनात्मक शक्ति है।" आधुनिक राज्य मे बल के महत्व का वर्णन कीजिए।

७. राज्य के विकास की व्याख्या कीजिए।

८. नौकरशाही का क्या अर्थ है ? इसके लक्षणों का वर्णन कीजिए।

९. "नौकरशाही विशालस्तरीय संगठन की समस्या है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

१०. आधुनिक नौकरशाही प्राचीन नौकरशाही से किन बातों में भिन्न है ?

११. नौकरशाही के सामाजिक परिणामों का वर्णन कीजिए।

१२. "नौकरशाही आधुनिक संस्कृति का आवश्यक भाग है"—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

१३. नौकरशाही का क्या अर्थ है ? सरकार मे इसकी सकारात्मक एवं नकारात्मक भूमिकाएं क्या हैं ?

अध्याय २५

आर्थिक संस्थाएँ

[ECONOMIC INSTITUTIONS]

समाज का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य स्वयं को जीवित रखना है।। सदस्यों के पास भोजन, वस्त्र एवं मकान होना चाहिए। आधुनिक व्यक्ति । अधिकांश समय अपनी आजीविका कमाने में लगा देता है। केवल इतना ही नहीं है कि समाज में उत्पादन-व्यवस्था हो, अपितु वितरण-प्रणाली का १ समान रूप से महत्वपूर्ण है। समाज जितना अधिक जटिल होगा, इसका उतना ही अधिक वितरण-प्रणाली पर निर्भर होगा। सरल समाज में समस्या सुगम होती है, क्योंकि समाज प्रायः आत्म-निर्भर होता है। सारा मे परिवार अपनी आवश्यकताओं को लगभग प्रत्यक्षतः पूरी कर लेता है। जटिल समाज में वस्तुएँ उपभोक्ता तक पहुँचने से पूर्व अनेक हाथों से गुजरत हमारे देश में आर्थिक दोषों का एक प्रमुख कारण वस्तुओं का दूषित आर्थिक संस्थाएँ हमारे उन निश्चयों से उत्पन्न होती हैं जो हम अपने लिए वस्तुओं के बारे में करते हैं। वे हमारे आर्थिक जीवन को शासित करने विचारों, आदर्श नियमों एवं प्रस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

१. आर्थिक विकास

(Economic Development)

आदि समय में मनुष्य स्वयं भोजन तलाश करके अपनी भूख को था। वह जो कुछ तलाश कर लेता था, उसी पर अपना जीवन व्यतीत करता। भोजन की इस खोज मे सहायतार्थ आदि व्यक्तियों ने कुछ यंत्रों एवं अस्त्रों का किया। फल, सब्जियों, बेरों एवं बीजों की प्राप्ति को मामूली शिकार द्वारा किया गया। जिन स्थानों पर पशु बहुत थे, वहाँ शिकार करने की प्रविधि से विकसित हुई। शिकारी लोग अलग-अलग नहीं जाते थे,. अपितु छोटे रहते थे और शिकार के लिए समूह बनाकर ही जाते थे। मनुष्य ने और और उसने पशुओं, विशेषतया बड़े पशुओं, यथा गाय, बैल आदि को पालतू लिया। अधिकांश शिकारी लोगों ने पूर्व ही कुत्ते को पालना शुरू कर जो शिकार में सहायता करता था एवं यातायात मे भी कुछ सहायक पालन समूह का दायित्व बना। चरागाहों को ढूँढने के लिए लोग पशुओं के पीछे-पीछे हो लिए। समूह-संगठन ने नया स्वरूप धारण किया। माता एवं बच्चों के इर्द-गिर्द संगठित होने की अपेक्षा पशुओं के झुण्डों गया, जिसमें स्त्रियाँ पराधीनता की अवस्था को पहुँच गई और पुरुषों प्रभुत्व प्राप्त हुआ।

इसके बाद कृषि का विकास हुआ। जब मनुष्य 'कुदाल-संस्कृति' की ओर अग्रसर हुआ, उसने नए यंत्रों की खोज की, जिन्होंने कुदाल-संस्कृति को सापेक्षतया बड़े स्तर पर असभ्य कृषि-संस्कृति से अनुपूरित किया। कृषि का विकास हो जाने से लोग ने खानाबदोशी जीवन के मांसाहारी भोजन को छोड़कर शाकाहारी भोजन को अपनाया। शिकारी एवं चरागाह युग के घुमक्कड़ जीवन के स्थान पर कृषि-युग का अधिक स्थायी जीवन प्रारम्भ हुआ। कृषि-युग के स्थायी जीवन के साथ कुछ अन्य आविष्कार भी सम्बद्ध हैं। बर्तन बनाना, ऊन, रूई अथवा बाल को कातना कृषिप्रधान समूहों में प्राय: पाया जाता है। भूमि की काश्तकारी से जनसंख्या में वृद्धि हुई। कृषि ने स्थायी निवासों को आवश्यक बना दिया, जिससे ग्रामीण समुदायों की स्थापना हुई। धनोपार्जन एक धन्धा बन गया, जिसने मानव-कल्याण के साथ-साथ दुर्भावना एवं दु:खों को भी असीमित मात्रा में जन्म दिया।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कृषि मानव जाति का मुख्य धन्धा था। औद्योगिक क्रांति एवं विशाल स्तर पर यंत्रों के निर्माण के फलस्वरूप कृषि के नवीन ढंग का विकास हुआ। स्वतंत्र स्वामित्व के अधीन भूमि का फार्मों में विभाजन सामान्य हो गया। जनसंख्या की वृद्धि ने बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक कृषि के युग का उद्‌घाटन किया। श्रम-प्रणाली आरम्भ हुई। औद्योगिक क्रांति ने विशेषीकरण को बढ़ाया। विशेषीकरण से व्यापार में वृद्धि हुई। नगर व्यापार का केन्द्र बना। इन प्रारम्भिक नगरों में जो किसी न किसी जलमार्ग पर अवस्थित थे, व्यापार के कुछ स्थानों का विकास हुआ। वस्तुओं को किसी विशेष दिन कुछ स्थानों पर इकट्ठा और विक्रय किया जाता था। नगर एक सामाजिक एवं राजनीतिक समूह के अतिरिक्त एक इकाई समूह के रूप में भी विकसित हुआ। नगर के कारीगरों ने सुरक्षा हेतु गिल्डों का निर्माण किया, जिन्हें वर्तमान ट्रेड यूनियनों का अग्रदूत कहा जा सकता है। परन्तु ये गिल्ड श्रमिकों के संघ न होकर उत्पादकों के संघ थे।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कारखाना प्रणाली ने श्रमिक और पूँजीपति के बीच नया संकट उत्पन्न कर दिया। मशीनों की चालक शक्ति के रूप में वाष्प ने उद्योगों में क्रांति ला दी। शक्तिचालित मशीनों ने हस्तचालित मशीनों का स्थान लिया। कारखाने का स्तर विशाल हो जाने के कारण मालिक एवं श्रमिकों के बीच वैयक्तिक सम्बन्ध समाप्त हो गए तथा श्रम-पूँजी विवाद बढ़ गए। श्रमिकों ने अपनी सुरक्षा-हेतु संगठनों का निर्माण किया; पूँजीपतियों ने भी संगठन बनाए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यापार एवं वाणिज्य की वृद्धि एवं पूँजीवाद के जन्म के साथ आर्थिक समूह अस्तित्व में आए।

२. पूंजीवाद
(Capitalism)

पूंजीवाद का विकास (The growth of capitalism)—आदि समाजों में वस्तुओं के विनिमय की सामान्य प्रणाली 'वस्तु-विनिमय' प्रणाली थी। उस समय लाभ का विचार नहीं होता था। लोग वस्तुओं का संग्रह अभाव के दिनों में लाभ कमाने हेतु न करके मान-प्राप्ति के लिए करते थे। व्यापार-प्रणाली प्राय: सेवाओं के

परस्पर आदान-प्रदान पर आधारित थी। आर्थिक तत्व, यथा मजदूरी, निवेश, व्या एवं लाभ आदि समाजों में लगभग अपरिचित बातें थीं।

आरम्भिक मध्ययुग में व्यापार एवं वाणिज्य की कुछ अधिक प्रगति हुई। जबकि शुरू में व्यापार वस्तु-विनिमय प्रणाली के आधार पर होता था, धीरे-धीरे मुद्रा व्यापार का माध्यम बनने लगी। इससे व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि हुई, जिससे मुद्रा— सोना, चाँदी तथा उनके सिक्कों को महत्व मिला। मुद्रा सम्पत्ति नहीं है, अपितु सम्पति का चिह्न है। इसका उत्पादक वस्तुओं के प्रयोगों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सिमेल (Simmel) के अनुसार, आधुनिक पाश्चात्य समाज की आर्थिक प्रणाली में मुद्रा की स्थापना से जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र पर व्यापक प्रभाव पड़े हैं। इससे नियोक्ता एवं कर्मचारी, वस्तुओं एवं सेवाओं के विक्रेता एवं क्रेता दोनों को स्वतंत्रता मिली, क्योंकि यह किसी लेन-देन में दोनों पक्षों के बीच अवैयक्तिक सम्बन्धों की स्थापना करता है। सिमेल का विचार है कि मुद्रा की संस्था ने जीवन के सम्पूर्ण दर्शन का अत्यधिक परिवर्तन कर दिया है। इसने हमें अपनी अभिवृत्तियों आर्थिक बना दिया है, जिससे प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन रुपये-पैसे से किया जाता है और क्योंकि सामाजिक सम्पर्क अवैयक्तिक हो गए हैं, अतएव मानवीय सम्बन्ध धरातलीय एवं भावशून्य बन गए हैं।

आधुनिक युग के आरम्भिक भाग में आर्थिक गतिविधियाँ साधारणतया शासकीय शक्तियों द्वारा नियमित की जाती थी। यह शक्तिशाली राजतंत्रीय सरकारों के अधीन यूरोपीय लोगों की बढ़ती हुई एकता का आर्थिक प्रतिबिम्ब था। शासकों का हित आन्तरिक एकता पर आधारित था जिसका अनिवार्य अर्थ आर्थिक एवं राजनीतिक एकीकरण था। धनलोलुप विचारधारा उस युग की प्रमुख विचार धारा थी। लोगों की आर्थिक गतिविधियाँ राजा के लाभों की वृद्धि करने एवं राज कोष को धन से भरने के लिए राजनीतिक स्तर पर नियमित की जाती थीं। राज्य को लाभ कमाने वाले आर्थिक संगठन के रूप में देखा जाता था। उत्पादक वस्तुओं के स्वामित्व एवं प्रयोग को वाणिज्यिक नियमों द्वारा सूक्ष्म रूप में विनियमित किया जाता था।

तदुपरांत औद्योगिक क्रांति हुई जिसने उत्पादन की विधियों को बदल दिया। वाणिज्यवाद लोगों के कल्याण को उन्नत करने में असफल रहा। सामान्य पदार्थों के अधिकतम उत्पादन को प्राप्त करने के लिए 'लैसेज फेयर' (laissez faire) अर्थात् हस्तक्षेप की नीति को प्रतिपादित किया गया। यह सिद्धान्त आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप का समर्थन करता था। इस सिद्धांत के अनुसार यदि लोगों को बिना किसी प्रतिबन्ध के अपने हितों के अनुसरण में स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो सबसे अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख प्राप्त होगा। इसके समर्थक एडम स्मिथ, जे॰ एस॰ मिल, स्पेंसर एवं समनर का विचार था कि सरकार को व्यापार, उत्पादन, विनिमय एवं सम्पत्ति के संग्रह पर से सभी प्रतिबन्ध समाप्त कर देने चाहिए। एडम स्मिथ ने चार नियमों का उल्लेख किया—(i) आत्म-हित का सिद्धांत; (ii) अकेला छोड़ दो, की नीति; (iii) प्रतियोगिता का सिद्धांत; (iv) लाभ की दृष्टि।

इन नियमों तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न उत्पादन की परिवर्तनशील विधियों के प्रत्युत्तर में सम्पत्ति एवं उत्पादन के स्वामित्व की नई प्रणाली पूंजीवाद का विकास हुआ। औद्योगिक क्रांति ने घरेलू उद्योगों के स्थान पर कारखानों की स्थापना की। कारखानों में प्रत्येक कार्य छोटे-छोटे अंशों में विभक्त था और प्रत्येक श्रमिक छोटा-सा अंश करता था। उत्पादन की वृद्धि हुई। कुछ समय बाद [illegible] ाया गया। निगमों की स्थापना हुई जिनके हाथ में [illegible] था। बड़े पैमाने पर उत्पादन, श्रम-विभाजन विशेषीकरण एवं विनिमय ने पूंजीवाद को जन्म दिया। उत्पादन एवं विनिमय की इस नवीन प्रणाली मे उत्पादक वस्तुओं का स्वामित्व व्यक्तिगत एवं सामाजिक दायित्वों, दोनों से रहित था। सम्पत्ति निजी बन गई तथा इसे राज्य, चर्च, परिवार एवं अन्य संस्थाओं के प्रति सभी दायित्वों से मुक्त कर दिया गया। कारखाने के मालिक अपनी इच्छानुसार कुछ भी करने को स्वतंत्र थे। उनके लिए लाभ ही मुख्य उद्देश्य था। उनका उन वस्तुओं का निर्माण करने के लिए कोई दायित्व नहीं था जिसमें वे कोई लाभ नहीं कमा सकते थे। उत्पादन प्रणाली लाभोन्मुख थी तथा सरकारें 'लैसेज फेयर' के सिद्धांतानुसार पूंजी के स्वामियों के इस अधिकार की रक्षा करती थीं।

पूंजीवाद के लक्षण (Features of Capitalism)

विस्तृत अर्थ मे, पूंजीवाद एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जो उत्पादन-प्रक्रिया में पूंजी का व्यापकतम प्रयोग करती है। पारिभाषिक अर्थ में, पूंजीवाद उत्पादन की वह आर्थिक व्यवस्था है जिसमें पूंजीगत वस्तुएँ व्यक्तियों अथवा निगमों के निजी स्वामित्व में होती हैं। पूंजीवाद के आर्थिक आधार निम्नलिखित हैं—

(i) निजी सम्पत्ति (Private property)—निजी सम्पत्ति की संस्था आधुनिक आर्थिक जीवन का आधार है। यह पूंजीवाद का सार है। पूंजीवाद में प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति अर्जित करने और रखने का अधिकार होता है। सम्पत्ति का अधिकार अनुल्लंघनीय होता है।

(ii) विशालस्तरीय उत्पादन (Large-scale production)—यह पूंजीवाद का अन्य लक्षण है। पूंजीवाद का जन्म औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप हुआ, जिससे विशालस्तरीय उत्पादन सम्भव हुआ। दीर्घकाय संयंत्रों की स्थापना एवं श्रम-विभाजन ने उत्पादन में वृद्धि की। अधिक उत्पादन का अर्थ है पूंजी का व्यापक प्रयोग जो अधिक लाभों को जन्म देता है।

(iii) लाभ की संस्था (Profit institution)—मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद लाभ की संस्था की अनुपस्थिति में जीवित नहीं रह सकता। पूंजीपति मुद्रा का निवेश करते हैं एवं निवेशों से लाभ प्राप्त करना चाहते हैं। पूंजीवाद के अधीन उत्पादन लाभोन्मुखी होता है।

(iv) प्रतियोगिता (Competition)—प्रतियोगिता पूंजीवादी व्यवस्था का अपरिहार्य परिणाम है। पूंजीवाद में पूंजीपतियों के बीच अति प्रतियोगिता होती है।

माँग को कृत्रिम रूप से बढ़ाया जाता है तथा संभरण कम कर दिया जाता है। ... बाद में गहरी प्रतियोगिता होती है।

(v) मूल्य-संरचना (Price mechanism)—पूंजीवाद में वस्तु का ... उत्पादन की लागत द्वारा नहीं, अपितु माँग एवं सभरण के नियम द्वारा ... किया जाता है।

(vi) वेतन-व्यवस्था (Wage institution)—पूंजीवाद में श्रमिक ... साथ मोल-तोल किया जाता है। पूंजीपति का उद्देश्य उसको कम से ... देना तथा उससे अधिक से अधिक काम लेना होता है। पूंजीवाद मे ... शोषण होता है।

(vii) मुद्रा एवं ऋण (Money and credit)—पूंजीवाद में ऋण के ... संस्था का महत्वपूर्ण स्थान होता है। पूंजीपति ऋण लेकर अपने व्यापार को बढ़ाते हैं। इस प्रकार पूंजी के अभाव के बावजूद, पूंजीपति ऋण के आधार पर अपनी ... की वृद्धि करता है।

(viii) व्यापार-संगठन (Business organisation)—पूंजीवाद में विशाल ... व्यापार-संगठन पाए जाते हैं। विभिन्न शेयर-होल्डरों की पूंजी को इकट्ठा करके ... विशाल औद्योगिक संस्थान की स्थापना की जाती है।

पूंजीवाद के सामाजिक परिणाम (Social Consequences of Capitalism)

पूंजीवाद के कुछ अच्छे परिणाम हुए है जो निम्नलिखित हैं—

(i) उच्चस्तरीय जीवन (High standard of living)—पूंजीवाद ... औद्योगीकरण की उपज है। औद्योगीकरण ने उत्पादन की वृद्धि की है। अब व्यक्ति ... को आजीविका कमाने हेतु दिन-रात कठोर परिश्रम नही करना पड़ता, जैसा आदि ... व्यक्ति को करना पड़ता था। जीवन की आवश्यकताएँ सुगमता से सुलभ हो ... जाती हैं।

(ii) आर्थिक प्रगति (Economic progress)—पूंजीवाद से प्राकृतिक ... स्रोतो का अधिकाधिक शोषण सम्भव हुआ है। लोग धन कमाने के लिए अत्यधिक ... परिश्रम करते हैं। इससे उद्योग, कृषि एवं व्यापार के क्षेत्र में अनेक आविष्कार हुए ... हैं जिनसे आर्थिक उन्नति को योगदान मिला है।

(iii) संस्कृति का विनिमय (Exchange of culture)—पूंजीवाद ने ... अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव तकनीकी ज्ञान के विनिमय को जन्म दिया है। विभिन्न ... देशों के लोग एक-दूसरे के निकट आ गए हैं। यातायात एवं संचार के साधनों के ... विकास ने संसार के लोगो के बीच सम्पर्कों को सुगम बना दिया है, जिससे उनके ... विचारों एवं संस्कृति का विनिमय हुआ है।

(iv) सभ्यता की उन्नति (Progress of civilization)—पूंजीवाद ... संयंत्रों के आविष्कार एवं भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि का माध्यम है। ... आज मनुष्य अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सभ्य है।

(v) प्रजातीय भेदों को कम करना (Lessening of recial differences)—पूँजीवाद से प्रजाति, वंश, जाति एवं राष्ट्रीयता पर आधारित विभेदों के कम होने में सहायता मिली है। कारखाने में विभिन्न जातियो के अधिकारी एवं श्रमिक एक-दूसरे से सहयोग करते हैं तथा कंधे से कंधा मिलाकर काम करते हैं। जातियो का अन्तर्मिलन पूँजीवाद की उपज है।

परन्तु उपर्युक्त अच्छे परिणामो के बावजूद पूँजीवाद वरदान की अपेक्षा अभिशाप सिद्ध हुआ है। इसके दोष निम्नलिखित हैं—

(i) धन की लोलुपता (Greed for wealth)—पूँजीवाद का आधार धन-लोलुपता है। इसने धन को देवता बना दिया है। धन ही जीवन का आदि-अन्त बन गया है। आधुनिक व्यक्ति धन के पीछे पागल है। वह किसी न किसी प्रकार अधिक से अधिक धन संगृहीत करना चाहता है। इसको अर्जित करने मे नैतिकता का कोई विचार नही रखा जाता। इससे नैतिक पतन हुआ है।

(ii) मानवीय मूल्यों का विनाश (Destruction of human values)—पूँजीवादी व्यवस्था मे प्रत्येक वस्तु धन के संदर्भ में मूल्यांकित की जाती है। मानव-जीवन के सभी मूल्यो, यथा स्नेह, सहानुभूति, परोपकारिता का मूल्याकन चाँदी के सिक्को से किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम धन प्राप्त करना चाहता है। धन न कि आदर्श एकमात्र निर्णायक तत्व है।

(iii) भौतिकवादिता (Materialism)—पूँजीवाद में भौतिकवाद अपनी चरम सीमा पर होता है। धर्म एवं आध्यात्मिकता अपना महत्व खो देते हैं। धर्म लोगों के लिए अफीम बन जाता है। धर्म दिखावा मात्र बन जाता है। बड़े-बड़े पूँजीपति जाली धर्मार्थ सस्थाओं को दान दिखाकर लाखो रुपया कर से बचा लेते हैं। जबकि बाजार में वस्तुओ की कमी होती है, पूँजीपति कीमतें ऊँची करने हेतु उन्हे छिपा लेते हैं।

(iv) कृत्रिमता (Artificiality)—पूँजीवाद ने आधुनिक संस्कृति को केवल मात्र कृत्रिमता मे परिवर्तित कर दिया है। आजकल केवल झूठा शिष्टाचार है। मनुष्य मानवी स्नेह एवं शिष्टता नही पाता। भोजन, वस्त्र एवं भाषा आदि की बात ही नहीं, कला एवं साहित्य मे भी झूठा मान, केवल कृत्रिमता एवं नितान्त विज्ञापनता देखने में आती है। आज जीवन कृत्रिम बन गया है।

(v) लिंग पर बल (Emphasis on sex)—पूँजीवादी संस्कृति लिंग को महत्व देती है। विवाह लैंगिक तुष्टि-हेतु मात्र संविदा बन गया है। पूँजीपति अपनी वस्तुओं का विज्ञापन लैंगिक प्रवृत्तियों के प्रदर्शन द्वारा करते हैं। साहित्य एवं चलचित्र लैंगिक वासना पर आधारित हैं। पूर्ववैवाहिक तथा अतिरिक्त वैवाहिक लैंगिक सम्बन्धों की वृद्धि हो रही है। मनुष्य मे आत्म-नियंत्रण का अभाव है।

(vi) सामाजिक व्यवस्था में असंतुलन (Imbalance in social system)—पूँजीवाद ने सामाजिक व्यवस्था में असंतुलन को जन्म दिया है। यह

स्वयं को समाज के कल्याण के प्रति समंजित करने में असफल रही है। इसने धनिकों एवं धनहीनों के बीच अन्तर को व्यापक कर दिया है तथा लोगों में धन का अपार मोह उत्पन्न कर दिया है। इसने मनुष्यों के दृष्टिकोण को ही बदल डाला है। धन प्रस्थिति का महत्वपूर्ण निर्णायक तत्व हो गया है। इसने मनुष्य के नैतिक पतन को जन्म दिया है। यह व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए हानिकारक है। संक्षेप में, मानवता के लिए यह वरदान की अपेक्षा अभिशाप सिद्ध हुआ है। कार्ल मार्क्स इसका कटु आलोचक था।

३. सम्पत्ति
(Property)

समाजों की अर्थ-व्यवस्था में सम्पत्ति एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। शब्द 'सम्पत्ति' को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। कुछ लेखकों के अनुसार, इसमें किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह द्वारा अधिकृत वस्तुएँ अथवा पदार्थ सम्मिलित हैं। इस प्रकार **एण्डरसन** एवं **पार्कर** ने लिखा है, "सम्पत्ति मे वे वस्तुएं अथवा पदार्थ सम्मिलित हैं जिन पर समाज किसी व्यक्ति अथवा समूह को कब्जा रखने, प्रयुक्त करने एवं बेचने का पूर्ण अधिकार देता है।" इस अर्थ में, सम्पत्ति किसी की अपनी, उसके आधिपत्य में कोई वस्तु है। यह स्पर्शनीय अथवा अस्पर्शनीय हो सकती है। स्पर्शनीय वस्तुएं वे हैं जिन्हें देखा एवं छुआ जा सकता है। यथा, जेवर, शस्त्र, यंत्र, बर्तन, मकान, भूमि, स्वचालित वाहन, पशु आदि स्पर्शनीय वस्तुएं हैं। अस्पर्शनीय सम्पत्ति वह है जिसे देखा एवं छुआ नहीं जा सकता। ऐसी सम्पत्ति में साख, प्रतिलिप्यधिकार, व्यापार-चिह्न आदि सम्मिलित हैं। हमारी अभिरुचि सम्पत्ति मे स्पर्शनीय वस्तुएँ होती हैं।

दूसरे अर्थ में, सम्पत्ति का अर्थ अधिकारों से है। **डेविस** (Davis) ने। है, "सम्पत्ति में किसी व्यक्ति अथवा समूह के अन्य सभी व्यक्तियों अथवा विरुद्ध दुर्लभ पदार्थों से सम्बन्धित अधिकार एवं दायित्व हैं।" यह 'मेरे' को से विलग कर देता है। अधिकार एव कर्तव्य भौतिक अर्थ में स्पर्शनीय नहीं हैं। अर्थ में वस्तु की स्पर्शनीयता अथवा अस्पर्शनीयता का कोई महत्व नहीं है, जिस पर आधिपत्य होता है, वह पदार्थ न हो कर इन पदार्थों को प्रयुक्त करने अधिकार है। **मजूमदार** ने भी लिखा है, "सम्पत्ति किसी भौतिक अथवा वस्तु को प्रयोग करने अथवा बेचने का अस्पर्शनीय अधिकार है जिसके द्वारा के अधिकार किसी व्यक्ति, समूह अथवा समूह के कुछ व्यक्तियों के लिए एवं लोकरीतियों द्वारा स्वीकृत होते हैं।" यह ध्यान रहे कि सम्पत्ति के का जन्म उसी अवस्था में होता है जब कोई वस्तु दुर्लभ अथवा मूल्यवान् है यदि कोई वस्तु स्वतंत्रता एवं सुगमता से प्राप्य है तो वह सम्पत्ति की हो सकती। उदाहरणतया, हवा एवं प्रकाश प्रत्येक व्यक्ति को है, अतएव वे किसी की सम्पत्ति नहीं हो सकते, अर्थात् उन पर किसी का एकान्तिक अधिकार नहीं हो सकता। समाज में वस्तुओं की कमी है। सदस्यों के पास उनकी इच्छा से कम वस्तुएं होती हैं। अतएव वे दुर्लभ वस्तु

एकान्तिक अधिकार को प्राप्त करना चाहते हैं जिससे सम्पत्ति की अवधारणा महत्व-पूर्ण बन जाती है।

सम्पत्ति-अधिकार का स्वरूप (Nature of Property Rights)

अधिकारों के संदर्भ में, सम्पत्ति के अधिकार की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) हस्तांतरणीयता (Transferability)—सम्पत्ति को इसके स्वामी द्वारा विक्रय, विनिमय अथवा उपधारित किया जा सकता है। भूपति अपनी भूमि को हस्तांतरित कर सकता है। डाक्टर अपनी मोटर-कार को बेच सकता है। परन्तु व्यक्ति अपने कौशल को हस्तांतरित नहीं कर सकता, अतएव कौशल उसकी सम्पत्ति नहीं है।

(ii) सम्पत्ति-अधिकारों में स्वामी द्वारा सम्पत्ति का वास्तविक उपभोग अनिवार्य रूप में निहित नहीं है (Property rights do not necessarily imply actual use and enjoyment of object by the owner)—कानून स्वामित्व एवं आधिपत्य में विभेद करता है। एक व्यक्ति बिना उपभोग किए सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि जो व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी है, वही इसका वास्तविक उपभोग करे। कोई अन्य व्यक्ति इसका उपयोग कर सकता है। किराएदार मकान का उपयोग करता है, परन्तु मकान उसकी सम्पत्ति नहीं है। यह मकान-मालिक की सम्पत्ति है।

(iii) शक्ति-तत्व (Power aspect)—सम्पत्ति के धारण में अन्य व्यक्तियों के ऊपर शक्ति का आधिपत्य निहित है। जैसा ऊपर बतलाया गया है, सम्पत्ति किसी ऐसी वस्तु का अधिकार है जो वस्तु मूल्यवान् एवं अभाव में है। ऐसा व्यक्ति जिसके पास सम्पत्ति है, उन व्यक्तियों पर जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, नियंत्रण कर सकता है। इस शक्ति की सीमा जो सम्पत्ति अपने स्वामी को प्रदान करती है, न केवल उसके अधिकारों के स्वरूप पर निर्भर करती है, अपितु अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता की गहनता एवं वस्तु के अभाव पर भी निर्भर करती है। फाउन्टेनपेन का स्वामित्व *अनपढ़ व्यक्तियों पर कोई नियंत्रण-शक्ति प्रदान* नहीं करता, जिन्हें इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, न ही अन्य व्यक्तियों पर कोई नियंत्रण-शक्ति प्रदान करता है, क्योंकि इसका संभरण प्रचुर है। परन्तु यदि व्यक्ति सभी कपड़ा उद्योगों का स्वामी है, तो अन्य व्यक्तियों पर उसकी शक्ति महान् होगी।

(iv) सम्पत्ति किसी पदार्थवाची बाह्य वस्तु को निर्दिष्ट करती है (Property refers to a concrete external object) —कुछ लेखकों का विचार है कि सम्पत्ति पदार्थवाची बाह्य वस्तु को निर्दिष्ट करती है, परन्तु सम्पत्ति-विषयक ऐसी धारणा सम्पत्ति अधिकारों के क्षेत्र को अत्यधिक संकुचित कर देती है। अस्पर्शनीय वस्तु, यथा साख (goodwill) का भी व्यक्ति स्वामी हो सकता है। जब कोई व्यक्ति अपने व्यापार की साख का विक्रय करता है तो वह किसी बाह्य वस्तु को नहीं बेचता। वह तो केवल क्रेता से यह वायदा करता है कि वह वस्तु अथवा कम्पनी के नाम को प्रयुक्त नहीं करेगा। उदाहरणतया, यदि 'बजाज' फर्म अपनी साख बेचती है तो वे केवल इस बात की संविदा करते हैं कि वे उसके बाद अपने द्वारा निर्मित

वस्तुओं के लिए 'बजाज' नाम प्रयुक्त नही करेंगे। वे अपनी वस्तुओं को नहीं बेचते, अपितु अपने उस नाम को बेचते हैं जिनसे ये वस्तुएं बाजार में जानी जाती थी। उन्होने साख की अपनी सम्पत्ति का विक्रय किया है।

(v) सम्पत्ति सामान्यतः अमानवी होती है (Property is usually non-human)—इसका अर्थ है कि सम्पत्ति की वस्तु का स्वयमेव कोई अधिकार नहीं होता, अपितु वह इन अधिकारो का मात्र निष्क्रिय पदार्थ होती है। भूमि का अपना कोई अधिकार नही है, यह केवल भूमिपति की सेवा करती है। दूसरे शब्दों में, मानव प्राणी सम्पत्ति की वस्तु नही हो सकते। स्त्री अपने पति की सम्पत्ति नहीं है, और न ही बच्चे अपने माता-पिता की सम्पत्ति हैं। सम्पत्ति के अधिकार उन वस्तुओं पर ही प्रयुक्त होते हैं, जिनके स्वयं कोई अधिकार नही होते।

निजी सम्पत्ति (Private Property)

आधुनिक आर्थिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता निजी सम्पत्ति की संस्था है। निजी सम्पत्ति से हमारा तात्पर्य उन वस्तुओं से है जिनके द्वारा किसी व्यक्ति अथवा समूह का एकान्तिक स्वामित्व होता है और जिन्हें इनका अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त होता है। यह सार्वजनिक सम्पत्ति से इस बात मे भिन्न है कि सार्वजनिक सम्पत्ति का स्वामित्व समुदाय में होता है जिसका प्रबन्ध व्यक्तियों अथवा समूहों द्वारा समुदाय के प्रतिनिधि रूप में किया जाता है। उदाहरणतया, रेलवे सार्वजनिक सम्पत्ति है। भूपति की भूमि उसकी निजी सम्पत्ति है। निजी सम्पत्ति तथा सार्वजनिक सम्पत्ति मे निम्नलिखित अन्तर किया जा सकता है—

(i) प्रथमतया, निजी सम्पत्ति का स्वामित्व किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह में होता है, जबकि सार्वजनिक सम्पत्ति का स्वामित्व समुदाय मे होता है।

(ii) द्वितीय, निजी सम्पत्ति का प्रयोग इसके स्वामी द्वारा स्वलाभ-हेतु किया जाता है, जबकि सार्वजनिक सम्पत्ति का प्रयोग सार्वजनिक लाभ के लिए होता है।

(iii) तृतीय, निजी सम्पत्ति राज्य द्वारा निर्मित नियमों के अधीन होती है जबकि सार्वजनिक सम्पत्ति नितान्ततया राज्य की सम्पत्ति होती है जिस पर किसी बाह्य समूह का कोई नियंत्रण नही होता। दूसरे शब्दों में, निजी सम्पत्ति ... निरीक्षण, नियमन एवं नियंत्रण के अधीन होती है।

निजी सम्पत्ति का विषय काफी विवादग्रस्त विषय है। इसके प्रबल ... तथा कटु आलोचक दोनों हैं। एक ओर यदि इसे सामाजिक प्रगति के लिए अनिवार्य समझा जाता है तो दूसरी ओर इसे 'चोरी' का नाम दिया जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था का आधार निजी सम्पत्ति है।

निजी सम्पत्ति के लाभ (Advantages of Private Property)

निजी सम्पत्ति के समर्थक इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं-

(i) **कार्य के प्रति प्रेरणा** (Incentive to work)—कहा जाता है कि ... कार्य-हेतु उत्प्रेरणा चाहता है। निजी सम्पत्ति का अधिकार ऐसी ही उत्प्रेरणा ...

करता है। यह व्यक्तियों को परिश्रम की ओर अभिमुख करता है। यदि कोई उत्प्रेरणा न हो तो कोई भी व्यक्ति परिश्रम नहीं करेगा। इस प्रकार निजी सम्पत्ति की संस्था मनुष्य को कार्य की ओर प्रेरित करती है जो अन्ततः समाज के लिए लाभदायक है।

(ii) प्राकृतिक प्रवृत्ति की संतुष्टि (Satisfaction of natural instinct)—मनुष्य में अर्जनशील प्रवृत्ति होती है। वह किसी ऐसी वस्तु को अर्जित करना चाहता है, जिसे वह अपनी कह सके। वह मकान, स्वचालित वाहन तथा सुविधा एवं ऐश्वर्य की अन्य अनेक वस्तुएँ रखना चाहता है। वह इन वस्तुओं की प्राप्ति हेतु कठिन परिश्रम करता है तथा जब वह इनको प्राप्त कर लेता है तो उसे प्रसन्नता होती है।

(iii) भविष्य के प्रति सुरक्षा (Security aganist future)—जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, उसे भविष्य का भय नहीं होता। वह बौद्धिक रुचियों का अनुसरण कर सकता है। निर्धनता का अर्थ है अभाव एवं अनिश्चितता का जीवन। सम्पत्ति भावी आवश्यकताओं की पूर्ति की सुरक्षा प्रदान करती है। यदि सम्पत्ति न हो तो व्यक्तियों को आने वाले कल की आवश्यकताओं की पूर्ति में अनिश्चितता रहेगी।

(iv) नैतिकतया उचित (Ethically sound)—निजी सम्पत्ति इस आधार पर भी उचित है कि यह व्यक्ति को उसके परिश्रम का पुरस्कार है। रेलवे-निर्माता, रेफ्रीजरेटर के आविष्कारक एवं किसी दवा के शोधकर्ता ने कठोर परिश्रम किया है। अतएव अपने कठोर परिश्रम के परिणामस्वरूप उनको जो कुछ भी प्राप्त होता है, वे उसके उचित अधिकारी हैं।

(v) गुणों का पालक (Nurse of virtues)—कुछ विचारकों का यह भी तर्क है कि निजी सम्पत्ति सामाजिक गुणों, यथा अपने परिवार से प्रेम, उदारता, शक्ति, दानवीरता आदि को जन्म देती है। जिस व्यक्ति के पास सम्पत्ति होती है, उसका देश की सुरक्षा में बड़ा हित होता है, क्योंकि ऐसा न हो कि आक्रमणकारियों द्वारा उसकी सम्पत्ति को लूट लिया जाए। इसी कारण कुछ राजनीतिक चिंतकों का विचार है कि मतदान का अधिकार केवल सम्पत्तिवान् व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए।

(vi) आर्थिक प्रगति (Economic progress)—निजी सम्पत्ति की ओर अभिप्रेरणा व्यक्तियों को धन अर्जित करने हेतु अधिकतम परिश्रम की ओर प्रेरित करती है। इससे उद्योग, कृषि एवं व्यापार के क्षेत्र में अनेक आविष्कार हुए हैं, जिन्होंने आर्थिक प्रगति में योगदान दिया है।

(vii) ऐतिहासिक औचित्य (Historical justification)—निजी सम्पत्ति की संस्था ऐतिहासिक आधार पर भी उचित है। कहा जाता है कि सभी प्रगतिशील समाजों का निर्माण निजी सम्पत्ति की प्रणाली पर हुआ है। संयुक्त राज्य प्रगतिशील समाज है, क्योंकि यह निजी सम्पत्ति एवं मुक्त व्यापार की संस्था पर आधारित है।

निजी सम्पत्ति के दोष (Disadvantages of Private Propetry)

परन्तु निजी सम्पत्ति के सभी उपर्युक्त लाभों को मिथ्या कहा जाता है। सम्पत्ति

प्राप्त करने की सत्ता अपेक्षाकृत अधिक उत्प्रेरणाओं को नष्ट कर देती है।
में निजी सम्पत्ति का अधिकार अत्यधिक सीमित है, तथापि
निवासियों से कम परिश्रमी नहीं हैं। व्यक्ति अधिक सम्पत्ति
असामाजिक अथवा समाज-विरोधी कार्य, यथा मिलावट, चोरबाजारी,
तस्करी आदि का आश्रय लेते हैं। इसके आधिपत्य का सामाजिक रूप
के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। उत्पादन व्यर्थ ही बढ़ाया जाता है।
की अपेक्षा अधिक सिनेमाघरों का निर्माण करते हैं, क्योंकि सिनेमाघर
होती है। निजी सम्पत्ति के स्वामी को सम्पत्तिहीन व्यक्तियों के
प्राप्त हो जाता है। निजी सम्पत्ति से वेश्यावृत्ति, मद्यपान एवं जूए
हो सकते हैं। नागरिक गुणों का विकास आवश्यक रूप से निजी सम्पत्ति
नहीं करता। सम्पत्तिहीन व्यक्ति सम्पत्तिवान् व्यक्ति से अधिक गुणी हो
प्राय: निजी सम्पत्ति भ्रष्ट साधनों से संगृहीत की जाती है। सोवियत
की अपेक्षा कम प्रगतिशील नहीं है। अतएव यह कथन सत्य नहीं है कि केवल
सभ्य होते हैं जो निजी सम्पत्ति की संस्था पर आधारित हैं।

इस प्रकार, निजी सम्पत्ति के समर्थन में प्रस्तुत तर्क उचित प्रतीत
इसके अतिरिक्त निजी सम्पत्ति निम्नलिखित दोषों को भी जन्म देती है—

(i) सम्पत्ति की लालसा (Greed for property)—निजी सम्
को लालची बना देती है। वह किसी न किसी प्रकार अधिक से
करना चाहता है। वह नैतिकता की भी परवाह नहीं करता। इस प्रकार
नैतिक पतन की ओर ले जाती है।

(ii) मानवी मूल्यों का विनाश (Destruction of human values)
सम्पत्ति प्रणाली में प्रत्येक वस्तु रुपये-पैसे के संदर्भ में मूल्यांकित की जाती है।
जीवन के सभी मूल्य, यथा स्नेह, सहानुभूति, परोपकारिता एवं प्रेम चाँदी के
तोले जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम धन की प्राप्ति चाहता है। सम्
मूल्य एकमात्र तुला होती है।

(iii) पूंजीवाद का आधार (Basis for capitalism)—निजी
संस्था पूंजीवाद का आधार है। पूंजीवाद में प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति
और उसे रखने का अधिकार होता है। सम्पत्ति के अधिकार को पवित्र
है। पूंजीवाद व्यक्ति एवं समाज, दोनों के लिए हानिकारक है।

(iv) असमानता (Inequality)—निजी सम्पत्ति असमानता का
धनियों एवं निर्धनों में व्यापक दूरी उत्पन्न कर देती है। निजी सम्पत्ति
सम्पत्तिहीन व्यक्तियों के जीवन को नियंत्रित करने की शक्ति प्रदान
सम्पत्तिवान् वर्ग राजनीतिक संयंत्र पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है तथा
व्यक्तिगत लाभ-हेतु करता है। उनके हितों का समुदाय के हितों के
है। निजी सम्पत्ति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में सम्पत्तिहीन
सामाजिक महत्व अथवा अधिकार प्राप्त नहीं होते।

(v) आर्थिकतया अपर्याप्त (Economically inadequate)
व्यवस्था अपर्याप्त है, क्योंकि यह धन का विभाजन

में असमर्थ रहती है कि जिससे व्यक्तियों को स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की दशाएँ प्राप्त सकें। इसे अधिकाश व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त नहीं है। इसे घृणा एवं उदा-ता से देखा जाता है। अधिकांश सम्पत्ति व्यक्ति द्वारा बिना किसी सामाजिक रूप पयोगी कार्य के अर्जित की जाती है। अनेक सम्पत्ति-स्वामी अनुपस्थित स्वामी हैं। वे कोई कार्य नहीं करते, अपितु केवल इस कारण भुगतान पाते हैं कि त्पादक यंत्रों के स्वामी होते हैं।

अपने दोषो के कारण निजी सम्पत्ति की संस्था की वामपंथी विचारधाराओं ा आलोचना की गई है। श्रम संघवाद, समाजवाद एवं साम्यवाद इसके कटु ोचक हैं। इनमें से प्रत्येक विचारधारा श्रमिक वर्ग को सम्पत्तिवान् वर्ग के द्ध संघर्षरत पाती है। वे सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व की स्थापना करना हते हैं। इन विचारधाराओं द्वारा आपत्तियों ने निजी सम्पत्ति की संस्था की चना को आवश्यक बना दिया है, जिससे यह स्वयं को परिवर्तित सामाजिक व्यव-ा के साथ समंजित कर सके।

४.श्रम-विभाजन
(Division of Labour)

श्रम-विभाजन से हमारा तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है जिसमें विभिन्न व्यक्ति क ही समय मे विभिन्न कार्य करते हैं। यद्यपि 'श्रम-विभाजन' शब्द श्रम के विभाजन ो निर्दिष्ट करता है एवं अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रयुक्त होता है, तथापि आधुनिक माज मे श्रम-विभाजन केवल श्रम तक ही सीमित नहीं है, अपितु उत्पादन के सभी त्वो पर एवं विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र से परे भी प्रयुक्त होता है। श्रम-विभाजन तीन कार का हो सकता है—

(i) **सामाजिक श्रम-विभाजन** (Social division of labour)—इसका र्थ है विभिन्न व्यवसायों में विभाजन। इस प्रकार समाज में कृषक, बढ़ई, ध्यापक, पुरोहित, सिपाही आदि पाए जाते हैं।

(ii) **तकनीकी श्रम-विभाजन** (Technical division of Labour)—सका अर्थ है किसी विशिष्ट उद्यम में श्रम-विभाजन। इस प्रकार एक कारखाने में नाईवर्ता, डिजाइन-निर्माता, लेखाकार, प्रबंधक एवं अभियंता होते हैं। कार्य का भाजन पूर्ण क्रियाओं, यथा बुनाई, रंगाई, डिजाइन, परिसज्जा आदि में किया जा कता है, अथवा इसे अपूर्ण प्रक्रियाओं में विभाजित किया जा सकता है। कहा जाता कि एक 'पिन' का निर्माण अठारह प्रक्रियाओं मे विभक्त होता है। औद्योगिक म-विभाजन आधुनिक यांत्रिक युग की प्रमुख विशेषता है।

(iii) **प्रदेशीय श्रम-विभाजन** (Territorial division of labour)—इसे द्योगों का स्थानीयकरण भी कहा जाता है। कुछ स्थान अथवा क्षेत्र कुछ वस्तुओं निर्माण में विशेषीकृत हो जाते हैं, यथा लुधियाने में होजरी, अहमदाबाद एवं म्बई में कपड़ा उद्योग, कलकत्ता में जूट उद्योग, आगरा एवं कानपुर में चमड़ा उद्योग, ादि।

श्रम-विभाजन सहयोग अथवा अन्तर्निर्भरता के नियम पर आधारित है। विभिन्न व्यक्ति जिनके मध्य कार्य विभाजित हैं, किसी वस्तु के उत्पादन में सहयोग करते हैं। उदाहरणतया, कुर्सी के निर्माण में एक समूह उसकी टाँगें बनाने में, दूसरा उसकी पीठ बनाने में, तीसरा उनको जोड़ने में एवं चौथा समूह उन पर रंग करने में लगा होता है। श्रम-विभाजन दोनों विभेदक एवं संपूर्णात्मक सामाजिक नियम है।

श्रम-विभाजन सभी समाजों में पाया जाता है। हस्तकला अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भिक समाज मे श्रम-विभाजन का स्वरूप सरल था। उस समय समाज प्राथमिक समूह-सम्बन्धों पर आधारित सादा संगठन था। ऐसे समाज मे आर्थिक विशिष्टता की न तो आवश्यकता होती है एवं न ही कोई व्यापक क्षेत्र। अर्थ-व्यवस्था आत्मनिर्भर प्रकार की थी। व्यवसायों की संख्या कम थी एवं तकनीकें भी थोड़ी एवं सरल थीं। निरीक्षण एवं सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं थी।

आधुनिक यांत्रिक युग मे श्रम-विभाजन जटिल घटना-वस्तु है। अब एक उद्योग में हजारों व्यक्ति विभिन्न विशेषीकृत कार्यों को करने में व्यस्त हैं, ताकि किसी वस्तु, यथा जूतों के एक जोड़े का निर्माण हो सके। अब आदेश की शृंखला की आवश्यकता है, ताकि ये सभी कर्मचारी अपने व्यक्तिगत कार्यों को समुचित ढंग से करते रहें।

श्रम-विभाजन के लाभ (Merits of Division of Labour)

श्रम-विभाजन आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की अपरिहार्य विशेषता है। यह निम्न रूप में लाभदायक है—

(i) **उचित स्थान पर उचित व्यक्ति** (The right man in the right place)—श्रम-विभाजन के अंतर्गत इस बात की संभावना होती है कि प्रत्येक व्यक्ति को वह कार्य मिल सकेगा, जिसके लिए वह सर्वोपयुक्त है। गलत स्थान पर गलत व्यक्ति नहीं होगा। इससे कार्य भली प्रकार हो जाएगा।

(ii) **कर्मचारी विशेषज्ञ बन जाता है** (The worker becomes an expert)—अभ्यास व्यक्ति को पूर्ण बना देता है। श्रम-विभाजन के अधीन कर्मचारी अपने कार्य की बारम्बार पुनरावृत्ति करता है, जिससे वह अपने कार्य मे कुशल हो जाता है। वह उत्तम सामान बनाने में समर्थ हो जाएगा। उसकी कुशलता एवं कारीगरी में वृद्धि होती है।

(iii) **भारी कार्य मशीनों द्वारा** (Heavy work taken over by the machinery)—श्रम-विभाजन के अधीन भारी कार्य मशीनों द्वारा किया जाता है। श्रमिक हल्का कार्य करते हैं जिससे उनके बाजुओं पर कम भार पड़ता है।

(iv) **कम प्रशिक्षण** (Less training required)—चूंकि श्रमिक को कार्य का केवल एक भाग करना होता है, अतएव उसे केवल उतना ही भाग सीखने की आवश्यकता होती है। लंबे एवं महँगे प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता नहीं होती। किसी व्यक्ति को पूर्ण कुर्सी बनाना सीखने में अधिक समय लगेगा, अपेक्षाकृत यह सीखने में कि उस पर रंग कैसे किया जाता है।

(v) आविष्कार (Inventions)--जब कोई व्यक्ति किसी कार्य को बार-बार करता है तो उसके मस्तिष्क में कुछ नए विचार उत्पन्न हो जाते हैं जिससे आविष्कार सम्भव हो जाते हैं। इन आविष्कारों से आर्थिक उन्नति होती है।

(vi) सस्ती वस्तुएँ (Cheaper things)---श्रम-विभाजन एवं मशीन के प्रयोग द्वारा वस्तुओं का उत्पादन विशाल मात्रा में होने के कारण सस्ती वस्तुओं का निर्माण संभव हो जाता है। निर्धन व्यक्ति भी उनको क्रय कर सकते हैं। जीवन-स्तर उन्नत होता है।

(vii) उपकरणों के प्रयोग में बचत (Economy in the use of tools)---प्रत्येक श्रमिक को उपकरणों का सम्पूर्ण सेट देना आवश्यक नहीं होता। उसे अपने कार्य के लिए केवल कुछेक उपकरणों की आवश्यकता होती है। ये उपकरण सदैव प्रयुक्त होते रहते हैं। इससे बचत होती है।

(viii) समय की बचत (Saving in time)—श्रमिक को एक प्रक्रिया से दूसरी प्रक्रिया पर इधर-उधर जाने की आवश्यकता नहीं होती। वह एक ही प्रक्रिया पर कार्य करता है। इस प्रकार समय नष्ट नहीं होता।

श्रम-विभाजन के दोष (Demerits of Division of Labour)

श्रम-विभाजन के निम्नलिखित दोष हैं—

(i) नीरसता (Monotony)—एक ही प्रकार के कार्य को बार-बार करते रहना मानसिक थकान को उत्पन्न करता है। उस कार्य में कोई आनन्द नहीं आता और नीरस बन जाता है। उसे करने में कोई प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। श्रमिक अपनी रुचि खो देता है। कार्य की गुणता में हानि होती है।

(ii) सृजनात्मक प्रवृत्ति का विनाश (Kills the creative instinct)—चूँकि किसी वस्तु के निर्माण में अनेक व्यक्ति भाग लेते हैं, अतः कोई भी व्यक्ति उसे अपनी कृति नहीं कह सकता। इससे उसकी सृजनात्मक प्रवृत्ति विनष्ट हो जाती है। उसे कार्य में कोई मान अथवा गौरव अनुभव नहीं होता, क्योंकि कोई भी श्रमिक उस वस्तु को अपनी कृति नहीं कह सकता।

(iii) कौशल का ह्रास (Loss of skill)—श्रमिक के कौशल का भी ह्रास होता है। संपूर्ण वस्तु का निर्माण करने की अपेक्षा वह केवल इसके किसी भाग को बनाने में ही व्यस्त रहता है जिससे उसका कौशल धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है।

(iv) गतिशीलता को अवरुद्ध करता है (Checks mobility)---श्रमिक कार्य का केवल एक भाग ही करता है। उसे केवल उसी भाग का ज्ञान होता है। अतएव उसके लिए समान कार्य अन्य किसी स्थान पर प्राप्त करना कठिन हो जाता है जिससे उसकी गतिशीलता में बाधा आती है।

(v) बेकारी का भय (Risk of unemployment)—यदि श्रमिक को पदच्युत कर दिया जाए जो उसे उस कार्य, जिसमें उसने निपुणता प्राप्त कर रखी है, को अन्य किसी स्थान पर पाना कठिन हो जाता है। वह केवल कुर्सी की टाँगें बनाता था, हो सकता है कि यह कार्य उसे अन्य स्थान पर न मिले, जहाँ कुर्सी की पीठ

बनाने वाले की आवश्यकता है, टाँग बनाने वाले की नहीं। यदि उसे सम्पूर्ण कुर्सी बनाना आता तो अन्यत्र काम पाना अधिक सम्भव होता।

(vi) **व्यक्तित्व के विकास में बाधा** (Checks development of personality)—यदि कोई व्यक्ति 'पिन' का अठारहवाँ भाग बनाता है तो वह मनुष्य का अठारहवाँ भाग है। कार्य का संकुचित क्षेत्र श्रमिक के उचित शारीरिक एवं मानसिक विकास को अवरुद्ध करता है।

(vii) **उत्तरदायित्व की भावना का लोप** (Loss of sense of responsibility)—किसी भी व्यक्ति को खराब उत्पाद के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि किसी भी व्यक्ति ने सम्पूर्ण वस्तु का निर्माण नहीं किया है। जब वस्तु खराब हो जाती है तो प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के ऊपर दायित्व डालने का प्रयत्न करता है।

(viii) **कारखाना-प्रणाली के दोष** (Evils of factory system)—श्रम-विभाजन कारखाना-प्रणाली को जन्म देता है जो दोषयुक्त है। यह अपने चारों ओर स्थान के सौंदर्य को नष्ट कर देती है, बच्चों एवं स्त्रियों का शोषण करती है तथा उत्पादन एवं प्रबन्ध में से वैयक्तिक तत्व को समाप्त कर देती है।

(ix) **वितरण की समस्या** (Problem of distribution)—श्रम-विभाजन के अन्तर्गत अनेक व्यक्ति वस्तु के उत्पादन में भाग लेते हैं। उन्हें उत्पादित वस्तु का उचित भाग मिलना चाहिए, परन्तु उसके भाग के मूल्य को निश्चित करना सरल नहीं होता, जिससे वितरण की समस्या कठिन हो जाती है। यदि कोई श्रमिक किसी वस्तु का संपूर्ण तौर पर निर्माण करे तो उसे उस वस्तु का मूल्य प्राप्त हो जाता है तथा कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु श्रम-विभाजन ने समुदाय को दो संघर्षरत समूहों, पूँजीपति एवं श्रमिकों, मे विभक्त कर दिया है। उनके मध्य दूरी निरन्तर बढ रही है। हड़ताल एवं तालाबन्दी वर्तमान काल मे सामान्य घटना है।

(x) **निर्भरता** (Dependence)—एक देश पर दूसरे देशों की निर्भरता जो श्रम-विभाजन का आवश्यक परिणाम है, युद्ध के समय हानिकारक सिद्ध होती है।

श्रम-विभाजन में निःसंदेह कुछ दोष वर्तमान है, परन्तु इसके लाभ दोषों की अपेक्षा अधिक है। श्रम-विभाजन सार्वभौमिक है एवं सभी समाजो मे पाया जाता है। आदिम समाज में इसका स्वरूप सरल था, परन्तु वर्तमान प्रगतिशील समाजों मे इसको विशद ढंग पर संस्तरीकृत किया गया है। अर्थ-व्यवस्था स्व व्यवसाय से नौकरशाही रोजगार में बदल गई है। पहले प्रत्येक व्यक्ति संपूर्ण क्रिया करता था, परन्तु अब वह संपूर्ण क्रिया का केवल एक अल्प भाग करता है। श्रम-विभाजन न केवल उद्योग, अपितु कृषि, कला, ओषधि, साहित्य एवं शासन में भी पाया जाता है। हमारी सभ्यता को सुरक्षित रखने हेतु विशालस्तरीय संगठन अनिवार्य है, अतएव श्रम-विभाजन भी अनिवार्य है।

५. निगमित व्यापार संगठन
(The Corporate Business Organisations)

निगमित संगठन का स्वरूप (Character of corporate organisation)—निजी व्यापार-उद्यम का निगमित रूप व्यापार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विशाल रूप है। सामान्यतः बैंकिंग, बीमा, उत्पादन, व्यावसायिक उद्यम एवं हवाई यातायात आदि प्रमुख व्यापारिक व्यवसायों ने संगठन के निगमात्मक रूप को अपनाया है। इस प्रकार के संगठन के अन्तर्गत आवश्यक पूंजी की पूर्ति अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो इसमें हिस्सेदार (shareholder) बन जाते हैं। प्रत्येक हिस्सेदार को अनुपात के अनुसार शेयर मिलते हैं तथा उन शेयरों के मूल्य तक ही उसका दायित्व है। निगम का सामान्य प्रबंध निर्देशक बोर्ड (Board of Directors) को दिया जाता है। बोर्ड सामान्य प्रबन्धक (general manager) का चयन करता है जो निगम का पूर्णकालिक अधिकारी होता है। निगम को अपना कार्य आरम्भ करने के लिए सरकार से आज्ञापत्र (licence) प्राप्त करना होता है। यह देश के कम्पनी ऐक्ट द्वारा नियमित होता है। श्रमिकों को निगम के लाभों में वेतनानुसार अथवा अन्य किसी मापदण्ड के आधार पर हिस्सा दिया जाता है। ये 'बोनस' के रूप में नकद दिए जा सकते हैं अथवा पद-निवृत्ति वेतन में सम्मिलित अथवा उसी उद्यम के शेयरों में परिवर्तित किए जा सकते हैं। इस योजना को 'लाभांश' (profit sharing) कहा जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघ (International cartels)—आधुनिक समय में निगम व्यापार का एक रूप अंतर्राष्ट्रीय संघ के नाम से सामने आया है। एक अंतर्राष्ट्रीय **संघ** "विभिन्न देशों में क्रियाशील पूंजीवाद-समूहों का योग है जो किसी वस्तु के वितरण एवं मूल्य को नियंत्रित करने हेतु बनाया जाता है।" इनमें से अनेक संघ वास्तव में सापेक्षतया थोड़े से व्यक्तियों के निजी वित्तीय हितों हेतु मूल्यों को छल-योजना से कम-अधिक करने वाले संघ बन गए हैं। वे कभी-कभी अंतर्राष्ट्रीय रूप में हानिकारक समझौता भी कर लेते हैं। संघ न केवल राष्ट्रीय, अपितु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अधिनायक नौकरशाही ढंगों का विकास करने में अभ्यस्त होते हैं। १९४८ में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय संघों पर नियंत्रण रखने एवं उन्हें हानिकारक कार्यों से रोकने हेतु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन की स्थापना की।

लाभ (Merits)—निगम व्यापार-प्रणाली के अनेक लाभ हैं। यह प्रतियोगात्मक मूल्यों को रोकता है, जिससे वस्तुओं को बड़ी संख्या में कम मूल्य पर क्रय किया जा सकता है, अपेक्षाकृत छोटे उद्यम के स्वामी के। दूसरे, ऐसे उद्यम में विशाल उद्यमों को आरम्भ किया जा सकता है, जिनमें अपार धन की आवश्यकता होती है। तीसरे, वस्तुओं का निर्माण अधिक मात्रा में होता है जिससे देश को वस्तुओं का अभाव सहन नहीं करना होता। चतुर्थतया, पूंजी की बहुलता प्रौद्योगिक परिवर्तनों, यथा स्वचालित मशीनों, विद्युत्-शक्ति की स्थापना एवं प्रयोग को सम्भव बनाती है। अन्तिम, ये नागरिकों में सहयोग की भावना उत्पन्न करते हैं।

दोष (Demerits)—परन्तु बहुधा बड़े व्यापारी कलुषित सट्टेबाजी में लग

जाते हैं जो विशाल स्तर पर 'विधिकृत जुआ' बन जाता है। इसमें अति-उत्पादन हो जाने के कारण मूल्यों में भारी गिरावट आ सकती है। विशाल निगम अवैयक्तिक बन जाते हैं एवं जनता के प्रति अपने दायित्व को भूल जाते हैं। उनमें से कुछ आर्थिक सुधारों का विरोध करते हैं तथा लाभवाद की आर्थिक श्रेष्ठता, वर्ग-एकाकीपन एवं प्रतियोगात्मक चतुरता के दृष्टिकोण को अपना लेते हैं।

६. व्यावसायिक समूह
(The Occupational Groups)

व्यावसायिक विशेषीकरण एवं समाज की अन्तर्निभरता ने अनेक एवं शक्तिशाली व्यावसायिक समूहों को जन्म दिया है। दो प्रकार के व्यावसायिक समूहों में विभेद किया जा सकता है : प्रथम, व्यावसायिक समूह जो किसी विशिष्ट कार्य के पालन पर आधारित होते हैं, यथा ट्रेड-यूनियन, स्कूल अध्यापकों, डाक्टरो, वकीलो आदि के संगठन। दूसरे, ऐसे समूह, यथा प्रस्थिति अथवा कार्यों की समानता से परस्पर संयुक्त समाविष्ट समूह यथा चेम्बर आफ कामर्स, रोटरी क्लब, श्रमसंघो का महासंघ आदि। इन समूहों की संख्या इतनी अधिक है कि इन सबका पृथक्-पृथक् वर्णन नही किया जा सकता, यद्यपि वर्तमान समाज में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। हम अपने अध्ययन को ट्रेड यूनियनों तक ही सीमित रखेंगे।

ट्रेड यूनियन (The Trade Unions)

ट्रेड यूनियनों का विकास (Growth of trade unions)—श्रमिक संघ आधुनिक औद्योगीकृत समाज की घटना-वस्तु है। यह किसी विशेष प्रकार के श्रमिकों का ऐसा समूह है जो श्रेष्ठ वेतन, काम के थोड़े घंटे एवं श्रम की सुधरी अवस्थाओं को प्राप्त करने हेतु स्थापित किया जाता है। आधुनिक पूँजीवादी समाज में श्रमिक किराए का नौकर होता है जिसे फैक्टरी के प्रति कोई लगाव नहीं होता तथा जिसका एकमात्र उद्देश्य वेतन प्राप्त करना है। प्रारम्भिक ट्रेड यूनियनें मालिकों से श्रमिकों की छोटी-मोटी शिकायतें दूर कराने के छोटे संगठन थे, परन्तु उन्हें सरकार का विरोध सहन करना पड़ा। इंग्लैंड तथा महाद्वीपीय देशों, दोनो मे श्रमिकों को स्वहित की रक्षार्थ एकत्रित होने से रोका गया। इस प्रकार १७२९ मे आयरलैंड की संसद् ने कानून द्वारा व्यापार के किसी भी प्रकार के संघों को अवैध घोषित किया। १७९९ का ब्रिटिश कानून श्रमिक-संघों को दण्डित करने के लिए अत्यन्त कठोर अधिनियम था। वैब्स (Webbs) ने लिखा है, "श्रमिक संघों को मालिकों एवं नियोक्ताओं के विरुद्ध विद्रोह-सा समझा जाता था जो व्यापार के विकास-हेतु आवश्यक अनुशासन को भंग करते हैं तथा नियोक्ता के इस अधिकार कि वे अपनी पूंजी का जिस प्रकार चाहे प्रयोग करे, में हस्तक्षेप करते हैं।"[1] धीरे-धीरे अनेक व्यक्तियों को यह महसूस होने लगा कि श्रमिको को पूँजीपतियों एवं सरकार पर उनके दबाव के विरुद्ध अपने हितों के रक्षार्थ संयुक्त होने का अधिकार है। अतएव आधुनिक युग में श्रमिक संघों को केवल सहन ही नही किया जाता, अपितु देश की आर्थिक

[1] Webb, Sydney and Beatrice, *The History of Trade Unionism* p 69

संरचना में अनिवार्य समझा जाता है। उनकी संख्या एवं उनके आकार में अत्यन्त वृद्धि हुई है तथा वे अब वेतन, काम के घंटों एवं दशाओं के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

श्रमिक संघ के उद्देश्य (Aims of a trade union)—भारत में ट्रेड यूनियन मुख्यतः आर्थिक समर्थ हेतु संगठित आर्थिक संगठन है। इसका अनिवार्य कार्य अपने सदस्यों की आर्थिक प्रस्थिति को शक्तिशाली बनाना एवं उनकी कार्यदशाओं को उन्नत करना है। यह मुख्यतः श्रमिकों के आर्थिक हितों को उन्नत करने से संबंधित है। परन्तु इंग्लैंड एव अमेरिका मे ट्रेड यूनियन ने महत्वाकांक्षी उद्देश्यों को अपनाया है। यह औद्योगिक प्रबंध का अनिवार्य अंग बन गया है। प्रबंधकारियों ने श्रमिकों को प्रबंधकीय संरचना के आवश्यक भाग के रूप मे निगमित किया है, उन्हें केवल किराए के मजदूर नही समझा जाता। श्रमिक संघों को औद्योगिक प्रबंध के अनेक क्षेत्रों में नियंत्रण अथवा लगभग नियंत्रण प्राप्त है।

ट्रेड यूनियन के ढंग (Methods of a trade union)—ट्रेड यूनियन अपनी माँगों को मनवाने हेतु विभिन्न एवं विविध ढंगों को प्रयुक्त करता है। प्रथमतया, यह सामूहिक सौदेबाजी में विश्वास करता है जिसका अर्थ है कि संघ के प्रतिनिधि कारखाने के मालिक से मिलकर वेतनमान, काम के घंटों एवं कार्य की अन्य दशाओं के बारे मे शर्तें निश्चित करेंगे। यदि सामूहिक सौदेबाजी का ढंग असफल हो जाता है तो मध्यस्थता का आश्रय लिया जा सकता है। मध्यस्थता के अधीन पूँजीपति एवं श्रमिकों के प्रतिनिधि मिलकर निर्णय करते हैं जो दोनों पक्षों के लिए बाध्यकारी है। ट्रेड यूनियन सामान्यतः अनिवार्य मध्यस्थता का विरोध करते हैं। यदि मध्यस्थता में कोई निर्णय नही हो पाता तो ट्रेड यूनियन हड़तालें आरम्भ करते हैं। हड़ताल एक शक्तिशाली अस्त्र है। इससे उत्पादन एव लाभ रुक जाते हैं। उपभोक्ताओं को कठिनाइयाँ होती हैं। संसार को मालूम हो जाता है कि श्रमिकों का एक समूह हड़ताल पर है जिसके साथ नियोक्ता न्याय नही कर रहा है। यदि हड़ताल किसी बड़े सार्वजनिक संस्थान, यथा डाकतार, रेलवे, कोयला एवं फौलाद में हो जाती है तो सारा सामाजिक जीवन ठप्प हो जाता है। इसी कारण भारत सरकार ने अनिवार्य सेवाओं में हड़ताल को अवैध घोषित कर दिया है। हड़ताल में श्रमिक कार्य करना बंद कर देते हैं तथा बाहर निकल आते हैं। यदि यह आशंका हो कि नियोक्ता उनके स्थान पर दूसरे श्रमिकों को ले आएगा तो वे धरना दे देते हैं जिसमे उनके सदस्य कारखाने के आगे खड़े या फिरते रहते हैं।

पिछले दशकों में हड़ताल जनता के लिए भय समझा जाने लगा है। इससे वस्तुओं का अभाव हो जाता है जिससे निर्धन व्यक्ति के घर भूख का डेरा लग जाता है। जनता को कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। उत्पादन घट जाने के कारण राष्ट्र को हानि पहुँचती है। इस विषय पर कोई असहमति नही है कि हड़तालें देश के लिए हानिकारक हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि "श्रमिक वर्ग आधुनिक पूँजीवादी युग में जिसमें पूँजीपतियों का शासनतंत्र पर आधिपत्य है, अपनी शिकायतों को किस प्रकार दूर करवाए ?" यदि श्रमिकों को हड़ताल का

अध्याय २६

प्रजाति

[RACE]

प्रजाति की अवधारणा ने इतिहास में कभी-कभी युद्धों एवं अत्याचारों को जन्म देकर नाटकीय भूमिका अदा की है। परन्तु इसके द्वारा उत्पन्न उत्तेजना के बावजूद भी प्रजाति के विषय पर अत्यन्त भ्रान्ति है। इस विषय से संबंधित इतनी विरोधी सामग्री है कि राजनैतिक पूर्वाग्रहों को वैज्ञानिक निष्कर्षों से अलग करना कठिन हो जाता है। इस अध्याय में हम अपने अध्ययन को निम्नलिखित प्रश्नों तक सीमित रखेंगे—

(i) प्रजाति का अर्थ, आधार एवं वर्गीकरण क्या है ?

(ii) क्या विभिन्न जातियों की मानसिक रचना विभिन्न होती है ?

(iii) प्रजाति-पूर्वाग्रह क्या है तथा इसके कारण एवं समाधान क्या हैं ?

१. प्रजाति का अर्थ

(The Meaning of Race)

'प्रजाति' शब्द को अनेक अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है। यूनानियों ने संपूर्ण मानव जाति को ग्रीक अथवा यवनों मे वर्गीकृत किया था, परन्तु इनमें से किसी भी समूह को प्रजाति नहीं कहा जा सकता। 'प्रजाति' शब्द को कभी-कभी राष्ट्रीयता (nationality) का समानार्थक समझकर प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरणतया, फ्रेंच, चीनी एवं जर्मनों को प्रजाति कहा जाता है। जर्मन एवं फ्रेंच राष्ट्र हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानो का विचार है कि राष्ट्र और प्रजाति में कोई अंतर न मानने का ही फल है कि यूरोप मे उग्र राष्ट्रवाद हिंसक प्रजातिवाद के रूप में व्यक्त हुआ। इसलिए राष्ट्र की प्रजाति के रूप में कल्पना करना उचित न होगा। कभी-कभी प्रजाति भाषा एवं धर्म का समानार्थक समझा जाता है। उदाहरणतया, आर्य प्रजाति शब्द के प्रयोग में। परन्तु आर्य नाम की कोई प्रजाति नहीं है, केवल आर्यभाषा है। किसी विशिष्ट भाषा का प्रयोग किसी की प्रजाति को निर्दिष्ट नहीं करता। हब्शी अंग्रेजी भाषा बोलते हैं, परन्तु इससे वे अंग्रेज नहीं बन जाते। कभी-कभी प्रजाति शब्द का प्रयोग त्वचा के रंग के आधार पर मानवों के वर्गीकरण को निर्दिष्ट करने हेतु किया जाता है, यथा श्वेत प्रजाति अथवा काली प्रजाति। परन्तु प्रजाति को त्वचा के रंग के साथ नहीं मिलाया जा सकता। कभी-कभी प्रजाति शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है, यथा हम सभी मानव प्राणियों को सम्मिलित करके मानव जाति शब्द का प्रयोग करते हैं।

अधिकार नहीं है, तो मालिक को भी तालाबंदी का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। काम बंद करने अथवा समाज के आर्थिक जीवन को पंगु बनाने में श्रमिक संघ की कोई रुचि नहीं होती। उसकी रुचि तो मालिक के हाथों न्याय में है। यह मालिक द्वारा पक्षपात एवं सहानुभूति के अभाव के विरुद्ध आवाज उठाता है। वह अधिक वेतन, काम के घंटे कम करने, काम करने की उत्तम दशाओं की मांग करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे पूँजीपति सदैव अधिक लाभ एवं अधिक अवकाश की इच्छा रखता है। यदि श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के प्रतिनिधि मैत्रीपूर्ण ढंग एवं निष्कपटता से विचार-विमर्श करें तथा उनमें अविवेकपूर्ण एवं अव्यावहारिक मांगों को न रखते हुए एक-दूसरे के साथ समझौता करने की भावना हो, तो श्रमिक-मालिक की समस्याओं का सुगमतापूर्वक समाधान हो सकता है। यदि पूँजीवाद अपने दोषों को सुधारने हेतु इच्छा एवं सामाजिक अन्तर्दृष्टि का विकास कर ले तो श्रम-समस्याएँ कभी उत्पन्न नहीं होंगी।

प्रश्न

१. पूँजीवाद के विकास का वर्णन कीजिए एवं वर्तमान समाज पर इसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

२. पूँजीवाद के गुणों एवं दोषों की विवेचना कीजिए।

३. पूँजीवाद तथा औद्योगीकरण में क्या अन्तर है?

४. निजी सम्पत्ति के लाभों एवं हानियों का वर्णन कीजिए।

५. श्रम-विभाजन के क्या गुण एवं अवगुण हैं?

६. श्रमिक संघवाद पर टिप्पणी लिखिए।

अध्याय २६

प्रजाति

[RACE]

प्रजाति की अवधारणा ने इतिहास में कभी-कभी युद्धों एवं अत्याचारों को जन्म देकर नाटकीय भूमिका अदा की है। परन्तु इसके द्वारा उत्पन्न उत्तेजना के बावजूद भी प्रजाति के विषय पर अत्यन्त भ्रान्ति है। इस विषय से संबंधित इतनी विरोधी सामग्री है कि राजनैतिक पूर्वाग्रहों को वैज्ञानिक निष्कर्षों से अलग करना कठिन हो जाता है। इस अध्याय में हम अपने अध्ययन को निम्नलिखित प्रश्नों तक सीमित रखेंगे—

(i) प्रजाति का अर्थ, आधार एवं वर्गीकरण क्या है ?

(ii) क्या विभिन्न जातियों की मानसिक रचना विभिन्न होती है ?

(iii) प्रजाति-पूर्वाग्रह क्या है तथा इसके कारण एवं समाधान क्या हैं ?

१. प्रजाति का अर्थ

(The Meaning of Race)

'प्रजाति' शब्द को अनेक अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है। यूनानियों ने संपूर्ण मानव जाति को ग्रीक अथवा यवनो मे वर्गीकृत किया था, परन्तु इनमें से किसी भी समूह को प्रजाति नही कहा जा सकता। 'प्रजाति' शब्द को कभी-कभी राष्ट्रीयता (nationality) का समानार्थक समझकर प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरणतया, फ्रेंच, चीनी एवं जर्मनों को प्रजाति कहा जाता है। जर्मन एवं फ्रेंच राष्ट्र हैं। सर्वश्री हक्सले और हैडेन आदि विद्वानों का विचार है कि राष्ट्र और प्रजाति में कोई अंतर न मानने का ही फल है कि यूरोप मे उग्र राष्ट्रवाद हिंसक प्रजातिवाद के रूप में व्यक्त हुआ। इसलिए राष्ट्र की प्रजाति के रूप में कल्पना करना उचित न होगा। कभी-कभी प्रजाति भाषा एवं धर्म का समानार्थक समझा जाता है। उदाहरणतया, आर्य प्रजाति शब्द के प्रयोग में। परन्तु आर्य नाम की कोई प्रजाति नहीं है, केवल आर्यभाषा है। किसी विशिष्ट भाषा का प्रयोग किसी की प्रजाति को निर्दिष्ट नहीं करता। हब्शी अंग्रेजी भाषा बोलते हैं, परन्तु इससे वे अंग्रेज नहीं बन जाते। कभी-कभी प्रजाति शब्द का प्रयोग त्वचा के रंग के आधार पर मानवों के वर्गीकरण को निर्दिष्ट करने हेतु किया जाता है, यथा श्वेत प्रजाति अथवा काली प्रजाति। परन्तु प्रजाति को त्वचा के रंग के साथ नहीं मिलाया जा सकता। कभी-कभी प्रजाति शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है, यथा हम सभी मानव प्राणियों को सम्मिलित करके मानव जाति शब्द का प्रयोग करते हैं।

प्रजाति एक जैविकीय अवधारणा है (Race a biological concept)—उपर्युक्त भ्रांति का कारण इस तथ्य को न समझना है कि प्रजाति विशुद्ध रूप से जैविकीय अवधारणा है। यह एक जैविकीय श्रेणी का बोध कराता है। ग्रीन (Green) के अनुसार, "प्रजाति एक बड़ा जैविकीय मानव-समूह है जिसमें अनेक विशेष आनुवंशिक लक्षण पाए जाते हैं जो कुछ सीमा के अन्दर भिन्न होते हैं।"[1] भाषा एवं धर्म सांस्कृतिक अवधारणाएँ हैं, अतएव उनके आधार पर प्रजाति जो जैविकीय अवधारणा है, की परिभाषा नहीं दी जा सकती। मनुष्यों के मध्य वंशीय भेद रक्त के कारण होते हैं। उन्हें वंशानुगत द्वारा जैविकीय माध्यम से आँख, त्वचा एवं केश के रंग जैसी शारीरिक विशेषताओं के साथ-साथ प्राप्त किया जाता है। 'प्रजाति' शब्द से मानवशास्त्रियों का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जिसमें सामान्य वंशानुगत लक्षण पाए जाते हैं तथा जो उन्हें अन्य समूहों से विभेदित कर देते हैं। बीसंज (Biesanz) के अनुसार, "प्रजाति मनुष्यों का विशाल समूह है जो वंशानुगत प्राप्त शारीरिक अन्तरों के कारण अन्य समूहों से भिन्न है।"[2] यह "मानव जाति के एक उपभाग का बोध कराती है जिसके सदस्यों में कुछ समान आनुवंशिक शारीरिक विशेषताएँ पाई जाती हैं तथा जो उन्हें अन्य उपभागों से अलग कर देती है।"[3] लिंटन (Linton) के अनुसार, "प्रजाति में अनेक नस्लें होती हैं जिनमें कुछ शारीरिक विशेषताएँ पाई जाती हैं।" यह व्यक्तियों का समूह है जो जैविकीय आनुवंशिकता द्वारा हस्तांतरणीय कुछ समान प्रेक्षणीय लक्षणों के भागी होते हैं। मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है, "जब 'प्रजाति' शब्द का ठीक प्रयोग किया जाता है तो उससे एक जैविक श्रेणी सूचित होती है। उससे जनन की दृष्टि से विभेदित मानव-कुल एक-दूसरे के प्रति अपनी विभिन्नताओं के लिए शारीरिक प्रधान मानव-प्ररूप तथा पैतृकता के दूरस्थ पृथक्करण सूचित होते हैं।"[4] पाल ए॰ एफ॰ (Paul, A. F.) के अनुसार, "प्रजाति मानव प्राणियों का एक विशाल विभाग है जो अन्य से सापेक्षतया कुछ स्पष्ट शारीरिक विशेषताओं द्वारा विभेदित है जो विशेषताएँ वंशानुगत समझी जाती हैं तथा जो अपेक्षाकृत अनेक पीढ़ियों तक स्थिर रहती हैं।"[5] प्रोफेसर डन (Dunn) के अनुसार, "प्रजातियाँ एक ही

---

1. "A race is a large, biological, human grouping, with a number of distinctive inherited characteristics which vary within a certain range."—Green, Arnold, *op. cit.*, p. 240
2. "A race is a large group of people distinguished by inherited physical differences."—Biesanz, *Modern Society*, p. 159.
3. "It refers to a sub-division of the human species, the members of which possess in common certain hereditary physical characteristics which distinguish them from those of other sub-divisions."—Koenig, *Society*, p. 29.
4. "The term 'race' when properly used, signifies a biological category. It refers to human states that are genetically distinguished, to major biological types that owe their differences from one another—especially their physiological differences, to a remote separation of ancestry."—MacIver, *Society*, p. 383.
5. "A race is a large division of human beings distinguished from others by relatively obvious physical characteristics presumed to be biologically inherited and remaining relatively constant through numerous generations."—Koenig, Hosser and Gropp, *Sociology*, p. 31.

जाति—मेधावी मानव—के अंदर जैविकीय उपसमूह हैं जिसमें संपूर्ण जाति में सामान्य रूप से प्राप्त समान आनुवंशिकता से भिन्न विशेषताएँ मिलती हैं।" ए० एल० क्रोबर (A. L. Kroeber) के अनुसार, "प्रजाति एक वैध जैविकीय अवधारणा है। यह आनुवंशिकता द्वारा संयुक्त एक समूह, जाति अथवा जननिक उपजाति है।" हाबेल (Hoebel) के अनुसार, "प्रजाति विशिष्ट जननिक रचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्ट संयोग रखने वाले अन्तःसम्बन्धित मनुष्यों का एक बृहत् समूह है।"[1] मजूमदार (Mazumdar) के अनुसार, "व्यक्तियों के समूह को उस समय प्रजाति कहा जाता है, जब इसके सभी सदस्यों में कुछ समान हत्वपूर्ण शारीरिक लक्षण पाए जाते हैं जो आनुवंशिकता के माध्यम द्वारा वंशानुगत प से हस्तांतरित होते हैं।"[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रजाति व्यक्तियों का हत् समूह है जिसमे वंशानुगत हस्तांतरण के कारण विशिष्ट शारीरिक समानता ाई जाती है। एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से भिन्न करने वाले लक्षण आनुवंशिक ोते हैं तथा पर्यावरण में परिवर्तन के बावजूद भी सापेक्षतया स्थिर रहते हैं। सके अतिरिक्त ये लक्षण एक बृहत् समूह में सामान्य होने चाहिए। एक ऐसे रिवार को, जिसमे कुछ भिन्न आनुवंशिक लक्षण पाए जाते हैं, प्रजाति नहीं कहा जा कता, क्योंकि यह अत्यधिक छोटा समूह है। परन्तु यदि इस परिवार का विस्तार ो जाए, और यह किसी भौगोलिक क्षेत्र में फैल जाए तो इसे प्रजाति कहा जा कता है।

कुछ लेखकों का विचार है कि प्रजाति की जैविकीय व्याख्या यथेष्ठ नहीं है। प्रजाति को वंशानुगतता पर आधारित करना गलत है, क्योंकि प्रजातियाँ अधिकतया वर्णसंकर रही हैं। अतएव इस शब्द का प्रयोग जननिक अर्थ में किया जाना चाहिए। पेनीमान (Penniman) के अनुसार, प्रजाति एक जननिक वर्ग है, जिसमें अनेक अनिश्चित एवं पारस्परिक संबंधित जननिक विशेषताएँ होती हैं, जिनके आधार पर इसे दूसरे वर्गों से पृथक् किया जा सकता है। हक्सले भी प्रजाति के जैविकीय अर्थ से सहमत नहीं है। वह 'प्रजाति' शब्द के स्थान पर 'नृवंशीय समूह' (ethnic group) का प्रयोग करना चाहता था। लापियर, हडसन एवं गेटिस ने भी 'प्रजाति' शब्द के स्थान पर 'नृवंशीय समूह' शब्द का प्रयोग किया है।

हार्टन एवं हंट (Horton and Hunt) के अनुसार, प्रजाति को केवल जैविकतया भिन्न समूह के रूप मे परिभाषित करना उचित नहीं है। उनके अनुसार यह सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण वास्तविकता भी है। अतएव वे 'प्रजाति' शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि यह "दूसरे समूहों से आनुवंशिक शारीरिक

---

1. "A race is a major grouping of interrelated people possessing a distinctive combination of physical traits that are the result of distinctive genetic composition."—Hoebel, E. A., Man in the *Primitive World*, p. 116.

2. "A group of individuals is said to belong to a race when all its members share in common certain significant physical traits that are transmitted through the mechanism of heredity."—Mazumdar, H. T., *Grammar of Sociology*, p. 231.

वशेषताओं में कुछ भिन्न व्यक्तियों का समूह है, परन्तु प्रजाति लोकप्रिय सामाजिक परिभाषा द्वारा भी तत्वतः निर्धारित होती है।"[1]

प्रजाति के निर्धारक तत्व (Determinants of Race)

प्रजाति के निर्धारण में शारीरिक लक्षणों पर ध्यान दिया जाता है, परन्तु बहुधा यह निश्चित करना कठिन होता है कि लक्षणों की विभिन्नताएं आनुवंशिकता के कारण हैं, पर्यावरणीय परिवर्तनों के कारण नहीं। महत्वपूर्ण शारीरिक लक्षण जिन पर ध्यान दिया जाता है, निम्नलिखित हैं—

(i) सिर, मुख एवं शरीर पर केशों का प्रकार, रंग एवं विभाजन। केशों के प्रकारों को (i) कोमल सीधे केश जैसे मंगोल एवं चीनी लोगों के, (ii) कोमल घुंघराले केश, जैसे भारत, पश्चिमी यूरोप, आस्ट्रेलिया एवं उत्तरी-पूर्वी अफ्रीका निवासियों के, तथा (iii) घने घुंघराले केश जैसे नीग्रो लोगों के, में श्रेणीबद्ध किया गया है।

(ii) शरीर, कद, वक्ष एवं कंधों का व्यास।

(iii) सिर की बनावट, विशेषतया कपाल एवं मुख की लम्बाई चौड़ाई, नाक की लम्बाई एवं चौड़ाई। सिरों के तीन भेद किए गए हैं: (i) मध्य कपाल (dalichocepalic), (ii) मध्य कपाल (mesocephalic) एवं (iii) पृथु कपाल (brachy-cephalic)।

(iv) मुखाकृति की विशेषताएँ, यथा नासिका की बनावट, ओष्ठ की बनावट, पलकों की बनावट, क्रपोल की हड्डियाँ, ठोडी, कान एवं जबड़ों की बनावट। नासिकाओं के तीन भेद किए गए हैं: (i) पतली या लम्बी नासिका (l... hine), (ii) मध्य या चपटी नासिका (mesorrhine) एवं (iii) चौड़ी (platyrrhine)।

(v) त्वचा एवं आँखों का रंग। त्वचा के रंग के तीन भेद किए गए हैं (i) गोरा रंग (leucoderm), (ii) पीला रंग (xanthoderm) एवं (iii) काला रंग (melanoderm)।

(vi) भुजाओं एवं टाँगों की लम्बाई।

(vii) रक्त-प्रकार। रक्त चार प्रकार का होता है, O, A, B एवं AB। O प्रकार के रक्त को A, B एवं AB से मिलाया जा सकता है, परन्तु अन्य को एक-दूसरे के साथ साधारणतया संयुक्त नहीं किया जा सकता।

कोई भी लक्षण आधारमूलक नहीं है (No single trait is funda...)

—उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर प्रजातीय समूहों को विभेदित किया जा...

1. "Race ... form other groups in ... nation ... but race is also so... determ... —Horton and Hunt, S... p. 245.

उदाहरणतया, नीग्रो के बाल घुंघराले, रंग काला, सिर बड़ा, नाक छोटी एवं ओष्ठ मोटे होते हैं। वह चीनी व्यक्ति से भिन्न होता है जिसके केश लम्बे, नाक चपटी एवं रंग पीला होता है। परन्तु, जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, यह बतलाना कठिन होता है कि लक्षणों की भिन्नताएँ आनुवंशिक है अथवा पर्यावरणीय। ऐसे लक्षणों, यथा कद, भार एवं त्वचा के रंग को पर्यावरण द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है, अतएव प्रजाति के निर्धारण में उनका महत्व कम हो जाता है। केशों के रूप एवं आँखों के रंग को अधिक स्थिर जननिक तत्व समझा जाता है, तथापि किसी एक अकेले तत्व को आधारमूलक नहीं कहा जा सकता। जब मानवशास्त्र का विकास प्रारम्भ हुआ, उस समय यह धारणा थी कि सिर की बनावट प्रजाति की सर्वोत्तम कसौटी है, क्योंकि कपाल का पूर्ण विकास आरम्भिक वर्षों में ही हो जाता है तथा इस पर पर्यावरणीय परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु बोआस (Boas) की खोज कि कापालिक परिमिति को पर्यावरण-परिवर्तन करके बदला जा सकता है, के उपरांत सिर की बनावट को भी प्रजाति की मुख्य कसौटी नहीं समझा जाता। इस प्रकार मानवशास्त्रियों ने प्रजातियों के वर्गीकरण में विभिन्न आधारों का प्रयोग किया है। कभी किसी लक्षण, तो अन्य समय किन्हीं अन्य लक्षणों को महत्वपूर्ण समझा गया है। कुछ मानवशास्त्री रंग को उचित आधार समझते है, तो अन्य केश की बनावट, सिर की आकृति अथवा किसी अन्य लक्षण को ठीक समझते हैं। यह भी ध्यान रहे कि एक ही प्रजाति के अन्दर शारीरिक लक्षणों की विभिन्नता हो सकती है अथवा दो प्रजातियों के लोगों में समान शारीरिक लक्षण पाए जाते हैं। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि—

(i) मानव जाति में कुछ वास्तविक शारीरिक लक्षण पाए जाते हैं जिस कारण लोग एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।

(ii) इनमें से कुछ लक्षण व्यापक रूप से कुछ समूहों में वर्तमान हैं, विशेषतया आदिम व्यक्तियों में।

(iii) ये लक्षण आनुवंशिकतया हस्तांतरणीय हैं।

(iv) व्यक्तियों के इन समूहों को प्रजाति की संज्ञा दी जाती है।

२. प्रजातियों का वर्गीकरण
(The Classification of Races)

प्रजाति के आधार पर कुछ शारीरिक विशेषताओं के अनुसार लोगों को वर्गीकृत किया गया है। सामाजिक समूहों के सदस्य त्वचा के रंग, सिर की बनावट एवं अन्य प्रेक्षणीय अन्तरों के विषय में भिन्न होते हैं। मानवशास्त्रियों ने अनेक प्रकार के वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं जो एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। लिनीयस (Linnaeous) एवं क्यूवीर (Cuvier) ने मानव-समूह को छः प्रजातियों में बाँटा था। हीकेल (Heakel) ने चौंतीस प्रजातियों को गिनाया है। आर्थर कीथ (Arthur Keith) ने चार वर्गों का वर्णन किया है। आधुनिक काल में जी० इलियट स्मिथ

ने छः प्रजातियों में मानव जाति को विभक्त किया है। सरजी (Sergi) ने मानव जाति को यूर-अफ्रीकन (Eurafrican) एवं यूरेशियन (Eurasian) में विभक्त किया है। कुछ मानवशास्त्री हक्सले के वर्गीकरण को अपनाते हैं जिसने पाँच प्रजातियों, अर्थात् नीग्रायड (Negroid), आस्ट्रेलायड (Australoid), मंगोलायड (Mongoloid), जैन्थोक्रायड (Xanthochroid) एवं मेलोनोक्रायड (Melanochroid) का उल्लेख किया है। कुछ लेखकों ने चार प्रजातियों, यथा काकेशियन (Coucasian), मंगोल (Mangol), नीग्रो (Negro) तथा आस्ट्रेलियन (Australian) का उल्लेख किया है, एवं काकेशियन को नार्डिक (Nordic), अल्पाइन (Alpine), एवं भूमध्यसागरीय (Mediterranean) में उपविभाजित किया है।

वंशावलिक वर्गीकरण (Genealogical classification)—इस प्रकार मानवशास्त्रियों में इस विषय पर कोई सहमति नहीं है कि प्रजातियों को किस प्रकार वर्गीकृत किया जाए। प्रजाति की उचित अवधारणा एवं इसके उचित आधारों के अभाव के कारण प्रजातियों के उतने ही वर्गीकरण हैं, जितने लेखक। डेनीकर (Denikar) 'प्रजाति' शब्द की वर्तमान जनसंख्या में वास्तविक रूप से मिलने वाले लक्षणों के समूह के अर्थ में व्याख्या करता है। दूसरी ओर, रिपले (Ripley) ने आदर्श प्रकारों जो किसी समय विशुद्ध रूप में वर्तमान समझे जाते हैं, को खोजने का प्रयत्न किया है। अनेक लेखक विभिन्न प्रजातियों की एक-दूसरे के साथ समानताएँ खोजने तथा उस आधार पर आनुवंशिक वर्गीकरण के प्रयास को निराशापूर्ण समझते हैं। इस प्रकार फिशर (Fischer), मेटीगका (Matiegka) एवं मारटन (Martan) ने वंशावलिक वर्गीकरण के प्रयत्न का परित्याग कर दिया। श्री हैडन (Haddon) ने स्पष्ट उल्लिखित किया है कि "उनका वर्गीकरण यह वर्गीकरण नहीं है, जिस अर्थ में प्राणीशास्त्री एवं वनस्पतिशास्त्री इस शब्द की व्याख्या करते हैं, क्योंकि इस वर्गीकरण में भौगोलिक बातों को सम्मिलित किया गया है।"[1] प्रजाति-प्रकार मुख्यतः हमारे मस्तिष्क में वर्तमान होती है। वह अन्य स्थान पर लिखता है कि "मानवता का प्रजातियों में स्थिर वर्गीकरण का कार्य असम्भव है।"[2]

कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं है (No pure race)—शारीरिक मानवशास्त्रियों की कठिनाई यह है कि व्यक्तियों में उस प्रजाति, जिससे वे सम्बन्धित हैं, के सभी लक्षण वर्तमान नहीं होते। प्रजाति की अवधारणा पूर्णतया स्पष्ट एवं निश्चित नहीं है तथा न ही यह हो सकती है। मनुष्य सदैव प्रवास करता आया है। जनजातियों एवं राष्ट्रीयताओं ने इस भूमंडल पर प्रयाण एवं प्रतियान किया है, लोगों ने अपरिचितों के साथ यौन सम्बन्ध रखे हैं, जिससे संकरण सार्वभौमिक बन गया है। प्रजातीय लक्षण मानव जाति के विभिन्न समूहों में व्यापक रूप से मिश्रित हैं। इस विषय पर संदेह हो सकता है कि क्या इतिहास में कभी कोई विशुद्ध प्रजाति रही है। डन एवं डाबजेंस्की (Dunn and Dobzhansky) ने लिखा है, "सम्पूर्ण

1. Haddon, *Races of Men*, p. 155.
2. *Ibid*, p. 140.

इतिहास में प्रजाति-मिश्रण वर्तमान रहा है। मानव-अवशेषों के अध्ययन से प्राप्त [प्र]काट्य साक्ष्य दर्शाता है कि प्रागैतिहासिक काल में भी मानवता के उद्भव के समय [वि]भिन्न नस्लों का मिश्रण होता था। मानव जाति सदैव संकर रही है और अब [भ]ी है।"[1] प्रोफेसर फ्लोर (Fleure) के अनुसार, "ब्रिटेन में अधिकांश लोग बीच [के] लोग हैं, न कि पूर्णतया एक अथवा दूसरी प्रकार के।"[2] प्रजाति-संकरता के इस [त]थ्य के कारण वर्गीकरण की किसी योजना पर सहमत होना कठिन है।

इसके अतिरिक्त कुछ वर्गीकरण सहायक होने की अपेक्षा हानिकारक अधिक सिद्ध हुए हैं, क्योंकि उन्होंने व्यक्तियों को यह मान लेने में प्रोत्साहित किया है कि कुछ प्रजातियाँ अन्य से मानसिकतया श्रेष्ठ हैं तथा शारीरिक लक्षणों एवं बुद्धि में परस्पर सम्बद्ध हैं। परन्तु जैसा हम बाद में वर्णन करेंगे, ऐसी मान्यता बहुधा ठीक नहीं होती। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मानव जाति को शारीरिक लक्षणों के आधार पर वर्गीकृत करने के कोई प्रयत्न नहीं किए जाने चाहिए।

तीन मुख्य प्रजातियाँ (Three main races)—प्रजातियों का नीग्रो, मंगोलायड एवं काकेशियन में वर्गीकरण सामान्यतः स्वीकृत किया गया है। [य]द्यपि उनको पृथक् करने वाली स्पष्ट रेखाएँ नहीं हैं, तथापि प्रत्येक प्रजाति के कुछ [वि]शिष्ट लक्षण हैं जो इसके सभी सदस्यों में पाए जाते हैं। नीग्रो लोगों की त्वचा [का]ली, जबड़े आगे की ओर, चौड़ी नासिका तथा घुँघराले केश होते हैं। इसमें [मै]लेनेशियन लोग भी सम्मिलित हैं जिनकी त्वचा कुछ हल्की एवं नासिका नीग्रो [स]मूह से कुछ भिन्न होती है। मंगोल प्रजाति की त्वचा का रंग पीला-सा अथवा [ता]म्र-गेहुँआ-सा होता है। इनके होंठ साधारणतया मोटे और ठोढ़ी गोल होती है। [आँ]खें अधखुली होती हैं तथा उनका रंग बादामी या गहरा बादामी होता है। इस [स]मूह में अमेरिकन इंडियन्स सम्मिलित हैं। कुछ मानवशास्त्री श्वेत जाति को पृथक् [प्र]जाति मानते हैं, जबकि अन्य इसे मंगोल प्रजाति की उपशाखा ही मानते हैं। [का]केशियन प्रजाति में पूर्वोक्त दोनों प्रजातियों के लक्षण घुले-मिले हैं।

इन तीन प्रजातीय भागों को उपप्रजातियों में विभक्त किया गया है, यद्यपि [इ]न उपप्रजातियों के विषय में सहमति नहीं है। नार्डिक, भूमध्यसागरीय, अल्पाइन [औ]र हिंदुओं को काकेशियन प्रजाति की उपप्रजातियाँ कहा जाता है।

भारत में प्रजातियाँ (Races in India)—सर हर्बर्ट रिजले (Sir Herbert [R]isley) के अनुसार भारत में सात प्रजातियों के प्रकार मिलते हैं—

(i) **द्रविड़ीय-पूर्व प्रकार (Pre-Dravidian type)**—जो पहाड़ियों एवं वनों [के] आदिम जनजातियों में अब भी वर्तमान हैं, यथा भील।

(ii) **द्रविड़ियन प्रकार (Dravidian type)**—जो गंगा घाटी तक दक्षिण [प्राय]द्वीप में आवासी है।

[1] Dunn, L. C. and Dobzhansky, *Heredity, Race and Society*, p. 115.
[2] Ginsberg, *Sociology*, p. 61.

(iii) इंडो-आर्यन प्रकार (Indo-Aryan type)—जो काश्मीर, पंजाब एवं राजपूताना मे है।

(iv) आर्य-द्रविड़ियन प्रकार (Aryo-Dravidian type)—जो गंगा घाटी में पाई जाती है।

(v) साइथो-द्रविड़ियन प्रकार (Cytho-Dravidian type)—जो सिन्ध के पूर्व में स्थित है।

(vi) मंगोलायड प्रकार (Mongoloid type)—जो आसाम एवं पूर्वी हिमालय की तराइयो में पाई जाती है।

(vii) मंगोल-द्रविड़ियन प्रकार (Mongolo-Dravidian type)।

हटन (Hutton) के मतानुसार, नेग्रिटो (Negrito) प्रजातियाँ सम्भवतः भारत की मौलिक वासी थी। तत्पश्चात् प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजातियों का आगमन हुआ, जिनके पूर्वज फिलिस्तीन में थे। उसके उपरांत भूमध्यसागरीय प्रजाति आई, जिसने आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाओं को प्रदान किया। ४,००० ईसापूर्व के अंत तक भारत में अल्पाइन प्रजाति का प्रवेश हुआ। अन्त मे, १,५०० वर्ष ईसापूर्व इंडो प्रजाति भारत में आई।

३. मानसिक योग्यता में प्रजातीय विभिन्नताएँ

(Racial Differences in Mentality)

अब हम मानसिक विशेषताओं से संबंधित अगले प्रश्न को लेते हैं। हमको यह विश्लेषण करना होगा कि क्या कुछ जैविकीय आनुवंशिक तत्वों के कारण कुछ प्रजातियाँ मानसिक रूप से अन्य समूहों से श्रेष्ठ हैं?

यह कहा जाता है कि चूंकि प्रजातियाँ शारीरिक विशेषताओं मे भिन्न हैं, अतएव वे मानसिक रूप से भी भिन्न होती हैं। मनोवैज्ञानिको एवं समाज-शास्त्रियो ने विभिन्न प्रजातियों के सदस्यों के मानसिक परीक्षण उनकी योग्यता को मापने हेतु किए हैं एवं उनकी बुद्धिगत योग्यता मे अन्तर पाया। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि क्या ऐसे अन्तर प्रजातीय अथवा जन्मजात होते हैं? इन पर पर्यावरण, इतिहास अथवा प्रथाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

विभिन्न प्रजातियों की खोपड़ी का घनत्व (Cranial Capacity of various races)—गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने इस बिंदु पर कुछ आंकड़े एकत्र किए हैं। सामान्य परीक्षण जिनके आधार पर अन्तर निकाले गए हैं, वे खोपड़ी के घनत्व, मस्तिष्क (brain) के भार एवं विन्यास के अन्तर से निकाले गए हैं। विभिन्न प्रजातियों की खोपड़ी के घनत्व के बारे मे मार्टिन (Martin) ने निष्कर्ष निकाला है कि यूरोपीय समूहों में औसत घनत्व पुरुषों के लिए १४५० एवं स्त्रियों के लिए १३००; आस्ट्रेलियन जातियों में पुरुषों के लिए १३४७ एवं स्त्रियों के लिए ११८१; वेड्डा (Veddas) में पुरुषो के लिए १२५० एवं स्त्रियों के लिए ११४८ है।

घुमक्कड़ कालमकसों, जापानियों, जावा-निवासियों, काफिरों एवं अमा क्षोजा में औसत घनत्व क्रमशः १४५६, १४६६, १४८५, १५१०, १५४० एवं १५७० है। यदि खोपड़ी के घनत्व एवं बुद्धि में परस्पर सम्बन्ध है तो अमा क्षोजा सर्वबुद्धिमान प्रजाति होती। परन्तु यदि इस तथ्य पर भी ध्यान दिया जाए कि एक ही समूह के लोगों में महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं। उदाहरणतया, ग्रीनलैंड के एस्किमो की खोपड़ी का घनत्व १४५२ है, जबकि अन्य एस्किमों का १५६३ है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि खोपड़ी के घनत्व के आधार पर प्रजातीय श्रेष्ठता अथवा हीनता के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

जहाँ तक भेजा (मस्तिष्क, brain) के भार का प्रश्न है, यूरोपियनों के भेजे का भार औसतन १३१६ ग्राम, जापानियों का १३६७, अन्नामाइटों का १३४१, चीनियों का १४२८, नीग्रों का १३१६ माना जाता है। हम भेजे के भार के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, क्योंकि मार्टिन के अनुसार, पैसशेरा (Peschera), जिन्हें अर्द्धपशु कहा जाता है, के भेजे (brain) का भार यूरोपियनों के लगभग है।

भेजे की आकृति के सम्बन्ध में अभी तक अध्ययन किए गए उदाहरणों की संख्या अल्प होने के कारण कोई विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। कोहलब्रूग (Kohlbrugge) जिसने लगभग एक सहस्र मस्तिष्कों का अध्ययन किया, इस बात को स्वीकृत करने पर बाध्य हुआ कि किसी विशेष प्रकार के मस्तिष्क किसी एक प्रजाति तक सीमित नहीं हैं तथा सम्भवतः मस्तिष्क की आकृति प्रजातीय लक्षण नहीं है।

कुछ अन्य परीक्षण (Some more tests)—विभिन्न प्रजातियों के मानसिक अंतरों की खोज हेतु सर्वाधिक प्रसिद्ध परीक्षण प्रथम विश्वयुद्ध में अमरीकी सेना द्वारा किए गए थे। इन परीक्षणों ने अल्पाइन (Alpine) एवं भूमध्यसागरीय प्रजातियों की अपेक्षा नार्डिक प्रजाति की श्रेष्ठता को स्थापित किया। परन्तु इस निष्कर्ष को बाद में प्रोफेसर ब्रिघम (Professor Brigham) ने वापस ले लिया। अमेरिका में यूरोपीय समूहों पर किए गए परीक्षणों ने दक्षिणी एवं केन्द्रीय यूरोपीय आवासियों के ऊपर उत्तरी यूरोपीय आवासियों की श्रेष्ठता स्थापित की। ब्रिटिश द्वीप, जर्मनी एवं हालैण्ड के निवासी भी श्रेष्ठ थे, जबकि इटली-निवासी एवं पोलैण्ड-निवासी श्रेष्ठ नहीं थे। परन्तु अनेक मानवशास्त्रियों, यथा आटो क्लाइनबर्ग (Otto Klineberg), गार्थ (Garth), फ्रीमैन (Freeman) ने इन परीक्षणों की परिशुद्धता में संदेह व्यक्त किया है। मनोशास्त्रीय अब साधारणतया इस विचार से सहमत हैं कि बुद्धि पर पर्यावरणीय तत्वों का प्रभाव पड़ता है। बुद्धि-लब्धि (intelligence-quotient) को पर्यावरण उन्नत करके परिवर्तित किया जा सकता है। आटो क्लाइनबर्ग ने फ्रांस जर्मनी एवं इटली के विभिन्न भागों के स्कूली बच्चों पर बुद्धि-परीक्षण किए तथा शहरी बच्चों को ग्रामीण बच्चों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ पाया। परीक्षण-प्रक्रियाएँ पर्यावरणीय तत्वों को कुछ ही सीमा तक विलग कर सकी हैं, पूर्णरूपेण नहीं। सम्भवतः सभी पर्यावरणीय अन्तरों को विलग भी नहीं किया जा सकता। बुद्धि-परीक्षण आनुवंशिक वाहकाणु (genes) द्वारा

निर्धारित क्षमताओं का प्रमुख रूप से मापन नहीं करते, अपितु एक प्रकार से पुस्तकीय योग्यता का मापन करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रजातीय समूहों ने विभिन्न दिशाओं में योग्यता प्रदर्शित की है एवं विभिन्न कालों में प्रसिद्धि प्राप्त की है। जैसा कि अलफ्रेड लुई क्रोचर (Alfred Louis Krocher) ने बतलाया है, जब मिस्र की सभ्यता समृद्धि पर रही थी, यूनानी असंस्कृत थे; जब यूनानी सभ्यता विकास के ऊंचे शिखर पर थी, रोम-निवासियों की कोई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ नहीं थीं एवं जब रोम सभ्यता के शिखर पर पहुँचा तो उस समय ट्यूटोनिक लोग (Teutons) जिन्होंने कुछ समय पूर्व श्रेष्ठ उपलब्धियों की सर्वाधिकारता का दावा किया, अर्द्धवन्य अवस्था में रहते थे।

इसके अतिरिक्त एक ही समूह के लोगों में व्यापक भिन्नताएं पाई जाती हैं। देखा गया है कि उत्तरी भाग के नीग्रो दक्षिणी भाग के नीग्रो से श्रेष्ठ होते हैं। हूटन (Hooten) के शब्दों मे, "आर्थिक समर्थता, स्वभाव एवं बुद्धि आदि के मापन हेतु वस्तुपरक वैज्ञानिक विधियाँ अभी तक प्राप्य नहीं हैं, जिन्हें आर्थिक एवं सामाजिक पर्यावरण की भिन्न अवस्थाओं में रहने वाले तथा भिन्न संस्कृतियों के व्यक्तियों पर समान रूप से प्रयोग किया जा सके। निःसंदेह कुछ सार्वभौमिक अवास्तविक बुद्धि-परीक्षणों की खोज की गई है, परन्तु ऐसे परीक्षणो के निष्कर्षों को प्रजातीय श्रेष्ठता का सत्य मूल्यांकन स्वीकार नहीं किया जा सकता।"[1] इन निष्कर्षों की पुष्टि नही हुई है। ये तो प्रजातिवादियो द्वारा अपने राष्ट्रीय समूहों को उनकी श्रेष्ठता का विश्वास दिलाने हेतु आविष्कृत कल्पनाएं हैं। मानसिक अथवा शारीरिक अंतर जो विभिन्न प्रजातीय समूहो मे पाए जाते हैं, आवश्यकतया किसी श्रेष्ठता अथवा हीनता को प्रकट नही करते। स्वर्गीय प्रोफ़ेसर बोआस (Boas) ने कहा है, "इस बात का तनिक भी वैज्ञानिक प्रमाण नही है कि प्रजाति मानसिकता का निर्धारण करती है, अपितु इस बात कि मानसिकता परम्परागत संस्कृति द्वारा प्रभावित होती है, का बेहद प्रमाण उपलब्ध है।"[2]

इस विचार को भी नही माना जा सकता कि शारीरिक लक्षण उपलब्धि के निर्धारक हैं। बुद्धिमान, शक्तिशाली एवं कुशल व्यक्ति सभी प्रजातियों में पाए जा सकते हैं। शारीरिक लक्षणो को प्रजाति, समर्थताओं अथवा व्यवहार के सूचक रूप मे प्रयुक्त नही किया जा सकता।

निष्कर्ष (Conclusion)—जबकि विभिन्न समूहो के बुद्धि-लब्धांक अंतरों मे कोई प्रजातीय तत्व निहित हो सकता है, अधिकाश अन्तर पर्यावरणीय अंतरो के कारण हो सकता है। जब तक पर्यावरणीय तत्व को नियंत्रित करने की सर्वोत्तम विधि विकसित नही हो पाती, उस समय तक बुद्धि परीक्षणो पर आधारित तुलनात्मक अध्ययनो से प्रजातीय मानसिक श्रेष्ठता के अंतरो के बारे में कोई निष्कर्ष सही रूप से नहीं निकाले जा सकते। इस बात का कतई दावा नहीं किया जा सकता कि अमुक प्रजाति अन्य किन्ही बाह्य तत्वों, जिनमे शिक्षा एवं परम्परा हैं सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं, के अंतर के बिना मूलतः मानसिक रूप के श्रेष्ठ अथवा हीन

1. Hooten, E. A., *Up from the Ape*, p. 651.
2. Boas, Franz, *Race, Language and Culture*, p. 14.

है। विभिन्न प्रजातियों की मानसिक योग्यताओं में अन्तर उनकी संस्कृति की भिन्नताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, न कि आनुवंशिक प्रजातीय योग्यता को। यह ठीक है कि मानव जाति के विभिन्न समूहों में प्रजातीय लक्षणों एवं मानसिक स्वभावों तथा संस्कृति के अन्तर पाए जाते हैं, परन्तु यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि उनमें कोई मूल परस्पर सम्बन्ध है। पुनश्च इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि कोई प्रजातीय समूह किसी विशिष्ट जैविक लक्षणों के कारण अन्य समूह से श्रेष्ठ हो सकता है, क्योंकि जैविक घटना-वस्तु मानसिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। परन्तु इस मान्यता को अभी तक प्रमाणित नहीं किया गया है। व्यापक एवं सतर्क अध्ययन के उपरांत अनास्तसी एव फोले (Anastasi and Foley) ने निष्कर्ष निकाला, "यह तथ्य है कि समूहों के व्यवहार में अन्तर होता है, परन्तु यह तथ्य नहीं है कि इन अन्तरों का मूल जैविकीय अथवा प्रजातीय होता है। व्यवहार के व्यक्तिगत अन्तरों के मूल में सामान्य अध्ययनों एवं प्रजातीय अध्ययनों से संबंधित विशाल सामग्री प्राप्य है जो व्यवहार के विकास में पर्यावरणीय तत्वों की भूमिका को दर्शाते हैं। परन्तु किसी भी अध्ययन ने अभी तक व्यावहारिक विशेषताओं एवं प्रजाति के मध्य किसी अनिवार्य सम्बन्ध को निश्चित रूप से सिद्ध नहीं किया है।" सुदृढ एवं सुसंगठित समुदाय में लोग समान रूप से सोचते हैं, समान ढग से कार्य करते हैं, समान वस्त्र पहनते हैं, समान घरों में रहते हैं, विवाह अथवा मृत्यु के अवसर पर समान क्रिया करते हैं तथा एक अलिखित सामाजिक नियमावली का पालन करते हैं, परन्तु इन सबका शारीरिक तुलना से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी अव्याख्येय रूप में हम समुदाय की इच्छा का पालन करते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रजातीय श्रेष्ठता अथवा हीनता के विषय पर निष्कर्ष सतर्कतापूर्वक निकाले जाने चाहिए, क्योंकि यह विषय भावुकता से भरपूर है। प्रजातियों मे अन्तर होता है, यह तो स्पष्ट है, परन्तु इस तथ्य की प्रामाणिकता को सिद्ध करना शेष है।

कुछ प्रजातीय भ्रांतियाँ (Some Racial Fallacies)

हमने ऊपर इस लोकप्रिय धारणा की व्याख्या की है कि प्रजातियों मे योग्यता-सम्बन्धी महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं। कुछ अन्य लोकप्रिय धारणाएँ भी हैं, जिनका निम्नलिखित वर्णन किया जाता है—

(i) कुछ विशुद्ध प्रजातियाँ हैं (There are pure races)—प्रजाति की परिभाषा में यह इंगित किया गया था कि आधुनिक जीवविज्ञान किसी विशुद्ध प्रजाति के विचार को मान्यता प्रदान नहीं करता, अतएव प्रजाति की सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। प्रजातियों का अन्त:संकरण इतना सार्वभौमिक रहा है कि किसी भी प्रजाति में अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जा सकते हैं। संसार का कोई भी राष्ट्र विशुद्ध प्रजाति होने का दावा नहीं कर सकता। लिंटन (Linton) ने लिखा है कि केवल वही प्रजाति अपनी विशुद्धता को स्थिर रख सकती है जिसकी स्त्रियाँ इतनी कुरूप हैं कि दूसरी प्रजातियों के पुरुष व्यक्ति उनको चुराने के लिए लालायित नहीं होते अथवा पुरुष इतने पौरुषहीन हैं कि वे दूसरी प्रजातियों की स्त्रियों को

नहीं चुरा सकते। हावेल (Hoebel) ने लिखा है, "आज इस भूखंड पर विशुद्ध प्रजाति नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्या प्रागैतिहासिक भूत में विशुद्ध प्रजातियाँ थीं, यह ज्ञात नहीं है। भविष्य में कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं होगी, यह निश्चित है।"

(ii) कुछ प्रजातियाँ अन्य की अपेक्षा विकास के निम्न स्तर पर हैं (Some races stand lower on the scale of evolution than do others)—कुछ प्रजातिवादियों की मान्यता है कि आधुनिक नीग्रो श्वेत प्रजाति की अपेक्षा वनमानुष एवं चिम्पांजी के अधिक निकटीय समरूप है। इस प्रकार नीग्रो को विकास के निम्न स्तर पर रखा जाता है। परन्तु यह भी भ्रांतिपूर्ण विचार है, क्योंकि सभी प्रजातियाँ अपने सामान्य पूर्वज से समान दूरी पर हैं।

(iii) प्रजातीय सम्मिश्रण अपकर्ष की ओर ले जाता है (Racial intermixture leads to degeneration)—यह धारणा कि प्रजातीय सम्मिश्रण पतन की ओर ले जाता है, केवल मात्र अंधविश्वास है। कभी-कभी प्रजातीय स्कन्धों का बहिर्समूह यौन सम्बन्ध वर्णसंकर शक्ति को जन्म देता है। बोआस की खोजों ने सिद्ध किया कि अर्द्ध-अभिजनित अमरीकन भारतीय पितृीय भारतीय एवं श्वेत स्कन्धों से अधिक लम्बा एवं उर्वर होता है। कभी-कभी विभिन्न प्रजातीय स्कन्धों के बहिर्समूह यौन सम्बन्ध किसी समूह के ह्रासोन्मुखी दोषों के प्रकटन को रोकने में सहायता देते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रजाति बहिर्समूह यौन सम्बन्ध सदैव जैविकतया वांछनीय है।

४. प्रजाति-पूर्वाग्रह
(Race Prejudice)

इस अध्याय के अन्त में हम प्रजाति-पूर्वाग्रह अथवा प्रजाति ... पर विचार करेंगे, जिसने मानव जाति को विरोधी गुटों में विभक्त कर दिया है। एक प्रजाति द्वारा दूसरी प्रजाति पर काफी अत्याचार किया जाता है, यथा प्रजा... दासता में। मनुष्य की मनुष्य के प्रति दानवता प्रजाति पर अधिकाशतया होती है। अधिकारों, अवसरों एव प्रस्थिति के बारे में किसी प्रजाति के ... गभीर भेदभाव किया जाता है। प्रजाति पूर्वाग्रह अथवा रगभेद ससार में सबसे बड़ा कलंक है जो विश्व-शांति के लिए भी भय है।

पूर्वाग्रह "एक मनोवृत्ति है जो व्यक्ति को किसी समूह अथवा इसके व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल ढंग से विचारने, विरचने, ... करने एवं कार्य करने के लिए प्रवृत्त करती है।"[1]

पूर्वाग्रह का अर्थ है पूर्व-निर्णय करना। हम अपनी भावनाओं के प्रभाव में विवेकयुक्त विचार के शीघ्र ही पूर्वनिर्णय कर लेते है। तीव्र भावना विचार क...

1. "Prejudice is an attitude that predisposes a person to think, perceive, and act in favourable or unfavourable ways toward a group or its individual members."—Secord and Buckman, *Social Psychology*, p. 412.

कर देती है एवं हमें अंधविश्वास की ओर प्रेरित करती है। एक बार पूर्वाग्रह की स्थापना हो जाने पर वास्तविक तथ्य भी इसे दूर नहीं कर पाते। पूर्वाग्रह किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के प्रति तीव्र रूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल बना देता है। पूर्वाग्रह भेदभाव से भिन्न है। भेदभाव व्यक्तियों के बीच विभेदक व्यवहार है। यह साधारण रूप से पूर्वाग्रह की स्पष्ट अथवा व्यावहारिक अभिव्यक्ति है, परन्तु यह पूर्वाग्रह के बिना भी प्रकट हो सकता है। प्रजाति-पूर्वाग्रह इस मान्यता पर आधारित है कि नृवंशीय अन्तर रक्त के अंतर के कारण है तथा ऐसे अन्तर शारीरिक लक्षणों, यथा आँख, त्वचा एवं केश के रंग की भाँति जैविकतया हस्तांतरित होते हैं; परन्तु जैसा ऊपर वर्णित किया गया है कि यह विचार कि कुछ प्रजातियाँ मानसिक रूप से अन्य प्रजातियों से कुछ विशिष्ट जैविक लक्षणों के कारण श्रेष्ठ हैं, अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है। यदि सभी प्रजातियाँ जैविक रूप में समान उत्पन्न हों तब भी प्रजाति-पूर्वाग्रह समाप्त नहीं होगा। प्रजातियों में तब भी संघर्ष होंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे राष्ट्रों के बीच युद्ध होते हैं।

प्रजातीय पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं है (Racial Prejudice is not inborn)

अतएव प्रथम ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता। बालक किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह को लेकर जन्म नहीं लेता। हम बहुधा बच्चों को दूसरी प्रजातियों के बच्चों के साथ बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा भेदभाव के खेलते देखते हैं। पूर्वाग्रह सामाजिक शिक्षा (indoctrination) का परिणाम है जो विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को इस प्रकार उत्पन्न कर देती है कि वे अभ्यस्तता की प्रक्रिया द्वारा सुदृढ़ रूप धारण कर लेते हैं। बच्चे द्वारा पूर्वाग्रह को धीरे-धीरे प्राप्त किया जाता है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया की उपज है जहाँ 'मेरा' 'हमारा' बन जाता है तथा बालक अपने समूह के सदस्यों को दूसरे व्यक्तियों से प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठ समझने लगता है। वह दूसरे व्यक्तियों को श्रेष्ठता-हीनता के शब्दों में विभेदित एवं मूल्यांकित करता है एवं उनके प्रति जो उसके पूर्वाग्रहों में भागी हैं, अनुराग एवं निष्ठा रखने लगता है। अतएव समूह-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं है, अपितु शिक्षाजनित है। कभी-कभी पूर्वाग्रह के बीज बालक के प्रारम्भिक जीवन में ही बो दिए जाते हैं जिससे वह जन्मजात दिखलाई देता है, परन्तु वस्तुतः यह अर्जित होता है। पूर्वाग्रह के कारणों का वर्णन निम्नलिखित है—

(i) आर्थिक लाभ (Economic advantages)—प्रजाति-पूर्वाग्रह का एक महत्वपूर्ण कारण आर्थिक लाभ है जो कुछ परिस्थितियों में प्रभुत्वशाली समूह को प्राप्त होता है। प्राचीन यूनान एवं रोम में कुलीन वर्ग ने दासों के हितों को बलिदान कर समृद्धि प्राप्त की, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी राज्यों के नीग्रो ने विस्तारशील अर्थ-व्यवस्था को सस्ता श्रम प्रदान किया। इन व्यक्तियों को हीन समझा जाता था, अतएव इन्हें निम्न पद दिए जाते थे जिनसे उन्नति की कोई आशा नहीं थी। ये हीन जनताएँ प्रतिष्ठा की निचली सीढ़ियों पर रह जाती हैं और समान कार्य के लिए समान वेतन, समान शिक्षा, सार्वजनिक सुविधाओं के

नहीं चुरा सकते । हाबेल (Hoebel) ने लिखा है, "आज इस भूखंड पर विशुद्ध प्रजाति नाम की कोई वस्तु नहीं है । क्या प्रागैतिहासिक भूत में विशुद्ध प्रजातियाँ थीं, यह ज्ञात नहीं है । भविष्य में कोई विशुद्ध प्रजाति नहीं होगी, यह निश्चित है ।"

(ii) कुछ प्रजातियाँ अन्य की अपेक्षा विकास के निम्न स्तर पर हैं (Some races stand lower on the scale of evolution than do others)—कुछ प्रजातिवादियों की मान्यता है कि आधुनिक नीग्रो श्वेत प्रजाति की अपेक्षा वनमानुष एवं चिम्पांजी के अधिक निकटीय समरूप है । इस प्रकार नीग्रो को विकास के निम्न स्तर पर रखा जाता है । परन्तु यह भी भ्रांतिपूर्ण विचार है, क्योंकि सभी प्रजातियाँ अपने सामान्य पूर्वज से समान दूरी पर हैं ।

(iii) प्रजातीय सम्मिश्रण अपकर्ष की ओर ले जाता है (Racial intermixture leads to degeneration)—यह धारणा कि प्रजातीय सम्मिश्रण पतन की ओर ले जाता है, केवल मात्र अंधविश्वास है । कभी-कभी प्रजातीय स्कन्धों का बहिर्समूह यौन सम्बन्ध वर्णसंकर शक्ति को जन्म देता है । बोआस की खोजों ने सिद्ध किया कि अर्द्ध-अभिजनित अमरीकन भारतीय पितृीय भारतीय एव श्वेत स्कन्धों से अधिक लम्बा एवं उर्वर होता है । कभी-कभी विभिन्न प्रजातीय स्कन्धों के बहिर्समूह यौन सम्बन्ध किसी समूह के ह्रासोन्मुखी दोषों के प्रकटन को रोकने मे सहायता देते हैं । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रजाति बहिर्समूह यौन सम्बन्ध सदैव जैविकतया वांछनीय हैं ।

४. प्रजाति-पूर्वाग्रह
(Race Prejudice)

इस अध्याय के अन्त मे हम प्रजाति-पूर्वाग्रह अथवा प्रजाति-भेदभाव के प्रश्न पर विचार करेंगे, जिसने मानव जाति को विरोधी गुटों मे विभक्त कर दिया है । एक प्रजाति द्वारा दूसरी प्रजाति पर काफी अत्याचार किया जाता है, यथा प्रजाति-दासता में । मनुष्य की मनुष्य के प्रति दानवता प्रजाति पर अधिकांशतया आधारित होती है । अधिकारों, अवसरों एव प्रस्थिति के बारे में किसी प्रजाति के विरुद्ध गंभीर भेदभाव किया जाता है । प्रजाति पूर्वाग्रह अथवा रंगभेद संसार में वर्तमान सबसे बड़ा कलंक है जो विश्व-शांति के लिए भी भय है ।

पूर्वाग्रह "एक मनोवृत्ति है जो व्यक्ति को किसी समूह अथवा इसके व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल ढंग से विचारने, निरखने, अनुभव करने एव कार्य करने के लिए प्रवृत्त करती है ।"[1]

पूर्वाग्रह का अर्थ है पूर्व-निर्णय करना । हम अपनी भावनाओं के प्रभाव में बिना विवेकयुक्त विचार के शीघ्र ही पूर्वनिर्णय कर लेते हैं । तीव्र भावना विचार को कुंठित

---

1. "Prejudice is an attitude that predisposes a person to think, perceive, feel and act in favourable or unfavourable ways toward a group or its individual members."—Secord and Buckman, *Social Psychology*, p. 412.

कर देती है एवं हमें अंधविश्वास की ओर प्रेरित करती है। एक बार पूर्वाग्रह की स्थापना हो जाने पर वास्तविक तथ्य भी इसे दूर नहीं कर पाते। पूर्वाग्रह किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के प्रति तीव्र रूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल बना देता है। पूर्वाग्रह भेदभाव से भिन्न है। भेदभाव व्यक्तियों के बीच विभेदक व्यवहार है। यह साधारण रूप मे पूर्वाग्रह की स्पष्ट अथवा व्यावहारिक अभिव्यक्ति है, परन्तु यह पूर्वाग्रह के बिना भी प्रकट हो सकता है। प्रजाति-पूर्वाग्रह इस मान्यता पर आधारित है कि नृवंशीय अन्तर रक्त के अंतर के कारण है तथा ऐसे अन्तर शारीरिक लक्षणों, यथा आँख, त्वचा एवं केश के रंग की भाँति जैविकतया हस्तांतरित होते हैं; परन्तु जैसा ऊपर वर्णित किया गया है कि यह विचार कि कुछ प्रजातियाँ मानसिक रूप से अन्य प्रजातियों से कुछ विशिष्ट जैविक लक्षणों के कारण श्रेष्ठ हैं, अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ है। यदि सभी प्रजातियाँ जैविक रूप में समान उत्पन्न हों तब भी प्रजाति-पूर्वाग्रह समाप्त नहीं होगा। प्रजातियों में तब भी संघर्ष होंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे राष्ट्रों के बीच युद्ध होते हैं।

प्रजातीय पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं है (Racial Prejudice is not inborn)

अतएव प्रथम ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता। बालक किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह को लेकर जन्म नहीं लेता। हम बहुधा बच्चों को दूसरी प्रजातियों के बच्चों के साथ बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा भेदभाव के खेलते देखते हैं। पूर्वाग्रह सामाजिक शिक्षा (indoctrination) का परिणाम है जो विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को इस प्रकार उत्पन्न कर देती है कि वे अभ्यस्तता की प्रक्रिया द्वारा सुदृढ रूप धारण कर लेते हैं। बच्चे द्वारा पूर्वाग्रह को धीरे-धीरे प्राप्त किया जाता है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया की उपज है जहाँ 'मेरा' 'हमारा' बन जाता है तथा बालक अपने समूह के सदस्यों को दूसरे व्यक्तियों से प्रत्येक क्षेत्र मे श्रेष्ठ समझने लगता है। वह दूसरे व्यक्तियों को श्रेष्ठता-हीनता के शब्दों मे विभेदित एवं मूल्यांकित करता है एवं उनके प्रति जो उसके पूर्वाग्रहों में भागी हैं, अनुराग एवं निष्ठा रखने लगता है। अतएव समूह-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं है, अपितु शिक्षाजनित है। कभी-कभी पूर्वाग्रह के बीज बालक के प्रारम्भिक जीवन में ही बो दिए जाते हैं जिससे वह जन्मजात दिखलाई देता है, परन्तु वस्तुतः यह अर्जित होता है। पूर्वाग्रह के कारणों का वर्णन निम्नलिखित है—

(i) **आर्थिक लाभ (Economic advantages)**—प्रजाति-पूर्वाग्रह का एक महत्वपूर्ण कारण आर्थिक लाभ है जो कुछ परिस्थितियों में प्रभुत्वशाली समूह को प्राप्त होता है। प्राचीन यूनान एवं रोम मे कुलीन वर्ग ने दासों के हितों को बलिदान कर समृद्धि प्राप्त की, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी राज्यों के नीग्रो ने विस्तारशील अर्थ-व्यवस्था को सस्ता श्रम प्रदान किया। इन व्यक्तियों को हीन समझा जाता था, अतएव इन्हें निम्न पद दिए जाते थे जिनसे उन्नति की कोई आशा नहीं थी। ये हीन जनताएँ प्रतिष्ठा की निचली सीढियों पर रह जाती हैं और समान कार्य के लिए समान वेतन, समान शिक्षा, सार्वजनिक सुविधाओं के

नहीं चुरा सकते। हाबेल (Hoebel) ने लिखा है, "आज इस भूखंड पर विशुद्ध प्रजाति नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्या प्रागैतिहासिक भूत में विशुद्ध प्रजातियाँ थीं, यह ज्ञात नहीं है। भविष्य में कोई विशुद्ध प्रजाति नही होगी, यह निश्चित है।"

(ii) कुछ प्रजातियाँ अन्य की अपेक्षा विकास के निम्न स्तर पर हैं (Some races stand lower on the scale of evolution than do others)—कुछ प्रजातिवादियों की मान्यता है कि आधुनिक नीग्रो श्वेत प्रजाति की अपेक्षा बनमानुष एवं चिम्पांजी के अधिक निकटीय समरूप है। इस प्रकार नीग्रो को विकास के निम्न स्तर पर रखा जाता है। परन्तु यह भी भ्रांतिपूर्ण विचार है, क्योंकि सभी प्रजातियाँ अपने सामान्य पूर्वज से समान दूरी पर हैं।

(iii) प्रजातीय सम्मिश्रण अपकर्ष की ओर ले जाता है (Racial intermixture leads to degeneration)—यह धारणा कि प्रजातीय सम्मिश्रण पतन की ओर ले जाता है, केवल मात्र अंधविश्वास है। कभी-कभी प्रजातीय स्कन्धों का बहिर्समूह यौन सम्बन्ध वर्णसंकर शक्ति को जन्म देता है। बोआस की खोजों ने सिद्ध किया कि अर्द्ध-अभिजनित अमरीकन भारतीय पितृीय भारतीय एवं श्वेत स्कन्धों से अधिक लम्बा एवं उर्वर होता है। कभी-कभी विभिन्न प्रजातीय स्कन्धों के बहिर्समूह यौन सम्बन्ध किसी समूह के ह्रासोन्मुखी दोषों के प्रकटन को रोकने मे सहायता देते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि प्रजाति बहिर्समूह यौन सम्बन्ध सदैव जैविकतया वांछनीय है।

४. प्रजाति-पूर्वाग्रह
(Race Prejudice)

इस अध्याय के अन्त मे हम प्रजाति-पूर्वाग्रह अथवा प्रजाति-भेदभाव के प्रश्न पर विचार करेंगे, जिसने मानव जाति को विरोधी गुटों में विभक्त कर दिया है। एक प्रजाति द्वारा दूसरी प्रजाति पर काफी अत्याचार किया जाता है, यथा प्रजाति-दासता मे। मनुष्य की मनुष्य के प्रति दानवता प्रजाति पर अधिकांशतया आधारित होती है। अधिकारो, अवसरों एव प्रस्थिति के बारे में किसी प्रजाति के विरुद्ध गभीर भेदभाव किया जाता है। प्रजाति पूर्वाग्रह अथवा रगभेद ससार मे वर्तमान सबसे बड़ा कलंक है जो विश्व-शाति के लिए भी भय है।

पूर्वाग्रह "एक मनोवृत्ति है जो व्यक्ति को किसी समूह अथवा इसके व्यक्तिगत सदस्यों के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल ढग से विचारने, विरचने, अनुभव करने एवं कार्य करने के लिए प्रवृत्त करती है।"[1]

पूर्वाग्रह का अर्थ है पूर्व-निर्णय करना। हम अपनी भावनाओं के प्रभाव मे बिना विवेकयुक्त विचार के शीघ्र ही पूर्वनिर्णय कर लेते हैं। तीव्र भावना विचार को कुठित

1. "Prejudice is an attitude that predisposes a person to think, perceive, feel and act in favourable or unfavourable ways toward a group or its individual members."—Secord and Buckman, *Social Psychology*, p. 412.

कर देती है एवं हमें अंधविश्वास की ओर प्रेरित करती है। एक बार पूर्वाग्रह की स्थापना हो जाने पर वास्तविक तथ्य भी इसे दूर नहीं कर पाते। पूर्वाग्रह किसी व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति अथवा समूह के प्रति तीव्र रूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल बना देता है। पूर्वाग्रह भेदभाव से भिन्न है। भेदभाव व्यक्तियों के बीच विभेदक व्यवहार है। यह साधारण रूप से पूर्वाग्रह की स्पष्ट अथवा व्यावहारिक अभिव्यक्ति है, परन्तु यह पूर्वाग्रह के बिना भी प्रकट हो सकता है। प्रजाति-पूर्वाग्रह इस मान्यता पर आधारित है कि नृवंशीय अन्तर रक्त के अंतर के कारण है तथा ऐसे अन्तर शारीरिक लक्षणों, यथा आँख, त्वचा एव केश के रंग की भाँति जैविकतया हस्तांतरित होते हैं; परन्तु जैसा ऊपर वर्णित किया गया है कि यह विचार कि कुछ प्रजातियाँ मानसिक रूप से अन्य प्रजातियों से कुछ विशिष्ट जैविक लक्षणों के कारण श्रेष्ठ हैं, अभी तक प्रमाणित नही हुआ है। यदि सभी प्रजातियाँ जैविक रूप में समान उत्पन्न हों तब भी प्रजाति-पूर्वाग्रह समाप्त नही होगा। प्रजातियों मे तब भी संघर्ष होंगे, ठीक उसी प्रकार जैसे राष्ट्रों के बीच युद्ध होते हैं।

प्रजातीय पूर्वाग्रह जन्मजात नही है (Racial Prejudice is not inborn)

अतएव प्रथम ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नही होता। बालक किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह को लेकर जन्म नहीं लेता। हम बहुधा बच्चों को दूसरी प्रजातियों के बच्चों के साथ बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा भेदभाव के खेलते देखते हैं। पूर्वाग्रह सामाजिक शिक्षा (indoctrination) का परिणाम है जो विश्वासों एवं मनोवृत्तियो को इस प्रकार उत्पन्न कर देती है कि वे अभ्यस्तता की प्रक्रिया द्वारा सुदृढ रूप धारण कर लेते हैं। बच्चे द्वारा पूर्वाग्रह को धीरे-धीरे प्राप्त किया जाता है। यह समाजीकरण की प्रक्रिया की उपज है जहाँ 'मेरा' 'हमारा' बन जाता है तथा बालक अपने समूह के सदस्यो को दूसरे व्यक्तियों से प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठ समझने लगता है। वह दूसरे व्यक्तियों को श्रेष्ठता-हीनता के शब्दों मे विभेदित एव मूल्यांकित करता है एव उनके प्रति जो उसके पूर्वाग्रहों में भागी हैं, अनुराग एवं निष्ठा रखने लगता है। अतएव समूह-पूर्वाग्रह जन्मजात नही है, अपितु शिक्षाजनित है। कभी-कभी पूर्वाग्रह के बीज बालक के प्रारम्भिक जीवन में ही बो दिए जाते हैं जिससे वह जन्मजात दिखलाई देता है, परन्तु वस्तुतः यह अर्जित होता है। पूर्वाग्रह के कारणो का वर्णन निम्नलिखित है—

(i) आर्थिक लाभ (Economic advantages)—प्रजाति-पूर्वाग्रह का एक महत्वपूर्ण कारण आर्थिक लाभ है जो कुछ परिस्थितियों में प्रभुत्वशाली समूह को प्राप्त होता है। प्राचीन यूनान एवं रोम में कुलीन वर्ग ने दासों के हितों को बलिदान कर समृद्धि प्राप्त की, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका मे दक्षिणी राज्यों के नीग्रो ने विस्तारशील अर्थ-व्यवस्था को सस्ता श्रम प्रदान किया। इन व्यक्तियों को हीन समझा जाता था, अतएव इन्हें निम्न पद दिए जाते थे जिनसे उन्नति की कोई आशा नही थी। ये हीन जनताएँ प्रतिष्ठा की निचली सीढियों पर रह जाती हैं और समान कार्य के लिए समान वेतन, समान शिक्षा, सार्वजनिक सुविधाओं के

समान उपयोग से वंचित होकर स्वतंत्र समूह बन गईं। इन अधिकारों एवं सुविधाओं के प्रतिरोधन का समर्थन इस आधार पर किया जाता था कि वे हीन व्यक्ति हैं, अतएव कम पात्र हैं। उनके लिए कुछेक व्यवसाय, यहाँ तक कि योग्य एवं प्रशिक्षित व्यक्तियों के लिए भी, प्रतिबंधित थे। पृथक्करण-विभेदीकरण से नीग्रो जाति में निहित व्यावसायिक हित का उत्थान हुआ जो गोरे नियोक्ताओं के आर्थिक हितों के अनुरूप भी था।

(ii) राजनीतिक लाभ (Political advantages)—कभी-कभी प्रभुत्व-शाली समूह अपनी राजनीतिक सर्वोच्चता को सुदृढ़ करने अथवा स्थिर रखने के लिए भी प्रजाति-पूर्वाग्रहों को प्रोत्साहित करता है। दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों, तथाकथित काले लोगो को मतदान एवं सार्वजनिक पद के अधिकार से वंचित रखा गया है, ताकि गोरे लोगों की राजनीतिक शक्ति स्थिर रहे। संयुक्त राज्य के कुछ राज्यो मे भी ऐसा ही व्यवहार नीग्रो लोगों के साथ किया जाता है। राजनीतिक नेता उसी सीमा तक शक्ति प्राप्त करते हैं जहाँ तक वे मतदाता जनसंख्या के आदर्श नियमो का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे व्यक्तियो जो इन आदर्श नियमों का समर्थन नही करते, के निर्वाचित होने की सभावना नही होती। इस प्रकार जब इन नेताओं को शक्ति प्राप्त हो जाती है तो वे स्थिति को ज्यों का त्यों रखने हेतु और अधिक प्रभाव प्रयुक्त करते हैं। दक्षिणी अमेरिका के पृथकवादी नेताओं के हितों की संतुष्टि नीग्रो के प्रति प्रजाति-पूर्वाग्रहों को स्थिर रखने से होती है।

(iii) संजाति-केन्द्रीयता (Ethnocentrism)—संजाति-केन्द्रीयता वह भावना है जिसके द्वारा देशीय लोग विदेशियों से घृणा करते हैं एवं स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं। जब यह भावना चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो उग्र राष्ट्रीयता को जन्म देती है जिसमे व्यक्ति अपने देश के प्रति तर्कहीन एवं उच्छृङ्खल अहं तथा विदेशी राष्ट्रो के प्रति घृणा दिखलाते हैं। संजाति-केन्द्रीयता का एक प्रसिद्ध उदाहरण चीन के सम्राट चाइन लुग (Chien Lung) के द्वारा इग्लैंड के राजा जार्ज-तृतीय को १७९३ मे भेजे गए संदेश मे मिलता है। संदेश मे लिखा था—

"तुम, अरे राजा, अनेक समुद्रों के पार रहते हो, तथापि तुमने हमारी सभ्यता के लाभों मे भाग लेने की विनम्र आकांक्षा से संप्रेरित होकर सादर एक प्रतिनिधि मडल अपने अभ्यावेदन सहित भेजा है।

यदि तुम्हारा विचार है कि हमारे अलौकिक राजकुल के प्रति तुम्हारी श्रद्धा ने हमारी सभ्यता सीखने की आकांक्षा उत्पन्न की है तो मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि हमारे संस्कार एवं नियमावलियाँ तुम्हारे से पूर्णतया इतने विभिन्न हैं कि यदि तुम्हारा राजदूत हमारी सभ्यता की आरम्भिक बातें भी प्राप्त कर सके, तथापि तुम हमारे रीति-रिवाजों एवं जीवन-विधियों को अपनी विदेशी भूमि पर संभवतः प्रतिरोपित नही कर सकते।

हमारे राजकुल के गौरवमय गुण इस आकाश के नीचे प्रत्येक देश में प्रवेश कर चुके है तथा सभी राष्ट्रों के राजाओं ने समुद्री एवं भूमि मार्ग से अपनी बहुमूल्य श्रद्धांजलियाँ भेजी है। तुम्हारा राजदूत स्वयं देख सकता है कि हमारे पास सभी

वस्तुएँ हैं। मैं विदेशी अथवा अजनबी वस्तुओं को कोई महत्व नहीं देता एवं तुम्हारे देश की निर्मित वस्तुओं का हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है।"[1]

(iv) निराशा की क्षतिपूर्ति (Compensation for frustration)—कभी कभी अल्पसंख्यक समूह को सामाजिक एवं आर्थिक अशांति के लिए दोष अथवा दायित्व प्रदान किया जाता है एवं उसे प्रभुत्वशाली समूह द्वारा अजमेध (scapegoat) बनाया जाता है जिससे इस समूह को अपनी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत निराशा, जिसका कारण संभवतः शासक समूह की अकुशलता अथवा बेईमानी हो सकती है, की क्षतिपूर्ति मिल जाती है। जर्मनी में नाजियों ने प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मन की पराजय के लिए यहूदियों को दोषित किया। अमेरिका में नीग्रों, रोमन-कैथोलिकों एवं सामान्यतया विदेशियों को सामाजिक व्यवस्था में होने वाले दोषों के लिए दोषी घोषित किया जाता है। इन व्यक्तियों को सामाजिक विघटन का कारण अथवा देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिरता के लिए भय समझा जाता है। यहूदियों को विशेषतया ऐसी दुःखद प्रसिद्धि प्रदान की गई है। इसके जो कुछ भी कारण रहे हों, यह कथन विवेकयुक्त होगा कि उन्हें जबकि देश में उनकी अल्पसंख्या है, सामाजिक विघटन का कारण नहीं समझा जा सकता। वस्तुतः अपनी असफलताओं के लिए स्वयं की अकुशलता को दोषी न ठहरा कर किसी अन्य समूह जिसे हीन, तुच्छ एवं निर्लज्ज समझा जाता है, के व्यक्तियों की साजिशों एवं चालों को दोष देना मानवीय स्वभाव है।

(v) उचित शिक्षा का अभाव (Lack of proper education)—यह प्रजाति-पूर्वाग्रह का सबसे महत्वपूर्ण कारण है। जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, प्रजाति-पूर्वाग्रह जन्मजात नहीं होता, अपितु शिक्षाजनित होता है। शिक्षा व्यक्ति में पूर्वाग्रह-मनोवृत्तियों को जन्म दे देती है। जैसे व्यक्ति सामाजिक दाय के अन्य तत्वों को प्राप्त करता है, वह पूर्वाग्रह को भी प्राप्त कर लेता है। सोवियत रूस में नवयुवक को प्रत्येक ऐसे व्यक्ति से जो साम्यवाद में विश्वास नहीं करता, घृणा करना सिखाया जाता है। इस प्रकार बाल्यावस्था से ही कुछ समूहों के बारे में प्रतिकूल रूढ़िबद्ध प्ररूपों का निर्माण हो जाता है। व्यक्तियों को उनके वैयक्तिक गुणों के आधार पर सम्बोधित नहीं किया जाता, अपितु उस नाम से संबोधित किया जाता है, जिससे उनके समूह को निंदित किया जाता है। रोस (Rose) का कथन है कि "रूढ़िबद्ध प्ररूप अल्पसंख्यक समूह के कुछ सदस्यों में वर्तमान कुछेक शारीरिक लक्षणों अथवा सांस्कृतिक विशेषताओं की अतिशयोक्तियाँ होते हैं जिन्हें समूह के सभी सदस्यों पर आरोपित कर दिया जाता है। ये रूढ़िबद्ध प्ररूप अन्य व्यक्तियों के बारे में हमारे ज्ञान को एक अकेले फार्मूला में संक्षेपित करने की भूमिका की पूर्ति करते हैं।" चीनियों को 'लांड्रीमैन' (Laundrymen), स्काट-निवासियों को दृढ़ मुष्टिबद्ध कहा जाता है। इसका परिणाम होता है अन्य समूह के प्रति तुच्छ एवं आधारहीन पूर्वाग्रह।

यह भी ध्यान रहे कि किसी समूह के प्रति एक बार पूर्वाग्रह सुस्थापित हो

1. Quoted by Toynbee, A. J.. *A Study of History*, p. 37.

जाने पर उस समूह से संबंधित भावनाएँ आदर्शात्मक महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। ये भावनाएं सामाजिक आदर्श नियमों का भाग बन जाती हैं। समूह के सदस्यों से अपेक्षा की जाती है कि प्रत्येक इन भावनाओं में विश्वास करेगा। यदि कोई सदस्य इन भावनाओं का पालन नहीं करता तो उसके विरुद्ध सकारात्मक एवं नकारात्मक शास्तियों का समूह द्वारा प्रयोग किया जाता है। यह भी देखा गया है कि जो व्यक्ति समूह के आदर्श नियमों को पूर्वाग्रह-सहित प्रबल समर्थन प्रदान करते हैं, नेतृत्व का पद प्राप्त कर लेते हैं।

प्रजाति-पूर्वाग्रह को किस प्रकार समाप्त किया जाए? (How to eradicate race prejudice?)—इस प्रकार पूर्वाग्रह, वैमनस्य एवं समूह के भेदभाव स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाते, अपितु इनके द्वारा उन समूहों, जो इनसे बँधे रहते हैं, को कुछ लाभ प्राप्त होते हैं अथवा कम से कम उन्हें लाभकारी समझा जाता है। प्रजाति न बुरी है, न अच्छी। प्रजातिवाद निश्चित रूप से हानिकारक एवं बुरा है। यह सहयोगी सामाजिक क्रिया के मार्ग में शक्तिशाली बाधा है। यह भेदभाव एवं अन्याय को जन्म देता है। कभी-कभी यह विश्व-शांति के लिए घातक बन जाता है, जब इसे निरकुश शक्ति द्वारा आरोपित किया जाता है, जैसा नाजी संजाति-उन्मादियों ने किया। प्रजाति-पूर्वाग्रह को समाप्त करने हेतु केवल प्रजातीय श्रेष्ठता की आधारहीन मान्यता की दुर्बलता को सिद्ध करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु नवयुवकों को उचित दिशा में प्रशिक्षित करना एवं इस निर्विवाद तथ्य कि त्वचा का रंग, वर्ग, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक अथवा राष्ट्रीय उद्गम सामाजिक अनुकूलनीयता के कोई परीक्षण नहीं हैं, को बतलाना भी आवश्यक है। यदि पूर्वाग्रहित अमेरिकन गोरे नवयुवकों को यह ज्ञात हो जाए कि नीग्रो लोग, जिन्हें वे घृणा करते हैं, दयालु, सुपोषित एवं बुद्धिमान हैं तो उनके पूर्वाग्रह दूर हो जाएँगे। नागरिक का मूल्यांकन उसकी त्वचा के रंग से नहीं, अपितु सामाजिक संरचना में उसके द्वारा स्वयं को अनुकूलित करने की तत्परता तथा देश के विकास में उसके योगदान के आधार पर होना चाहिए। संचार-साधनों के विस्तार से भी जिससे सम्पर्कों की संख्या बढ़ गई, प्रजातीय अवरोधकों की समाप्ति में सहायता मिलेगी। प्रजाति के विषय का सही ज्ञान, संस्कृतियों का विकास किस प्रकार होता है एवं वे भिन्न क्यों है, की सूचना तथा इस तथ्य कि प्रजातीय पूर्वाग्रह आर्थिक अथवा राजनीतिक रूप में अन्ततः लाभदायक नहीं होता, की स्वीकृति प्रजातीय पूर्वाग्रह को दूर करने मे काफी सहायक होंगे। 'प्रजातीय सम्बन्धों' के विषय पर शिक्षण-संस्थाओं में व्याख्यान भी दिए जाने चाहिए।

इस सम्बन्ध में यह बतलाना आवश्यक है कि हाल ही में समाजविज्ञान-वेत्ताओं ने सिद्धान्तों, विधियों एवं प्रणालियों के अनुसंधान को जिससे प्रजातीय पूर्वाग्रहों को सशक्त रूप में नियंत्रित किया जा सके, अपने विषय-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया है। मानवशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने इस दिशा में पर्याप्त काम किया है। विशिष्ट संगठनों, यथा यूनेस्को द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनावों की स्थितियों का अध्ययन किया जा रहा है, एवं सामाजिक पूर्वाग्रह को मिटाने के सम्मिलित प्रयत्न किए जा रहे हैं। यूनेस्को ने गणमान्य समाजशास्त्रियों, मानव-

शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों का एक सम्मेलन भी बुलाया जो सितम्बर, १९५२ में हुआ। इस सम्मेलन ने प्रजाति की समस्या पर निम्नलिखित निष्कर्षों की घोषणा की—

(i) *मूलतः सम्पूर्ण मानव जातियों का समान उद्गम है तथा सभी मनुष्य* मेधावी मानव (homosapiens) हैं।

(ii) मनुष्यों के शारीरिक लक्षणों मे अंतर आनुवंशिकता एवं पर्यावरण दोनो के कारण होते हैं।

(iii) *प्रजातीय विशुद्धता की अवधारणा केवल मात्र कल्पना है।*

(iv) मानवी प्रजातियों का वर्गीकरण किया जा सकता है, परन्तु इन वर्गीकरणों का मानसिक अथवा बौद्धिक श्रेष्ठता अथवा हीनता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(v) बुद्धि एवं संस्कृति के विकास की क्षमता प्रत्येक प्रजाति में समान रूप मे पाई जाती है। बुद्धिमान व्यक्ति सभी प्रजातियों में पाए जाते हैं।

(vi) प्रजातियों का सम्मिश्रण हानिकारक है, यह विचारणा गलत है।

(vii) विभिन्न मानवीय समूहों में सामाजिक एवं सांस्कृतिक भिन्नताओं पर प्रजाति का कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही है। प्रजातीय एवं सामाजिक परिवर्तनों में कोई परस्पर सम्बन्ध नही है।

(viii) यह संभव है कि किसी राष्ट्र में प्रजातीय भिन्नता की मात्रा अन्य किसी राष्ट्र की अपेक्षा अधिक हो सकती है।

प्रश्न

१. प्रजाति का क्या अर्थ है? उन विभिन्न शारीरिक लक्षणों का वर्णन कीजिए जो प्रजातियों को एक-दूसरे से पृथक् करते हैं।

२. "प्रजाति मूलतः जैविकीय अवधारणा है"। इस कथन की व्याख्या कीजिए। *क्या प्रजाति के निर्माण में कोई अकेला लक्षण मौलिक है?*

३. प्रजातियों के वर्गीकरण का वर्णन कीजिए।

४. "प्रजातियाँ मानसिक स्तर पर भिन्न होती हैं।" क्या आप इस उक्ति से सहमत हैं? तर्कसहित उत्तर दीजिए।

५. *प्रजातीय पूर्वाग्रह का क्या तात्पर्य है? इसके विभिन्न कारण क्या हैं?* आप इसे दूर करने के किन उपायों का सुझाव देते हैं?

६. क्या प्रजातियों को आज विशुद्ध प्रकार नहीं कहा जा सकता?

चतुर्थ खण्ड

मानव-परिस्थितिकी

[HUMAN ECOLOGY]

"मानव-समूह संकट-काल से गुजर रहा है; सकट दो स्तरों पर—एक, राजनीतिक एवं आर्थिक संकट के उच्चतर स्तर तथा दूसरे, जनसांख्यिकीय एव पारिस्थितिक सकट के निचले स्तर पर, वर्तमान है।...... ......निम्न स्तरीय सकट राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र के संकट के समान गभीर है।"

—आल्डस हक्सले

"[The human group is passing through a time of crisis and the crisis exists, so to speak, on two levels one upper level of political and economic crisis and a lower level of demographic and ecological crisis......the low level crisis is at least as serious as the crisis is in the political and economic field.]"

—Aldous Huxley

अध्याय २७

ग्रामीण समुदाय

[RURAL COMMUNITY]

१. मानव-पारिस्थितिकी का अर्थ

पारिस्थितिकी जीवशास्त्र का विषय है। यह प्राणियों एवं उनके पर्यावरण के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन है। यह इस विचार पर बल देती है कि प्रत्येक जीव स्वयं को अपने पर्यावरण के प्रति समंजित करने का सतत् प्रयत्न कर रहा है। 'पर्यावरण' शब्द में जलवायु, स्थलाकृति एवं जीव भी सम्मिलित है। इस प्रकार प्राणी स्वयं को जलवायु के प्रति ही नहीं, अपितु अन्य जीवों के प्रति भी समजित करने का प्रयत्न करता है। प्राणियों एवं उनके पर्यावरण के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन पारिस्थितिकी की विषय-वस्तु है।

समाजशास्त्र मे 'मानव-पारिस्थितिकी' शब्द का अर्थ मनुष्यो का उनके प्राकृतिक पर्यावरणो के साथ अन्तर्सम्बन्धों से है। मानव प्राणी स्वयं को अपने पर्यावरणों के प्रति सतत् समंजित करते रहे हैं। मानव-पारिस्थितिकी इस विषय का अध्ययन करता है कि व्यक्ति एवं संस्थाएँ अंतरिक्ष में किस प्रकार से स्थित हैं और वे अपने पर्यावरणों के साथ स्वय को किस प्रकार समंजित करते हैं। पारिस्थितिकीवेत्ता की रुचि विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों से सबंधित सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटना-वस्तु से होती है। वह अपना ध्यान किसी स्थानीय क्षेत्र के सामाजिक प्रभावों पर केन्द्रित रखता है। मानव-पारिस्थितिकी में समुदाय एवं जनसंख्या का अध्ययन सम्मिलित है। इस अध्याय में हम ग्रामीण समुदाय का अध्ययन करेंगे।

२. समुदाय का अर्थ

(The Meaning of Community)

व्यक्तियों का सामाजिक जीवन, समुदाय जिसमें वह निवास करता है, के प्रकार से प्रभावित होता है। हमने पूर्व ही चतुर्थ अध्याय में समुदाय की परिभाषा कर दी है। इसे सामान्य जीवन की भावना से अंकित एक भू-क्षेत्र के रूप मे परिभाषित किया गया है। इसमे (i) व्यक्तियों का समूह; (ii) किसी भौगोलिक क्षेत्र में; (iii) सामान्य संस्कृति एवं सामाजिक प्रणाली सहित; (iv) जिसके सदस्यों में अपनी एकता की चेतना है; और (v) जो संगठित विधि से सामूहिक रूप में कार्य कर सकते हैं, सम्मिलित है। समुदाय की अवधारणा में दो मूल तत्व, भौगोलिक क्षेत्र एवं एकता की भावना निहित हैं।

समुदाय स्थानीय क्षेत्र के रूप में (The community as locality)— समुदाय एक प्रदेशीय समूह है जो सामान्य भूमि एवं जीवन-पद्धति मे सहभागी

होता है। यह कोई संयोग मात्र नही है कि व्यक्ति किसी विशेष स्थान पर एकत्रित होकर रहना आरम्भ कर देते हैं। समीपता से सम्पर्क में सुविधा होती है, सरक्षण प्राप्त होता है और समूह के सगठन तथा एकीकरण मे सुगमता आती है। एक ही स्थानीय क्षेत्र मे निवासित व्यक्तियों में विशिष्ट सामुदायिक जीवन का विकास होता है। निवासित हो जाने पर समूह के सदस्यों के सामाजिक सम्बन्धो मे स्थान का तत्त्व प्रवेश कर लेता है। स्थानीय समूह रक्तीय सम्बन्धों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाते है। एक ही स्थानीय क्षेत्र मे रहने वाले व्यक्ति यद्यपि विभिन्न परिवारो से सबधित होते हैं, तथापि वे एक समुदाय का निर्माण करते हैं। एक आप्रवासी भी जो सगोत्रीय नही है, स्थानीय समुदाय का सदस्य बन सकता है।

समुदाय की भौतिक संरचना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, जिसकी ओर ध्यान दिलाया जा सकता है, इसकी अनियोजित भौतिक सरचना है। आधुनिक समुदाय देहात, नगर एव प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के पीछे कोई दूरवर्ती पूर्वनिर्धारित योजना नही है। इसका परिणाम हुआ है घनी आवादी, टूटे-फूटे निवास-स्थानों एवं भवनों का उपयोग, निवास एव व्यापारिक गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रो का असतुलित विकास। बडे नगरों मे यह स्थिति अधिक सामान्य है, जिसके समाधान हेतु उचित सामुदायिक नियोजन की आवश्यकता है। कुछ अग्रणी देशों, यथा ग्रेटब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस ने समुदाय के नियोजन हेतु कुछ प्रस्तावों को क्रियान्वित किया है। पंजाब मे चंडीगढ़ नगर का निर्माण एक योजना के अनुसार किया गया है जिसमे विशिष्ट आवासों के लिए नगर को विभिन्न सैक्टरो मे विभक्त किया जाता है। परन्तु समुदाय की भौतिक संरचना के पुनर्वास का कार्य जटिल है। इसमें व्यावहारिक प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ, यथा सामग्री का अभाव, आकृति-रचना की कठिनाइयाँ, निहित स्वार्थों के विरोध का सामना करना पडता है। नए समुदाय की आकृति-रचना सरल होती है, परन्तु पूर्वस्थापित समुदाय को पुन डिजाइन करना अधिक सरल होता है।

समुदाय भावना के रूप में (The community as sentiment)—समुदाय अपने द्वारा अधिकृत स्थानीय क्षेत्र से अधिक व्यापक अवधारणा है। यह एक भावना भी होती है। सामान्य स्थान पर निवासित एवं एक-दूसरे की संगति मे अपना जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियो में 'हम-भावना' (we-feeling) का विकास हो जाता है। जिस स्थान पर वे रहते है, वह केवल पृथ्वी का एक अंश मात्र नही है—यह उनका घर है। इकट्ठे रहने से वे सामान्य रीति-रिवाजो, प्रथाओ, सस्थाओ एव स्मृतियों मे सहभागी हो जाते हैं। यह उनकी मनोवृत्तियों एव रुचियो को निरूपित करती है। समुदाय की भावना उनके व्यक्तित्व के अन्तराल मे स्थान बना लेती है। सामुदायिक भावना उनके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। व्यक्ति अपने हित का समूह के बृहत् हितो के साथ तादात्म्य करता है। वह इसके साथ अटूट प्रकार से सम्बद्ध होता है, क्योंकि "समुदाय का आवास उसका अपना आवास है और उसका रक्त अपना रक्त है।" वह समुदाय पर अवलम्बन की भावना रखता है। यह अवलम्बन भौतिक एव मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार का होता है, क्योंकि उसकी भौतिक आवश्यकताओं की सतुष्टि इसके अदर होती है और क्योंकि यह उसे जीवन तथा सतोष प्रदान करना

है। प्रत्येक समुदाय के अपने रीति-रिवाज, विश्वास, अंधविश्वास, लोककथाएँ, कल्पनाएँ एवं लोकरीतियाँ होते हैं।

परन्तु यह ध्यान रहे कि सामुदायिक भावना परिवर्तनशील घटना-वस्तु है। हममें से कोई भी पूर्णरूपेण किसी एक ही समुदाय का सदस्य नहीं है, अपितु अनेक विशालतर समुदायों का सदस्य है। मनुष्य विभिन्न समूहों का सदस्य है जो उसके व्यक्तित्व की विभिन्न आवश्यकताओं की संतुष्टि करते हैं। वह इन समूहों के प्रति संलग्नता रखता है जो सामुदायिक भावना को विस्थापित कर देती है। ऐसा एक विशाल नगर में देखा जा सकता है, जहाँ समुदाय के रूप मे पड़ोस का कोई अस्तित्व नहीं होता। स्थानीय यातायात के विकास ने भी सामुदायिक भावना की प्रबलता एवं घनिष्ठता को कम कर दिया है। इसके अतिरिक्त यातायात के आधुनिक द्रुतगामी साधनों ने ग्रामीण व्यक्तियों के शहरी व्यक्तियों के साथ सम्पर्कों को सुगम बना दिया है जिससे ग्रामीण समुदाय के प्रति सलग्नता क्षीण हो गई है तथा इसके ऊपर निर्भरता भी कम हो गई है। संक्षेप में, आधुनिक अवस्थाओं के अंतर्गत स्थानीय समुदाय के प्रति संलग्नता का ह्रास हो रहा है। आज मनुष्य बृहत्तर समूहों की ओर प्रवृत्त हो रहा है।

३. सामुदायिक संगठन के प्रकार

(Types of Community Organisation)

मानव-समुदायों का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया गया है। अनेक प्रकार के मानव समुदायों का वर्गीकरण, जिन्हें विभिन्न उद्देश्यों के लिए लाभदायक पाया गया है, जनसंख्या के आकार एवं घनत्व के एक विस्तृत एवं परिचित वर्गीकरण पर आधारित है जिसके अंतर्गत समुदायों को पडोस, देहात, नगर, प्रदेश एवं विश्व-समुदाय में विभक्त किया गया है। इस अध्याय में हम प्रथम दो समुदायों का वर्णन करेंगे।

पड़ोस (The Neighbourhood)

नगरीय पड़ोस (City neighbourhood)—पड़ोस पहला समुदाय है जिसके सम्पर्क में बालक आता है। यह अनेक पारिवारिक समूहों का शिथिल समाकलन है। विशाल नगरों में यह अधिकांशतः साथ रहने वाले व्यक्तियों का समूह है जिसकी प्रमुख विशेषता यह होती है कि सदस्य एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र मे रहते हैं। नगरीय पड़ोस में व्यक्तियों का घनिष्ठ सम्पर्क नहीं होता; कभी-कभी तो वे एक-दूसरे से परिचित भी नहीं होते। आपमें से कुछ ने विशाल नगर में अपने सम्बन्धी के मकान को तलाश करने मे कठिनाई का अनुभव किया होगा, यदि आप उसके मकान को पहले से नहीं जानते थे। निचली मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति ऊपर की मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति को नहीं जानते। कहा जा सकता है कि नगरों में पड़ोस की समुदाय के रूप मे कोई अवस्थिति नहीं है।

ग्रामीण पड़ोस (Village neighbourhood)—नगरीय पड़ोस के विपरीत ग्रामीण पड़ोस में व्यक्ति एक-दूसरे के निकट रहते हैं तथा भलीभाँति परिचित होते

होता है। यह कोई संयोग मात्र नही है कि व्यक्ति किसी विशेष स्थान पर एकत्रित होकर रहना आरम्भ कर देते हैं। समीपता से सम्पर्क मे सुविधा होती है, सरक्षण प्राप्त होता है और समूह के सगठन तथा एकीकरण मे सुगमता आती है। एक ही स्थानीय क्षेत्र मे निवासित व्यक्तियों मे विशिष्ट सामुदायिक जीवन का विकास होता है। निवासित हो जाने पर समूह के सदस्यों के सामाजिक सम्बन्धों में स्थान का तत्त्व प्रवेश कर लेता है। स्थानीय समूह रक्तीय सम्बन्धों से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाते है। एक ही स्थानीय क्षेत्र मे रहने वाले व्यक्ति यद्यपि विभिन्न परिवारो से सबंधित होते है, तथापि वे एक समुदाय का निर्माण करते हैं। एक आप्रवासी भी जो सगोत्रीय नही है, स्थानीय समुदाय का सदस्य बन सकता है।

समुदाय की भौतिक संरचना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष, जिसकी ओर ध्यान दिलाया जा सकता है, इसकी अनियोजित भौतिक संरचना है। आधुनिक समुदाय देहात, नगर एव प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के पीछे कोई दूरवर्ती पूर्वनिर्धारित योजना नहीं है। इसका परिणाम हुआ है घनी आवादी, टूटे-फूटे निवास-स्थानों एवं भवनों का उपयोग, *निवास एव व्यापारिक गतिविधि के विभिन्न क्षेत्रों का असंतुलित* विकास। वडे नगरों में यह स्थिति अधिक सामान्य है, जिसके समाधान हेतु उचित सामुदायिक नियोजन की आवश्यकता है। कुछ अग्रणी देशों, यथा ग्रेटब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस ने समुदाय के नियोजन हेतु कुछ प्रस्तावों को क्रियान्वित किया है। पंजाब मे चंडीगढ नगर का निर्माण एक योजना के अनुसार किया गया है जिसमे विशिष्ट आवासों के लिए नगर को विभिन्न सैक्टरों मे विभक्त किया जाता है। परन्तु समुदाय की भौतिक संरचना के पुनर्वास का कार्य जटिल है। इसमें व्यावहारिक प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ, यथा सामग्री का अभाव, आकृति-रचना की कठिनाइयाँ, निहित स्वार्थों के विरोध का सामना करना पडता है। नए समुदाय की आकृति-रचना सरल होती है, परन्तु पूर्वस्थापित समुदाय को पुन: डिजाइन करना अधिक सरल होता है।

समुदाय भावना के रूप में (The community as sentiment)—समुदाय अपने द्वारा अधिकृत स्थानीय क्षेत्र से अधिक व्यापक अवधारणा है। यह एक भावना भी होती है। *सामान्य स्थान पर निवासित एव एक-दूसरे की सगति मे अपना जीवन* व्यतीत करने वाले व्यक्तियो मे 'हम-भावना' (we-feeling) का विकास हो जाता है। जिस स्थान पर वे रहते है, वह केवल पृथ्वी का एक अंश मात्र नहीं है—यह उनका घर है। इकट्ठे रहने से वे सामान्य रीति-रिवाजों, प्रथाओ, संस्थाओं एवं स्मृतियो में सहभागी हो जाते हैं। यह उनकी मनोवृत्तियों एवं रुचियो को निरूपित करती है। समुदाय की भावना उनके व्यक्तित्व के अन्तराल में स्थान बना लेती है। सामुदायिक भावना उनके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है। व्यक्ति अपने हित का समूह के बृहत् हितों के साथ तादात्म्य करता है। वह इसके साथ अटूट प्रकार से सम्बद्ध होता है, क्योंकि "समुदाय का आवास उसका अपना आवास है और उसका रक्त अपना रक्त है।" वह समुदाय पर अवलम्वन की भावना रखता है। यह अवलम्बन भौतिक एव मनोवैज्ञानिक दोनो प्रकार का होता है, क्योकि उसकी भौतिक आवश्यकताओं की सतुष्टि इसके अंदर होती है और क्योकि यह उसे जीवन तथा सतोष प्रदान करता

है। प्रत्येक समुदाय के अपने रीति-रिवाज, विश्वास, अंधविश्वास, लोककथाएँ, कल्पनाएँ एवं लोकरीतियाँ होते हैं।

परन्तु यह ध्यान रहे कि सामुदायिक भावना परिवर्तनशील घटना-वस्तु है। हममें से कोई भी पूर्णरूपेण किसी एक ही समुदाय का सदस्य नहीं है, अपितु अनेक विशालतर समुदायों का सदस्य है। मनुष्य विभिन्न समूहों का सदस्य है जो उसके व्यक्तित्व की विभिन्न आवश्यकताओं की संतुष्टि करते हैं। वह इन समूहों के प्रति संलग्नता रखता है जो सामुदायिक भावना को विस्थापित कर देती है। ऐसा एक विशाल नगर में देखा जा सकता है, जहाँ समुदाय के रूप मे पड़ोस का कोई अस्तित्व नही होता। स्थानीय यातायात के विकास ने भी सामुदायिक भावना की प्रबलता एवं घनिष्ठता को कम कर दिया है। इसके अतिरिक्त यातायात के आधुनिक द्रुतगामी साधनों ने ग्रामीण व्यक्तियों के शहरी व्यक्तियों के साथ सम्पर्कों को सुगम बना दिया है जिससे ग्रामीण समुदाय के प्रति संलग्नता क्षीण हो गई है तथा इसके ऊपर निर्भरता भी कम हो गई है। संक्षेप में, आधुनिक अवस्थाओं के अंतर्गत स्थानीय समुदाय के प्रति संलग्नता का ह्रास हो रहा है। आज मनुष्य बृहत्तर समूहों की ओर प्रवृत्त हो रहा है।

३. सामुदायिक संगठन के प्रकार

(Types of Community Organisation)

मानव-समुदायों का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया गया है। अनेक प्रकार के मानव समुदायों का वर्गीकरण, जिन्हें विभिन्न उद्देश्यों के लिए लाभदायक पाया गया है, जनसंख्या के आकार एवं घनत्व के एक विस्तृत एवं परिचित वर्गीकरण पर आधारित है जिसके अंतर्गत समुदायों को पड़ोस, देहात, नगर, प्रदेश एवं विश्व-समुदाय में विभक्त किया गया है। इस अध्याय में हम प्रथम दो समुदायों का वर्णन करेंगे।

पड़ोस (The Neighbourhood)

नगरीय पड़ोस (City neighbourhood)—पड़ोस पहला समुदाय है जिसके सम्पर्क में बालक आता है। यह अनेक पारिवारिक समूहों का शिथिल समाकलन है। विशाल नगरों में यह अधिकांशत: साथ रहने वाले व्यक्तियों का समूह है जिसकी प्रमुख विशेषता यह होती है कि सदस्य एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र मे रहते हैं। नगरीय पड़ोस में व्यक्तियों का घनिष्ठ सम्पर्क नहीं होता; कभी-कभी तो वे एक-दूसरे से परिचित भी नहीं होते। आपमें से कुछ ने विशाल नगर मे अपने सम्बन्धी के मकान को तलाश करने मे कठिनाई का अनुभव किया होगा, यदि आप उसके मकान को पहले से नहीं जानते थे। निचली मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति ऊपर की मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति को नहीं जानते। कहा जा सकता है कि नगरों में पड़ोस की समुदाय के रूप में कोई अवस्थिति नहीं है।

ग्रामीण पड़ोस (Village neighbourhood)—नगरीय पड़ोस के विपरीत ग्रामीण पड़ोस में व्यक्ति एक-दूसरे के निकट रहते हैं तथा भलीभाँति परिचित होते

रखने के लिए पारस्परिक अन्योन्याश्रित क्रियाएं किया करते थे। ये आदिम दल प्रवासी समुदाय थे। धीरे-धीरे मनुष्य ने कृषि का ज्ञान अर्जित किया। कृषि के विकास एवं उसके परिणामस्वरूप भोजन के स्रोत की स्थिरता से लोग स्थायी जीवन व्यतीत करने लगे और मानव-समुदाय अधिक टिकाऊ हो गए। देहात का जन्म हुआ जिसका अर्थ था कि मनुष्य ने सामूहिक जीवन के घुमक्कड़ प्रकार से निकल स्थायी जीवन में प्रवेश किया। देहात की सुनिश्चित परिभाषा देना कठिन है। साधारणतया इससे तात्पर्य थोड़ी जनसंख्या वाले छोटे क्षेत्र से है जहाँ कृषि लोगों का व्यवसाय ही नहीं, अपितु उनकी जीवन-विधि भी है। देहात मनुष्य का प्राचीनतम स्थायी समुदाय है। क्रोपाटकिन (Kropotkin) ने लिखा है, "ऐसी कोई मानव प्रजाति अथवा किसी राष्ट्र का हमे ज्ञान नहीं है जिसमे ग्रामीण समुदायों का युग न रहा हो।"[1] बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "मानव-समाज का पालन-पोषण ग्रामीण समुदायों में हुआ है।"[2] अत्यधिक प्रभावशाली देहात जो पाँच सहस्र या अधिक वर्षों पूर्व अवस्थित थे, स्विट्ज़रलैंड, जर्मनी, फ्रास, इटली एवं आस्ट्रिया के निकटवर्ती भागो मे झीलो पर निर्मित बस्तियाँ थी। मकान झील के तल पर गड़े हुए बाँसों के सहारे खड़े मंचो पर बनाए जाते थे। इन घरो को पुलों द्वारा किनारों से सम्बद्ध कर दिया जाता था जहाँ खेत एव चरागाह होते थे। आजकल ऐसे घरों का परिवर्तित रूप कश्मीर मे देखा जा सकता है जहाँ डल झील के तल पर खीचे गए रस्सों से बाँध कर किश्तियों पर मकान बनाए गए हैं, जिन्हें 'हाउस बोट' (House-boats) कहा जाता है। ये घर शानदार ढंग से सुसज्जित होते है जो कश्मीर घाटी के पर्यटकों को किराए पर दिए जाते हैं।

ग्रामीण समुदाय का विकास (Evolution of Village Community)

ग्रामीण समुदाय निम्नलिखित स्तरों से गुजरा है—

(i) **आदिम ग्रामीण समुदाय** (Primitive village community)—आदिम ग्रामीण समुदाय की दो विचित्र विशेषताएँ है। प्रथम, नातेदारी की भूमिका एवं द्वितीय, इसका सामूहिक आधार। प्राचीन ग्रामीण समुदाय दस अथवा बीस परिवारो का एक अत्यन्त छोटा समूह था। इसका आकार छोटा होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से परिचित होता था। परिचय इतना अधिक था कि यदि कोई बालक घर से भटक जाता था तो माता-पिता को कोई चिंता नहीं होती थी, क्योंकि उस देहात मे अनेक सगे-सम्बन्धी रहते थे जो उसका ध्यान रखते थे। यातायात एव आवागमन के साधनों के अभाव के कारण ग्रामीण समुदाय के सदस्य दूसरे समुदायो के सदस्यों से दूर एवं पृथक् रहते थे जिससे देहात मे पर्याप्त अन्त.प्रजनन हुए और अधिकांश सदस्य नातदारी द्वारा सम्बन्धी थे।

आदिम ग्रामीण समुदाय में भूमि सामान्य सम्पत्ति थी। सभी सदस्य इसे संयुक्त रूप से जोतते थे। यह सदैव समूह की धरोहर थी। देहात का संगठन

1. Kropotkin, *Mutual aid*, p. 107.
2. Bogardus, *Society*, p. 129.

वे एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप से जानते हैं। उनकी प्रथाएँ, रीति-रिवाज एवं संस्कृति सामान्य होती हैं। धार्मिक उत्सवों में वे मिलकर भाग लेते हैं। संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक, दोनों दृष्टिकोणों से देहात एक इकाई है।

(ii) **पड़ोस की भूमिका** (Role of neighbourhood)—देहात में पड़ोस का अत्यधिक महत्व होता है। ग्रामीण जीवन में इतनी अधिक गति एवं वैयक्तिकता नहीं होती कि किसी को पड़ोसी के सुखों एवं दुखों की ओर ध्यान देने का समय न मिले। देहात में व्यक्ति एक-दूसरे की सहायता करते हैं, अतएव उनके घनिष्ठ पड़ोसी सम्बन्ध होते हैं।

(iii) **संयुक्त परिवार** (Joint family)—यद्यपि नगरों में संयुक्त परिवार-प्रणाली का विघटन हो रहा है, तथापि देहातों में यह अब भी वर्तमान है। कृषि व्यवसाय में परिवार के सारे सदस्यों के सहयोग की आवश्यकता होती है। पुरुष खेत जोतते हैं, स्त्रियाँ फसल काटती हैं तो बच्चे पशुओं को चराते हैं।

(iv) **धर्म में विश्वास** (Faith in religion)—ग्रामीण लोगों का धर्म एवं देवी-देवताओं में अटूट विश्वास होता है। उनका मुख्य व्यवसाय कृषि है जो प्रकृति की सनको पर अधिकांशतः आश्रित है। कृषक में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति भय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिनकी वह आराधना करने लगता है।

(v) **सादगी** (Simplicity)—ग्रामीण व्यक्तियों का जीवन सादा होता है। इसमें आडंबर नहीं होता। वे आधुनिक सभ्यता के दोषों से अछूते होते हैं। वे सादे एवं स्पष्ट व्यक्ति होते है तथा ईश्वर में विश्वास करते हैं। वे कोई मिथ्याभिमान प्रदर्शित नहीं करते। उनका व्यवहार स्वाभाविक एवं अकृत्रिम होता है। वे शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। वे मानसिक रोगों के शिकार नहीं होते। उन्हें हृदयाघात नहीं होता। वे परिश्रमी, सत्यवादी एवं सत्कारशील होते हैं। उनकी नैतिकता का स्तर उच्च होता है। सामाजिक अपराध नगण्य होते हैं। उनका जीवन आदर्श नियमों द्वारा शासित होता है।

इस प्रकार, देहात एक ऐसा समुदाय है जिसके सदस्यों में एकता की भावना होती है, जिनके पड़ोसी सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं, जो धर्म में विश्वास रखते है तथा संयुक्त परिवार में सादा जीवन व्यतीत करते हैं।

ग्रामीण समुदाय की उन्नति (Growth of Village Community)

ग्रामीण समुदाय की उन्नति निम्नलिखित तत्वों पर आधारित है—

(i) **भौगोलिक तत्व** (Topographical factors)—भौगोलिक तत्वों में भूमि, जल एवं जलवायु सम्मिलित हैं। स्पष्ट है कि इन तत्वों का ग्रामीण समुदाय की उन्नति पर प्रभाव पड़ता है। भूमि सर्वाधिक महत्वपूर्ण भौगोलिक तत्व है। व्यक्ति उपजाऊ एवं समतल भूमि पर ही बसना पसंद करेंगे। पहाड़ी एवं असमतल भूमि पर कृषि करना कठिन होता है। यदि भूमि उपजाऊ नहीं है और रेतीली है तो वहाँ देहात की उन्नति नहीं हो सकती। पथरीले क्षेत्रों एवं मरुस्थलों में जनसंख्या कम होती है। दूसरी ओर, पंजाब के समतल एवं उपजाऊ भूमि पर प्रत्येक दो-तीन मील

भूमिगत मामलों में सामूहिकता के आधार पर था। नातेदारी के बन्धन एवं भूमि के साथ ग्रामवासियों के निकट सम्बन्धो ने आदिम ग्रामीण समुदाय मे उच्च सामुदायिक भावना का विकास किया।

(ii) **मध्ययुगीन ग्रामीण समुदाय** (Medieval village community)—मध्य युग के आगमन तक आदिम ग्रामीण-समुदाय मे मौलिक परिवर्तन हो गया था। न तो नातेदारी का लोगो को सयुक्त रखने में महत्वपूर्ण भाग रहा और न ही भूमि समूह की साझी सम्पत्ति रही। भूमि अब किसी राजा अथवा कुलीन वर्ग के किसी सदस्य अथवा धार्मिक अध्यक्ष की सम्पत्ति बन गई। कृषक इसे जोतते थे जो अपने सामन्ती स्वामियों के असामी (vassals) बन गए। सामन्ती स्वामियो के साथ उनका सम्बन्ध स्वामी एव दास का था, परन्तु कुछेक तत्वों ने ग्रामीण जनता को संयुक्त रखा। *इनमे से एक तत्त्व उनकी सामान्य पराधीनता, उनकी दासता थी; दूसरा* उनकी व्यावसायिक एकता थी।

(iii) **आधुनिक ग्रामीण समुदाय** (Modern village community)—आधुनिक काल मे औद्योगीकरण के उत्थान से ग्रामीण समूह का महत्व कम होने लगा। अब नागरिक समूह सभ्यता पर प्रभावी होने लगा, तथापि नगरीकरण की *वृद्धि के बावजूद भी तथ्य यह है कि वर्तमान काल में भी जनसंख्या का अधिकांश* भाग देहातों मे निवास करता है। भारत मे, १६७१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या का ८० प्रतिशत देहातों मे रहता है।

आधुनिक ग्रामीण समुदाय आदिम समुदाय से अत्यधिक भिन्न है। आधुनिक युग की प्रमुख विशेषता नगरीकरण का ग्रामीण समुदाय पर काफी प्रभाव पड़ा है। आधुनिक नगर ने ग्रामीण जीवन-विधि के प्रतिमान को प्रभावित किया है। ग्रामीण सामाजिक रूप बदल रहे हैं। ग्रामीण व्यक्तियो ने जीवन के नगरीय ढंगो को अपना लिया है। जनसंख्या की गतिशीलता एवं इसके आकार की वृद्धि हो जाने से आदिम ग्रामीण समुदाय की विशेषता नातेदारी का बंधन टूट चुका है। भूमि का अब सामूहिक स्वामित्व नही है और न ही इसे सयुक्त रूप से जोता जाता है। खेती करने के ढंगो में भी नगरीय विशेषताएँ आ गई है। इस प्रकार वे दोनो तत्व, जो व्यक्तियो को *उसके ग्रामीण समुदाय से सम्बद्ध करते थे, समाप्त हो गए हैं। अब ग्रामवासियों मे* उनके रीति-रिवाज, क्रियाएँ एवं आदर्श ही सामान्य हैं जो ग्रामीण समुदाय के साथ प्राचीन काल जैसा सपूर्ण तादात्म्य उत्पन्न नही करते। वे भूमि जोतते हैं, परन्तु नगरीय ढग से रहने का प्रयत्न करते है। *संक्षेप में, ग्रामीण सामाजिक रूप नगरीकरण* के प्रभावाधीन बदल गए हैं। धीरे-धीरे जीवन का ग्रामीण ढंग लुप्त हो रहा है।

ग्रामीण समुदाय की विशेषताएँ (Features of Village Community)

ग्रामीण समुदाय अनेक विशेषताओं से चिह्नित हैं। महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) **सामुदायिक चेतना** (Community consciousness)—ग्रामवासियो में एकता की भावना होती है। ग्रामीण व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धो की घनिष्ठता होती है।

वे एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप से जानते हैं। उनकी प्रथाएँ, रीति-रिवाज एवं संस्कृति सामान्य होती हैं। धार्मिक उत्सवों में वे मिलकर भाग लेते हैं। संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक, दोनों दृष्टिकोणों से देहात एक इकाई है।

(ii) पड़ोस की भूमिका (Role of neighbourhood)—देहात में पड़ोस का अत्यधिक महत्व होता है। ग्रामीण जीवन में इतनी अधिक गति एवं वैयक्तिकता नहीं होती कि किसी को पड़ोसी के सुखों एवं दुखों की ओर ध्यान देने का समय न मिले। देहात में व्यक्ति एक-दूसरे की सहायता करते हैं, अतएव उनके घनिष्ठ पड़ोसी सम्बन्ध होते हैं।

(iii) संयुक्त परिवार (Joint family)—यद्यपि नगरों में संयुक्त परिवार-प्रणाली का विघटन हो रहा है, तथापि देहातों में यह अब भी वर्तमान है। कृषि व्यवसाय में परिवार के सारे सदस्यों के सहयोग की आवश्यकता होती है। पुरुष खेत जोतते हैं, स्त्रियाँ फसल काटती हैं तो बच्चे पशुओं को चराते हैं।

(iv) धर्म में विश्वास (Faith in religion)—ग्रामीण लोगों का धर्म एवं देवी-देवताओं में अटूट विश्वास होता है। उनका मुख्य व्यवसाय कृषि है जो प्रकृति की सनकों पर अधिकांशतः आश्रित है। कृषक में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति भय की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिनकी वह आराधना करने लगता है।

(v) सादगी (Simplicity)—ग्रामीण व्यक्तियों का जीवन सादा होता है। इसमें आडंबर नहीं होता। वे आधुनिक सभ्यता के दोषों से अछूते होते हैं। वे सादे एवं स्पष्ट व्यक्ति होते हैं तथा ईश्वर में विश्वास करते हैं। वे कोई मिथ्याभिमान प्रदर्शित नहीं करते। उनका व्यवहार स्वाभाविक एवं अकृत्रिम होता है। वे शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। वे मानसिक रोगों के शिकार नहीं होते। उन्हें हृदयाघात नहीं होता। वे परिश्रमी, सत्यवादी एवं सत्कारशील होते हैं। उनकी नैतिकता का स्तर उच्च होता है। सामाजिक अपराध नगण्य होते हैं। उनका जीवन आदर्श नियमों द्वारा शासित होता है।

इस प्रकार, देहात एक ऐसा समुदाय है जिसके सदस्यों में एकता की भावना होती है, जिनके पड़ोसी सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं, जो धर्म में विश्वास रखते हैं तथा संयुक्त परिवार में सादा जीवन व्यतीत करते हैं।

ग्रामीण समुदाय की उन्नति (Growth of Village Community)

ग्रामीण समुदाय की उन्नति निम्नलिखित तत्वों पर आधारित है—

(i) भौगोलिक तत्व (Topographical factors)—भौगोलिक तत्वों में भूमि, जल एवं जलवायु सम्मिलित हैं। स्पष्ट है कि इन तत्वों का ग्रामीण समुदाय की उन्नति पर प्रभाव पड़ता है। भूमि सर्वाधिक महत्वपूर्ण भौगोलिक तत्व है। व्यक्ति उपजाऊ एवं समतल भूमि पर ही बसना पसंद करेंगे। पहाड़ी एवं असमतल भूमि पर कृषि करना कठिन होता है। यदि भूमि उपजाऊ नहीं है और रेतीली है तो वहाँ देहात की उन्नति नहीं हो सकती। पथरीले क्षेत्रों एवं मरुस्थलों में जनसंख्या कम होती है। दूसरी ओर, पंजाब के समतल एवं उपजाऊ भूमि पर प्रत्येक दो-तीन मील

की दूरी पर देहात स्थित हैं। उपजाऊ भूमि पर स्थित देहात अधिक विकसित एवं समृद्ध होते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में देहात इतने समृद्ध नहीं होते।

जल की सुविधा भी देहातों की समृद्धि एवं उनके विकास में योग देती है। जल केवल स्नान, वस्त्र धोने, भोजन पकाने आदि के हेतु ही आवश्यक नहीं है, अपितु भूमि की सिंचाई के लिए भी जल की अत्यधिक आवश्यकता है। यदि जल सुविधा-पूर्वक प्राप्य नहीं है तो उपजाऊ एवं समतल भूमि का भी अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता। मरुस्थलों में देहात दूर और बिखरे हुए होते हैं, क्योंकि वहाँ जल सरलता से प्राप्य नहीं होता। नहरों के किनारों पर स्थित अथवा नलकूप वाले देहात उन देहातों जो मरुस्थलो एवं पर्वतों में दूभर जीवन व्यतीत कर रहे हैं, से अधिक समृद्ध अवस्था मे हैं।

समशीतोष्ण जलवायु ग्रामीण समुदाय की उन्नति हेतु अनुकूल होती है। अति उग्र जलवायु के क्षेत्रो मे मनुष्य प्राकृतिक एवं समृद्ध जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। अतएव भूमध्यीय एवं ध्रुवीय प्रदेशों के वासी ग्रामीण समुदाय अविकसित हैं। अति गर्म जलवायु में लोग आलसी हो जाते हैं। भारत की गर्म जलवायु ग्रामीणों के निम्न जीवन-स्तर का एक क्रियाशील तत्व है।

(ii) **आर्थिक तत्व** (Economic factors)—आर्थिक तत्वो में कृषि की दशा, ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था एवं कुटीर उद्योगो को सम्मिलित किया जा सकता है।

कृषि ग्रामीण समुदाय का प्रमुख जीवन-आधार है। अतएव ग्रामीण समुदाय की उन्नति कृषि की दशा पर निर्भर है। यदि कृषि अच्छी फसलें उत्पन्न करती है तो ग्रामीण व्यक्तियो की आर्थिक दशा उत्तम होगी। परन्तु यदि उन्हें कठोर परिश्रम करने के बाद भरपेट भोजन भी कठिनाई से मिल पाता है तो उनकी आर्थिक एवं सामाजिक दशा उन्नत नहीं होगी। उन देशो में जहाँ वैज्ञानिक आविष्कारो एवं अनुकूल प्राकृतिक दशाओ ने कृषि की उपज में वृद्धि कर दी है, ग्रामीण समुदाय विकास के उन्नत स्तर पर है। भारत में ग्रामीण समुदाय कृषि की उपज कम होने के कारण निर्धन हैं।

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था भी ग्रामीण समुदाय की उन्नति में महत्वपूर्ण तत्व है। कृषक को अच्छी नस्ल के पशु, उत्तम बीज, उत्तम खाद एवं वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध होने चाहिए। पूंजी, उत्तम बीज, उपकरणों के संभरण एवं कृषिगत उपज के उचित मूल्यो पर विक्रय हेतु सहकारी संस्थाओं की व्यवस्था होनी चाहिए।

कुटीर उद्योग भी ग्रामीण समुदाय की उन्नति मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जबकि कुटीर उद्योग भूमिहीन व्यक्तियों को आजीविका के साधन प्रदान करते है, वे कृषको एवं नारी श्रमिकों को भी उत्पादक गतिविधियो मे उपयोगी-करण के साधन प्रदान करते हैं।

(iii) **सामाजिक तत्व** (*Social factors*)—*सामाजिक तत्वों में शान्ति,* सुरक्षा, सहयोग एवं बुद्धि आदि सम्मिलित हैं। ग्रामीण समुदाय की उन्नति हेतु देहात

में शांति का होना आवश्यक है। शांति के अतिरिक्त, ग्रामीण व्यक्तियों को रोगों से सुरक्षा एवं कृषि की सुरक्षा भी प्राप्त होनी चाहिए। उन्हें प्राकृतिक विपदाओं से भी सुरक्षा की आवश्यकता है। कृषिगत बीमा उन्हें ऐसी सुरक्षा प्रदान कर सकता है।

सामुदायिक विकास सहयोग के बिना सम्भव नहीं है। देहात में अनेक गतिविधियाँ ऐसी हैं जिनमें समग्र समुदाय के सहयोग की आवश्यकता होती है। उदाहरणतया सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं स्वच्छता, शांति एवं व्यवस्था, सार्वजनिक सुविधाओं का उचित उपयोग, शिक्षा एवं मनोरंजन आदि। सहयोग द्वारा देहाती व्यक्ति अपना विकास करके ग्रामीण समुदाय को समृद्धि के मार्ग पर मोड़ सकते हैं।

अन्ततः ग्रामीण समुदाय की उन्नति ग्रामवासियों की बुद्धि पर निर्भर है। बुद्धि के अभाव में वे कृषि की उपज को नहीं बढा सकते एव न ही वैज्ञानिक अनुसंधानों से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिम में ग्रामीण समुदाय समृद्ध हैं, क्योंकि ग्रामवासी बुद्धिमान व्यक्ति हैं। भारत में देहातों की दशा पिछड़ी हुई है, क्योंकि ग्रामवासियों मे वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रयोग करने की बुद्धि का अभाव है।

५. भारत में ग्रामीण समुदाय

(Village Community in India)

भारत देहातों का देश है (India a land of villages)—देहातों की भारतीय जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत को उचित ही देहातों का देश कहा जा सकता है। उसकी अधिकांश जनसंख्या देहातों में निवास करती है। १९७१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का ८० प्रतिशत भाग देहातों में निवास करता है। देश में ५,७५,७२१ देहात हैं। कुल ग्रामीण जनसंख्या का २६.५ प्रतिशत भाग छोटे देहातों (५०० व्यक्तियों से कम), ४८.८ प्रतिशत भाग मध्यम आकार वाले देहातो (५०० एवं २००० व्यक्तियों), १९.४ प्रतिशत भाग बड़े देहातों (२,००० एव ५००० व्यक्तियों) तथा ५.३ प्रतिशत सबसे बड़े देहातो (५००० व्यक्तियों से अधिक) में रहते हैं। जनसंख्या के आधार पर देहातों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है—

देहातों की जनसंख्या	सख्या
५०० से कम	३,१८,६११
५०० एवं ९९९ के बीच	१,३२,८७३
१,००० एवं १,९९९ के बीच	८१,९०९
२,००० एव ४,९९९ के बीच	३५,९९२
५,००० एवं ९,९९९ के बीच	४,९७५
१०,००० एवं अधिक	१,३५८

भारतीय देहातों की विशेषताएँ (Characteristics of Indian villages)

(i) एकाकीकरण एवं आत्म-निर्भरता (*Isolation and self-sufficiency*)—लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत के देहात न्यूनाधिक आत्म-निर्भर, स्वयंपूर्ण एवं विलग इकाइयाँ थी। ग्रामवासियो का बाहर के व्यक्तियों के साथ कोई सम्बन्ध नही होता था। उनकी सभी अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय देहात में ही हो जाती थी। भारतीय देहात की इस विशेषता का सजीव वर्णन निम्न प्रकार है—

"प्रत्येक देहात स्वयंपूर्ण है, प्रत्येक में व्यक्तियो के भूमि-सम्बन्धी स्थायी अधिकार होते हैं। कुछ स्वामी होते हैं तो अन्य असामी, जिनके अधिकार वंशानुगत हैं। इनमें से कुछ तो स्वय काश्त करते हैं, जबकि अन्य जिनके पास काफी भूमि है, कुछ या समग्र भूमि को वार्षिक ठेके पर असामियों को दे देते है। इनसे निचले स्तर पर कृषि श्रमिक होते हैं। इनमें से कुछेक के पास ठेके पर एक-दो खेत होते हैं, अन्य आवश्यकता के समय खेतों मे मजदूरी करते हैं जिनका मुख्य व्यवसाय छोटे धन्धे, यथा चमड़े का कार्य अथवा हीन कहे जाने वाले कार्य करना है। लघुतम देहात को छोडकर सभी देहातों मे एक-दो कुशल कारीगर, बढई अथवा लोहार होते हैं जो सादे कृषि-उपकरणो, बैलों के साज एव पानी खीचने वाले यन्त्रों का निर्माण अथवा उनकी मरम्मत करते हैं। घरेलू आवश्यकता की वस्तुओं का सभरण एक-दो दूकानो द्वारा किया जाता है जिनके स्वामी प्राय: कृषि-उपज को क्रय कर लेते हैं तथा उधार देकर अपनी आय को बढ़ाते हैं।"

परन्तु परिवर्तनशील राजनीतिक एवं आर्थिक दशाओ ने भारतीय देहात की आत्म-निर्भरता एव उसके बिलगाव को समाप्त कर दिया है। यातायात एव संचार के साधनो के तीव्र विकास ने देहात तथा नगर के मध्य अवरोधकों को तोड दिया है। देहात अब नगर से सामाजिकतया एव आर्थिक रूप मे भी सम्बद्ध है। राजनीतिक दलो ने देहातो को नगर के समान ही अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया है।

(ii) शांति एवं सादगी (Peace and simplicity)—भारतीय देहात की दूसरी विशेषता सादगी, शाति एवं चैन है। देहात में कोई शोरगुल नही होता और कोई घुटन नही है। आधुनिक सभ्यता की दौड़-धूप वहाँ नही मिलती। यद्यपि यदा-कदा कोई मोटर अथवा कार धूल के बादलों मे छिपी कच्ची सड़क पर चलती दिखाई दे जाती है, तथापि समग्र रूप से ग्रामीण जीवन परम्परागत खामोशी एवं शाति से चलता रहता है। ग्रामवासी सादा जीवन व्यतीत करते हैं, किफायतसारी से खाते हैं, सादा वस्त्र पहनते हैं तथा आधुनिक सभ्यता से दूर कच्चे घरो मे रहते हैं।

परन्तु इसमें भी पुरानी व्यवस्था नवीन व्यवस्था को स्थान दे रही है। कच्चे मकानों के स्थान पर पक्के मकानो का निर्माण हो रहा है। देहात के नवयुवकों एवं नवयुवतियों मे फैशन बढ़ रहा है। बैटरी के रेडियो से कुछ घरों मे सगीत की धुनें सुनाई देंगी। परन्तु यह परिवर्तन धीमा है।

(iii) **रूढ़िवादिता** (Conservatism)—देहाती लोग प्राचीन प्रथाओं एवं परम्पराओं से चिपके रहते हैं। उनका दृष्टिकोण रूढ़िवादी होता है तथा वे परिवर्तनों को अति अनिच्छापूर्वक अपनाते हैं। वे प्राचीन जीवन-ढंगो से प्यार करते हैं तथा विवाह एवं अन्य रीति-रिवाजों के बारे में उत्साही समाज-सुधारकों के परामर्श को मानने के कम इच्छुक होते हैं। भारतीय देहातो के विषय पर सर **चार्ल्स मेटकाफ़** (Sir Charles Metcalfe) ने लिखा है, "जहाँ अन्य सभी कुछ बदल रहा है, वहाँ देहात नित्य मालूम देते हैं। राजवंशों के बाद राजवंश गिरते जाते हैं। क्रांति के बाद क्रांतियाँ आ रही हैं। हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख और अंग्रेज बारी-बारी से स्वामी बनते जाते हैं, परन्तु ग्रामीण समुदाय वैसे ही बने हैं।"

(iv) **निर्धनता एवं निरक्षरता** (Poverty and illiteracy)—सम्भवत. भारतीय देहातों की सर्वाधिक विशेष एवं निराशाजनक विशेषता ग्रामवासियों की निर्धनता एवं निरक्षरता है। उनकी आय साधारण रूप से कम होती है तथा वे निर्धन होते हैं। वे मोटा भोजन करते हैं एवं घटिया वस्त्र पहनते हैं। भूमि पर दबाव अधिक होने के कारण भू-खण्डन होता है, जिसका परिणाम कम उपज है। निर्धनता के अतिरिक्त ग्रामवासी निरक्षर भी हैं। देहातों में शिक्षा की सुविधाएँ अल्प हैं। ग्रामीण पाठशालाएँ साधारणतया जर्जर अवस्था में होती हैं। उच्च शिक्षा की सुविधाएँ तो प्रायः शून्य हैं। निर्धनता के कारण ग्रामवासी अपने बच्चों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु नगरों में नहीं भेज सकते। निरक्षरता के कारण वे कृषि को उन्नत नहीं कर सकते और न ही अपनी आय को अन्य साधनों से अनुपूरित कर सकते हैं। निर्धनता उनकी निरक्षरता एवं पिछड़ेपन का कारण एवं प्रभाव, दोनो है।

फिर भी, ग्रामीण पुनर्निर्माण की आवश्यकता को अनुभव किया गया है। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों ने ग्रामवासियों की निर्धनता एव निरक्षरता को दूर करने हेतु कुछ योजनाओं का सूत्रपात किया है। कृषि-उपज अधिक से अधिक यांत्रिक बन रही है तथा कृषि-उत्पादनो के मूल्य भी बढ गए है।

(v) **स्थानीय स्वशासन** (Local self-government)—प्राचीन भारत में देहातो को पर्याप्त स्वायत्तता अथवा स्वशासन प्राप्त था। ग्रामवासी परम्परागत संस्था, पंचायत के माध्यम से अपने मामलों का स्वयं प्रबन्ध करते थे। केन्द्रीय सरकार की न तो कोई रुचि देहातों के स्वशासन में हस्तक्षेप करने की थी और न ही उसके पास तदर्थ साधन थे। भारत मे अंग्रेजो के आगमन तथा उनके द्वारा प्रशासन की उच्च केन्द्रीकृत प्रणाली के आरम्भ से पंचायतो का महत्व कम होने लगा। उनकी न्यायिक शक्तियाँ ब्रिटिश न्यायालयो ने ले ली तथा ग्रामीण प्रबन्ध की देखभाल करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की गई। इस परिवर्तन ने दुखद परिणामो को जन्म दिया। लार्ड रिपन के काल से ग्रामीण स्वशासन की प्राचीन प्रणाली को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु इस दिशा मे प्रगति धीमी रही। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त प्राचीन पंचायत प्रणाली को पुनर्जीवित करने के लिए नए प्रयत्न किए जा रहे हैं, ताकि पंचायतें राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य मे अधिक श्रेष्ठ भूमिका निभा सकें।

ग्रामीण समुदाय में परिवर्तन (Change in Village Community)

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। यह जीवन की आवश्यकता है। मानवी समुदायों में परिवर्तन स्वाभाविक है। ग्रामीण समुदाय नगरीय समुदाय की अपेक्षा कम परिवर्तनशील है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि ग्रामीण समुदाय में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसमें भी परिवर्तन हो रहा है, यद्यपि परिवर्तन की गति नगरीय समुदाय की तुलना में धीमी है। ग्रामीण समुदाय में परिवर्तन निम्न दिशाओं में देखे जा सकते हैं—

(i) **जातिप्रथा (Caste system)**—भारत में ब्रिटिश शासन ने देहातों में जाति-व्यवस्था को भारी आघात पहुँचाया। ब्रिटिश शासकों के कानूनों एवं उनकी आर्थिक नीति ने विभिन्न जातियों को अपने परम्परागत व्यवसायों से भिन्न व्यवसाय अपनाने के लिए आकर्षित किया। जाति पंचायत का बंधन शिथिल हो गया। ग्रामवासी की प्रस्थिति उसकी आर्थिक स्थिति एवं उसकी वैयक्तिक उपलब्धियों द्वारा निर्धारित होने लगी। भोजन, वस्त्रों, जीवन-विधि एवं अन्य विषयों पर जाति-प्रणाली के अधीन आरोपित प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। अस्पृश्यता का बन्धन भी शिथिल हो गया। इस प्रकार जाति-व्यवस्था ने देहातों में अब अपने पराम्परागत बंधन को खो दिया है, यद्यपि स्वार्थी राजनीतिक हितों के कारण जातिवाद दृढ़ बनता जा रहा है।

(ii) **जजमानी व्यवस्था (Jajmani system)**—जैसा कि 'भारत में सामाजिक संस्तरीकरण' के अध्याय मे वर्णित किया गया है, जजमानी प्रथा जो भारत मे ग्रामीण समुदाय की विशेषता थी, का प्रभाव निम्न जातियों की प्रस्थिति को उठाने हेतु सरकारी प्रयत्नों तथा नगरीकरण के प्रभाव के कारण अब शिथिल हो गया है। ग्रामवासियों द्वारा अपनाए गए व्यवसाय अब पूर्णतया आनुवंशिक नहीं हैं और न जातिप्रथा पर आधारित हैं, न ही निम्न जातियों द्वारा प्रदत्त सेवाओं का भुगतान वस्तुओं के रूप मे होता है; यह भुगतान अब अधिकांशतया नकद पैसों मे किया जाता है।

(iii) **परिवार-प्रणाली (Family system)**—संयुक्त परिवार-प्रणाली अब ग्रामीण समुदाय का विशिष्ट लक्षण नहीं रह गयी है। इसका स्थान एकल परिवारो ने ले लिया है। भोजन, वस्त्रों एव विवाह के विषयो पर पारिवारिक नियंत्रण शिथिल हो गया है। परिवार अब आर्थिक इकाई नहीं रहा है। अनेक गतिविधियाँ जो पहले परिवार में होती थी, अब बाह्य निकायों द्वारा की जा रही हैं। ग्रामीण कन्याओं की शिक्षा ने ग्रामीण स्त्रियों की प्रस्थिति को उठा दिया है।

(iv) **विवाह-प्रणाली (Marriage system)**—विवाह की संस्था में भी परिवर्तन पाया जा सकता है। यद्यपि अन्तर्जातीय विवाह नगण्य हैं और माता-पिता अब भी जीवन-साथी के चयन का अन्तिम निर्णय करते हैं, तथापि वे जीवन-साथी के विषय पर लड़के-लड़कियों से परामर्श कर लेते हैं। प्रेम-विवाह एवं विवाह-विच्छेद प्रायः अविद्यमान है। प्राचीन पारिवारिक प्रस्थिति की अपेक्षा विवाह-

साथियों के व्यक्तिगत गुणों, यथा शिक्षा, आर्थिक व्यवसाय, सुन्दरता एवं मुखाकृति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। विवाहों पर अब व्यय भी कम होता है। विवाह-रीतियाँ भी कम हो गई हैं। बाल-विवाह की प्रथा समाप्त हो रही है।

(v) **जीवन-स्तर** (Living standards)—ग्रामीण समुदाय में व्यक्तियों का जीवन-स्तर धीरे-धीरे उठ रहा है। ग्रामीण भोजन केवल साधारण ही नहीं होता, इसमे अब शाक-सब्जियाँ, दूध, चाय, डालडा घी, ब्रेड आदि सम्मिलित होते है। वस्त्र नगरीकृत हो रहे हैं। नवयुवक पतलूनों तथा नवयुवतियाँ फ्राक एवं बैल-बाटम का प्रयोग करती है। वृद्ध स्त्रियाँ भी कमीजों के स्थान पर ब्लाउज पहनती हैं। हथकरघे के वस्त्रो के स्थान पर मिलों के वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। स्वर्ण आभूषणों ने चाँदी के आभूषणों का स्थान ले लिया है। नवयुवक लम्बे बाल रखते है एवं नंगे सिर रहते है तथा कन्याएँ सौन्दर्य-प्रसाधनों का उपयोग करती हैं। अब निवास हेतु पक्के मकान बनाए जाते हैं। ये अच्छे प्रकाशयुक्त, सज्जित एवं विद्युतीकृत हैं। कुछ घरों में छत के पंखे भी देखे जा सकते हैं। अधिकांश घरों मे मिट्टी के दीपों का स्थान लालटेनो ने ले लिया है। कुछ घरों में गोबर गैस प्लांटो को लगाया गया है। लोगों की स्वच्छता-सम्बन्धी आदतें सुधरी हैं। वे स्नान एवं वस्त्र धोने में साबुन का प्रयोग करते हैं। हजामत के लिए सेफ्टीरेजर उपयोग किए जाते हैं। जल-निकास-व्यवस्था भी उत्तम है। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों ने ग्रामवासियों को स्वास्थ्य के प्रति जागृत कर दिया है। संक्रामक रोगो का भय टीकों एवं अन्य निवारक साधनों के कारण कम हो गया है। ग्रामवासी परिवार नियोजन के महत्व को समझते हैं तथा परिवार के आकार को सीमित रखने हेतु उपायों का प्रयोग करते हैं। शिक्षा-संस्थाओ को खोला गया है। कुछ देहातों में स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षण-सस्थाएँ खुली हुई हैं। कृषि संस्थान एवं अन्य ग्रामीण संस्थान भी कुछ देहातो में खोले गए हैं।

(vi) **आर्थिक व्यवस्था** (Economic system)—आर्थिक क्षेत्र मे भी परिवर्तन हुआ है। शिक्षित ग्रामीण युवक खेती करने की अपेक्षा नगर में नौकरी की खोज करता है। नए वैज्ञानिक कृषिकर उपकरणों की माँग बढ़ती जा रही है। कृषकों को उपज बढ़ाने के नवीन ढंग सिखाए गए हैं। ग्रामीण सहकारी संस्थाओं ने बीज, खाद एवं ऋण पाने में ग्रामवासियों की कठिनाइयो एवं उनके कष्टों को कम कर दिया है। प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई है। आर्थिक शोषण कम हुआ है तथा कृषकों को अपनी उपज का अच्छा मूल्य मिलता है।

(vii) **राजनीतिक व्यवस्था** (Political system)—पंचायतो की पुनर्स्थापना से ग्रामवासियों में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ है। अखबार, रेडियो एवं कुछ क्षेत्रों में दूरदर्शन ने ग्रामवासियो के राजनीतिक ज्ञान मे वृद्धि की है। परन्तु राजनीतिक दलो ने उन्हें विभिन्न गुटो मे विभक्त कर दिया है जिससे उनमें गुटवाद उत्पन्न हो गया है। सामुदायिक भावना कम हो गई है। स्वार्थ एवं व्यक्तिवाद बढ़ रहे हैं।

अतएव स्पष्ट है कि भारतीय देहात स्थिर समुदाय नही है। यह गतिशील

है। चार्ल्स मेटकाफ़ (charles Metcalfe) की यह उक्ति कि "जहाँ अन्य सभी कुछ बदल रहा है, वहाँ देहात नित्य मालूम देते हैं", गलत है।

भारतीय देहात संक्रमण-काल से गुजर रहे है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्राचीन सामाजिक सम्बन्ध, बन्धन एवं सूत्र समाप्त हो गए हैं। सामुदायिक चेतना धीरे-धीरे लुप्त हो रही है। देश की राजनीति ने ग्रामवासियों के शातिपूर्ण जीवन में प्रवेश कर लिया है जिसने उनको राजनीतिक गुटो मे विभक्त कर दिया है। संयुक्त परिवार-प्रणाली का अति तीव्र गति से विघटन हो रहा है। नैतिकता का स्तर गिर गया है। ग्रामीण समुदाय की अवशेष विशेषता केवल कृषि है।

भारत मे ग्रामीण पुनर्निर्माण का कार्य बडा महान् एवं जटिल है जिसको सुगमता से पूरा नही किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, जनसख्या का ८० प्रतिशत देहातों में निवास करता है। ४३.८६ करोड व्यक्तियों के जीवन-स्तर को उन्नत करना सरल कार्य नही है, तथापि प्रवृत्तियाँ इस बात को इंगित करती हैं कि काफी कठिनाइयो के बावजूद पर्याप्त प्रगति हुई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना मे कृषि के विकास, सिंचाई एव विद्युत्-शक्ति के उत्पादन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई। प्रथम योजना के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार के उद्देश्यों को लगभग पूरा कर लिया गया। द्वितीय योजना मे कृषि-उत्पादन के नवीन लक्ष्य निर्धारित किए गए, जिन्हें भी पूर्णरूपेण पूरा किया गया। तृतीय एव चतुर्थ योजनाओं मे ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्य को यथेष्ठ महत्व दिया गया है। पांचवी पंचवर्षीय योजना ने भी कृषि को प्राथमिकता दी। ग्रामीण विद्यालय मे परिवर्तन आ रहा है। अब इसमे सुयोग्य अध्यापक हैं तथा ये अच्छी प्रकार सज्जित हैं। श्रम-बचाव यन्त्रो ने परिश्रम के घटों एव श्रमिक खोजने की कठिनाई को कम कर दिया है तथा अवकाश के समय मे वृद्धि कर दी है। देहातों मे अच्छी सडको का निर्माण किया जा रहा है, विद्युत् शक्ति दी जा रही है, स्वास्थ्यपरक दशाओ को उन्नत किया जा रहा है, स्वास्थ्य-सुविधाएँ प्रदान की जा रही है तथा योग्य चिकित्सकों सहित सुसज्जित अस्पताल खोले जा रहे हैं। नगर की अनेक सुविधाएँ एवं आराम ग्रामीण घरों में आरम्भ किए जा रहे है। ग्रामीण घर की अनाकर्षक, शुष्क एवं घृणित विशेषताओं के समाप्त हो जाने पर आशा की जाती है कि गूढ ग्रामीण मूल्यो को पुनः प्रशसित किया जाएगा, ताकि युवक देहातो को शिक्षित एवं उत्साही ग्रामीण नेतृत्व से वचित कर नगरों की ओर निष्क्रमण नही करेंगे।

प्रश्न

१. समुदाय का क्या अर्थ है ? समुदाय एवं संघ में अन्तर बताइए।
२. ग्रामीण समुदाय की क्या विशेषतायें हैं ? ग्रामीण समुदाय का विकास किन तत्वों पर निर्भर करता है ?
३. भारत मे ग्रामीण समुदाय की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ?
४. भारत में ग्रामीण समुदायो मे हुए परिवर्तनो पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

अध्याय २८

नगरीय समुदाय

[THE URBAN COMMUNITY]

१. नगरीय का अर्थ

(The Meaning of Urban)

नगरीय अथवा नागरिक समुदाय के अध्ययन में सर्वप्रथम कठिनाई शब्द 'नगरीय' की परिभाषा-सम्बन्धी है। इस कठिनाई का कारण यह है कि 'समुदाय' शब्द दो दशा—एक भौतिक, दूसरी सामाजिक को निर्दिष्ट करता है। भौतिक दशा, आवश्यक नहीं, सामाजिक दशा को जन्म दे। साधारण तौर पर, नगरीय क्षेत्र से हमारा तात्पर्य घनी जनसंख्या वाले क्षेत्र से होता है। परन्तु एक देहात को, जिसमें प्रति कमरा व्यक्तियों की औसत संख्या नगर के समान है, नगरीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण जनसंख्या बहुत थोड़ी है और बसा हुआ क्षेत्र भी बहुत छोटा है। पुनः एक बड़े क्षेत्र वाले देहात को नगर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी जनसंख्या बहुत थोड़ी है। अतएव नगर की परिभाषा जनसंख्या के घनत्व के शब्दों में नहीं की जा सकती। सम्पूर्ण जनसंख्या एवं सम्पूर्ण क्षेत्र को भी ध्यान में रखना होगा। परन्तु विभिन्न देशों में इस विषय पर मानकों की एकरूपता नहीं है। संयुक्त राज्य में २,५०० अथवा अधिक, फ्रांस में २,०००, जापान में ३०,००० तथा भारत में १०,००० जनसंख्या वाले क्षेत्रों को नगर समझा जाता है।

सामाजिक अवस्था पर विचार करते समय कहा जा सकता है कि नगर एक जीवन-पद्धति है। शब्द 'urbane' जीवन की इस पद्धति को सूचित करता है। यह फैशनेबिल जीवन, वस्तुओं एवं व्यक्तियों की विस्तृत जानकारी एवं वाणी के राज-नीतिक ढंग को इंगित करता है। परन्तु क्या जीवन का नगरीय ढंग केवल नगरीय जनसंख्या तक ही सीमित है? जैसा हमें ज्ञात है, ग्रामीण व्यक्ति भी जीवन के नगरीय ढंगों के प्रभावाधीन आ गए हैं। ग्रामीण क्षेत्र भी जीवन-पद्धति में नगरीकृत हो सकते है, जबकि नगरीय समुदाय के सामाजिक लक्षणों एवं जनसांख्यिकीय लक्षणों में आकस्मिक सम्बन्ध हो सकता है। ऐसा सम्भव है कि कोई देश जन-सांख्यिकीय दृष्टि से नगरीय हो, परन्तु सामाजिक दृष्टि से अधिक ग्रामीण हो। उस देश की अपेक्षा जो जनसांख्यिकीय दृष्टि से अधिक ग्रामीण एवं सामाजिक दृष्टि से अधिक नगरीय हो। उदाहरणतया, चाईल (Chile) की जनसंख्या कनाडा

की अपेक्षा नगरों में अधिक निवास करती है, परन्तु इसके लोग कनाडावासियों से अधिक देहाती हैं ।

इस प्रकार, शब्द 'urban' की परिभाषा देना कठिन है । गिस्ट एवं हल्बर्ट (Gist and Halbert) ने लिखा है, "इस प्रकार, 'ग्रामीण' एवं 'नगरीय' के मध्य परिचित द्विविभाजन सामुदायिक जीवन के तत्वों पर आधारित विभाजन की अपेक्षा सैद्धान्तिक अवधारणा अधिक है ।"[1] बर्गेल (Bergel) ने लिखा है, "प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि नगर क्या होता है, परन्तु किसी ने भी संतोषपूर्ण परिभाषा नहीं दी है ।"[2] प्रत्येक देहात में नगर के कुछ तत्व वर्तमान होते हैं, जबकि प्रत्येक नगर देहातों के कुछ लक्षणों को अभिलक्षित करता है । जैसा मैकाइवर कहता है, "इन दोनों के मध्य कोई ऐसी सुस्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है, जो यह निश्चित कर सके कि नगर का अमुक बिन्दु पर अन्त होता है तथा देहात का अमुक बिन्दु पर आरम्भ होता है ।"[3]

२. नगरों का विकास
(The Growth of Cities)

गिस्ट एवं हल्बर्ट के शब्दों में, "सम्यता के उद्‌गम की भाँति नगर की उत्पत्ति भी भूत के अंधकार में खोई हुई है ।" प्रत्येक महान् सभ्यता में लोगों ने देहातों से नगरों में प्रवास किया है । प्रारम्भिक सभ्यताओं—मैसोपोटामियन, मिस्री, यूनानी एवं रोमन—का उत्थान एवं पतन उनके नगरों के विकास एवं ह्रास के साथ हुआ । नगरों के विकास में निम्नलिखित तत्व सहायक होते हैं—

(i) अधिक साधन (Surplus resources)—जहाँ के समाज या समूह में जीवन मात्र की आवश्यकताओं से अधिक साधनों पर अधिकार हो जाता है, वहाँ नगर का विकास होता है । प्राचीन काल में मनुष्य की शक्ति द्वारा मनुष्य पर विजय से ये साधन प्राप्त किए गए थे । दासता, बेगार अथवा शासक वर्ग द्वारा आरोपित करों पर नगरीय जीवन के विकास की आधारशिला रखी गई थी । आधुनिक काल में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाकर अपनी शक्ति का विकास कर लिया है । उसने प्रौद्योगिक प्रगतियों द्वारा प्राकृतिक साधनों का शोषण इस सीमा तक कर लिया है कि सापेक्षतया थोड़े से लोग अनेक व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं । प्रकृति पर मनुष्य की शक्ति का विस्तार, विशेषतः पश्चिमी देशों में, नगरों के आधुनिक विकास तथा बढ़ती हुई जनसंख्या की प्राथमिक स्थिति है ।

---

1 "Thus the familiar dichotomy between 'Rural' and 'Urban' is more of a theoretical concept than a division based upon the facts of community life."—Gist and Halbert, *Urban Society*, p. 3.

2. "Everybody seems to know what a city is, but not one has given a satisfactory definition".—Bergel *Urban Sociology*, p. 5.

3. "But between the two there is no sharp demarcation to tell where the city ends and country begins".—MacIver, *Society*, p. 313.

(ii) **औद्योगीकरण एवं वाणिज्यीकरण** (Industrialization and commercialization)—औद्योगिक क्रान्ति से सम्बद्ध उत्पादन की नई प्रविधियों द्वारा नगरीय विकास शीघ्रतर हो गया है। यन्त्रों के आविष्कार, वाष्प-शक्ति के विकास एवं औद्योगिक उद्यमों में अपार पूंजी के निवेश ने दीर्घकाय उद्योगों की स्थापना की, जिसने कर्मशाला के नवीन उत्पादन-केन्द्रों में प्रबल श्रमिक-समूहों का केन्द्रीयकरण कर दिया। अन्य व्यक्तियों के साथ कार्य करने तथा ऊँचे वेतन प्राप्त करने की इच्छा से मनुष्यों ने ग्रामीण कार्य-धन्धे छोड़कर औद्योगिक नगरों मे धारा के समान प्रवेश किया। इस प्रकार, भारत का इस्पात केन्द्र जमशेदपुर तथा शिकागो, लीवरपूल, मैन्चेस्टर, ग्लासगो संसार के महान् औद्योगिक नगर बन गए। यांत्रिक शक्ति के आविष्कार ने नगरों को नया रूप दिया। पहले लोगों का संकलन नदी-घाटियों में जहां भूमि उपजाऊ एव समतल होती थी, होता था, परन्तु आज यह संकलन कोयले एवं लोहे के स्रोतों के निकट पाया जाता है। वस्तुओं के उत्पादन में वैज्ञानिक साधनों एवं विद्युत् शक्ति अथवा ताप-इंजन द्वारा चालित मशीनरी के प्रयोग से जनसंख्या का एक-चौथाई भाग अन्य तीन-चौथाई की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, जबकि शताब्दी पूर्व तीन-चौथाई जनसंख्या एक-चौथाई लोगों की आवश्यकता को पूरा कर सकते थे।[1] अब शहरों के विकास का कृषिकर भूमि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहाँ औद्योगीकरण ने नगरीय विकास को शीघ्रतर बनाया है, व्यापार एवं वाणिज्य ने भी शहरी विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। प्राचीन सभ्यताओं में भी नगरों का विकास उन स्थानों पर हुआ, जहाँ माल का वितरण किया जाता था और वाणिज्य-सम्बन्धी सौदे किए जाते थे। इस प्रकार, एथेन्स, स्पार्टा, वेनिस, पाटलिपुत्र महान् व्यापारिक केन्द्र थे। आधुनिक समय में आधुनिक क्रय-विक्रय-सम्बन्धी संस्थानों एवं विनिमय की पद्धतियों के उत्थान ने नगरों के विकास को आगे बढ़ाया है। आजकल बड़े नगरों में व्यापारिक लेन-देन आमने-सामने होना आवश्यक नहीं है, परन्तु केवल यह तथ्य कि अधिकांश निवासी 'कागजी' उद्यमों में संलग्न हैं, नगरीय विकास को बढ़ाने में महत्वपूर्ण तत्व है।

(ii) **यातायात एवं संचार का विकास** (Development of transport and communication)—यातायात एवं संचार के साधनों के विकास एवं उससे प्राप्त सुविधाओं ने भी नगरों की वृद्धि में योगदान दिया है। औद्योगीकरण यातायात पर आश्रित है, ताकि कच्चा एवं निर्मित सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर भारी मात्रा में ले जाया जा सके। औद्योगिक नगर में यातायात एवं संचार के साधन अनिवार्यतः विकसित होते हैं। नगर न केवल देश के अन्य भागों एवं अन्य देशों के साथ सम्बद्ध हो जाता है, अपितु स्थानीय यातायात के विकसित साधनों के कारण नगर के विभिन्न भाग भी एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। जिस समय कारखाना-प्रणाली आरम्भ हुई, स्थानीय यातायात की अधिक सुविधाएँ नहीं थीं। श्रमिकों को फैक्टरी के समीप ही निवास करना पड़ता था जिसके परिणामस्वरूप घनी

1. MacIver, *Society*, p. 314.

बस्तियों की वृद्धि हुई। स्थानीय यातायात ने नगर की सीमाओं का विस्तार करके नगर की जनसंख्या में वृद्धि की। नगर को विभिन्न क्षेत्रों—बाजार-क्षेत्र, निवास क्षेत्र, श्रमिक-क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र आदि में विभक्त किया गया। प्रारम्भिक नगरों में स्थानीय यातायात के साधनो के अभाव के कारण इस प्रकार का प्राकृतिक विभाजन नहीं था। आधुनिक नगर एक ऐसा समुदाय है जो विभिन्न भागों मे विभेदीकृत हो गया है।

(iv) **नगर का आर्थिक आकर्षण** (Economic pull of the city)—नगर ग्राम की तुलना में वैयक्तिक उन्नति के अधिक अवसर प्रदान करते हैं। आधुनिक व्यापार एवं वाणिज्य नवयुवकों को नगर की ओर, जहाँ उन्हें अच्छे वेतन मिलते हैं, आकर्षित करते हैं। व्यक्ति नगरों मे इसलिए प्रवास नही करते कि उन्हे नगर में रहना पसन्द है, अपितु इसलिए कि उन्हें वहाँ अच्छे काम-धन्धे मिल सकते हैं। नगर में रोजगार की सुविधाएँ ग्राम की तुलना में अधिक होती हैं। व्यापारी भी नगर में अधिक लाभ अर्जित करने हेतु ग्राम छोड़ कर आ जाते हैं। जीवन-स्तर उन्नत हो जाने के कारण नगरो द्वारा आपूरित वस्तुओं की माँग अधिक हो जाती है। इस बढ़ती हुई माँग का अर्थ है कि नगरो में अधिक प्रतिशत व्यक्ति अपनी आजीविका पा सकते हैं। नगर में ही धार्मिक अथवा शैक्षणिक नेताओं को विशेष एवं उच्च मान प्राप्त होता है। संक्षेप मे, नगर में अधिक उपलब्धि एवं उच्चतर जीवन-स्तर की सम्भावनाएँ नगरीय विस्तार को सुलभ बना देती हैं।

(v) **शैक्षणिक एवं मनोरंजनात्मक सुविधाएँ** (Educational and recreational facilities)—कुछ समय पूर्व तक सभी उच्च विद्यालय नगरों में अवस्थित थे। नगर की प्राथमिक पाठशाला ग्राम की पाठशाला की तुलना में अधिक साधन-सम्पन्न होती है। अधिकाश प्रशिक्षण-संस्थाएँ, महाविद्यालय एवं प्रौद्योगिक संस्थाएँ नगरों में ही अवस्थित हैं। अधिकांश बड़े पुस्तकालय भी नगरों में हैं। कलाकेन्द्र एवं संग्रहालय भी नगरीय हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री भी अपने भाषण नगरों मे ही देते हैं। स्वाभाविकतया इन सभी सुविधाओं के कारण युवक एवं युवतियाँ उच्चतर शिक्षा हेतु नगरों की ओर आकर्षित होते हैं।

मनोरंजनात्मक सुविधाएँ भी नगरो में अधिक प्राप्य हैं। मनोरंजन हेतु थियेटर एवं नृत्यगृह नगरीय हैं। बच्चों एवं वयस्कों दोनों की भावनाओं को समान सम्मोहित करके ये साधन लोगों को नगर की ओर आकर्षित करते हैं।

३. नगरों का वर्गीकरण

(Classificatioh of Cities)

नगरों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। जिस्ट एवं हल्बर्ट (Gist and Halbert) ने प्रकार्यात्मक अवधारणा के आधार पर नगरों को छः

प्रकारों में विभक्त किया है—(i) उत्पादन-केन्द्र, यथा लोहा एवं इस्पात हेतु जमशेदपुर, वस्त्र-उद्योग के लिए अहमदाबाद, टोप के लिए डैनबरी, रबर के लिए अकरौन (Akron ; (ii) व्यापार एवं वाणिज्य केन्द्र, यथा न्यूयार्क, हैम्बर्ग, अम्स्टरडम, देहली, लुधियाना; (iii) राजनीतिक राजधानियाँ, यथा लन्दन, वाशिंगटन, देहली, चण्डीगढ़ ; (iv) सांस्कृतिक केन्द्र, यथा आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, शांतिनिकेतन, बनारस; (v) भ्रमण-केन्द्र, यथा मोंट कार्लो, पदम बीच, मंसूरी, शिमला, श्रीनगर; (vi) बहुविध नगर, जिनमे विभिन्न गतिविधियाँ होती हैं तथा जो किसी विशिष्ट गतिविधि के लिए प्रसिद्ध नहीं होते।

ई० ई० मुन्टज (E. E. Muntz) ने प्रमुख गतिविधि के आधार पर नगरों को वर्गीकृत किया है। इस आधार पर नगरों का वर्गीकरण निम्न लिखित है—

(i) प्रतिरक्षा नगर, जिनका निर्माण सुरक्षा हेतु किया गया था तथा जिनके चारो ओर ऊँची दीवारें हैं, यथा क्यूबेक, मैक्सिको एवं मनीला।

(ii) व्यापारिक नगर, यथा लंदन, न्यूयार्क, बम्बई।

(iii) औद्योगिक नगर, यथा मैसाचुसेट्स, जमशेदपुर, मैन्चेस्टर।

(iv) राजनीतिक नगर, यथा नई दिल्ली, चण्डीगढ़, वाशिंगटन, जहाँ शासकीय गतिविधियाँ केन्द्रित होती हैं।

(v) धार्मिक केन्द्र, यथा जरूसलेम एवं वैटिकन।

(vi) भ्रमण-केन्द्र, यथा मान्टे कार्लो, श्रीनगर।

उपर्युक्त दोनों वर्गीकरण नगरों के विभिन्न प्रकारों को विभेदीकृत करने के प्रयास हैं, परन्तु आजकल नगर किसी अकेली गतिविधि का नहीं, अपितु चार अथवा पाँच गतिविधियों का केन्द्र होता है। नगर में व्यापारिक, उत्पादक, राजनीतिक, शैक्षिक एवं भ्रमणात्मक सभी प्रकार की गतिविधियों का केन्द्र हो सकता है। चूँकि नगर में अनेक गतिविधियाँ होती हैं, अतएव उसकी जटिल समस्याएँ स्पष्ट ही हैं।

४. नगरीय समुदाय की विशेषताएँ
(Features of Urban Community)

(i) अनामकता (Namelessness)—बोगार्डस के अनुसार, नगरीय समूह अनामकता के लिए प्रसिद्ध हैं। अपने आकार एवं जनसंख्या की विशालता के कारण नगर प्राथमिक समूह नहीं बन सकता। नगरवासी एक-दूसरे के प्राथमिक संपर्क मे नहीं आते। वे एक-दूसरे के नाम को जाने बिना मिलते एवं वार्तालाप करते हैं। यद्यपि विनम्रता एवं पारस्परिक सुविधा के सतही आचरणों का नगर में विकास

होता है, तथापि वे कृत्रिम होते हैं। नगरवासी परदेशियों को जिनके सम्पर्क में वह आता है, मानव प्राणी न समझकर जीवित यंत्र समझता है। नागरिक नगर में कई वर्षों तक रहने के उपरांत भी उसी क्षेत्र में निवासित एक-तिहाई नगरवासियों तक के भी नाम नहीं जानता। नगरीय संसार विभिन्न परिचयों को बट्टा लगाता है। नगर में सम्पर्क भागिक होते हैं। यह व्यक्तियों का, समग्र व्यक्तियों का नहीं, भाग होता है। ली (Lee) का कथन है, "अनामकता लाखों व्यक्तियों के नगर में पहचान को समाप्त कर देती है। अनेक नगरवासी सामाजिक रिक्तता में निवास करते हैं। उनके सामाजिक व्यवहार को नियमित अथवा नियंत्रित करने वाले संस्थात्मक आदर्श नियम प्रभावी नहीं होते। यद्यपि वे अपने चारों ओर अनेक व्यक्तियों एवं अनेक संस्थागत सगठनों से परिचित होते हैं, तथापि वे किसी समूह अथवा समुदाय के प्रति अपनापन अनुभव नहीं करते। सामाजिक रूप मे वे प्रचुरता के मध्य निर्धन होते हैं।"[1]

(ii) मकानहीनता (Homelessness)—मकानहीनता नगर समुदाय की एक अन्य निराशाजनक विशेषता है। बड़े नगर में मकान की समस्या अति गंभीर होती है। अनेक निम्नजातीय व्यक्ति अपनी रातें सड़कों की पटरियों पर व्यतीत करते हैं। मध्यवर्गीय व्यक्तियों के पास केवल एक अथवा दो कमरों के मकान होते हैं और वे भी छठी-सातवीं मंजिल पर। बच्चों के लिए खेलने का कोई स्थान नहीं होता। नगर का वातावरण संतान-निरोध को बढ़ावा देता है।[2]

(iii) वर्ग-अतिवाद (Class extremes)—वर्ग-अतिवाद नगरीय समुदाय की विशेषता है। नगर में अति धनी एवं अति निर्धन, भव्य कोठियों में रहने वाले एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले तथा पटरियों पर सोने वाले, जिन्हें दो समय भरपेट भोजन भी नसीब नहीं होता, दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं। श्रेष्ठतम नैतिक व्यवहार एवं निम्नतम धोखाधड़ी दोनों नगर में पाए जाते हैं। उच्चकोटि की सृजनात्मकता एवं घोर बेरोजगारी दोनों ही नगरीय विशेषताएँ हैं। नगर विरोधी बातों का घर है।

(iv) सामाजिक विजातीयता (Social heterogeneity)—नगर ग्राम की अपेक्षा अधिक विजातीय होता है। यह "प्रजातियों, लोगों एवं संस्कृतियों का घुलन-स्थल रहा है तथा नई जैविक एवं सांस्कृतिक संकर जातियों का अति अनुकूल उत्पत्ति स्थल है। यह व्यक्तिगत भेदों को केवल मात्र सहन नहीं करता, अपितु परितोषित करता है। इसने लोगों को संसार के दूरस्थ भागों से इकट्ठे किया है, क्योंकि वे एक-दूसरे से भिन्न हैं, अतएव परस्पर-उपयोगी हैं, इसलिए नहीं कि वे सजातीय एवं समान विचारों वाले व्यक्ति हैं।" नगरीय समुदाय के सदस्यों के विचार, व्यवसाय, वैयक्तिक गुण एवं उनका सांस्कृतिक जीवन ग्रामवासियों की अपेक्षा अधिक विभिन्न होता है।

(v) सामाजिक दूरी (Social distance)—सामाजिक दूरी, अनामकता

1. Lee, Rose Hum, *The City*, p. 454.
2. Ibid.

एवं विजातीयता की उपज है। नगरवासी एकान्त अनुभव करता है। व्यक्ति की सच्ची भावनाओं पर मखौटा रहता है। अधिकांश सामाजिक संपर्क अवैयक्तिक एवं अर्द्ध होते हैं। औपचारिक विनम्रता सच्ची मित्रता का स्थान ले लेती है। नगरवासी पड़ोसी न होकर केवल रात्रिवासी होते हैं।

(vi) ऊर्जा एवं गति (Energy and speed)—ऊर्जा एवं गति नगर के अंतिम लक्षण हैं। आकांक्षी व्यक्ति दिन-रात परिश्रम करते हैं जिससे अन्य व्यक्तियों को भी समान गति से परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है। प्रेरणा एवं अन्त:प्रेरणा प्रभूत मात्रा में होती है। लोग अत्यधिक गतिविधियों में स्वयं को उलझा लेते हैं तथा अपनी शक्ति के बाहर कार्य करते हैं जो अन्ततः उनकी स्नायुयों को समाप्त कर देते हैं एवं उनकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। नगरीय जीवन ग्रामीण जीवन की तुलना में अधिक मानसिक तनाव उत्पन्न करता है। नगरों को जनसंख्या का संहारक कहा जा सकता है। नगरों की तंग एवं गंदी गलियाँ स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालती हैं। यह जानना रुचिकर होगा कि देहातों में मृत्यु का प्रतिशत नगरों की अपेक्षा कम होता है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में जन-स्वास्थ्य पर नगरों की अपेक्षा कम धन व्यय किया जाता है तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी वे सुविधाएँ प्राप्त नहीं होतीं जो नगरों में होती हैं। नगरों में रोग का प्रतिशत अधिक होता है। नगरीय समुदाय में ग्रामीण समुदाय की अपेक्षा हृदयाघात एवं मानसिक रोग के मामले अधिक संख्या में होते हैं।

५. भारत में नगर-समुदाय
(City community in India)

भारत में नगर प्राचीन काल से रहे हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास में अयोध्या, पाटलिपुत्र, मगध, तक्षशिला, उज्जयिनी आदि नगरों का उल्लेख आता है। शब्द 'पुर' जिसका मूल अर्थ 'किलेबंद स्थान' था, बाद में 'नगर' के लिए प्रयुक्त होने लगा। आजकल भी अनेक नगरों के नाम में 'पुर' शब्द प्रत्यय के रूप मे लगा हुआ है, यथा नागपुर, मनीपुर, मुजफ्फरपुर। परन्तु प्राचीन काल में नगरों की संख्या अधिक नहीं थी। नगरों का प्रशासन राजकीय अधिकारियों जिन्हें 'नागरक' कहते थे, द्वारा होता था। प्राचीन भारत में नगरों में स्थानीय स्वशासन का अभाव था।

औद्योगीकरण के साथ नगरों की संख्या में वृद्धि होने लगी। भारत में भी संसार के अन्य भागों की भाँति नगरों का विकास देहातों से लोगों के प्रवास द्वारा हुआ है। १९७१ की जनगणना के अनुसार, १०.९१ करोड़ अथवा २० प्रतिशत व्यक्ति नगरों एवं कस्बों में रहते हैं। नगर एवं कस्बे के बीच अन्तर केवल मात्रा का है। दोनों शब्दों को समान अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। १९२१ एवं १९७१ के मध्य नगरीकरण की प्रवृत्ति की ओर धीमी परन्तु निरन्तर वृद्धि हुई है, जैसा आगे दी गई तालिका से स्पष्ट है—

वर्ष	नगरी जनसंख्या का प्रतिशत
१९२१	११.२
१९३१	१२.०
१९४१	१३.९
१९५१	१७.३
१९६१	१८.०
१९७१	१९.९

यदि इस प्रतिशत की इंग्लैंड एवं अमेरिका की शहरी आबादी से तुलना की जाए तो मालूम होगा कि भारत मे शहरी आबादी अभी थोड़ी है। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति से पूर्व १५ प्रतिशत जनसंख्या नगरों में रहती थी जो १९३१ में ७१ प्रतिशत हो गई। अमेरिका मे १९५० में ६४ प्रतिशत आबादी शहरों मे रहती थी। भारत में १४७ नगर ऐसे हैं, जिनकी जनसंख्या एक लाख से अधिक है। अत्यधिक सघन नगर कलकत्ता, बम्बई, मद्रास एवं दिल्ली हैं।

६. नगरीय जीवन एवं ग्रामीण जीवन की तुलना

(Urban-Rural Contrast)

औद्योगिक युग की एक प्रमुख विशेषता नगरीय जीवन की वृद्धि है। प्राचीन काल मे अधिकतर व्यक्ति गाँवो मे रहते थे और कृषि करते थे। नगर थोड़े से थे और वे भी व्यापार, संस्कृति, शिक्षा अथवा सरकार के केन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। आज सभी औद्योगीकृत देशों में स्थिति उल्टा हो गई है। इंग्लैंड एवं अमेरिका में शहरी आबादी ग्रामीण की अपेक्षा निरन्तर बढ़ रही है। यातायात एवं संचार की नई सुविधाओं ने सहस्रों व्यक्तियों को एक-दूसरे के समीप ला दिया है जिससे वे विशाल सकलनों मे इकट्ठे मिलकर रहते हैं। नगरो की वृद्धि आधुनिक युग का विशिष्ट लक्षण है तथा जैसे-जैसे नगरो की वृद्धि होती जाती है, समाज के समग्र स्वरूप मे परिवर्तन आ जाता है।

शहरी एवं देहाती जीवन मे काफी अन्तर है, यद्यपि देहातो में बढ़ते हुए नगरीय प्रभाव के कारण यह अन्तर केवल मात्रा का अन्तर रह गया है, तथापि नगरीकरण के प्रभाव के बावजूद देहातों मे परम्परागत विशेषताएँ अब भी वर्तमान हैं जो नगरीय जीवन से स्पष्ट अन्तर कर देती हैं।

(१) परम्परागत लोकाचारों का प्रभाव (Force of traditional mores)—ग्रामीण समुदाय में नगरीय समुदाय की अपेक्षा परम्परागत लोकाचारों एवं पारिवारिक सुदृढता के बंधनों का अधिक शक्तिशाली प्रभाव है। बीसंज एव बीसंज (Biesanz and Biesanz) के अनुसार "देहाती समुदाय में प्रथा राजन है, लोकाचार एवं जनरीतियाँ अधिकाश व्यवहार को नियंत्रित करती हैं।" समूह-उत्तरदायित्व

की भावना, जो शहर के विकास के साथ कम होती जा रही है, ग्रामीण जीवन में अब भी वर्तमान है। देहाती परिवार का स्वरूप साधारणतया पितृसत्तात्मक है, जिसमे व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण परिवार की प्रस्थिति के आधार पर होता है। वैयक्तिक विद्रोह का प्रश्न ही नही उठता। परिवार ही निश्चित करता है कि व्यक्ति का विवाह कब एवं किसके साथ होगा। जीवन-साथी के चयन में कम स्वतंत्रता होती है। प्रेम-विवाह नगण्य है। न केवल विवाह अपितु धर्म, मनोरंजन, व्यवसाय भी पारिवारिक परम्पराओं के द्वारा निर्धारित होते हैं। सुस्थापित पारिवारिक परम्पराओं से कोई भी विचलन, विशेषतया यौन-सम्बन्धी मामलों में, अपराध समझा जाता है, जिसे सहन नही किया जाता। सभी नर-नारियों का जीवन पारिवारिक जीवन में निमग्न होता है। संक्षेप मे, परिवार ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति के जीवन को निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण समुदाय अत्यन्त लघु समुदाय है जिसमें रोटरी क्लब जैसी परोपकारी संस्था को चलाने के लिए साधन उपलब्ध नही होते। अतएव परिवार ही सहायता एवं सुरक्षा का एकमात्र संगठन है। ऐसे कार्यों के लिए कोई औपचारिक संगठन जिसका कोई प्रधान एवं सचिव हो, नही होता।

दूसरी ओर, नगरीय समुदाय मे पारिवारिक जीवन के बंधन नही होते। नगर का अनामिक स्वरूप नगरवासी को निकटस्थ सामाजिक नियंत्रण से मुक्त कर देता है। सामाजिक नियंत्रण विशिष्ट एजेन्सियों का कार्य बन जाता है। पारिवारिक नियंत्रण कम हो जाता है। पुलिस एवं न्यायालय, शिक्षक एव सामाजिक कार्यकर्ता परिवार के नियामक कार्यों को संभाल लेते हैं। पारिवारिक बंधन तोड़ कर स्वतंत्र विचरण करने वाले व्यक्ति को देहात मे श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं समझा जाता, जबकि नगर में ऐसे व्यक्ति के आचरण पर, यहाँ तक कि यौन-सम्बन्धी मामलों में भी, कोई ध्यान नही दिया जाता, अपितु वह सभ्य कहे जाने वाले व्यक्तियों के साथ उठता-बैठता है। यदि कोई व्यक्ति विवाह-सम्बन्धी प्रथाओं का उल्लंघन करता है तो नगरीय समुदाय जो अवैयक्तिक संसार है, उसका बहिष्कार नही करता। डेविस (Davis) के अनुसार, "वह अजनबी व्यक्तियों के संसार मे छिपकर किसी भी प्राथमिक समूह के दमनात्मक नियंत्रण से बच सकता है।" यह भी ध्यान रहे कि देहाती जीवन की अपेक्षा शहरी जीवन राज्य द्वारा अधिक नियंत्रित होता है। कूड़ा-करकट फेंकने जैसी साधारण क्रिया पर भी राजकीय नियंत्रण होता है। सरकार अनेक कार्य अपने हाथों मे ले लेती है जिनमें कुछ तो समुदाय के गृह-प्रबन्धकारी कार्य होते हैं। इस प्रकार, नगर में लोकाचारों एवं जनरीतियों पर उतनी निर्भरता नहीं होती, जितनी देहातो में होती है। दूसरे शब्दों में, नगर जितना बड़ा होगा, नियंत्रण की समस्या उतनी ही गंभीर होगी तथा गौण नियंत्रण की एजेन्सियों का रूप उतना ही जटिल होगा।

(२) **प्राथमिक संपर्क (Primary contacts)**—द्वितीय, ग्रामीण समुदाय मे सदस्यों के संपर्क प्राथमिक होते हैं। उनमे 'हम भावना' होती है। वे एक-दूसरे की सहायता करते हैं तथा एक-दूसरे के सुख-दुख मे भाग लेते हैं। देहात में प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से परिचित होते हैं। उनके सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं। ग्राहक अजनबी

न होकर चिरपरिचित व्यक्ति होते हैं । ऐसे सम्पर्कों के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसियों, उनकी गतिविधियों, मनोवृत्तियों एवं रुचियों के विषय में काफी परिचय प्राप्त कर लेता है। देहाती समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति की प्रस्थिति सुपरिचित होती है। लिखित संविदा का मौखिक वचन की अपेक्षा अधिक महत्व नहीं होता। ग्रामीण समुदाय में अपराध नगण्य होता है, क्योंकि देहात मे गोपनीयता कम होती है, अतएव चोरी की गई वस्तुओं का विक्रय अथवा उपयोग कठिन होता है। कार्य पारस्परिक सहमति पर होते हैं। दूसरी ओर, शहरी जीवन में निकटस्थता का कोई महत्व नहीं होता। नगरवासी एक-दूसरे से बहुत कम परिचित होते हैं। कभी-कभी तो वे अपने अगले पड़ोसी तक को भी नहीं जानते, उसकी गतिविधियों को प्रभावित करने का तो प्रश्न ही नहीं है। बम्बई-जैसे बड़े नगर में निचली मंजिल पर रहने वाले व्यक्ति दूसरी-तीसरी मंजिल पर रहने वाले व्यक्तियों को नहीं जानते। नगर में विमुखता एवं निर्दयता का वातावरण होता है। कलकत्ता जैसे बड़े नगर में एक व्यक्ति अपना सारा दिन सड़कों पर व्यतीत करने पर भी किसी परिचित व्यक्ति से नहीं मिल पाता, यद्यपि वह सैकड़ो व्यक्तियों को देखता है। मित्र भी किसी विशिष्ट संदर्भ एवं जीवन के विशिष्ट भाग में मित्र होते हैं। जिस्ट एवं हल्बर्ट (Gist and Halbert) के शब्दों में, "नगर वैयक्तिक सम्बन्धो की अपेक्षा अवैयक्तिक सम्बन्धों को प्रोत्साहित करता है।" अधिकाश सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होते हैं। ग्राम की अपेक्षा नगर मे प्रतियोगिता की गति अधिक तीव्र होती है।

(३) **सरलता एवं एकरूपता** (Simplicity and uniformity)—देहाती समुदाय में जीवन सरल एवं एकरूप होता है। वहाँ अत्यन्त महत्वाकांक्षी व्यक्ति कम होते हैं। उत्तेजना और सनसनी बहुत कम होती है। ग्रामवासी खेती-बारी एवं पशुपालन द्वारा एकरूप जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन-स्तर नगर-वासियों की तुलना मे निम्न होता है, क्योंकि उनकी आय के साधन सीमित होते हैं। वे भूमि को सर्वमहत्वपूर्ण देय समझते हैं। कृषि उनका प्रमुख व्यवसाय होता है। जब दमनकारी करों तथा अन्य कानूनों से भूमि के स्वामित्व को भय उत्पन्न होता है तो वे क्रातिकारी आदोलनो से सम्बद्ध हो जाते हैं, जैसा सोवियत रूस मे हुआ। नगरवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा होता है। वे ग्रामवासियो की अपेक्षा अधिक अपव्ययी होते हैं। ग्रामीण जीवन 'बचत' पर महत्व देता है, नगरीय जीवन व्यय पर। एक ही रात या दिन में अमीर का गरीब बन जाना अथवा गरीब का अमीर बन जाना देहातो में कम पाया जाता है। उद्यमी एवं साहसी व्यक्ति ग्रामीण समुदाय में नहीं पाए जाते। ग्रामीणवासियों का जीवन यथावत् चलता रहता है। नगरवासी प्रत्येक प्रकार की अति के प्रति उदासीन हो जाता है। वास्तव में, सार्वजनिक एवं निजी, स्पष्ट एवं गुप्त के बीच अन्तर नगर में बहुत अधिक होता है। नगर सार्वजनिक व्यवहार को नियमित करता है, निजी व्यवहार की ओर यह कोई ध्यान नहीं देता।

(४) **विशिष्टीकरण** (Specialization)—ग्रामीण एवं शहरी समुदाय के बीच अन्य अन्तर उत्पादन की विधियों के विषय से संबंधित है। ग्राम में, नियमा-

नुसार एक ही प्रकार का व्यवसाय, अर्थात् कृषि प्रमुख है। प्रत्येक परिवार अपना भोजन स्वयं बनाता है तथा अपने वस्त्र स्वयं धो लेता है, क्योंकि भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरण समान होता है। दूसरी ओर, नगर में अर्द्धनिपुण कार्यकर्ता, कुशल कारीगर, निपुण लेखक, यांत्रिकी, कलाकार, वित्तदाता, अध्यापक, समाज-सुधारक तथा अन्य अनेक सबके लिए स्थान है। यह विभिन्न धंधों में संलग्न व्यक्तियों का विजातीय समूह है। नगरीय कार्य इस सीमा तक विभाजित एवं उपविभाजित होते हैं कि गैर-कारीगरी श्रम का कार्य भी विशिष्टीकृत बन जाता है। नगरीय संसार में प्रवृत्ति स्पष्टतया विशिष्टीकृत कार्य के अधिक प्रतिशत की दिशा में है जिससे आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में विशिष्टीकृत संगठनों की संख्या बढ़ती जा रही है। नगरवासी अनेक संगठनों से सम्बद्ध हो जाते हैं। उनके सामाजिक सम्बन्ध अधिकांशतया अप्रत्यक्ष एवं गौण होते हैं। एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न संगठनों के सदस्य होते हैं, क्योंकि विभिन्न संगठनों की प्रथाएँ एवं प्रक्रियाएँ भिन्न होती हैं, अतएव भ्रम एवं दुर्भावना का सदा अवसर बना रहता है।

(५) **सभी के लिए उपयुक्त स्थान** (Proper placing of all)—विशिष्टीकृत कार्य के लिए चयन की प्रक्रिया नगर में सूक्ष्मतर होती है। प्रबन्धक वर्ग केवल उन्हीं व्यक्तियों का चयन करता है जो कार्य में विशिष्टीकृत होते हैं तथा प्रतियोगितात्मक स्तर से नीचे सभी व्यक्तियों को निर्दयता के साथ रद्द कर देते हैं। विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति को पदोन्नति के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी उपलब्धियों के आधार पर किया जाता है। नगर सभी व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार स्थान प्रदान करता हुआ पृथकीकृत कर देता है। यह धनिकों के लिए पब्लिक स्कूलों तथा निर्धनों के लिए प्राइवेट स्कूलों की व्यवस्था करता है। यह प्रारम्भिक, उच्चतर, प्रौद्योगिक, सांस्कृतिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के लिए भी विशिष्ट स्कूलों की स्थापना करता है। यह अपंगु, यथा बहरे एवं गूंगे व्यक्तियों के लिग भी अलग स्कूलों की व्यवस्था करता है।

(६) **सामाजिक गतिशीलता** (Social mobility)—नगर में सामाजिक गतिशीलता की आवश्यकता है, जिसे यह उन्नत करता है। यह प्रस्थिति के प्रदत्तीकरण की अपेक्षा उसके अर्जन पर अधिक महत्व देता है। नगरवासी अपने जीवन काल में अपनी प्रस्थिति को काफी मात्रा में ऊँचा अथवा नीचा बना सकता है। सामाजिक संस्तरीकरण में जातीय तत्व विद्यमान नहीं होता। प्रस्थिति व्यवसाय, गतिविधि के स्वरूप एवं तदर्थ योग्यता पर आश्रित होती है, न कि जन्म के सांयोगिक तत्व पर। देहात की अपेक्षा नगर में सामाजिक उन्नति की सम्भावना अधिक होती है। **सोरोकिन एवं जिमरमैन** (Sorokin and Zimmerman) का कथन है, "ग्रामीण समुदाय तालाब के शान्त जल के समान है जबकि शहरी समुदाय केतली के उबलते पानी के समान है। एक का लक्षण स्थिरता है तो दूसरे का गतिशीलता।"

(७) **विशिष्टीकरण का क्षेत्र** (Areas of specializatisn)—विशिष्टीकरण नगर की भौतिक संरचना में भी पाया जाता है। विभिन्न गतिविधियों के लिए विभिन्न क्षेत्रों को विभेदित कर दिया जाता है। पंजाब की राजधानी चण्डीगढ़ को विभिन्न सैक्टरों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक सैक्टर की अपनी विशि-

ष्टता है। पश्चिमी संसार में क्षेत्रों का विशिष्टीकरण भारत की अपेक्षा अधिक सीमा तक हुआ है। नगर के आकार, निवेशन एवं इसकी आवश्यकताओं के अनुसार नगर की संरचना एक-दूसरे से भिन्न होती है, परन्तु साधारणतया पश्चिमी संसार में प्रत्येक स्थान पर व्यापार की कार्यकारिता के, कम किरायेदार व निवासिक सघनता के, अस्थायी निवास-स्थान के, मध्यमवर्गीय निवास-स्थान के, औद्योगिक केन्द्रीयता आदि के मण्डलों में स्थान का सुस्पष्ट प्रभाग देखने में आता है।

(८) **स्त्रियों की दशा** (Position of women)—नगर के विशिष्टीकरण ने स्त्रियों के जीवन को भी प्रभावित किया है। १९५१ की जनगणना के अनुसार, *मद्रास में स्त्रियों की संख्या प्रत्येक एक हजार पुरुषों के पीछे ९२१,* हैदराबाद में ९८९, पूना में ८३३ थी जो १९४१ की संख्या से अधिक थी। यह इस तथ्य को निर्दिष्ट करता है कि नगर स्त्रियो के लिए अधिक अवसर प्रदान करता है। यदि सामाजिक जीवन मुख्यतया ग्रामीण जीवन रहता तो स्त्रियाँ केवल घर की चहारदीवारी के अन्दर ही बन्द रहती। औद्योगीकरण एवं विशिष्टीकरण ने स्त्रियो को कर्मशाला (फैक्टरी) में स्थान दिया है। उन्होंने विस्तृत जीवन मे प्रवेश किया है, जिसने उनकी मनोवृत्ति एव आदतो को बदल दिया है तथा उन्हें गृहस्थी की ऐकान्तिकता से मुक्त कर दिया है। **मैकाइवर** का कथन है, "नारियों का व्यक्तित्व-निर्माण शहरी जीवन द्वारा पोषित हुआ है तथा स्त्री-पुरुषों के बीच पारिणामिक मुक्त सम्बन्ध की पारस्परिकता का समाज की समूची रचना पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है *और चूंकि अब भी प्रक्रिया क्रियाशील है, अतः आगे भी पड़ता रहेगा।*"[1]

(९) **गुणों में विरोध** (Contrast of qualities)—नगरीय समुदाय व्यक्ति में ऐसे गुणो को उभाडता है जो ग्राम्य समुदाय से अपेक्षित गुणों के बीच स्पष्ट विरोध दिखाते है। ग्राम में जीवन के प्रति सुस्थिरता तथा अधिक गम्भीर व सशक्त निष्ठा की आवश्यकता होती है। ग्रामवासी भाग्यवादी होता है तथा प्रकृति के निरन्तर सम्पर्क मे रहता है। वह प्रकृति को व्यवहारककर्ता के रूप में देखता है, जिसे भूमि से अपनी आजीविका अर्जित करनी है। वह प्रकृति को मित्र एवं शत्रु, फसलों को पकाने वाली एवं वर्षा भेजने वाली, दोनों मानता है। प्रकृति की शक्तियाँ उसके नियन्त्रण से बाहर हैं। वह रीतियों में विश्वास करने लगता है तथा अन्धविश्वासी एवं धार्मिक बन जाता है। नगर मे परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रति अधिक जागरूकता तथा शीघ्रतर प्रतिचार की *आवश्यकता है। नगर*-वासी धार्मिक विश्वासों, जीवन-विधियों, रुचियों एवं विचारो के विषय में अधिक, सहनशील होता है। **बोगार्डस** (Boagrdus) के अनुसार, "ग्रामीण व्यक्ति निष्कपट स्पष्ट एवं सच्चे होते हैं, वे शहरी जीवन की कृत्रिमता एवं अन्य बातो से घृणा. करते हैं।"[2] नगर मे कानून की अवैयक्तिकता एवं फैशन की चपलता का शासन होता है। ग्रामीण समुदाय में आचार-संहिता स्थिर एवं कठोर होती है। संहिता का कोई भी उल्लघन कटु विराग तथा अधिक वैयक्तिक दारुण विपत्तियो को उत्पन्न करता है। ग्रामीण समुदाय में अधिक पारस्परिक सहायता होती है। किसी मकान के निर्माण, किसी भोज अथवा किसी रोगी की सुश्रूषा के अवसर पर

1. MacIver and Page, *Society*, p. 326
2. *Bogardus, Sociology, p. 153.*

पड़ोसी सहायता करते हैं। ग्राम में दयालुता का वातावरण होता है। लोग बहुधा एक-दूसरे से मिलते रहते हैं। शहरी समुदाय में कोई दृढ़ 'हम-भावना' नही होती। किसी सामान्य व्यवसाय की अनुपस्थिति तथा शहरी जीवन की अवैयक्तिकता ने नगरवासी की संलग्नताओं को संकीर्ण बनाकर समष्टि-समुदाय की एकात्म भावना से उसको विरक्त कर दिया है। शहरी सम्पर्कों के गौण एवं ऐच्छिक स्वरूप, अवसरों के आधिक्य; सामाजिक गतिशीलता इन सभी तत्वों ने व्यक्ति को स्वयं निर्णय लेने एवं अपने जीवन की योजना बनाने के लिए बाध्य कर दिया है। नगर व्यक्तित्व को दबाने की अपेक्षा उस पर बल देता है। नगर की प्रतियोगितात्मकता व्यक्ति को *अन्य प्रत्येक व्यक्ति का प्रतियोगी बना देती है; वह किसी विशेष* सम्बन्ध अथवा हित से बँधा नही रहता। वह एक नगर छोड़कर दूसरे नगर में जा बसता है और किसी प्रकार की हानि उठाए बिना जा बसता है, परन्तु ग्रामवासी जब अपने गाँव से उखड़ता है तो वह आँसू बहाता है।

(१०) **नगर, सम्पत्ति का घर है** (City, a home of wealth)—आर्थिक उन्नति एवं अवसरों की बहुलता नगर के सामान्य आकर्षण हैं। युवक एवं युवतियाँ ग्रामीण समुदाय को छोड़कर नगर की ओर भागते हैं, क्योंकि उन्हें वहाँ रोजगार एवं लाभ के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। परन्तु कभी-कभी ग्रामीण प्रवासी को नगर में आकर निराशा का भी सामना करना पड़ जाता है। अतएव काफी सोच-विचार के उपरान्त ही व्यक्ति को देहात छोड़कर नगर में आना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर ग्रामीण जीवन का शहरी जीवन से अन्तर किया गया है। नगर में "परस्पर-विरोधी परिस्थितियाँ पाई जाती हैं, भौतिक एकान्त के बजाय भीड़; अनेक प्रकार की समितियाँ जो परिवार के कार्यों अथवा संवर्गीय सम्बन्धो को अनुपूरित अथवा विस्थापित करती हैं; प्रकृति से सम्पर्क को दूर करने वाले मानव जीवों के साथ सम्पर्क एवं सभ्यता-सम्बन्धी विभिन्नता, आर्थिक वर्गों का विभेदीकरण एवं आर्थिक कार्यों का विशिष्टीकरण जो मनुष्यों को देहात में अपरिचित ढंगों से श्रेणीबद्ध करते हैं; सीमित एवं गहन कार्य, जिसमें अवसर एवं भाग्य की अनन्त विभिन्नताएँ एवं प्रकार ग्रामीण जनता को परम्परागत अपरिचित प्रतियोगात्मक जीवन की जटिल संरचना उत्पन्न करते हैं।"[1] परन्तु यह ध्यान रहे कि देहाती जनसंख्या के नगरीकरण ने ग्रामीण एवं नगरी समुदाय के अन्तरों को कम कर दिया है। ग्रामीण लोगों पर नगर का प्रभाव सामाजिक सगठन, पारिवारिक विघटन, भोजन की आदतों, जीवन-स्तर, वस्त्र-धारण, शृंगार, धर्म, रीतियों, विश्वासों आदि में देखा जा सकता है। ग्रामीण व्यक्ति जीवन के नगरीय ढंगो को अपना रहे हैं एवं जैसे-जैसे देहाती जीवन पर नगर का प्रभाव बढता जाता है, जीवन के ग्रामीण ढंग का लोप हो रहा है। जितनी शीघ्रता से देहातों को याता-यात एवं संचार के साधनो द्वारा शहरों से मिलाया जाएगा, उतना ही तीव्र प्रभाव नगर का देहातों पर पड़ेगा। इसका अन्ततः परिणाम ग्रामवासियों का जीवन के शहरी ढंग मे समंजन हो सकता है, जिससे ग्रामवासियो एवं नगरवासियो के मध्य मनोवृत्यात्मक एवं अन्य सांस्कृतिक अन्तर समाप्त हो जाएँगे।

---

1. Bogardus, *Sociology*, p. 320.

७. नगरीय जीवन का मूल्यांकन
(Evaluation of City Life)

शहरी जीवन का अन्धकार पक्ष (Dark side of urban life)—औद्योगिक सभ्यता से पूर्व शहरी जीवन को विशेषाधिकार के रूप में समझा जाता था जो केवल कुछ भाग्यशाली व्यक्तियों को ही प्राप्त था। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् नगरों को निराशा एवं घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। बड़े नगर की तीव्र एवं ओजपूर्ण आलोचना राबर्ट सिन्क्लेयर (*Robert Sinclair*) द्वारा की गई है। उसके अनुसार, बड़ा शहर एक प्रवंचना है, यह लोगों को अपने सांस्कृतिक एवं नेतृत्व के गुणों का झूठा विश्वास दिलाता है। वह लन्दन को "साहस का क्षेत्र, देवी का बच्चा, राष्ट्रों की माता—झूठा, अत्याचारी, रंगीला, अकिंचन एवं प्रादेशिक भावनाओं से परिपूर्ण पाखण्डी कहता है।"[1] आर्थर ई० मोर्गन (Arthur E. Moryan) ने बतलाया है कि अमेरिकन शहर किस प्रकार सम्पूर्ण अमेरिका की सर्वोत्तम जनसंख्या को अपनी ओर आकर्षित करता है, जिनके पारिवारिक जीवन को यह बाद में नष्ट कर देता है।[2] स्पेंग्लर (Spengler) ने नगर का अत्यन्त निराशावादी चित्र प्रस्तुत किया है। उसके मतानुसार, नगर निम्नलिखित स्तरों से गुजरता है। प्रत्येक स्तर का उपयुक्त नाम है—यथा, 'योपोलिस' (Eopolis) अथवा प्रारम्भिक नगर, *'पोलिस' (Polis) अथवा सामान्य नगर, 'मैट्रोपोलिस' (Metropolis) अथवा* 'मेगलोपोलिस' (Meglopolis) अथवा सट्टावादी नगर, 'टिरन्नोपोलिस' (Tyrannopolis) अथवा नृशंस नगर, एवं 'नेक्रोपोलिस' (Necropolis) अथवा मरणशील नगर।[3] ममफोर्ड लेविस (Mumford Lewis) के अनुसार, महान् नगर में प्रलय-जैसी संभावनाएं होती हैं। यह नातेदारी परिवार, रक्त एवं राष्ट्र के बंधन को नष्ट कर देता है तथा प्रतियोगात्मक तत्व पर अधिक बल देकर विघटनकारी मनोवृत्तियों को पोषित करता है। "भाग्य का चक्र अपने अन्त तक ढुलक जाता है, नगर का जन्म अपने मरण को समावेशित कर लेता है।"[4]

संक्षेप में, शहरी जीवन के दोष हैं—प्राथमिक सम्बन्धों का अभाव, व्यक्तिवाद का प्राबल्य, सामुदायिक भावना की अनुपस्थिति, पारिवारिक जीवन की अनुपस्थिति, निम्न नैतिकता, व्यक्तित्व के एकांगी पक्ष का विकास, सामाजिक विघटन एवं यांत्रिक जीवन।

उज्ज्वल पक्ष (*Bright side*)—*परन्तु शहरी जीवन का उज्ज्वल पक्ष भी* है। नगर में जीवन को सुखमय एवं आनन्दपूर्ण बनाने के साधन सुलभ होते हैं। नगर नए विचारों एवं नवीन आविष्कारों को जन्म देता है। यह सांस्कृतिक बहुलता

1. Bogardus, *Sociology*, p. 145.
2. Ibid.
3. Spengler, O. *Decline of the West*, p. 66.
4. Spengler, O. *Decline of the West*..

प्रदान करता है। यह विभिन्न विशिष्टीकृत एजेन्सियों के माध्यम से नगरवासियों के मध्य सामाजिक सम्पर्कों को विशालतर बनाता है तथा सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाता है। यह महत्वाकांक्षी व्यक्तियों को अपनी योग्यताओं का प्रदर्शन करने हेतु पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। इसने स्त्रियों को गृहस्थी की एकान्तता से मुक्त कर दिया है। नगरों में ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा वैयक्तिक उन्नति के अधिक अवसर उपलब्ध हैं। नगर अपने वासियों को उच्च प्रस्थिति एवं श्रेष्ठ शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करता है। मैकाइवर ने समाजशास्त्रीय आधार पर नगर के लाभों का वर्णन करते हुए लिखा है, "जहाँ ग्रामीण समुदाय ही सर्वमात्र समुदाय है, इसकी विलगता अज्ञानता एवं विचारों की संकीर्णता पर आधारित होती है, इसकी भावनात्मक दुर्बलता बौद्धिक दुर्बलता के साथ चलती है, इसके सदस्य परम्पराओं के दास, आत्म-मोह के शिकार हो जाते हैं। दरवाजों को चौड़े किए बिना, दीवारों को तोड़े बिना कोई उन्नति संभव नहीं है। नगर में सामुदायिक जीवन विशालतर होता है, यहाँ न केवल अधिक उन्नत सभ्यता, अपितु विस्तृत संस्कृति की स्वतंत्रता भी होती है।"[1]

यह भी ध्यान रहे कि नगर के सामाजिक प्रभाव स्वयं नगर से विशालतर होते हैं। नगरीकरण ने ग्रामीण जनता को प्रभावित किया है। अनेक नगरीय लक्षणों ने ग्रामीण समुदाय में प्रवेश किया है। नगर और देहात के मध्य भौतिक दूरी कम हो जाने से नगरों का सामाजिक प्रभाव देहातों में विस्तृत हो गया है। नगर-देहात विभक्तीकरण शीघ्र दूर होते जा रहे हैं। राष्ट्रीय जीवन को ग्रामीण अथवा नगरीय कहना अर्थहीन है। नगरों का प्रभाव देहातों पर बढ़ रहा है जबकि ग्रामीण लक्षण नगरों में भी देखे जा सकते हैं।

उचित समंजन की आवश्यकता (Need for proper adjustment)—नगर बनाम देहात के प्रश्न का वस्तुगत दृष्टि से अध्ययन किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम, जिस देहात अथवा नगर का हमें अध्ययन करना है, उसके प्रकार एवं ऐतिहासिक काल का निश्चय कर लेना चाहिए, क्योंकि उनके द्वारा उत्पन्न समस्याएँ परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ बदल जाती हैं। औद्योगिक युग के नगर का स्वरूप प्राचीन अथवा मध्ययुगीन युग के नगर से भिन्न है। औद्योगिक क्रांति ने नगर की अनेक जटिल समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। नगरीय संस्कृति के विभिन्न अंग अच्छी प्रकार सम्बद्ध नहीं हैं। नगरों की वृद्धि तथा उनमें परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हुए हैं कि पुरुष एवं स्त्री अभी तक स्वयं को नए औद्योगिक नगरीय जीवन के प्रति अनुकूलित नहीं कर सके हैं। इसके अतिरिक्त, नगरीय

1. MacIver, *Community*, p. 260.

जीवन के सर्वांगीण प्रभावों का समकालीन समाज में ग्रामीण-नगरीय अंतरों द्वारा मापन नहीं किया जा सकता, क्योंकि तुलना के दोनों पक्ष नगरीय प्रभाव को प्रकट करते हैं। साधारणतया जिसे हम नगर की देन कहते हैं, हो सकता है उस पर नगर का कोई प्रभाव न हो। सामाजिक प्रभाव जिन्हें हम नगर के कारण मानते हैं, वास्तव में अन्य तत्वों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव किसी नियोजन से पूर्व नगरीय प्रभावों की समस्या की सतर्क शोध आवश्यक है। आज आवश्यकता नगरों की जनसंख्या को कम करने की नहीं है, अपितु नगरीय पर्यावरण को ग्राम-प्रवासियों की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने की है। आधुनिक प्रवृत्ति नगरों के आकार एवं उनकी संख्या में वृद्धि की ओर है। भावी वर्षों में नगरों पर जनसंख्या का भार और अधिक बढ़ेगा, क्योंकि वे लाखों व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने वाली गतिविधियों के विकास के केन्द्र हैं। प्रत्येक स्थान पर ग्रामीण की तुलना में नगरी जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। प्रत्येक स्थान पर नगर ही जीवन के प्रतिमान को निश्चित कर रहा है तथा विसरण का प्रमुख केन्द्र बन रहा है। नगरों के द्रुत विकास ने कुछ समस्याओं को जन्म दिया है। औद्योगिक नगर में लोगों का बड़ी भारी मात्रा में संकलन, मकानों की कमी, यातायात के द्रुतगामी साधनों के विकास एवं युद्ध-सम्बन्धी वैज्ञानिक आविष्कारों से उत्पन्न नगरीय जीवन के खतरे, अस्वास्थ्यकर वातावरण, इन सभी समस्याओं का आधुनिक नगरवासी को पर्याप्त सावधानी एवं कुशलता से सामना करना है। विकसित एवं परिवर्तनशील नगरों के द्वारा उत्पन्न दबावों के समाधान-हेतु विशाल धनराशि की आवश्यकता है। वाहनों के भीड़-भरी सड़कों पर आने-जाने से उत्पन्न दुर्घटनाओं को रोकने के लिए भू-गर्भ-यातायात की सुविधाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए। गलियों में निजी स्वचालित वाहनों का आना-जाना रोक दिया जाना चाहिए। गली के तल से नीचे गाड़ियों को खड़ा करने के स्थान बनाए जाने चाहिए।

मानवी सभ्यता के विकास में नगर अत्यन्त शक्तिशाली तत्व है। यह परम्परावादी एवं गतिहीन देहात का गतिशील प्रतिरूप है। यह समाज की सकारात्मक सेवा कर सकता है। नगरी जीवन की कठिनाइयों एवं बुराइयों के बावजूद लोग नगरों की ओर आ रहे हैं। नगरों की संख्या कम होने की अपेक्षा बढ़ रही है। नगरों को 'सभ्यता के पतन' की ओर बढ़ने से रोका जा सकता है। अतएव, नगर की भौतिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु तथा इसे ग्रामीण समुदाय का भिन्न एवं अनुपूरक बनाने के लिए नगर-नियोजन एवं कुशल प्रशासन की आवश्यकता है।

नगर का भविष्य (Future of the city)—जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, आधुनिक प्रवृत्ति नगरीकरण की ओर है। संसार प्रदेश एवं सामाजिक दृष्टिकोण

से अधिक से अधिक नगरीकृत बनता जा रहा है। अधिक से अधिक व्यक्ति नगरों में प्रवेश कर रहे हैं तथा नगरीय जीवन ग्रामवासियों के भी जीवन-ढंग को प्रभावित कर रहा है। आधुनिक संसार में नगरीकरण के द्रुत विकास से उत्पन्न दो प्रश्न हमारे सम्मुख हैं—प्रथम, सपूर्ण ससार किस सीमा तक नगरीकृत बन सकता है ? द्वितीय, इसका मानव-समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?

यह संभव प्रतीत नहीं होता कि नगरों की वृद्धि अनिश्चित काल तक चलती रहेगी। कुछ बड़े नगरों में जनसंख्या की वृद्धि साधारणतया रुक गई है। नगरों का विकास देहातों से जनसंख्या निकालकर ही हो सकता है। यदि वर्तमान नगरो का विकास शीघ्र ही बन्द नहीं होता तो देहात खाली हो जायेंगे तथा हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जायेंगे, जहाँ हम सभी एक ही विशाल नगर में रह रहे होगे। परन्तु यह बिन्दु अभी बहुत दूर है। संसार अभी तक अत्यधिक रूप मे ग्रामीण है, अतएव यह नगरीकरण की ओर अग्रसर होता रहेगा। वह संतृप्ति कब आएगी, जिसके परे नगरीकरण बन्द हो जाएगा, यह बतलाना कठिन है। परन्तु इतना अवश्य संभव दिखाई देता है कि संपूर्ण संसार नगरीकरण की उस अवस्था को अन्ततः प्राप्त कर लेगा, जिसे अभी तक केवल कुछेक प्रगतिशील औद्योगिक राष्ट्रों ने प्राप्त किया है। परिणामतः, यह सम्भव है कि अन्ततः संसार की ७५ प्रतिशत जनसंख्या नगरों में रहने लगे।

जब ससार की ७५ प्रतिशत जनसंख्या नगरो में निवास करने लगेगी तो मानव-समाज पर नगरीकरण का क्या प्रभाव होगा, इसका उत्तर स्पष्ट नहीं है। क्या वह समाज अधिक स्थिर होगा अथवा टूट जाएगा ? अनामकता, अवैयक्तिकता, विशिष्टीकरण, विकृतीकरण, नगरीय जीवन की विशेषताओं का भावी नगरीकृत मानव-समाज पर क्या प्रभाव होगा ? क्या उच्च शिक्षित, वैज्ञानिकतया प्रशिक्षित, व्यक्तिवादी अभिमुखी लोग लोकाचारों के सामान्य समूह एवं मूल्यों को सामान्य प्रणाली से परस्पर सम्बद्ध अनुभव करेंगे ? संभवतः वे ऐसा करेंगे। परन्तु प्रत्येक अवस्था में पूर्णतया नगरीकृत संसार की सामाजिक संरचना अभी तक हमें ज्ञात किसी संरचना से अत्यधिक भिन्न होगी।

८. प्रादेशिक समुदाय
(The Regional Community)

प्रदेश का अर्थ (What is a region)—अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई प्रादेशिक क्षेत्र है। प्रदेश एक ऐसा विशाल क्षेत्र है, जहाँ निवासियों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, "प्रदेश एक ऐसा क्षेत्र है, जिसके अंदर रहने वाले लोग एवं विभिन्न समुदाय अधिक अन्तःनिर्भर हैं, अपेक्षाकृत अन्य क्षेत्रों के लोगों के साथ।"[1] प्रदेश की सीमाओं का राज्य अथवा

1. "Region is an area within which the people and the different constituent communities conspicuously more inter-dependent than they are with people of other areas."—Lundbery, *Sociology*, p. 141.

राष्ट्रीय सीमाओं के साथ मेल हो सकता है या नहीं, यह प्रायः ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों को एक इकाई में संयुक्त करता है। जैसा हमने ऊपर अध्ययन किया है, ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय एक-दूसरे से पृथक् या ,विरोधी समुदाय नहीं हैं। इनमें दोनों प्रकार के समुदाय एवं मानव-पर्यावरण सम्मिलित हैं। जिस प्रकार, यातायात एवं संचार के उन्नत साधनों द्वारा ग्रामवासी एक-दूसरे के समीप आ रहे हैं, उसी प्रकार देहात एवं नगर के पर्यावरण विशाल क्षेत्रों में रहने वाले सभी लोगों की सामान्य अधिकृति बन रहे हैं। इन विशाल क्षेत्रों, जो नगर एवं देहात के समान रूप से घर हैं, को प्रदेश कहते हैं।

प्रदेशवाद (Regionalism)—प्रदेश की सामुदायिक भावना को प्रदेशवाद कहा जाता है। प्रदेशवाद एव वर्गवाद मे अंतर है। पूर्वोक्त में अधिक विशाल समुदाय के पूर्णांकित सम्बन्ध निहित होते हैं, जबकि उत्तरोक्त से पृथक्करण, विलगाव एवं एकान्त का बोध होता है। वर्गवाद स्थानीय हितों एवं ऐतिहासिक भावना के प्रति संकुचित भक्ति होता है। प्रदेशवाद मनुष्य में अपने सहयोगियों एवं भू-खण्ड के प्रति एकता की भावना उत्पन्न करता है। इसमें सांस्कृतिक समग्रता निहित होती है। प्रदेश के लोगों की मनोवृत्तियां उद्दीपन, सम्बन्ध एवं विकास की विशाल 'इकाई की ओर अभिमुख होती हैं। इसमें आर्थिक एवं सामाजिक क्रिया की एकता सम्मिलित होती है। एक आर्थिक एवं सामाजिक इकाई के रूप में प्रदेश को विस्तृत रूप में आधारित नेतृत्व की आवश्यकता होती है, ताकि यह वर्गवाद का रूप धारण न कर ले। प्रदेशवाद का एक मौलिक लक्ष्य ग्रामीण सभ्यता एवं नगरीय सभ्यता का एकीकरण है। प्रदेशवादी का लक्ष्य एक समेकित विशाल समुदाय का विकास करना है, जिसमें देहात एवं नगर प्रत्येक का समुचित स्थान होता है, तथा अंशदान है। वह ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक पिछड़ेपन एवं एकान्त का निराकरण तथा नगरी जीवन की *अवैयक्तिकता* एवं *संजाति-केन्द्रीयता* का उन्मूलन करना चाहता है।

प्रत्येक प्रदेश एक ऐसी स्थानीयता है जिसकी अपनी निर्दिष्ट भौगोलिक प्रकृति—मिट्टी, पेड़-पौधे, जलवायु, कृषि तथा प्राविधिक उपयोग के सामान्य गुण—होती है। यह प्रदेश की भौगोलिक आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, *प्रदेश* सामाजिक जीवन का एक समेकित क्षेत्र है तथा इस रूप में वह अपने विभिन्न भागों के बीच गतिशील संतुलन की समानावस्था को प्रदर्शित करता है। इसका अर्थ है कि *प्रदेश के किसी भाग में प्रस्तुत प्राविधिक अथवा सामाजिक परिवर्तन प्रत्यक्ष अथवा* अप्रत्यक्ष रूप से समूचे प्रदेश में परिवर्तन उपस्थित करेंगे। प्रदेश एक विशाल समुदाय है जिसमें नगरीय एवं ग्रामीण, औद्योगिक एवं कृषिकर, विविध प्रकार के हितों एवं कार्य-व्यापारों का समावेशन होता है, ताकि संतुलन बना रहे। प्रदेश एक संतुलित एवं समेकित समुदाय होना चाहिए। प्रदेश, यह ध्यान रहे, राजनीतिक क्षेत्र नहीं है। वास्तव में, राजनीतिक सीमाएँ प्रादेशिक विकास के लिए बाधक होती हैं।

प्रदेशों के प्रकार (*Type of Regions*)

ओडम एवं **मूर** (Odum and Moore) ने पाँच प्रकार के प्रदेशों में अंतर किया है—

(i) प्राकृतिक प्रदेश जो भोगोलिक लक्षणों द्वारा पृथकित होता है। एक विशाल नदी घाटी प्राकृतिक प्रदेश का उदाहरण है।

(ii) नगरीय प्रदेश एक विशाल नगर होता है जिसकी अनेक बस्तियाँ होती हैं और जिसमे व्यापारिक गतिविधियाँ नगर में होती हैं।

(iii) वर्गीय प्रदेश में विशेष प्रकार की जनरीतियाँ प्रचलित होती हैं।

(iv) प्रशासकीय प्रदेश सुविधा अथवा संयोग अथवा राजनीतिक नियोजन द्वारा निर्धारित राजनीतिक सीमाओं से प्रशासित होता है।

(v) राज्यो का सामासिक प्रदेश, जिसमें प्रायः भौतिक सादृश्य, सजातीयता एवं सांस्कृतिक एकरूपता पाई जाती है।

भारत में प्रदेश (Regions in India)—राज्य पुनर्गठन अधिनियम, १९५६ के अधीन भारत को निम्नलिखित पाँच मण्डलो मे विभाजित किया गया था—

(i) उत्तरी मंडल जिसमें जम्मू एवं कश्मीर, पंजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश एव दिल्ली सम्मिलित हैं।

(ii) पश्चिमी मंडल जिसमे महाराष्ट्र एवं गुजरात हैं।

(iii) दक्षिणी मंडल जिसमें मद्रास, मैसूर एवं केरल है।

(iv) केन्द्रीय मडल जिसमे आंध्र प्रदेश एवं मध्य प्रदेश हैं।

(v) पूर्वी मंडल जिसमे आसाम, बिहार, उड़ीसा एव पश्चिमी बगाल हैं।

इन मंडलों की स्थापना पारस्परिक हित के आर्थिक एव अन्य विषयों पर विचार-विमर्श हेतु की गई है। परन्तु किसी मडल के विभिन्न भागों में कोई सामुदायिक जीवन नहीं पाया जाता। मंडल के अंदर प्रत्येक राज्य की अपनी भाषा है, अपनी परम्पराएँ हैं तथा अपनी सामाजिक समस्याएँ हैं। इस देश मे भौगोलिक तत्वों, औद्योगिक एवं कृषिकारी प्रविधियों, भोजन की आदतो, जीवन-स्तर एवं राष्ट्रीयता से संबंधित अन्तर पाए जाते हैं जो समेकित प्रदेशों, जिसके लिए हितों की अधिक संपूर्ण एकता की आवश्यकता है, के विकास मे अनेक कठिनाइयाँ प्रस्तुत करते हैं।

प्रश्न

१. उन तत्वों का वर्णन कीजिए जिन्होंने नगर के विकास में योगदान किया है।

२. शहरी एव ग्रामीण जीवन के बीच तुलना कीजिए।

३. "सभ्यता के विकास में नगर सर्वशक्तिशाली तत्व रहा है"—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

४. विशिष्ट नगरीय मनोवृत्तियों का वर्णन कीजिए तथा समाज के स्वरूप पर नगरीय जीवन के प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

५. 'प्रादेशिक समुदाय' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय २९

राष्ट्रीय समुदाय

[THE NATION COMMUNITY]

आधुनिक समय में राष्ट्र सबसे बड़ा प्रभावी समुदाय है। यद्यपि आज अनेक अंतर्राष्ट्रीय समितियाँ, यथा संयुक्त राष्ट्र संघ, हैं परन्तु कोई भी अंतर्राष्ट्रीय समुदाय प्रभावी नहीं है। वर्तमान समय में राष्ट्र ही सबसे बड़ा समुदाय है जिसमें समान प्रकार की सामान्य चेतना पाई जाती है।

१. राष्ट्र का अर्थ

(What is Nation)

'राष्ट्र' शब्द के अर्थ एवं प्रयोग के बारे में पर्याप्त शिथिलता मिलती है। कुछ लेखक इसे 'राज्य' का पर्यायवाची मानते हैं। उनका कथन है कि राज्य के लोग राष्ट्र का निर्माण करते हैं। अधिक सतर्क लेखकों ने ऐसा सरल सामान्यीकरण नहीं किया है। उन लेखकों में जो राष्ट्र को स्पष्टतया ऐतिहासिक परिघटना मानते हैं, हंस कोहन (Hans Kohn), अर्नेस्ट रेनन (Ernest Renon), फ्रेडरिक हर्ट्ज (Fredrick Hertz), एफ० एल० शूमैन (F.L. Schuman), कार्ल मार्क्स (Karl Marx), एंजिल्स (Engels), लेनिन (Lenin) एवं स्टालिन (Stalin) के नाम प्रमुख हैं। डा० ताराचन्द ने भी अपनी पुस्तक 'Histroy of the Freedom Movement in India' में यही दृष्टिकोण लिया है। इन सभी लेखकों एवं विचारकों का मत है कि राष्ट्र एक ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय परिघटना है तथा इसका विकास दास एवं सामन्ती समाजों के विघटन के बाद विभिन्न प्रजातीय एवं नातेदारी समूहों के मिश्रण से हुआ। इस विषय पर भी सामान्य सहमति है कि राष्ट्र प्रजातीय, जनजातीय अथवा लोगों के धार्मिक समूह से भिन्न प्रदेशीय समुदाय है।

वस्तुपरक तत्व (Objective Factors)

लेखकों ने सामान्य रूप से कुछ ऐसे वस्तुपरक तत्वों का वर्णन किया है, जिनकी उपस्थिति राष्ट्र का विकास करने में सहायक होती है। परन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि इनमें से कोई भी तत्व राष्ट्र के निर्माण के लिए पूर्णतः अनिवार्य नहीं है। इनमें से महत्वपूर्ण तत्व हैं—भाषा की समानता, भौगोलिक समीपता, सामान्य आर्थिक बंधन, सामान्य इतिहास एवं परम्पराएँ। परन्तु इनके बारे में भी सहमति नहीं है। मैकाइवर का कथन है कि कदाचित् ही कोई दो राष्ट्र ऐसे हों जो समान वस्तुपरक तत्वों पर आधारित हैं।

(i) प्रजाति एवं नातेदारी (Race and tinship)—जबकि इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि प्रजाति एवं नातेदारी की एकता लोगों को

परस्पर संयुक्त करने में सहायता करती है, इसे अपरिहार्य वस्तुपरक तत्व समझना गलत होगा। रेनन (Renan) का कथन है, "कोई भी प्रजाति विशुद्ध नहीं है।" फ्रेडरिक एल० शूमैन ने भी बतलाया कि यदि किसी काल में विशुद्ध प्रजातियाँ वर्तमान थीं तो वे प्रवासों, युद्धों, विजयों, यात्राओं, अन्तर्विवाहों के कारण जो सहस्रों वर्षों से विशाल स्तर पर हो रहे हैं, समाप्त हो गई हैं। सभी आधुनिक राष्ट्रों का निर्माण विभिन्न प्रजातीय एवं जनजातीय समूहों के लोगों द्वारा हुआ है।

(ii) धर्म की समानता (Community of religion)—इस तथ्य, कि धर्म की समानता ने भूतकाल में लोगों को इकट्ठा रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा यह शक्तिशाली बंधनकारी तत्व रहा है, को स्वीकार करने के बाद भी इसे अपरिहार्य वस्तुपरक तत्व नहीं माना जा सकता। जैसा पूर्व ही निर्दिष्ट किया गया है, आधुनिक राष्ट्र प्रदेशीय समुदाय है। इसमें सभी धार्मिक विश्वासों एवं प्रजातियों के लोग सम्मिलित होते हैं जो एक ही भू-प्रदेश पर स्थायी रूप से निवास करते हैं। प्रजातंत्र एवं धर्म-निरपेक्षता के इस युग में धर्म की समानता को राष्ट्र-निर्माण का अपरिहार्य वस्तुपरक तत्व मानना धर्मान्धता एवं धार्मिक उत्पीड़न को प्रोत्साहित करना होगा जो धर्म-निरपेक्ष प्रजातंत्र की नींव को खोखला कर देगा।

(iii) भाषा की समानता (Community of language)—अनेक लेखक एवं विचारक सामान्य भाषा को राष्ट्र-निर्माण का आवश्यक तत्व समझते है। हर्डर एवं फिश्ते (Herder and Fichte) इसके महत्व पर बल देने वाले सर्वप्रथम लेखक थे। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, "राष्ट्र एवं भाषा के मध्य निकटस्थ समीपता है। भाषा केवल शब्द नहीं है। प्रत्येक शब्द का सम्बन्ध हमारी भावनाओं के साथ होता है जिसके द्वारा हमारे विचार उद्भूत होते हैं। आप इन भावनाओं एवं विचारों के संभागी उस समय तक नहीं बन सकते, जब तक आपके पास उन्हें खोलने के लिए भाषा की कुंजी न हो।" शूमैन (Shuman) का भी कथन है कि "भाषा व्यक्ति के सांस्कृतिक पर्यावरण का सर्वोत्तम दर्पण है।" वह कहता है कि "अधिकांश राष्ट्र इस कारण राष्ट्र नहीं हैं कि वे राजनीतिक रूप से स्वतंत्र एवं सामाजिक रूप से संयुक्त लोग हैं, परन्तु इस कारण हैं कि उनके लोग समान भाषा का प्रयोग करते हैं जो अन्य राष्ट्रों की भाषा से भिन्न है।" अन्य लेखक जिन्होंने राष्ट्र-निर्माण के लिए भाषा की एकता पर बल दिया है, वे हैं रैम्जे म्यूर, हंस कोहन, स्टालिन, आदि। परन्तु जो इस विचार से सहमत नहीं हैं, वे यूनाइटेड किंगडम एवं स्विट्जरलैंड के उदाहरण देते हैं तथा कहते हैं कि अनेक भाषाओं की अवस्थिति के बावजूद इन राज्यों के लोग राष्ट्र हैं। कुछ लेखकों का विचार है कि स्विट्जरलैंड सोवियत रूस की भाँति बहुराष्ट्रीय राज्य है। कुछ अन्य लेखकों ने कहा है कि स्विस फ्रेंच, स्विस जर्मन्स एवं स्विस इटैलियन्स स्विस राष्ट्र की तीन विभिन्न राष्ट्रीयताएँ हैं।

सामान्य भाषा के बावजूद समान भाषा बोलने वाले लोग आवश्यकतया राष्ट्र का निर्माण नहीं करते। उदाहरणतया, अंग्रेजीभाषी लोग कनाडावासी, अमेरिकावासी, आस्ट्रेलियावासी, न्यूजीलैंडवासी आदि हैं जो अलग-अलग राष्ट्र हैं।

राष्ट्र का निर्माण कई पीढ़ियों तक लम्बे एव क्रमबद्ध समागम के परिणामस्वरूप होता है जो सामान्य भू-प्रदेश के बिना सम्भव नहीं होता।

(iv) भौगोलिक समीपता (Geographical contingguity)—सन्निकट भौगोलिक क्षेत्र को भी कुछ समय से राष्ट्र के उद्‌भव एवं इसकी अवस्थिति के लिए अपरिहार्य माना गया है। यहूदियों के मामले में भी इस विवाद को छोड़ते हुए कि इजराइल की स्थापना से पूर्व क्या वे राष्ट्र थे अथवा नही, यह कहा जा सकता है कि उनकी भावनाएं भी एक निश्चित मातृभूमि से सम्बद्ध थीं। समान भौगोलिक सन्निकट क्षेत्र में रहते हुए, समान भाषा बोलते हुए, समान ऐतिहासिक अनुभवों की स्मृति बनाए हुए लोगों मे सामान्य भावनाओं एवं मनोवृत्ति का विकास तथा सामान्य भूमि के प्रति दृढ़ अनुराग उत्पन्न हो जाता है। अपनी मातृभूमि के प्रति भावना देशभक्ति का ही दूसरा नाम है।

(v) आर्थिक बंधनों की समानता (Community of economic ties)—इस विंदु पर सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने बल दिया था। उसके समय से इसके महत्व को अधिक से अधिक रूप मे मान्यता दी जा रही है। जब यह मान लिया गया कि राष्ट्र एक ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय परिघटना है तो उन अवस्थाओं की ओर ध्यान दिया गया, जिनमे राष्ट्रों का जन्म होता है। थोड़े से अनुसंधान से मालूम हुआ कि प्रदेशीय समुदाय के रूप में राष्ट्र प्राचीन काल में अथवा दासता एवं सामन्ती युग मे स्थित नही हो सकता था। राष्ट्र का जन्म जनजातियों, प्रजातीय समूहों एव कुलो के मिश्रण से होता है। लेनिन के अनुसार, प्रदेशों के मध्य विनिमय की वृद्धि तथा घरेलू मंडी के विकास ने राष्ट्रीयताओं को जन्म दिया है। लोग एक राष्ट्र में तब तक दृढ़ रूप से संयुक्त नही होते, जब तक सामान्य आर्थिक बंधन जो उत्पादन की विकासशील पूँजीवादी प्रणाली से उत्पन्न होते हैं, उन्हे संयुक्त नही करते।

(vi) *सामान्य इतिहास अथवा परम्पराएं (Common history or traditions)*—सामान्य भाषा, भौगोलिक निकटस्थता एवं सामान्य आर्थिक बंधन की अधिकृति इकट्ठे रहने वाले लोगो को समान अनुभवों में संभागी बना कर उनमें सामान्य दृष्टिकोण एव सामान्य आकांक्षाएँ उत्पन्न कर देते हैं। प्रायः वे ऐसे लोग हैं जिन्होंने इकट्ठे कठिनाइयां सहन की हैं, इकट्ठे कार्य किया है तथा समान रूप से अनुभूति की है। इससे उनमे सामान्य मनोवैज्ञानिक रचना अथवा चरित्र उत्पन्न हो जाता है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्यों का स्थिर अथवा गतिहीन चरित्र होता है। मनुष्यो का चरित्र, जीवन जो उन्होंने इकट्ठे व्यतीत किया है, की अवस्थाओं का दर्पण है। अतएव जीवन की अवस्थाओं में परिवर्तन हो जाने पर यह भी परिवर्तित हो जाता है। द्वितीय, राष्ट्रीय चरित्र से यह भी अभिप्राय नहीं है कि चरित्र-सम्बन्धी कोई व्यक्तिगत भिन्नतायें नहीं होतीं। यह तो केवल कुछ विशेष लोगों मे वर्तमान प्रवृत्ति पर बल देती है।

उपर्युक्त वस्तुपरक तत्वों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनमें से कोई भी तत्व अपरिहार्य नहीं है। राष्ट्रीयता वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक स्थिति अथवा भावना है। ए० ई० जिम्मर्न (A. E. Zimmern) का कथन है, "राष्ट्रीयता धर्म की भाँति आत्मनिष्ठ, मनोवैज्ञानिक, मन की स्थिति, आध्यात्मिक अधिकृति, भावना, विचारणा एवं जीवन का एक ढंग है।"[1] जे० एच० रास (J. H. Rose) के अनुसार, "राष्ट्रीयता हृदयों का मेल है जो एक बार बन कर कभी नहीं टूटता।" राष्ट्रीयता प्रमुखतया एक सांस्कृतिक अवधारणा है। प्रो० होल कोम्ब (Prof. Hole Combe) के अनुसार, "राष्ट्रीयता एक समवेत मनोभावना है, किसी निश्चित मातृभूमि से संबंधित पारस्परिक सहानुभूति अथवा मैत्री भावना का रूप है। इसका उद्गम स्मृतियों की बपौती से होता है, ये स्मृतियां चाहे महान् उपलब्धि एवं गौरव की हों, अथवा विनाश एवं दुखों की।" रेनान एवं मिल (Renon and Mill) का कथन है, "राष्ट्रीयता निर्माण-हेतु पराक्रमी मृत एवं मृत-सम्बन्धी महान् गौरव, अनुभवों एवं बलिदानों, गौरव एवं लज्जा, सुख एवं दुख की भावनाओं की चेतना होनी चाहिए।" मैकाइवर (MacIver) ने लिखा है कि "राष्ट्रीयता ऐतिहासिक परिस्थितियों से निर्मित तथा सामान्य मनोवैज्ञानिक तत्वों से समर्थित सामुदायिक भाव का प्ररूप है। यह भाव इतना व्यापक एवं शक्तिशाली है कि जो इसका अनुभव करेंगे, वे अपने लिए विशिष्ट अथवा एकान्तिक सामान्य शासन को प्राप्त करने की इच्छा करेंगे।"[1]

राजनीतिक स्वायत्तता राष्ट्र का विशिष्ट आधार (Political autonomy the distinguishing criterion of nation)—राष्ट्र एक राष्ट्रीयता है जो राजनीतिक स्वायत्तता प्राप्त करना चाहती है। राष्ट्रीयता अराजनीतिक अवधारणा है जो विदेशी शासन के अधीन भी पाई जा सकती है। शब्द 'राष्ट्र' राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा प्रभुता का बोध कराता है। एच० टी० मजूमदार (H. T. Mazumdar) के अनुसार, "राष्ट्र राज्य द्वारा परिसीमित समुदाय है।" राजनैतिक स्वायत्तता का तत्व राष्ट्र को अन्य समूहों से भिन्न कर देता है। अन्य समूहों के पास सामान्य भू-प्रदेश, सामान्य जीवन एवं सामान्य भावना हो सकती है, परन्तु उनमें राज्यत्व की इच्छा नहीं होती। यदि उनमें ऐसी इच्छा है तो वे राष्ट्रीय हैं। हंस कोहन (Hans Kohn) के अनुसार, "राष्ट्रीयताओं के निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बाह्य तत्व राज्य है। राजनीतिक सीमाएँ राष्ट्रीयताओं की स्थापना करती हैं। सामान्यतः राज्यत्व अथवा राष्ट्रत्व राष्ट्रीयता के जीवन का

1. "nationality, like religion is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way of feeling, thinking and living."—A. E. Zimmern, *Nationality and Government*.

2. "nationality is a *type* of community sentiment, credited by historical circumstances and supported by common psychological factors of such an extent and so strong that those feel desire to have a common government peculiarly or exclusively their own."—Mac-Iver, *Society* p. ,298.

निर्माणकारी तत्व है।" रैम्से म्यूर (Ramsay Muir) के शब्दों में कहा जा सकता है कि "कोई राष्ट्र इसलिए राष्ट्र है, क्योंकि उसके सदस्य ऐसा सोचते हैं।"

इस तथ्य पर पुनः बल दिया जा सकता है कि राष्ट्रीयता अपने सभी बाह्य कार्यों के लिए केवल वस्तुनिष्ठ सत्ता ही नहीं है, अपितु यह सामाजिक-मनोवैज्ञानिक वास्तविकता है। राष्ट्रीयता की सीमाएँ मनोवैज्ञानिक हैं। अतएव राष्ट्र-निर्माण हेतु सबसे महत्वपूर्ण तत्व भौतिक न होकर मनोवैज्ञानिक है।

राष्ट्र तथा राज्य मे अन्तर (Difference Between Nation and State)

जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया था, राष्ट्र, राष्ट्रीयता एवं राज्य शब्दों के प्रयोग में काफ़ी शिथिलता पाई जाती है। कुछ लेखक 'राष्ट्र' शब्द को राष्ट्रीयता के भाव में तथा अन्य राज्य के साथ प्रयुक्त करते हैं। ऊपर हमने राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता दोनों शब्दों की व्याख्या की है। शब्द 'राज्य' का अर्थ पिछले अध्याय मे बतलाया गया है। ब्राइस (Bryce) के अनुसार, "राष्ट्र एक राष्ट्रीयता है, जिसने स्वयं को स्वतन्त्र अथवा स्वतंत्र बनने के इच्छुक राजनीतिक समूह में संगठित कर लिया है।" राज्य प्रादेशिक रूप में संगठित लोग हैं। राष्ट्र, राज्य एवं राष्ट्रीयता के मध्य अन्तर की बातें निम्नलिखित हैं—

(i) राष्ट्रीयता व्यक्तियों का समूह है जो अपनी विशिष्टता एवं एकता के प्रति जागरूक हैं, जिसे वे स्थिर रखना चाहते हैं। यदि व्यक्तियों का यह समूह किसी निश्चित भू-प्रदेश पर रह कर स्वयं को संगठित कर ले तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति की इच्छा उनमें हो, अथवा वे स्वतंत्र हों तो वे राष्ट्र राज्य का निर्माण करते हैं। राज्य के सदस्य विभिन्न राष्ट्रीयताओं से संबंधित हो सकते हैं।

(ii) राष्ट्रीयता आत्मपरक है, राज्यत्व वस्तुनिष्ठ है।

(iii) राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक है।

(iv) राष्ट्रीयता मन की स्थिति है, राज्यत्व कानून की स्थिति है।

(v) राष्ट्रीयता आध्यात्मिक अधिकृति है, राज्यत्व प्रवर्तनीय दायित्व है।

(vi) प्रभुसत्ता राज्य का अनिवार्य तत्व है, राष्ट्र का नहीं।

राष्ट्र मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं से अभिप्रेरित एकता की चेतना को निर्दिष्ट करता है जो प्रभु हो अथवा न हो। प्रभुता का भौतिक तत्व राष्ट्र के लिए इतना अनिवार्य नहीं है, जितना एकता की भावना का मनोवैज्ञानिक तत्व।

राष्ट्र-राज्य का विकास
(The Growth of Nation State)

एच० टी० मजूमदार (H. T. Mazumdar) का विचार है कि राष्ट्रीय राज्य का जन्म प्रतियोगिता एवं संघर्ष से हुआ। उसने लिखा है, "शतवर्षीय युद्ध (१३३७-१४५३) ने इंगलिश चैनल के पार दो प्रतियोगी समूहों को जन्म दिया, प्रत्येक में 'समानता की चेतना' थी। ये समूह थे—अंग्रेज तथा फ्रैंच। गुलाबों के

युद्ध (१४५३-१४८५) ने ट्यूडर-निरंकुशता के अधीन संयुक्त अंग्रेजी राष्ट्र को जन्म दिया। खुले सागरों पर खोज एवं लूटमार की प्रतिस्पर्द्धा ने विभिन्न समूहों में राष्ट्रीय दृढ़ता की भावना को सशक्त बनाया—अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगाली एवं स्पेनवासी। अमेरिकन राष्ट्र का जन्म भी संघर्ष (१७७६-८३) से हुआ। नेपोलियन (१७९८-१८१५) ने अधिकांश यूरोप को विजित कर लिया, जिससे पराजित देशों में राष्ट्रीय चेतना का सूत्रपात हुआ। प्रशिया का साम्राज्य नेपोलियन के युद्धों का सर्वप्रमुख उपज था। जर्मन राष्ट्र फ्रांस के साथ युद्ध (१८७०-७१) की उत्पत्ति था। मैज़िनी एवं गेरीबाल्डी के अधीन इटली राष्ट्र का जन्म आस्ट्रिया के प्रभुत्व के विरोधात्मक आंदोलन (१८५९-७०) के फलस्वरूप हुआ। हिडेज राष्ट्र १८८५ में ब्रिटिश शोषण के विरुद्ध आंदोलन के रूप में स्थापित हुए। प्रतियोगिता अथवा संघर्ष अथवा सम्भवत: दोनों के मिश्रण से राजनीतिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ है।"[1]

प्रजातंत्रीय राष्ट्र राज्य का विकास (Growth of democratic nation-state)—प्रजातंत्रीय राष्ट्रीय राज्य का विचार आधुनिक विकास है। राजनीतिक रूप में, सर्वप्रथम चरण प्रभावहीन एवं तुच्छ सामन्ती प्राधिकारियों के स्थान पर शक्तिशाली केन्द्रीकृत स्वतंत्र राजतंत्रों के हाथों में संपूर्ण सत्ता का संयुक्तीकरण था। असंख्य संघर्षों एवं उलट-फेर के पश्चात् राज्य, निरंकुशता का नियम यूरोप में सर्वोच्च बन गया। प्रोटेस्टेन्ट सुधारक अपने अनुयायियों को सदैव राज्य के प्रति निष्क्रियात्मक आज्ञापालन का उपदेश देते थे तथा उनका कथन था कि इस पृथ्वी पर सभी सत्ता परमात्मा के द्वारा आदेशित है। उनका विचार था कि राजाओं को शासन करने का दैवी अधिकार है। इंग्लैंड में उनकी शिक्षाओं ने ट्यूडर एवं स्टुअर्ट निरंकुशता के लिए मार्ग प्रशस्त किया। फ्रांस में लुई १४वें ने कहा, "मैं राज्य हूँ।" सुधार-आंदोलन की सामान्य प्रवृत्ति राजनीतिक प्रभु की निरंकुशता को दृढ़ करना था। यह राजाओं के दैवी अधिकारों का युग था।

परन्तु यह निरंकुशता अधिक समय तक न चल सकी। लोगों को धीरे-धीरे अपनी शक्ति एवं अपने महत्व का ज्ञान हुआ। उनमें चेतना जागृत हुई तथा उन्होंने राजा से कुछ अधिकार प्राप्त कर लिए। साधारण व्यक्ति ने अनुभव किया कि सरकार स्वयं अपने लिए न होकर शासितों के कल्याण के लिए है। राजा दैवी अधिकारों से संपन्न श्रेष्ठ व्यक्ति की प्रस्थिति को खो बैठा। शासकीय निरंकुशता की, जो किसी समय सामन्ती अव्यवस्था एवं विघटन को समाप्त करके एकता एवं व्यवस्था लाने तथा लोगों को संयुक्त करने हेतु आवश्यक थी, इस ध्येय की प्राप्ति के बाद कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। राजनीतिक समूहों का विकास हुआ जो धीरे-धीरे शक्तिशाली खुले संगठन बन गए। उन्होंने शासकीय समूह के लिए रुचिकर विभिन्न प्रश्नों पर उदार विचारों का प्रतिनिधित्व किया। परिणामस्वरूप प्रजातंत्रीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ। फ्रांस में इसने हिंसात्मक आंदोलन का रूप लिया। अन्य देशों में, राजा इच्छापूर्वक अपनी शक्ति जनता को हस्तांरित

1. Mazumdar, H. T., *A Grammar of Sociology*, pp 264-265.

कर प्रजातंत्रीय सरकार के अधीन नाम मात्र के अध्यक्ष बन गए। लोकप्रभुता के सिद्धान्त को मान्यता मिली तथा प्रजातंत्रीय राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हुई।

३. राष्ट्रीयता-भाव के प्रकार

(Forms of Nationality Sentiment)

ऊपर हमने अध्ययन किया है कि राष्ट्रीयता सामान्य भाव पर आधारित है। यह भाव दो रूप धारण कर सकता है—

(i) देशभक्ति (Patriotism)—देशभक्ति अपनी मातृभूमि अथवा पितृभूमि के प्रति प्यार है। यह देश के प्रति परहितार्थ की निष्ठा तथा सामुदायिक भावना है जो अत्यन्त निष्ठाजनक एवं निष्काम सेवा को प्रेरित करती है। परन्तु कभी-कभी देशभक्ति अनजाने राष्ट्रीय अहंकार को जन्म देती है। यह राष्ट्र के दूसरे राष्ट्रो के प्रति उसके दायित्वो को भुला देती है। कभी-कभी यह अन्य राष्ट्रो की ओर घृणा युद्ध एवं वैमनस्य उत्पन्न करती है। कभी-कभी यह अंतर्राष्ट्रीयता को पराजित कर देती है।

(ii) राष्ट्रवाद (Nationalism)—राष्ट्रवाद मन की स्थिति है जो राष्ट्र को प्रभविष्णु एकता तथा उसे मनुष्य की सर्वोच्च निष्ठा का लक्ष्य बनाना चाहती है। इसका पश्चिमी जगत् में उल्लेखनीय विकास हुआ है तथा आजकल अफ्रीकन ससार मे इसका विकास जोरो पर है। इसने आधुनिक प्रजातंत्रीय राष्ट्रीय राज्यो के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। इसने राष्ट्रीय स्वतंत्रता एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता के क्षेत्र को विस्तृत किया है।

परन्तु राष्ट्रवाद कभी-कभी अनेक दोषो को जन्म देता है। हेज़ (Hayes) का विचार है कि उन्नीसवी एवं बीसवी शताब्दियो मे राष्ट्रवाद ने प्रशंसनीय कार्य नही किया है। शिलिटो (Shillito) के शब्दों में, "इसने 'मनुष्य के दूसरे धर्म' का रूप ले लिया है। यह भावुक, संवेगात्मक एवं प्रेरणात्मक है।" रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसे 'समूची जाति का संगठित स्वार्थ', 'आत्म-पूजा', 'स्वार्थी उद्देश्यों के लिए राजनीति और व्यवसाय का संगठन', 'शोषण के लिए संगठित शक्ति' कहा है। राष्ट्रवाद निस्सदेह राज्य मे समेकन का स्रोत है, परन्तु जब यह एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से सम्बद्ध करने वाले सामान्य हित की मान्यता से इंकार करता है तो यह भयंकर रूप धारण कर लेता है। उस समय यह शोवीवाद (chauvinism) बन जाता है जो असहिष्णु एवं गर्वीला है अथवा साम्राज्यवाद बन जाएगा जो दूसरों पर राजनीतिक प्रभुता एवं प्रादेशिक विस्तार चाहता है। यह लोगों को एक-दूसरे से विलग कर देता है, सुमधुर अन्तर्समूह अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विकास को अवरुद्ध करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा एव युद्धो के बीज बो देता है।

परन्तु, राष्ट्रवाद एक लम्बी ऐतिहासिक प्रकिया है जिसे आमूल नष्ट नही किया जा सकता। इसकी जड़ मनुष्य की कबायली मनोवृत्ति है। सच्चा राष्ट्रवाद वरदान है, अभिशाप नही। आज जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, वह सच्चा राष्ट्रवाद

नहीं है, अपितु केवल "जंगलीपन की देशभक्ति", "कट्टर आक्रामक साम्राज्यवाद" है। वस्तुतः राष्ट्रवाद की भावना शक्तिशाली तत्व है । स्वस्थ रूप में यह अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए वरदान है। अन्तर्राष्ट्रीयता एवं शोवीवाद पारस्परिक विरोधी भाव हैं, परन्तु स्वस्थ राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयता पारस्परिक पूरक हैं। हेज़ (Hayes) के शब्दों में "राष्ट्रीयता जब विशुद्ध देशभक्ति का पर्याय बन जाएगी, तब वह मानवता और समस्त संसार के लिए एक अनुपम वरदान सिद्ध होगी।" यह भी बतला दिया जाए कि आजकल राज्य के लोगों को संयुक्त करना एवं उन्हें अपनी एकता के प्रति जागरूक करना मौलिक समस्या है। भारत ऐसी समस्या से ग्रस्त है। हमारा देश अनेक सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों से विजातीय तत्वों की भूमि है जो पूर्व ही अपनी-अपनी संस्कृति के प्रति कठोर भाव रखते हैं। इन विभिन्न तत्वों से सामाजिक एकता उत्पन्न करना महान् कार्य है।

४. विश्व-समुदाय
(The World Community)

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व विश्व-समुदाय की स्थापना की संभावना पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय से विश्व-समुदाय के विषय में रुचि तीव्रतर हुई है। जिस स्याही से संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर लिखा गया था, उसके सूखने से पूर्व ही कुछ आलोचकों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि संयुक्त राष्ट्र शांति एव सुरक्षा की समस्या के समाधान हेतु समर्थ संगठन नहीं है। राष्ट्रीय प्रभुता का सिद्धान्त प्रमुख बाधा थी, अतएव यह तर्क दिया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की स्थापना सभव नही है।

ऊपर हमने देखा है कि समुदाय के दो निर्णायक तत्व—सामान्य प्रदेश एवं सामुदायिक भावना हैं । ये दोनों तत्व विश्व-समुदाय में किस सीमा तक वर्तमान हैं ?

इसमें कोई संदेह नही है कि भौगोलिक दृष्टि से विश्व एक निकटस्थ संयुक्त इकाई है। यातायात एवं सचार के साधनों के विकास से एक जाति को दूसरी जाति से पृथक् करने वाले भौतिक बंधन टूट गए हैं। भौगोलिक दृष्टि से पृथ्वी पर बसे क्षेत्र आज 'एकविश्व' के निकट आ रहे हैं। आधुनिक तकनीकी उन्नतियों ने एक बृहत्तम समुदाय के अनुरूप सारे विश्व को एक भौगोलिक स्थानीयता बना दिया है। अतः कहा जा सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का प्रादेशिक आधार बहुत अंशों में स्थापित हो गया है। परन्तु समुदाय स्थान से अधिक है।

परन्तु दूसरे तत्व, अर्थात् सामुदायिक भावना का अभी तक विश्व के लोगों में अभाव है। संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य अतर्राष्ट्रीय संघर्षों को विश्वयुद्ध का रूप धारण करने से रोकने में कितना ही महान् रहा हो, इस तथ्य से इंकार नही किया जा सकता कि यह अभी तक राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं एवं समूहगत पूर्वाग्रहों को

अपने सदस्य राष्ट्रों के मध्य से दूर करने में सफल नहीं हुआ है। संवेगात्मक पूर्वाग्रह का वातावरण जो संकीर्ण आर्थिक एवं राजनीतिक हितों द्वारा प्रोत्साहित घोर राष्ट्रवाद की उपज है, सर्वव्यापी है। आज संसार में विश्व-समुदाय की कोई उत्कट चेतना नहीं है। बड़े राष्ट्र अपनी शक्ति के बल पर स्वयं को सुरक्षित समझते हैं और इसी अभियान पर विश्व हितों की कोई चिंता न करके अपने लाभ के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी करते हैं। विश्व-समुदाय की तीव्र इच्छा के बिना इसे स्थापित नहीं किया जा सकता। "समुदाय को हठात् मौलिक व्यवस्था की ओर नहीं ले जाया जा सकता। मौलिक व्यवस्था इसकी आन्तरिक दृढ़ता से उद्भूत होनी चाहिए।" विश्व में अभी तक कोई 'हम' भावना नहीं है। राज्य के प्रति भक्ति ही सर्वोच्च सामाजिक मूल्य है। राष्ट्रीय प्रभुता का सिद्धान्त प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण-व्यवस्था के विकास-मार्ग में बाधा है। निःसंदेह छोटे एवं निर्बल राष्ट्र अपने हितों के सुरक्षार्थ विश्व-समुदाय के पक्ष में हैं, परन्तु ऐसा विश्व-समुदाय बड़े राष्ट्रों की इच्छा एवं सहमति के बिना स्थापित नहीं हो सकता।

तथापि विश्व-समुदाय की स्थापना के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर राष्ट्रों का युग अब समाप्त हो गया है। मानव जाति के सामान्य हितों से सम्बन्धित अनेक अंतर्राष्ट्रीय संगठन यथा अंतर्राष्ट्रीय डाक संघ, अंतर्राष्ट्रीय हवाई संघ, अंतर्राष्ट्रीय तार एवं संचार संघ आदि पूर्व ही कार्यशील हैं। इनमें से प्रत्येक संगठन सभी देशों में सहयोग के लाभों पर बल देता है। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि विश्व के लोग शांति चाहते हैं। समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण देन यह हो सकती है कि यह निरंकुश राजनीतिक सीमाओं द्वारा पृथकीकृत संसार के विभिन्न भागों की अन्योन्याश्रिता की सापेक्ष मात्रा का निर्धारण करे। जब तक विश्व-समुदाय का निर्माण नहीं हो जाता, अनावश्यक कठिनाइयाँ, तनाव एवं संघर्ष अपरिहार्य हैं। मैकाइवर ने ठीक लिखा है, "तकनीक विश्व को एक सूत्र में बाँधती है और इस तथ्य के प्रति यदि हमारे भाव अनुकूलित नहीं होंगे तो अब तक अकल्पित विनाश की सम्भाव्यता का हमें सामना करना पड़ेगा।"

प्रश्न

१. राष्ट्रीयता का क्या अर्थ है? राष्ट्रवाद के लाभों एवं हानियों का वर्णन कीजिए।

२. विश्व-समुदाय का क्या महत्व है? क्या इसे प्राप्त किया जा सकता है?

३. देशभक्ति, राष्ट्रवाद एवं संजाति-केन्द्रीयता में क्या सम्बन्ध है?

४. राष्ट्र का निर्माण कैसे होता है? क्या राष्ट्रीय चरित्र नाम की कोई वस्तु है?

५. (i) देश तथा राष्ट्र, (ii) प्रजाति तथा राष्ट्र में अन्तर कीजिए।

अध्याय ३०

जनसंख्या

[POPULATION]

संसार की जनसंख्या इधर-उधर बिखरे हुए कुछ लोगों से तीस अरब से अधिक तक पहुँच गई है। संयुक्त राष्ट्र के जनांकिकों का अनुमान है कि सन् २००० तक संसार की जनसंख्या दूनी हो जाएगी। क्या हमें यह जानकर गौरव होता है कि हम तीस अरब से भी अधिक हैं? क्या हम अपनी जनसंख्या को साठ अथवा सत्तर अरब करना चाहेंगे?

१. समाज तथा जनसंख्या

(Society and Population)

जनसंख्या का विज्ञान जिसे जनसांख्यिकी (demography) कहा जाता है, मानव-समाज के अध्ययन का एक मौलिक उपागम है। साधारण अर्थ में, जननांक का कार्य किसी निर्दिष्ट क्षेत्र में लोगों की संख्या को गिनना, पिछले वर्षों में उनमें हुए परिवर्तनों की खोज करना तथा इस आधार पर भावी प्रवृत्तियों का अनुमान लगाना होता है। वह जन्म, मृत्यु एवं प्रवास पर ध्यान देता है। वह जन्मित लोगों की संख्या में से मृत लोगों की तथा प्रवासियों में से आवासियों की संख्या को घटाता है। जन्म जननक्षमता पर तथा मृत्यु मरणशीलता पर निर्भर करती है। इस प्रकार ये तीनों तत्व अर्थात् जननक्षमता, मरणशीलता एवं प्रवास किसी विशिष्ट क्षेत्र में लोगों की संख्या को प्रभावित करते हैं।

परन्तु जननक्षमता, मृत्युशीलता एवं प्रवास केवल जननांक के लिए ही महत्वपूर्ण तत्व नहीं हैं, अपितु समाजशास्त्री के लिए भी हैं। ये सभी तत्व पर्याप्त सीमा तक सामाजिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होते हैं तथा स्वयं समाज का निर्धारण भी करते हैं। जननांक को सामाजिक क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है, यह जानने के लिए कि ये तत्व किस प्रकार व्यवहार करते हैं। जननक्षमता ऊँची क्यों है, मरण-दर ऊँची क्यों है, लोग प्रवास क्यों करते हैं—इन प्रश्नों का उत्तर समाज में वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना नहीं दिया जा सकता। जनसंख्या की वृद्धि सामाजिक चिंता का विषय है। इसे नियंत्रित करने हेतु किन साधनों का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रश्न पर विचार करते समय लोगों के लोकाचारों का ध्यान रखना होगा। इसके अतिरिक्त, जननांक जनसंख्या का अध्ययन न केवल क्षेत्र के संदर्भ में, अपितु इसकी विशेषताओं के संदर्भ में भी करता है। वह जनसंख्या को आयु, लिंग, शिक्षा, धर्म, व्यवसाय एवं वैवाहिक प्रस्थिति के आधार पर विभिन्न समूहों अथवा सांख्यिकीय वर्गों में विभक्त करता है। ये सब लक्षण जिन्हें जननांक चयित करता है, सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण होते हैं। अतएव जनगणना हमें जनसांख्यिकी एवं सामाजिक दोनों रूप से महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करती है।

यह भी ध्यान रहे कि मानव-जनसंख्या का सामाजिक सांस्कृतिक अंत.क्रिया के बिना कोई अस्तित्व नही होता। जनसंख्या के केवल प्राणीशास्त्रीय अध्ययन का कोई लाभ नहीं है, यदि सामाजिक निष्कर्ष मालूम न किए जाएं। समाज जनसंख्या की प्रवृत्तियों का आवश्यक एवं पर्याप्त कारण है। कुछ तत्व जनसंख्या की बढ़ी वृद्धि करते हैं, जबकि अन्य इसे घटाते हैं। इन दोनों के बीच संतुलन आवश्यक है। कोई भी समाज जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि की आज्ञा नहीं दे सकता। इस प्रकार यदि जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जाए तथा उसके समानातर भोजन-संभरण की वृद्धि न हो तो इसका परिणाम मरण-दर की वृद्धि होगी, जिससे जनसंख्या की वृद्धि रुक जाएगी। इसी प्रकार भोजन-संभरण की वृद्धि समानान्तर जनसंख्या की वृद्धि के अभाव मे एक असुविधाजनक स्थिति को जन्म देगी, जिसमें उत्पादन-वृद्धि रुक जाएगी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाज को न केवल जनसंख्या की वृद्धि की ओर, अपितु सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने की दिशा में भी प्रयत्न करना है। जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि सामाजिक व्यवस्था को खतरा उत्पन्न कर सकती है। अतएव समाज को इस वृद्धि पर रोक लगानी होती है। यह भी ध्यान रहे कि जिस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि खतरा उत्पन्न कर सकती है, उसी प्रकार इसका तीव्र ह्रास भी संकट उत्पन्न कर सकता है। अतएव जनसंख्या की वृद्धि की दर तथा सामाजिक परिस्थितियों के मध्य समायोजन आवश्यक है।

जनन-क्षमता के सामाजिक निर्धारक (Social Determimnts of Fertility)

ऊपर हमने कहा है कि जनन-क्षमता, मरणशीलता एवं प्रवास जो जनसंख्या की वृद्धि को प्रभावित करते हैं, सामाजिक रूप से निर्धारित होते हैं। आइए देखें कि इन पर समाज का किस प्रकार प्रभाव पड़ता है।

यद्यपि जनन-क्षमता एक जीवशास्त्रीय परिघटना है, परन्तु जन्म-दर की केवल प्राणीशास्त्रीय व्याख्या भ्रामक होती है। सामाजिक तत्व जन्म-दर को अवश्य नियंत्रित करते हैं। मानव-व्यवहार के अन्य स्वरूपो की भाँति प्रजनन भी अभिप्रेरणा बिना घटित नही होता। गर्भ-निरोधकों का प्रयोग जो आदिम व्यक्तियों में भी प्रचलित कहा जाता है, इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि जनन-क्षमता पर सामाजिक नियंत्रण सदैव रहा है। समाज व्यक्तियो को अपनी पूर्ण जैविक क्षमता के अनुसार प्रजनन की आज्ञा नही देता। यह प्रजनन पर अंकुश लगाता है। हाँ, ये अंकुश अधिक सीमा तक अचेतन रूप में होते हैं, अर्थात् लोगों का ध्यान जनसंख्या को सीमित करने की अपेक्षा अन्य लक्ष्यों की ओर होता है, तथापि उनके व्यवहार का परिणाम प्रजनन पर नियन्त्रण होता है। इस प्रकार (i) पुरुषों एवं स्त्रियों के संभोग पर वर्जन (अर्थात् स्त्री अपने पति के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के साथ संभोग नहीं करेगी), (ii) लैंगिक सम्भोग पर वर्जन (अर्थात् भाई-बहन के साथ संभोग नहीं करेगा), (iii) कुमारी-गमन तथा परस्त्री-गमन पर वर्जन (अर्थात् स्त्री-पुरुष विवाह बिना संभोग नहीं करेंगे) जनन-क्षमता पर अचेतन अंकुश हैं। कभी-कभी समाज चेतन अंकुश भी लगाता है। इस प्रकार, विवाह हेतु न्यूनतम आयु निर्धारित करना, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक, एकपत्नीत्व विवाह पर बल, परिवार के आकार का

परिसीमन आदि के द्वारा समाज चेतन रूप से जन्म-दर को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। कभी-कभी समाज गर्भ-निरोधों को प्रोत्साहित करता है तथा गर्भपात अथवा शिशु-हत्या की भी स्वीकृति देता है, ताकि अनचाहे बच्चों के प्रजनन को रोका एवं परिवार के आकार को सीमित रखा जा सके।

दूसरी ओर, यदि समाज चेतन अथवा अचेतन रूप में प्रजनन-क्षमता को परिसीमित करता है तो यह दूसरी ओर चेतन अथवा अचेतन रूप में इसे प्रोत्साहित भी करता है। विवाहित पुरुषों को लैंगिक सम्भोग की स्वीकृति द्वारा यह प्रजनन-क्षमता को अचेतन रूप में प्रोत्साहित करता है। विवाहित पुरुषों को कुछ प्रलोभन देकर, यथा आयकर में कटौती, अधिक महँगाई-भत्ता, मकान की सुविधा तथा कुछेक पदों पर प्रवेश व्यक्तियों को विवाह कराने के लिए प्रेरित करते हैं, जिसका परिणाम जन्म-दर की वृद्धि होता है। इसके अतिरिक्त, प्रजनन आत्मा की मुक्ति, वृद्धायु मे सुरक्षा, वस्तुओं के उत्पादन तथा स्नेह की प्राप्ति के लिए आवश्यक समझा जाता है। इसके अतिरिक्त कुँआरेपन, नपुंसकता, बाँझपना गर्भपात एवं गर्भनिरोध के प्रति सामाजिक अस्वीकृति की मनोवृत्ति जनन-क्षमत, को प्रोत्साहित करती है।

मरणशीलता के सामाजिक निर्धारक (Social Determinants of Mortality)

यद्यपि यह कथन कि समाज मृत्यु का कारण है, विचित्र प्रतीत होता है, तथापि कुछ सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं जो मृत्यु का कारण बनती हैं। इन स्थितियों में निम्नलिखित का वर्णन किया जा सकता है—

(i) **मृत्यु का कारण बनने वाली स्थितियाँ** (Situations defined as calling for death)—कभी-कभी समाज में ऐसी प्रथाएँ होती हैं कि व्यक्तियों को उनके किसी दायित्व के बिना मृत्यु के घाट उतार दिया जाता है। इस प्रकार वृद्ध एवं अशक्त व्यक्तियों को अपने भाग्य पर छोड़ दिया जाता है, अपंगु बच्चों को बेसहारा छोड़ दिया जाता है, बालिकाओं की हत्या कर दी जाती है तथा मानव प्राणी की धार्मिक अवसरों पर बलि दे दी जाती है। व्यक्तियों को दण्ड के रूप में भी मृत्यु दी जाती है। समाज गंभीर अपराधियों से सुरक्षा-हेतु उन्हें मृत्यु-दण्ड देता है। कुछ स्थितियों में व्यक्ति को स्वयं अपना जीवन समाप्त करने के लिए कहा जाता है। उदाहरणतया, भारत में सती-प्रथा। कभी-कभी कोई सैनिक दल शत्रु के हाथों में पड़ने से बचने के लिए आत्म-हत्या कर लेता है। कभी-कभी व्यक्ति किसी आदर्श अथवा उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपना जीवन बलिदान करके शहीद बन जाता है। हम ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण भी पाते हैं जो प्रेम की असफलता अथवा परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने से उत्पन्न निराशा से बचने के लिए आत्म-हत्या कर लेते हैं।

इस प्रकार हत्या करना अथवा आत्म-हत्या करना, चाहे यह संस्थात्मक हो अथवा व्यक्तिगत, समाज में मृत्यु का महत्वपूर्ण कारण है।

(ii) **रीति-रिवाज जिनका लक्ष्य स्वास्थ्य प्रदान करना होता है, परन्तु प्रभाव विपरीत होता है** (Practices intended to give health but having the opposite effect)—प्रत्येक व्यक्ति स्वस्थ रहना एवं चिरजीवी बनना चाहता है।

इस उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु उसने अनेक चिकित्सा-सम्बन्धी प्रथाओं को जन्म दिया है। परन्तु कभी-कभी ये प्रथाएँ उसके उद्देश्य को पूर्ण करने की अपेक्षा घातक सिद्ध होती है। इन प्रथाओ मे सबसे महत्वपूर्ण जादू द्वारा रोग को ठीक करना है। जादुई चिकित्सा की प्रथा प्रत्येक आदिम समाज मे पाई जाती है। रोग का कारण किसी भूत-प्रेत को समझा जाता है जिसके उपचार-हेतु भूत-प्रेत-चिकित्सक अथवा दैवी उपदेशक अथवा दोनो का परामर्श लिया जाता है। परन्तु जादू शारीरिक रोग को ठीक नही कर सकता। इसी प्रकार उपासना, बलि अथवा धार्मिक उपदेश की प्रथा जिनका उद्देश्य स्वास्थ्य प्रदान करना होता है, विरोधी प्रभावो को उत्पन्न करता है। यद्यपि आधुनिक युग म विज्ञान ने जादू एव अंधविश्वास को विस्थापित कर दिया है, तथापि धार्मिक जादुई उपचार की प्राचीन प्रथा किसी न किसी रूप मे अभी तक मानव-समाज मे प्रचलित है।

(iii) ऐसी प्रथा जो स्वास्थ्य के लिए अप्रासंगिक होती हैं परन्तु जो इसे हानि पहुँचाती हैं (*Practices considered irrelevant to health, but nevertheless injuring it*)—सम्भवतः सबसे अधिक हानिकारक विधि जिससे समाज नियमित रूप से मृत्यु का कारण बनता है, इसकी हानिकारक प्रथाएँ हैं—प्रथाएँ जो भोजन, व्यायाम एवं सम्पर्क से सम्बन्धित हैं तथा वे सभी माध्यम जिनके द्वारा रोग फैल सकता है अथवा हानि हो सकती है। इस प्रकार, मद्रासियो में हाथ से चावल खाने की प्रथा, मुसलमानो मे पान चबाने की प्रथा, जैनियो मे नगे पैर चलने की प्रथा, सिक्खो मे केश न कटाने की प्रथा, कुछेक हिन्दू मतान्तरो मे पक्का भोजन खाने की प्रथा, तंग वस्त्र पहनने की प्रथा, ऐसी प्रथाएँ हैं जो धीरे-धीरे स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव डालती है। जब किसी लोकरीति के कुप्रभाव व्यक्तियो को बतलाए जाते हैं तो वे उस रीति का परित्याग न कर उसका अति दृढ़ता से समर्थन करते हैं।

इस प्रकार अनेक सामाजिक तत्व ऐसे हैं जो रोग को जन्म देकर मृत्यु का कारण बनते हैं। परन्तु समाज रोग एवं मरणशीलता को रोकने एवं मृत्यु-दर को घटाने का प्रयास भी करता है। अपनी संस्थात्मक सरचना द्वारा समाज अनेक मानवीय आवश्यकताओ की संतुष्टि करता है तथा इन आवश्यकताओ की संतुष्टि द्वारा यह स्वास्थ्य एव चिरजीविता मे योगदान देता है। इस प्रकार परिवार, कर्मशाला, खेत एव सरकार सभी जीवन-संरक्षण मे सहायता करते हैं। परन्तु उपचारिक एवं निरोधक स्वरूपो मे वैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली द्वारा ही समाज अन्य किसी अकेले तत्व की अपेक्षा मानव-मरणशीलता को अधिक कम कर सका है।

मानव-प्रवास (Human Migration)

प्रवास के कारणो का अभी तक कोई क्रमबद्ध अध्ययन नही किया गया है। प्रवास के कारण इतने जटिल एवं विभिन्न हैं कि इनका क्रमबद्ध वर्णन कठिन है। कोई भी व्यक्ति किसी उद्देश्य के बिना प्रवास नही करता, जब तक उसे तदर्थ बाध्य न किया जाए। ये उद्देश्य इतने विभिन्न होते हैं कि उनकी कोई अंतिम सूची नही बनाई जा सकती। प्रवास मे सदैव भावनात्मक एवं आर्थिक मूल्य का तत्व

विद्यमान होता है। अपने सगे-सम्बन्धियों, मित्रों एवं सुपरिचित पर्यावरण का परित्याग कर अनजाने देश में निवास करने जाना सरल नहीं है। न ही यात्रा का किराया अदा करना आसान है। संयुक्त राज्य का हवाई किराया लगभग ७,००० रुपये है। स्वाभाविकतया, यदि किसी व्यक्ति ने प्रवास करने का निश्चय किया है तो उसने प्रवास के भावनात्मक एवं आर्थिक मूल्य से अधिक इसे लाभदायक समझा होगा। परन्तु कभी-कभी प्रवासी व्यक्ति वास्तविक मूल्य एवं स्थानान्तरण के सापेक्ष लाभों का मूल्यांकन करने में गलती कर बैठता है। इसी कारण मानव-प्रवास का इतिहास नए ससार मे स्वर्ग पाने की अवास्तविक आशाओं पर आधारित निराशाओ से भरपूर है।

इसके अतिरिक्त, प्रवास की सीमा का निर्धारण स्वदेश तथा विदेश मे लोगों की मनोवृत्ति द्वारा भी होता है। कुछ अवस्थाओं में स्वदेश के लोग यह नही चाहते कि उनके लोग देश छोड़कर चले जाएं क्योंकि इससे देशवासियों अथवा उनके देश को हानि होने की संभावना होती है। कुछ अवस्थाओं में वे चाहते हैं कि लोग देशान्तरण कर जाएं ताकि उनके चले जाने से उत्पन्न रिक्त स्थान अन्य लोगो को प्राप्त हो सकें। विदेश के लोग आवासी व्यक्ति का स्वागत करेंगे, यदि उन्हें उसके आगमन से कोई लाभ होता है। वे प्रजाति, भाषा, धर्म, आर्थिक प्रस्थिति एव राजनीतिक विचारधारा के आधार पर कुछेक व्यक्तियों को अन्य की अपेक्षा अधिक पसन्द करते है। संक्षेप मे, प्रवास सदा चयनीय होता है। प्रथमतः, किसी भू-क्षेत्र के सभी लोग प्रवास नहीं करते; एवं द्वितीय, सभी व्यक्तियों को आवास की आशा नही होती अथवा उनका समान सत्कार नही होता। यूरोप से अत्यधिक प्रवास हुआ है। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से पूर्व लगभग ३,००,००० प्रवासी दूसरे देशो मे जाया करते थे। जब औद्योगीकरण का विस्तार हुआ तो यह संख्या प्रतिवर्ष साढ़े दस लाख हो गई। अमेरिका यूरोप से देशान्तरण करने वाले लोगों के लिए प्रमुख आकर्षण-केन्द्र था। यह आशाजनक देश था, जहां जाकर लोग जीवन को नया मोड़ दे सकते थे। मुख्य आकर्षण नई दुनियां में उपलब्ध आर्थिक अवसर एवं धार्मिक नागरिक स्वतंत्रता थी। संयुक्त राज्य में यूरोप से अधिकतम संख्या में लोगो ने प्रवास किया है। कनाडा एव अर्जेन्टाइना का स्थान द्वितीय है। ब्राजील एवं अन्य अमेरिकन देशों ने भी आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड की भांति अनेक प्रवासियों को स्थान दिया है।

यूरोपीय स्थानान्तरण से द्वितीय स्थान पर जनसंख्या का प्रवास चीन से प्रमुखतया मंचूरिया से हुआ, जिसमें जापान के साथ युद्ध के पहले लगभग पचास लाख अथवा एक करोड़ व्यक्तियों ने प्रवास किया। जापान से प्रवास का अनुपात सापेक्षतया कम रहा। जापान से बाहर लगभग साढ़े दस लाख से कम व्यक्ति रह रहे हैं। अफ्रीका से अफ्रीकावासियों को उनकी इच्छा के विपरीत दास-व्यापार के युग में प्रवास करना पड़ा।

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त अन्य तत्व भी प्रवास को प्रभावित करते हैं। इन तत्वों में महत्वपूर्ण हैं—नए देश में पहुंचने की सुविधा एवं गतिशीलता पर प्रतिबन्धों का अभाव। यातायात की सुविधा न होने के कारण नए देश की

अनभिगम्यता आयासियों की संख्या को सीमित कर देती है। जब मनुष्यों के पास केवल छोटी नौकाएँ थी तो वे सीमित संख्या में ही प्रवास कर सकते थे। वर्तमान काल में यातायात की उच्च सुविधाओं ने गतिशीलता में वृद्धि कर दी है। कभी-कभी सरकार भी गतिशीलता पर प्रतिबंध लगा देती है। इन प्रतिबंधों का कारण आर्थिक एवं राजनीतिक तत्व हो सकते हैं। ऐसे प्रतिबंधों से प्रवास रुक जाता है। यात्रा हेतु पारपत्रों एवं वीसा की आवश्यकता होती है। आरम्भिक वर्षों मे संयुक्त राज्य में सभी नवागन्तुकों का स्वागत हुआ करता था, चाहे वे कैदी रहे हों अथवा क्रांतिकारी। तदुपरांत विश्वासों, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं आचार नियमों से संबंधित परीक्षण आरोपित किए गए। १९२४ के अधिनियम ने प्रवास की सीमा लगभग १,५०,००० व्यक्ति वार्षिक निर्धारित की। इस प्रकार, प्रवास केवल भौतिक अवस्थाओं द्वारा ही निर्धारित नही होता, अपितु आर्थिक मूल्यों, राजनीतिक अवरोधकों, नृवंशीय मनोवृत्तियों एवं सीमित क्षेत्रों का भी प्रवास पर प्रभाव पड़ता है।

प्रवास कौन करता है (Who migrates)—एक रोचक प्रश्न यह उठता है कि व्यग्र एवं अस्थिर अथवा अधिक बुद्धिमान व्यक्तियों में से कौन प्रवास करता है? क्या श्रेष्ठ व्यक्ति देश में रहते हैं अथवा देशान्तर गमन करते हैं? क्या प्रवासी केवल सामान्य लोग होते हैं?

प्रवासियों के अभी तक किए गए अध्ययनों से ज्ञात होता है कि अधिकांशतया युवक वयस्क ही साधारणतः प्रवास करते हैं। अप्रवासियों में पुरुषों की संख्या अधिक होती है जो परिवार को पीछे छोड़ जाते हैं। जहाँ तक आप्रवासियों के बुद्धि-स्तर का प्रश्न है, जिस्ट एवं क्लार्क (Gist and Clarke) की खोज है कि बौद्धिक परीक्षणों के आधार पर श्रेष्ठ व्यक्ति घटिया अथवा सामान्य श्रेणी के व्यक्तियों की तुलना में अधिक सख्या में देशान्तर गमन करते हैं। भारत से अनेक प्रविधिक लोग, यथा इजीनियर, चिकित्सक, वैज्ञानिक एवं प्राध्यापको ने संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, यूनाइटेड किंगडम तथा अन्य देशों को प्रवास किया है, क्योंकि वहाँ उनके लिए धनोपार्जन के अधिक श्रेष्ठ अवसर उपलब्ध हैं।

जनप्रवास केवल राजनीतिक आपात्कालीन स्थिति को छोड़कर अब लगभग बन्द हो गया है। उदाहरणतया, तिब्बत पर चीनी आक्रमण के समय हजारो तिब्बतियों ने भारत में आप्रवास किया। जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, संसार के प्रमुख देशों ने आप्रवासियों के विरुद्ध अनेक कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिए हैं, क्योंकि अप्रतिबंधित जनाप्रवास आर्थिक मंदी, व्यापक बेरोजगारी एवं निर्धनता की वृद्धि करता है।

आप्रवासियों की समस्याएँ (Problems of immigrants)—प्रवास सुगम नही है। इससे कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। प्रवास से उत्पन्न होने वाली औद्योगिक समस्याएँ अनेक हैं। आप्रवासी को उचित वेतन पर स्वीकार्य धंधा मिलने में कठिनाई हो सकती है। यदि उसे अच्छी नौकरी नहीं मिलती अथवा वे अवस्थाएँ जिनके अधीन उसे कार्य करना पड़ता है, रुचिकर नहीं हैं अथवा उसके साथ दुर्व्यवहार अथवा उसका शोषण किया जाता है तो उसमें अपने प्रति अन्याय की भावना का विकास हो जाता है तथा वह क्रांतिवाद की ओर झुक जाता है।

आप्रवासियों की सामाजिक समस्याएँ भी अनेक हैं। यदि आप्रवासी को उस देश की भाषा नही आती तो वह अकेला पड़ जाता है। जब आप्रवासी और मूल निवासी एक-दूसरे की भाषा को नही समझ पाते तो इससे एक-दूसरे की संस्कृति को समझने मे वास्तविक बाधा उत्पन्न होती है। आप्रवासी को पूर्वाग्रह से देखा जाता है।

आवास-परिस्थितियाँ भी आप्रवासी के लिए समस्या उत्पन्न करती हैं। उसे मालूम होता है कि अपने देश की अपेक्षा आगत देश मे, विशेषतया बड़े नगर मे आवास की समस्या गंभीर है। इसके अतिरिक्त प्रवास करते समय उसकी उच्च आकांक्षाएँ थी, परन्तु जब उसे मालूम होता है कि आवास-परिस्थितियाँ उसके देश से श्रेष्ठतर नहीं हैं अथवा कदाचित् खराब ही हैं तो उसे बड़ा धक्का लगता है। ये सभी समस्याएँ अन्तत. प्रजातीय संघर्षों का कारण बन जाती हैं।

जनसंख्या एवं राष्ट्रीयता (Population and Nationalism)

आजकल जनसंख्याएँ राष्ट्रों एवं राज्यों में समूहीकृत होती हैं। महान् शक्तिशाली देशों की जनसंख्या, कुछ अपवादों को छोड़कर बहुत अधिक है। रूस की जनसंख्या २१·९ करोड़, संयुक्त राज्य की १९·० करोड़ है जिन्हे संयुक्त राष्ट्र संघ मे महान् शक्तियाँ कहा जाता है, परन्तु भारत को इसकी जनसंख्या ५४·७ करोड़ के बावजूद महान् नही आँका जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि केवल जनसंख्या ही राष्ट्रों की महानता को निश्चित नहीं करती। देश को प्राकृतिक साधनों एव प्रौद्योगिकी मे भी धनी होना चाहिए, ताकि इन साधनों का प्रयोग उत्पादनों और विशेषतया युद्ध के लिए संहारक शस्त्रों का निर्माण करने में किया जा सके। तथापि राष्ट्रों की महानता को निर्धारित करने मे मानव-शक्ति महत्वपूर्ण तत्व है। भारत भी किसी दिन महान् राष्ट्र बन सकता है।

राष्ट्रीयता एक देश से दूसरे देश में लोगों के आवागमन की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा देती है। कुछ राज्य अपने नागरिकों को देश में ही रखना चाहते हैं, ताकि उन्हे श्रमिकों एव सैनिकों की कमी न हो। कुछ देश प्रवास की अनुमति इस कारण नही देते कि उनके पास विदेशी मुद्रा की कमी होती है। अनेक देश आप्रवासियो का आर्थिक, सामाजिक अथवा देशभक्तीय तत्वो के कारण स्वागत नही करते।

इस तथ्य से इकार नही किया जा सकता कि देशों के मध्य प्रवास पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण की आवश्यकता है। कोई देश दूसरे देश के प्रवासियो के लिए अपने द्वार खोलना नही चाहता, यद्यपि पूर्वोक्त के पास उत्तरोक्त की तुलना मे अधिक भूमि है। आजकल अतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाएँ तीव्र हैं तथा प्रजातीय पूर्वाग्रह भी दृढ़ है। भूतकाल में आप्रवासी अग्नि एवं तलवार के साथ घुसते थे। कदाचित् भविष्य में भी ऐसा ही हो यदि देशों के मध्य प्रवास पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित करने में सफलता न मिली।

२. जनसंख्या का वितरण
(Distribution of population)

संसार की संपूर्ण जनसंख्या न केवल अभूतपूर्व तीव्रतम दर से बढ़ रही है, अपितु वह संसार के विभिन्न भागों में समवितरित भी नहीं है। पृथ्वी के कुछ भागों में तो जनसंख्या बहुत अधिक है, जबकि दूसरे भागों में कम है। संसार के घने बसे हुए क्षेत्र दक्षिणी चीन, भारत, यूरोप एवं पूर्वी अमेरिका हैं। कम जनसंख्या वाले क्षेत्र हैं—पश्चिमी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, कनाडा एवं ध्रुवीय प्रदेश।

यूरोप संसार की जनसंख्या का लगभग एक-चौथाई भाग है। इसकी जनसंख्या ६५·५ करोड़ जनगणना के अनुसार, न कि अनुमान के आधार पर है। उत्तरी अमेरिका की जनसंख्या २०·५ करोड़ है जो पृथ्वी की जनसंख्या का पन्द्रहवाँ भाग है।

अफ्रीका की जनसंख्या यूरोप की तुलना में बहुत विशाल नहीं है। यह अनुमानतः २६.५ करोड़ है। कम जनसंख्या के कारण प्रौद्योगिकीय विकास का पिछड़ापन एवं जलवायु हैं।

आस्ट्रेलिया एक बड़ा द्वीप है, स्वयं एक महाद्वीप है परन्तु इसकी जनसंख्या बहुत अधिक नहीं है। यह लगभग १ करोड़ है।

एशिया जो सबसे बड़ा महाद्वीप है, में संसार की आधी जनसंख्या से अधिक निवास करती है। यह अनुमानतः ५६ प्रतिशत है। भारत एवं चीन दोनों देशों में एशिया की तीन-चौथाई जनसंख्या निवास करती है। चीन की जनसंख्या का अनुमान ७०.० करोड़ है।

महाद्वीपों में जनसंख्या का वितरण १६५० एवं १९६२ में निम्न प्रकार था—

महाद्वीप	१६५०	१९६२
यूरोप	१८·३	२०.७
उत्तरी अमेरिका	०.२	६.५
ओसेनिया	०.४	०.५
अफ्रीका	१८.३	८.६
एशिया	६०.६	५६.५
लैटिन अमेरिका	२.२	७.२

इस सारिणी से पता चलता है कि जब संसार की जनसंख्या में अमेरिका के अनुपात में वृद्धि हुई है, एशिया में यह घट गया है।

१६५० से पूर्व वर्षों में जनसंख्या के वितरण को आँकड़ों में प्रकट नहीं किया गया है, परन्तु चूँकि ३०० वर्ष पूर्व की तुलना में उस समय यातायात के साधन एवं कृषि के ढंग कम उन्नत थे, अतएव यह अनुमान ठीक होगा कि जितना पीछे की ओर जायेंगे, जनसंख्या उतनी ही कम होगी।

कुछ महत्वपूर्ण देशों की जनसंख्या निम्नलिखित है—

रूस २१.९ करोड़, संयुक्त राज्य अमेरिका १८.५ करोड़, यूनाइटेड किंगडम ५.२ करोड़, इटली ५.० करोड़, फ्रांस ४.६ करोड, बेल्जियम ९० लाख, स्विट्जरलैंड ५० लाख, स्वेडन ७० लाख, स्पेन ३.० करोड़, ग्रीस ८.१ करोड़, डेनमार्क ४० लाख, चीन ७०.० करोड़, भारत ५४.७३ करोड़, जापान ९.३ करोड़।

जनसंख्या के घनत्व के कारण (Causes of Density of Population)

जनसंख्या के वितरण से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि संसार के कुछ भाग अन्य भागों की अपेक्षा अधिक घने बसे हुए क्यों हैं? जनसंख्या का वितरण भौगोलिक तत्वों से सम्बन्धित है। मनुष्य भूमि की उत्पादन-क्षमता पर निर्भर करता है, जिसमें न केवल मिट्टी की उर्वरता, अपितु खनिज-सम्बन्धी साधनों की प्राप्यता भी सम्मिलित है जो उसकी जीविका एवं उन साधनों के लिए आवश्यक है जो केवल जीविका को स्तरीकृत जीविका में बदल देता है। निम्नलिखित तत्व जनसंख्या के घनत्व को निर्धारित करते हैं—

(i) जलवायु (Climate)—मानवी जनसंख्या की सीमाओं को निश्चित करने वाला यह महत्वपूर्ण तत्व है। मानव प्राणियों के जीवित रहने हेतु तापमान एवं आर्द्रता की एक निश्चित सीमा का होना आवश्यक है। तापमान, वर्षा एवं आर्द्रता जनसंख्या के आकार को निर्धारित करते हैं।

जनसंख्या को आकर्षित करने हेतु प्रदेश विशेष का औसत वार्षिक तापमान ४५° से ५५° फ़ेरनहीट (Fahrenheit) तक होना चाहिए। संसार की जनसंख्या का एक-तिहाई से कम भाग उन प्रदेशों में रहता है, जहाँ औसत वार्षिक तापमान ५५° से अधिक है तथा केवल एक प्रतिशत भाग ७०° या उससे अधिक तापमान वाले प्रदेशों में रहता है।

उच्च तापमान की भाँति उच्च आर्द्रता भी जनसंख्या की वृद्धि को रोकती है। जहाँ मानव-समूहों ने उष्ण कटिबन्ध में गमन किया है, उनका विकास अवरुद्ध हुआ है। यदि उष्ण कटिबन्ध मानवता का विकास-स्थल रहे हैं तो शीतोष्ण कटिबन्ध सभ्यता के विकास-स्थल रहे हैं।

जिन प्रदेशों में वर्षा की कमी होती है, वहाँ जनसंख्या का घनत्व कम होता है। मरुस्थलीय प्रदेश जनसंख्या की वृद्धि के प्राकृतिक अवरोधक हैं। वर्षा की कमी के कारण मिट्टी अनुपजाऊ अथवा बंजर रहती है, अतएव जनसंख्या भी कम होती है। प्रारम्भिक मानव-समूह उन स्थानों पर विकसित हुए जहाँ भोजन सुगमता से उपलब्ध था।

(ii) भूमि-उर्वरता (Soil fertility)—जनसंख्या उन क्षेत्रों में घनी हो जाती है जहाँ भूमि उर्वर होती है एवं भोजन सस्ता मिलता है। संसार के भू-क्षेत्रों के विशाल भाग अत्यधिक जनसंख्या को धारण करने के लिए अत्यन्त शुष्क हैं अथवा अत्यन्त ठंडे। प्रायः पृथ्वी की ८० प्रतिशत भूमि को अनाज के लिए अथवा चराने के लिए अनुपयुक्त निर्धारित किया गया है और शेष २० प्रतिशत में प्रायः एक-तिहाई भाग को आहार उत्पन्न करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। इस प्रकार नदी की घाटियों में मानव प्राणियों की संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। सर्वप्रथम

विशाल जनसंख्याएँ गंगा, यूफ्रेट, यांगसी-क्यांग तथा नील की घाटियों में विकसित हुईं।

(iii) भूतल (Surface)—पर्वतीय प्रदेशों में जनसंख्या कम होती है। संसार की जनसंख्या का केवल अल्प भाग ही समुद्री तल से ५,००० फीट अथवा इससे अधिक ऊँचाई पर रहता है। अधिकांशतया जनसंख्या १०० एवं १,००० फीट के मध्य ऊँचाई पर रहती है।

(iv) आर्थिक विकास का स्तर (Stage of economic development)—जनसंख्या उन क्षेत्रों, जो आर्थिक विकास की उच्च सीमा पर पहुँच गए हैं, में घनी हो जाती है। ऐसा देश जो उच्च प्रकार से औद्योगीकृत अथवा कृषिकर हो गया है, की जनसंख्या उस देश से अधिक होगी जो चरागाह युग से गुजर रहा है।

इस प्रकार जनसंख्या का आकार मानवी प्रयत्नों एवं प्रकृति दोनों द्वारा जुटाई गई सुविधाओं से सबंधित है। जब कि जावा में प्रति वर्गमील में १०० से अधिक व्यक्ति रहते हैं, कनाडा मे प्रति वर्गमील मे ३ से कुछ अधिक व्यक्ति ही रहते हैं।

भारत मे जनसंख्या का वितरण

(Populatiom Distribution in India)

विश्व-सदर्भ मे जनसख्या के वितरण का अवलोकन कर लेने के उपरात अब हम राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इस पर विचार कर सकते है।

१९७१ की जनगणना के अनुसार भारतीय संघ की जनसंख्या में १९६१ की जनसंख्या से २४·८० प्रतिशत की वृद्धि हो गई है। १९७१ की जनगणना के अनुसार भारत के विभिन्न भागो मे जनसंख्या का वितरण निम्न प्रकार है—

आध्र प्रदेश	४,३५,०२,७०८
आसाम	१,४६,२५,१५२
बिहार	५,६३,५३,३६९
गुजरात	२,६६,९७,४७५
जम्मू एवं कश्मीर	४६,१६,६३२
केरल	२,१३,४७,३७५
मध्य प्रदेश	४,१६,५४,११९
तमिलनाडु	४,११,९९,१६८
महाराष्ट्र	५,०४,१२,२३५
कर्नाटक	२,९२,९९,०१४
नागालैंड	५,१६,४४९
उड़ीसा	२,१९,४४,६१५
पंजाब	१,३५,५१,०६०
हरियाणा	१,००,३६,८०८
राजस्थान	२,५७,६५,८०६
उत्तर प्रदेश	८,८३,४१,१४४

पश्चिमी बंगाल	४,४३,१२,०११
चंडीगढ़	२,५७,२५१
अंडमान एवं निकोबार	१,१५,१३३
दिल्ली	४०,६५,६९८
हिमाचल प्रदेश	३४,६०,४३४
लक्षद्वीप	३१,८१०
पांडिचेरी	४,७१,७०७
दादरा एवं नगर हवेली	७४,१७०
मनीपुर	१०,७२,७५३
त्रिपुरा	१५,५६,३४२
गोआ, दमन-द्यू	८,५७,७७१
मेघालय	१०,११,६९९
मिजोरम	३,३२,३९०
अरुणाचल प्रदेश	४,६७,५११

आयु-विभाजन (Age distribution)—भारतीय जनसंख्या का आयु के अनुसार वितरण एक पिरामिड के रूप मे प्रकट किया जा सकता है, जिसकी आधार-शिला अत्यन्त विशाल है, परन्तु जो ऊपर की ओर घटता-घटता एक बिन्दु बन जाता है। इस आयु-पिरामिड का आधार विशाल भारत मे ऊँची जन्म-दर के कारण है। ५ एवं १४ वर्षों की आयु वर्ग के व्यक्ति अधिकतम संख्या में जीवित रहते हैं।

75— OVER— 10
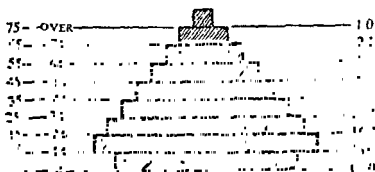
उन्नतशील देश की आयु-पिरामिड मे मध्य आयु-समूह में उभार होता है जिसके पश्चात् नुकीलापन आरम्भ हो जाता है, परन्तु भारतीय आयु पिरामिड मे नुकीलापन आधारशिला के तुरन्त बाद आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार, निम्नतर आयु-समूहों मे जनसंख्या अधिक होती है जब कि अधिक आयु वाले समूहों मे जनसंख्या कम है। इसका कारण उच्च मरणशीलता एवं प्रजनन-क्षमता है। भारत में आश्रितो की सख्या में बच्चों की संख्या अधिक है। १५ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों की संख्या सयुक्त राज्य मे संपूर्ण जनसंख्या का २५·१%, ब्रिटिश मलाया में ३१·४%, फिलीपाइन्स मे ३३% चीन मे ३३·७%, जापान मे ३६%, भारत ४१% है। दूसरी ओर, ५० वर्ष की आयु से ऊपर व्यक्तियो की संख्या संयुक्त राज्य मे २०·३%, जापान मे १५·२%, फिलीपाइन्स में १०·३% तथा भारत में ९·०६% है।

लैंगिक वितरण (Sex distribution)—भारत में १९७१ की जनगणना के अनुसार प्रत्येक १,००० पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या ९३० है। स्त्रियों की संपूर्ण जनसंख्या ३६·४ करोड़ है। १९६१ में प्रत्येक १,००० पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या ९४२ थी, जब कि १९५१ में यह ९४६ थी। इस प्रकार, स्त्री जनसंख्या की प्रवृत्ति कम की ओर है। यद्यपि समूचे तौर पर भारत में स्त्रियों की कमी है, तथापि कुछेक राज्यों, यथा केरल, उड़ीसा, गोआ, दमन-द्यू, मनीपुर, पांडिचेरी एवं लक्षद्वीप में पुरुषों की आनुपातिक संख्या कुछ कम है।

देहातों एवं नगरों में जनसंख्या-वितरण (Population Distribution between Villages and Towns)

१९७१ की जनगणनानुसार १९·९१% जनसंख्या नगरों में निवास करती थी, जबकि शेष ८०·०९% देहातों में रहती थी। निम्नलिखित सारिणी से प्रकट होता है कि भारत में शहरी जनसंख्या की वृद्धि हो रही है—

जनगणना वर्ष	ग्रामीण	शहरी
१८७२	९१·३	६·७
१८८१	९० ६	९·४
१८९१	९०·५	९·५
१९०१	९०.२	९·८
१९११	९०·६	९·४
१९२१	८९·७	१०·३
१९३१	८९·०	११·०
१९४१	८७·०	१३·०
१९५१	८२·७	१७·३
१९६१	८२·०	१८·०
१९७१	८०·०९	१९·९१

यद्यपि नगरीकरण की दर मे वृद्धि हो रही है तथापि दर की वृद्धि अति धीमी है। इंग्लैंड मे देहाती जनसंख्या १८५१ मे ४९.८% से घट कर १९२१ में १९·३% हो गई। सयुक्त राज्य अमेरिका में जनसंख्या का केवल एक-चौथाई भाग देहातो मे निवास करता है। १७९० में कोई विशेष नगरीय जीवन नहीं था। उस समय अमेरिकन जनसंख्या का केवल तीन प्रतिशत भाग ८,००० से अधिक आबादी वाले क्षेत्रों में रहता था, परन्तु अब संपूर्ण जनसंख्या का लगभग एक-तिहाई भाग १,००,००० से अधिक आबादी वाले नगरों में रहता है। जापान में नगरीय जनसंख्या के प्रतिशत में १९२० में ३२·२ से १९४० में ५१·१ की वृद्धि हुई जो बीस वर्षों में १८% की वृद्धि है, जबकि भारत में वृद्धि केवल ३% हुई। इस प्रकार अन्य उन्नतशील औद्योगिक देशों में जनसंख्या का अधिकाश भाग नगरीकृत हो गया है। भारत मे नगरीकरण की धीमी गति कम औद्योगिक उन्नति का चिह्न है, क्योंकि औद्योगिक उन्नति में जनसंख्या का बड़ा भाग प्राथमिक उद्योगों से माध्यमिक एव उन्नत उद्योगों में चला जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, यूनाइटेड किंगडम, कनाडा, आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड में श्रमिक-जनसंख्या का

लगभग आधा भाग उन्नत उद्योगों में कार्य करता है। भारत में अभी केवल १४२ नगर ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या एक लाख अथवा इससे अधिक है।

४. जनसंख्या की वृद्धि
(Growth of Population)

इस अध्याय के आरम्भ में हमने बतलाया था कि संसार की जनसंख्या में पिछले तीन सौ वर्षों में अधिक तेजी से वृद्धि हुई है। औद्योगिक क्रांति ने संसार की जनसंख्या में सर्वप्रथम तीव्रतम वृद्धि की। इसने न केवल यूरोप की जनसंख्या की वृद्धि को अभूतपूर्व प्रेरणा दी, अपितु अन्य क्षेत्रों में इसके प्रसार ने संसार के चारों ओर इसके प्रभाव को विस्तृत किया। सर्वप्रथम मानव-समूहों के लिए समुद्र-पार गमन करना संभव हुआ। विश्वस्त अनुमानों के अनुसार, संसार की जनसंख्या १६५० में ५४·५ करोड़ व्यक्तियों से बढ़कर १९६२ में ३१५·० करोड़ हो गई। निम्न सारणी इस वृद्धि को सूचित करती है—

वर्ष	जनसंख्या (दस लाख में)	वार्षिक प्रतिशत वृद्धि
१६५०	५४५	
१७५०	७२८	०·२९
१८००	९०६	०·४४
१८५०	१,१७१	०·५१
१९००	१,६०८	०·६३
१९४०	२,१७१	०·७५
१९५०	२,३५०	०·८५
१९६०	२,९९५	२·७

उपर्युक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि १६५० एवं १७५० के मध्य वृद्धि की दर पूर्व ही इतनी अधिक ऊँची थी कि यह अधिक लम्बे काल तक नहीं चल सकती थी। परन्तु विचित्र बात यह है कि वृद्धि की यह दर आधुनिक काल के किसी प्रमुख युग के दृष्टिकोण से निम्नतम थी। १७५० से १८०० के मध्य वृद्धि की दर पूर्व काल की आधी संख्या तक पहुँच गई। १८०० के बाद भी दर में वृद्धि होती गई। इस प्रवृत्ति की दिशा स्पष्ट है—संसार की जनसंख्या अभी तक अपने शिखर पर नहीं पहुँची है। यह तीन सौ वर्षों में चार गुनी बढ़ गई है तथा गत एक सौ वर्षों में दुगने से अधिक हो गई है।

गत तीन सौ वर्षों में संसार की जनसंख्या पाँच गुनी क्यों बढ़ गई है?

औद्योगीकरण (Industrialization)—संसार की जनसंख्या में वृद्धि जो सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग आरम्भ हुई, यूरोप में सर्वप्रथम प्रकट हुई एवं अभी तक यूरोप ही इसमें अग्रणी था। यूरोप में औद्योगिक सभ्यता का जन्म हुआ था। औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन में वृद्धि की तथा अल्पकाल में ही लोगो के लिए पूर्व किसी काल की अपेक्षा अधिक खाद्यान्न वस्तुएँ एवं अधिक धन प्राप्य था।

यूरोप मे औद्योगीकरण ने भौतिक लाभों की वृद्धि द्वारा मरण-दर को भी प्रभावित किया। वस्तुओं एवं सेवाओं के विस्तार में अधिक श्रमिकों की आवश्यकता

होती है तथा खाद्यान्न-उत्पादन में वृद्धि अधिक व्यक्तियों के लिए भोजन सुलभ बना देती है जिससे जन्म-दर में वृद्धि हो जाती है। कृषिकर एवं औद्योगिक उत्पादन में उन्नति तथा यातायात में प्रगति ने मनुष्य के प्राचीन शत्रुओं—अकाल, अपर्याप्त पोषण एवं रोगग्राह्यता के प्रभाव को कम कर दिया। इसी प्रकार, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं एव सार्वजनिक स्वच्छता की उन्नति ने भी योगदान दिया। मरण-दर काफी तेजी से घट गई।

यह तर्क रखा जा सकता है कि चूँकि जन्म-दर भी घटी, अतएव जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि नही होनी चाहिए थी। परन्तु यह तर्क त्रुटिपूर्ण है। जन्म-दर में कमी होने से यूरोप मे जनसंख्या की वृद्धि की दर मे कमी हुई है, परन्तु कुल जनसख्या में तो वृद्धि ही हुई है क्योकि निम्न जन्म-दर के साथ-साथ मृत्यु-दर भी तो कम हो गई है जिससे जनसंख्या परिणामतः बढ़ी है।

अब यूरोप की तुलना में एशिया की जनसंख्या तेजी से बढ रही है। वृद्धि की दर २ अथवा ३ प्रतिशत तक है। सयुक्त राष्ट्र के अनुमानों के अनुसार वर्ष २,००० तक एशिया की जनसख्या ३·९ अरब हो जाएगी जो संसार की जनसख्या का ६२ प्रतिशत होगा।

विभिन्न अनुमानों के अनुसार भारत की जनसख्या वर्तमान काल से पूर्व एवं इसके अधिकाश भाग मे स्थिर थी। केवल पिछली शताब्दी मे पहले धीमे-धीमे तथा बाद मे तेजी से वृद्धि आरम्भ हुई। निम्नलिखित आँकडे इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं—

वर्ष	जनसख्या (करोड़ मे)	वृद्धि अथवा कमी
१८७२	२०·६१६	...
१८८१	२५·३८९	+२३ २
१८९१	२८·७३१	+१३·२
१९०१	२९·४३६	+ २·५
१९११	३१·५१५	+ ७·१
१९२१	३१·८९४	+ १·२
१९३१	३५·२८	+१०·६
१९४१	४०·५८२	+१५
१९५१	३५·६	—१४
१९६१	४३·९	+२१·६४
१९७१	५४·७	+२४ ८०

१९५१ मे जनसख्या कम हो जाने का कारण १९४७ मे भारत का विभाजन था, अन्यथा भारत की जनसख्या सदैव वृद्धि पर रही है।

जनसंख्या में परिवर्तन के कारण (Causes of Population Change)

जनसंख्या में परिवर्तन मुख्य रूप से जन्म-दर में वृद्धि अथवा मृत्यु-दर में कमी के कारण होता है। दूसरे शब्दों मे, इसका निर्धारण दो तत्वों—जनन-क्षमता एवं मरणशीलता, द्वारा होता है। संसार की जनसंख्या की वृद्धि के बारे में विशेष बात यह है कि इसकी वृद्धि जन्म-दर में वृद्धि के कारण इतनी नही हुई, जितनी

मृत्यु-दर में कमी के कारण हुई है। संसार भर में जन्म-दर की प्रवृत्ति कम की ओर है, जैसा कि निम्नलिखित सारिणी से स्पष्ट है—

जन्म-दर (प्रति हजार)

देश	१८८१–८५	१९०९	१९३०	१९४९	१९५०	१९६२
आयरलैंड	२३	२३·५	१९·०	२१·५	२१·३	२१·८
फ्रांस	२४·७	१९·६	१७·१	२०·९	२०·५	१७·७
बैल्जियम	—	—	१८·२	१७·२	१६·९	१६·८
इंगलैंड	३५·५	२५·८	१६·१	१७·१	१६·२	१८·३
संयुक्त राज्य	—	—	१८·६	२३·९	२३·५	२२·४
भारत	३५·८३	३८·१८	३५·९९	२६·७	२४·८	२५·८
जापान	—	—	३१·८	३२·८	२८·२	१७·०

जन्म-दर (Birth-rate)—जैसा कि स्पष्ट है, जन्म-दर की प्रवृत्ति कमी की ओर है। यह ह्रास लोगों की जनन-क्षमता की कमी के कारण नहीं है। विवाह में देरी जन्म-दर में साधारण रूप से परिवर्तन की व्याख्या कर सकती है, क्योंकि विवाह का स्थगन अधिक देर तक नहीं चलता। जन्म-दर में कमी मुख्यतः परिवार के आकार को सीमित करने की इच्छा तथा तदर्थ साधनों के आविष्कार के कारण हुई है। इन साधनों की खोज सर्वप्रथम फ्रांस में हुई, जहाँ से यह अन्य क्षेत्रों में भी पहुँच गई। यह पहले नगरों में धनी लोगों में फैली। देहातों में इसका प्रसार अत्यन्त धीमी गति से हुआ। धनी वर्गों में जन्म-दर निर्धन वर्गों की तुलना में कम होती है।

मृत्यु-दर (Death-rate)—ऊपर हमने बतलाया था कि जनसंख्या में वृद्धि का कारण जन्म-दर में वृद्धि इतना नहीं है, जितना मृत्यु-दर में ह्रास। जिस प्रकार जन्म-दर में प्रवृत्ति ह्रास की ओर है, उसी प्रकार मृत्यु-दर भी कमी की ओर है। निम्न तालिका विभिन्न देशों में निम्न मृत्यु-दर को दर्शाती है—

मृत्यु-दर (प्रति हजार)

देश	१८५०	१८९०	१९१०	१९२० | १९२४	१९३० | १९३४	१९३५ | १९३९	१९४९	१९५१	१९५२	१९६
आयरलैंड	—	—	—	१४·६	१४·१	१४·३	१२·८	४·३	११·९	११·
स्पेन	—	३१·०	२३·०	२१·०	१६·५	१७·०	११·६	११·६	९·७	९·
इटली	—	२६·०	२१·०	१७·८	१४·७	१३·९	१०·५	१०·३	१०·०	९·
फ्रांस	२४·०	२२·०	१९·०	१७·३	१५·९	१५·६	१३·७	१३·३	१२·३	११·
बैल्जियम	२३·०	२१·०	१६·०	१३·७	१३·२	१३·३	१२·९	१२·६	१२·०	१२·
इंगलैंड	२३·०	१९.०	१४·०	१२·५	१२·२	१२·२	११·७	१२·६	११·४	११·
संयुक्त राज्य	—	—	—	१२·०	११·०	११·०	९·७	९·७	९·६	९·
जापान	—	—	—	२३·०	१८·१	१८·१	११·६	१०·०	८·९	७·
फिलीपाइन्स	—	—	—	—	१७·१	१६·७	—	९·१	६·०	—
भारत	—	—	४२·६	४७·२	—	३६·३	—	—	२७·४	२२·१

यद्यपि भारत में अन्य देशों की तुलना में मृत्यु-दर ऊँची है, तथापि इसमें ह्रास की ओर प्रवृत्ति स्पष्ट है। भारत मे ऊंची मृत्यु-दर का कारण शिशु-मरणशीलता तथा प्रजनन के समय स्त्री की उच्च मरणशीलता के कारण हैं। लगभग २० प्रतिशत बालक एक वर्ष की आयु से पूर्व ही मर जाते हैं। प्रजनन आयु-वर्ग की स्त्रियो मे मरणशीलता की दर २५·०५ प्रति हजार है। दूसरे देशों में मृत्यु-दर प्रत्येक आयु-वर्ग में शिशु-अवस्था मे भी कम हो गई है। मृत्यु-दर को कम करने में चिकित्सा-विज्ञान में उन्नति का प्रमुख योगदान रहा है। इंग्लैंड में गत शताब्दी के दौरान शिशु मृत्यु-दर मे प्रभावशील ह्रास हुआ है। एक सौ वर्ष पूर्व चार बच्चों मे से केवल तीनचार वर्ष की आयु तक पहुंचते थे। आजकल यह प्रतिशत चालीस वर्ष की आयु से ऊपर मरता है। अमेरिका मे आजकल प्रत्येक हजार मे ८५ शिशु जीवित रहते हैं जो यदि वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में जन्म लेते तो मर जाते।

जीवन-रेखा (Length of life)—मृत्यु-दर में ह्रास जीवन-रेखा को बढाता है। पश्चिमी देशो में जीवन-रेखा में काफ़ी वृद्धि हुई। इंग्लैंड में पुरुषों के लिए यह १८४१ में ४०.१९; १८९१-१९०० में ४४.१३; १९३०-३२ में ५८.७४ तथा १९४०-५० मे ६६.३९ वर्ष हो गई थी। स्त्रियों के लिए यह ७१.१५ थी। संयुक्त राज्य अमेरिका में जीवन की संभावी आयु ६८.४ है। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ के समय जीवन की संभावी आयु जापान में ४३, रूस में ४५, फ्रांस में ५७, नार्वे में ६३, न्यूजीलैंड में ६७ वर्ष थी। भारत में औसत मानव-जीवन की आयु २७ वर्ष थी जो अब बढ़कर ४१ वर्ष हो गई है। भारत में जीवन की संभावी आयु के कम होने का कारण शिशु-मरणशीलता की ऊंची दर है—शिशुओं का पाँचवाँ भाग एक वर्ष की आयु से पूर्व ही मर जाता है।

जनसंख्या में वृद्धि (Increase in Population)

यद्यपि समस्त संसार मे जन्म-दर घट रही है, तथापि जनसंख्या बढ़ रही है। उदाहरणतया भारत मे जन्म-दर १९३० मे ३५.२९ प्रति हजार से १९५१ में २४·९ हो गई, परन्तु कुल जनसंख्या कई गुनी बढ़ी गई। इसी प्रकार इंग्लैंड मे यद्यपि जन्म-दर ५.७ प्रति हजार कम हो गई है, संपूर्ण जनसंख्या १८९० से प्रथम विश्वयुद्ध तक लगभग समान रही। जन्म-दर घटने के बावजूद जनसंख्या की वृद्धि का कारण यह है कि जन्म-दर के साथ मृत्यु-दर भी कम हो रही है। भारत में १९४९-५१ के दौरान जन्म-दर दो प्रति हजार कम हुई, जबकि मृत्यु-दर अधिक गिरी चार प्रति हजार। इस प्रकार जनसंख्या २ प्रति हजार बढ़ी। यदि जन्म-दर के ह्रास के साथ मृत्यु-दर में भी कम ह्रास नहीं होता तो जनसंख्या बढ़ेगी।

इससे स्पष्ट है कि भारत की जनसंख्या में अन्य देशों की अपेक्षा अवश्य वृद्धि होगी। भारतीय जनसंख्या मे विगत वृद्धि को देखते हुए कहा जा सकता है कि १९२ से हमारी जनसख्या में सापेक्षतया तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। इस परिघटना का एक ही कारण है, जन्म-दर की वृद्धि एवं मृत्यु में ह्रास। निकट भविष्य में जन्म- में कोई प्रभावशील ह्रास होने के चिह्न प्रतीत नहीं होते, जब तक स्वैच्छिक परिवा परिसीमन के विचार को लोकप्रिय बनाने हेतु ठोस प्रयत्न नहीं किए जाते। आ

उन्नति से स्वास्थ्य सम्बन्धी उपायों में वृद्धि हो जाने के कारण मृत्यु-दर और भी अधिक घट जाएगी।

मालथस का निराशावाद (Malthus pessimism)—माल्थस (Malthus) जो एक अंग्रेज व्यक्ति एवं अर्थशास्त्री था, ने जनसंख्या की वृद्धि को एक दुखद घटना कहा है। अपने ग्रंथ 'Essay on Population' (१७९८) में उसने लिखा है कि "जनसंख्या यदि नियंत्रित न की जाए, रेखागणितीय अनुपात में बढ़ती है, जबकि उपजीविका गणितीय अनुपात में।" उसने कहा कि यदि पहली पीढ़ी में चार बच्चे थे तो चौथी पीढ़ी में १६ हो जायेंगे और इन १६ से ६४ हो जायेंगे तथा जनसंख्या इसी प्रकार तेजी से बढ़ती जाएगी। परन्तु खाद्यपूर्ति मे इतनी तेजी से वृद्धि नहीं होगी। यह गणितीय अनुपात यथा, २, ४, ६, ८ में बढ़ती है। मालथस ने अत्यंत भयंकर चित्र प्रस्तुत किया है। उसने कहा कि यदि जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित न किया गया तो मानव जाति भूखों मर जायेगी। उसने लिखा है "वे नियंत्रण जो जनसंख्या की बढ़ती हुई शक्ति को दबाते हैं तथा इसके प्रभावों को जीवन-निर्वाह के साधनों के स्तर पर रखते हैं, बंधनकारी एवं संकटीय प्रकार के हैं।" बंधनकारी से उसका तात्पर्य था विवाह न करना एवं नैतिक आचरण व्यतीत करना। संकटीय नियंत्रण का अर्थ था अकाल, व्याधि एवं युद्ध। वह गर्भ-निरोधकों के प्रयोग को एक 'बुराई' समझता था, क्योंकि यह व्यक्तियों को अतिरिक्त वैवाहिक संभोग के परिणामों से बच निकलने की स्वीकृति देता है।

अन्य विशेषज्ञों ने भी मानव जाति के लिए अंधकारयुक्त भविष्य को चित्रित किया है। उनमें से अनेक के अनुसार, संसार के अधिकांश भाग पर पूर्व ही संकट आच्छादित है तथा जनसंख्या की घटती हुई दर इस संकट को केवल अल्पकाल के लिए ही स्थगित करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि संगठन ने अनुमान लगाया है कि दस खरब जनसंख्या संसार की जनसंख्या का एक-तिहाई अब कुपोषण से ग्रस्त है एवं सन् २,००० तक अनुमानित संसार की ६० खरब जनसंख्या को वर्तमान खाद्यपूर्ति से दो गुने की आवश्यकता होगी। अतएव जनसंख्या का बढ़ता हुआ ज्वार भविष्य के लिए भयप्रद है।

मालथस की आलोचना (Malthus criticized)—यह कहा गया है कि मालथस के विचार यथेष्ठ रूप से व्यापक नहीं थे। खाद्यपूर्ति के विषय में उसके अनुमान वास्तविक नहीं थे। उसके द्वारा पूर्वसूचित संकट एवं निर्धनता उसकी प्रत्याशानुसार घटित नहीं हुए हैं। यद्यपि संसार अब भी इनसे ग्रस्त है। बढ़ती हुई जनसंख्या के बावजूद जीवन-स्तर उन्नत हुआ है। संस्कृति ने जीवन-स्तर की अवधारणा को बदल दिया है। अब भोजन के अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं की आवश्यकता महसूस की जाती है। मनुष्य सिनेमा देखने के लिए एक समय का भोजन छोड़ने को तैयार हो जाता है। मनुष्य रेडियो, मोटरकार तथा ऐसा ही अन्य सामान क्रय करने हेतु भोजन पर कम व्यय करते हैं। यांत्रिक शक्ति के प्रयोग ने मनुष्यों के जीवन-स्तर को उन्नत कर दिया है। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या की वृद्धि भी रेखा-गणितीय अनुपात में नहीं हुई है। यह ठीक है कि संसार के लाखों व्यक्ति ऐसे हैं जो भूखे रहते हैं, अथवा कुपोषित हैं जिस कारण वे शीघ्र बीमार पड़ जाते हैं।

हमारे देश के कुछ भागों में भयंकर स्थिति है। परन्तु यही तथ्य कि जनसंख्या बढ़ रही है, इस तथ्य को भी सिद्ध करता है कि उनकी उपजीविका के साधनों की भी वृद्धि हो रही है, अन्यथा मरणशीलता बहुत बढ जाती एवं जनसंख्या की वर्तमान आकार तक वृद्धि न होती। यह सोचना कि संसार की जनसंख्या सामान्य खाद्यपूर्ति को पार कर रही है, उसी प्रकार सोचना है जैसे कि घोड़े के पिछले पैर दौड़ में अगले पैर से आगे निकल जाएँगे। माल्थस ने घटती हुई जन्म-दर की ओर ध्यान नहीं दिया। संसार के पूर्ववर्ती ऐसे प्रदेशों, जहाँ जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी, में जनसंख्या का ह्रास आरम्भ हो गया है। प्रजनन-क्षमता में भी ह्रास हुआ है। माल्थस भावी परिस्थितियों का ठीक अनुमान न लगा सका। हैरिसन ब्राउन (Harrison Brown) का विचार है कि समस्याओं का समाधान करने में मनुष्य की मेधाविता जनसंख्या की वृद्धि एवं ह्रासशील साधनों से पीछे नहीं रहेगी। एशिया, दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका एवं निकट पूर्व में वर्धनशील औद्योगीकरण संसार को अधिकतम जनसंख्या का पोषण करने योग्य बना देगा। संसार के प्राकृतिक स्रोत समाप्त होने वाले नहीं हैं। कोई भी औद्योगिकी के भावी करिश्मों को नहीं जानता। अणुशक्ति का प्रयोग तकनीकी उन्नति को अधिक तेजी से आगे बढ़ायेगा। समुद्र-जल में एवं समुद्र-तल के नीचे खनिज सम्पत्ति अथाह मात्रा में है। इन सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए आगामी कुछ दशकों में संसार की जनसंख्या में वृद्धि से भयभीत होने की कोई बात नहीं है।

तथापि चाहे भविष्य की कुछ भी सम्भावनाएँ हों एवं माल्थस के विचारों में कुछ भी अपूर्णताएँ हों, इतना तो निश्चित है कि उसने जनसंख्या-सम्बन्धी समस्याओं का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जो पहले कभी नहीं किया गया था। उसने आधुनिक अर्थशास्त्र की एक प्रमुख समस्या जनसंख्या एवं जीवन-स्तर के मध्य सम्बन्ध को सम्मुख रखा। यही समस्या आजकल अर्थशास्त्रियों एवं कूटनीतिज्ञों के मस्तिष्क पर सवार है जो इसका समाधान खोजने में व्यस्त हैं।

जीवन-स्तर एवं जनसंख्या (Standard of Living and Population)

माल्थस के अनुसार अधिक जनसंख्या का अर्थ प्रायः निम्न जीवन-स्तर तथा कम जनसंख्या का अर्थ उच्च जीवन-स्तर होता है। परन्तु वस्तुतः जनसंख्या एवं जीवन-स्तर के मध्य सम्बन्ध इतना सरल नहीं है। जीवन-स्तर केवल मात्र जनसंख्या एवं खाद्यपूर्ति के मध्य सम्बन्ध का ही विषय नहीं है, अपितु कम से कम निम्नलिखित चार तत्वों का परिणाम है—

(i) प्राकृतिक साधन (Natural resources)—प्राकृतिक स्रोतों में धनी देशों के लोगों का जीवन-स्तर कम स्रोतों वाले देश के लोगों की अपेक्षाकृत उच्चतर होगा। जिन देशों में कोयला, खनिज पदार्थ एवं अच्छी भूमि नहीं होती, उनके समृद्ध होने की कोई संभावना नहीं होती। संयुक्त राज्य अमेरिका में नार्वे की अपेक्षा जीवन-स्तर उन्नत होने का कारण यह है कि अमेरिका के पास वैभवशाली प्राकृतिक स्रोत हैं।

(ii) आविष्कार (Invention)—प्राकृतिक स्रोतों की केवल उपस्थिति किसी देश को समृद्ध नहीं बना देती, यदि इनका वैज्ञानिक एवं उचित ढंग से उपयोग न किया जाए। भारत प्राकृतिक स्रोतों में धनी होता हुआ भी निर्धन देश है, क्योंकि इन स्रोतों का पर्याप्त आविष्कारों के अभाव के कारण पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है। आविष्कारों की संख्या, विद्युतीकरणों, संचार एवं यातायात के साधनों तथा अन्य क्षेत्रों में उन्नति देश की भौतिक समृद्धि में योग देती है। भारत पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा वैज्ञानिक आविष्कारों एवं श्रेष्ठतर प्रौद्योगिकियों का अधिक से अधिक उपयोग करने का प्रयत्न कर रहा है। यदि आविष्कारों का उपयोग नहीं किया जाता तो जीवन-स्तर निम्न हो जाएगा।

(iii) सामाजिक संगठन (Social organisation)—जीवन-स्तर सामाजिक संगठन द्वारा भी प्रभावित होता है। कुछ सामाजिक संगठन जीवन-स्तर को ऊँचा बनाता है। समाज में शांति एवं व्यवस्था, उत्तम वित्तीय प्रणाली, श्रम-विभाजन एवं दक्ष श्रमिक आदि सभी उत्पादन में वृद्धि करते हैं, जिससे जीवन-स्तर उन्नत होता है। मुद्रा के उतार-चढ़ाव, विकृत ऋण-प्रणाली एवं अव्यवस्थित उत्पादन आर्थिक प्रगति को अवरुद्ध करते हैं।

(iv) जनसंख्या (Population)—अंतिम परन्तु महत्वपूर्ण तत्व जनसंख्या है, जिसके उतार-चढ़ाव का जीवन-स्तर पर प्रभाव पड़ता है। जैसा माल्थस का विचार था, कम जनसंख्या का अर्थ है ऊँचा जीवन-स्तर। परन्तु ऐसा सदैव नहीं होता। किसी देश की जनसंख्या कम होते हुए भी उसका जीवन-स्तर निम्न हो सकता है, जैसे उत्तरी अमेरिका का बहुत समय तक रहा। देश में जनसंख्या इतनी होनी चाहिए कि पर्याप्त खाद्यान्न उत्पन्न हो सके जो उसकी प्रचुर भूमि से प्राप्त हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि अधिक जनसंख्या को कम कर देने से जीवन-स्तर ऊँचा हो जाएगा।

चारों तत्वों का अन्तःसम्बन्ध (Inter-relationship of all the four factors)—अतएव स्पष्ट है कि जनसंख्या के अतिरिक्त अन्य तत्व भी जीवन-स्तर को प्रभावित करते हैं। जनसंख्या एवं जीवन-स्तर के मध्य सम्बन्ध पर विचार करते समय इन तत्वों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। बढ़ती हुई जनसंख्या के बावजूद किसी देश का जीवन-स्तर उच्च हो सकता है, जैसा कि युद्ध से पूर्व इटली में था। भारत में जीवन-स्तर के निम्न होने का एकमात्र कारण इसकी विशाल जनसंख्या नहीं है। पश्चिमी देशों में जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक अवस्थाओं में भी समान रूप से धीरे-धीरे वृद्धि हुई है। बढ़ती हुई जनसंख्या आर्थिक उन्नति के मार्ग में अलंघ्य बाधा नहीं है। भारत में जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक वृद्धि नहीं हो रही है। मनुष्यों की आय जीवन-निर्वाह-स्तर पर है। पूँजीगत निवेश हेतु कोई धन शेष नहीं बचता। देशी बचतों एवं पूँजीगत निवेश की स्थिति अब अधिक खराब है। परन्तु यदि नई प्रविधियों का उपयोग किया जाए, प्राकृतिक स्रोतों का पूर्ण शोषण किया जाए तथा कठोर परिश्रम, मितव्ययिता, दायित्व एवं पारस्परिक अनुशासन की भावना को विकसित किया जाए तो भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या के बावजूद जीवन-स्तर उन्नत हो सकता है। अतएव जीवन-

स्तर पर जनसंख्या के प्रभाव का मूल्यांकन करते समय देश की आर्थिक व्यवस्था की स्थिति एवं दक्षता को भी ध्यान में रखना होगा।

जनसंख्या की वृद्धि को कम करना (Decreasing Growth of Population)

(1) संतान-नियंत्रण का समर्थन (Birth control advocated)—उपर्युक्त विश्लेषण का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि को कम करने के कोई प्रयत्न नहीं किए जाने चाहिए। संसार के अधिकांश भाग उस सीमा को पार कर चुके हैं जहां जनसंख्या की वृद्धि का अर्थ जीवन-स्तर की उन्नति था। परिवार के आकार को सीमित करने का आंदोलन सर्वव्यापी है। मनुष्यों ने परिवार के आकार को सीमित करने के लिए जिन साधनों का प्रयोग किया है, वे कृत्रिम उपाय, यथा गर्भ-निरोधकों का प्रयोग, बंध्याकरण अथवा गर्भपात हैं। इन साधनों का सर्वप्रथम समृद्ध वर्गों द्वारा स्वेच्छापूर्वक अपनाया गया था। तदुपरांत समाज सुधारकों ने निम्नतर आर्थिक स्तरों की स्त्रियों की सुरक्षा हेतु इनके प्रयोग का प्रचार किया। संतति-वैज्ञानिकों ने सन्तति-नियमन का समर्थन समाज की विकलांग व्यक्तियों से सुरक्षा हेतु किया, क्योंकि ऐसे व्यक्ति अपने समान विकलांग सन्तान को जन्म देते हैं। सन्तति-नियंत्रण का ऐसे लोगों द्वारा भी समर्थन किया जाता है जो अकुशल श्रमिकों की संख्या में इतनी वृद्धि देखना नहीं चाहते कि सबके लिए मजदूरी की व्यवस्था कर सकना कठिन हो जाए। सन्तान-नियंत्रण के समर्थकों की संख्या बढ़ रही है।

(2) सन्तति-नियमन का विरोध (Birth control opposed)—परन्तु कृत्रिम साधनों द्वारा सन्तान-नियंत्रण के आलोचकों की कमी नहीं है। ये साधन हमारी वर्तमान बुराइयों के सम्मुख केवल निराशाय युक्तियां हैं। महात्मा गांधी ने सन्तति-नियंत्रण को 'नारीत्व के प्रति अपमान' कहा था तथा बर्नार्ड शा ने इसे 'पारस्परिक हस्तमैथुन' की संज्ञा दी। कहा जाता है कि सन्तति-नियंत्रण समाज के प्रति स्पष्ट दायित्व से मुख मोड़ने का साधन है। धनी एवं शिक्षित लोगों की संख्या कम हो जाती है तथा समाज को उनका स्थान निम्नतर श्रेणी के लोगों से भरना पड़ता है।

कुछ धर्म भी नैतिक आधार पर सन्तान-नियंत्रण का विरोध करते हैं। उनके अनुसार, यह ईश्वर की इच्छा में हस्तक्षेप करता है। यह नैतिक नियंत्रण जिसके अंतर्गत लोग अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा एवं लैंगिक भावनाओं को काबू में रखकर अपने बच्चों की संख्या को नियमित करते हैं, के स्थान पर क्षीण स्थानापन्न है।

कुछ युद्धवादी एवं राष्ट्रवादी भी 'विजय', 'देशभक्ति' एवं 'समृद्धि' के नाम पर सन्ताना-नियंत्रण का विरोध करते हैं। सेना के लिए आवश्यक युवक सैनिकों की संख्या जनसंख्या के अनुपात में कम से कम होती जाएगी, क्योंकि वृद्धि की घटोत्तरी जन्म-दर द्वारा होती है। वृद्ध लोगों की संख्या युवकों की तुलना में अधिक हो जाएगी। युवकों की संख्या कम हो जाने के कारण देश में उत्साह, जोश एवं आशावाद का अभाव हो जाएगा। उद्योगों को सम्भवतः पर्याप्त संख्या में युवक श्रमिक न मिल सकें जो बूढ़े श्रमिकों की अपेक्षा अधिक दक्ष कार्य करते हैं। व्यापारी जनसंख्या की कमी हो जाने के कारण ग्राहकों की कमी महसूस करेगा।

भूमिपति जो भूमि पर दबाव पड़ने के कारण किराया बढ़ाने के अभ्यस्त हो गए हैं, भी जनसंख्या की घटोतरी का समर्थन नहीं करेंगे। यह भी कहा जाता है कि सन्तति-नियंत्रण से संकर यौन-सम्बन्धों को छूट मिल जाती है जो विवाह एवं सामान्य पारिवारिक जीवन तथा सुख को नष्ट कर देगा। इस प्रकार पर्याप्त संभाविता है कि सन्तान-नियंत्रण भविष्य में ऐसे भयंकर परिणामों को जन्म दे दे कि जनसंख्या में वृद्धि को रोकने हेतु सभी प्रयत्नों को बंद करना पड़े।

परन्तु, वर्तमान समय में अधिकांश सामाजिक कार्यकर्ता उन व्यक्तियों के लिए, जो आत्मनैतिक संयम नहीं कर सकते, सन्तान-नियंत्रण के किसी न किसी प्रकार का समर्थन करते हैं। गर्भ-निरोधकों द्वारा सन्तान-नियंत्रण शिशुहत्या एवं गर्भपात के समान नहीं है। इसकी विधि सरल एवं इसका मूल्य कम है। जबकि शिशुहत्या एवं गर्भपात जीवन-विनाशी हैं, गर्भ-निरोध जीवन-विरोधी है। यह शिशुहत्या की भाँति पूर्वोत्पादित जीवन को नष्ट नहीं करता तथा न ही गर्भपात की भाँति क्रियाशील जैविक प्रक्रिया में हस्तक्षेप करता है। निरोधक उपायों के कारण लोगों के लिए भौतिक कल्याण के ऊँचे स्तर को बनाए रखना सम्भव हुआ है। कुछ लोग अज्ञानता, अदूरदर्शिता एवं धार्मिक आशंकाओं के कारण इन विधियों का लाभ नहीं उठा पाते। अन्तर्राष्ट्रवादी सामान्य रूप में सन्तति-नियंत्रण का समर्थन करते हैं, क्योंकि उन्हें आशंका है कि जनसंख्या का दबाव राष्ट्रों को नए प्रदेश विजित करने की ओर, ताकि बढ़ी हुई जनसंख्या को आवास-स्थान प्राप्त हो सके, प्रेरित कर सकता है। सन्तान-नियमन युद्ध एवं विपदा का कारण नहीं बनता। जनसंख्या के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अनैतिक मनोवृत्ति, सनातन गरीबी एवं निराशा को जन्म दे सकती है। यह संदेहपूर्ण है कि कोई राष्ट्र, भारत सहित, कभी अपने लोगों के जीवन-स्तर को उन्नत करने में सफल हो सकेगा, यदि वह जनसंख्या की वृद्धि पर प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं करता।

संतति-विज्ञान भी श्रेष्ठ एवं सीमित जनसंख्या का समर्थन करता है। यह विज्ञान श्रेष्ठ श्रेणी की नस्ल बढ़ाने एवं घटिया नस्ल को बंध्यीकरण द्वारा समाप्त करने के पक्ष में है। इस विचारणा में कि 'समान समान को जन्म देता है' कोई भी त्रुटियाँ क्यों न हों तथा अयोग्य व्यक्तियों के जन्म को रोकने हेतु संतति-वैज्ञानिकों द्वारा सुझाए गए उपायों के विरुद्ध कोई भी आपत्तियाँ हों, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज को विकलांग व्यक्तियों की संख्या को कम से कम करने तथा ऐसे व्यक्तियों के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु उपयुक्त कार्यक्रम विकसित करने चाहिए।

भारत में जन्म-दर को कम करने हेतु जनसंख्या-सम्बन्धी सकारात्मक नीति तैयार करने की अत्यावश्यकता है। मरणशीलता पर नियंत्रण पाना अपेक्षाकृत सुगम है, परन्तु उच्च जन्म-दर अभी तक उच्च है। रीति-रिवाज, धर्म एवं राजनीति इसको ऊँचा बनाए रखने में योग देते हैं। भारत में जनसंख्या की समस्या का केवल अन्न की सहायता से समाधान नहीं हो सकता। यदि लोगों को पर्याप्त भोजन दे दिया जाए तथा उनके जीवन में अन्य कोई परिवर्तन न हो तो वे पुनः अपनी जनसंख्या को नई भोजन-संभरण-सीमा तक बढ़ा लेंगे तथा पुनः भूखा रहना आरम्भ

कर देंगे और इस बार भूख से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या अधिक होगी। समस्या का समाधान प्रजनन-क्षमता को कम करने से ही हो सकता है। यदि प्रजनन-क्षमता ऊँची है तो अन्ततः मरणशीलता भी ऊँची होगी। जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, प्रजनन-क्षमता को कम किए बिना मरणशीलता को कम करना अधिक से अधिक अस्थायी एवं भयानक युक्ति है। यदि जनन-क्षमता को नियन्त्रित नहीं किया गया तो सारा संसार भी भारत को भोजन नहीं दे सकेगा। भारत की जनसंख्या जिस दर से बढ़ रही है, वह देश को एक ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर देगी, जहाँ लोगों को खड़े होने के लिए भी पर्याप्त स्थान नहीं मिल सकेगा, तथा यदि कुछ देश हमारी विदेशी नीति से असन्तुष्ट होकर अपने द्वारा प्रदत्त अन्न की सहायता को अचानक बंद कर दें तो लाखों व्यक्ति भूखे मर जाएँगे। अतएव दूसरे देशों से अन्न की सहायता हमारी जनसंख्या की समस्या का कोई समाधान नहीं है। हमें तदर्थ देश के आर्थिक एवं सामाजिक संगठन में मौलिक परिवर्तन लाने होंगे।

यूरोप में विभिन्न तत्वों द्वारा जन्म-दरों में कमी लाई गई है। कुछ लेखकों का मत है कि जनसंख्या में वृद्धि का ह्रास वर्द्धनशील शहरीकरण के परिणाम-स्वरूप प्रजनन-क्षमता में उत्पन्न ह्रास के कारण हुआ। परन्तु इस तथ्य को, कि यूरोप-निवासियों की जनन-क्षमता में कोई महत्वपूर्ण ह्रास आया है, सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। विवाह को कुछ समय के लिए स्थगित कर देने से भी जन्म-दर में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि विवाह में देरी अधिक नहीं रही है। अधिक विश्वसनीय कारण सन्तान-नियमन के साधनों द्वारा परिवार के आकार को सीमित करने की प्रबल इच्छा का प्रचलन है। यूरोप-निवासियों की मनोवृत्तियों में उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान तीव्र परिवर्तन आया। औद्योगिक क्रांति ने जीवन के परम्परागत ढंगों के स्थान पर नवीन ढंगों को जन्म दिया। बच्चों की संख्या को केवल इस कारण सीमित नहीं किया गया कि माता-पिता को अपना जीवन-स्तर उच्च बनाए रखने में कठिनाई आई, अपितु इसलिए भी कि उन्होंने यह अनुभव किया कि बच्चे जितने कम होंगे, उतना ही अधिक प्रत्येक बच्चे के पालन-पोषण पर व्यय किया जा सकेगा। स्त्रियों की प्रस्थिति में उन्नति एवं उनके लिए स्वतंत्र रूप से जीविकोपार्जन के साधन खुल जाने से भी स्त्रियों की ओर से बच्चे कम प्रजनित करने में सहायता मिली।

भारत में संतति-नियमन के प्रति लोगों की सामाजिक मनोवृत्तियों को बदलने की आवश्यकता है। अभी तक शहरी लोगों, जो समृद्धशाली हैं तथा अधिक बच्चों का पालन कर सकते हैं, ने ही गर्भ-निरोधकों का अतिशीघ्रता से उपयोग किया है। निर्धन व्यक्तियों में जो अधिक बच्चों का पालन करने में असमर्थ हैं, गर्भ-निरोध-तकनीकों की ओर उदासीनता की दृढ़ भावना है। देहातों में परम्परागत मनोवृत्ति की जड़ें इतनी गहरी हैं कि सन्तान-नियंत्रण-सम्बन्धी प्रचार को सफल बनाने में शक्तिशाली बाधाएँ आ रही हैं। देहातों में दृढ़ परम्परागत मनोवृत्ति के कारण गर्भ-निरोध के "नैतिक यौक्तिकीकरण" की आवश्यकता है। सन्तान-नियंत्रण-सम्बन्धी ज्ञान का अभाव एवं लोगों की निरक्षरता भी सफल संतति-नियमन-आंदोलन के मार्ग में बाधाएँ हैं। संतति-नियंत्रण की तकनीकी समस्या भी अभी तक पूर्ण रूप

से हल नहीं हो पाई है। वर्तमान समय में संतति-नियंत्रण के ऐसे साधन उपलब्ध नहीं हैं जो सुगम एवं प्रभावी हों। लाखों भारतीय देहातों में संतति-नियंत्रण-केन्द्र खोलना भी राज्य के लिए कठिन कार्य है। यद्यपि सरकार ने लोगों में संतति-नियंत्रण के विचार को लोकप्रिय बनाने के महत्व को अनुभव कर लिया है तथा उन्हें परिवार नियोजन केन्द्रों में अधिक से अधिक सुविधाएं एवं आकर्षण देने का प्रयत्न कर रही है, तथापि संतति-नियंत्रण-आंदोलन को सफल बनाने के लिए अधिक प्रयत्नों एवं व्यय की आवश्यकता है। हाल ही के अनुभव के प्रकाश में इस बात पर बल देना भी आवश्यक है कि परिवार-नियोजन-कार्यक्रम बुद्धिमत्तापूर्वक तैयार एवं विवेकपूर्वक क्रियान्वित किया जाना चाहिए। ऐसा कार्यक्रम उत्पीड़क अथवा बाध्यकारी होने की अपेक्षा प्रबोधक होना चाहिए।

प्रश्न

१. संसार के कुछेक भागों में अन्य की अपेक्षा सघन जनसंख्या क्यों है ?

२. प्रवास का क्या अर्थ है ? लोग प्रवास क्यों करते हैं ? प्रवास को प्रभावित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए।

३. आप्रवासी किन समस्याओं का सामना करते हैं ?

४. भारत में जनसंख्या आयु एवं लिंगानुसार किस प्रकार वितरित है ? अन्य देशों से तुलना कीजिए।

५. जनसंख्या में परिवर्तन के क्या कारण हैं ? जन्म-दर में कमी होने के बावजूद जनसंख्या की वृद्धि क्यों हुई है ?

६. जनसंख्या-सम्बन्धी माल्थस के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। इसकी संक्षिप्त आलोचना भी कीजिए।

७. 'विशाल जनसंख्या का अर्थ है निम्न जीवन-स्तर'। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? जीवन-स्तर एवं जनसंख्या के मध्य क्या सम्बन्ध है ?

८. जनसंख्या की वृद्धि को कौन से तत्व नियंत्रित रखते हैं ?

९. संतति-नियंत्रण पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

१०. देश की अति जनसंख्या से क्या अर्थ है ? क्या भारत अति जनसंख्या वाला देश है ? यदि ऐसा है तो आप जनसंख्या की वृद्धि को रोकने हेतु किन सुझावों को प्रस्तुत करेंगे ?

११. क्या आपका विचार है कि सभी उपलब्ध तथ्य जनसंख्या एवं जीवन-स्तर के मध्य संसार-व्यापी दौड़ का आशावादी अथवा निराशावादी चित्र प्रस्तुत करते हैं ?

पंचम खण्ड

सामाजिक नियंत्रण

[SOCIAL CONTROL]

"प्रत्येक पीढ़ी अपनी आसुरी शक्तियों को उत्पन्न करती है एवं वास्तविकता के हृदयहीन क्षेत्र में पराजित हो जाती है। ईसाई धर्म के प्रवर्तकों ने पूर्ण व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्त करने से रोकने के लिए अंधकार के राजकुमार को दोषी ठहराया। अराजकतावादियों ने राज्य को दोष दिया। मार्क्सवादी वर्ग-प्रणाली को दोष देते हैं। शांतिवादी युद्धवादियों को दोष देते हैं तथा हमारे समय के बौद्धिक अधिकाधिक व्यक्तियों द्वारा बौद्धिक लावण्य के वरदान प्राप्त करने में दुखद असफलता के लिए लोकप्रचार के माध्यम को दोषी ठहराते हैं।"

—ल्यो रोस्टेन

"Each generation creates its own devils, and meets its own Waterloo on the heartless field of reality. The christian fathers blamed the prince of darkness for preventing perfectible man from reaching Paradise. Anarchists blamed the state. Marxists blame the class system. Pacifists blame the militarists And our latter-day intellectuals seem to blame the mass media for the lamentable failure of more people to attain the bliss of intellectual grace."

—Leo Rosten.

अध्याय ३१

सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं स्वरूप

[THE MEANING AND NATURE OF SOCIAL CONTROL]

प्रत्येक समाज में समरसता एवं व्यवस्था होनी चाहिए। जहाँ समरसता अथवा व्यवस्था नहीं होती, वहाँ समाज वास्तविक रूप में अवस्थित नहीं होता, क्योंकि समाज मानवी सम्बन्धों का समरस संगठन है। जब तक व्यक्ति आचार के निर्धारित नियमों के अनुसार व्यवहार नहीं करते एवं जब तक वे अपनी स्वार्थी भावनाओं को समग्र समाज के कल्याण के अधीन नहीं करते, तब तक सामाजिक संगठन को प्रभावी ढंग से स्थिर रखना काफी कठिन होगा। अतएव समाज को अपना अस्तित्व बनाए रखने एवं प्रगति करने हेतु अपने सदस्यों के ऊपर कुछ नियंत्रण करना होता है, क्योंकि स्थापित नियमों से कोई स्पष्ट विचलन सामाजिक कल्याण के लिए अनिष्ट समझा जाता है। ऐसे नियंत्रण को समाजशास्त्रियों द्वारा 'सामाजिक नियंत्रण' की संज्ञा दी गई है। इस अध्याय एवं पचम भाग में हम सामाजिक नियंत्रण, उन ढंगों का जिनके द्वारा समाज अपने व्यक्तिगत सदस्यों के व्यवहार को नियमित करता है, अध्ययन करेंगे।

१. सामाजिक नियंत्रण का अर्थ

(The Meaning of Social Control)

जब हम शब्द 'नियंत्रण' का प्रयोग करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में सामान्यतया पुलिस सिपाही, न्यायालयों, कारागार, कानूनों एवं दमन तथा उत्पीड़न का विचार उत्पन्न होता है, जबकि 'नियंत्रण' की अवधारणा में इन तत्वों की कुछ प्रासंगिकता है। शब्द 'सामाजिक नियंत्रण' समाजशास्त्रियों द्वारा व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मैकाइवर के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण का अर्थ वह रूप है जिसमें समस्त सामाजिक व्यवस्था स्वयं संयोजित तथा निर्वाहित होती है और परिवर्तनशील संतुलन के रूप में वह एक समष्टि बनकर कार्यशील होती है।"[1] मानहीम (Mannheim) के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण उन विधियों का योग है जिनके द्वारा समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने हेतु मानवी व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है।"[2] आगबर्न एवं निमकाफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण दबावों का प्रतिमान है, जिसको समाज व्यवस्था एवं स्थापित नियमों को बनाए रखने हेतु प्रयोग करता है।"[3]

---

1. "Social control is the way in which entire social order coheres and maintains itself—how it operates as a whole, as a changingequilibrium'.—MacIver, *Society*, p. 137.

2. "Social control is the sum of those methods by which a society tries to influnce human behaviour to maintain a given order."—Mannheim, *Systematic Sociology*, p. 125.

3. "The patterns of pressure which a society exerts to maintain order and established rules is social control."—Ogburn and Nimkoff, *op.cit.*, p. 182.

ई० ए० रास (E. A. Ross) पहला अमरीकी समाजशास्त्री था जिसने अपनी पुस्तक 'Social Control' में जो १९६१ में प्रकाशित हुई थी, इस पहलू पर प्रकाश डाला था। उसके अनुसार, सामाजिक नियंत्रण "विधियों की प्रणाली है, जिसके प्रयोग द्वारा समाज अपने सदस्यों के आचरण को व्यवहार के स्वीकृत मानकों के समरूप बनाता है।"[1] लैंडिस (Landis) सामाजिक नियंत्रण को "एक सामाजिक प्रक्रिया कहता है, जिसके द्वारा व्यक्ति को समाज के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता है एवं सामाजिक संगठन को निर्मित एवं संरक्षित किया जाता है।"[2] लुम्ले (Lumley) के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण निर्देशात्मक उद्दीपन अथवा इच्छा-प्रतिमानों को लागू करने, इनका दूसरे व्यक्तियों को निश्चित हस्तांतरण एवं उनके द्वारा ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक रूप से अंगीकरण की कार्य-प्रणाली है। संक्षेप में, यह प्रभावी इच्छा-हस्तांतरण है।"[3] लूथर एल० बर्नार्ड (Luther L. Bernard) ने सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा करते हुए इसे एक सामाजिक प्रक्रिया कहा है, "जिसके द्वारा किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के ऊपर उद्दीपन को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समायोजित रूप में कार्य करने वाली अनुक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं।"[4] लापीयर (Lapiere) के अनुसार, सामाजिक नियंत्रण अपर्याप्त समाजीकरण का प्रतिकारक है। रूक (Roucek) ने सामाजिक नियंत्रण शब्द का प्रयोग "उन प्रक्रियाओं एवं अभिकरणों, नियोजित अथवा अनियोजित, के लिए किया है जिनके द्वारा व्यक्तियों को समूहों के रीति-रिवाजों एवं जीवन-मूल्यों के समरूप व्यवहार करने हेतु प्रशिक्षित, प्रेरित अथवा बाधित किया जाता है।"[5] यह उस समय घटित होता है, जब किसी व्यक्ति को दूसरों की इच्छाओं के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित अथवा बाधित किया जाता है, चाहे यह उसके व्यक्तिगत हितों के समरूप हो अथवा न हो। गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, "सामाजिक नियंत्रण सुझाव, अनुनय, प्रतिरोध और प्रत्येक प्रकार के बल-प्रयोग, जिसमें शारीरिक बल भी सम्मिलित है, जैसी विधियों की वह व्यवस्था है जिसमें कोई समाज अपने उपसमूहों के व्यवहार को अनुमोदित अनुमानों के अनुकूल ढालता है अथवा जिसमें एक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार को अपने अनुकूल

---

1 "Social control is a system of devices whereby society brings its members into conformity with the accepted standards of behaviour."—Ross E. A , *Special Control*, p. 5.

2. "Social control is the social process by which the individual is made group-responsive, and by which social organisation is built and maintained." Landis, P H,. *Social Control*, p 4

3 "Social control is the practice of putting forth directive stimuli or wish-patterns, their accurate transmission to and adoption by others, whether voluntarily or involuntarily. In short, it is effective will-transference"—Lumley, F. E., *Means of Social Control* p. 13

4. "Social control is a process by which stimuli are brought to bear effectively upon that some person or group of persons, thus producing responses that function in adjustment."—Quoted by Koenig, Sociology, p. 66.

5. "Those processes and agencies, planned or unplaned, by which individuals are taught, persuaded, or compelled to conform to the usages and life values of groups."—Roucek, *Social Control*, p. 3,

डाल लेता है।"[1] लुंडबर्ग एवं अन्य लेखकों ने सामाजिक नियंत्रण को "ऐसा सामाजिक आचरण कहा है जो व्यक्तियों अथवा समूहों को स्थापित अथवा वांछित आदर्श-नियमों के अनुकूल व्यवहार करने के लिए प्रभावित करते हैं।"[2] किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, सामाजिक नियंत्रण "किसी समूह का दूसरे के ऊपर अथवा समूह का अपने सदस्यों के ऊपर अथवा व्यक्तियों का दूसरों के ऊपर आचरण के निर्धारित नियमों को क्रियान्वित करने हेतु दमन, बल, बंधन, सुझाव अथवा अनुनय का प्रयोग है। इन नियमों का निर्धारण स्वयं सदस्यों द्वारा, यथा आचरण की व्यावसायिक संहिता में अथवा किसी विशाल समाविष्ट समूह द्वारा किसी अन्य छोटे समूह के नियंत्रण हेतु किया जा सकता है।"[3] वस्तुतः सामाजिक नियंत्रण समाज द्वारा समग्र रूप से समूह-कल्याण हेतु अपने सदस्यों के ऊपर आरोपित प्रभाव है। यह ऐसी विधि है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्वयं को संयोजित एवं स्थिर रखती है। यह ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा कोई समुदाय अथवा समूह समष्टि बन कर क्रियाशील होता है एवं परिवर्तनशील संतुलन को बनाए रखता है। इसका सम्बन्ध सामाजिक रूप में वांछित अथवा वाछनीय दिशाओं की ओर मानव-व्यवहार के निर्देशन अथवा मार्गदर्शन से है, ताकि व्यक्तिगत एवं सामूहिक भूमिका-सम्बन्धी प्रत्याशाएँ एवं पूर्तियाँ सामाजिक निरन्तरता एवं स्थिरता को उन्नत कर सकें। यह तीन स्तरों पर—समूह का समूह के ऊपर, समूह का अपने सदस्यों के ऊपर, व्यक्ति का अपने साथियों के ऊपर, कार्य करता है।

सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा में निम्नलिखित तीन विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है—

(i) प्रथमतया, सामाजिक नियंत्रण एक प्रभाव है। यह प्रभाव जनमत, दमन, सामाजिक सुझाव, धर्म, तर्क अथवा अन्य किसी विधि से डाला जा सकता है। (ii) द्वितीय, यह प्रभाव समाज द्वारा डाला जा सकता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति की अपेक्षाकृत समूह व्यक्ति के ऊपर प्रभाव डालने में असमर्थ है। ये समूह परिवार, चर्च, राज्य, क्लब, स्कूल, श्रमिक-संघ आदि हो सकते हैं। परन्तु प्रभाव की प्रभाविता विभिन्न तत्वों पर आधारित है। कभी-कभी परिवार राज्य की अपेक्षा अधिक प्रभावी प्रभाव डाल सकता है अथवा कभी-कभी इसके विपरीत हो सकता है। इसी प्रकार क्लब का प्रभाव चर्च की अपेक्षा अधिक प्रभावी हो सकता

1. "Social control is that system of measures, suggestions, persuasion [illegible] op. cit., p. 3.

2. "These social behaviours which influence individuals or groups toward conformiy to established or desired norms."—Lundberg, G A., *Sociology* p , 720.

3. "Social control is the use of coercion, force, restraint, suggestion, or persuasion of one group over another or of a group over its members or of persons over others to enforce the prescribed rules of the game. These rules may be set down by the members themselves, as in a professional code of ethics, or they may be those laid down by a larger, more inclusive group for the regulation of anotler smaller group."—Young, K., *An Introductory Sociology*, p. 520.

है। सामाजिक नियंत्रण के अनेक अभिकरण हैं तथा प्रत्येक अभिकरण की प्रभाविता अधिकांशतया परिस्थितियों पर निर्भर करती है। तृतीय, प्रभाव का प्रयोग समष्टि रूप में समूह-कल्याण को उन्नत करने हेतु किया जाता है। व्यक्ति को दूसरों के हितार्थ न कि स्वयं निजी हितार्थ कार्य करने के लिए प्रभावित किया जाता है। सामाजिक नियंत्रण किसी विशिष्ट लक्ष्य को सम्मुख रखकर किया जाता है। यह लक्ष्यहीन नहीं होता। लक्ष्य सदैव सामूहिक कल्याण होता है। व्यक्ति को दूसरे व्यक्तियों के अस्तित्व, उनके हितों के प्रति जागरूक बनाया जाता है। उसे उचित सामाजिक ढंगों का पालन करने के लिए बाध्य किया जाता है। अपर्याप्त समाजीकरण के कारण वह विचित्र ढंगों से व्यवहार करता है, उसे सामाजिक नियंत्रण के दबावों द्वारा स्थापित नियमों के समरूप व्यवहार करने के लिए बाधित किया जाता है। संक्षेप में उसे सामाजिक बनाया जाता है।

सामाजिक नियंत्रण बनाम आत्म-नियंत्रण (Social Control versus Self-Control)

सामाजिक नियंत्रण बाह्य : आत्म-नियंत्रण आन्तरिक (Social control from without: self-control from within)—सामाजिक नियंत्रण आत्म-नियंत्रण से भिन्न होता है, क्योंकि उत्तरोक्त आन्तरिक होता है, जबकि पूर्वोक्त बाह्य होता है। जब कोई व्यक्ति स्वयं को, अपने मनोद्वेगों को किसी अन्य व्यक्ति अथवा समूह द्वारा प्रयुक्त बल के कारण नहीं, अपितु स्वेच्छा अथवा आत्म-अनुभूति के कारण नियंत्रित करता है तो उसे आत्म-नियंत्रण कहा जाता है। यह किसी पूर्वविकसित आदर्श, लक्ष्य अथवा उद्देश्य के अनुकूल स्वव्यवहार को निर्देशित करने का व्यक्ति का स्वप्रयास है। व्यक्ति आत्म-नियंत्रण स्वलाभ-हेतु अथवा दूसरों के हितार्थ कर सकता है। यदि 'अ' मद्यपान त्याग देता है, क्योंकि उसके स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता था तो वह स्वहितार्थ आत्म-नियंत्रण करता है, परन्तु यदि वह इसका परित्याग परिवार के आर्थिक हित की दृष्टि से करता है तो उसने परिवार के लाभार्थ आत्म-नियंत्रण किया है। इसी प्रकार, यदि लोग ग्रामीण जुलाहों के हितार्थ खद्दर पहनना आरम्भ करते हैं तो कहा जा सकता है कि उन्होंने आत्म-नियंत्रण समूह-कल्याण हेतु किया। आत्म-नियंत्रण का सार यही है कि यह सदैव व्यक्ति की आंतरिक अनुभूति अथवा भावना का परिणाम होता है जिस पर दूसरों की सत्ता का कोई प्रभाव नहीं होता। यदि यह नियंत्रण इस प्रकार का नहीं है तो यह क्षणिक होगा एवं उस समय तक रहेगा जब तक व्यक्ति दूसरों के प्रभावाधीन है। परन्तु यदि आत्म-नियंत्रण व्यक्ति की स्वानुभूति का परिणाम है तो यह स्थायी एवं वास्तविक होगा।

सामाजिक नियंत्रण तथा समाजीकरण (Social Control and Socialization)

सामाजिक नियंत्रण एवं समाजीकरण का परस्पर निकट सम्बन्ध है। सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण का भाग है। समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया भी क्रियाशील रहती है। समाजीकरण द्वारा सामाजिक नियंत्रण स्वयमेव प्रभावी बन जाता है। जैसा कि पूर्व वर्णन किया जा चुका है, मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजरता है तथा उसका व्यवहार अनेक विधियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। प्रथाएँ जन्म

एवं मृत्यु सम्बन्धी संस्कारों को नियमित करती हैं। भोजन, वस्त्र, बोलचाल का ढंग, विवाह, शिक्षा तथा अन्य अनेक बातों को प्रथाओं द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखने हेतु समाज में निश्चित प्रक्रियाएँ होती हैं। ये प्रथाएँ एवं प्रक्रियाएँ मनुष्य के जीवन का अंग बन जाती हैं तथा मनुष्य समाज में समायोजित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण, यथा परिवार, राज्य, स्कूल, क्लब, पड़ोस आदि सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण भी हैं। वे मानव-व्यवहार पर नियामक प्रभाव प्रयुक्त करते हैं।

२. सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का विकास

(The Development of the Concept of Social Control)

प्रत्येक समाज ने अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया है। प्रारम्भिकतम एवं आदिम समाज में सामाजिक नियंत्रण सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार को संगठित करने वाला एक सशक्त तत्व था। जन्म से मृत्यु तक मनुष्य सामाजिक नियंत्रण से घिरा हुआ होता है, जिसका उसे ज्ञान तक नहीं होता। परन्तु सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा को हाल ही में औपचारिक रूप में वर्णित किया गया है, यद्यपि प्लेटो की रिपब्लिक (Republic) जो ३६९ ई०पू० की कृति है, तथा काम्टे (Comte) की पुस्तक 'Positive Philosophy' जो १८३०-४२ में लिखी गई, में सामाजिक नियंत्रण की पूर्व झलक मिलती है। लेस्टर एफ० वार्ड (Lester F. Ward) ने अपनी पुस्तक 'Dynamic Sociology', जो १८८३ की कृति है, में इस अवधारणा का विशद वर्णन किया है।

१८९४ में शब्द 'सामाजिक नियंत्रण' का सर्वप्रथम प्रयोग स्माल एवं विंसेंट (Small and Vincent) द्वारा किया गया था। सामाजिक व्यवहार पर सत्ता के प्रभाव का अपनी पुस्तक 'Introduction to the Study of Society' में वर्णन करते समय इन लेखकों ने निष्कर्ष निकाला कि "सत्ता पर जनमत की प्रतिक्रिया सामाजिक नियंत्रण को अत्यधिक नाजुक एवं कठिन कार्य बना देती है।" उसी वर्ष ई० ए० रास (E. A. Ross) को उन लिचपिनों जो समाज को परस्पर दृढ़ बनाए रखते हैं, की खोज में रुचि हुई तथा उसने सामाजिक नियंत्रण के क्षेत्र में प्रथम पुस्तक का बीजारोपण किया। यह पुस्तक १९०१ में 'Social Control' के नाम से प्रकाशित हुई, जिसमें रास ने सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का विस्तृत विवेचन किया है। सामाजिक नियंत्रण के अध्ययन में उसकी पुस्तक अग्रणी पुस्तक है। उसने "सामाजिक वृत्तियों—सहानुभूति, सामाजिकता, न्याय-भावना, एवं उन साधनों जिनके द्वारा समूह व्यक्ति के व्यवहार पर उसे लोकरीतियों एवं लोकाचारों का पालन कराने हेतु दबाव डालता है, पर बल दिया।" उसने ३५ स्पष्ट साधनों का उल्लेख किया, जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों को नियंत्रित करता है। अपनी कृति में उसने एल० एफ० वार्ड के प्रति स्वयं को आभारी प्रदर्शित किया।

१९३० के दशक में रास ने परा-सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का विकास किया, जिससे उसका तात्पर्य समाज के ऊपर षड्यंत्रकारी व्यक्तियों के प्रमुत्व

से था जो प्रचार, लाबीइंग एवं दमनात्मक विधियों द्वारा समाज को अपने आदेशानुसार कार्य करने के लिए बाध्य करते हैं।

१९०२ में कूले (Cooley) की पुस्तक 'Human Nature and the Social Order' प्रकाशित हुई जिसे रास की पुस्तक का प्रशंसनीय पूरक कहा गया है। उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व पर समूह-दबाव के प्रभाव तथा उसके व्यवहार को समझने हेतु व्यक्ति के जीवन-इतिहास का अध्ययन करने की आवश्यकता पर बल दिया। विशेष रूप से, उसके द्वारा 'दर्पण' सिद्धान्त तथा चेतना के सामाजिक उद्भवों के वर्णन ने अन्य विचारकों को समाजीकरण की प्रक्रिया एवं व्यक्ति तथा उसके समूह के मध्य अन्तर्क्रिया का अध्ययन करने की ओर प्रेरित किया। जबकि रास (Ross) की रुचि सामाजिक नियंत्रण की क्रियाविधि का अध्ययन करने में थी, कूले ने सामाजिक नियंत्रण के प्रभावों का अध्ययन किया।

१९०६ में विलियम ग्राहम समनर (William Graham Sumner) की कृति 'Folkways' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में जिसे समाजशास्त्र की 'पुरानी धर्म-पुस्तक' (Old Testament of Sociology) कहा गया है, समनर ने इस तथ्य पर बल दिया कि लोकरीतियाँ एवं संस्थाएँ व्यक्तियों के व्यवहार को किस प्रकार सीमित करती हैं। उसके शब्दों में, "लोकाचार किसी भी बात को ठीक बना सकते हैं एवं किसी भी वस्तु की निन्दा को रोक सकते हैं।" उसके अनुसार, "सामाजिक व्यवहार को लोकरीतियों एवं लोकाचारों, जो इस बात का निर्धारण करते हैं कि समाज व्यवहार के किसी विशिष्ट रूप की स्वीकृति देगा अथवा नहीं, के अध्ययन बिना नहीं समझा जा सकता।"

उपर्युक्त तीनों प्रमुख विचारकों ने सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का विकास करने तथा इसके स्वरूप एवं प्रभावों को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बाद के लेखकों ने इस अवधारणा की अनिवार्यताओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया यद्यपि कुछ स्वरूपों पर बल की भिन्नता पाई जाती है। इस प्रकार, विचारकों का एक समूह रास का अनुसरण करते हुए उन साधनों की संख्या एवं जटिलता की व्याख्या करता है जिनके द्वारा सामाजिक नियंत्रण के अभिकर्ता सामाजिक व्यवहार की एकरूपता प्राप्त करना चाहते हैं। कूले का अनुसरण करने वाला दूसरा समूह व्यक्तित्व के विकास पर सामाजिक नियंत्रण के प्रभावों की व्याख्या करता है। समनर का अनुसरण करने वाला तीसरा समूह नियमों एवं अभिकरणों, जो मानव-व्यवहार को प्रतिमानों में संगठित करते हैं, पर अधिक ध्यान केन्द्रित रखता है। प्रत्येक समूह ने सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

३. सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता

(Need of Social Control)

सामाजिक सुदृढ़ता समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव, अपनी मनोवृत्तियों एवं रुचियों में समान नहीं होते। प्रत्येक मनुष्य का एक विलग व्यक्तित्व है। व्यक्तियों में सांस्कृतिक अन्तर होते हैं।

कुछ मूर्तिपूजा करते हैं तो दूसरे नहीं करते। कुछ मांसाहारी हैं तो अन्य शाकाहारी। कुछ परम्परावादी हैं तो अन्य आधुनिक। कुछ फैशन-पसंद हैं तो अन्य सादे। कुछ प्रोटेस्टैंट हैं तो अन्य कैथोलिक। वस्तुत: समाज एक विजातीय संगठन है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को कार्य एवं व्यवहार करने की अबाधित स्वतंत्रता दे दी जाए तो इससे सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। व्यवस्थित सामाजिक जीवन हेतु सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है। सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य किसी समाज अथवा विशेष समूह की समरूपता, सुदृढता एवं निरन्तरता को प्राप्त करना होता है। सामाजिक नियंत्रण निम्नलिखित कारणों से आवश्यक है—

(i) **प्राचीन व्यवस्था को स्थिर रखना** (To maintain the old order)—प्रत्येक समाज अथवा समूह के लिए अपनी सामाजिक व्यवस्था को स्थिर रखना आवश्यक है और यह तभी सम्भव है जब इसके सदस्य उस सामाजिक व्यवस्था के अनुकूल व्यवहार करें। सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य प्राचीन व्यवस्था को स्थिर रखना है। परिवार इस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायता करता है। परिवार के वृद्ध सदस्य अपने बच्चों के ऊपर अपने विचारो को आरोपित करते हैं। विवाह का निर्णय परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों द्वारा किया जाता है। धार्मिक एवं अन्य मामलो में भी परिवार के वृद्ध माता-पिता इसके सदस्यों के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। यद्यपि परिवर्तनशील समाज में प्राचीन व्यवस्था का आरोपण सामाजिक प्रगति को अवरुद्ध कर सकता है, तथापि समाज मे निरन्तरता एवं समरूपता स्थिर रखने हेतु ऐसा आवश्यक है।

(ii) **सामाजिक एकता स्थापित करना** (To establish social unity)—सामाजिक नियंत्रण के बिना सामाजिक एकता केवल मात्र स्वप्न होगा। सामाजिक नियंत्रण स्थापित आदर्श नियमों के अनुसार व्यवहार को नियमित कर व्यवहार की एकरूपता एवं व्यक्तियों में एकता को जन्म देता है। परिवार की एकता स्थिर रहती है, क्योंकि इसके सदस्य समान ढंग मे पारिवारिक आदर्श-नियमो के अनुसार व्यवहार करते हैं।

(iii) **व्यक्तिगत व्यवहार को नियमित अथवा नियंत्रित करना** (To regulate or control individual behaviour)—कोई भी दो व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों, रुचियो, आदतों एव अपने विचारों मे समान नहीं होते। मनुष्य विभिन्न धर्मो मे विश्वास करते हैं, विभिन्न प्रकार के वस्त्र पहनते हैं, विभिन्न प्रकार का भोजन करते हैं, विभिन्न ढंगों से विवाह करते हैं तथा उनकी विभिन्न विचार-धाराएँ होती हैं। व्यक्तियों के जीवन-ढंगों में इतने अधिक अन्तर होते हैं कि उनमें सदैव संघर्ष की संभावना रहती है। आधुनिक काल मे मनुष्य के अत्यधिक आत्म-केन्द्रित बन जाने के कारण ऐसी सम्भावना और भी अधिक बढ गई है। सामाजिक नियंत्रण सामाजिक हितों की सुरक्षा एवं सामान्य आवश्यकताओं की संतुष्टि-हेतु आवश्यक है। यदि सामाजिक नियंत्रण हटा दिया जाए एवं प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक व्यवहार करने के लिए छोड़ दिया जाए तो समाज जंगली अवस्था को पहुँच जाएगा।

(iv) **सामाजिक अनुशास्ति की व्यवस्था** (To provide social sanction)—सामाजिक नियंत्रण व्यवहार के सामाजिक ढंगों को सामाजिक अनुशास्ति प्रदान करता है। समाज में विविध लोकरीतियाँ, लोकाचार एवं प्रथाएँ होती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को उनका पालन पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक आदर्श-नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे सामाजिक नियंत्रण द्वारा उनका पालन करने हेतु बाध्य किया जाता है। इस प्रकार, सामाजिक नियंत्रण सामाजिक आदर्श-नियमों को अनुशास्ति प्रदान करता है।

(v) **सांस्कृतिक कुसमायोजन को रोकना (To check cultural maladjustment)**—समाज परिवर्तनशील है। समाज में नए आविष्कार, नई खोजें एवं नई विचारधाराएँ जन्म लेती रहती हैं। व्यक्ति को अपना व्यवहार समाज में घटित परिवर्तनों के अनुकूल समायोजित करना होता है। परन्तु सभी व्यक्ति स्वयं को नई परिस्थितियों के प्रति समायोजित नहीं कर पाते। कुछ प्रगतिवादी बन जाते हैं तो अन्य रूढ़िवादी रह जाते हैं। जब कोई व्यक्ति देहात से नगर में प्रवास करता है तो उसे नए सांस्कृतिक मानकों का सामना करना पड़ता है एवं सम्भव है कि वह इस नए सांस्कृतिक पर्यावरण में स्वयं को ठीक प्रकार से समायोजित न कर सके। वह कामुक एवं शराबी व्यक्ति बन सकता है। उसके जीवन के इस संक्रमण-काल में सामाजिक नियंत्रण उसे विचलित होने से बचाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश में आज सामाजिक नियंत्रण की अधिकतर आवश्यकता है। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता एवं समाज मे अव्यवस्था का प्रमुख कारण दोषपूर्ण सांस्कृतिक समायोजन है। सामाजिक आदर्श-नियमों का उल्लंघन फैशन-सा बन गया है। प्रगति एवं सुधार के नाम पर इस उल्लंघन को उचित ठहराया जाता है। सामाजिक नियंत्रण का अभाव है। बच्चे अपने माता-पिता का आज्ञापालन नही करते। विद्यार्थियों पर उनके शिक्षकों का प्रभाव नही है। लोग खुले तौर पर कानूनों का उल्लंघन करते हैं। देश में किसी भी व्यक्ति को ह्रासोन्मुख सामाजिक नियंत्रण की कोई चिंता नहीं है। भारत सक्रमण-काल से गुजर रहा है। इस काल में कम सामाजिक नियंत्रण की अपेक्षा अधिक सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता है। यदि सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण प्रभावी ढंग से कार्य नही करेंगे तो भारतीय समाज गंभीर विघटन से ग्रस्त हो जाएगा।

उपर्युक्त कारण सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से सिद्ध करते हैं। आधुनिक समाज मे इसके उच्च जटिल स्वरूप एव इसमें वर्तमान विघटनकारी शक्तियो के कारण सामाजिक नियंत्रण की और भी अधिक आवश्यकता है।

४. सामाजिक नियंत्रण के उद्देश्य

(The Purposes of Social Control)

सामाजिक नियंत्रण का अध्ययन समाजशास्त्र का महत्वपूर्ण पक्ष है—अपितु प्रत्येक शैक्षिक सामाजिक विषय इस पर किसी-न-किसी रूप मे विचार करता है। इसका अध्ययन महत्वपूर्ण है। मानव-व्यवहार के अध्ययन में यह एकरूपता लाने वाला तत्व है। किम्बल यग के अनुसार, सामाजिक नियंत्रण के लक्ष्य समाज अथवा किसी विशेष समूह की समरूपता, सुदृढता एवं निरन्तरता को प्राप्त करना है। ये लक्ष्य उत्तम हैं, परन्तु अधिकांश व्यक्ति जो अपने साथियों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं, अपने प्रयासों में कम कुशाग्रता प्रदर्शित करते हैं। वे चाहते हैं कि अन्य व्यक्ति आचरण की उन विधियों को अपनाए जो उन्हें पसंद हैं। उनकी इस

पसंद का आधार कोई भी तत्व—बाल्यकाल में प्राप्त प्रशिक्षण, जीवन के अनुभव,, स्वलाभ-हेतु दूसरों का शोषण हो सकता है। कुछ सुधारक एवं नेता परार्थवादी *यौक्तिकीकरण के रूप मे तथाकथित 'अच्छे कारणों' द्वारा अपने अभिप्राय को* छिपाने का प्रयास करते हैं। एक अखबारी विज्ञापन कि ऐसे व्यक्तियों को, जो निश्चित तिथि तक सामान क्रय करेंगे, दस प्रतिशत की छूट दी जाएगी, ऐसे यौक्तिकीकरण का उदाहरण है। वस्तुतः, सामाजिक नियंत्रण के अभिकर्ताओं के अभिप्रायों को जानना एवं उनका वर्गीकरण करना कठिन है। उदाहरणतया, ऐसे माता-पिता जो अपने बच्चों को रूढ़िवादी आचरण में प्रशिक्षित करना चाहते हैं, के अभिप्राय को समझना कठिन है। इसका कारण आचरण के नवीन प्रतिमानों से उनकी अनभिज्ञता हो सकता है अथवा इसका कारण यह भी हो सकता है कि उनके विचार में जो उनके लिए लाभप्रद रहा, वह उनके बच्चों के लिए भी लाभप्रद होगा, अथवा वे ऐसा केवल स्वभाववश अथवा नवीन प्रतिमानों के प्रति अविश्वास के कारण कर सकते हैं। इसी प्रकार, ऐसे अध्यापकों के जो प्रचलित लोकरीतियों एवं जीवन-मूल्यों की आलोचना करते हैं, अभिप्राय को समझना कठिन है।

इस प्रकार, सामाजिक नियंत्रण के अभिकर्ताओं के उद्देश्यों अथवा अभिप्रायों का वर्गीकरण सुगम नहीं है, तथापि मोटे तौर पर इन उद्देश्यों को निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है— (i) शोषणवादी, आत्महित से प्रेरित, (ii) नियामक, स्वभाव एवं परम्परागत प्रकार के व्यवहार की इच्छा पर आधारित; एवं (iii) निर्माणात्मक अथवा सृजनात्मक, सामाजिक लाभ पर आधारित। सामाजिक नियंत्रण के परिणाम सदैव समाज अथवा व्यक्ति के लिए लाभप्रद नहीं होते। शोषण स्पष्टतया अनेक व्यक्तियों के लिए हानिकारक होता है। सृजनात्मक उद्देश्यों के लिए किया गया सामाजिक नियंत्रण भी जनता को भ्रमित कर सकता है अथवा उन्हें निष्क्रिय बना सकता है। स्थापित आदर्श-नियमों के अनुसार व्यवहार को नियमित करने से प्रथाओं के प्रति अंधविश्वास, सांस्कृतिक विलम्बना (cultural lag), मानसिक संघर्ष, भावनात्मक अस्थिरता तथा मनोविक्षिप्ति का जन्म हो सकता है। स्थापित आदर्श-नियम सृजनात्मक व्यक्ति के लिए अति बाध्यकारी तथा साहसी व्यक्ति के लिए अति रूढ़िवादी हो सकते हैं।

५ सामाजिक नियंत्रण के साधन
(Means of Social Control)

जिन साधनों के द्वारा व्यक्तियों को समूह के जीवन-मूल्यों एव रीतियों का पालन करने के लिए अभिप्रेरित अथवा बाध्य किया जाता है वे इतने विभिन्न एवं अधिक हैं कि उनका वर्गीकरण सम्भव नहीं है। ई० ए० रास (E. A. Ross) ने अनेक साधनों का उल्लेख किया है जो मानव-इतिहास के दौरान सामाजिक समूहों द्वारा व्यक्तियों को नियंत्रणाधीन रखने हेतु प्रयुक्त किए गए हैं। उनमे से महत्वपूर्ण हैं—जनमत, कानून, प्रथा, धर्म, नैतिकता, सामाजिक सुझाव, व्यक्तित्व, लोकरीतियाँ एवं लोकाचार। ई० सी० हेज (E. C. Hayes), एक अन्य अमेरिकन समाजशास्त्री ने अनुशास्तियों द्वारा नियंत्रण तथा सुझाव एवं अनुकरण द्वारा नियंत्रण में विभेद किया है। अनुशास्तियों द्वारा नियंत्रण से उसका अभिप्राय था पुरस्कारों एवं दण्डों की

प्रणाली। उसके अनुसार शिक्षा नियंत्रण का सबसे अधिक प्रभावी साधन तथा परिवार सबसे महत्वपूर्ण अभिकरण है। कार्ल मानहीम (Karl Mannheim) ने सामाजिक नियंत्रण के प्रत्यक्ष साधनों एवं अप्रत्यक्ष साधनो के बीच विभेद किया है। किम्बल यंग (Kimball Young) ने सामाजिक नियंत्रण के साधनो को एकात्मक एवं नकारात्मक साधनों में श्रेणीबद्ध किया है। पुरस्कार सकारात्मक तथा दंड नकारात्मक साधन है।

एफ० ई० लुम्ले (F. E. Lumley) ने सामाजिक नियंत्रण के साधनों को दो मुख्य वर्गों में विभक्त किया है—बल पर आधारित तथा प्रतीकों पर आधारित। उसके अनुसार, यद्यपि शारीरिक बल सामाजिक नियंत्रण में अपरिहार्य है, तथापि केवल बल ही व्यक्तियों को व्यवस्थित नहीं रख सकता। मानव-समाजों को प्रतीकात्मक विधियों पर विश्वास करना पड़ता है जो बल की अपेक्षा अधिक प्रभावी होती हैं। लुम्ले ने प्रतीकात्मक विधियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी में उसने पुरस्कारों, प्रशंसा, अनुनय, शिक्षा एवं चाटुकारिता को सम्मिलित किया, जिनका उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहार को कुछेक वांछित लक्ष्यों की ओर निर्देशित करना होता है। दूसरी श्रेणी में उसने गप-शप, उपहास, आलोचना, मखौल, धमकी, गाली, प्रचार, आदेश एवं दण्ड को सम्मिलित किया, जिनका उद्देश्य दमन एवं बन्धन होता है।

लूथर एल० बर्नार्ड (Luther L. Bernard) ने सामाजिक नियंत्रण के अचेतन एवं चेतन साधनों के मध्य विभेद किया है। नियंत्रण के अचेतन साधनों मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—प्रथा, रीति-रिवाज एवं परम्परा। नियंत्रण के चेतन साधन ऐसे साधन है जिनको सभी प्रकार के नेताओ द्वारा प्रयोग एवं विकसित किया गया है। उसके अनुसार, नियत्रण के चेतन साधन अचेतन साधनों की अपेक्षा अधिक प्रभावी होते हैं, यद्यपि उत्तरोक्त का प्रभाव भी महत्वपूर्ण होता है। बर्नार्ड ने दण्डात्मक एवं सृजनात्मक विधियो मे भी विभेद किया। दण्डात्मक साधनों से तात्पर्य दंड, प्रतिकार, धमकी, दोष-विवेचन एवं दमन से है। सृजनात्मक विधियों मे क्रांति, प्रथा, कानून, शिक्षा, समाज-सुधार, अहिंसात्मक दबाव एवं पारलौकिक शक्तियों में विश्वास सम्मिलित हैं। उसने सामाजिक नियत्रण के साधनों को नकारात्मक एवं सकारात्मक श्रेणियों में भी विभक्त किया। पूर्वोक्त श्रेणी में ऐसे साधन जो व्यक्तियों को प्रतिबंधित करते हैं, सम्मिलित हैं, जबकि उत्तरोक्त श्रेणी में पुरस्कारों एवं वायदों के प्रयोग सम्मिलित हैं। सकारात्मक प्रकार का नियंत्रण अधिक वांछनीय तथा प्रभावी होता है, क्योंकि मानव-प्रकृति धमकियों की अपेक्षा वायदों, शारीरिक दबाव की अपेक्षा शांतिपूर्ण साधनों से अधिक प्रभावित होती है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण के साधनो को अनौपचारिक (informal) एवं औपचारिक (formal) श्रेणियों में विभक्त किया है। सहानुभूति, सामाजिकता, रोष, न्याय-भावना, जनमत, लोकरीतियाँ एवं लोकाचार सामाजिक नियंत्रण के कुछेक अनौपचारिक साधन हैं। इनका प्रथमिक समूहो मे, जहाँ अन्तर्क्रिया का आधार वैयक्तिक होता है, अधिक प्रभाव होता है। यद्यपि आधुनिक विशाल समुदायों में सम्पर्क अवैयक्तिक हो जाने के कारण अनौपचारिक साधनों का प्रभाव कुछ घट गया है, तथापि छोटे देहातो में वे अब भी प्रभावी हैं। रास (Ross) ने

सीमान्ती समाजों का उदाहरण दिया है जहाँ व्यवस्था बिना किसी निर्मित सत्ता के प्रभावी ढंग से संरक्षित रहती है। आधुनिक काल में अनौपचारिक साधनों का स्थान औपचारिक विधियों, यथा कानून, शिक्षा, दबाव एवं संहिताओं ने ले लिया है।

अनौपचारिक साधन (Informal Means)

सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन समाज में स्वयं विकसित हो जाते हैं। उनके निर्माण हेतु किसी विशेष अभिकरण की आवश्यकता नहीं होती। ब्राह्मण मांस नहीं खाते। जैनी दही नहीं खाते। वे सूर्यास्त से पूर्व भोजन कर लेते हैं। हिंदू स्त्रियाँ धूम्रपान नहीं करतीं। व्यक्ति अपना विवाह अपनी जाति के अन्दर ही करता है। बच्चों को अपने माता-पिता का आदर करना चाहिए। ये सभी अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के कारण हैं। यह प्रथाओं, रीति-रिवाजों, लोक-रीतियों, लोकाचारों, धर्म, उपहास आदि द्वारा प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि कहा जाता है कि लोग अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण की परवाह नहीं करते, तथापि सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन विशेषतया प्राथमिक समूहों में अधिक शक्तिशाली होते हैं। कोई भी व्यक्ति अपमानित होना अथवा अपने मान-सम्मान को खोना नहीं चाहता। वह उपहास का विषय नहीं बनना चाहता। वह नहीं चाहता कि लोग उस पर हँसें अथवा उसका सामाजिक बहिष्कार करें। दूसरी ओर, वह समाज द्वारा प्रशंसा, सम्मान एवं मान्यता चाहता है। इस प्रकार अनौपचारिक साधन, यथा प्रशंसा, उपहास, बायकाट आदि उसके व्यवहार को प्रभावी ढंग से नियंत्रित करते हैं। इसके अतिरिक्त, बालक समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा समूह के आदर्श नियमों का पालन करना सीखता है। समाजीकृत मनोवृत्तियों वाला व्यक्ति सामाजिक-तया हानिकारक कार्य नहीं करेगा। इस प्रकार समाजीकरण भी उसके ऊपर प्रभाव डालता है।

अब हम अनौपचारिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण साधनों का उल्लेख करेंगे—

(i) विश्वास (Belief)—विश्वास एक प्रबल धारणा है कि अमुक वस्तु सही है। यह मुख्यतः पाँच प्रकार का होता है—

(अ) अलौकिक शक्ति की अवस्थिति में विश्वास;
(ब) पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास;
(स) दण्ड की देवी में विश्वास;
(द) स्वर्ग एवं नरक में विश्वास;
(य) आत्मा की अमरता में विश्वास।

ये सभी विभिन्न विश्वास समाज में मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। अलौकिक शक्ति में विश्वास मनुष्य को सही कार्यों की ओर प्रेरित करता है, क्योंकि उसका विश्वास होता है कि कोई अलौकिक शक्ति उसके कार्यों को देख रही है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास मनुष्य को गलत कार्यों से दूर रखता है, क्योंकि उसका विश्वास होता है कि अगला जन्म सुखकर और उच्चतर प्राप्त करने हेतु उसे इस जीवन में सत्कर्म करने चाहिए। दण्ड की देवी में तीसरा विश्वास भी मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करता है, क्योंकि उसका विश्वास होता है कि उसे अपने

पापों का दंड देवी द्वारा मिलेगा। पापी को इसी संसार में दंड मिलता है। स्वर्ग एव नरक मे विश्वास मनुष्य को स्वर्ग प्राप्त करने तथा नरक से बचने हेतु सत्कर्मों की ओर प्रेरित करता है। स्वर्ग परियों, ऐश्वर्यों एवं प्रेम से भरपूर है। नरक भय, दुखो एव यातनाओ का घर है। आत्मा की अमरता में पाँचवाँ विश्वास मनुष्य को ऐसे कार्यों से दूर रखता है जिनसे उनके स्वर्गीय पूर्वजों की आत्मा को कष्ट हो।

इस प्रकार, विश्वास मानव-कार्यों पर शक्तिशाली प्रभाव हैं। वे मानवी सम्बन्धों के लिए महत्वपूर्ण हैं। वे मनुष्य के हितों एवं उद्देश्यों तथा उसके द्वारा साधनो के चयन को प्रभावित करते हैं, ताकि समूहों के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके अथवा कम से कम इनमें बाधा न उत्पन्न हो। सामाजिक सम्बन्धो का कोई भी पक्ष उनसे अछूता नही है। विश्वास सही अथवा झूठे हो सकते हैं। वे वास्तविक अथवा दोषयुक्त साक्ष्य पर आधारित हो सकते हैं। परन्तु उनकी वैधता सामाजिक नियन्त्रणों के रूप में उनकी प्रभाविता को आवश्यकतया निर्धारित नही करती। हम झूठे विश्वासों के आधार पर भी उतनी ही दृढ़ता से कार्य करते हैं जितना तथ्यात्मक रूप में ठीक विश्वासों से।

(ii) **सामाजिक सुझाव** (Social Suggestions)—सामाजिक सुझाव भी सामाजिक नियंत्रण के शक्तिशाली साधन हैं। सुझाव विचारों, भावना एव अन्य मानसिक स्थितियो का अप्रत्यक्ष संप्रेषण है। यह संप्रेषण अनेक विधियो द्वारा हो सकता है। प्रथम विधि महान् पुरुषों का जीवन-उदाहरण प्रस्तुत करना है। हम महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू एवं लालबहादुर शास्त्री की जयन्तियाँ मनाते हैं। हम आदर्श पुरुषों की समाधियो का निर्माण करते हैं। हम उनके जीवन-आदर्शों को जनता के सम्मुख रखते हैं एवं उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने का आह्वान करते हैं। सुझाव की दूसरी विधि साहित्य का माध्यम है। पुस्तकें, पत्रिकाएँ समाचार-पत्र आदि लोगों को वीरता के कार्य करने को प्रेरित करते हैं तथा उनमे राष्ट्रीय भावनाओं का विकास करते है। साहित्य लोगों को संकुचित दृष्टिकोण वाला, साम्प्रदायिक, रूढ़िवादी एव अधविश्वासी भी बना सकता है। मनुष्य जिस प्रकार का साहित्य पढता है, वह उसके मस्तिष्क को एवं परिणामस्वरूप उसके व्यवहार को अप्रत्यक्ष ढंग से प्रभावित करेगा। तीसरी विधि शिक्षा द्वारा है। शिक्षा का पाठ्यक्रम विद्यार्थियों में कुछेक विचारों का सचार कर सकता है और उन्हें अनुशासनबद्ध नागरिक बना सकता है। चतुर्थ विधि विज्ञापन का माध्यम है। अनेक पत्रिकाओं में कुछेक स्थानों की सैर करने तथा इन स्थानों की सैर करने से सम्बद्ध सम्मान के बारे में आकर्षक विज्ञापन दिए होते हैं। रेडियो सीलोन से विज्ञापन लोगो को बिनाका टूथ-पेस्ट का प्रयोग करने को आकर्षित कर सकता है। हमारे अनेक व्यापारिक संस्थान मनोवृत्तियों को प्रभावित करने हेतु विज्ञापन का प्रयोग करते हैं जो अन्ततः हमारे कार्य को प्रभावित कर सकते हैं। सुझाव सचेत अथवा अचेत हो सकते हैं। यह प्रयोजनीय अथवा अप्रयोजनीय भी हो सकते हैं।

(iii) **विचारधारायें** (Ideologies)—विचारधारा सामाजिक जीवन का सिद्धान्त है जो सामाजिक वास्तविकताओं को, आदर्शों के दृष्टिकोण से इनको युक्ति-संगत ठहराने एवं उनके विश्लेषण की शुद्धता को सिद्ध करने के लिए, व्याख्या करता है। यह किसी आदर्श का प्रत्यालेख है। लेनिनवाद, गांधीवाद एवं फासिज्म विचार-

धाराएँ हैं जिन्होंने सामाजिक वास्तविकताओं का विश्लेषण कर लोगों के सम्मुख एक आदर्श रखा है। विचारधाराएँ लोगों के जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। लेनिनवाद ने रूसियों के सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। प्रजातिवाद-संबंधी हिटलर के सिद्धान्त ने जर्मनियों को इतना अधिक प्रभावित किया कि वे स्वयं को संसार की सर्वोच्च प्रजाति समझने लगे। गांधीवाद ने भारतीय सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। संसार में हम आज विचारधाराओं का संघर्ष पाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका एवं रूस में संघर्ष पूंजीवाद एवं साम्यवाद के बीच संघर्ष है। मनुष्य का इतिहास संघर्षरत विचारधाराओं के मध्य संघर्ष का इतिहास है। विचारधाराएँ समकालीन सामाजिक जीवन की शक्तिशाली गतिशील शक्तियाँ हैं। वे सभी मनुष्यों को एक दृढ़ विचार-प्रणाली में विश्वास की आवश्यकता को संतुष्ट करती है। वे सामाजिक समूहों के प्राणभूत हितों की अभिव्यक्ति करती हैं तथा सामाजिक उन्नति की इच्छा को संतुष्ट करती हैं। वे कार्य को प्रेरित करती हैं। वे मूल्यों का संकलन प्रदान करती हैं। वे सामाजिक क्रिया की अभिप्रेरक हैं। वे जीवन को अर्थपूर्ण बनाती हैं। सामाजिक नियंत्रण के प्रभावी साधन के रूप में किसी विचारधारा की सफलता अनेक तत्वों पर आश्रित है। ऐसे कुछ तत्व हैं—विचारधारा की पूर्णता एवं संसक्तता, भविष्य के बारे में इसकी अन्तर्दृष्टि, मनुष्यों की कल्पनाओं को पकड़े रहने में इसकी समर्थता, इसकी अनुरूपता एवं अपनी आलोचना का उत्तर देने में इसकी समर्थता।

(iv) जनरीतियाँ (Folkways)—जनरीतियाँ व्यवहार की स्वीकृत विधियाँ हैं जो समूह में स्वयं उत्पन्न होती हैं। वे दैनिक जीवन के व्यवहार-प्रतिमान हैं जो समूह के अन्दर सहज एवं अचेत रूप में विकसित होते हैं। वे सामान्यतः मनुष्य की आदतें हैं एवं समूह के लिए सामान्य हैं। उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। उन्हें परम्परागत संपुष्टि की कुछ मात्रा प्राप्त होती है। समूह के सदस्यों के लिए जनरीतियों का उल्लघन सरल नहीं होता। वे समूह-संस्कृति का आधार होती हैं। यदि कोई व्यक्ति उनका पालन नहीं करता तो उसका सामाजिक बहिष्कार किया जा सकता है। विशेष अवसर पर विशेष वस्त्र पहने जाने चाहिए। ब्राह्मण मांस नहीं खाते, जैनी दही का सेवन नहीं करते, हिन्दू स्त्रियाँ धूम्रपान नहीं करती। चूंकि जनरीतियाँ स्वभाव की बात बन जाती हैं, अतएव मनुष्य अचेत रूप में ही इनका पालन करता रहता है जो समाज में मनुष्य के व्यवहार पर शक्तिशाली प्रभाव डालती हैं।

(v) लोकाचार (Mores)—लोकाचार वे जनरीतियाँ हैं जिन्हें समूह द्वारा अधिक महत्वपूर्ण ही नहीं, अपितु समूह-कल्याण हेतु अपरिहार्य समझा जाता है। लोकाचार जनरीतियों की अपेक्षा समाज की मौलिक आवश्यकताओं से अधिक सम्बन्धित होते हैं। वे सामाजिक कल्याण के लिए क्या सही एवं हितकारी है, इस विषय में समूह-भावना को व्यक्त करते हैं। इनमें जनरीतियों का मूल्यांकन निहित होता है। लोकाचार सदैव मानव-व्यवहार को परिवर्तित करते रहते हैं। वे मनुष्य को समूह द्वारा गलत समझे गए कार्यों को करने से रोकते हैं। वे नियंत्रण के साधन हैं। समाज में अनेक लोकाचार, यथा एकपत्नीत्व, मद्यनिषेध, अंतर्विवाह, दास-विरोधिता आदि होते हैं। लोकाचारों का पालन आवश्यक समझा जाता है। उनके

विरुद्ध व्यवहार की समाज अनुमति नहीं देता। यद्यपि कुछ लोकाचार व्यक्ति के शारीरिक कल्याण के लिए हानिप्रद हो सकते हैं, तथापि इनका पालन किया जाना चाहिए। इस प्रकार, लोकाचार समाज मे मनुष्य के व्यवहार को काफी सीमा तक प्रभावित करते हैं। (जनरीतियों एवं लोकाचारों का अधिक विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा)।

(vi) प्रथायें (Customs)--प्रथायें लोगों की चिरकाल से स्थापित आदतें एवं रीतियां हैं। वे ऐसी जनरीतियां एवं लोकाचार हैं जो दीर्घकाल से चली आ रही हैं तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांरित होती रही हैं। वे सहज एवं धीरे-धीरे विकसित होती हैं। उन्हे निर्मित करने हेतु कोई सत्ता नही होती। वे समाज द्वारा स्वीकृत होती हैं। उनका पालन भूतकाल में होता रहा है, अतएव वर्तमान समय मे भी उनका पालन हो रहा है। सामाजिक नियंत्रण के साधन रूप मे प्रथाओं के महत्व को कम नही किया जा सकता। वे इतनी शक्तिशाली होती हैं कि कोई भी उनके प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। वे सामाजिक जीवन को काफी सीमा तक नियंत्रित करती हैं। वे मनुष्यों को इकट्ठा रखती हैं। वे स्वार्थी संवेगों को नियंत्रित करती हैं। वे व्यक्ति को स्वीकृत मानकों का पालन करने के लिए बाध्य करती हैं। वे इतनी पवित्र समझी जाती हैं कि उनका उल्लंघन न केवल अपराध, अपितु अधार्मिक समझा जाता है। आदिम समाजों में प्रथायें सामाजिक नियंत्रण की शक्तिशाली साधन थीं, परन्तु वर्तमान काल मे उनकी शक्ति शिथिल हो गई है।

(vii) धर्म (Religion)--धर्म भी समाज में मनुष्य के व्यवहार पर शक्तिशाली प्रभाव डालता है। धर्म की अनेक परिभाषाएँ हैं। धर्म पारलौकिक शक्तियों के प्रति एक मनोवृत्ति है। यह मनुष्य से श्रेष्ठ शक्तियों में विश्वास है। यह स्वयं को अनेक रूपों, यथा अंधविश्वास, आत्मवाद, टोटमवाद, जादू, कर्मकाण्डवाद, एवं जड़-पूजावाद द्वारा अभिव्यक्त करता है। धर्म सभी समाजों मे प्रचलित है, यद्यपि धार्मिक विश्वास एवं क्रियाओं के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। हिन्दू धर्म संस्कारों को अधिक महत्व देता है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के अवसरों पर अनेक संस्कार किए जाते हैं। मंत्रों, यद्यपि उनका अर्थ मालूम नहीं होता, का उच्चारण किया जाता है। धर्म समाज में शक्तिशाली अभिकरण है। यह मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करता है। बच्चों को माता-पिता का आज्ञापालन करना चाहिए, उन्हे असत्य नहीं बोलना चाहिए, धोखा नहीं देना चाहिए, स्त्रियों को मनुष्यों के प्रति श्रद्धावान् होना चाहिए, लोगों को ईमानदार एवं नेक होना चाहिए, मनुष्य को अपनी इच्छाएँ सीमित रखनी चाहिए, मनुष्य को असामाजिक गतिविधियों का परित्याग कर देना चाहिए, कुछेक धार्मिक शिक्षाएँ हैं जो मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। मनुष्य को सत्कर्म करने चाहिए, सभी धर्मों की सामान्य शिक्षा है। धर्म मनुष्य को परोपकारी, दयाशील, सत्यवादी एवं धैर्यवान् बनाता है। यह भी ध्यान रहे कि धर्म को अंधविश्वास एवं हठवादिता का रूप भी दिया जा सकता है। सद्भावना, सामाजिक न्याय एवं सदाचार को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा यह लोगों को कुंठित, भाग्यवादी, रूढ़िवादी एवं निरंकुश शासकों के आदेशों का पालक बनाने हेतु साधन-रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। यह विचारों की स्वतन्त्रता की मनाही कर सकता है। यह

निर्धनता, शोषण एवं निकम्मेपन का समर्थन तथा दासता, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, लैंगिक संकरता एवं नरभक्षिता को प्रोत्साहित कर सकता है।

(viii) कला एवं साहित्य (Art and literature)—कला में इसके संकुचित अर्थ में चित्रकला, संगीत, नृत्य, वास्तु-निर्माण एवं मूर्तिकरण सम्मिलित हैं। साहित्य में कविता, नाटक एवं उपन्यास सम्मिलित हैं। कला एवं साहित्य, दोनों कल्पना को प्रभावित करते हैं तथा मानव-व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। सैनिक बैंड का वीर संगीत दृढ़ संकल्प एवं शक्ति की भावनाओं को जागृत करता है। शास्त्रीय नृत्य हमारे अन्दर अपनी संस्कृति की प्रशंसा उत्पन्न करता है। महात्मा गांधी का स्मारक हमें सादा जीवन एवं उच्च विचार के गुण की शिक्षा देता है। कोई चित्र हममें सहानुभूति, स्नेह एवं घृणा की भावना उत्पन्न कर सकता है। किसी युग की कला एवं राष्ट्रीय जीवन के मध्य अटूट सम्बन्ध होता है। किसी विशिष्ट काल की सभ्यता को तत्कालीन कला से परखा जा सकता है। कलाकार को सभ्यता का अभिकर्ता कहा गया है।

साहित्य भी समाज में मानव-व्यवहार को प्रभावित करता है। हमारा साहित्य 'अच्छा' अथवा 'बुरा' होता है। अच्छे साहित्य में युगों तक जीवित रहने का अपरिभाषीय गुण होता है। रामायण, भगवद्‌गीता एव महाभारत अत्यधिक सामाजिक महत्व के शास्त्रीय ग्रंथ है। दूसरी ओर, जासूसी साहित्य का अपराध पर प्रभाव पड़ सकता है। रूमानी साहित्य उन्हें कामुक तथा धार्मिक साहित्य उन्हें नेक अथवा अंध-विश्वासी बना सकता है। फ्रांस मे रूसो के लेखों ने फ्रेंच क्रांति को अग्रसारित किया। डिकेन्स (Dickens) ने डेविड कोपरफील्ड (Devid Copperfield) तथा अन्य पुस्तकों द्वारा ब्रिटेन की सम्पूर्ण स्कूल-प्रणाली को प्रभावित किया। इस प्रकार कला एवं साहित्य दोनो मनुष्य की कल्पना को प्रभावित करके नियंत्रण डालते हैं।

(ix) हास्य एवं उपहास (Humour and satire)—हास्य भी सामाजिक नियंत्रण का साधन है। यह परिस्थिति एवं उद्देश्य के अनुसार विभिन्न रूप धारण करता है। यह प्राय: गंभीर स्थिति को हल्का कर देता है। कभी-कभी इसका प्रयोग बुरे उद्देश्य से दूसरों का अकारण अवमूल्यन करने के लिए किया जाता है। इसका अनुकूल अनुक्रिया की प्राप्ति-हेतु भी प्रयोग होता है। हास्य समाज के मान्य मूल्यों के समर्थन द्वारा नियंत्रण करता है। व्यंग्य-चित्रों, हास्यो एवं हाजिरजवाबी द्वारा यह समाज के मूल्यों का इस प्रकार से समर्थन करता है जो भाव मे हल्का, परन्तु नियंत्रण में प्रभावी होता है।

उपहास उपेक्षा एवं हाजिरजवाबी को सामाजिक रूप से हानिप्रद एवं दूषित कार्यों की अप्रत्यक्ष आलोचना के रूप मे प्रयुक्त करता है। यह उपहास द्वारा व्यवहार की असत्यता एवं उसमे निहित खतरे का पर्दाफाश करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने दूषित एवं हानिप्रद कार्यों का परित्याग कर देता है।

(x) जनमत (Public opinion)—सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में जनमत का प्रभाव सरल समाजों में अधिक होता है। देहात में व्यक्ति एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप में जानते हैं। ग्रामवासी के लिए देहात के जनमत के विरुद्ध कार्य करना कठिन होता है। जनमत हमारे कार्यों को अत्यधिक प्रभावित करता है।

सार्वजनिक उपहास एवं आलोचना के भय से हम अनैतिक एवं समाज-विरोधी कार्यों को नही करते। प्रत्येक व्यक्ति सार्वजनिक प्रशंसा प्राप्त करना तथा सार्वजनिक उपहास अथवा आलोचना से बचना चाहता है। मान-सम्मान प्राप्त करने की इच्छा प्राकृतिक इच्छा है। हम अपने साथियों की दृष्टि में कुछ बनना चाहते हैं। मानवी प्रशंसा सर्वमधुर संगीत है। व्यक्ति सार्वजनिक प्रशंसा प्राप्त करने अथवा सामाजिक उपहास से बचने हेतु सामाजिक आदर्श-नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं। इस प्रकार, जनमत लोगों के व्यवहार को प्रभावित करने वाले शक्तिशाली तत्वों मे से एक तत्व है।

औपचारिक साधन (Formal Means)

सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों में कानून, शिक्षा एवं बल सम्मिलित हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

(i) कानून (Law)—कानून सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनो में सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। प्रारम्भिक समाज सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधनों पर अधिक आश्रित थे, परन्तु समाजों के आकार एवं उनकी जटिलता में वृद्धि हो जाने के कारण नियमों एवं विनियमों के निर्माण की आवश्यकता महसूस हुई, जिनके द्वारा व्यवहार के वांछित प्रकारों तथा इनका उल्लंघन करने वालो के लिए दंडों की परिभाषा की गई। कानून वैध रूप से प्राधिकार-युक्त निकायों द्वारा निर्मित एवं प्राधिकारयुक्त अभिकरणों द्वारा क्रियान्वित नियमों का संकलन है। यह अधिकारों, कर्तव्यों एवं उनके उल्लंघन के लिए दंड को स्पष्ट रूप से परिभाषित करता है। वर्तमान समाजों का आकार विशाल है। उनकी संरचना जटिल है जिसमे अनेक समूह, संगठन, संस्थायें एवं स्वार्थी हित सम्मिलित हैं। सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन सामाजिक व्यवस्था एवं तालमेल को स्थिर रखने हेतु पर्याप्त नहीं रहे हैं। विवशतया आधुनिक समाजों को सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों का आश्रय लेना पड़ा।

आधुनिक समाज में सम्बन्धों का स्वरूप गौण है। जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा तथा सम्बन्धों की क्रमबद्ध व्यवस्था नियमों के औपचारीकरण को आवश्यक बना देती है। कानून सामाजिक व्यवस्था के लिए एकरूप नियमों एवं दण्डो की व्यवस्था करता है। प्रत्येक राज्य मे कानून का आकार बढ़ रहा है। पहले जो नियम लोकाचारों एवं प्रथाओं में सम्मिलित थे, उन्हें अब कानून की संहिता में औपचारीकृत कर दिया गया है। हिन्दू विवाह अधिनियम, १९५५ ने हिन्दुओं मे विवाह-सम्बन्धी नियमो को संहितावद्ध किया है। इसने हिन्दू पत्नी के पति को तलाक देने के अधिकार को मान्यता प्रदान की है। भोजन की वस्तुएँ बेचने, अग्नि से सुरक्षा, कूड़ा-करकट फेंकने, ट्रैफिक आदि को नियंत्रित करने हेतु अनेक कानूनों का निर्माण किया गया है। अस्पृश्यता को बंद करने के लिए अस्पृश्यता-विरोधी कानून बनाया गया है तथा ऐसा व्यक्ति जो अस्पृश्यता का किसी रूप मे पालन करता है, दण्ड का भागी है। सिनेमाघरों में धूम्रपान कानून द्वारा वर्जित है। इस

प्रकार, कानून आधुनिक समाजों में लोगों के व्यवहार पर शक्तिशाली प्रभाव डालता है। आजकल कानून का किसी पूर्व काल की अपेक्षा संपूर्ण सामाजिक नियंत्रण में सबसे अधिक भाग है।

(ii) शिक्षा (Education)—कानून के साथ-साथ सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप मे शिक्षा का महत्व भी अधिक से अधिक महसूस किया जा रहा है। शिक्षा समाजीकरण की एक प्रक्रिया है। यह बच्चे को सामाजिक जीवन के लिए तैयार करती है। यह बच्चों द्वारा गलत ढंग से पूर्वनिर्मित विचारों को सुधारती है। इस प्रकार परिवार बच्चे को अंधविश्वासी बना देता हैं, शिक्षा उसके विश्वासों को सुधार कर पूर्वाग्रहों को दूर करेगी। यह उसे अनुशासन, सामाजिक सहयोग, सहनशीलता एवं त्याग के सामाजिक मूल्य का प्रशिक्षण देती है। यह उसमें ईमानदारी, श्रेष्ठ व्यवहार के गुण तथा सही एवं गलत की भावना उत्पन्न करती है। नवयुवकों मे सही सामाजिक मनोवृत्तियों को जन्म देने हेतु शिक्षा के महत्व को कम नही किया जा सकता। यह शोचनीय है कि भारत में शिक्षा देश के नवयुवकों में सही सामाजिक मनोवृत्तियों को उत्पन्न करने तथा सामाजिक नियत्रण के एक प्रभावी साधन के रूप में कार्य करने में बुरी तरह असफल रही है।

(iii) बल-प्रयोग (Coercion)—बल-प्रयोग किसी वांछित उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु शक्ति का प्रयोग है। यह शारीरिक अथवा अहिंसात्मक हो सकता है। जब सामाजिक नियंत्रण के अन्य सभी साधन असफल हो जाते हैं तो यह अन्तिम साधन बच जाता है। शारीरिक बल-प्रयोग शारीरिक चोट, कारावास एवं मृत्यु-दंड का रूप ले सकता है। शारीरिक बल-प्रयोग निस्सदेह सामाजिक नियंत्रण का निम्नतम रूप है। समाज इसका कम से कम प्रयोग करना पसद करेंगे। इसका अपराधी के ऊपर तात्कालिक प्रभाव हो सकता है, परन्तु स्थायी प्रभाव नही पड़ता। यदि किसी समाज को बाह्य बल के प्रयोग पर आश्रित रहना पड़े तो सामाजिक नियंत्रण में यह उसकी शक्ति की अपेक्षा निर्बलता को प्रकट करती है। समाज की सर्वोत्तम सुरक्षा योग्य नागरिकों के विकास में निहित है।

अहिंसात्मक बल-प्रयोग में हड़ताल, बहिष्कार एवं असहयोग सम्मिलित हैं। एक व्यक्ति जो अपने मित्र को धमकी देता है कि यदि उसने धूम्रपान का परित्याग न किया तो उसकी मित्रता समाप्त हो जाएगी, उसके कार्य को बदलने के लिए अहिंसात्मक बल का प्रयोग कर रहा है। विद्यार्थी समुचित पुस्तकालय-सुविधाओ के लिए प्राचार्य को बाध्य करने हेतु हड़ताल कर सकते हैं। बहिष्कार माँगों की स्वीकृति एवं रोष को प्रकट करने हेतु दूसरों के साथ आर्थिक अथवा सामाजिक संपर्क को रोक देना है। एक विद्यार्थी का जो छात्राओं को तंग करता है, महाविद्यालय के अन्य विद्यार्थियों द्वारा बहिष्कार किया जा सकता है। असहयोग सहयोग की मनाही है। अध्यापक प्राचार्य के साथ उसके अपमानजनक व्यवहार पर सहयोग करने से इंकार कर सकते हैं। अहिंसात्मक बल-प्रयोग सामाजिक नियंत्रण का प्रभावी साधन है। महात्मा गांधी ने इसका प्रयोग अंग्रेजी शासन से भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता दिलाने में किया।

६. युगों के दौरान सामाजिक नियंत्रण
(Social Control Through Ages)

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि युगों के दौरान सामाजिक नियंत्रण एक ही एवं समान साधनों से नहीं किया गया है। उनकी सापेक्ष प्रभाविता सामाजिक संगठन एवं समूह के जीवन-मूल्यों में परिवर्तनों के साथ बदलती रही है। आदिम समाजों में सामान्यतः अनौपचारिक साधन, यथा रीति-रिवाज, प्रथा एवं परिपाटी व्यक्तियों एवं समूहों को नियंत्रित करने हेतु प्रयुक्त किए जाते थे। मध्य युग में चूंकि सामन्ती प्रथाएँ एवं धर्म की सर्वाधिक सत्ता थी, अतएव संपूर्ण सामाजिक जीवन धर्म द्वारा नियंत्रित था। समय व्यतीत होने पर धर्म की सत्ता कम हो गई एवं शक्ति राजा के पास आ गई। अब राजा मुख्य नियंत्रक अभिकरण बन गया जो राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त के नाम पर राज्य करने लगा। बाद में व्यक्तिवाद का युग आया जिसमें व्यक्ति के ऊपर राज्य का नियंत्रण कम हो गया। प्रौद्योगिक उन्नति एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण नई सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई, जिन्होंने पुनः राज्य-नियंत्रण को आवश्यक बना दिया। परन्तु इस बार राज्य निरंकुश राजा की इच्छा का प्रतिनिधित्व न कर समुदाय की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था। अनेक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संघों का जन्म हुआ, जिन्होंने भविष्य में सामाजिक जीवन को नियंत्रित करना प्रारम्भ कर दिया। आजकल सामाजिक नियंत्रण का क्षेत्र इतना विशाल एवं व्यापक है कि मनुष्य जीवन के प्रत्येक चरण पर किसी न किसी अभिकरण के नियंत्रणाधीन है। क्या यह नियंत्रण आवश्यक अथवा वांछनीय है, इस प्रश्न ने 'मनुष्य बनाम राज्य' के भारी विवाद को खड़ा कर दिया है। परन्तु यदि हम ध्यान रखें कि समाज के हितों एवं व्यक्ति के हितों के मध्य कोई विरोध नहीं है तो 'मनुष्य बनाम समाज' का यह विवाद अपना सारा महत्व खो देता है।

आधुनिक समाज में सामाजिक नियंत्रण (Social Control in Modern Society)

आधुनिक काल में सामाजिक नियंत्रण प्राय. व्यक्तियों के विवेक को प्रभावित करके किया जाता है। आधुनिक समाज शक्ति के प्रयोग का समर्थन नहीं करता, यद्यपि बलपूर्ण साधनों का प्रायः प्रयोग किया जाता है। मनुष्य का व्यवहार उसे शिक्षा एवं प्रचार द्वारा अपने कार्य के परिणामों को दिखलाकर नियंत्रित किया जाता है। परिवार-नियोजन के लाभों अथवा मद्यपान के दोषों के विषय में किया जाने वाला संपूर्ण विचार-विमर्श एवं वार्तालाप नियंत्रण के आधुनिक प्रकार के उदाहरण हैं। अब संवेगों को प्रभावित करने के अधिक प्रयत्न नहीं किए जाते। आदिम समाज में ही यह अनुभव किया जाता था कि यदि सामाजिक प्रतिमान के अनुसार व्यवहार न किया गया तो देवता रुष्ट हो जायेंगे एवं कोई विपत्ति आ जाएगी। परन्तु आज लोग अलौकिक शक्तियों में अधिक विश्वास नहीं करते, तथापि सामाजिक सुझाव कि लोग क्या कहेंगे एवं प्रशंसा प्राप्त करने की अभिलाषा आधुनिक समाज में मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। आधुनिक काल में नेतृत्व एक शक्तिशाली नियंत्रक तत्व बन गया है। नेता संकट एवं उत्तेजना के समय जनसमूह की मानसिकता को नियंत्रित करता है।

भविष्य में सामाजिक नियंत्रण (Social Control in Future)

वर्तमान समाज भूतकालीन समाज की अपेक्षाकृत अधिक जटिल है तथा भविष्य में इसके और अधिक जटिल बन जाने की संभावना है। जिन सामाजिक समस्याओं का व्यक्ति को सामना करना पड़ता है, वे इतनी जटिल बन रही हैं कि उनसे निपटना किसी एक अकेले व्यक्ति की शक्ति से बाहर है। परिणामत. उसे किसी अन्य के साथ वांछित उद्देश्य की पूर्तिहेतु मिलकर कार्य करना होगा। मनुष्य समाज की शक्तिशाली शक्तियों के सामने शक्तिहीन हैं तथा इस तथ्य ने सामाजिक नियंत्रण के ऐच्छिक अभिकरणों—समितियों, क्लबों, संघों, संस्थानों, ब्यूरो एवं सहकारी संस्थाओं की संख्या में महत्वपूर्ण वृद्धि कर दी है।

आधुनिक समाज में वर्तमान विघटनकारी शक्तियाँ आचरण की समरूपता लाने के लिए अधिक सामाजिक नियंत्रण को जन्म देंगी। अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का देहान्त हो चुका है। अब यह सामान्यतः महसूस किया जाता है कि बुद्धिपूर्ण सामूहिक नियोजन ही वर्तमान सामाजिक समस्याओं का समाधान कर सकेगा। प्रकृति की अंधी शक्तियों पर मानव-मस्तिष्क की श्रेष्ठता स्थापित हो चुकी है। समाज मनुष्य के प्रयत्नों की उपेक्षा कर स्वचालित रूप में क्रियाशील शक्तियों का परिणाम नहीं है। विकासवादी नियतिवाद के सिद्धान्त की तुलना में एल० एफ० वार्ड (L. F. Ward) के 'सामाजिक उद्देश्यवाद' (social telesis) के सिद्धान्त मे अधिक सत्यता है। सरकार का बढ़ता हुआ नियंत्रण एवं विशाल बजट इस तथ्य को दिग्दर्शित करते हैं कि भविष्य में सामाजिक नियंत्रण कम होने की अपेक्षा अधिक बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन काल में सामाजिक नियंत्रण के साधनों के बारे में अधिक से अधिक-ज्ञान प्राप्त है। सामाजिक नियंत्रण के नए अभिकरणों का जन्म हुआ है। निरंकुश राज्यों में सामाजिक नियंत्रण चरम बिन्दु तक पहुँच गया है। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन राज्य के निर्देश एवं नियमन के अधीन है। प्रजातंत्रीय देशों में भी सामाजिक नियंत्रण की मात्रा व्यापक है। मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करने हेतु अनेक ऐच्छिक संस्थाओं का जन्म हुआ है। संस्कृति की बढ़ती हुई जटिलता प्रभावी सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता को कम करने की अपेक्षा और अधिक बढ़ाएगी।

प्रश्न

१. 'सामाजिक नियंत्रण' शब्द का क्या अर्थ है? आत्म-नियंत्रण से यह किस प्रकार भिन्न है?

२. क्या सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है? सामाजिक नियंत्रण किन विभिन्न साधनों द्वारा किया जाता है?

३. सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों की व्याख्या कीजिए।

४. भविष्य में सामाजिक नियंत्रण का स्वरूप क्या होगा?

अध्याय ३२

आदर्श नियम एवं मूल्य
[NORMS AND VALUES]

समाज कभी-कभी अराजकतापूर्ण हो जाता है, यथा जब कोई जनसमूह बलवा कर देता है अथवा जब कभी सिर पर मँड़राते हुए संकट से भयभीत होकर लोग इधर-उधर उत्तेजक अवस्था में भागना-दौड़ना शुरू कर देते हैं; परन्तु शीघ्र ही व्यवस्था पुनर्स्थापित हो जाती है और समाज काम में लग जाता है। वस्तुतः अव्यवस्था की अपेक्षा व्यवस्था संसार का नियम है। सामाजिक व्यवस्था कुछेक मानकों के अनुरूप मानवी व्यवहार के नियंत्रण द्वारा प्राप्त की जाती है। सभी समाजों मे इन मानकों की व्यवस्था होती है जो उचित एवं अनुचित व्यवहार की परिभाषा करते हैं। व्यवहार के इन मानकों को सामाजिक आदर्श नियम कहा गया है। आदर्श नियमों की अवधारणा समाजशास्त्र में केन्द्रीय अवधारणा है। इस अध्याय का उद्देश्य आदर्श नियमों की अवधारणा, उनके निर्माण एवं महत्व का वर्णन करना है।

१. आदर्श नियमों का अर्थ
(Meaning of Norms)

आदर्श नियम समूह-व्यवहार के मानक हैं (Norms are standards of group behaviour)—समूह-जीवन की एक अनिवार्य विशेषता यह है कि इसमें मूल्यों का एक पुंज होता है जो व्यक्ति सदस्यों के व्यवहार को नियमित करता है। जैसा कि हमने पूर्व ही देखा है, समूह आकाश से सदस्यों के बीच स्थायीकृत सम्बन्धों को लेकर नहीं उतरते। समूह व्यक्तियों के मध्य अंतर्क्रिया की उपज हैं। जब अनेक व्यक्ति अंतर्क्रिया करते हैं तो मूल्यों का पुंज विकसित हो जाता है जो उनके सम्बन्धों एवं व्यवहार की विधियों को नियमित करता है। समूह-व्यवहार के इन मानकों को सामाजिक आदर्श नियम कहा जाता है।

आदर्श नियमों में मूल्य-निर्णय सन्निहित होते हैं (Norms incorporate value judgements)—**सेकार्ड एवं बकमैन** (Secord and Buckman) के अनुसार, "आदर्श नियम किसी समूह के सदस्यों द्वारा स्वीकृत व्यावहारिक प्रत्याशा अथवा मानक होता है जिसके संदर्भ में सहजानुभूतियों की वैधता का निर्णय तथा विचार एवं व्यवहार के औचित्य का मूल्यांकन किया जाता है।"[1] समूह के सदस्यों के व्यवहार

1. "A norm is a standard of behavioural expectation shared by group members against which the validity of perceptions is judged and the appropriateness of feeling and behaviour is evaluated."—Secord and Buckman, *Social Psychology*, p. 323.

में कुछ नियमिततायें पाई जाती हैं। व्यवहार के इस प्रकार को समूह द्वारा उचित समझा जाता है। व्यवहार की इन नियमितताओं की सामाजिक आदर्श नियमों के अर्थ में व्याख्या की गई है। साधारण प्रयोग में, आदर्श नियम का अर्थ मानक से है। समाजशास्त्र मे हमारा सम्बन्ध सामाजिक आदर्श नियमों से है, अर्थात् समूह द्वारा स्वीकृत आदर्श नियमों से। वे व्यवहार की प्रत्याशित विधियों से संबंधित 'मानकीकृत सामान्यीकरणों' का बोध कराते हैं। मानकीकृत सामान्यीकरणों के रूप में वे समूह द्वारा मूल्यांकित अवधारणायें हैं जिनमे मूल्य-सम्बन्धी निर्णय समाविष्ट हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आदर्श नियम सामाजिक मूल्यों पर आधारित होते हैं जिन्हें नैतिक मानकों अथवा सौंदर्यात्मक निर्णय द्वारा उचित ठहराया जाता है। आदर्श नियम व्यक्तिगत व्यवहार को सीमित करने वाला प्रतिमान है। जैसा कि ब्रूम एवं सेल्जनिक (Broom and Selznick) ने परिभाषा दी है, "आदर्श नियम व्यवहार की रूपरेखाएँ हैं जो उन सीमाओं का निर्धारण करते हैं जिनके अंदर व्यक्ति अपने लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु विकल्पात्मक विधियों की खोज कर सकता है।"[1] आदर्श नियम मानव प्राणियों की सामान्य अथवा केन्द्रीय प्रवृत्ति को निर्दिष्ट नहीं करते। वे प्रत्याशित व्यवहार अथवा आदर्श व्यवहार को निर्दिष्ट करते हैं। उनके साथ नैतिक मूल्य सम्बद्ध होते हैं। वे आदर्श क्रियाएँ होती है। वे समूह की आदर्शात्मक व्यवस्था को स्थापित करते हैं। डेविस (Davis) के अनुसार, "सामाजिक आदर्श नियम एक प्रकार के नियंत्रण हैं। मानव-समाज इन्ही नियन्त्रणों के बल पर अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार अंकुश रखता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन-रूप मे कार्य करते रहें, भले ही उनकी प्राणि-शास्त्रीय आवश्यकताओं मे इससे बाधा पहुँचती हो।"

आदर्श नियम तथ्यात्मक संसार से संबंधित होते हैं (Norms are related to factual world)—यह नही समझा जाना चाहिए कि आदर्श नियम अमूर्त होते हैं जो कल्पनात्मक विचारो का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजशास्त्रियों का सम्बन्ध केवल "क्रियाशील" (operative) आदर्श नियमो से है, अर्थात् ऐसे आदर्श नियम जो इस प्रकार स्वीकृत होते हैं कि उनका उल्लंघन करने वालो को दंड भुगतना पड़ता है। उदाहरणतया, ईसामसीह के गिरि-प्रवचन के अधिकांश आदर्श नियम, जिन्हें यद्यपि आदर्श नियम की सज्ञा दी जाती है, स्वीकृत नही हैं। यदि कोई व्यक्ति पिटाई के समय अपना दूसरा गाल आगे नही करता तो उसे सामाजिकतया दंडित नहीं किया जाता। आदर्श नियम प्रभावी हो, तदर्थ यह आवश्यक है कि वे वास्तविक घटनाओं के मध्य सम्बन्धों का सही प्रतिनिधित्व करें। उन्हें तथ्यात्मक परिस्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। एक ऐसा नियम कि प्रत्येक पुरुष की दो पत्नियाँ होनी चाहिए, व्यर्थ होगा यदि समाज मे स्त्रियो की संख्या पुरुषो के अनुपात से कम हो। अतएव, चूंकि आदर्शात्मक प्रणाली का उद्देश्य तथ्यात्मक संसार मे वास्तविक परिणामो की प्राप्ति है, अतएव यह वास्तविक जगत् की घटनाओ से सम्बद्ध होनी चाहिए।

---

1. "The norms are blueprints for behaviour, setting limits within which individuals may seek alternate ways to achieve their goals"—Broom and Selznick, *Sociology*, p. 52.

संक्षेप में कहा जा सकता है कि—

(i) आदर्श नियम सामाजिक नियम हैं जिनके निर्वाह की अपेक्षा समाज के सभी सदस्यों से की जाती है। ये "कर्तव्य-भावना" से संबंधित हैं।

(ii) सामाजिक **आदर्श** नियमों में **छोटे-बड़े** विभिन्न नियम, उपनियम शामिल हैं।

(iii) सामाजिक आदर्श नियम मानव-अस्तित्व के ऐसे अभिन्न अंग हैं जो एक बड़ी सीमा तक आन्तरिक बन चुके हैं। **बीरस्टीड** (Bierstedt) के शब्दों में मे "जहाँ आदर्श नियम नही हैं, वहाँ समाज भी नही है।"

(iv) सामाजिक आदर्श नियमों का सम्बन्ध सामाजिक उपयोगिता से है।

(v) सामाजिक आदर्श नियम एक प्रकार के अंकुश हैं, ताकि मनुष्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन-रूप मे कार्य करते रहे।

(vi) सामाजिक आदर्श नियमों का निर्माण तथ्यात्मक परिस्थितियों की आधारशिला पर होता है।

(vii) सामाजिक आदर्श नियमों की प्रकृति सरल होती है। *बिना अधिक सोचे-विचारे ही मनुष्य इनके अनुसार व्यवहार करता रहता है।*

(viii) सामाजिक आदर्श नियम विशेष सांस्कृतिक नियम के अंतर्गत विभिन्न विकल्प प्रस्तुत करते हैं।

२. आदर्श नियमों का महत्व

(Importance of Norms)

आदर्शहीन समाज एक असंभाविता है (A normless society is an impossibility)—आदर्श नियम समाज के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। *आदर्शहीन समाज की कल्पना असंभव है* क्योंकि आदर्श नियमों के बिना व्यवहार अपूर्वकथनीय होगा। आदर्श नियमो मे समावेशित व्यवहार के मानक सामाजिक सम्बन्धो की व्यवस्था को जन्म देते है। यदि व्यक्ति समूह के आदर्श नियमो का पालन करते रहें तो अन्तर्क्रियायें सुगमता से चलती रहती है। आदर्शात्मक व्यवस्था मानव-समाज की तथ्यात्मक व्यवस्था को सम्भव बनाती है। आदर्शात्मक व्यवस्था के बिना किसी मानव-समाज का अस्तित्व नही हो सकता। मनुष्य को समाज मे रहने हेतु आदर्शात्मक *व्यवस्था की आवश्यकता होती है क्योंकि मानव जीव पर्याप्त विशाल अथवा एकीकृत* नहीं है कि वह स्वचालित अनुक्रियाये कर सके जो समाज के लिए प्रकार्यात्मक रूप मे समुचित हो। मनुष्य अकेला नही रह सकता। समाज पर उसकी पराश्रितता यान्त्रिक सामाजिक उद्दीपनो के प्रति स्थिर निर्जीव अनुक्रियाओं से नही, अपितु अर्थपूर्ण उद्दीपनो के प्रति विद्वत्तापूर्ण अनुक्रियाओं से उद्‌भूत हुई है। अतएव समाज पर उसकी पराश्रितता अन्ततः आदर्शात्मक व्यवस्था पर पराश्रितता है।

आदर्श नियम समाज को दृढ़ता प्रदान करते हैं (Norms give cohesion to society)—*आदर्श नियमो के बिना समाज की कल्पना भी नही की जा सकती।* आदर्शहीन समाज, हाब्स के शब्दो मे, एकाकी, हीन, घृणास्पद, जंगली एव अल्प-कालीन होगा। स्वयं को संरक्षित रखने के लिए मानव जीव को अवश्य ही आदर्शा-

त्मक रूप से नियमित सामाजिक व्यवस्था में रहना होगा। आदर्शात्मक व्यवस्था समाज को दृढ़ता प्रदान करती है जिसके बिना सामाजिक जीवन सम्भव नहीं है। ऐसे समूह जो आदर्शात्मक व्यवस्था का विकास नही कर पाते अथवा अपने सदस्यों के ऊपर आदर्शात्मक नियंत्रण नही रख सकते, आंतरिक सहयोग के अभाव में जीवित नहीं रहते।

आदर्श नियम मनुष्य की मनोवृत्तियों को प्रभावित करते हैं (Norms influnce individual's attitudes)—आदर्श नियम व्यक्ति की मनोवृत्तियो एवं उसके ध्येय को प्रभावित करते हैं। वे प्रत्यक्षतः व्यक्ति की आत्म-धारणा से टकराते हैं। वे समूह द्वारा कार्य-विषयक विशिष्ट मांगें हैं। वे अधिक स्थायी होते हैं। उनमें किसी पूर्वस्वीकृत अमूर्त भावना, जिसका वे विरोध करते हैं, को चुप कराने की शक्ति होती है। उन्हें अमूर्त भावनाओ पर प्राथमिकता प्राप्त होती है। किसी समूह के सदस्य बनने का अर्थ है उस समूह के आदर्श नियमो के अनुरूप मनोवृत्तियों को ढाल लेना। व्यक्ति जिस सीमा तक आदर्श नियमों का पालन करता है, वह उसी सीमा तक श्रेष्ठ सदस्य है। आदर्श नियम दूसरों तथा स्वयं के बारे मे उसके अंतर्शानीय निर्णयों को निर्धारित एवं मार्गदर्शित करते हैं। वे आत्मा, दोषी भावनाओं, उन्नयन एवं अवनयन की परिघटना को जन्म देते हैं। वे चेतना से अधिक गहन होते हैं। समूह के सदस्य बनने का अर्थ है समूह के आदर्श नियमों को आंतरीकृत कर लेना। आंतरीकरण द्वारा आदर्श नियम स्वय उसके जीवन का अंश बन जाते हैं जो उसके व्यवहार मे स्वयमेव अभिव्यक्त होते हैं।

३. आदर्श नियमों का पालन
(Conformity of Norms)

आदर्श नियमों का निर्माण सभी समूहो द्वारा प्रत्येक प्रकार के व्यवहार एवं प्रत्येक संभव स्थिति के सम्बन्ध मे नही किया जाता। किसी विशेष समूह के लिए महत्वपूर्ण विषयों पर ही उनका निर्माण किया जाता है। किसी समूह के लिए कौन से महत्वपूर्ण हैं, यह उस समूह के प्रमुख उद्देश्यों एव लक्ष्यों, समूह का दूसरे समूहों के साथ सम्बन्ध तथा ऐसी परिस्थितियों, जिनमें वह कार्यरत होता है, पर आधारित है। इसी प्रकार आदर्श नियमो द्वारा नियमित व्यवहार-क्षेत्र भी विभिन्न समूहों में विभिन्न होता है। उदाहरणतया, कुछ समूहों के आदर्श नियम मुख्यतः नैतिक विषयों से संबंधित हो सकते हैं, जबकि अन्य समूहों के आदर्श नियम जीवन के व्यापकतर क्षेत्र, जिसमें मनोरंजन, शिक्षा, परिधान आदि सम्मिलित है, को समाविष्ट कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, यह भी संभव है कि किसी सामाजिक प्रणाली में कार्यशील सामाजिक आदर्श नियम दूसरे समाज मे कार्यशील न हों। इस प्रकार मुस्लिम समाज बहुपत्नीत्व की स्वीकृति देता है, परन्तु ईसाई समाज इसकी स्वीकृति नही देता। इसी प्रकार आदर्श नियम समाज के सभी सदस्यो अथवा सभी स्थितियों पर समान रूप से लागू नही होते। उनको समाज मे व्यक्ति के पद एवं व्यवसाय के अनुरूप समायोजित किया जाता है। अतः स्त्री के लिए जो उचित है, वह पुरुष के लिए सदा उचित नहीं होता। इस प्रकार, आदर्श नियमों का पालन उन सामाजिकतया परिभाषित स्थितियों, जिनमें ये क्रियाशील होते हैं, के संदर्भ में सदैव शर्तयुक्त होता है।

आदर्श नियम परिभाषागत दायित्व की भावना को सूचित करता है। यह व्यवहार के मानक को निर्धारित करता है जिसका अनुसरण किया जाना चाहिए। व्यक्तित्व एवं समाज सम्बन्धी अनेक समस्याएँ आदर्श नियमो की पालनहीनता की समस्याएँ हैं। आदर्श नियमों को आंतरीकृत कर लिया गया है, अतएव यदि वह उनका पालन नहीं करेगा तो उसकी आत्मा उसे तंग करेगी। इसके अतिरिक्त इन नियमों का उल्लंघन करने पर लोग भी उसकी निन्दा करेंगे। इस प्रकार, आंतरीकृत आवश्यकता एवं बाह्य सम्पुष्टियाँ, दोनो आदर्श नियमों के पालन में प्रभावी भूमिका प्रदान कराती हैं।

आदर्श नियमो के उल्लंघनकर्ताओं को निम्नलिखित प्रकार की हानियाँ उठनी पड़ती हैं—

(i) जिन व्यक्तियो के साथ वे अंतर्क्रिया कर रहे हैं, वे उल्लंघनकर्ताओं से सहयोगी कार्यों एवं मैत्रीपूर्ण अभिव्यक्तियो को बंद कर देते हैं जिसमे उल्लंघनकर्ताओं को दु.ख होता है।

(ii) आदर्श नियमो के उल्लंघनकर्ताओं की मानहानि होती है।

(iii) उल्लघनकर्ताओ का उपहास होता है, उन पर जुर्माना होता है तथा कारावास भी दिया जाता है।

इसके विपरीत, जो व्यक्ति आदर्श नियमों का पालन करते हैं, उन्हें दूसरों का प्रत्याशित सहयोग मिलता है, समूह मे उनका अच्छा मान होता है एवं प्रशंसा, पदोन्नति तथा बोनस के रूप मे सकारात्मक पुरस्कार मिलते हैं।

आदर्श नियमो के पालन से सबंधित तीन प्रश्न सामने आते हैं—

(i) कुछ व्यवहार एवं मनोवृत्तियाँ आदर्शात्मक नियंत्रणो के अधीन क्यों होती हैं जबकि अन्य नही होती ?

(ii) कुछ समूहो में आदर्श नियमों की समनुरूपता अन्य समूहो की अपेक्षा अधिक क्यो पाई जाती है ?

(iii) समूह के कुछ सदस्य दूसरे सदस्यों की अपेक्षा आदर्श नियमों का अधिक पालन क्यो करते है ?

ये तीनों प्रश्न आदर्श नियमों की समरूपता के केन्द्र, उसकी सीमा एव उसके वितरण से संबधित हैं।

कुछ व्यवहार एव मनोवृत्तियाँ ही दूसरों की अपेक्षा आदर्शात्मक नियंत्रण के अधीन क्यों होती है ? (Why are some behaviours and attitudes subjected to normative control and others are not ?)—जैसा हमने पहले ही देखा है, मनुष्य विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समूहों का निर्माण करते हैं। आदर्शात्मक नियंत्रण व्यवहार के उन क्षेत्रो मे उत्पन्न होते हैं जिनमे सदस्य अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि-हेतु अधिक पराश्रित हो जाते हैं। ये आदर्श नियम ऐसे व्यवहार को प्रोत्साहित करते हैं जिससे इन आवश्यकताओं की अधिकतम संतुष्टि हो तथा उनकी संतुष्टि मे बाधक व्यवहार को निरुत्साहित करते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, महत्वपूर्ण विषयो में ही आदर्श नियमों का निर्माण किया जाता है। महत्वपूर्ण विषय

ऐसे विषय होते हैं जो समूह-उद्देश्यों की उपलब्धि में योगदान देते हैं। समूह-लक्ष्यों से संगत मामलों में ही आदर्श नियमों का विकास होता है। समूह-लक्ष्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करने की आवश्यकता आदर्श नियमों का निर्माण कराती है।

द्वितीय, ऐसी आवश्यकताएं जिनकी संतुष्टि सामाजिक-भावनात्मक संतुष्टि-हेतु आवश्यक है, भी आदर्श नियमों के निर्माण को प्रेरित करती हैं। उदाहरणतया, ऐसी आवश्यकताएँ हैं मित्रता एवं प्रेम, व्यक्ति की पराजयों एवं विजयों में भाग लेने के अवसरों तथा संरक्षण एव स्वीकृति की आवश्यकताएं। परिवार में आदर्श नियमों का विकास उचित व्यवहार करने तथा प्रतियोगिता एवं झगड़ों को रोकने के लिए होता है। इस प्रकार, माता-पिता के प्रति बच्चों के व्यवहार, भाई-बहनों, पति-पत्नी, पिता-पुत्र के व्यवहार से संबंधित आदर्श नियम परिवार में पाए जाते हैं।

यह भी बतला देना आवश्यक है कि मनुष्य का सार्वजनिक व्यवहार उसके निजी व्यवहार अथवा विश्वासों की अपेक्षा आदर्श नियमों के अधिक अधीन होता है ? क्योंकि सार्वजनिक कार्य निरीक्षणाधीन होते हैं, निजी कार्य नहीं होते। जहाँ संपुष्टियों को आरोपित नहीं किया जा सकता, वहाँ सामान्यतया आदर्श नियमों की उत्पत्ति नही होती।

आदर्श नियमों का पालन कुछ समूहों में दूसरों की अपेक्षा अधिक क्यों पाया जाता है ? (Why is much comormity to norms found in some groups than in others)—फेस्टीनेजर (Festinager), शैक्टर (Sehaehter) एवं बैक (Back) के अनुसार, कोई समूह किस सीमातक आदर्श नियमो की पालना प्राप्त कर सकता है, यह उस समूह की संसक्ति—ऐसे तत्व जो मनुष्यों को समूह में रहने को बाध्य करते हैं, पर निर्भर है। मनुष्य किसी समूह से संबद्ध होते हैं, क्योंकि (i) सदस्यों के मध्य अंतर्क्रिया से प्रत्यक्षतः उच्च लाभ प्राप्त होते हैं, (ii) सामूहिक गतिविधियाँ स्वयं लाभप्रद हैं, (iii) समूह की सदस्यता अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु साधन का कार्य करती है। समूह की संसक्ति समूह से बाहर उपलब्ध विकल्पों पर भी निर्भर है। कुछ समूह अपने सदस्यों के ऊपर कठोर संपुष्टियाँ आरोपित करने में समर्थ होते हैं, क्योंकि सदस्यों के पास अन्य कोई विकल्प नही है तथा क्योंकि उन्हें विकल्पों में अधिक सम्मान भी प्राप्त नही हो सकता। अतएव विवश होकर वे समूह के सदस्य बने रहते हैं तथा इसके आदर्श नियमों का पालन करते हैं। किसी जाति के सदस्यों के पास संतुष्टि के विकल्पात्मक स्रोत नहीं होते, क्योंकि अन्य जातियो में उन्हें प्रवेश नहीं मिलता। परिणामस्वरूप, जाति अपने सदस्यों के ऊपर प्रभावी नियंत्रण प्रयुक्त कर सकती है। यदि सदस्य जातीय नियमो का उल्लंघन करेंगे तो उनका जाति से बहिष्कार कर दिया जाता है। इस प्रकार समूह जितना अधिक संसक्त होगा, इसके सदस्यों की मनोवृत्तियाँ एवं उनका व्यवहार उतना ही समरूप होगा तथा आदर्श नियमों का उतना ही अधिक पालन होगा।

इसके अतिरिक्त उन समूहों में, जहाँ सामाजिक भावात्मक आवश्यकताओं की संतुष्टि प्रधान है अथवा जहाँ कार्य स्वयं आनन्ददायक हैं, आदर्श नियमों की पालना उच्च होगी। इस प्रकार यदि किए जाने वाले कार्य उकता देने वाले, थकान

वाले अथवा डरावने हैं, अनुपालन कम होगा, यदि पालनहीनता का मूल्य अधिक न हो। उन स्थितियों में जहाँ पालनहीनता की संपुष्टियाँ शिथिल होती हैं, पालन का स्तर भी निम्न होता है।

आदर्श नियमों का अनुपालन निरीक्षण एवं संपुष्टियों पर भी निर्भर करता है। यदि व्यवहार की चेतावनी नहीं दी जाती एवं पालन न करने पर संपुष्टियाँ आरोपित नही की जातीं तो प्रत्याशित व्यवहार के घटित होने की संभावना कम है। परीक्षा में निरीक्षण एवं परीक्षार्थी को अयोग्य घोषित करना परीक्षा में अनुचित साधनों के प्रयोग को रोकने हेतु आवश्यक है। निम्नस्तरीय निरीक्षण के अधीन अनुचित साधनों का अधिक प्रयोग होगा। कर्मशाला में जमादार श्रमिकों के ऊपर निगरानी रखता है, ताकि काम में बाधा उत्पन्न न हो। उस समूह में जहाँ सदस्य यह अनुभव करते हैं कि समूह के अन्य सदस्यों द्वारा उन्हें पूर्ण मान्यता प्राप्त होगी, आदर्श नियमों का अनुपालन अधिक होगा, अपेक्षाकृत ऐसे समूह के, जहाँ सदस्यों को निम्न स्तर की मान्यता प्राप्त है एवं उनके ठुकराए जाने की भी संभावना है।

समूह के कुछ सदस्य अन्य सदस्यों की अपेक्षा आदर्श नियमों का अधिक पालन क्यों करते हैं? (Why some members of a group conform more closely to norms than others?)—यह भी देखा जाता है कि एक ही समूह के सदस्य भिन्न-भिन्न मात्राओं में आदर्श नियमों का अनुपालन करते हैं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथमतया, ऐसे सदस्य जिन्हें समूह से बाहर महत्वपूर्ण संतुष्टियाँ उपलब्ध हैं, आदर्श नियमों से प्राय: विचलित होंगे अपेक्षाकृत ऐसे सदस्यो के जिन्हें ऐसी संतुष्टियाँ उपलब्ध नही हैं। इसी प्रकार जिन सदस्यों को समूह में अधिक संतुष्टियाँ प्राप्त नहीं होतीं, वे भी आदर्श नियमों से विचलित होंगे। द्वितीय, आदर्श नियमों का अनुपालन समूह के विभिन्न सदस्यो पर आरोपित दबाव की मात्रा के अनुसार भी भिन्न होगा। दबाव इसलिए डाला जाता है, क्योंकि विचलित व्यवहार ने पुरस्कारों को कम करके अन्य सदस्यों की लागतों को बढा दिया है। तृतीय, अनुपालन सदस्य द्वारा दबाव की ग्रहणशीलता के अनुसार भी भिन्न-भिन्न होता है। देखा गया है कि जिस समूह मे सदस्य अधिक आज्ञाकारी, आत्म-विश्वास में निम्न, स्नायु-तनाव मे कम प्रवृत्त, अधिक सत्तावादी, कम बुद्धिमान, कम मौलिक, आवश्यकता-प्राप्ति में कम, सामाजिक स्वीकृति-हेतु आवश्यकता में उच्च, मूल्यों मे परम्परावादी होते हैं, वहाँ आदर्श नियमों का अनुपालन उस समूह की अपेक्षा जिसके सदस्यों की विशेषताएँ भिन्न हैं, अधिक होता है। चतुर्थतया, व्यक्ति की प्रस्थिति जितनी उच्च होगी, उसके द्वारा आदर्श नियमों का पालन भी उतना ही अधिक होगा। नेता समूह के आदर्श नियमों का दूसरों की अपेक्षा अधिक पालन करते हैं, क्योंकि समूह मे उसकी भूमिका केन्द्रीय होती है। नेता के रूप में वे समूह के आदर्श नियमों का, न कि अपनी इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु समूह के आदर्श नियमों मे परिवर्तन लाना भी नेता का कार्य है। यद्यपि परिवर्तन लाने में नेता आदर्श नियमों से विचलित होता है तथापि ऐसा उसकी भूमिका के प्रति समूह की अपेक्षा के कारण ही है। नेता अनुपालक एवं उल्लंघनकर्ता, दोनों होता है। पंचम, कुछ सदस्य आदर्श नियमों का पालन केवल इसलिए नही करते कि इससे समूह के लक्ष्यों की पूर्ति होती

है, अपितु इसलिए करते हैं कि इससे उनकी कुछ आवश्यकताओं, यथा मैत्री एवं मान्यता की पूर्ति होती है। अंतिम, आदर्श नियमों का पालन इस तथ्य से भी प्रभावित होता है कि व्यक्ति सार्वजनिक अवलोकन के अधीन किस सीमा तक है। उच्च प्रस्थिति वाले लोग सार्वजनिक अवलोकन के अधीन अधिक होते हैं, अतः उन्हें आदर्श नियमों के पालनार्थ अधिक दबाव सहन करने पड़ते हैं। अनेक लोगों के लिए मान के ह्रास का भय उच्चतर मान प्राप्त करने की इच्छा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली तत्व होता है।

आदर्श नियमों की समनुरूपता के सम्बन्ध मे तीन अन्य बातो पर भी ध्यान दे लेना आवश्यक है। प्रथमतया, आदर्श नियम का अक्षरशः पालन व्यवहार को प्रभावित करने हेतु आवश्यक नही है। यह सोचना गलत है कि समाज की दृढ़ता के लिए आदर्श नियमों के प्रति पूर्ण श्रद्धा अनिवार्य है। अनेक नियमों का संपूर्ण पालन न केवल असम्भव, अपितु समाज के लिए हानिकारक होगा। निःसंदेह आदर्श नियमों का अनुपालन व्यक्ति का कर्तव्य है, परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में अधिकतम स्तर की अपेक्षा उदार स्तर पर पालन समाज की आवश्यकता की पूर्ति कर देगा। द्वितीय, कुछ आदर्श नियम वांछनीय आचरण की इतने ऊँचे स्तर की माँग करते हैं कि सदस्यों का सामान्य व्यवहार केवल अपवाद-रूप मे ही इस स्तर तक पहुँचेगा। अनेक आदर्श नियम आंतरीकृत नही हो पाते। उनमें से अनेक स्वभावगत भी नहीं बन पाते एवं कुछेक का पालन भी नही किया जाता। तृतीय, आधुनिक विभेदीकृत समूहों में आदर्श नियमों का अनुपालन इस तथ्य से प्रभावित होता है कि सदस्य अनेक समूहों से संबद्ध होते हैं। इन विभिन्न समूहों के आदर्श नियमों मे संघर्ष हो सकता है। अतएव आदर्श नियमो का अनुपालन उस सीमा से भी प्रभावित हो सकता है जिस तक दूसरे समूहों के आदर्श नियम उनके समरूप हैं।

४. आदर्श नियमों में संघर्ष
(Conflict in Norms)

आदर्श नियमो का अनुपालन अधिकतया इस सहमति पर निर्भर करता है कि आदर्श नियम की अपेक्षा क्या है। इस सहमति के बिना व्यवहार में व्यापक भिन्नता आ जाएगी। जैसा पूर्व वर्णित किया गया है। आदर्श नियम व्यवहार के स्वीकृत मानक हैं। ऐसी सहमति के बिना, आदर्श नियमों की शक्ति शिथिल होती है। हमने यह भी देखा है कि आदर्श नियम भिन्न-भिन्न समूहों मे तथा भिन्न-भिन्न समाजो में विभिन्न होते हैं। यह स्पष्ट है कि आदर्श नियम सभी समाजों के सभी सदस्यो अथवा किसी समाज के सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू नही होते। उन्हें समाज की आवश्यकताओं एवं विशेष सामाजिक व्यवस्थाओं में लोगों के पदों एवं उनके व्यवसायों आदि के प्रति समायोजित किया जाता है। चूंकि विभिन्न समूहों के लिए आदर्श नियम भिन्न-भिन्न होते हैं, अतः इनमें संघर्ष अपरिहार्य है।

जबकि आदर्श नियम मानव-व्यवहार को परिसीमित करते हैं, अनुपालना मे विभिन्नता की अनुमति दे दी जाती है, एवं अपवादों की भी व्यवस्था कर दी जाती है। कुछ आदर्श नियम अन्य की अपेक्षा विशिष्ट रूप में परिभाषित होते हैं; कुछ अन्य की अपेक्षा अधिक व्यापक स्तर पर लागू होते हैं; कुछ अन्य की अपेक्षा व्यक्तिगत

व्याख्या की अनुमति दे देते हैं। इसके कुछ कारण हैं कि आदर्शों का अनुपालन विचलन के बिना नहीं होता।

(i) कुछ आदर्श नियम दूसरे नियमों की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। अतएव जब व्यक्ति को दो आदर्श नियमों में से चयन करना होता है तो वह कम महत्वपूर्ण का उल्लंघन करता है। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि आदर्श नियमों मे वस्तुतः कोई संघर्ष नहीं है, क्योंकि इनका सापेक्ष महत्व स्पष्ट है।

(ii) आदर्श परस्पर इतने संघर्षमय हो सकते हैं कि एक का अनुसरण करने के लिए दूसरे का उल्लंघन अवश्य होगा। एक विद्यार्थी जो अपने मित्र को परीक्षा में अनुचित साधनों का प्रयोग करते हुए देखता है, को विरोधी आदर्श नियमों में चयन करना होगा। एक नियम तो उसे अपने मित्र के प्रति श्रद्धावान् होने की शिक्षा देता है, जबकि दूसरा नियम उसे ईमानदार बनने की शिक्षा देता है।

(iii) कोई व्यक्ति आदर्श नियम का उल्लंघन इस कारण से करता है, क्यों कि वह जानता है कि वह नियम शिथिलता से लागू किया जाता है। वैयक्तिक कार्यों हेतु सरकारी लेखन-सामग्री का प्रयोग कदाचित् ही दंडित किया जाता है।

(iv) कुछ आदर्श नियम एक ही समाज के सभी व्यक्तियों द्वारा नहीं सीखे जाते। उदाहरणतया, जीवन-प्रणालियों, भोजन की आदतों एवं शिष्टाचार में व्यापक भेद पाए जाते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि समाज में आदर्शात्मक तत्व लाखों वर्ष पुराना है, तथापि यह इतना पुराना नहीं है कि मानव को इसके अनुपालन में पूर्णतया निष्क्रिय बना दिया जाए। मनुष्य अब भी आदर्शात्मक नियंत्रण का विरोध करता है। विद्यार्थी अपने ऊपर ऐसे किसी नियंत्रण का विरोध करते हैं। बच्चे माता-पिता द्वारा नियंत्रण का विरोध करते हैं। मानवी विरोध तथा सामाजिक नियंत्रण के मध्य संघर्ष मानव-जीवन की उलझी हुई समस्याओं में से एक है।

परन्तु यह भी नहीं समझा जाना चाहिए कि आदर्श नियमों का व्यक्ति द्वारा विरोध उनके लिए भयावह है अथवा समूह की दृढ़ता को हिला देता है। परन्तु जब अधिक संख्या में व्यक्ति दीर्घ काल तक आदर्श नियमो का विरोध करते हैं एवं उनका उल्लंघन करते हैं तो आदर्श नियम शिथिल हो जाते हैं एवं समूह भी दुर्बल हो जाता है। परन्तु कुछ आदर्श नियम इतने महत्वपूर्ण होते हैं कि वे विरोध के बावजूद स्थिर रहते हैं। हम जानते हैं कि लैंगिक व्यवहार से संबंधित आदर्श नियमों की प्रायः अवहेलना की जाती है, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि इन अवहेलनाओं से लैंगिक आदर्श नियमों मे कोई आमूल परिवर्तन हो जाएगा। इस तथ्य के बावजूद कि आदर्श नियमों में संघर्ष पाया जाता है एवं इनका उल्लंघन होता है, ये मानव-समाज के अंग बन गए हैं क्योंकि उन्होंने मूलभूत सामाजिक एवं वैयक्तिक आवश्यकताओं की संतुष्टि मे सहायता दी, जिससे समाज एवं मानव जाति जीवित रहे।

प्रश्न

१. सामाजिक आदर्श नियमों का क्या अर्थ है ?

२. सामाजिक आदर्श नियमों के महत्व का वर्णन कीजिए।

३. आदर्श नियमों का अनुपालन किन तत्वों से प्रभावित होता है ? निरीक्षण एवं संपुष्टियाँ व्यवहार को आदर्शात्मक नियंत्रण के अधीन करने में क्या भूमिका निभाती हैं ?

४. कुछ समूहों की अपेक्षा आदर्श नियमों का अनुपालन अधिक मात्रा में क्यों पाया जाता है ?

५. आदर्श नियमों के पालन की सीमा को निर्धारित करने मे व्यवहार की लागत अथवा पुरस्कार की क्या भूमिका है ?

६. समूह की संसक्ति एवं समूह-सदस्यों के मध्य समनुरूपता में व्यक्तिगत अन्तरों के मध्य क्या सम्बन्ध हैं ?

७. "यद्यपि समाज में आदर्शात्मक तत्व लाखो वर्ष पुराना है तथापि इतना पुराना नही है कि मानव जीव को उसके अनुपालन में पूर्ण निष्क्रिय बना दे।"— इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अध्याय ३३

लोकरीतियाँ एवं लोकाचार

[FOLKWAYS AND MORES]

पिछले अध्याय में हमने आदर्श मूल्यों के सामान्य विषय का वर्णन किया तथा बतलाया था कि आदर्श मूल्य समाज में मानव-व्यवहार के नियामक हैं। वे यह निश्चित करते हैं कि क्या किया जाना चाहिए। उनके माध्यम से ही समाज व्यक्तियों के व्यवहार को इस प्रकार नियंत्रित करता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्तिहेतु क्रियाएँ करते रहें। *आदर्श नियम नियंत्रण होते हैं।* इनको विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है। वर्गीकरण का एक ढंग प्रयुक्त संपुष्टियों के प्रकार एवं समाज में उन्हें प्राप्त महत्व के आधार पर उनमें विभेद करना है। इस आधार पर आदर्श नियमों को लोकरीतियों, लोकाचार, विधि, प्रथा एवं शोभाचार में वर्गीकृत किया गया है। इस अध्याय में हम लोकरीतियों एवं लोकाचारों का वर्णन करेंगे, अन्य अगले अध्यायों में वर्णित किए जाएँगे।

१. लोकरीतियों का अर्थ

(The Meaning of Folkways)

लोकरीतियों की अवधारणा विलियम ग्राहम समनर (William Graham Sumner, १८४०-१९१०) के नाम के साथ जुड़ी हुई है, जिसने संस्कृति एवं इसके निहितार्थ का अत्यधिक लाभप्रद एवं स्पष्ट विश्लेषण किया। वह येल (Yale) में सर्वप्रिय एवं प्रेरक अध्यापक थे जहाँ वह राजनीतिक अर्थशास्त्र पढ़ाते थे, परन्तु बाद में उनकी रुचि समाजशास्त्र में हो गई। अपने समाजशास्त्रीय ग्रंथ 'Folkways' (१९०६) में समनर ने मानव-व्यवहार के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उसके शिष्य केलर (Keller) ने अपने गुरु की प्रशिक्षाओं को विस्तारित किया एवं अपना भी योगदान दिया। समनर ने संस्कृति की व्याख्या लोकरीतियों एवं लोकाचारों के शब्दों में की तथा 'लोकरीतियों' शब्द को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया।

समनर ने लोकरीतियों की उत्पत्ति एवं विकास का निम्न शब्दों में सुन्दर चित्रण किया है, "वे प्राकृतिक शक्तियों की उपज के समान होती हैं जिनको मनुष्य अचेतनावस्था में प्रारम्भ करते हैं अथवा वे पशुओं की नैसर्गिक अवस्थाओं के समान होती हैं जो अनुभव से विकसित होती हैं, जो किसी स्वार्थ के लिए अधिकतम अनुकूलन के अन्तिम स्वरूप तक पहुँचती हैं, जो परम्परा से चली आती हैं और जो किसी भी अपवाद या भिन्नता को स्वीकार नहीं करतीं, तथापि नई परिस्थितियों का अनुकूलन करने के लिए बदलती हैं, परन्तु तब भी उन्हीं सीमित पद्धतियों के अंतर्गत ही परिवर्तित होती हैं और जो विवेकपूर्ण मनन या उद्देश्य से रहित होती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी युगों एवं संस्कृति की सभी

अवस्थाओं में मानव प्राणियों का संपूर्ण जीवन प्रजाति की प्रारम्भिकतम अवस्थिति से हस्तांरित अनेक लोकरीतियों द्वारा मुख्यतः नियंत्रित होता है। इन लोकरीतियों का स्वरूप अन्य पशुओं के ढंगों के समान है जिनके केवल शीर्षतम अंश ही परिवर्तन एवं नियंत्रणाधीन होते हैं एवं जिनमें मानव-दर्शन, आचारशास्त्र, धर्म तथा बुद्धि-पूर्ण विचार द्वारा कुछ परिवर्तन किया गया है।"[1]

लोकरीतियाँ व्यवहार के मान्यीकृत ढंग हैं (Folkways are recognised ways of behaviour)—इस प्रकार, लोकरीतियाँ समाज मे व्यवहार एवं कार्य करने के मान्यीकृत ढंग हैं जिनका विकास समूह में सामाजिक जीवन की समस्याओं का समाधान करने हेतु स्वयं हो जाता है। सामाजिक जीवन, जैसा हमें ज्ञात है, समस्याओं से भरपूर है—जीवन-यापन कैसे किया जाए, परिधान कैसा हो, किस प्रकार बातचीत की जाए तथा दूसरों के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाए। मनुष्य ने ऐसी समस्याओं का सामना करने हेतु प्रत्येक संभव ढंग अपना कर देखा है। विभिन्न समाजों ने विभिन्न क्रिया-योग्य प्रतिमानों की खोज की है। कोई समूह प्रत्येक दिन एक बार, दो बार अथवा अनेक बार भोजन कर सकता है; वे खड़े होकर अथवा कुर्सियों में बैठकर अथवा पृथ्वी पर चौकड़ी मार कर भोजन कर सकते हैं; वे इकट्ठे बैठकर अथवा पृथक् एकान्त में भोजन कर सकते हैं; वे अँगुलियों अथवा छुरी-काँटे का प्रयोग कर सकते हैं; वे मछली खा सकते हैं अथवा इससे घृणा कर सकते हैं। प्रत्येक सदाण अनेक संभाविताओं मे से चयन है। कोई समूह परीक्षण एवं त्रुटि, केवल मात्र संयोग अथवा किसी अपरिचित प्रभाव द्वारा इन संभाविताओं में से किसी एक पर पहुँच जाता है, इसे दोहराता है तथा इसे व्यवहार का सामान्य ढंग स्वीकार कर लेता है। यह भावी पीढ़ियों को हस्तांरित हो जाता है जिससे यह समूह—जन—के ढंगों में से एक ढंग, अतएव जनरीति बन जाता है। समनर के अनुसार, "मनुष्यों ने अपने पशु-पूर्वजों से विरासत में मनो-शारीरिक लक्षण, वृत्तियाँ एवं निपुणताएँ प्राप्त की हैं जो उन्हें भोजन संभरण, लिंग, व्यापार एवं मिथ्या अभिमान की समस्या के समाधान में सहायता देती हैं। परिणाम हुआ है जन-परिघटना—समानता, सहमति एवं पारस्परिक योगदान की धाराएँ, जो लोकरीतियों को जन्म देती हैं।"[2] "लोकरीतियाँ अनेक व्यक्तियों द्वारा छोटे-छोटे कार्यों की बहुधा पुनरावृत्ति हैं जो मिलकर कार्य करते हैं अथवा कम-से-कम समान ढंग से कार्य करते हैं, जब उन्हें समान आवश्यकताओं का सामना करना होता है।"[3] "ये किसी परिस्थिति में अनिवार्य समझी जाने वाली अपेक्षतया स्थायी स्तरीकृत क्रियाएं हैं, परन्तु पूर्णतया अनिवार्य नहीं जिनको बल-प्रयोग के औपचारिक प्रयोग के स्थान पर अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रणों द्वारा आरोपित किया जाता है तथा जिनकी उत्पत्ति विचारशील उद्घाटन की अपेक्षा अनियोजित एवं अस्पष्ट ढंग से होती है।"[4] लोकरीतियाँ अपने पर्यावरण के प्रति

1. Sumner, W. G., *Folkways*, p. 13.
2. *Ibid.*, p. 19.
3. Sumner, W. G., *Folkways*, p. 34.
4. Davis, *Human Society*, p. 57.

अध्याय ३३

लोकरीतियाँ एवं लोकाचार

[FOLKWAYS AND MORES]

पिछले अध्याय में हमने आदर्श मूल्यों के सामान्य विषय का वर्णन किया तथा बतलाया था कि आदर्श मूल्य समाज में मानव-व्यवहार के नियामक हैं। वे यह निश्चित करते हैं कि क्या किया जाना चाहिए। उनके माध्यम से ही समाज व्यक्तियों के व्यवहार को इस प्रकार नियंत्रित करता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्तिहेतु क्रियाएँ करते रहें। आदर्श नियम नियंत्रण होते हैं। इनको विभिन्न श्रेणियों में *वर्गीकृत किया गया है। वर्गीकरण का एक ढंग प्रयुक्त संपुष्टियों के* प्रकार एवं समाज में उन्हें प्राप्त महत्व के आधार पर उनमें विभेद करना है। इस आधार पर आदर्श नियमों को लोकरीतियों, लोकाचार, विधि, प्रथा एवं शोभाचार में वर्गीकृत किया गया है। इस अध्याय में हम लोकरीतियों एवं लोकाचारों का वर्णन करेंगे, अन्य अगले अध्यायों में वर्णित किए जाएँगे।

१. लोकरीतियों का अर्थ

(The Meaning of Folkways)

लोकरीतियों की अवधारणा विलियम ग्राहम समनर (William Graham Sumner, १८४०-१९१०) *के नाम के साथ जुड़ी हुई है, जिसने संस्कृति एवं इसके* निहितार्थ का अत्यधिक लाभप्रद एवं स्पष्ट विश्लेषण किया। वह येल (Yale) में सर्वप्रिय एवं प्रेरक अध्यापक थे जहाँ वह राजनीतिक अर्थशास्त्र पढ़ाते थे, परन्तु बाद में उनकी रुचि समाजशास्त्र में हो गई। अपने समाजशास्त्रीय ग्रंथ 'Folkways' (१९०६) में समनर ने मानव-व्यवहार के अध्ययन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उसके शिष्य केलर (Keller) ने अपने गुरु की प्रशिक्षाओं को विस्तारित किया एवं अपना भी योगदान दिया। समनर ने संस्कृति की *व्याख्या लोकरीतियों एवं लोकाचारों के शब्दों में की तथा 'लोकरीतियों' शब्द को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया।*

समनर ने लोकरीतियों की उत्पत्ति एवं विकास का निम्न शब्दों में सुन्दर चित्रण किया है, "वे प्राकृतिक शक्तियों की उपज के समान होती हैं जिनको मनुष्य अचेतनावस्था में प्रारम्भ करते हैं अथवा वे पशुओं की नैसर्गिक अवस्थाओं के समान होती हैं जो अनुभव से विकसित होती हैं, जो किसी स्वार्थ के लिए अधिकतम अनुकूलन के अन्तिम स्वरूप तक पहुँचती हैं, जो परम्परा से चली आती हैं और जो किसी भी अपवाद या भिन्नता को स्वीकार नहीं करतीं, तथापि नई परिस्थितियों का अनुकूलन करने के लिए बदलती हैं, परन्तु तब भी उन्हीं सीमित पद्धतियों के अंतर्गत ही परिवर्तित होती हैं और जो विवेकपूर्ण मनन या उद्देश्य से रहित होती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी युगों एवं संस्कृति की सभी

अवस्थाओं में मानव प्राणियों का संपूर्ण जीवन प्रजाति की प्रारम्भिकतम अवस्थिति से हस्तांरित अनेक लोकरीतियों द्वारा मुख्यतः नियंत्रित होता है। इन लोकरीतियों का स्वरूप अन्य पशुओं के ढंगों के समान है जिनके केवल शीर्षतम अंश ही परिवर्तन एवं नियंत्रणाधीन होते हैं एवं जिनमें मानव-दर्शन, आचारशास्त्र, धर्म तथा बुद्धि-पूर्ण विचार द्वारा कुछ परिवर्तन किया गया है।"[1]

लोकरीतियाँ व्यवहार के मान्यीकृत ढंग हैं (Folkways are recognised ways of behaviour)—इस प्रकार, लोकरीतियाँ समाज में व्यवहार एवं कार्य करने के मान्यीकृत ढंग हैं जिनका विकास समूह मे सामाजिक जीवन की समस्याओं का समाधान करने हेतु स्वयं हो जाता है। सामाजिक जीवन, जैसा हमें ज्ञात है, समस्याओं से भरपूर है—जीवन-यापन कैसे किया जाए, परिधान कैसा हो, किस प्रकार बातचीत की जाए तथा दूसरों के साथ किस प्रकार व्यवहार किया जाए। मनुष्य ने ऐसी समस्याओं का सामना करने हेतु प्रत्येक संभव ढंग अपना कर देखा है। विभिन्न समाजो ने विभिन्न क्रिया-योग्य प्रतिमानों की खोज की है। कोई समूह प्रत्येक दिन एक बार, दो बार अथवा अनेक बार भोजन कर सकता है; वे खड़े होकर अथवा कुर्सियों मे बैठकर अथवा पृथ्वी पर चौकड़ी मार कर भोजन कर सकते हैं; वे इकट्ठे बैठकर अथवा पृथक् एकान्त मे भोजन कर सकते हैं; वे अँगुलियों अथवा छुरी-काँटे का प्रयोग कर सकते हैं; वे मछली खा सकते हैं अथवा इससे घृणा कर सकते हैं। प्रत्येक लक्षण अनेक संभाविताओं में से चयन है। कोई समूह परीक्षण एवं त्रुटि, केवल मात्र सयोग अथवा किसी अपरिचित प्रभाव द्वारा इन संभाविताओं में से किसी एक पर पहुँच जाता है, इसे दोहराता है तथा इसे व्यवहार का सामान्य ढग स्वीकार कर लेता है। यह भावी पीढ़ियों को हस्तांरित हो जाता है जिससे यह समूह—जन—के ढगों में से एक ढंग, अतएव जनरीति बन जाता है। समनर के अनुसार, "मनुष्यों ने अपने पशु-पूर्वजों से विरासत में मनो-शारीरिक लक्षण, वृत्तियाँ एव निपुणताएँ प्राप्त की हैं जो उन्हें भोजन संभरण, लिंग, व्यापार एवं मिथ्या अभिमान की समस्या के समाधान मे सहायता देती हैं। परिणाम हुआ है जन-परिघटना—समानता, सहमति एवं पारस्परिक योगदान की धाराएँ, जो लोकरीतियों को जन्म देती हैं।"[2] "लोकरीतियाँ अनेक व्यक्तियों द्वारा छोटे-छोटे कार्यों की बहुधा पुनरावृत्ति हैं जो मिलकर कार्य करते हैं अथवा कम-से-कम समान ढंग से कार्य करते हैं, जब उन्हें समान आवश्यकताओं का सामना करना होता है।"[3] "ये किसी परिस्थिति में अनिवार्य समझी जाने वाली अपेक्षतया स्थायी स्तरीकृत क्रियाएं हैं, परन्तु पूर्णतया अनिवार्य नहीं जिनको बल-प्रयोग के औपचारिक प्रयोग के स्थान पर अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रणों द्वारा आरोपित किया जाता है तथा जिनकी उत्पत्ति विचारशील उद्घाटन की अपेक्षा अनियोजित एवं अस्पष्ट ढंग से होती है।"[4] लोकरीतियाँ अपने पर्यावरण के प्रति

---

1. Sumner, W. G., *Folkways*, p. 13.
2. *Ibid.*, p. 19.
3. Sumner, W. G., *Folkways*, p. 34.
4. Davis, *Human Society*, p. 57.

व्यक्ति के अचेत, सहज एवं असमन्वित समायोजन हैं। लुंडबर्ग (Lundberg) का कथन है कि "लोकरीतियाँ समूह के व्यवहार में उन समरूपताओं को निर्दिष्ट करती हैं जिनका विकास सामान्य जीवन-दशाओं के प्रति अनुकूलन में सहज एवं अचेत रूप में हो जाता है एवं जो पुनरावृत्ति एवं सामान्य घटना द्वारा स्थापित हो जाती हैं।"[1] इस प्रकार, लोकरीतियाँ व्यवहार की अचेत सामूहिक विधियाँ हैं जो समूह के विकास एवं जीवन को आश्वासन प्रदान करती हैं। उनमें व्यवहार की असख्य विधियाँ सम्मिलित हैं जिनका मनुष्यों ने सामाजिक जीवन के कार्य-व्यापार-हेतु विकास किया है। वे प्रथाएँ एवं रीतियाँ हैं जिन्हें पुरानी पीढ़ियों ने हस्तांरित किया है तथा जिनमें समय की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार नवीन तत्वों को जोड़ दिया गया है। समूह का कोई सदस्य लोकरीति पर आपत्ति नहीं करता तथा न ही इन्हें क्रियान्वित करने हेतु किसी सत्ता की आवश्यकता है। मनुष्य बिना कोई अधिक सोच-विचार किए इनका यूँ ही पालन करता रहता है।

कुछ परिभाषाएँ (Some Definitions)—लोकरीतियों की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) "लोकरीतियाँ दैनिक जीवन के व्यवहार-प्रतिमान हैं जिनका समूह में जन्म सामान्यतः अचेत दशा में होता है।"[2] —गिलिन एवं गिलिन

(ii) "लोकरीतियाँ व्यक्ति की आदतें एवं समूह की प्रथाएँ होती हैं जिनका जन्म स्वाभाविक एवं सहज ढंग से होता है एव जो जीवन के विभिन्न अंगों के चारों ओर धीरे-धीरे विकसित होती है।"[3] —एच० डब्लू० ओडम

(iii) "समूह की जनरीतियों मे लोकाचार एवं व्यवहार के सभी अन्य ढंग सम्मिलित हैं जिन्हें रुचिकर समझा जाता है, परन्तु समूह-कल्याण-हेतु अनिवार्य नहीं।"[4] —बोगार्डस

(iv) "कार्य करने की वे रीतियाँ, जो एक समाज या समूह मे सामान्य होती हैं और जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को परम्परागत चली आती हैं, जनरीतियों के नाम से जानी जाती हैं।"[5] —ग्रीन

---

1. Lundberg, G A., *Foundations of Sociology*, p 18
2. "Folkways are behaviour patterns of every day life which generally arise unconsciously in a group."—Gillin & Gillin, *Cultural Sociology*, p. 139.
3. "The folkways are in general the habits of the individual, and the customs of the group arising naturally and spontaneously and growing up slowly around delferent phases of life "—Odum, H. W., *Understanding Society*, p. 225
4. [illegible] other ways [illegible] ntial to the [illegible]
5. "Those ways of acting that are common to a society or a group and that are handed down from one generation to the next are known as folkways."—Green, A. W., *Sociology*, p. 85.

(v) "लोकरीतियाँ कार्य की सरल आदतें है जो समूह के सदस्यो में सामान्य रूप से पाई जाती हैं, वे लोगों के ढंग हैं जो कुछ स्तरीकृत हैं एवं जिनके पीछे उनकी दीर्घता के लिए परम्परागत संपुष्टि की कुछ मात्रा भी है।"[1]

—एफ० बी० रैन्टर एवं सी० डब्लू० हार्ट

(vi) "लोकरीतियाँ अक्षरशः लोक-ढंग अर्थात्, सामाजिक आदतें अथवा समूह-प्रत्याशाएँ हैं जिनका समूह के दैनिक जीवन मे विकास हुआ है।"[2]

—मैरिल एव अल्डरीज

(vii) "लोकरीतियाँ किसी समूह अथवा समुदाय मे पालन किए जाने वाले आचरण की शैली, मनोवृत्तियाँ एवं स्वभावगत विश्वास है।"[3] —लुंडबर्ग एव अन्य

(viii) "लोकरीतियाँ सरल शब्दों मे प्रथागत, सामान्य एव स्वभावगत ढंग हैं जिनके अनुसार कोई समूह कार्य करता है।"[4] —हार्टन एवं हंट

(ix) "लोकरीतियाँ समाज में मान्यता-प्राप्त अथवा स्वीकृत व्यवहार की पद्धतियाँ है।"[5] —मैकाइवर

(x) "लोकरीतियाँ कार्य करने के वे अभ्यस्त तरीके है जो एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों और अपनी स्थानीय विशेषताओं से अभियोजना करने के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।"[6] —मार्टिण्डेल एवं मोनाकेसी

लोकरीतियों की विशेषताएँ (Characteristics of Folkways)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर लोकरीतियो की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) <u>सहज उत्पत्ति</u> (Spontaneous origin)—लोकरीतियो का जन्म सहज ढंग से होता है। उन्हें विचारपूर्ण रूप से नियोजित अथवा निर्मित नही किया जाता। वे अनियोजित एवं अमानचिन्तित होती है।

---

1. "The folkways are simple habits of [illegible] common to the members [illegible]
2. "The folkways are literally the ways of the folk, *i. e.*, social habits or group expectations that have arisen in the daily life of the group." —Merill and Eldredge, *Culture and Society*, p. 31.
3. "Folkways are the typical or habitual beliefs, attitudes and styles of conducts observed within a group or community."—Lundberg & Others, *Sociology*, p. 173.
4. "Folkways are simply the customary, normal, habitual ways a group does things."—Horton and Hunt, *Sociology*, p. 50.
5. "Folkways are the recognised or accepted ways of behaving in society."—MacIver and Page, *Society*, p. 19.
6. Martindale and Monachesi, *Elements of Sociology*, p. 120.

(ii) स्वीकृत व्यवहार (Approved behaviour)—लोकरीतियाँ व्यवहार के स्वीकृत ढंग होती हैं। समूह कुछ ढंगों को स्वीकृति प्रदान करता है तो अन्य को अस्वीकृत कर देता है। व्यवहार के केवल ऐसे ढंग ही लोकरीतियाँ हैं जिन्हें सम्बन्धित समूह द्वारा स्वीकृति प्रदान कर दी गई है।

(iii) विशिष्टता (Distinctiveness)—विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार की लोकरीतियाँ होती हैं। लोकरीतियाँ किसी विशेष समूह से सम्बद्ध होती हैं। समूहों के मध्य लोकरीतियों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है।

(iv) आनुवंशिक (Hereditary)—लोकरीतियाँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांरित होती हैं। व्यक्ति लोकरीतियों को अपने पूर्वजों से प्राप्त करता है।

लोकरीतियाँ बनाम प्रथाएँ (Folkways versus customs)—प्रथा को शिथिल रूप में प्रायः लोकरीति कहा जाता है। परन्तु समाजशास्त्रियों ने उनमें अंतर किया है। लोकरीतियो एव प्रथाओ में अन्तर यह है कि पूर्वोक्त का प्रथाओं की अपेक्षा अधिक सामान्य एवं व्यापक स्वरूप होता है तथा उनमे व्यवहार की वे सभी विधियाँ अथवा सहजगत रीतियाँ सम्मिलित होती हैं जो 'प्रथा' में सम्मिलित नहीं होती। इस प्रकार हाथ मिलाना, दिन मे चार बार भोजन करना, पारिवारिक कार्यों का वितरण करना, ताकि पति परिवार का पोषण करे एवं पत्नी उसके अधीन हो, मोहल्या न करना, दाँतों को नियमित रूप मे ब्रुश करना, मेजों, कुर्सियो, पुस्तको आदि का प्रयोग करना, रात्रि के भोजन के बाद मद्यपान करना लोकरीतियों के उदाहरण हैं, प्रथाओं के नही। प्रथाएँ समूह के जीवन एवं विकास से सम्बद्ध होती हैं, परन्तु लोकरीतियो का आवश्यक रूप में ऐसा सम्बन्ध नही होता। वे समूह द्वारा अनिवार्य घोषित नही की जातीं। उनको अनौपचारिक रूप मे स्वीकृति प्रदान की गई होती है, परन्तु लोकरीतियों एवं प्रथाओं के मध्य अन्तर मुख्यतः मात्रा का अंतर है। हम प्रथा की विशेषताओं का अगले अध्याय में अध्ययन करेंगे।

लोकरीतियों की विभिन्नता (The Variety of Folkways)

लोकरीतियाँ असंख्य तथा साधारण से लेकर गंभीरतम कार्यों एवं व्यवहार से सम्बन्धित होती हैं। उनकी संख्या अगणित है। भोजन को लीजिए, हिंदू मास नहीं खाते। बंगाली चपातियों की अपेक्षा चावल पसंद करते हैं। जैनी दही नही खाते। यूरोप में घोड़े का मांस खाया जाता है, परन्तु अमेरिका में नहीं। ब्राजील में भारतीय कीड़ों-मकोड़ो को खाते हैं, परन्तु यूरोप एवं अमेरिका में नहीं। कुछ लोग गाय के दूध का सेवन नहीं करते। अनेक लोग किसी विशेष भोजन को इस कारण नहीं करते क्योकि उसका रंग अथवा गंध उन्हें पसन्द नहीं होता। भोजन के ढंग में भी अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। मद्रासी चावलों को मुट्ठी में बाँधकर खाते हैं जबकि उत्तर प्रदेश के निवासी चम्मच का प्रयोग करते हैं। ब्राह्मण स्वच्छ चौके में आसन पर बैठकर, जबकि अन्य जातियों के लोग चौके से बाहर भोजन करते हैं। अभिवादन के प्रकारों को लीजिए—भारत मे नमस्ते एवं चरण छूने की जनरीति है तो इंग्लैंड में हाथ मिलाने की, न्यूजीलैंड में नाक से नाक रगड़ने की, चीन में अपने सम्पूर्ण शरीर को हिलाने की और फ्रांस मे चुम्बन करने की।

वस्त्रों के भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। कोई पैंट पहनता है तो कोई पाजामा और कोई धोती। आयु एवं लिंग के अनुसार भी लोकरीतियों मे भिन्नता होती है। मनुष्यों द्वारा धूम्रपान लोकरीतियों का अंग है, परन्तु स्त्रियों एवं बच्चो द्वारा धूम्रपान लोकरीति का उल्लंघन है। इसी प्रकार, विभिन्न संस्कृतियों मे विवाह, मृत्यु, लैंगिक सम्बन्धों, उपासना, जन्म, नातेदारी, परिधान, कला आदि के बारे में लोकरीतियों की व्यापक विभिन्नता पाई जाती है।

लोकरीतियाँ परिवर्तनशील हैं (Folkways are changing)—लोकरीतियाँ स्थायी नहीं होतीं, अपितु सामाजिक दशाओं के परिवर्तन हो जाने पर बदल जाती हैं। कुछ लोकरीतियों में अपेक्षाकृत निरन्तर एवं शीघ्र परिवर्तन होते रहते हैं। परिवार, सम्पत्ति, विवाह आदि से संबंधित लोकरीतियों में शीघ्रता से परिवर्तन नहीं होता, जबकि आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित लोकरीतियो में शीघ्र परिवर्तन होते रहते हैं। कोई व्यक्ति किसी नए कार्य को आरम्भ करता है, अन्य व्यक्ति उस कार्य को पुराने से श्रेष्ठतर समझकर अपना लेते हैं एवं उसका अनुसरण करने लगते हैं। जब समूह के अनेक सदस्य इसे स्वीकृत कर लेते हैं एवं इसका अनुसरण करते हैं तो यह समूह में व्याप्त हो जाता है और प्रत्येक सदस्य पर इसे अपनाने अथवा इसके समरूप व्यवहार करने के लिए दबाव डाला जाता है। जब सभी इसे अपना लेते हैं तो यह लोकरीति बन जाता है। यदि किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि वह एक विशेष ढंग से व्यवहार क्यों करता है तो उसका उत्तर होगा कि क्योंकि अन्य लोग भी इसी प्रकार व्यवहार करते हैं अथवा व्यवहार का वह स्वीकृत ढंग है। लोकगीत अथवा लोककथा के समान लोकरीति के उद्भव अथवा उद्भवकर्ता की खोज करना कठिन है। अर्वाचीन काल में ही उद्भूत लोकरीतियों, यथा सड़क की बायीं ओर चलना, के उद्भव की खोज करना असम्भव है। कालान्तर में लोकरीतियों में इतने अधिक परिवर्तन हो जाते हैं कि किसी व्यक्ति को उनकी उत्पत्ति का श्रेय देना प्रायः असम्भव है। *लोकरीतियाँ किसी विचारशील नियोजन अथवा सचेत रूपरेखा का परिणाम* नहीं होतीं, अपितु समाज में अचेत एवं स्वतः ही उत्पन्न हो जाती हैं।

लोकरीतियों की संपुष्टि (The Sanction of folkways)

हमें लोकरीतियों का अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि वे आवश्यक हैं। लोकरीतियाँ हमारी आदतें बन जाती हैं। वे हमारे मानसिक जीवन का अवर्णनीय भाग बन जाती हैं। उनके द्वारा हम अपने एवं दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार का पूर्व-अनुमान कर सकते हैं जिससे हम जीवन में कुछ सुरक्षा एवं व्यवस्था महसूस करते हैं। वे *हमारी शक्ति एवं समय की बचत करती हैं। वे प्रत्येक संस्कृति की आधारशिला* हैं। कुछ लोकरीतियों का उल्लंघन तो सम्भव है, परन्तु सभी का नहीं। यदि कोई व्यक्ति उनका अनुसरण नहीं करता तो वह सामाजिक रूप से अकेला हो जाता है जिससे उसका जीवन दूभर हो जाएगा। डेविस (Davis) ने कहा है, "यदि मानव-जीवन का आरम्भ और अन्त कहीं है तो वह लोकरीतियों मे है, क्योंकि हम उन्हीं से अपना जीवन आरम्भ करते हैं और सदैव उन्हीं में लौट आते हैं।"[1] पश्चिमी देशों

1. "If the alpha and omega of human existence are to be found anywhere it is in the folkways, for we begin with them and always come back to them."—Davis, *op. cit.*, p. 581.

में ऐसे उत्सव हैं जिनमे विशेष प्रकार का वस्त्र पहनना आवश्यक है। रात्रि-भोज पर सफेद टाई के साथ लम्बा कोट मनुष्यो द्वारा पहना जाता है। राज्य-भोज में राजदूत आतिथेय के निकट बैठता है, मंत्री नहीं। इसी प्रकार मंत्री को राजदूत से पहले भोजन-कक्ष में प्रवेश नही करना चाहिए। लोकरीतियों का कानून की तुलना में कम उल्लंघन किया जाता है।

लोकरीतियों की संपुष्टियाँ अनौपचारिक होती है। समाजो को असावधान नहीं पाया जाता, क्योंकि लोकरीति के प्रत्येक उल्लंघन को दण्डित अथवा उल्लंघन को निरुत्साहित करने के लिए प्रायः कुछ स्तरीकृत प्रक्रिया होती है। उनका उल्लंघन उपहास एवं चर्चा का विषय बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी लोकरीति का बारम्बार उल्लंघन करता है तो समाज इसका गम्भीर दृष्टिकोण लेगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति समूह का सदस्य नही है, उसके विरुद्ध अनौपचारिक संपुष्टि प्रभावी सिद्ध न हो। इस प्रकार एकशहरी लड़की की गाँव मे स्कर्ट पहनने के कारण आलोचना हो सकती है, परन्तु इस आलोचना का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, क्योंकि वह ग्रामीण लोगों की आलोचना की परवाह नहीं करती। शारीरिक रूप से वह देहात मे है, परन्तु मानसिक रूप से तो वह नगर मे है।

२. लोकाचारों का अर्थ
(The Meaning of Mores)

लोकाचार व्यवहार के नियामक हैं (*Mores are regulators of behaviour*)—समनर ने शब्द 'Mores' का प्रयोग उन लोकरीतियों के लिए किया है जिन्हें समूह द्वारा अधिक महत्वपूर्ण, अतएव समूह-कल्याण हेतु अनिवार्य समझा जाता है। उसने लिखा है, "लोकाचारों से मेरा तात्पर्य लोकप्रिय रीतियों एवं परम्पराओं से है, जब इनमें ये निर्णय सम्मिलित हों कि वे सामाजिक कल्याण के लिए लाभदायक है और जब व्यक्ति पर उनका पालन किए जाने के लिए बल-प्रयोग किया जाता है, यद्यपि उन्हे किसी सत्ता द्वारा समन्वित नही किया जाता।"[1] जब सत्य और औचित्य का तत्व कल्याण के सिद्धान्तों में विकसित हो जाते हैं, लोकरीतियाँ लोकाचारों की श्रेणी मे उठ जाती हैं। शब्द 'Mores' लैटिन शब्द 'Mos' से लिया गया है, जिसका अर्थ है प्रथाएं। जिस प्रकार प्रथा का उल्लंघन बिना दंडित हुए नही किया जा सकता, उसी प्रकार लोकाचारों का उल्लंघन भी बिना दंड प्राप्त किए नही किया जा सकता। लोकाचार लोकरीतियों की अपेक्षा समाज की मौलिक आवश्यकताओं से अधिक सम्बन्धित होते हैं। वस्तुतः लोकाचार व्यवहार की नियामक समझी जाने वाली लोकरीतियाँ हैं जिनका अनुपालन समूह-दबाव के भय से किया जाता है। वे सामाजिक कल्याण के लिए क्या सही, उचित एवं लाभप्रद है, इस विषय पर समूह-भाव को व्यक्त करती हैं। वे ही कार्य एवं विचार के सही ढंग हैं।

---

1. "I mean by mores the popular usages and traditions when they include a judgment that they are conducive to social welfare, and when they exert a coercion on the individual to conform to them, although they are not co-ordinated by any authority."—Sumner, *op. cit.*, p. 3.

उनमें लोकरीतियों के बारे में मूल्यांकन निहित होता है। समनर ने लिखा है, "हमारे उद्देश्य-हेतु लैटिन शब्द 'Mores' उन लोकरीतियों, जिनमें सही एवं सत्य तथा सामाजिक कल्याण के अर्थ निहित हों, के लिए समग्र रूप में व्यावहारिक तौर पर अधिक सुविधाजनक एव प्राप्य दिखाई देता है।"

कुछ परिभाषाएँ (Some definitions)—लोकाचार की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) "लोकाचार वे जनरीतियाँ हैं जिन्होंने अपने साथ किसी प्रकार (ऐसे) निर्णय (भावना) जिन पर समूह का कल्याण मुख्यतया निर्भर है, जोड़ लिए हैं।"[1] —डासन एवं गेटिस

(ii) "लोकाचार वे प्रथाएँ एवं समूह-दिनचर्याएँ हैं जिन्हें समाज के सदस्यों द्वारा समूह की सतत् अवस्थिति-हेतु आवश्यक समझा जाता है।"[2] —गिलिन एव गिलिन

(iii) "जब लोकरीतियों के साथ समूह कल्याण की धारणाएँ तथा उचित और अनुचित के स्तर मिल जाते हैं तो वे लोकरीतियाँ लोकाचारों में बदल जाती हैं।"[3] —मैकाइवर

(iv) "शब्द 'Mores' उन प्रथाओं के लिए सुरक्षित है जो व्यवहार की विधियों के सही अथवा गलत होने के बारे में पर्याप्त दृढ भावों को व्यक्त करते हैं।"[4] —सपीर

(v) "कर्म करने की सामान्य रीतियाँ लोकाचार होती हैं जो लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक निश्चयपूर्वक, सही एवं उचित मानी जाती हैं और जो अधिक कठोर एवं निश्चित दंड (समूह द्वारा) दिलवाती हैं यदि कोई उनका उल्लंघन करे।"[5] —ग्रीन

---

1 "Mores are folkways which have added to them, through some reflection, the judgment that group welfare is particularly dependent upon them."—Dawson and Gettys, *An Introduction to Society*, p. 50.

2. "Mores are those customs and group routines which are thought by me members of the society to be necessary to the group's continued existence "—Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p. 315.

3. "When the folkways have added to them conceptions of group welfare, standards of right and wrong, they are converted into mores." —MacIver, R. M., *Society*, p. 19.

4. [illegible] customs which connote ... beha-

5. ... ded as ... rtainty ... en, A.

(vi) "लोकाचार वे लोकरीतियाँ हैं जो एक समूह के लिए महत्वपूर्ण समझी जाती हैं, (विशेष रूप से) उस (समूह) के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण समझी जाती हैं।"[1] —सदरलैंड तथा अन्य

(vii) "लोकरीति उस समय लोकाचार बन जाती है जब उसके साथ 'कल्याण' का तत्व जोड़ दिया जाता है।"[2] —लुम्ले

(viii) "जब सत्य और औचित्य के तत्व कल्याण के सिद्धान्तों में विकसित हो जाते हैं, लोकरीतियाँ दूसरे (उच्च) क्षेत्र (लोकाचारों) में उठ जाती हैं।"[3] —समनर

लोकरीतियों एवं लोकाचारों में अन्तर (Distinction between folkways and mores)—लोकरीतियों एव लोकाचारों में अन्तर किया गया है। समनर के अनुसार, जब लोकरीतियाँ उचित जीवन के दर्शन एवं कल्याण की जीवन-नीति को अपना लेती हैं तो वे लोकाचार बन जाती हैं। इस प्रकार जब लोकरीतियाँ अपने साथ सही एवं गलत तथा समूह-कल्याण की भावना को जोड़ लेती हैं तो वे लोकाचारों मे परिवर्तित हो जाती हैं। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि लोकरीतियाँ दो प्रकार की होती हैं—(i) वे लोकरीतियाँ जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए क्योंकि उन्हें विनम्र व्यवहार एवं शिष्टाचार का ढंग समझा जाता है; (ii) वे लोकरीतियाँ जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए, क्योंकि उन्हें समूह-कल्याण के लिए आवश्यक समझा जाता है। लोकरीतियो की उत्तरोक्त श्रेणी को लोकाचार कहते हैं। जबकि कोई व्यक्ति अभय होकर लोकरीतियो की अवज्ञा कर सकता है, वह लोकाचारो का उल्लंघन नही कर सकता, क्योंकि वे समूह-मानको का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि कुछ सीमावर्ती मामलों में लोकाचारो एव लोकरीतियो के मध्य विभेद करना कठिन हो जाता है, तथापि उनके मध्य विभाजन-रेखा स्पष्ट एवं सुनिश्चित है। लोकरीतियाँ समूह-कल्याण में सहायक हो सकती हैं अथवा नही भी होती हैं, परन्तु लोकाचारों को सदैव सहायक समझा जाता है। लोकाचार किसी समुदाय अथवा समूह के जीवित स्वभाव के प्रतिनिधि हैं। उन्हें उस समूह द्वारा जो उनका अनुसरण करता है, सदैव उचित समझा जाता है। वे नैतिकतया सही होते हैं, अतएव उनका उल्लंघन भी नैतिकतया अनुचित होगा। वे उचित एव अनुचित के मापदंड हैं, अत: यह कहा जाता है कि वे किसी भी वस्तु को उचित अथवा अनुचित बना सकते हैं। विभिन्न प्रकार के विश्वास लोकाचारों को तार्किक बनाने का प्रयत्न करते हैं। लोकाचारो को कोई स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे अपने अधिकार से स्थित हैं। उनकी आलोचना नही की जा सकती। उनकी कोई आलोचना कठोर दंड को आमंत्रित

---

1. "Mores are folkways that are considered to be important to the group important to its welfare"—Sutherland, Wordland and Morewell, *Introductory Sociology*, p 23
2. "A folkway becomes one of the mores when welfare element is add[illegible]
3. "W[illegible] into doctrines of [illegible] Sumner, W.S., *Fo[illegible]*

करती है। "विश्वास दंतकथा के रूप में उनको युक्तिकृत करता है, कर्मकांड प्रतीकों के रूप में उनकी अभिव्यक्ति करता है तथा कार्य उचित आचरण के रूप में उनको मूर्त रूप देता है। वे आचारात्मक व्यवस्था के कठोरतम रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं।" डेविस के शब्दों में, "लोकरीतियाँ कोष्ठ के जीवन-रस अथवा भारी अंग के समान हैं, जबकि लोकाचार नाभिमूल के समान है।"[1]

लोकाचारों एवं लोकरीतियों के मध्य अन्तर की निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जा सकता है—

(i) लोकरीतियों की अपेक्षा लोकाचारों का अधिक सामान्य एवं व्यापक स्वरूप होता है।

(ii) लोकाचारों मे लोकरीतियों के विषय में मूल्य-निर्णय निहित होता है।

(iii) लोकाचार लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक प्रभावी एवं व्यक्तियों की प्रवृत्तियों को सदैव प्रभावित एवं नियंत्रित करने वाले होते हैं।

(iv) लोकरीतियों की अपेक्षा लोकाचार ही उचित एवं अनुचित के बारे मे हमारी मान्यताओं को अधिक निश्चित करते हैं।

(v) लोकरीतियों की जड़ अपेक्षाकृत समाज में कम गहरी होती है तथा लोकाचारों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बदल जाती है। लोकाचार की जड़ गहरी होती है एवं इसमें परिवर्तन भी कम होते हैं।

(vi) लोकरीतियाँ मनुष्य की सामाजिक प्रस्थिति एवं व्यावसायिक स्थिति के साथ बदल जाती हैं, परन्तु लोकाचार इस प्रकार नहीं बदलते।

(vii) लोकाचारों का उल्लंघन परन्तु लोकरीतियों का नहीं, अन्य व्यक्तियों के अधिकारों के लिए स्पष्ट भयावह समझा जाता है।

यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि लोकाचारों का तार्किक होना आवश्यक नहीं है। कुछ लोकाचार दूसरे व्यक्तियों को अतार्किक मालूम हो सकते हैं। इस प्रकार पर्दा-प्रणाली, अस्पृश्यता, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक पश्चिमी लोगों को अतार्किक दिखाई देंगे। किसी संस्कृति के लोकाचारों से दूसरी संस्कृति अपरिचित हो सकती है। यह भी सम्भव है कि लोकाचारों का समूह-कल्याण से कोई अनिवार्य सम्बन्ध न हो। यह आवश्यक नहीं कि लोकाचारों द्वारा प्रतिबंधित कार्य वास्तव में हानिकारक हो। यदि समाज का विश्वास है कि कोई कार्य हानिकारक है तो उस कार्य की निन्दा की जाती है। लोकाचार कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य के बारे में किसी समूह के विश्वास हैं।

लोकाचारों के कार्य (The Functions of Mores)

लोकाचारों का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाएगा यदि हम सामाजिक जीवन मे उनके सामान्य कार्यों पर विचार कर लें। मेकाइवर ने लोकाचारों के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है—

1. "The folkways are, so to speak, the protoplasm of the cell, the bulky part, while the mores are the nucleus."—Davis, *op. cit.*, p. 60.

(vi) "लोकाचार वे लोकरीतियाँ हैं जो एक समूह के लिए महत्वपूर्ण समझी जाती हैं, (विशेष रूप से) उस (समूह) के कल्याण के लिए महत्वपूर्ण समझी जाती हैं।"[1]

—सदरलैंड तथा अन्य

(vii) "लोकरीति उस समय लोकाचार बन जाती है जब उसके साथ 'कल्याण' का तत्व जोड़ दिया जाता है।"[2]

—लुन्डे

(viii) "जब सत्य और औचित्य के तत्व कल्याण के सिद्धान्तों में विकसित हो जाते हैं, लोकरीतियाँ दूसरे (उच्च) क्षेत्र (लोकाचारों) में उठ जाती हैं।"[3]

—समनर

लोकरीतियों एवं लोकाचारों में अन्तर (Distinction between folkways and mores)—लोकरीतियों एवं लोकाचारों में अन्तर किया गया है। समनर के अनुसार, जब लोकरीतियाँ उचित जीवन के दर्शन एवं कल्याण की जीवन-नीति को अपना लेती हैं तो वे लोकाचार बन जाती हैं। इस प्रकार जब लोकरीतियाँ अपने साथ सही एवं गलत तथा समूह-कल्याण की भावना को जोड़ लेती हैं तो वे लोकाचारों में परिवर्तित हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि लोकरीतियाँ दो प्रकार की होती हैं—(i) वे लोकरीतियाँ जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए क्योंकि उन्हें विनम्र व्यवहार एवं शिष्टाचार का ढंग समझा जाता है; (ii) वे लोकरीतियाँ जिनका अनुसरण किया जाना चाहिए, क्योंकि उन्हें समूह-कल्याण के लिए आवश्यक समझा जाता है। लोकरीतियों की उत्तरोक्त श्रेणी को लोकाचार कहते हैं। जबकि कोई व्यक्ति अभय होकर लोकरीतियों की अवज्ञा कर सकता है, वह लोकाचारों का उल्लंघन नहीं कर सकता, क्योंकि वे समूह-मानकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि कुछ सीमावर्ती मामलों में लोकाचारों एवं लोकरीतियों के मध्य विभेद करना कठिन हो जाता है, तथापि उनके मध्य विभाजन-रेखा स्पष्ट एवं सुनिश्चित है। लोकरीतियाँ समूह-कल्याण में सहायक हो सकती हैं अथवा नहीं भी होती हैं, परन्तु लोकाचारों को सदैव सहायक समझा जाता है। लोकाचार किसी समुदाय अथवा समूह के जीवित स्वभाव के प्रतिनिधि हैं। उन्हें उस समूह द्वारा जो उनका अनुसरण करता है, सदैव उचित समझा जाता है। वे नैतिकतया सही होते हैं, अतएव उनका उल्लंघन भी नैतिकतया अनुचित होगा। वे उचित एवं अनुचित के मापदंड हैं, अतः यह कहा जाता है कि वे किसी भी वस्तु को उचित अथवा अनुचित बना सकते हैं। विभिन्न प्रकार के विश्वास लोकाचारों को तार्किक बनाने का प्रयत्न करते हैं। लोकाचारों को कोई स्पष्टीकरण देने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे अपने अधिकार से स्थित हैं। उनकी आलोचना नहीं की जा सकती। उनकी कोई आलोचना कठोर दंड को आमंत्रित

---

1. "Mores are folkways that are considered to be important to the group important to its welfare."—Sutherland, Wordland and Morewell, *Introductory Sociology*, p 23
2. "A folkway becomes one of the mores when welfare element is added".—F. E. Luudley, *Principles of Sociology*, p. 170.
3. "When the elements of truth and right are developed into doctrines of welfare, the folkways are raised to another plane."—Sumner, W.S., *Folkways*, p. 30.

करती है। "विश्वास दंतकथा के रूप में उनको युक्तिकृत करता है, कर्मकांड प्रतीकों के रूप में उनकी अभिव्यक्ति करता है तथा कार्य उचित आचरण के रूप में उनको मूर्त रूप देता है। वे आचारात्मक व्यवस्था के कठोरतम रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं।" डेविस के शब्दों में, "लोकरीतियाँ कोष्ठ के जीवन-रस अथवा भारी अंग के समान हैं, जबकि लोकाचार नाभिमूल के समान हैं।"[1]

लोकाचारों एवं लोकरीतियों के मध्य अन्तर की निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जा सकता है—

(i) लोकरीतियों की अपेक्षा लोकाचारों का अधिक सामान्य एवं व्यापक स्वरूप होता है।

(ii) लोकाचारों में लोकरीतियों के विषय में मूल्य-निर्णय निहित होता है।

(iii) लोकाचार लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक प्रभावी एवं व्यक्तियों की प्रवृत्तियों को सदैव प्रभावित एवं नियंत्रित करने वाले होते हैं।

(iv) लोकरीतियों की अपेक्षा लोकाचार ही उचित एवं अनुचित के बारे में हमारी मान्यताओं को अधिक निश्चित करते हैं।

(v) लोकरीतियों की जड़ अपेक्षाकृत समाज में कम गहरी होती है तथा लोकाचारों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बदल जाती है। लोकाचार की जड़ गहरी होती है एवं इसमें परिवर्तन भी कम होते हैं।

(vi) लोकरीतियाँ मनुष्य की सामाजिक प्रस्थिति एवं व्यावसायिक स्थिति के साथ बदल जाती हैं, परन्तु लोकाचार इस प्रकार नहीं बदलते।

(vii) लोकाचारों का उल्लंघन परन्तु लोकरीतियों का नहीं, अन्य व्यक्तियों के अधिकारों के लिए स्पष्ट भयावह समझा जाता है।

यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि लोकाचारों का तार्किक होना आवश्यक नहीं है। कुछ लोकाचार दूसरे व्यक्तियों को अतार्किक मालूम हो सकते हैं। इस प्रकार पर्दा-प्रणाली, अस्पृश्यता, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक पश्चिमी लोगों को अतार्किक दिखाई देंगे। किसी संस्कृति के लोकाचारों से दूसरी संस्कृति अपरिचित हो सकती है। यह भी सम्भव है कि लोकाचारों का समूह-कल्याण से कोई अनिवार्य सम्बन्ध न हो। यह आवश्यक नहीं कि लोकाचारों द्वारा प्रतिबंधित कार्य वास्तव में हानिकारक हो। यदि समाज का विश्वास है कि कोई कार्य हानिकारक है तो उस कार्य की निन्दा की जाती है। लोकाचार कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य के बारे में किसी समूह के विश्वास हैं।

लोकाचारों के कार्य (The Functions of Mores)

लोकाचारों का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाएगा यदि हम सामाजिक जीवन में उनके सामान्य कार्यों पर विचार कर लें। मैकाइवर ने लोकाचारों के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है—

---

1. "The folkways are, so to speak, the protoplasm of the cell, the bulky part, while the mores are the nucleus."—Davis, *op. cit*, p. 60.

(i) वे हमारे अधिकांश निजी व्यवहार को निश्चित करते हैं (They determine much of our individual behaviour)—वे व्यवहार को बाधित एवं निषेधित दोनों करते हैं। वे सदैव प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति को प्रतिबंधित एवं प्रभावित करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वे नियंत्रण के उपकरण हैं। समाज में असंख्य लोकाचार, यथा एकपत्नीत्व, दास-विरोधिता, प्रजातंत्र एवं मद्यनिषेध आदि हैं जिनका अनुपालन आवश्यक समझा जाता है।

(ii) वे व्यक्ति का समूह से तादात्म्य स्थापित करते हैं (They identify the individual with the group)—लोकाचारों के अनुपालन द्वारा व्यक्ति अपने साथियों के प्रति तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उन सामाजिक सूत्रों को बनाए रखता है जो सन्तोषपूर्ण जीवन के लिए स्पष्टतः बहुत ही आवश्यक हैं।

(iii) वे सामाजिक सुदृढ़ता के संरक्षक हैं (They are the guardians of solidarity)—लोकाचार समूहों के सदस्यों को एकता के सूत्र में बाँधे रखते हैं। समूह के सदस्यो मे, यद्यपि उनमें समानता की चेतना होती है, जीवन एवं प्रस्थिति की अच्छी वस्तुओं को प्राप्त करने हेतु परस्पर प्रतियोगिता रहती है। उन्हें लोकाचार ही सीमा के अंदर रखते हैं। समान लोकाचारों का अनुसरण करने वाले व्यक्तियों मे उनकी समान भावनाओ के कारण अच्छी सुदृढ़ता का भाव होता है। इसका यह भी अर्थ है कि भिन्न लोकाचारों का अनुसरण करने वाले व्यक्ति के प्रति उनमें विरोध एवं प्रतिरोध की भावना होती है। लिंग, आयु, वर्ग और समूह, प्रत्येक के लिए एवं सभी समूहों के लिए लोकाचार विद्यमान हैं जो समूह की दृढ़ता को बनाए रखने का कार्य पूरा करते हैं।

लोकाचारों की विविधता (The Variety of Mores)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि लोकाचार उचित अथवा अनुचित, सही अथवा गलत के बारे में हमारे विचारों को निर्धारित करते हैं। परन्तु वे किसी बुद्धियुक्त रचना अथवा सचेत नियोजन का परिणाम नहीं हैं। लोकरीतियों की भाँति न तो उनकी उत्पत्ति अस्पष्ट, अनियोजित एवं निर्विवाद है और न ही वे सार्वभौमिक स्तर पर समान हैं। उनके निर्माण में संयोग एव आकस्मिकता का बहुत बड़ा हाथ है। पश्चिमी लोग आदर व्यक्त करने हेतु टोप उतार लेते हैं, हिन्दू चरण स्पर्श करते हैं। कोई समूह अपने सदस्यों के बाह्य समूह के सदस्यो से विवाह को वर्जित करता है तो दूसरा इसकी अनुमति देता है। एक समूह बहुविवाह की निंदा करता है तो दूसरा इसकी निंदा नहीं करता। एक समूह विधवा-पुनर्विवाह की अनुमति देता है तो दूसरा उसकी निंदा करता है। किसी समूह मे कठोर यौन-सम्बन्धी नियम प्रचलित हैं तो दूसरे में ऐसे कोई नियम नहीं हैं। बाली द्वीप की स्त्री उचित रूप से वस्त्र पहने हुए समझी जाती है यदि उसका वक्षस्थल पूर्णतया नंगा है तथा उसकी जननेन्द्रिय कटि से जाँघ तक ढकी हुई है, परन्तु इस प्रकार से वस्त्र पहने हुए हिन्दू स्त्री को घर से बाहर जाने की आज्ञा नहीं दी जाएगी। इसी प्रकार तैरने का परिधान तैराकी तट पर पहनना उचित है, परन्तु सार्वजनिक सभा अथवा कक्षा में पहनना उचित नही है। इस प्रकार हमें विभिन्न समूहों में लोकाचारों की विशाल विविधता देखने को मिलती है।

लोकाचारों की परिवर्तनशील प्रकृति (Changing nature of mores)—लोकाचार किसी वस्तु को किसी समय उचित तो अन्य समय अनुचित बना सकते हैं। कुछ समय पूर्व दासता उचित समझी जाती थी जिसको चर्च एवं राज्य की स्वीकृति प्राप्त थी, परन्तु आज कदाचित् ही कोई दासता का समर्थन करेगा। किसी समय बहुविवाह लोकाचारों मे सम्मिलित था, परन्तु आज स्त्री के लिए दो पति रखना कठिनता से कल्पनीय है। इसी प्रकार, तीन पीढियों पूर्व स्त्रियों के स्वीकृत कार्यकलापो की आधुनिक स्त्रियो के कार्यकलापों से तुलना कीजिए। शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय स्त्री का कार्यालय में काम करना अनुचित समझा जाता था, परन्तु आज यह उचित है। इसी प्रकार, आधुनिक स्त्री के परिधान की कुछेक दशको पूर्व स्त्रियों के परिधान से तुलना कीजिए। सर जेम्स जीन्स (Sir James Jeans) के कथनानुसार, "नैतिकता एवं अनैतिकता ने प्राय: स्थान बदले हैं, जैसे-जैसे जीवन युगों में से निकलता रहा है; चुड़ैल को जलाना नैतिक तथा ब्याज पर धन उधार देना अनैतिक समझा जाता था।"

यह भी ध्यान रहे कि लोकाचार किसी भी वस्तु को उचित बना सकते हैं। लोकाचारों की शक्ति, समनर के अनुसार, इतनी बलवती है कि ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे लोकाचार उचित न बना सके। संयुक्त राज्य अमेरिका मे लोकाचारों ने एक सौ वर्ष पूर्व दासता को उचित बनाया हुआ था। नाजी जर्मनी मे लोकाचारों ने प्रजातंत्र की निंदा की। एस्किमो लोगों के लिए अपने वृद्ध व्यक्तियों को मार देना उचित था। प्राचीन स्पार्टा मे शिशुहत्या स्थापित प्रथा थी। कोचीन चीन के चीनी व्यक्ति वध हुए शत्रुओ के जिगर को खाते हैं। प्राचीन मिस्र मे अगम्यागमन गौरवपूर्ण समझा जाता था। प्राचीन भारत में अस्पृश्यता को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी।

अशिक्षित संस्कृतियों की अपेक्षा सभ्य समूहो मे लोकाचार अधिक तीव्रता से बदलते हैं। आजकल लोकाचारों में परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हो रहे हैं कि इनमें नाटकीय संघर्ष आ गया है। लैंगिक व्यवहार, पारिवारिक जीवन एवं सम्पत्ति के अधिकारों को शासित करने वाले लोकाचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। यह लोकाचार कि अविवाहित स्त्रियाँ अपने कौमार्य को सुरक्षित रखेंगी, पिछले दशकों में शिथिल पड़ गया है। इसी प्रकार यह लोकाचार कि पुरुष को अपनी जाति की कन्या से विवाह करना चाहिए, शिथिल पड़ रहा है। यह लोकाचार भी कि स्त्रियों को घर के अन्दर रहना चाहिए, परिवर्तित हो गया है। अनेक स्त्रियाँ कार्यालयो में काम कर रही हैं जिससे पारिवारिक जीवन का स्वरूप बदल गया है। यह विचारधारा कि सरकार के लिए धनी लोगों पर कर लगाना, ताकि निर्धनों को समान भौतिक लाभ प्राप्त हो सके, उचित है तथा निजी सम्पत्ति रखने तथा इसे अपने उत्तराधिकारियों को हस्तांरित करने के अधिकार के विरुद्ध है। अतएव उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारे नैतिक अथवा आचारात्मक विचार समय एवं स्थान से सम्बन्धित हैं तथा लोकाचारो की कोई सार्वभौमिक अथवा पूर्ण प्रणाली नहीं है। परन्तु यह ध्यान रहे कि लोकाचारों में संघर्ष सदैव अस्थायी होता है। जैसा समनर ने बतलाया, उनमें अनुरूपता की ओर प्रवृत्ति होती है। लोकाचारों

में परिवर्तन का यह अर्थ नहीं है कि व्यवहार उनके द्वारा नियंत्रित होना बन्द हो जाएगा। निस्संदेह, लोकाचारों में विशाल एवं नाटकीय परिवर्तन हुआ है। परन्तु अब भी व्यक्तियों का व्यवहार अधिकांशतया लोकाचारों की शक्ति द्वारा शासित होता है।

लोकाचार पर्याप्त दीर्घ अवधि के उपरांत एवं प्रबलतम दबावों के अधीन ही परिवर्तित होते हैं। अमेरिका में दासता का उन्मूलन इसका उदाहरण है जिसे समाप्त करने में वर्षों तक आंदोलन करना पड़ा तथा अंत में गृहयुद्ध हुआ।

लोकाचार एवं संपुष्टियां (Mores and sanctions)—लोकाचार समाज में व्यवहार के प्रतिमानों अथवा ढगों का प्रतिनिधित्व करते हैं—वे हमें किसी कार्य को करने के सर्वाधिक प्रमाणीकृत एवं स्वीकृत ढगों का ज्ञान कराते हैं। वे नियामक होते हैं, अतएव समूह के सदस्यों द्वारा उनका अनुपालन आवश्यक है। लोकाचारों के विपरीत व्यवहार की समाज आज्ञा नहीं देता। वे व्यक्ति को ऐसी क्रियाएँ जो उसके शारीरिक कल्याण के विपरीत हो, करने के लिए बाध्य कर सकते है। चीनी व्यक्तियों की कुछ श्रेणियों में यह प्रथा थी कि स्त्रियां अपनी बालिकाओं के अँगूठे को बाल्यकाल में नीचे की ओर मोड़कर पैर से बाँध देती थीं। यह क्रिया भले ही चलने-फिरने में कष्ट उत्पन्न करती थी तथा शारीरिक योग्यता को भी कम करती थी, तब भी इसका अनुसरण किया जाता था एवं इसे एक सुन्दर प्रथा समझा जाता था। अभी कुछ समय पूर्व पुरुष व्यक्ति का यह कर्तव्य था कि वह स्त्री की रक्षा करे। यदि कोई व्यक्ति किसी की पुत्री अथवा बहन के साथ जिसके साथ उसका विवाह नहीं हुआ, बलात्कार करता था तो कानून नहीं, अपितु लोकाचार उस व्यक्ति के लिए मृत्युदंड की व्यवस्था करता था। अपनी पुत्री की इज्जत का बदला लेना पुरुष के लिए आवश्यक था, अन्यथा उसे अन्य पुरुषों के साथ मिलने-जुलने के योग्य नहीं समझा जाता था। इस प्रकार लोकाचारों का अनुपालन सदैव अनिवार्य समझा गया है।

लोकाचारों का लोगों द्वारा अनुपालन क्यों किया जाता है और उनके पीछे क्या संपुष्टि है? लोकाचारों का पालन लोगों द्वारा अनेक कारणों से किया जाता है। कुछ उनका पालन प्रशंसा अथवा पुरस्कार प्राप्त करने के लिए करते है; दूसरे लोग सामाजिक बहिष्कार, जुर्माने अथवा शारीरिक दंड के भय से करते हैं। लोकाचारों का उल्लंघन व्यक्ति को अजनबी, विद्रोही, समूह द्वारा बहिष्कार, उत्पीड़न, उन्मूलन-योग्य जीव बना देता है। अधिकांश लोग लोकाचारों का पालन इसलिए करते हैं, क्योंकि वे ऐसा करना उचित समझते हैं अथवा वे इसके अभ्यस्त हो गए हैं। व्यक्ति के मनोरथ सदा बहुमुखी होते हैं जिन्हें पृथक् करना कठिन होता है। प्रत्येक समूह द्वारा संपुष्टि का रूप अपना ही होता है एवं लोकाचार स्वयं लोगों को अपने अनुपालन के लिए बाधित करने का प्रयत्न करते हैं।

लोकाचारों की उपयोगिता (The utility of mores)—ऊपर हमने देखा है कि लोकाचार सामाजिक कल्याण के लिए लाभप्रद होते हैं। क्या इसका अर्थ यह है कि वे समाज के लिए कभी हानिकारक नहीं हो सकते? उत्तर है कि वे हानिकारक नहीं हो सकते हैं यदि परिवर्तित परिस्थितियों के उपरांत अपनी उपयोगिता

लो देने पर समूह उन्हें बनाए रखता है। प्रचलित सामाजिक दशाओं अथवा ज्ञान के स्तर के साथ उनकी संगति समाप्त हो सकती है। इस प्रकार के लोकाचारों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनमे हानिकारक खाद्य-पदार्थों का सेवन, बाल-विवाह, अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, पर्दा-प्रणाली, शिशुजन्म का अनुचित स्थगन, सौंदर्य के विभिन्न ढंग, जैसे ऊँची एड़ी एवं तंग वेशभूषा, यौन-सम्बन्धी रोगों के वैज्ञानिक एव तार्किक उपचार का विरोध आदि का उल्लेख किया जा सकता है। यही कारण है कि कुछेक लोकाचार रूढ़िवादिता के अभिकर्ता तथा प्रगति के मार्ग मे बाधक बन जाते है जिन्हें बदलने हेतु कानून द्वारा प्रयत्न किए जाते हैं।

लोकाचार एवं कानून (Mores and law)—सभ्य समाजो मे लोकाचार कानून का रूप धारण कर लेते हैं, यद्यपि कानून एव लोकाचार दोनो सदैव समरूप नही होते। एक ओर कानून ऐसे व्यवहार का निषेध कर सकता है जो लोकाचारों द्वारा प्रतिबंधित नहीं है। ऐसी स्थिति में कानून साधारणतया प्रभावहीन होता है। मद्यनिषेध एक ऐसा उदाहरण है। मद्यपान कानून द्वारा निषेधित है, परन्तु लोकाचार इसकी स्वीकृति देते हैं। इसी प्रकार, अस्पृश्यता सवैधानिक तौर पर निषेधित है, तथापि लोग इसका प्रयोग करते हैं। बाल-विवाह कानूनी तौर पर वर्जित है, परन्तु यह प्रायः होता रहता है। भारत मे कानून-पुस्तकें अप्रचलित प्रतिबंधों से भरपूर हैं। दूसरी ओर, सभी लोकाचार कानून का अंग नही होते। ये सुपरिचित होते हैं अथवा व्यापक रूप से उनका सत्कार किया जाता है जिससे उन्हें औपचारिक विधिक रूप देने की आवश्यकता नही होती; अथवा वे इतनी वैयक्तिक बातें होती हैं जो कानून का उचित विषय बनने योग्य नहीं होती। उदाहरणतया, अनेक अलिखित कानून हैं, यथा ज्येष्ठ व्यक्तियों को प्रणाम करना, विवाह के अवसर पर मित्र को बधाई भेजना, मृतक के निकट सम्बन्धियों को शोक-संदेश भेजना, स्त्रियों को बैठने के लिए स्थान देना, जिनसे सभी परिचित हैं तथा जिन्हें कभी कानून का रूप नही दिया गया है।

३. क्या लोकरीतियाँ एवं लोकाचार यथेष्ठ हैं ?

(Are the Folkways and Mores Sufficient)

एक प्रश्न यह उठाया गया है कि क्या लोकरीतियाँ एवं लोकाचार समाज में सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था करने हेतु स्वयमेव यथेष्ठ हैं ? क्या कानून एक निर्मित विधान के रूप मे सामाजिक नियंत्रण का अनिवार्य तत्व है ?

यह कहा जा सकता है कि कुछ समाज, यथा आदिम एवं कृषि समाज ऐसे हैं जहाँ कोई औपचारिक कानून नही है। लोकरीतियाँ एवं लोकाचार ऐसे समाजो मे व्यवहार को नियमित करते हैं। ये समाज साधारणतया छोटे होते हैं जिनमे केवल कुछ सौ व्यक्ति ही निवास करते है जो एक-दूसरे से भलीभाँति परिचित होते हैं, ताकि यदि कोई घटना घटती है तो उस पर सारे समुदाय का ध्यान आकर्षित होता है। इसके अतिरिक्त चूँकि इन व्यक्तियो का पर्यावरण एव उनकी संस्कृति समान होती है, अतएव उनकी मनोवृत्ति किसी घटना के प्रति समान होती है। समान मनोवृत्ति के कारण उनके द्वारा प्रत्येक कार्यवाही को बल प्राप्त होता है। ऐसे समाज मे उल्लंघनकर्ता को सुगमता से मालूम किया जा सकता है एव उसे दण्डित किया जा

सकता है। उसका सम्पूर्ण जीवन समुदाय में व्यतीत होता है, अतएव उसके द्वारा की गई कोई भी कार्यवाही उसके लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। कार्यवाही सहज एवं एकमत होती है, जिससे इसे बल मिलता है। अतएव कहा जा सकता है कि छोटे, एकान्त एवं सजातीय समाजों मे लोकरीतियाँ एव लोकाचार प्रभावी सामाजिक नियत्रण प्रदान करने मे यथेष्ठ होते हैं।

परन्तु जटिल समाजों के बारे में यह कथन सत्य नही होगा। ऐसे समाजो में विशेष राजनीतिक सगठन का कोई रूप आवश्यक बन जाता है। जनमत की अनौपचारिक शक्तियाँ इन समाजो में व्यवस्था बनाए रखने के लिए दुर्बल सिद्ध होती हैं। समुदाय से यह प्रत्याशा नहीं की जा सकती कि वह अपराधी की खोज करके उसे दंडित कर देगा, क्योंकि ऐसे समाजो मे लोग अत्यधिक बिखरे हुए होते हैं जो विजातीय सस्कृतियों से सम्बन्ध रखते हैं। समूह के सभी सदस्यो पर लोकाचारों के अनुपालन को आरोपित करने हेतु किसी बाध्यकारी अभिकरण की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, परिस्थितियो के शीघ्र परिवर्तन एवं जीवन के जटिल बन जाने के कारण, लोकाचार पूर्ण पथ-प्रदर्शन प्रदान करने में यथेष्ठ नहीं रहे हैं। इस प्रकार, उन समाजो मे जहाँ समूहों एव हितों के बाहुल्य, सस्कृति के सचयन एव कार्यों की विभिन्नता ने लघु समुदाय की दृढ़ता को समाप्त कर दिया है, कानून व्यवस्था के सरक्षण-हेतु अनिवार्य तत्व बन गया है; तथापि इन समाजो मे भी कानून केवल लोकाचारो का पूरक होता है।

चूंकि विभिन्न समूहो के लोकाचारों में पर्याप्त विभिन्नता होती है, अतएव उनकी शक्ति उन विशाल समाजों मे कम हो जाती है, जहाँ विभिन्न समूह इकट्ठे रहते हैं। शहरी समुदायो की अपेक्षा ग्रामीण समुदाय म लोग लोकाचारो का अधिक पालन एवं आदर करते हैं। आदि समाजों मे आधुनिक समाजों की अपेक्षा लोकाचारों की समनुरूपता-शक्ति अधिक प्रभावशील थी। अन्त में, यह कहा जा सकता है कि किसी ऐसे समुदाय की कल्पना करना सम्भव नहीं है जिसमे सामान्य रूप से आरोपित एव सम्मानित लोकरीतियो एव लोकाचारो के बिना सगठित सामाजिक जीवन को संरक्षित रखा जा सके।

प्रश्न

१. लोकरीतियों का क्या अर्थ है? समाज मे उनके महत्व की व्याख्या कीजिए।

२. लोकाचारो का क्या अर्थ है? लोकाचारो एवं लोकरीतियों मे विभेद कीजिए।

३. लोकाचारों के कार्यों का वर्णन कीजिए। क्या लोकाचार कभी हानिकारक होते हैं?

४. लोकाचारों के पीछे संपुष्टियो का वर्णन कीजिए।

अध्याय ३४

प्रथा, कानून एवं शोभाचार

[CUSTOM, LAW AND FASHION]

पिछले अध्याय मे हमने बतलाया था कि सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधनों मे से प्रथा, कानून एवं शोभाचार समाज मे मनुष्य के व्यवहार पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। अधिकाश आदि समाजो में लोकरीतियाँ एवं लोकाचार व्यवस्था एव एकता बनाए रखने हेतु यथेष्ठ होते थे, परन्तु कुछ आदि समाजों में सामाजिक नियंत्रण के कुछ ऐसे तत्व पाए जाते है जो लोकरीतियों एवं लोकाचारों की अनौपचारिक क्रियान्विति से श्रेष्ठ होते हैं। इस अध्याय मे हम इन्हीं तत्वो—प्रथा, कानून एव शोभाचार का वर्णन करेंगे।

१. प्रथा एवं स्वभाव
(Custom and Habit)

स्वभाव एक व्यक्तिगत परिघटना है (Habit is an individual phenomenon)—प्रथा के अर्थ पर विचार करने से पूर्व 'स्वभाव' शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा, क्यों कि इस शब्द को 'प्रथा' का समानार्थक समझा जाता है एव यह कुछ स्वीकारात्मक कार्य करता है। "स्वभाव का अर्थ अधिक विचार किए बिना किसी निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की प्राप्त सरलता है।"[1] यह एक व्यक्तिगत तत्व है। व्यक्ति समान परिस्थिति मे समान रूप से प्रतिक्रिया करते हैं जिसके वे अभ्यस्त हो चुके होते हैं। स्वभाव की प्राप्ति कार्य को सुलभ एवं ज्ञात तथा सापेक्षतया प्रयत्नरहित एवं अनुकूल बना देती है। दिन में दो बार भोजन करना, दन्तमंजन, प्रातःकालीन सैर, ज्येष्ठ व्यक्तियो को प्रणाम करते समय हाथों को जोड़ना हमारी आदतें है। ये सभी कार्य स्वचालित व्यवहार की श्रेणी में आते हैं। जब हम कोई स्वभाव बना लेते हैं तो मनोवैज्ञानिक एवं शरीर-विज्ञान की दृष्टि से किसी निश्चित मार्ग पर चलना आसान हो जाता है। व्यक्ति के लिए किसी ऐसे कार्य को, जो उसके स्वभावगत प्रतिमानों के अनुकूल है, करना अधिक सुगम होता है। यदि हमें प्रत्येक स्तर पर नया सोच-विचार करना पड़े तो जीवन दूभर हो जाएगा। स्वभाव के बिना हम कुछ भी प्राप्त नही कर सकते। स्वभाव के विपरीत कार्य करना कठिन होता है। स्वभाव हमारी 'द्वितीय प्रकृति' है। यह स्थापित, जमी हुई एवं प्राय अनुक्रिया की अधिकाशतया स्थायी विधि है।

स्वभाव सीखा जाता है (Habit is learnt)—स्वभाव, यह ध्यान रहे, अर्जित किया जाता है एवं सीखा जाता है। हम किसी विशिष्ट ढंग से जो सामाजिक तथा स्वीकार्य है, कार्य करना सीखते हैं। हम समान परिस्थिति मे उस कार्य की पुनरावृत्ति करते हैं। कालान्तर में जब यह कार्य प्रायः पुनरावृत्ति होने वाला

---

1. "Habit means an acquired facility to act in a certain manner without resort to deliberation or thought."—MacIver, *op. cit.*, p 190

अनुभव बन जाता है तो वह कार्य स्वभाव का रूप धारण कर लेता है। बाल्यकाल से ही व्यक्ति को व्यवहार के कुछेक नियमों की शिक्षा दी जाती है जिसमें स्वभावों की प्राप्ति निहित है। जितना अधिक उन्हें हमारे जीवन के क्रियात्मक भाग में आने का अवसर मिलता है, उतना अधिक वे शक्तिशाली एवं स्पष्ट हो जाते हैं। बाल्यकाल मे स्वभाव मनुष्य के कार्यों को इतना नियंत्रित नहीं करते, जितना जीवन के बाद के वर्षों में। परन्तु अधिकांश स्वभावों की नींव बाल्यकाल में ही रखी जाती है। स्वभाव के द्वारा हम एक विकल्प का चयन कर अन्य अनेक मार्गों का त्याग कर देते हैं।

स्वभाव के निर्दिष्ट कार्य (Positive functions of habit)—स्वभाव, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, अनेक निर्दिष्ट कार्य करता है। जीवन ः साधन-रूप में यह हमारी शक्ति एवं दैनिक श्रम में बचत तथा अनावश्यक सोच विचार में कमी करता है। जहाँ कहीं विशुद्ध दैनिक कार्य करने होते हैं, हम उन्हें अर्द्धचेतन रूप में करते रहते हैं। हम सोच-विचार में नहीं पड़ते, अपितु तुरन्त कार्य करते हैं। यदि काम करते समय हमें हर कदम पर सोचना पड़ जाए तो हम सुगमतापूर्वक काम नहीं कर सकेंगे। स्वभाव हमारी अनुभवगर्भित प्रकृति है। यह दूसरे कार्यों के लिए हमारी शक्तियों को रक्षित एवं स्वतंत्र रखता है। स्वभाव की शक्ति के बारे में विलियम जेम्स (William James) का एक विद्वत्तापूर्ण एवं विख्यात अनुच्छेद है। वह लिखता है, "स्वभाव इस प्रकार समाज का एक विशाल उड्डयन-चक्र (flywheel) है, उसका अत्यन्त मूल्यवान् रूढ़िवादी अभिकर्ता है। वही हम सबको अध्यादेश की सीमाओं के अन्दर रखता है तथा दरिद्रों के ईर्ष्यात्मक विद्रोहों से भाग्यशाली व्यक्तियों की रक्षा करता है। वही कठोरतम तथा आकर्षक जीवन मार्गों से हमारी रक्षा करता है। हमारे प्राथमिक चयन अथवा हमारी शिक्षा की प्रणाली पर जीवन से संघर्ष करने के लिए वह हमें छोड़ देता है और चूँकि कोई दूसरा कार्य आरम्भ करने के लिए पर्याप्त विलंब हो गया है, विरोधी कार्य से यथोचित लाभ उठाने के लिए हमें तैयार करता है। वह विभिन्न सामाजिक स्तरों को मिश्रित होने से पृथक् रखता है।"

परन्तु यदि स्वभाव से मितव्ययी शक्तियाँ कार्य में अथवा उसके बाहर निकलने का मार्ग न पाएँ तो उससे रुकी हुई या उपयोग में न आने वाली शक्तियाँ अब तक अप्राप्त संतोष के मार्गों की तलाश में स्वभाव की धाराओं और बाँधों को तोड़ सकती हैं। उस स्थिति में व्यक्ति ऐसे कार्य कर सकता है जो सामाजिक स्थिरता के लिए भयावह बन जाए अथवा उसके व्यक्तित्व में क्रांतिकारी उपद्रव उत्पन्न कर दे। एक बार निर्मित हो जाने पर स्वभाव को तोड़ना कठिन होता है। यह हमारे जीवन का प्रतिमान बनकर हमारे व्यक्तित्व का भाग बन जाता है। इस प्रकार, स्वभाव की शक्ति न केवल हमारे दैनिक कार्यों में, अपितु समाज के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण कार्यों में भी अभिलक्षित होती है।

स्वभाव को तोड़ना (Habit breaking)—परन्तु स्वभाव बुरा भी हो सकता है जिसे तोड़ना आवश्यक होगा। उदाहरणतया, मद्यपान, धूम्रपान का स्वभाव अथवा अंधविश्वास एवं निष्क्रियता को उत्पन्न करने वाली आदतें। समीक्षा एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन की सीमा से परे जब कभी स्वभाव अतिपवित्र बन जाता है तो

व्यक्ति तथा समूह का हित खतरे में पड़ जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि स्वभावों पर निरन्तर सोच-विचार होता रहे तथा ऐसे ढंग की खोज की जाए जिससे लाभप्रद आदतों का विकास एवं हानिकारक का परित्याग हो सके। व्यक्तियों की पुरानी आदतों को तोड़कर नई आदतों को स्थापित करने में सावधानी की आवश्यकता है। धूम्रपानकर्ता की आदत को बदलना सुगम नहीं है। जबकि स्वयं स्वभाव के पालन में किसी विशेष मानसिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती, इसको तोड़ने में अत्यधिक एकाग्रता एवं 'इच्छा-शक्ति' की आवश्यकता होती है। व्यक्ति को उसके कार्य से परिचित कराने की आवश्यकता होगी। उसकी आदतों को अर्द्ध-चेतन अवस्था से निकालकर चेतन चयन एवं जागरूकता की स्थिति में लाना होगा। व्यक्ति को उसके कार्य से परिचित करा देने के उपरांत उसे विश्वस्त कराना होगा कि उसका कार्य गलत है। इसमें विशाल प्रयत्नों एवं तर्क-शक्ति की आवश्यकता होगी, क्योंकि व्यक्ति सोच सकता है कि वह जो कुछ कर रहा है, ठीक है। यदि उसे आश्वस्त नहीं करा दिया जाता कि वह गलत है, उसके स्वभाव को बदलना अत्यन्त कठिन होगा।

प्रथा एक सामाजिक तत्व है (Custom is a social phenomenon)—प्रथा मुख्य रूप से उन "क्रियाओं को निर्दिष्ट करती है जिनकी अनेक पीढ़ियों द्वारा प्रायः पुनरावृत्ति होती रही है तथा जिनका अनुसरण केवल इसलिए किया जाता है, क्योंकि भूतकाल में उनका अनुसरण किया जाता रहा है।"[1] बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "प्रथाएँ समूह द्वारा स्वीकृत नियंत्रण की वे पद्धतियाँ हैं जो इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना सोच-विचार हो मान्यता दे दी जाती है और इस प्रकार ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं।"[2] एंडरसन एवं पार्कर (Anderson and Parker) लिखते हैं, "कार्य करने के समरूप स्वीकृत ढंग जिनका हम अनुसरण करते हैं, प्रथाएँ हैं जो परम्परा द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती हैं एवं जो प्रायः सामाजिक स्वीकृति द्वारा प्रभावी बनाई जाती हैं।"[3] श्री सपीर (Sapir) ने लिखा है "प्रथा शब्द का प्रयोग आचरण के प्रतिमानों की उस सम्पूर्णता के लिए किया जाता है जो परम्परा द्वारा अस्तित्व में आते हैं और समूह में स्थायित्व पाते हैं।" प्रथा एक व्यापक शब्द है, जिसमें लोकरीतियाँ एवं लोकाचार दोनों सम्मिलित हैं। दैनिक बोलचाल में 'प्रथा' शब्द को स्वभाव का समानार्थक समझा जाता है, परन्तु दोनों में महत्वपूर्ण अंतर है। स्वभाव व्यक्तिगत तत्व है, जबकि प्रथा सामाजिक तत्व है। प्रथा का निर्माण सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होने पर होता है, अतः इसकी परिभाषा में सामाजिकता

1. "Custom primarily refers to practices that have been oft-repeated by a multitude of generations, practices that tend to be followed simply because they have been followed in the past."—Davis, *op. cit.*, p. 73.
2. "[illegible] ...epted techniques of control ... are taken for granted and ... to generation."—Bogardus, [illegible]
3. [illegible] ... we follow are customs, trans- ... tradition and usually made ... n & Parker, *Society*, p. 34.

का तत्व महत्वपूर्ण तत्व है । प्रथाएँ सामाजिक स्वभाव हैं जो पुनरावृत्ति के माध्यम से सामाजिक व्यवहार की व्यवस्था का आधार बनती हैं । गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "प्रथा वास्तव मे केवल मात्र प्रचलित स्वभाव नहीं है, अपितु कार्य का प्रतिमान अथवा नियम भी है । यह नियम दो प्रकार की शक्तियों द्वारा संवेदनात्मक स्तर पर समर्थित होता है । प्रथमतया, प्रथा से सबद्ध कोई भावना अथवा संवेदनात्मक प्रवृत्तियाँ होती हैं जो इसके उल्लघन की निन्दा करती हैं । इस भावना में कोई तार्किक तत्व, प्रदत्त परिस्थितियो मे क्या प्रत्याशा की जाती है एवं क्या प्रत्याशा की जानी चाहिए, को जानने की आवश्यकता एवं व्यवस्था के महत्व का परिज्ञान, बेशक कितना ही अस्पष्ट हो, वर्तमान होता है । इनके चारो ओर सामाजिक अनुभूतियों का संचय होता है तथा प्रथागत नियमो का पालन एक प्रारम्भिक ढग है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक जीवन के प्रकार के प्रति अनुक्रिया करता है एव समूह के ऊपर अपनी पराश्रितता अनुभव करता है ।"[1]

रास (Ross) के अनुसार, "प्रथा का अर्थ क्रिया करने के एक तरीके का हस्तान्तरण है, परम्परा (tradition) का अर्थ सोचने अथवा विश्वास करने के एक तरीके का हस्तातरण है ।" प्रथाएँ लोगो की दीर्घकाल से स्थापित रीतियाँ हैं । जहाँ कहीं सर्वव्यापी आदत वर्तमान है, वहाँ पर उसी के समान प्रथा भी मौजूद होती है । "प्रथाएँ वे लोकरीतियाँ हैं जो सापेक्षतया दीर्घ काल से चली आ रही हैं जिससे इन्हे औपचारिक स्वीकृति प्राप्त हो गई है एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तारित होती जाती हैं ।"[2] आदतें प्रथाओ की पूर्ववर्ती होती हैं एवं उनका निर्माण करती हैं, यद्यपि कुछ प्रथाएँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमे किसी आदत की पूर्वमान्यता नही होती । उदाहरणतया, विधवा द्वारा अपने पति के शोक मे मातमी लिबास पहनना । प्रथा की विचित्र विशेषता यह है कि यह केवल सामाजिक सम्बन्ध के रूप में वर्तमान होती है तथा व्यक्ति के लिए इसकी बाह्य सपुष्टि होती है । मैकाइवर का कथन है, "प्रथा एक सामूहिक प्रक्रिया है जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है, उसे लागू करने व सरक्षित करने के लिए कोई स्पष्ट अधिनियम नही होता तथा उसकी घोषणा करने के लिए कोई सस्थापित सत्ता नही होती ।"[3] सामान्य स्वीकृति द्वारा प्रथा अनुप्राणित होती है । प्रथा का सामाजिक स्वरूप उन प्रथाओ से अभिव्यक्त हो जाता है जिनका आचरण सामूहिकता के बिना नही किया जा सकता, उदाहरणतया, जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय विभिन्न उत्सव । इन उत्सवो मे लोग इकट्ठा होकर तथा सामान्य अवसर मे भाग लेने से एक-दूसरे मे सामाजिक चेतना उत्पन्न करते हैं । डेविस के अनुसार, "शब्द 'प्रथा' लोकाचारो की अपेक्षा लोकरीतियों के अधिक निकट है, परन्तु यह उन दोनों के परम्परागत, स्वचालित एवं लोक स्वरूप को निर्दिष्ट करती है ।"[4]

प्रथाएँ स्वभाव को जन्म देती हैं (Customs create habits)—यद्यपि प्रथा स्वभाव का फल है, तथापि अनेक प्रथाएँ स्वभाव को जन्म देती हैं एव उनके द्वारा

1. Grinpberg, *Sociology*, p. 153.
2. Lundberg, G. A., *op. cit.*, pp. 293-94.
3. MacIver, op. cit, p. 176.
4. Davis, K., *Human Society*, p. 73.

बल प्राप्त करती हैं। उदाहरणतया, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना, चाहे व्यक्ति अकेला हो। इस प्रकार, प्रथाएँ स्वभाव को जन्म देती हैं एवं स्वभाव प्रथाओं को जन्म देते हैं। दोनों, यद्यपि विभिन्न तत्व हैं, तथापि सामाजिक जीवन में इनका अटूट सम्बन्ध है। प्रथाओं द्वारा स्वभाव के निर्धारण एवं स्वभाव द्वारा प्रथाओ के निर्धारण की प्रक्रिया सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण पक्ष है।

प्रथा एवं स्वभाव में अन्तर को निम्नलिखित सारिणी से स्पष्ट किया जा सकता है—

प्रथा	स्वभाव
१. प्रथा एक सामाजिक तत्व है।	१. स्वभाव व्यक्तिगत तत्व है।
२. प्रथा सामाजिकतया स्वीकृत होती है।	२. स्वभाव सामाजिकतया स्वीकृत नही होता।
३. प्रथा आचारात्मक है।	३. स्वभाव आचारात्मक नही होता।
४. प्रथा का अतिसामाजिक महत्व है।	४. स्वभाव का व्यक्तिगत महत्व अधिक है।
५. प्रथा सामाजिक दृढ़ता को संरक्षित रखती है।	५. स्वभाव व्यक्तिगत क्रिया को सुगम बनाता है।
६. प्रथाएँ आनुवंशिक होती हैं।	६. स्वभाव सीखा जाता है।
७. प्रथा की बाह्य संपुष्टि होती है।	७. स्वभाव की कोई बाह्य सपुष्टि नहीं होती।

२. प्रथा की उत्पत्ति एवं इसके उद्देश्य
(The Origin and Objects of Custom)

प्रथा की उत्पत्ति अस्पष्ट है (The origin of custom is obscure)—कुछेक लेखकों ने प्रथा की उत्पत्ति की खोज निकालने के प्रयत्न किए हैं। उनमे से कुछ का विचार है कि प्रथा की उत्पत्ति न्यायिक निर्णयो से हुई, न कि न्यायिक निर्णयों की प्रथा से। अन्य लेखको का विचार है कि वर्जन (taboo) 'मानवता की प्राचीनतम अलिखित कानूनी संहिता' थी। परन्तु इन विचारों से प्रथा की सामान्य उत्पत्ति हैनरीमेन, फ्रायड एव अन्य लेखकों द्वारा वर्णित ढग से हुई हो, परन्तु प्रथा की सामान्य रूप में उत्पत्ति का प्रश्न अस्पष्ट एव जटिल है। जिस प्रकार यह बतलाना कठिन है कि समाज की उत्पत्ति कब हुई, उसी प्रकार यह बतलाना भी कठिन है कि प्रथा की उत्पत्ति कब हुई। मैक्डूगल (Mc-Dougall) ने लिखा है—

"अनेक प्रथाओं के लक्ष्य एवं उद्देश्य प्राचीनता के अंधकार में लुप्त हो गए हैं। कदाचित् कुछेक प्रथाओं के उद्देश्यों की किसी मानव-मस्तिष्क द्वारा स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई है। किसी प्रथा का जन्म विभिन्न प्रथाओ के मिश्रण अथवा समन्वय के रूप में अथवा 'प्रतिक्रिया के किसी विशुद्ध सवेदात्मक ढंग के माध्यम से अथवा किसी विदेशी प्रतिरूप के पथभ्रष्ट अनुकरण के माध्यम से हुआ होगा। तथापि किसी भी कारण एवं किसी भी उद्देश्य के लिए प्रारम्भ हुई प्रथा एक बार संस्थापित हो जाने पर 'इसका पालन किसी सीमा तक स्वय एक लक्ष्य हो जाता

है तथा मनुष्य उसे असुविधा होते हुए भी संरक्षित रखते हैं, यद्यपि वह किसी लाभदायक लक्ष्य की पूर्ति नहीं करती।"

इस प्रकार, प्रथा की उत्पत्ति के बारे में किसी अकेले नियम का उल्लेख नहीं किया जा सकता। अनेक प्रथाओं की उत्पत्ति मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं विशिष्टतया उसकी आत्म-संरक्षण-प्रवृत्तियों, लैंगिक जीवन, प्रजनन आदि से संबंधित आवश्यकताओं की पूर्तिहेतु हुई। कुछ प्रथाओं को दूसरे व्यक्तियों से अनुकरण द्वारा सीखा गया तथा उनमें से अनेक का जन्म परिवर्तनशील परिस्थितियों से अनुकूलन के परिणामस्वरूप हुआ। अनेक प्रथाएँ अब भी प्रचलित हैं, यद्यपि उनकी उपयोगिता बहुत समय पूर्व समाप्त हो चुकी थी। उनका सहज पालन इसलिए किया जाता है, क्योंकि उनका विकास धीरे-धीरे हुआ है। जब तक प्रथाएं सहज रूप में प्रचलित रहेंगी, वे सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सर्वशक्तिशाली बंधन हैं।

सभी प्रथाएँ तर्कहीन नहीं हैं (All customs are not irrational)—कुछ लेखकों ने प्रथाओं को तर्कहीन बतलाया है। परन्तु यदि हम प्रथाओं के मूल में गहन दृष्टिपात करें तो मालूम होगा कि उनके विरुद्ध तर्कहीनता का दोष वैध नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुछ प्रथाएं एवं क्रियाएं ऐसी हैं जिन्हें किसी उपयोगितावादी अथवा आचारात्मक आधार पर उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता। भारत में ऐसी क्रियाएँ सभी समुदायों में प्रचलित हैं। इस प्रकार, किसी पत्थर अथवा निर्जीव वस्तु को पानी देना अथवा भोजन देना, मृतकों को श्राद्ध खिलाना, बिल्ली के रास्ता काट जाने से यात्रा स्थगित कर देना एवं कई ऐसी अन्य क्रियाओं को अयुक्तियुक्त कहा जा सकता है, परन्तु सभी प्रथाओं को अयुक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। कठिनाई का मूल कारण यह है कि आधुनिक व्यक्ति केवल उन्हीं कार्यों को युक्तिसंगत समझते हैं जिन्हें तार्किक ढंग से प्रमाणित किया जा सके एवं जो विश्वसनीय कार्य हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। अनेक कार्य जिनकी उपयोगिता को तर्कयुक्त नियमों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है, मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक आधारों पर यथेष्ठ रूप में उचित कहे जा सकते हैं। उदाहरणतया, अपने देश के झंडे को सलामी देना, प्रत्येक पुत्र का माता-पिता के प्रातः चरण स्पर्श करना, पर्व के अवसर पर व्यक्ति द्वारा अपने संबन्धियों एवं मित्रों को जलपान कराना, हिंदू पत्नी का पति के पश्चात् भोजन करना। यदि व्यक्ति को किसी प्रथा का अनुसरण करने से मानसिक शांति अथवा सामाजिक प्रशंसा प्राप्त होती है तो उसका अनुसरण करने हेतु ये पर्याप्त युक्तियुक्त आधार हैं।

यह भी ध्यान रहे कि जब प्रथाएँ तर्कहीन प्रतीत होती हैं तो उनमें कभी-कभी सुधार कर दिया जाता है अथवा संबंधित लोगों के विचारपूर्ण मत के कारण समाप्त कर दिया जाता है। भारत में अनेक प्रथाओं को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया है, जबकि अनेक अन्य प्रथाओं को स्वामी दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द जैसे संत नेताओं के उपदेशों के फलस्वरूप सुधार लिया गया है। आजकल भारत का शिक्षित वर्ग पूर्वजों की अनेक प्रथाओं का अनुसरण नहीं करता। भारत में स्त्रियों के मुक्ति-आंदोलन के प्रभावाधीन स्त्रियों में उनके द्वारा पूर्व-अनुसरित प्रथाओं को त्याग देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस प्रकार अनेक प्रथाएँ जो किसी समय प्रचलित थी, अब प्रथाएँ नहीं रहीं हैं।

३. प्रथा की सामाजिक भूमिका
(The Social Role of Custom)

(१) **प्रथाएँ सामाजिक जीवन को नियमित करती हैं** (Custom regulates social life)—प्रथा सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। समाज में प्रथाओं के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। वे इतनी शक्तिशाली होती हैं कि कोई भी व्यक्ति उनकी सीमा से अछूता नहीं रह सकता। वे सामाजिक जीवन को विशेषतया आदिम लोगों में पर्याप्त सीमा तक नियमित करती हैं एवं समाज के जीवन-हेतु आवश्यक हैं। मैक्डूगल (McDougall) ने लिखा है, "समाज की प्रथम आवश्यकता, सामाजिक जीवन की प्रमुख शर्त, बैगहाट के शब्दों में, प्रथा की कठोर परिपाटी थी। जीवन के संघर्ष में केवल वही समाज जीवित रहे जो प्रथा की कठोर परिपाटी को विकसित करने में समर्थ थे जिससे लोगों को संयुक्त रखा जा सका, उनके कार्यों को स्वीकृत मापदण्डों के अनुसार संयोजित किया जा सका, विशुद्ध स्वार्थी रुचियों को नियंत्रित किया जा सका तथा ऐसे नियंत्रण के लिए असमर्थ व्यक्तियों को निष्कासित किया जा सका।"[1]

प्रथाओं का अधिक सहज ढंग से पालन किया जाता है क्योंकि वे धीरे-धीरे विकसित होती हैं। वे सामाजिक समरूपता स्थापित करती हैं क्योंकि व्यक्ति समान व्यवहार-प्रतिमानों का अनुसरण करते हैं।

(२) **प्रथा सामाजिक दाय का भंडार है** (Custom is the repository of social heritage)—वस्तुतः प्रथा सामाजिक पैतृकी का भंडार है। यह हमारी संस्कृति को संरक्षित रखती है तथा उसे भावी पीढ़ियों को हस्तांरित करती है, लोगों को इकट्ठा रखती है एवं उनमें सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करती है। प्रथा द्वारा शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। यह कथन गलत नहीं होगा कि हिन्दुत्व आज प्रथाओं के कारण जीवित है। हिंदू धर्म बहुत समय पूर्व समाप्त हो गया होता, यदि हिंदुओं को प्रथाओं का अनुसरण करने के लिए बाध्य न किया जाता। वे इस्लाम अथवा ईसाई धर्म में अपना धर्म-परिवर्तन कर लेते, यदि धर्म-परिवर्तन को रोकने के लिए हिन्दू प्रथाएँ न होतीं। प्रथाएँ सीखने की प्रक्रिया में सहायता करती हैं। उन्होंने पूर्व ही विशेष समस्याओं के समाधान-हेतु कार्यमार्ग निश्चित किए हुए होते हैं। वे शक्ति की रक्षक हैं। वे अनेक सामाजिक समस्याओं के साथ अनुकूलन में सहायता करती हैं। वे मानव-समाज में स्थायित्व एवं सुरक्षा की भावना प्रदान करती हैं। भाषा जो बालक सीखता है, व्यवसाय जिनका वह परिचय प्राप्त करता है, उपासना की विधियाँ जिनका वह अनुसरण करता है, खेल जो वह खेलता है—सभी उसे प्रथाओं के माध्यम से प्रदान किए जाते हैं।

(३) **प्रथाएँ व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं** (Customs mould personality)—प्रथाएँ व्यक्तित्व-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य प्रथाओं के अधीन रहता है। उसका जन्म, विवाह जो एक प्रथा है, के फलस्वरूप होता है; उसका पालन-पोषण प्रथाओं के अनुसार होता है; एवं जब उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसका अंतिम संस्कार प्रथाओं के अनुसार

1. McDougall, *An Introduction to Social Psychology*, p. 264.

किया जाता है। प्रथाएँ उसकी मनोवृत्तियों एवं उसके विचारों को प्रभावित करती हैं।

(४) प्रथाएँ सार्वभौमिक हैं (*Customs are universal*)—कोई ऐसा देश अथवा समुदाय नहीं है जिसमे प्रथाएँ प्रचलित न हो। कुछ समुदायों मे उन्हे इतना अधिक पवित्र समझा जाता है कि उनके उल्लंघन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। समाज हमसे उनका अनुसरण करने की अपेक्षा रखता है। आदि समाज मे प्रथाओं का पालन सामान्य नियम था एव आज भी आदिम जनजातियो मे ऐसा ही है। मैलीनोस्की (Malinowski) ने ट्रोब्रियाड द्वीपवासियो के बारे मे लिखा है, "इस नियम की सैद्धान्तिक व्याख्या कुछ भी हो, हमे इस तथ्य पर बल देना चाहिए कि प्रथा का कठोर पालन जो प्रत्येक द्वारा किया जाता है, ट्रोब्रियाड मे हमारे निवासियो के मध्य आचरण का प्रमुख नियम है।" भारत में पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार के कारण प्रथाओं का पालन शिथिल पड गया है, तथापि देश की वृद्धा स्त्रियाँ उनका पालन करती रहती हैं। लम्बे समय के बाद अपने सम्बन्धियों से मिलने पर वे रोती हैं और अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर वे विभिन्न संस्कारो के समय भी रोती है। कन्या के विदा होते समय किसी के द्वारा विवश किए बिना उनकी आँखो से अश्रु बहने लगते हैं। न्यूजीलैंड के म्योरी लोग अपने स्नेह के प्रतीक रूप म एक-दूसरे के साथ नाक रगड़ते हैं तथा पुलावट-कैरोलीन द्वीपो की स्त्रियाँ पुरुषो की उपस्थिति मे घुटने टेक कर चलती है।

अतः स्पष्ट है कि प्रथाएँ हमारे सामाजिक व्यवहार को नियमित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। वे हमारी संस्कृति को निर्धारित करती है, इसका संरक्षण करती हैं एव इसे एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तांरित करती हैं। उन्हे समाज के अस्तित्व के लिए नितांत आवश्यक समझा जाता है तथा इतना पवित्र माना जाता है कि उनका कोई उल्लंघन न केवल एक चुनौती अथवा अपराध, अपितु ईश्वर के प्रकोप को आमंत्रित करने वाला अधार्मिक कार्य भी समझा जाता है। प्रथाओं का मनुष्यों के ऊपर इतना शक्तिशाली प्रभाव होता है कि उन्हे 'मनुष्यो का राजा' कहा जा सकता है। अपनी नियंत्रण-शक्ति के कारण प्रथा शेक्सपियर द्वारा 'क्रूर' (tyrant), मॉन्टेन (Montaigne) द्वारा "क्रोधित स्कूल-अध्यापिका" (violent schoolmistress) एव बेकन (Bacon) द्वारा "मनुष्य के जीवन का प्रमुख न्यायाधीश" (principal magistrate of man's life) कहा गया है। प्रथाओं का कानून की अपेक्षा कम विचलन के साथ पालन किया जाता है। उनका पालन केवल इस कारण नहीं किया जाता कि वे परम्परागत रूप में समाज द्वारा आरोपित की जाती है, अपितु इसलिए किया जाता है कि लोगो की वैयक्तिक भावनाएँ उनका समर्थन करती हैं।

प्रथा लोकतंत्रीय एवं समग्रवादी दोनो है। यह लोकतंत्रीय इसलिए है क्योंकि इसका निर्माण समूह द्वारा होता है तथा प्रत्येक व्यक्ति इसके विकास मे योगदान देता है। यह समग्रवादी इसलिए है क्योंकि यह आत्म-अभिव्यक्ति, सार्वजनिक एवं निजी, के प्रत्येक क्षेत्र को हमारे विचारों, विश्वासों एवं ढंगों को प्रभावित करती है।

प्रथाओं की शक्ति जटिल समाज मे जहाँ अवैयक्तिक सम्बन्ध वैयक्तिक संपर्क का अधिकतर स्थान ले लेते हैं और जहाँ व्यक्तियों के ऊपर समूह का समग्र रूप में प्रत्यक्ष नियंत्रण समाप्त हो जाता है, कम हो जाती है। आधुनिक समाज में प्रथाओं की शक्ति शिथिल हो गई है। मानहीम (Mannheim) के अनुसार, धन की अर्थ-व्यवस्था प्रथाओं को विघटित कर देती है क्योंकि उनकी कार्यप्रणाली अत्यधिक धीमी होती है। आधुनिक समाज को कानूनी नियमों की आवश्यकता है जिन्हें तुरन्त एवं समान रूप से आरोपित किया जा सकता है।

४. कानून का अर्थ

(The Meaning of Law)

आदि समाजो मे लोकरीतियाँ, लोकाचार एव प्रथाएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए यथेष्ठ थे, क्योंकि उनका लगभग सभी के द्वारा पालन किया जाता था। परन्तु जैसा ऊपर बतलाया गया है, आधुनिक सभ्य समाजो मे उनका प्रभाव शिथिल हो गया है, जिसके फलस्वरूप राज्य व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने हेतु कानूनों का निर्माण करता है। प्रथा से कानून म परिवर्तन आधुनिक समाज मे सामान्य युक्तियुक्तिकरण का केवल एक भाग है।

विभिन्न परिभाषाएं (Vario [illegible]
से परिभाषित किया गया है। स[illegible]
संहिताबद्ध लोकाचार हैं। कांट (K[illegible]
जो किसी कार्य को आवश्यकता को [illegible]
हैं, "कानून मानव प्राणियों द्वारा अपनी प्रवृत्ति एवं प्रकृति के अनुसार किए गए अनेक मूल्यांकनो में एक की अभिव्यक्ति है।" ग्रीन (Green) के अनुसार, "कानून परिवर्तन के तथ्य एवं निष्पादन की कल्पना के मध्य संतुलित सामान्यीकृत नियमों का न्यूनाधिक क्रमबद्ध समूह है जो विशिष्टतया परिभाषित सम्बन्धों एवं स्थितियों को शासित करता है तथा परिभाषित एव सीमित ढग मे बल अथवा उसके भय को प्रयुक्त करता है।"[1] ड्यूगिट (Duguit) के अनुसार, "कानून आचारण के वे नियम हैं जिन्हें सामान्य व्यक्ति सामाजिक जीवन के लाभों को उन्नत एवं सुरक्षित करने हेतु पालन करना आवश्यक समझते हैं।" मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "कानून नियमों का ऐसा समूह है जो राज्य के न्यायालयों द्वारा स्वीकृत होते हैं और जिनकी वे व्याख्या करते हैं तथा विशेष परिस्थितियों मे उन्हें लागू किया जाता है।"[2] कारडोजो (Cardozo) के अनुसार, "कानून आचरण का वह

1. "Law is a more o less systemat c body of generalized rules, balanced between the fiction of performance and the fact of change, governing specifically defined relationships and situations, and employing force or the threat of force in defined and limited ways."—Green, Arnold, *Sociology*, p. 530.

2. "Law is the body of rules which are recognized, interpreted and applied to particular situations by the courts of the State."—MacIver and Page, *Society*, p. 175

सारभूत नियम है जिसे इस निश्चितता से प्रतिपादित किया जाता है कि यदि भविष्य मे उसकी सत्ता को चुनौती दी गई तो उसे अदालतो द्वारा लागू किया जाएगा।"[1] मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "कानून एक व्यवस्था है जिसकी वैधता इस सभाविता द्वारा विश्वस्त होती है कि विचलन, विशिष्ट रूप से प्राधिकारयुक्त अधिकारियों द्वारा, शारीरिक अथवा मनोवैज्ञानिक सपुष्टियों द्वारा दंडित किया जाएगा। हर्ट्ज़लेर (Hertzler) लिखता है, "कानून वास्तव में समाज मे शक्ति-सम्बन्धों (अधिकारी-निम्नस्थ) की सरचना करता है; यह दोनो शासकीय एवं अशासकीय संगठनों एव सम्बन्धों मे वस्तुस्थिति को कायम रखता है और विभिन्न व्यक्तियों को एक-दूसरे के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है।" रास्को पाउण्ड (Roscoe Pound) के अनुसार "कानून राजनीतिक रूप से सगठित समाज की शक्ति द्वारा निर्धारित प्राधिकारयुक्त मूल्य-नियम है।" आस्टिन (Austin) के अनुसार, "कानून श्रेष्ठ शक्ति का निम्न शक्ति को दिया गया आदेश है।" वह लिखता है, "कानून उचित अर्थ में आदेश का प्रकार है, परन्तु आदेश होने के कारण प्रत्येक कानून किसी निश्चित स्रोत से उद्भूत होता है अथवा इसका कोई निश्चित निर्माता होता है।" बीरस्टीड (Bierstedt) के अनुसार, "कानून केवल उन्ही समाजों में होते हैं जिनका एक राजनीतिक सगठन होता है। कानून व्यवस्थापिका द्वारा स्पष्ट रूप से बनाए जाते हैं अथवा राजनीतिक अधिकारियो द्वारा विधेयकों के रूप में घोषित किए जाते हैं।" विल्सन (Wilson) के अनुसार, "कानून स्थापित विचारों और आदतों का वह अग है जिन्हें नियमों के रूप मे विशेष उपयुक्त मान्यता दे दी गई हो तथा जिन्हे राज्य की शक्ति और अधिकार का बल प्राप्त हो।" हालैण्ड (Holland) के अनुसार, "मानव की बाह्य क्रियाओ को नियंत्रित करने के लिए एक प्रभुतासम्पन्न राजनैतिक सत्ता द्वारा लागू किए गए सामान्य नियम ही कानून हैं।"

दो उपागम (Two approahes)—इस प्रकार लेखकों मे कानून की परिभाषा के बारे मे पर्याप्त मतभेद है। जो लेखक कानून को विधिवेत्ता की दृष्टि से देखते है, वे इसे प्रभुसत्ता अथवा राज्य के आदेश कहकर परिभाषित करते हैं। जो इसका समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण लेते हैं, उनके अनुसार कानून सही आचरण के नियम हैं। प्रश्न यह है कि क्या शब्द 'कानून' को उस विशिष्टीकृत प्रणाली के रूप मे परिभाषित करें, जिसकी सहिताएँ होती हैं, विवादो का निर्णय करने के लिए न्यायालय होते हैं तथा नियमो का उल्लंघन करने वालो को दंड दिया जाता है; अथवा इसे नियंत्रण के समान प्रकार की केवल मात्र विशिष्टताएँ कहा जाए जो असगठित रूपो मे, परन्तु साधारण अर्थ मे समझे जाने वाली 'कानूनी सपुष्टियो' के बिना पाई जाती हैं।

पूर्वोक्त विचारधारा के लेखको का तर्क है कि विधिशास्त्र मे 'कानून' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ मे किया गया है, जबकि उत्तरोक्त विचारधारा के लेखकों का मत है कि आदिम लोगों में कानून कहे जाने वाले नियम प्रचलित थे

---

1. [illegible] established as to justify a [illegible] enforced by the [illegible] N., *The Growth of Law*, p. 52.

तथा ऐच्छिक समुदायों, यथा ट्रेड-यूनियन, क्लब, विश्वविद्यालय, परिवार के नियम मनुष्य के व्यवहार को देश के कानून की भाँति ही नियमित करते हैं। राज्य द्वारा अधिनियमन अथवा आरोपण कानून के अनिवार्य तत्व नहीं समझे जाने चाहिए। पोलाक (Pollock) ने लिखा है, "यदि हम परवर्ती रोमन साम्राज्य एवं आधुनिक पश्चिमी सरकारों की विशाल प्रणालियों से अपनी दृष्टि हटाकर अतीत की ओर देखें तो ज्ञात होगा कि न केवल अधिक औपचारिकतासहित कानून का उससे पूर्व भी अस्तित्व था, अपितु राज्य के दमनकारी साधनों के पहले भी कानून का अस्तित्व था।"

इसका अर्थ है कि कानून के दो अर्थ लिए जा सकते हैं। व्यापक अर्थ में, इसमे मनुष्य द्वारा स्वभावगत अनुपालित आचरण के सभी नियम सम्मिलित हैं। संकुचित अर्थ में, इसमे राज्य द्वारा निर्मित एवं न्यायालयों द्वारा व्याख्याकृत नियम ही सम्मिलित हैं। प्रथा उसी समय कानून का रूप धारण करती है जब राज्य उसे नागरिकों के ऊपर बाध्यकारी नियम के रूप मे आरोपित करने को तैयार हो। प्रथा एवं कानून के मध्य भ्रम से बचने के लिए 'कानून' शब्द का संकुचित अर्थ में ही प्रयोग करना श्रेष्ठतर होगा, अर्थात् ऐसे नियम जो राज्य के विशिष्ट अभिकरणों द्वारा निर्मित, व्याख्याकृत एवं आरोपित किए जाते हैं।

कानून की विशेषताएं निम्नलिखत हैं--

(i) प्रथमतया, कानून राज्य द्वारा अपने सदस्यों के लिए निर्धारित मानवी क्रिया की सामान्य अवस्थाएं हैं।

(ii) द्वितीय, कानून उसी दशा में कानून है, यदि इसका उचित कानून-निर्माण-सत्ता द्वारा निर्माण किया गया है। यह चेतन विचार, नियोजन एवं विचार-शील निर्माण की उपज है।

(iii) तृतीय, कानून निश्चित, स्पष्ट एवं सुनिश्चित होता है।

(iv) चतुर्थ, कानून समान परिस्थितियों मे सब पर समान रूप से लागू होता है।

(v) अंतिम, कानून के उल्लंघन पर राज्य की सत्ता द्वारा निर्धारित दंड मिलता है।

प्रथा एवं कानून में अंतर (Difference between Custom and Law)

कानून एवं प्रथा की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए इन दोनो के मध्य अन्तर पर दृष्टिपात किया जा सकता है--

(i) कानून निर्मित है; प्रथा विकसित (Law is a make; custom is a growth)--कानून का राज्य की निश्चित शक्ति द्वारा स्पष्टतया एवं विचारपूर्वक निर्माण किया जाता है, जबकि प्रथा एक समूहगत प्रक्रिया है जिसका धीरे-धीरे विकास हुआ है और जिसका निर्माण किसी सत्ता द्वारा स्पष्ट रूप से नहीं किया जाता। प्रथा किसी आदेश अथवा निर्देश के बिना सहज रूप मे विकसित होती है। कानून का सोच-विचारपूर्वक निर्माण किया जाता है एवं इसको क्रियान्वित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, कानून निर्मित वस्तु है तो प्रथा विकसित।

(ii) कानून को आरोपण हेतु विशिष्ट अभिकरण की आवश्यकता है, परन्तु प्रथा को नहीं (Law needs a special agency for enforcement, custom does not)—कानून एक विशिष्ट अभिकरण द्वारा लागू किया जाता है तथा इसके पीछे संगठित दमनात्मक सत्ता की संपुष्टि होती है; प्रथा के क्रियान्वन हेतु किसी विशेष अभिकरण की आवश्यकता नहीं होती, यह सहज सामाजिक क्रिया द्वारा क्रियान्वित होती रहती है। प्रथा के उल्लंघन पर कोई शारीरिक दंड नहीं मिलता, जबकि कानून का उल्लंघन करने पर इस प्रकार का दंड दिया जाता है। राज्य बालक को, यदि वह प्रत्येक दिन प्रातः अपने माता-पिता के चरण स्पर्श नहीं करता, दंड नहीं देगा।

(iii) कानून विशिष्ट है, प्रथाएँ नहीं (Law is specific, customs are not)—कानून विशिष्ट, निश्चित एवं स्पष्ट होता है। व्यक्ति कानून की पुस्तकें पढ़ कर जान सकता है कि देश के कानून क्या हैं। प्रथाएँ, दूसरी ओर, स्पष्ट एवं निश्चित नहीं होती। उन्हें किसी पुस्तक में संहितावद्ध नहीं किया जाता जिससे व्यक्ति के लिए देश की सभी प्रथाओं का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(iv) कानून प्रथा की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण एवं अनुकूलनीय होता है (Law is more flexible and adaptable than custom)—कानून स्वयं को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलित कर सकता है, जबकि प्रथाओं को सरलता से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। प्रथाओं का स्वरूप सापेक्षतया स्थिर एवं स्थायी होता है। संकटकालीन परिस्थिति में कानून को संकट का सामना करने के लिए तुरन्त बदला अथवा नए कानून का निर्माण किया जा सकता है। भारत में जब केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों ने समुदाय के जीवन को पंगु बनाते हुए हड़ताल कर दी थी तो भारत सरकार ने तुरन्त स्थिति का सामना करने के लिए कानून द्वारा अनिवार्य सेवाओं में हड़ताल को अवैध घोषित कर दिया था। समाज जितना गतिशील होगा, उसमें पारम्परिक प्रथाओं पर कम निर्भरता होगी, और अधिक निर्भरता नए निर्मित कानूनों पर होगी। रास्को पाउण्ड (Roscoe Pound) ने कहा, "कानून को स्थिर होना चाहिए, तथापि यह अचल नहीं खड़ा रह सकता।" इस प्रकार, कानून प्रथा की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण एवं अनुकूलनीय होता है। पूर्वोक्त को सापेक्षतया अधिक सुगमता से निर्मित, परिवर्तित एवं समाप्त किया जा सकता है, जबकि उत्तरोक्त को अनुकूलित करना अथवा सुधारना कठिन कार्य होता है।

(v) प्रथाएँ औपचारिक समाप्ति एवं किसी सत्ता द्वारा मान्यता के बिना ही समाप्त हो जाती हैं, परन्तु कानून मान्यता-प्राप्त सत्ता द्वारा ही समाप्त किए जा सकते हैं (Customs fade and disappear without formal abolition and without recognition by any authority, but laws disappear only when abolished by a recognized authority)—जिस प्रकार कानून को लागू किए जाने के लिए इसका औपचारिक अधिनियमन आवश्यक है, उसी प्रकार इसके बाध्यकारी प्रभाव को बंद करने के लिए इसकी औपचारिक समाप्ति भी आवश्यक है।

(vi) कानून प्रथा की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी होता है (Law is more idealistic than custom)—कानून प्रथाओं की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी होता

है। यह मस्तिष्क की उपज है एवं ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु बनाया जाता है जो समाज की वास्तविक क्रिया से उच्च होते हैं। प्रथा अनुभव की उपज है एवं इसका प्रमुख सम्बन्ध जीवन की दैनिक क्रिया से होता है। कानून प्रथाओं में सुधार करता है एवं ऐसी प्रथाओं को, जो परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल नहीं रहतीं, समाप्त करता है। उदाहरणतया, हिंदू कोड बिल ने हिंदुओं में विवाह, सम्बन्ध-विच्छेद एवं उत्तराधिकार-सम्बन्धी अनेक प्रथाओं को समाप्त कर दिया है।

(vii) **कानूनों का सम्बन्ध प्रायः सामाजिक जीवन के मौलिक तत्वों से होता है, जबकि प्रथाओं की विषय-वस्तु साधारण एवं परिचित होती है** (Law generally deals with matters which are vital to the life of society, whereas the subject matter of custom is more ordinary and familiar)—अधिकारियों को संबोधित करते अथवा भोजन खाते अथवा पर्व मनाते समय हम जिन प्रथाओं का पालन करते हैं, वे साधारण स्तर से उच्च नहीं होतीं, परन्तु संगीत अथवा साहित्य की राष्ट्रीय एकेडमी स्थापित करने अथवा कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने, राष्ट्रीय कैडेट कोर की सदस्यता अनिवार्य बनाने, बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने से संबधित कानून सामाजिक संरचना पर गहन प्रभाव डालते हैं।

कानून एवं प्रथा एक-दूसरे के सहायक एवं पूरक हैं (Law and custom supplement and complement each other)—यद्यपि प्रथा का स्वरूप कानून के स्वरूप से भिन्न है, तथापि उनमे ध्रुवीय पृथकता नही है। दोनों एक-दूसरे के पूरक एवं सहायक हैं। क्रियाएं जिनका किसी समय अचेतन रूप में पालन होता था, अब उनको चेतन रूप में संहिताबद्ध कर दिया गया है। मेन (Maine) के अनुसार, कानून के लिए स्वयं को सामाजिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक मत के अनुसार अनुकूलित करने की सदा आवश्यकता बनी रहती है। यदि कानून समाज की नैतिक सहमति को अभिव्यक्त करता है तो इसे प्रभावी रूप से क्रियान्वित किया जाता है। यदि इसके पीछे दृढ़ नैतिक सहमति नहीं है तो इसको प्रभावी रूप से क्रियान्वित करना कठिन हो जाएगा। प्रथा से विच्छेदित कानून कृत्रिम हो जाता है जिसका लोग पालन नहीं करते। बाल विवाह को अवैध घोषित करने वाले शारदा कानून का उदाहरण लीजिए। लोग इस कानून का पालन करने की अपेक्षा इसका उल्लंघन अधिक करते हैं। ऐसा कानून, जो प्रथाओं को राजकीय मान्यता प्रदान नहीं करता, उस भावना की शक्ति को खो देता है जो प्रथाओं के पीछे होती है एवं जो उनके पालन में सहायता देती है। एडमंड बर्क (Edmund Burke) ने कहा, "कानूनों की अपेक्षा परिपाटियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। उनके ऊपर कानून अधिकतया निर्भर है। कानून तो हमे केवल कुछेक अंशों में ही छूता है, परन्तु परिपाटियाँ वायु की भाँति जिसमें हम श्वास लेते हैं, सतत्, स्थिर, एकरूप एवं अचेतन प्रक्रिया द्वारा सांत्वना अथवा कष्ट देती हैं, पवित्र अथवा भ्रष्टाचारी बनाती हैं, घृणित अथवा प्रशंसित बनाती हैं, पशु अथवा मानव बनाती हैं।" प्रथाएँ कानून को दृढ़ता प्रदान कर इसके अनुपालन को सुगम बनाती हैं। यदि कानून को प्रथाओं की सहायता प्राप्त न हो तो वह सफल नहीं हो सकता है। जिन कानूनों को प्रथाओं का समर्थन प्राप्त नहीं होता

उनकी सफल क्रियाशीलता की कम संभावना होती है। यदि प्रथाएँ किसी कानून का दृढ़ विरोध करती हैं तो वह कानून स्थायी रूप धारण नहीं कर सकता। प्रथा कानून का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इंग्लैंड का 'कामन ला' प्रथाओं पर आधारित है। प्रथाओं के विरुद्ध पारित कानून उस स्थिति में प्रभावी हो सकता है, जबकि उन प्रथाओं से सम्बन्धित लोकाचार विघटन की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं एवं अधिकांश लोग उनका पालन नहीं करते, क्योंकि ऐसी स्थिति में केवल कुछेक अनिच्छुक लोगों को ही नए कानून को स्वीकार कराने के लिए बाध्य करना होता है। अतएव स्पष्ट है कि कानून प्रभावी बनने हेतु सामाजिक अवलम्ब की अपेक्षा रखता है।

जिस प्रकार प्रथा कानून को पूरित करती है, उसी प्रकार कानून भी प्रथा का पूरक है। कानून एक शिक्षक के रूप में कार्य करता है। यह नैतिक सहमति उत्पन्न करता है। आजकल कानून को दकियानूसी प्रथाओं, यथा अस्पृश्यता, दहेज-प्रणाली, बाल-विवाह आदि को समाप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है। आदिम समाजों में प्रथा जीवन के आचरण को संचालित करने के लिए यथेष्ठ थी, परन्तु आधुनिक नगरीय-औद्योगीकृत समाजों में प्रथाएँ धूमिल पड़ गई हैं एवं नए विकसित हितों ने उन्हें चुनौती दी है। ऐसे समाज में, जहाँ लोग परिवार अथवा प्रदेशीय समुदाय के हितों से नहीं, अपितु विशाल संघों में सहभागी हितों से अधिक अभिप्रेरित होते हैं, प्रथाएँ आचरण का कम मार्गदर्शन करती हैं तथा उस पर कम सीमाएँ लगाती हैं। आज कानून का सम्पूर्ण सामाजिक नियंत्रण में पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक भाग है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम, प्रथा में प्राधिकारयुक्त सत्ता का अभाव है जिसके कारण समुदाय के हित सुरक्षित नहीं रहते। हितों की शांतिपूर्वक पूर्तिहेतु प्रवर्तन के विशिष्ट अभिकरण की आवश्यकता है। द्वितीय, प्रथा स्वयं को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र अनुकूल नहीं कर सकती। स्थिर एवं स्थायी होने के कारण प्रथाएँ अत्यधिक धीमी गति से परिवर्तित होती हैं। सामाजिक आवश्यकताएँ प्रथा से सदा अग्रगामी होती हैं। अतएव सामाजिक आवश्यकताओं के समाधान एवं परिवर्तित दशाओं के अनुसार अनुकूलित करने हेतु अन्य प्रकार की संहिता की आवश्यकता पड़ती है। एक ऐसी संहिता जिसका धीरे धीरे विकास नहीं होता, अपितु जिसे स्थिति के समाधान हेतु तुरन्त निर्मित किया जाता है। इस प्रकार, मोटर के आगमन से यातायात के नियमों का स्थापन आवश्यक हो गया। रेडियो के आरम्भ-काल में वायुमार्ग स्वतंत्र थे, किन्तु रेडियो के अधिक विकास से विधि-सम्बन्धी संचालन आवश्यक हो गया। केवल कानून ही आधुनिक सभ्यता के शीघ्र परिवर्तनों को सन्तुलित रख सकता है। तृतीय, चूँकि विभिन्न समूहों की विभिन्न प्रथायें होती हैं, अतएव आचरण का एकमात्र एवं समान नियम बनाने के लिए, जहाँ ऐसा करना वांछनीय हो, प्रथा को कानून द्वारा अनुपूरित करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कारण आधुनिक राज्यों में विधिक संहिताओं की वृद्धि के कारण की व्याख्या करते हैं। प्रत्येक राज्य में कानून के आकार में वृद्धि हो रही है। आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक विकासों ने प्रत्येक स्थान पर कानून की मात्रा में

अत्यधिक वृद्धि कर दी है। वास्तव में, कानून का आकार इतना विशालतर हो गया है कि साधारण नागरिक इसके आकार एवं इसकी जटिलता पर अपनी पराश्रितता को देखकर चकित हो जाता है। परन्तु इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिए कि कानून एवं प्रथा, दोनों अन्योन्याश्रयी हैं।

४. कानून एवं प्रथा के संघर्ष
(The Clashes of Law and Custom)

प्रायः राज्य ऐसे कानून का निर्माण कर देता है जो लोगों की प्रथाओं पर आक्रमण करता है। ऐसी स्थिति मे प्रथा एवं कानून के मध्य संघर्ष हो जाता है, जिससे व्यक्तियो के सम्मुख यह कठिनाई आती है कि वे कानून का पालन करें अथवा प्रथा का। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कानून एवं प्रथा के बीच संघर्ष की स्थिति मे लोग कानून के स्थान पर प्रथा का पालन करते हैं। जब कानून प्रथा पर आक्रमण करता है तो इसे काफी हद तक बल की संपुष्टि पर निर्भर रहना पड़ेगा। लोगों को प्रथा के विपरीत कानून का पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, परन्तु उनके द्वारा यह पालन केवल अनैच्छिक एवं अस्थायी होगा। बाध्यकृत आज्ञापालन प्रतिरोध उत्पन्न कर सकता है, जो कानून की सत्ता के लिए हानिकारक है। मैकाइवर ने लिखा है, "जब प्रथाओं पर आक्रमण किया जाता है तो प्रथा उल्टे कानून पर आक्रमण करती है। वह न केवल अपने विरोधी उस विशेष कानून पर आक्रमण करती है, अपितु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कानून पालन करने की भावना है, सामान्य इच्छा की एकता पर आक्रमण करती है।"[1] प्रथा की कानून के ऊपर यह श्रेष्ठता है कि उसका लोगो द्वारा सहज ही पालन किया जाता है। हमे बाहर से ऐसा मालूम नही होता कि वह हमारी आज्ञापालन की मांग करता है। अतः ऐसा कानून जो प्रथा पर आक्रमण करता है, उसमें प्रभावी क्रियाशीलता के आवश्यक समर्थन के आधार का अभाव होता है। अन्ततः कानून को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करनी होगी, जिसके बिना वह सफल नहीं हो सकता। इसे सामाजिक परिवर्तन के तत्वों के साथ, न कि विपरीत चलना होगा। यद्यपि कानून के पीछे सरकार की शारीरिक शक्तियों का बल होता है, परन्तु इनसे कानून के प्रति क्रियाशील अनुपालन प्राप्त नही हो सकेगा, यदि कानून संबधित व्यक्तियों एव समूहों की औचित्य-भावना का काफी सीमा तक उल्लंघन करता है।

ऊपर हमने शारदा कानून का उदाहरण दिया। इसी प्रकार अस्पृश्यता-विरोधी कानून, हिन्दू विवाह कानून, मद्यपान निषेध कानून को लीजिए। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि कानून कुछ प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न तो कर सकता है, परन्तु यह लोगों के उन आचरणगत अभ्यासों को नियंत्रित नही कर सकता जो अज्ञान एवं सामूहिक पूर्वाग्रहो मे दृढ होते हैं।

---

1 "Custom when attacked, attacks law in turn, attacks not only the particular law which opposes it, but, what is more vital, the spirit of law-abidingness, the unity of the general will."—MacIver, *The Modern State*, p. 161.

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया है, कभी-कभी राज्य प्रथाओं के विरोधी कानूनों का निर्माण कर देता है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि *ऐसे कानूनों का निर्माण किस* प्रकार हो जाता है। उत्तर है 'दबाव-समूह'। प्रत्येक समाज में कुछ दबाव-समूह कानून-निर्मात्री निकाय पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे समूह अपने स्वार्थी हितों की पूर्तिहेतु ऐसे कानून अधिनियमित करवा लेते हैं जो समाज के शेष भाग की भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं। ऐसे समूहों मे सरकार स्वयं एक ऐसा समूह है। शासक समूह अपनी सत्ता को अक्षुण्य बनाए रखना चाहता है जिससे अभिप्रेरित होकर यह शासकीय यंत्र को अपने हितों के समरूप प्रयुक्त करता है। निरंकुश तंत्र में तानाशाह स्पष्ट रूप से ऐसा करता है, परन्तु प्रजातंत्र में भी शासक समूह राज्य के संगठित समूहों का समर्थन एवं सहयोग प्राप्त करने हेतु उन्हें संतुष्ट करने का प्रयत्न करता है तथा उन्हें प्रत्येक प्रकार की वैध अथवा अवैध सहायता देता है। ऐसे समूह सामान्य जनता के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। आधुनिक समाज में दबाव-समूहों की विधान-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका पर बल देने की कदाचित् आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह स्वतः स्पष्ट है।

यह भी कहा गया है कि परिवर्तन-काल में कानून समाज के अन्य पक्षों की अपेक्षा पीछे रह जाता है। परन्तु यह आवश्यक रूप से सत्य नहीं है। कानून को प्रायः सामाजिक सुधार के अभिकरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार अस्पृश्यता उन्मूलन कानून, हिन्दू कोड बिल, शारदा कानून, मद्य-निषेध कानून प्रगतिशील कानून हैं; वे निश्चित रूप से प्रथाओं से आगे हैं। बीसवीं शताब्दी में, सभी देशों में प्रबुद्ध विधान पारित किया गया है। इस प्रकार, कानून सदैव प्रथा से पीछे नहीं रहता। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, कानून का एक गुण यह है कि स्वयं को समाज की परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलित कर लेता है एवं समाज में स्थिरता को बनाए रखता है, जबकि तीव्र परिवर्तन समाज में सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर रहे होते हैं। कानून परिवर्तनों से उत्पन्न लाभों एवं हानियों को समंजित करने में समाज की सहायता करता है। अन्तिम, सामाजिक संरचना *जिसमें सम्बन्धों का गठन होता है, को प्रभावित करके कानून राष्ट्रीय एवं* अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक परिवर्तन का एक प्रबुद्ध साधन बन सकता है। परन्तु यदि कानून समाज में परिवर्तन की प्रवृत्तियों से अत्यधिक आगे है अथवा पीछे है तो यह अक्रियान्वित रहता है। यदि परिवर्तन की प्रक्रियाओं के साथ इसकी संगति है तो यह परिवर्तनों को संस्थापीकृत एवं उनकी गति को तीव्र करता है।

कभी-कभी कानून सामाजिक परिवर्तन से पीछे रह जाता है। परन्तु इसका कारण विधान-निर्मात्री अंगों की समय के साथ रहने की असमर्थता नहीं है, अपितु दबाव-समूहों की भूमिका एवं विधान-निर्माणकारी अंगों पर उनके आनुपातिक प्रभाव की कमी है। प्रायः सभी कानून कुछ समूहों की मांगों, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से विधान मंडल में प्रस्तुत की जाती हैं, को पूरा करने के लिए पारित किए जाते हैं। कानून किन मांगों को मान्यता प्रदान करेगा, यह मांग करने वाले समूहों की शक्ति पर निर्भर करता है। राजनीतिक दल स्वयं दबाव-समूहों का योग है।

आजकल कानूनी व्यवस्था समाज में सर्वाधिक शक्तिशाली समूहों के दबावों की उपज है। शक्तिशाली समूह से तात्पर्य है समूह से मिलने वाले मतों की संख्या, इसके पास उपलब्ध धन, इसके संगठन की सशक्तता, इसके लाबीकर्ताओं का चातुर्य एवं जनमत से इसे प्राप्त होने वाला समर्थन।

५. शोभाचार का अर्थ

(The Meaning of Fashion)

शोभाचार भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है। वाणी, मत, विश्वास, मनोरंजन, पोशाक, संगीत, कला एवं साहित्य आदि विषयों के बारे में शोभाचार लागू होता है। इस अध्याय के शेष भाग में हम इसकी प्रमुख विशेषताओं एवं समाज में इसकी भूमिका का अध्ययन करेंगे।

हरबर्ट स्पेंसर (Herber Spencer) ने शोभाचार को प्रथागत भेदों को दूर करने वाला माना है। *गैब्रील टार्ड (Gabriel Tarde) ने इसे 'समकालीनों का* अनुकरण' कहा है, जबकि प्रथा 'पूर्वजों का अनुकरण' है। मैकाइवर के अनुसार, "प्रथागत विषय पर भेद की सामाजिक रूप से स्वीकृति परम्परा है।"[1] लुंडबर्ग (Lundberg) के अनुसार, "शोभाचार वे लोकरीतियाँ हैं जो केवल अल्प समय तक जीवित रहती हैं।"[2] ई० ए० रास (E A. Ross) ने लिखा है, "शोभाचार लोगों के समूह के चयनों में आवृत्तशील परिवर्तनों की मात्रा है जिनकी यद्यपि उपयोगिता हो सकती है, परन्तु जो इसके द्वारा निर्धारित नहीं होती।"[3] किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "शोभाचार अथवा फैशन प्रचलित अथवा वर्तमान रीति, विधि-अभिव्यक्ति की विशेषता अथवा इसका ढंग अथवा उन विशेष सांस्कृतिक लक्षणों की अवधारणा अथवा प्रस्तुति है जिन्हें स्वयं प्रथा परिवर्तित होने देती है।"[4] शोभाचार के अर्थ में कुछ आदतें निहित है जिनमें शोभाचारीय परिवर्तन होते हैं। यह नवीनता की आकांक्षा एवं अनुरूपता की आवश्यकता के मध्य संधि है। इस प्रकार, नायलोन की साड़ी पहनना, ऊँची एड़ी के जूते पहनना, गोल कटे केश रखना, क्रिकेट खेलना, दीवानखाने को चित्रकारी से सज्जित करना, युगल रूप में निकलना सभी शोभाचार के उदाहरण है।

---

1. "Fashion is the socially approved sequence of variation on a customary theme."—MacIver, *op. cit*, p. 181.
2. "Fashions are folkways that survive for only a short time "—Lundberg, *op cit*, p. 294.
3. "Fashion is a series of recurring changes in the choices of a group of people which, though they may be accompanied by utility, are not determined by it."—Ross, E A, *Social Psychology*, p 941.
4. "Fashion is the current or prevailing usage, mode, manner or characteristic of expression, presentation, or conception of those particular cultural traits which custom itself allows to change" —Young, Kimball, *Handbook of Social Psychology*, p. 411.

शोभाचार के अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए इसका शिष्टाचार (etiquette) एवं परम्परा (convention) से अंतर किया जा सकता है। परम्परा एवं शिष्टाचार सामाजिक सम्बन्धों में केवल मात्र सुविधा के विषय हैं, जिनका कोई महत्वपूर्ण अर्थ नहीं होता है। परम्परा उन परिपाटियों का निर्देशन करती है जिनका प्रदत्त परिस्थितियों में सामाजिक सम्बन्धों द्वारा अनुसरण किया जाना चाहिए। ये परिपाटियाँ केवल सामाजिक समझौता होती हैं। वे सामाजिक रूप में स्वीकृत प्रक्रियाएँ हैं। वे सामाजिक सम्बन्धों को सुगम एवं स्वचालित बना देते हैं जिससे संघर्ष एवं भ्रांति की संभावना कम हो जाती है। इस प्रकार ऐसी बात न कहना जिसे स्पष्ट रूप से व्यक्त करने पर कठिनाई उत्पन्न हो, सम्बन्धों को ऊपरी अथवा मध्यम स्तर पर रखना यदि हितों का संघर्ष अन्तर्भूत हो अथवा किसी के सामने उसकी निंदा न करना जो वह अपने मित्रों से करता है, परम्परा के उदाहरण हैं। यदि इन परम्पराओं का पालन न किया जाए तो मानवी सम्बन्ध असहनीय एवं अप्रिय हो जाएँगे।

शिष्टाचार विशिष्ट अवसरों पर अनुपालित विस्तृत औपचारिकताओं का निर्देशन करता है। यह शैलियों की संहिता है। इस प्रकार, हाथ मिलाना अथवा शुभागमन कहना शिष्टाचार की शैली है।

शोभाचार, यह ध्यान रहे, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे समाज सहन करता है, अपितु यह ऐसी वस्तु है जिसे समाज स्वीकृत करता है। इसके पीछे सामाजिक सम्पुष्टि का तत्व होता है। यदि ऐसा न हो तो शोभाचार मानव-द्वेषवाद की श्रेणी में आ जाएगा।

शोभाचार की विशेषताएँ (Characteristics of Fashion)

शोभाचार की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया जा सकता है—

(i) **शोभाचार समूहगत चयन है** (Fashion is a group choice)—शोभाचार व्यक्तिगत चयन न होकर समूहगत चयन होता है। जब तक कोई चयन किसी व्यक्ति-विशेष तक सीमित रहता है तो उसे 'शैली' कहा जा सकता है। यदि उस शैली को समूह द्वारा अपना लिया जाए तो वह शोभाचार का रूप धारण कर लेती है।

(ii) **शोभाचार परिवर्तनशील है** (Fashion is changeable)—शोभाचार की महत्वपूर्ण विशेषता इसका परिवर्तनशील स्वरूप है। यदि यह दीर्घकाल तक जीवित रहता है तो यह शोभाचार नहीं रहता, अपितु लोकरीतियों अथवा लोकाचारों में परिवर्तित हो जाता है।

(iii) **उपयोगिता का तत्व शोभाचार में अनिवार्य नहीं है** (The element of utility may or may not be present in fashion)—शोभाचार किसी उपयोगितावादी उद्देश्य-हेतु प्रारम्भ किया जा सकता है, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि प्रत्येक लोकाचार की कोई उपयोगिता होनी ही चाहिए और न ही यह कहा जा सकता है कि सभी शोभाचार व्यर्थ हैं।

(iv) शोभाचार सर्वव्यापी हैं (Fashions are all-pervading)—शोभाचार मानव-जीवन के अनेक अंशों से सम्बन्धित होते हैं। उन्हें विभिन्न क्षेत्रों, यथा वाणी, पोशाक, भोजन आदि में देखा जा सकता है। शोभाचार प्रत्येक समाज में प्रचलित हैं।

(v) एकरूपता (Uniformity)—यातायात के द्रुतगामी साधनों के कारण शोभाचार संसार के एक छोर से दूसरे छोरों तक विस्तारित हो जाते हैं। अमेरिकन हिप्पियों के शोभाचार भारतीय समाज में व्याप्त हो गए हैं।

(vi) द्रुत परिवर्तन (Maddening tempo)—कभी-कभी शोभाचार इतनी शीघ्रता से परिवर्तित होते हैं कि परिवर्तनशील शोभाचारों के साथ-साथ चलना कठिन हो जाता है।

प्रथा एवं शोभाचार में अन्तर (Contrasts betwen Custom and Fashion)

प्रथा एवं शोभाचार को कभी-कभी समानार्थक समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। इनके मध्य अन्तर की निम्नलिखित बातें देखी जा सकती हैं—

(i) प्रथा स्थायी है, शोभाचार परिवर्तनशील (Custom is enduring, fashion is changeable)—प्रथा स्थायी होती है, शोभाचार परिवर्तनशील होता है। प्रथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है एवं प्राचीन काल से अनुपालित होते रहने के कारण ही यह प्रथा कहलाती है। दूसरी ओर, शोभाचार अल्प समय तक जीवित रहता है; इसका जीवन कदाचित् ही एक दशक होता होगा। समय शोभाचार का सार है। पोशाक की शैली जो आज सुन्दर दिखती है, कुछ वर्षों के पश्चात् उपहास-योग्य मालूम देगी। यदि शोभाचार अधिक काल तक जीवित रह जाता है तो यह शोभाचार नहीं रहता। शोभाचार के स्थायित्व का अर्थ है शोभाचार का अंत। शोभाचार का अनुसरण इसलिए किया जाता है, क्योंकि इसका अनुसरण पहले नहीं किया गया है।

(ii) प्रथा सहज होती है, शोभाचार कृत्रिम (Custom is spontaneous, fashion is artificial)—प्रथा सहज होती है, शोभाचार कृत्रिम होता है। प्रथा समाज में स्वयं विकसित होती है तथा उसका अनुसरण स्वभावगत किया जाता है, परन्तु शोभाचार को किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर निर्मित एवं अनुसरित किया जाता है। कभी-कभी किसी शोभाचार का प्रारम्भ कुलीन वर्ग के द्वारा किया जाता है एवं अन्य लोग इसका अनुसरण करते हैं। कभी-कभी कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक आंदोलन किसी शोभाचार को जन्म देता है, यथा आधुनिक भारत में खादी पहनना। कभी-कभी कोई व्यापारिक फर्म किसी वस्तु को लोकप्रिय बनाने हेतु इसे किसी फिल्मी नायक के साथ सम्बद्ध कर शोभाचार का आविष्कार करती है। कभी-कभी शोभाचार ऐसे लोगों द्वारा आरम्भ किए जाते हैं जो समय की नाड़ी को पकड़ने में चतुर होते हैं तथा उनका अनुकरण केवल इसलिए किया जाता है कि उसे रुचि उत्पन्न होती है।

(iii) प्रथा सामाजिकता का, शोभाचार वैयक्तिकता का बोध करता (Custom stands for sociality, fashion for individuality)—प्रथा अनुसरण समुदाय के सभी सदस्यों द्वारा किया जाता है। ऐसा सार्वभौमिक

उनके मध्य सामाजिक सूत्रों को स्थापित करता है। शोभाचार किसी व्यक्ति द्वारा आरम्भ किया जाता है एवं कोई व्यक्ति इसका अनुसरण करने वाला अंतिम व्यक्ति होता है। शोभाचार का आरम्भ कैसे होता है, यह अभी तक पूर्ण ज्ञात नहीं है, जिस पर अधिक समाजशास्त्रीय अनुसंधान की आवश्यकता है। जब यह सार्वभौमिक बन जाता है तो इसकी नवीनता समाप्त हो जाती है और यह नए शोभाचार को जन्म देता है। प्रथा के अनुसरण द्वारा व्यक्ति स्वयं का अन्य व्यक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहता है, जबकि शोभाचार के अनुसरण द्वारा वह अपने को शेष व्यक्तियों से विलग करना चाहता है।

(iv) प्रथा महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित है, शोभाचार का सम्बन्ध तुच्छ से है (Custom is concerned with important matters, fashion with frivolous ones)—प्रथा का सम्बन्ध समूह के घनिष्ठ जीवन एवं स्वभाव से होता है, शोभाचार साधारणतया तुच्छ एवं सतही विषयों से सम्बन्धित होता है। दूसरे शब्दों में, शोभाचार का सम्बन्ध ऐसी वस्तुओं से है जो परिवर्तित हो सकती हैं, क्योंकि वे तुच्छ हैं, जबकि प्रथा का सम्बन्ध ऐसी बातों से है जो परिवर्तित नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे महत्वपूर्ण हैं। शोभाचार परिवर्तन पर ही बल देता है, न कि उसकी विषय-वस्तु पर। पोशाक के क्षेत्र में, कुछ विशेष अवसरों, यथा विवाह, मृत्यु अथवा क्रीड़ा अथवा विशेष ऋतुओं के लिए कुछ पोशाकें निर्धारित हैं, परन्तु इन पोशाकों की शैली शोभाचार द्वारा नियमित होती है। कोई लड़की नायलोन की साड़ी पहनती है अथवा सूती, यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी यह कि वह साड़ी पहनती है अथवा नहीं। पोशाक की भांति ही मनोरंजन एवं सामाजिक व्यवहार के अन्य अनेक क्षेत्रों में भी शोभाचार "प्रथा द्वारा निर्धारित प्रकारों में क्षणिक शैलियों" को निर्धारित करता है। लोग शोभाचार का अनुसरण इसलिए करते हैं, क्योंकि अनेक बातों में शोभाचार से पूर्ण विलग रहना सामाजिक मान को हानि पहुँचाता है और बहुत कम लोग ही ऐसा जोखिम उठा सकते हैं।

(v) शोभाचार का विकास होता है जब प्रथा टूटती है (Fashion grows where custom breaks off)—जहाँ प्रथा टूट जाती है, वहाँ प्रायः शोभाचार का विकास हो जाता है। यदि सम्बन्ध-विच्छेद शोभाचार बन जाए तो कहा जा सकता है कि समाज विनाश की ओर बढ़ रहा है। यदि गर्भ-निरोधों का प्रयोग शोभाचार बन जाए तो परिवार की संख्या का भविष्य अंधकारमय हो सकता है। जब शोभाचार नैतिकता का स्थान ले लेता है जो सामाजिक जीवन के दृढ़ स्तम्भ हिल जाते हैं।

७. आधुनिक समाज में शोभाचार

(Fashion in Modern Society)

आदिम समाज की अपेक्षा आधुनिक समाज में शोभाचार अधिक प्रचलित है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

(i) गतिशील वर्ग-संरचना (Mobile class structure)—आधुनिक समाज एक उन्मुक्त समाज है जिसमें वर्गगत विभेद इतने कठोर नहीं हैं जितने आदिम

समाज में थे। इसकी नगरीय एवं गतिशील वर्ग-संरचना लोगों को व्यक्तिगत रुचि विकसित करने एवं नवीन मार्ग को अपनाने के योग्य बनाती है। आधुनिक समाज विभेदों के प्रति अधिक सहनशील है, अतएव यह शोभाचार पर कोई विशेष प्रतिबंध नहीं लगाता। हमारे मूल्यांकन के मानकों में भी परिवर्तन आ गया है। आज व्यक्ति का श्रेष्ठ स्थान उसकी पूर्वजता, उसके चरित्र एवं उसकी उचित उपलब्धियों की अपेक्षा उसकी पर्यवेक्षणीय बाह्यताओं के आधार पर अधिक अंकित होता है। व्यक्ति जो वस्त्र वह पहनता है, जो भाषा वह बोलता है, शिष्टाचार के जो ढंग वह दिखलाता है, उनका प्रभाव उसकी सादगी, देशभक्ति एव सत्यनिष्ठा की अपेक्षा उसकी सामाजिक प्रस्थिति को निश्चित करने में अधिक होता है। यदि वह अपनी पोशाक, वाणी एवं शिष्टाचार के ढंगो में स्वयं को आधुनिक रख सकता है तो वह अवश्य ही सामाजिक मान को प्राप्त करेगा।

(ii) समृद्धि (Affluence)—समृद्धि भी आधुनिक समाज में शोभाचार के अधिक प्रचलन का कारण है। आज मनुष्यों के पास उनके पूर्वजो की अपेक्षा अधिक धन एवं विश्राम है। उनके पास ऐश्वर्यों का भोग करने एवं शोभाचार के विषय मे सोचने के लिए आवश्यक साधन एवं समय है। मैकाइवर ने लिखा है, "शोभाचार जीवन की आवश्यकताओ की ऊपरी सज्जा से सम्बन्धित है। मोटर के ढांचे से बढकर उसके आकार मे बहुत कुछ शोभाचार आ गया है। भाप से चलने वाली कुदालियो या अन्य यंत्रों में परिवर्तन है, शोभाचार मे नहीं। जीवन का स्तर जितना ऊँचा होता जाएगा, शोभाचार के लिए उतनी ही सामग्री उपलब्ध होती जाएगी।"[1]

(iii) संचार के साधन (Means of communication)—अंतिम, संचार के साधनों की अत्यधिक वृद्धि ने भी आधुनिक समाज मे शोभाचार के प्रसार मे योगदान दिया है। काल एवं दूरी के अवरोधक समाप्त हो गए हैं। किसी स्थान पर आविष्कृत नवीनता शीघ्र ही प्रत्येक स्थान पर पहुँच जाती है। विज्ञापन एवं चलचित्र शोभाचार के वाहक बन गए है। आजकल अनेक विशेषज्ञ नवीन शोभाचारों का निर्माण करने मे व्यस्त हैं। प्रथा संचार से दूर प्रदेशों में ही शक्तिशाली होती है। आधुनिक समाज में प्रथा महत्वहीन होती जाती है तथा शोभाचार महत्वपूर्ण हो रहा है। औद्योगिक युग के पूंजीभूत आविष्कारों ने प्रथा द्वारा नियंत्रित जीवन-क्षेत्र को शोभाचार द्वारा कम नियंत्रित क्षेत्र में वृद्धि कर दी है।

८. शोभाचार को सामाजिक भूमिका
(The Social Role of Fashion)

सामाजिक जीवन में शोभाचार का क्या महत्व है एवं समाज में इसकी क्या भूमिका है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि हम लोगो को शोभाचार के निष्ठुर शासन के अधीन कराहते हुए देखते हैं। शोभाचार की कोई उपयोगिता नहीं दिखाई देती। यह बुद्धि को प्रभावित नही करती एवं क्षणिक विचलन होने के कारण सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख प्रवृत्तियों पर इसका कोई प्रभाव नही होता, तथापि लोगों के ऊपर इसका शक्तिशाली प्रभाव है। क्यो?

---

1. MacIver, *Society*, p. 186.

(i) प्रथमतया, शोभाचार सामाजिक मानव की दो प्रबल माँगों—नवीनता की इच्छा एवं अनुरूपता की इच्छा को संतुष्ट करता है। यह नवीनता की इच्छा को सामाजिक आचरण में बदल देता है एवं नवीनता को समूह के लिए उचित तथा सही वस्तु बना देता है। विशिष्टता की इच्छा मानव-स्वभाव है। मनुष्य केवल सुरक्षा ही नही चाहता, यह कुछ नई वस्तु, विभिन्नता एवं नवीनता की इच्छा रखता है। शोभाचार इस इच्छा की संतुष्टि करता है तथा इस इच्छा को अनुरूपता के नियम के साथ समजित करता है। इस प्रकार शोभाचार मनुष्य की कुछ महत्वपूर्ण इच्छाओं की संतुष्टि करता है जो समाज में उसके उचित जीवन के लिए आवश्यक हैं।

(ii) द्वितीय, शोभाचार एक प्रथा से दूसरी प्रथा के लिए संक्रमण-काल की व्यवस्था द्वारा सामाजिक परिवर्तन को सुलभ बनाता है। यह प्रथा की कठोरता एवं इसके महत्व मे विश्वास को बदलने का प्रयास करता है। यह मस्तिष्क को परिवर्तन के लिए तैयार करता है ताकि प्रथाओं के बदलने पर झटका न लगे। प्रथा की 'केक' जिसे तोड़ना सरल नही होता, शोभाचार उसे मुलायम बना देता है। मैकाइवर ने लिखा है, "उस सतह पर जहाँ प्रतिरोध बहुत कम है, शोभाचार समय की सामाजिक चपलता का प्रतिचार करते हुए इस स्तर पर प्रथा, स्वभाव एवं दैनिकी के संयमों की क्षतिपूर्ति ढूंढ निकालता है। अपने मार्ग मे वह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं की विशाल सक्रान्तियों का पुल बाँधने का प्रयास करता है।"

(iii) अंतिम, शोभाचार साधारणतया प्रतिष्ठित लोगों से उत्पन्न होता है। कोई चलचित्र अभिनेता अथवा नेता पोशाक अथवा मनोरंजन की किसी नवीन शैली को आरम्भ करता है, जिसे बाद मे अन्य लोग ग्रहण कर लेते हैं। इससे उच्च वर्गों एवं उसका अनुकरण करने वाले लोगों की प्रतिष्ठा मे वृद्धि होती है।

परन्तु यह स्मरण रहे कि यद्यपि शोभाचार वर्ग-सम्बन्धों की गतिशील अन्तक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, तथापि यह एकसाथ नवीनता एवं अनुरूपता की विरोधी इच्छाओं को संतुष्ट करता है, उदासीनता के क्षेत्र में सामान्य प्रतिमान को प्रस्तुत करता है, बहुविध प्रजातंत्रीय सभ्यता की विस्तृत सीमा मे इसका विशिष्ट महत्व है तथा यह रहन-सहन के व्यय की एक मुख्य वस्तु है। कुछ शोभाचार, यथा पोलो खेल, रात्रि-गोष्ठियों मे सम्मिलित होना अथवा शोभाचारीय स्थानों की सैर करना उन लोगों तक सीमित हैं जो इनका व्यय-भार सहन कर सकते है। कभी-कभी लोग शोभाचार के पीछे उन्मादित होकर अपनी आय से अधिक व्यय को अपने ऊपर लेते हैं। जब शोभाचार का नियंत्रण जीवन के सतही स्तरों को लाँघ जाता है एवं यह नैतिकता का स्थान छीन लेता है, उदाहरणतया जब अपनी पत्नियों को या राजनीतिक सम्बन्धों को या मित्रों को बार-बार बदलना शोभाचार बन जाए तो अधिक स्थापित परिपाटियों के स्थान पर यह एक अशुभ स्थानापन्न हो जाएगा। अपने समय के रोम मे नैतिक स्तरों के पतन की शोचनीय अवस्था का उल्लेख करते हुए, टैसिटस (Tacitus) ने कहा है कि "भ्रष्ट होना और दूसरे को भी भ्रष्ट करना शोभाचार है।" शोभाचार की चपलताओं के प्रति लगाव एवं जीवन के अधिक मूलभूत पहलुओं की उदासीनता सामाजिक पतन का निश्चित साक्ष्य है।

अन्त में, यह भी ध्यान रखा जाए कि शोभाचार के पीछे संपुष्टि मृदुल होती है। यदि कोई नायलोन की साड़ी अथवा ऊँची एड़ी के जूते नहीं पहनती तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाता, अपितु उसे अधिक से अधिक 'पुराने फैशन वाली' अथवा 'पुरानी पर्त' समझा जाएगा।

प्रश्न

१. प्रथा का क्या अर्थ है? प्रथाओं की उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

२. "कानून प्रभु का आदेश है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

३. कानून एवं प्रथा में क्या अंतर है? समाज में उनके क्रमशः महत्व की तुलना कीजिए।

४ "प्रथा सामाजिकता एवं तादात्म्य का बोध कराती है; शोभाचार व्यक्ति एवं विशिष्टता का।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

अध्याय ३५

धर्म एव नैतिकता

[RELIGION AND MORALITY]

कानून, प्रथा एवं शोभाचार ही सामाजिक नियंत्रण के साधन नहीं हैं, अपितु इन सबसे महत्वपूर्ण धर्म एव नैतिकता हैं जो इन सबके रूप को प्रभावित करते हैं। वे न केवल सामाजिक नियंत्रण की सर्वाधिक शक्तिशाली शक्तियाँ हैं, अपितु मानव-व्यवहार के सर्वाधिक प्रभावी मार्गदर्शक भी हैं। वे न केवल प्रत्येक स्थान पर पाए जाते हैं, अपितु आरम्भिकतम काल में भी वे विद्यमान थे। यदि हम इनको पूर्णतया नहीं समझ पाते तो हम समाज को भली-भाँति नहीं समझ सकेंगे। इस अध्याय में हम उनकी विशेषताओं एवं मानव-व्यवहार पर उनके प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

१. धर्म का अर्थ

(The Meaning of Religion)

धर्म की कोई एक ऐसी परिभाषा देना कठिन है जो प्रत्येक को संतुष्ट कर सके। मुख्य कठिनाई यह है कि अनेक व्यक्ति धर्म को केवल अपने धर्म के सदर्भ में परिभाषित करते हैं तथा शेष सभी प्रकारो को अधर्म, धर्मविहीन, अंधविश्वास अथवा धर्म-विरोधी कहते हैं। लेखकों ने इसको विभिन्न रूप से परिभाषित किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) "धर्म अतिमानवीय शक्तियों के प्रति मनोवृत्ति है।"[1] —आगबर्न

(ii) "धर्म संसार को शासित करने वाली शक्ति के साथ मानवी जीवन का सम्बन्ध है जो उसके साथ मिलकर एक होना चाहता है।"[2] —पर्स डरट

(iii) "धर्म से मै मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियो की सतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को मार्ग दिखलाती और नियंत्रित करती हैं।"[3] —सर जेम्स फ्रेजर

(iv) "धर्म, जैसा कि हम समझते आए हैं, से केवल मानव के बीच का सम्बन्ध ही नहीं, एक उच्चतर शक्ति के प्रति मानव का सम्बन्ध भी सूचित होता है।" —मैकाइवर

---

1. "Religion is attitude towards superhuman powers."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, p. 411

2. "Religion is that reference of man's life to a world governing power which seeks to grow into a living union with it."—Quoted by G Galloway, *The Principles of Religious Development*, p 50.

3. "Religion is a belief in powers superior to man which are belived to direct and control the course of nature and of human life"—James, G. Frazer, *The Golden Bough*.

(v) "जब कभी और जहाँ कहीं मानव को ऐसी बाह्य शक्तियों पर आश्रित रहना पड़ता है जो उसकी अपनी शक्तियों से अधिक रहस्यपूर्ण व ऊँची हो तो धर्म की उत्पत्ति होती है और ऐसी शक्तियों के सामने मानव एक प्रकार के भय एवं तुच्छता की भावना से भर जाता है जिस भावना को धार्मिक भावना कहा जाता है। यह भावना उपासना और प्रार्थना की जड़ है।"[1] —क्रिस्टोफर डासन

(vi) "धर्म अनजान शक्तियों का अस्पष्ट भय नहीं है, न भय की उपज है, अपितु किसी समुदाय के सभी सदस्यों के साथ उस समुदाय का हित चाहने वाली ऐसी शक्ति के साथ सम्बन्ध है जो उसके कानून एवं आधार-व्यवस्था की रक्षा करती है।"[2] —डब्ल्यू० रार्बटसन

(vii) "धर्म पवित्र वस्तुओं से संबंधित विश्वासों और आचरणों की वह समग्र व्यवस्था है जो इन पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है।"[3] —दुर्खीम

(viii) "धर्म के समाजशास्त्रीय क्षेत्र के अंतर्गत किसी समूह में अलौकिक से सम्बन्धित उद्देश्यपूर्ण विश्वास तथा इन विश्वासों से सबधित बाह्य व्यवहार, भौतिक वस्तुएँ और प्रतीक सम्मिलित हैं।"[4] —गिलिन एवं गिलिन

(ix) "धर्म दैनिक जीवन की परेशानियों एवं उसके खतरों से परे आध्यात्मिक शांति के मार्ग की खोज करने में मनुष्य का सतत् प्रयास है।"[5] —सपीर

(x) "धर्म वास्तविकता की भयावह विलक्षण अभिव्यक्तियों के प्रति सहज अनुक्रिया है।"[6] —लोवी

---

1. "Whenever and where ... man has a sense of dependence on external ... er than man's ... self-abasement ... is essentially ... -Dawson, Ch., *The Age of the gods*, p. 22.
2. "Religion is not a vague fear of unknown powers, not the child of terror, but rather a relation of all the members of a community to a power that has the good of the community at heart, and protects its law and moral order."—Quoted by S. Koenig, *Sociology*, p. 110.
3. "Religion is a unified system of beliefs and practices relative to sacred things, that is to say, things set apart and forbidden." —*Ibid*
4. "The social field of religion may be regarded as including these emotionalized beliefs prevalent in a social group concurring the supernatural plus crest and behaviour, material objects and symbols associated with such beliefs."—Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, p 459.
5. Religion is man's never-ceasing attempt to discover a road to spiritual serenity across the perplexities and dangers of daily life." —Sapir, Edward, Quoted by Lundberg, *op cited.*, p. 583
6. "Religion is a spontaneous response to the awe-inspiring extraordinary manifestations of reality."—*Ibid.*

(xi) "धर्म ऐसे विश्वासों की प्रतीकात्मक क्रियाओ एवं वस्तुओं की प्रणाली है जो ज्ञान की अपेक्षा विश्वास द्वारा शासित होती है और जो मनुष्य को अनदेखी एव नियंत्रण-क्षेत्र से दूर अतिप्राकृतिक शक्ति के साथ सम्बद्ध कर देती है।"[1]

—मार्नाल्ड ग्रीन

(xii) "धर्म अतिप्राकृतिक प्राणियों, शक्तियो, स्थानो तथा अन्य वस्तुओं से संबंधित विश्वासो एव रीतियों की एक सुसयत प्रणाली है।"[2]

—एच० एम० जानसन

(xiii) "धर्म क्रिया का एक तरीका है और साथ ही विश्वासो की एक व्यवस्था भी। धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ व्यक्तिगत अनुभव भी है।"[3]

—मैलीनोस्की

(xiv) "धर्म आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास है।" —टायलर

(xv) "प्रत्येक मनोवृत्ति जो इस विश्वास पर आधारित या इस विश्वास से *सम्बन्धित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है और उनसे सम्बन्ध स्थापित* करना सम्भव एवं महत्वपूर्ण है, धर्म कहलाती है।" —हानिगशीम

इस प्रकार, कानून-लेखको ने धर्म की परिभाषा अपने-अपने दृष्टिकोण से दी है। वस्तुतः धर्म की अभिव्यक्ति इतने अधिक रूपों मे होती है कि किसी सर्वमान्य परिभाषा पर सहमत होना कठिन है। कुछ लेखकों का विचार है कि धर्म अति-प्राकृतिक अथवा रहस्यमयी शक्तियो में विश्वास है जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न क्रियाओ मे होती है। कुछेक के विचारानुसार, धम आत्मा की अनश्वरता मे विश्वास है। जबकि धर्म को ईश्वर अथवा किसी अतिप्राकृतिक शक्ति मे विश्वास के रूप या *अर्थ में परिभाषित करना सम्भव है, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि* 'ईश्वरविहीन धर्म' भी हो सकता है, यथा बौद्ध धर्म। बौद्ध धर्म आत्मा की अनश्वरता एव इस जीवन के बाद अन्य जीवन में विश्वास का खडन करता है। प्राचीन हिब्रू लोगों मे भी अनश्वर आत्मा की कोई निश्चित अवधारणा वर्तमान न थी। वे मरणोपरांत

---

1. "Religion is a system of beliefs and symbolic practices and objects governed by faith rather than by knowledge, which relates man to an unseen supernatural realm beyond the known and beyond the controllable."—Green, A. W., *Sociology*, p. 449.

2. "As religion is more or less coherent system of beliefs and practices concerning a supernatural order or beings, forces, places or other entities."—Johnson, H. M., *Sociology*, p 392.

3. "Religion is a mode of action as well as system of belief, and a sociological phenomenon as well as a personal experience "—Malinowski, B., *Magic, Science* and *Religion and other Essays*, p. 24.

पुरस्कारों एवं दंडों में विश्वास नही रखते थे। अन्य लेखक धर्म को पूर्णतः लौकिक एवं भौतिक समझते हैं जिसका उद्देश्य कुछ व्यावहारिक लक्ष्यों की प्राप्ति करना है। रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) का कथन है, "धर्म का आदर्शात्मक लक्ष्यों के अनुसरण के साथ तादात्म्य करना उचित नहीं है। आध्यात्मिकता एवं नेकी दो ऐसे सामाजिक मूल्य हैं जिनकी खोज सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं में हुई। जैसे मोती शुक्ति को मूल्य प्रदान करता है, उसी प्रकार ये गुण भी धर्म के मूल्य का निर्माण करते हैं, तथापि मोती का निर्माण शुक्ति के जीवन में एक सह-उपज है; यह शुक्ति के विकास की व्याख्या नही करता है।" समनर एवं केलर (Sumner and Keller) के अनुसार, "धर्म आदिकाल से आज तक कभी भी नैतिकता से संबंधित नही रहा है; यह तो संस्कारों, रीतियों, कर्मकांडो और अनुष्ठानो से संबंधित रहा है।"

समाजशास्त्र मे 'धर्म' शब्द का प्रयोग धार्मिक ग्रंथो की अपेक्षा व्यापक अर्थ में किया गया है। एक अर्वाचीन समाजशास्त्रीय कृति मे धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "धर्म विश्वासों, प्रतीकों, मूल्यों एवं क्रियाओं की संस्थायीकृत प्रणालियाँ हैं जो मनुष्यों के समूहों को अपने परम जीवन के प्रश्नो का समाधान प्रदान करती हैं।"[1] सभी धर्मों में वर्तमान एक सामान्य विशेषता यह है कि वे जीवन की जटिलताओं एवं उसके रहस्यों की ओर मनोवृत्तियों एवं भावनात्मक अनुभूतियों के संमिश्रण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार, धर्म मे प्रथम, मनोवृत्तियो, विश्वासों, प्रतीकों की प्रणालियाँ जो इस मान्यता पर आधारित हैं कि सामाजिक सम्बन्धो के कुछ रूप पवित्र अथवा नैतिकतया अवश्य करणीय हैं; एवं द्वितीय, इन प्रणालियो द्वारा प्रभावित अथवा शासित क्रियाओं की संरचना सम्मिलित है।

रैडिन (Radin) के अनुसार, धर्म के दो भाग होते हैं।—(i) शरीर-क्रिया-सम्बन्धी (physiological), एवं (ii) मनोवैज्ञानिक (psychological)। शरीर-क्रियाविज्ञान-सम्बन्धी भाग स्वयं को ऐसी क्रियाओं, यथा घुटने टेकना, आँखें बंद करना, चरण स्पर्श करना, मंदिर जाना, पूजापाठ करना, दक्षिणा देना, संस्कार करना आदि द्वारा अभिव्यक्त करता है। मनोवैज्ञानिक भाग मे कुछेक विश्वासो एवं परम्पराओं के प्रति सामान्योपरि भावुकता सम्मिलित है। जबकि अतिप्राकृतिक शक्तियों मे विश्वास सभी धर्मों मे मूलभूत समझा जाता है, तीव्र भावनात्मक अनुभूति की उपस्थिति भी जिसे गोल्डन वेबर (Golden Weiber) ने "धार्मिक स्पंदनशीलता" (religious thrill) कहा है, समान रूप से मूलभूत है।

एंडरसन एवं पार्कर के अनुसार, प्रत्येक धर्म मे चार प्रमुख तत्व सम्मिलित होते हैं। ये हैं—

(i) अतिप्राकृतिक शक्तियों में विश्वास (Belief in supernaturul powers)—प्रत्येक धर्म किसी अतिप्राकृतिक शक्तियों, जो मनुष्य एवं उसके

1 Charles Y. Glock and Radney Stark, *Religion and Society in Tension* p. 17.

पर्यवेक्षणीय संसार से परे हैं, में विश्वास करता है। ये शक्तियाँ मानवी घटनाओं एवं परिस्थितियों को प्रभावित करती हैं, ऐसा माना जाता है। कुछ इनको 'ईश्वर', कुछ 'देवता' कहते हैं तो अन्य इन शक्तियों का कोई नामकरण नहीं करते।

(ii) **अतिप्राकृतिक शक्तियों के प्रति मनुष्य का अनुकूलन** (Man's adjustment to supernatural powers)—चूंकि मनुष्य इन शक्तियों पर आश्रित है, अतः उसे स्वयं को इनके प्रति अनुकूलित करना चाहिए। परिणामस्वरूप, प्रत्येक धर्म में कुछ बाह्य क्रियाओं, यथा प्रार्थना, उपासना, कीर्तन, यज्ञ एवं भक्ति के अन्य प्रकारों की व्यवस्था होती है। इन क्रियाओं को न करना पाप समझा जाता है।

(iii) **कार्यों की पाप में परिभाषा** (Acts defined as sinful)—प्रत्येक धर्म कुछ कार्यों को पाप कहता है। ऐसे कार्य ईश्वर अथवा देवताओं के साथ मनुष्य के मधुर सम्बन्धों को नष्ट करते हैं एवं उसे उनका क्रोध सहन करना पड़ता है।

(iv) **मुक्ति की विधि** (Method of salvation)—मनुष्य को किसी ऐसी विधि की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा वह अपने दोष को दूर कर ईश्वर के साथ समरसता को पुन. प्राप्त कर सके। इस प्रकार, बौद्ध धर्म निर्वाण तथा हिन्दू धर्म कर्म के बंधन से छुटकारा दिलाने के रूप मे मुक्ति की व्यवस्था करता है।

२. धर्म के रूप
(Forms of Religion)

धर्म मनुष्य के उसके भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरण की शक्तियों के साथ सम्बन्धों को नियंत्रित एवं उनकी व्याख्या करने का प्रयास करता है। इन शक्तियों को किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के अधीन समझा जाता है। इन शक्तियों के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों की व्याख्या ने धर्म के कुछ रूपों, यथा अंधविश्वास, आत्मवाद, टोटमवाद, जादू, संस्कारवाद एवं जड़देवतावाद को जन्म दिया। धर्म की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए इन रूपों की संक्षिप्त व्याख्या आवश्यक है—

(i) **अंधविश्वास** (Superstition)—अन्धविश्वास एक दृढ़ विश्वास है कि किन्हीं कारणों के घटित हो जाने से कोई घटना अवश्य होगी, यद्यपि ऐसे कारणों का घटना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणतया, ऐसा विश्वास कि यदि बिल्ली रास्ता काट जाए तो यात्रा में अथवा इसके अंत में कोई कष्ट होगा; अथवा यह विश्वास कि आकाश मे कोई तारा टूट जाने के कारण कोई विपदा आएगी; अथवा यह विश्वास कि शनिवार को वधू को नैहर भेजना शुभ नहीं है। हिन्दू धर्म ऐसे अन्धविश्वासों से भरपूर है।

(ii) **आत्मवाद** (Animism)—आत्मवाद प्रत्येक जीवित प्राणी के शरीर के अन्दर किसी पराभौतिक वस्तु की अवस्थिति में विश्वास करता है। यह पराभौतिक वस्तु भौतिक शरीर की मृत्यु के उपरांत भी जीवित रहती है। मनुष्य की मृत्यु के बाद यह पराभौतिक वस्तु भौतिक सीमाओं से मुक्त हो जाती है और समय तथा स्थान की परवाह न करते हुए चक्कर काटती रहती है। इस पराभौतिक वस्तु को 'आत्मा' कहा जाता है। इस प्रकार आत्मवाद मृत व्यक्ति की आत्मा में विश्वास है। यह

भी ध्यान रहे कि आत्मवाद के अनुसार, मनुष्यों की आत्मा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की आत्माएँ भी हैं जिनमें प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक की सभी आत्माएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार आत्मवाद में एक आत्मा नहीं, अपितु अनेक हैं। ये आत्माएँ भौतिक संसार की सब घटनाओं तथा मनुष्यों के वर्तमान एवं पारलौकिक जीवन को प्रभावित या नियंत्रित करती हैं। इन आत्माओं में विश्वास मनुष्य को ऐसे कार्य करने के लिए प्रेरित करता है जिससे ये आत्माएँ प्रसन्न रहें। प्रायः विश्वास किया जाता है कि निद्रावस्था में मनुष्य के पास ऐसी आत्माएँ आती हैं। कभी-कभी मनुष्य यह अनुभव करता है कि आत्मा घर के किसी कोने में बोल रही है। यदि हिन्दू लोग अपने पूर्वजों का श्राद्ध नहीं कराते तो उनकी आत्माएँ ,परलोक में सुखी नहीं रहेंगी। पितरों को भोजन कराने के लिए हिन्दुओं में तेरह-दिवसीय पर्व 'श्राद्ध' मनाया जाता है। टाइलर (Tylor) के अनुसार, आत्मवाद सभी धर्मों का मूल है।

(iii) जादू (Magic)—जादू उस शक्ति-विशेष का नाम है जिससे अति मानवीय जगत् पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके और उसकी क्रियाओं को अपनी इच्छानुसार भले या बुरे, शुभ या अशुभ उपयोग में लाया जा सके। श्री फ्रेजर के अनुसार, जादू प्रकृति पर नियंत्रण पाने का एक साधन है। श्री मैलिनोस्की के अनुसार, जादू विशुद्ध व्यावहारिक क्रियाओं का एक योग है जिन्हें उद्देश्यों की पूर्ति के साधन-रूप में किया जाता है। जादूगर जादुई क्रियाओं द्वारा जिनको वैज्ञानिक ज्ञान समर्थित नहीं करता, प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण पाने का प्रयत्न करता है। ऐसी क्रियाएँ अनेक हैं, यथा शरीर के रोगी अंग पर पत्थर रगड़ना, आग पर बिना जले चलना, शीशे के टुकड़ों को रक्त निकले बिना खाना, कोयले से रुपया बना देना, व्यक्ति को गायब कर देना, मनुष्य की जेब से बटुआ निकाल लेना और उसे अथवा उसके निकट खड़े हुए व्यक्तियों को मालूम भी न होना। विद्यार्थियों ने ऐसी जादुई क्रियाएँ गली-मोहल्ले में होती देखी होंगी।

दो प्रकार के जादू (Two kinds of magic)—फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'Golden Bough' में दो प्रकार के जादुओं में अन्तर किया है, अनुकरणात्मक तथा संक्रामक जादू। अनुकरणात्मक जादू में व्यक्ति जो परिणाम चाहता है, उसका अनुकरण करता है। इस प्रकार एक आस्ट्रियावासी यदि वर्षा चाहता है तो वह मुँह में जल भरकर उसे विभिन्न दिशाओं में धार बांधकर फेंकता है। शत्रु से छुटकारा पाने के लिए उसकी मोम की मूर्ति बनाकर उसमें सुई से छिद्र किए जाते हैं। आस्ट्रिया में यह भी विश्वास किया जाता है कि यदि प्रसव-काल में माँ को किसी वृक्ष का प्रथम फल खाने को दिया जाए तो उस वृक्ष पर अगले वर्ष काफी फल आयेंगे। संक्रामक जादू इस नियम पर आधारित है कि जो वस्तु एक बार किसी अति-प्राकृतिक शक्ति के सम्पर्क में आती है, वह सदा सम्पर्क में रहती है। इस प्रकार यदि व्यक्ति के मस्तक पर कुछ भभूतियाँ को रगड़ दिया जाए तो उसका सिरदर्द दूर हो जाएगा। अनेक बच्चों को तावीज पहनाया जाता है, ताकि बुरी आत्मा से उनकी रक्षा हो सके।

जादू एवं धर्म में अंतर (Magic and religion differ)—कुछ लेखकों का विचार है कि जादू धर्म का एक रूप है, परन्तु दूसरे लेखक इसे धर्म के साथ सम्बद्ध

करना उचित नहीं समझते। मैलिनोवस्की के अनुसार, जादुई क्रियाएँ धार्मिक क्रियाओं से भिन्न होती हैं, क्योंकि पूर्वोक्त का कोई निश्चित लक्ष्य सम्मुख होता है जो तात्कालिक, व्यावहारिक एवं प्रायः निजी होता है। उनका उद्देश्य किसी निश्चित प्रभाव को उत्पन्न करना है। दूसरी ओर, धर्म का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता। यह स्वयं एक लक्ष्य होता है—उपासकों को आध्यात्मिक शक्तियों के संपर्क में लाना। धर्म मे व्यक्ति की मनोवृत्ति विनम्र होती है। उपासक आराधना के द्वारा ईश्वर से कुछ प्राप्त करने का प्रयास करता है। दूसरी ओर, जादू उस शक्ति को दबाकर अपने अधिकार में करके अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न करता है। गोल्डन वीजर (Golden Weiser) के शब्दों में, "धर्म मे आत्म-समर्पण या अधीनता निहित है, जबकि जादू में दृढ़ आत्म-संकल्प तथा नियंत्रण।" जादुई क्रिया व्यापारिक व्यवहार है जिसमे धोखे की सम्भावना होती है। धर्म मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है, जादू मे ऐसा नही होता। जब जादू का प्रयोग ऐसे उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु किया जाता है जो समूह द्वारा अभिमत नही होते तो यह धर्म से अलग हो जाता है। इसे प्रतिशोध लेने, अवैध रूप से सम्पत्ति प्राप्त करने, किसी व्यक्ति की पत्नी चुराने आदि उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। सेल्बी (Selbie) का कथन है, "जादू अब भी एवं दीर्घ काल तक नैतिक बुराई समझा गया है। यदि यह धर्म के शीर्षक के अन्तर्गत आता भी है तो यह अवैध एवं हीन प्रकार का धर्म है।"[1]

(iv) टोटमवाद (Totemism)—टोटमवाद के अन्तर्गत कोई जनजाति स्वय को किसी वस्तु मुख्यतया पशु अथवा पौधे से सम्बद्ध मानती है जिस वस्तु के प्रति उसमे श्रद्धाभाव होता है। वह जाति उस वस्तु के नाम को अपना लेती है और उसकी आराधना करती है। टोटम साधारणतया कोई पशु अथवा पौधा होता है जिसके नाम को गोत्र (clan) अपना लेता है अथवा उससे अपने को सम्बद्ध समझता है। गोत्र स्वयं को उस पशु अथवा पौधे की संतान समझता है जिससे उसे वस्तु एवं गोत्र के मध्य पवित्र बंधन उत्पन्न हो जाते हैं। इरोक्विस (Iroquis) गोत्रों को कच्छप, रीछ, भेड़िया एवं बाज कहा जाता था। वे इन पशुओं की आकृति को अपने घरों के दरवाजों पर तराशा करते थे। गोत्र के लोग अपने टोटम पशु का मारना अथवा उसका मांस खाना वर्जित समझते थे। वे इसे परानुभाविक महत्व देते हैं। रुआंडा (Ruanda) मे बफलो (Buffalo) गोत्र के लोग भैंस के मांस को नहीं खाते। मजूमदार के अनुसार, टोटमवाद के तीन आधारभूत लक्षण हैं—(i) पशु या वनस्पति के प्रति एक विशिष्ट मनोभाव; (ii) गोत्र-संगठन; (iii) गोत्र-बहिर्विवाह। जब गोत्र पशु को आराधना करता है अथवा उसे बलि भेंट करता है तो टोटमवाद को धर्म के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है, यद्यपि अब यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि टोटमवाद अधिकांशतया जादू अथवा अंधविश्वास के साथ संयुक्त एक सामाजिक परिघटना है।

(v) संस्कारवाद (Ceremonialism)—संस्कारवाद धर्म से प्रायः संबद्ध एक सामूहिक क्रिया है। इस प्रकार आराधना करना, उपवास करना, नृत्य करना, संगीत गाना, घुटने टेकना, आदि संस्कारवाद के उदाहरण हैं। सभी धर्मों में दूसरे व्यक्तियों

1. Selbie, W. B., *The Psychology of Religion*, p. 33.

के साथ बहुधा सांस्कारिक सम्पर्क, जो एक प्रकार की समूह-अन्त:प्रेरणा है, की व्यवस्था होती है। इस अर्थ में, सांस्कारिक क्रिया को धर्म का बाह्य रूप कहा जा सकता है। विश्वास के समान ही इसके साथ भी पवित्रता का गुण सम्बद्ध हो जाता है।

कुछ लेखक धार्मिक मनोवृत्तियों को बनाए रखने मे धार्मिक विश्वास की अपेक्षा संस्कार को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। संस्कार व्यक्ति को पवित्र शक्ति का स्मरण कराने तथा उसमें उसके विश्वास को पुनर्जीवित एवं दृढ़ करने में सहायता देता है। यहूदी धर्म को जीविता का कारण संस्कारवाद पर इनका बल है। यही बात हिन्दू धर्म के बारे मे सत्य है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के समय हिन्दू परिवार मे अनेक संस्कार किए जाते है। गिरजाघर की धार्मिक सभा मे अनेक संस्कारों का पालन किया जाता है। इशारा मिलने पर व्यक्ति उठता है, नतमस्तक होता है, घुटने टेकता है, आगे बढता है और अन्य क्रियाएँ करता है। अनेक संस्कार कभी-कभी अनावश्यक रूप से जटिल मालूम होते हैं, परन्तु इनमें से कुछ संस्कारों का आविष्कार आदिम लोगों द्वारा किसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर किया गया होगा जो उद्देश्य वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि के कारण अब लुप्त हो गए हैं। संस्कारों के पीछे अवश्य ही कुछ तर्क होता है यदि और कोई तर्क नही होता तो भावनात्मक संतुष्टि का तर्क हो सकता है। सामाजिक एकता के लिए भावनात्मक अनुभूतियों की संतुष्टि आवश्यक है तथा यदि कोई संस्कार इस उद्देश्य की पूर्ति करता है तो यह उसके पालनार्थ यथेष्ठ आधार है।

विश्वास एवं सस्कार के अन्तर को भी समझ लेना उचित होगा। विश्वास पवित्र वस्तुओं के प्रति एक मनोवृत्ति है। यह साक्ष्य की अपेक्षा श्रद्धा पर आधारित होता है। यह धर्म का संज्ञानात्मक स्वरूप है। इस प्रकार गाय एक पवित्र वस्तु है। यह मनोवृत्ति श्रद्धा पर आधारित है। पवित्र गाय को अन्य गायों से विभेदित करने वाला कोई तत्व नही है, सिवाय उन लोगों के विश्वास या श्रद्धा के जो इसे पवित्र मानते हैं।

सस्कार, जैसा हमने पूर्व देखा है, एक धार्मिक क्रिया है। यह पवित्र वस्तुओं के प्रति एक व्यवहार है। व्यवहार की पवित्रता पवित्र वस्तुओ के प्रति अपनाई गई मनोवृत्ति से उत्पन्न होती है।

(vi) जड़ देवतावाद (Fetishism)—यह सम्भवत: धर्म का सर्वाधिक प्रारम्भिक रूप है। यह भौतिक वस्तुओं की उनकी रहस्यमयी शक्ति के कारण पूजा है। शब्द 'Fetishes' पुर्तगाली अन्वेषकों द्वारा दिया गया जिन्होंने इसका प्रयोग पश्चिमी अफीका के नीग्रो की लकड़ी की मूर्तियों के लिए किया। परन्तु यह आवश्यक नही कि वे कृत्रिम वस्तुएँ हों। कोई पत्ता अथवा असामान्य आकृति का पत्थर भी पूजा की वस्तु बन सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई तराशी हुई आकृति। 'फैटिश' का सार यह है कि इसके साथ किसी अलौकिक सत्ता का संबंध समझा जाता है जिसमे अच्छा अथवा बुरा करने की शक्ति है। इस शक्ति को आदिम लोग 'माना' (Mana) कहते थे। माना शारीरिक शक्ति नहीं है, यद्यपि यह एक शक्ति अवश्य है। यह एक अलौकिक शक्ति है। इस शक्ति का प्रभाव अच्छा और बुरा, दोनों प्रकार का होता है। यदि इसका प्रभाव अच्छा है तो लोग इसकी आराधना करते थे, परन्तु यदि इसका प्रभाव बुरा है तो इसे अपमानित किया जाता था।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आदिम काल में यह समझा जाता था कि संसार में आत्माओं एवं भूत-प्रेतों का निवास है जो लाभदायक अथवा हानिकारक प्रकृति के हैं। इन भूत-प्रेतों को शांत रखने के लिए विभिन्न प्रकार की विधियाँ अपनाई गईं, जिन्होंने आत्मवाद, टोटमवाद, संस्कारवाद आदि को जन्म दिया।

धर्म प्राय: सभी समाजों में विद्यमान है, परन्तु धार्मिक विश्वास एवं क्रिया के रूप अनन्त एवं विभिन्न हैं। समाज मे इस रूप का निर्धारण अनेक जटिल तत्वों द्वारा होता है। विभिन्न समाज धर्म के विभिन्न तत्वों पर बल देते हैं। कुछ संस्कारवाद को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। इस प्रकार, हिन्दू समाज में संस्कारवाद का अत्यधिक महत्व है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के अवसरो पर मंत्रों का उच्चारण किया जाता है, यद्यपि उनका अर्थ ज्ञात नहीं होता। दूसरे धर्मों में सादी उपासना-विधि होती है, उनमें संस्कारों पर बल नही दिया जाता और न कोई अंधविश्वास होता है। आराधक एवं दैवी शक्ति के मध्य कोई व्यावसायिक मध्यस्थ भी नहीं होता है। कुछ समाजों में धर्म एवं अन्य संस्थाओं के बीच सम्बन्ध अन्य समाजों की अपेक्षा अधिक निकटीय होता है। इस प्रकार, अमेरिकन समाज की अपेक्षा चीनी समाज में यह सम्बन्ध अधिक निकटीय है। इसके अतिरिक्त, जीवन के उन क्षेत्रों के चयन में भी पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है जो धर्म के क्षेत्राधिकार में आते हैं अथवा धर्म-निरपेक्ष रहेंगे। विवाह हिन्दुओं की भाँति धार्मिक संस्कार समझा जा सकता है अथवा पाश्चात्य लोगों की भाँति धर्म-निरपेक्ष कार्य। धर्मों की अपनी केन्द्रीय विषय-वस्तु होती है जिसका निर्धारण लोगों के जीवन-हितों के आधार पर किया जाता है। पाश्चात्य धर्मों की केन्द्रीय विषय-वस्तु कृषिक अर्थ-व्यवस्था से औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तन के कारण एवं परिणामस्वरूप जीवन के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण में परिवर्तनों के कारण बदल गई है।

३. धर्म की उत्पत्ति

(The Origin of Religion)

मनुष्यों में धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। धर्म की उत्पत्ति रहस्य के गर्त मे छिपी हुई है। इस विषय पर लेखकों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लेखक, यथा डेविड ह्यूम (David Hume), मैक्स मूलर (Max Muller) एवं गिडिंग्स (Giddings) का विचार है कि मनुष्य की कृति के रूप में धर्म भ्रम पर आधारित था एवं भय इसकी उत्पत्ति का कारण बना। आदिकालीन मानव का जीवन प्रकृति की गोद में पलता था। प्रकृति की विभिन्न चीज़ों से उसे लाभ व हानि दोनों होते थे। उदाहरणार्थ, यदि सूर्य ठंडक से उसकी रक्षा करता है तो आँधी उसकी झोंपड़ी को उड़ाकर ले जाती है। प्रकृति के विभिन्न रूपों को देखकर आदिमानव के मन में उसके प्रति आतंक, भय और श्रद्धा आदि भावों का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। प्रकृति से भयभीत होकर वह उसकी आराधना करने लगा। (इसे प्रकृतिवाद का सिद्धान्त कहते हैं)। अन्य लेखकों, जिनमे स्पेंसर (Spencer) तथा टायलर (Tyler) का नाम सर्वप्रमुख है, का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति प्रेतात्माओं के भय से हुई एवं आत्मवाद सभी धर्मों का आधार है। उनके अनुसार, आत्मा का

विचार धर्म में केन्द्रीय स्थान रखता है। आत्माएँ मनुष्य के नियंत्रण से बाहर हैं। अतएव उनको प्रसन्न रखने के लिए मनुष्य उनकी आराधना करने लगा। (इसे आत्मा-वाद का सिद्धान्त कहते हैं)। ब्रिटिश मानवशास्त्री राबर्ट मैरेट (Robert Marett) के अनुसार, जीवित सत्तावाद अर्थात् 'माना'—शक्ति में विश्वास जो भौतिक या शारीरिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है—सभी धर्मों की उत्पत्ति का कारण है। 'माना' अशरीरी शक्ति है, इस कारण इसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता। (इसे मानावाद का सिद्धान्त कहा जाता है)। डब्ल्यू० राबर्टसन (W. Robertson) का विचार था कि प्राचीन धर्मों मे संस्थाओ एवं क्रियाओं, अर्थात् संस्कारो की प्रधानता होती थी जिन्हें धर्म का प्रारम्भिकतम रूप समझा जाना चाहिए। दुर्खीम (Durkheim) का भी ऐसा ही विचार था। उसके अनुसार, धर्म की उत्पत्ति 'टोटमवाद' से हुई है। उसने अपनी पुस्तक 'The Elementary Forms of the Religious Life' में यह निष्कर्ष निकाला कि समाज स्वयं धर्म का मूल है। टोटमवाद के आधार पर ही पवित्र और साधारण वस्तुओं में भेद करने की भावना का जन्म हुआ। अतः टोटमवाद ही समस्त धर्मों का प्राथमिक रूप है। (इसे समाजशास्त्रीय सिद्धान्त कहते हैं)। समनर एवं केलर (Sumner and Keller) का विचार है कि धर्म की उत्पत्ति अतिप्राकृतिक अथवा काल्पनिक पर्यावरण के प्रति अनुकूलन की निश्चित आवश्यकता के प्रति अनुक्रिया में हुई। यह पर्यावरण तथ्यगत पर्यावरण के समान वास्तविक दिखलाई देता है एव इसके प्रति अनुकूलन आवश्यक है। उनके अनुसार यदि कोई भाग्याधीन तत्व न होता तो धर्म की उत्पत्ति न हुई होती। (इसे भाग्यवादी सिद्धान्त कहा जाता है)।

परन्तु धर्म की उत्पत्ति को किसी अकेले स्रोत मे नही खोजा जा सकता। इसे किसी एक तत्व—भय, अशारीरिक शक्ति में विश्वास, संस्कारों अथवा निश्चित आवश्यकता की प्रतिक्रिया पर आधारित नहीं समझा जा सकता। न इच्छा और न केवल भावना इसकी उत्पत्ति की व्याख्या कर सकती है। धर्म का प्रारम्भ मानव-चेतना के समान पुराना है। कोई भी आदि समाज ऐसा नही है जिसमें धर्म की अवस्थिति नही थी एवं यदि धर्म सार्वभौमिक परिघटना है तो इसे मानव-प्रवृत्ति की कृत्रिम अवस्था नही समझा जा सकता, परन्तु यह तो एक ऐसी वस्तु है जिसकी जड़ें मानवी मनोविज्ञान में स्थायी रूप से बैठी हुई हैं। गैलोवे (Galloway) ने लिखा है, "यह तथ्य कि मनुष्यों ने प्रत्येक स्थान पर एवं सदैव धर्म का विकास किया है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नही है कि कोई जनजाति अथवा प्रजाति धर्मरहित रही हो, इस सत्यता को इंगित करता है कि धर्म की जड़ें मानव-स्वभाव में हैं। पर्यावरण का कोई संयोग अथवा परम्परा की ग्रहणशीलता को ऐसी वस्तु का मूल नही माना जा सकता जो स्थायी एवं अविरत है। जो अनुभव मे सार्वभौमिक है, वह मनुष्य के जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति होनी चाहिए।" अन्य सामाजिक संस्थाओं को भांति धर्म की उत्पत्ति भी मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं की प्रतिक्रिया में मनुष्य की बौद्धिक शक्ति से अथवा पृथ्वी पर उसके जीवन की सहचरी अवस्थाओं के कारण हुई।

इस प्रकार, धर्म की ऐतिहासिक उत्पत्ति की बात करने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि धर्म उतना ही पुराना है जितनी मानव-जाति। वास्तव में, सामाजिक

संस्थाओं की व्याख्या उनकी उत्पत्ति के वर्णन से नहीं की जा सकती। प्रारम्भिकतम सामाजिक आरम्भों के चिह्नों की खोज करना असम्भव है। चूंकि संस्थाएँ पत्थर नहीं हैं जिनकी खुदाई नहीं की जा सकती, अतएव उनकी उत्पत्ति के बारे में कोई साक्ष्य अप्रत्यक्ष एवं अनिष्कर्षीय होगा। विकासवादियों की कल्पनाओं में अनेक असत्य मान्यताएँ हैं। धर्म एक अति प्राचीन संस्था है। नेंडरथल (Neanderthal) व्यक्तियों में भी, जो २५,००० वर्ष पूर्व रहते थे, धर्म विद्यमान था। सभी आदिम जातियों में भी धर्म पाया जाता था। धर्म का आरम्भ स्वयं संस्कृति के आरम्भ के साथ जुड़ा हुआ है। यह एक अनुपम संस्था है, जबकि अन्य सभी संस्थाओं की उत्पत्ति को मानव की पशुवत् आवश्यकताओं अथवा उसकी शारीरिक विशेषताओं में खोजा जा सकता है। यह स्पष्ट नहीं है कि धर्म मानव के किन लक्षणों पर निर्मित है।

४. धर्म की सामाजिक भूमिका

(The Social Role of Religion)

यद्यपि धर्म एक नितान्त वैयक्तिक वस्तु है, तथापि इसका सामाजिक स्वरूप एवं सामाजिक भूमिका है। यह समाज में शक्तिशाली अभिकरण रहा है एवं इसने अनेक महत्वपूर्ण कार्यों की पूर्ति की है। सेल्बी (Selbie) का कथन है, "बात यह नहीं है कि पवित्र समाज अथवा चर्च ईश्वर बन जाता है अथवा ईश्वर का स्थान ले लेता है, अपितु वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह अपने ईश्वर को समुदाय के सदस्य रूप में, दूसरों के साथ मिलकर प्राप्त कर सकता है, वह समुदाय उस उद्देश्य की पूर्तिहेतु निर्मित होता है जिसके लिए ईश्वर की अवस्थिति है।"[1] *आर्नाल्ड डब्ल्यू० ग्रीन के अनुसार, धर्म के तीन सार्वभौमिक कार्य हैं—*

(i) प्रथम, यह इस संसार में व्यक्तिगत दुखों का युक्तिकरण कर उन्हें सहनीय बना देता है;

(ii) द्वितीय, यह आत्म-महत्व की वृद्धि करता है; एवं

(iii) तृतीय, यह समाज के सामाजिक मूल्यों को एक संसक्त सम्पूर्ण में गूंथने में सहायता देता है।

(i) **व्यक्तिगत दुख की व्याख्या करता है (Explains individual sufferings)**—मनुष्य केवल ज्ञान के आधार पर ही जीवित नहीं रहता। वह एक भावुक प्राणी भी है। धर्म निराशाओं एवं दुखों के समय मनुष्य की भावनाओं को सान्त्वना एवं उसके व्यक्तित्व के समाकलन में योगदान देता है। संसार में, मनुष्य को उपलब्धियों एवं आशाओं के मध्य भी निराशाओं का सामना करना पड़ता है। जिन वस्तुओं को प्राप्त करने का वह प्रयास करता है, वे उसे नहीं मिल पातीं। जब मानवी आशाओं का तुषारापात हो जाता है, जब सारे प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं, तब मनुष्य को स्वाभाविकतया सान्त्वना एवं हानिपूर्ति-हेतु कोई वस्तु चाहिए। जिस धैर्य एवं समभाव से धार्मिक व्यक्ति दुर्भाग्य एवं दुखों को सहन करते हैं, वह धार्मिक विश्वासों एवं क्रियाओं की शक्ति की प्रमुख अभिव्यक्ति है। जब पुत्र की मृत्यु हो जाती है तो मनुष्य सहानुभूति के सांस्कारिक विनिमय में अपने दुख को भूल जाने का प्रयास

1. Selbie, *op. cit*, p. 163.

करता है। वह ईश्वर पर श्रद्धा रखता है एवं उसके मन में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि कोई अदृश्य शक्ति रहस्यमय ढंगों से कार्य करती है जो उसकी हानि को भी अर्थपूर्ण बना देती है। ईश्वर में विश्वास उसकी हानिपूर्ति करता है, जीवन में उसकी रुचि को बनाए रखता है एवं इसे सहनीय बनाता है। समाज एक निश्चित सीमा से परे बौद्धिकता से शासित नहीं हो सकता। इस प्रकार, धर्म शोक एवं भय से मुक्ति दिलाता है। यह व्यक्ति को किसी संकट को मध्यकालीन एवं गौण समझने के योग्य बनाता है। यह व्यक्ति को निराशाओं के सहन करने एवं उसके व्यक्तित्व को समाकलित करने में सहायता करता है।

(ii) **आत्म-महत्व की वृद्धि करता है** (Enhances self-importance)—धर्म मनुष्य को उसके अनन्त विस्तार पर ले जाता है। मनुष्य स्वयं को अनन्त के साथ संयुक्त करता है एवं गौरवान्वित महसूस करता है। अनन्त के साथ संयुक्तीकरण द्वारा आत्म गौरवशाली एवं विजयी बनता है। धार्मिक व्यक्ति की आत्मा संपूर्ण पृथ्वी के साम्राज्य से अधिक मूल्यवान् है। मनुष्य स्वयं को ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति समझता है जिसके साथ उसका मिलन होगा एवं इस प्रकार उसका आत्म महान् एवं दिव्य बन जाता है। समाज को भी धर्म द्वारा इस प्रकार प्रदत्त आत्म-चातुरी से लाभ होता है। धर्म मनुष्य को दूसरे जीवन में सांसारिक असफलताओं की हानिपूर्ति के रूप में पुरस्कार का विश्वास दिलाता है। ऐसा विश्वास अधिकांश निराशा को दूर कर देता है एवं मनुष्यों को समाज में अपनी भूमिका उचित रूप में निभाते रहने हेतु प्रोत्साहन मिलता है।

(iii) **सामाजिक संशक्ति का स्रोत** (A source of social cohension)—धर्म सामाजिक संशक्ति का परम स्रोत है। समाज की प्राथमिक आवश्यकता सामाजिक मूल्यों की सामान्य अधिकृति है जिसके द्वारा समाज जीवित रहता है। इन सामाजिक मूल्यों को वैज्ञानिक ढंग पर प्रमाणित नहीं किया जा सकता, इनका उद्गम धार्मिक विश्वास से होता है। धर्म इन मूल्यों का आधार है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी इन मूल्यों को निर्मित नहीं कर सकते। वस्तुतः ये मूल्य तभी प्रभावी होते हैं, यदि इनको व्याख्या न की जाए। बच्चों को माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए, उन्हें असत्य नहीं बोलना चाहिए अथवा धोखा नहीं देना चाहिए, स्त्रियाँ अपने पति के प्रति श्रद्धावान् हों, व्यक्ति ईमानदार एवं नेक हों, आदि कुछ ऐसे सामाजिक मूल्य हैं जो सामाजिक संशक्ति को बनाए रखते हैं। धर्म मनुष्य को असामाजिक कार्यों का परित्याग करने का आह्वान करता है और उसे अपनी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं को सीमित करने का उपदेश देता है। प्रेम एवं सेवा धर्म की दो महान् शिक्षाएँ हैं। सभी धर्मों ने इनकी शिक्षा दी है। धर्म ने सदा समाज में सद्भावना को जन्म दिया है। ब्लैकमार एवं गिलिन (Blackmar and Gillin) ने समाजीकरण की प्रक्रिया में एवं समाज में नियंत्रण के साधन-रूप में धर्म के मूल्य पर बल देते हुए इसका शक्तिपूर्ण समर्थन किया है। धर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य कदाचित् अनुशासनात्मक था। धर्म ने ही पाशविक अराजकता को दूर कर आज्ञापालन एवं भक्ति का पाठ पढ़ाया।

इसके अतिरिक्त, धर्म पारिवारिक, आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं के रूप को प्रभावित करता है। अनेक अवसरों, यथा जन्म, विवाह, मृत्यु, शिकार, पशुपालन पर धार्मिक संस्कार किए जाते हैं जो परिवार, नातेदारी, हितों एवं राजनीतिक संस्थाओं से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होते हैं। धर्म सभ्यता के जीवन में केन्द्रीय तत्व रहा है। यह एक प्रकार की आध्यात्मिक व्याकुलता ही होती है जो सभ्यता का निर्माण करती है और जीवन को ऐसा रूप प्रदान करने का प्रयास करती है जो जिज्ञासा की संतुष्टि कर सके।

(iv) सामाजिक कल्याण (Social welfare)—धर्म ने मनुष्य की अन्य सेवाएं भी की हैं, जिनमें समनर एवं कैलर ने कार्य की व्यवस्था, पूंजी के संचय, विलासी वर्ग के जन्म, कला एवं संस्कृति के प्रति उत्साहशील पुरोहित वर्ग की उत्पत्ति को सम्मिलित किया है। पुरोहित वर्ग ने ओषधि की आधारशिला रखी। पुरोहितों ने विद्वानों एवं वैज्ञानिकों के कार्यों की भी पूर्ति की। जादू ने पर्यवेक्षण एवं प्रयोगीकरण को आधार प्रदान किया जिससे विज्ञान का विकास हुआ। धर्म ने शिक्षा के प्रसार द्वारा मानवता की सेवा की है। धार्मिक ग्रन्थ महान् साहित्यिक कृतियाँ एवं ज्ञान के भंडार हैं। इसने परोपकारिता एवं संयम पर बल दिया है। इसने लोगों में दान की भावना को उत्पन्न किया जो अनेक परोपकारी संस्थाएँ, यथा अस्पताल, विश्रामगृह, मन्दिर आदि खोले जिनसे निर्धनों एवं जरूरतमन्द लोगों को सहायता मिली।

(v) सामाजिक नियंत्रण का अभिकरण (Agency of social control)—धर्म किसी न किसी रूप में अच्छे अथवा बुरे व्यवहार के परिणामों पर बल देता है। पुरस्कार अथवा दण्ड अच्छे अथवा बुरे कार्यों का परिणाम होते हैं। धर्म लोकरीतियों एवं प्रथाओं का उनके पीछे अतिप्राकृतिक शक्ति की संतुष्टियों की ओर ध्यान दिला कर समर्थन करते हैं। वे कुछ कार्यों को न केवल समाज, अपितु ईश्वर के प्रति अपराध घोषित करते हैं। अवज्ञा का परिणाम आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा निन्दा होता। अपने सकारात्मक रूप में धर्म जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है। यह कुछेक आदर्शों एवं मूल्यों में विश्वास रखता है। धार्मिक व्यक्ति इन आदर्शों एवं मूल्यों को अपने जीवन में स्थान देता है। धर्म हमारे युवकों को नैतिक, अनुशासित एवं समाज के समाजीकृत नागरिक बनने में सहायता दे सकता है। जानसन (Johnson) का कथन है कि "धर्म कभी भी केवल मात्र एक एकीकरण-शक्ति नहीं है, अपितु यह एकीकरण में योग देता है।" हिन्दू सामाजिक व्यवस्था धर्म पर आधारित है। इस प्रकार, नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों प्रकार से धर्म सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण साधन है।

(vi) धर्म आर्थिक जीवन को भी प्रभावित एवं नियमित करता है—(Religion controls and affects economic life also)—मैक्स वेबर (Max Weber) का विचार था कि धर्म अपने आराधकों की आर्थिक व्यवस्था को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार उसके अनुसार, पूंजीवाद का जन्म प्रोटेस्टेंट राष्ट्रों, यथा इंग्लैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका एवं हालैण्ड में हुआ। यह इटली एवं स्पेन में

विकसित नहीं हुआ जहाँ कैथोलिक धर्म प्रचलित है। हिन्दू धर्म भौतिक प्रगति की अपेक्षा आध्यात्मिक प्रगति पर अधिक बल देता है। अतएव भारत में भौतिकवाद का विकास न हो सका।

धर्म की हानियाँ (Disservices of religion)—इस प्रकार, धर्म मानव-समाज में एक महान् संगठनकारी शक्ति है। परन्तु इसके साथ ही यह विनाशकारी भी सिद्ध हुआ है। मार्क्स ने धर्म को 'लोगों के लिए अफीम' (opiate of the masses) कहा है जिसने उनको हीनावस्था में रखा है। जनता को अपने भाग्य से संतुष्ट रहने की शिक्षा दी जाती है जो उन्हें भाग्यवादी बना देती है और उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। धर्म का इतिहास अधिकांशतया अत्याचारों का इतिहास है। इसके नाम पर युद्ध लड़े गए हैं। धर्म के नाम पर उन्नति को रोक दिया गया है। यह कट्टरता एवं अंधविश्वास का रूप धारण कर लेता है तथा विचार-स्वातन्त्र्य को दबाता है। इसने युद्ध एवं निर्धनता, शोषण एवं भाग्यवाद, वेश्यावृत्ति एवं निठल्लेपन का समर्थन किया है एवं ऐसी क्रियाओं, यथा मानव-भक्षण, आत्म-हत्या, दासता, अस्पृश्यता एवं लैंगिक संकरता का पक्ष लिया है। कदाचित् ही कोई ऐसी बुराई हो जिसका किसी न किसी समय धर्म ने समर्थन न किया हो। इलियट एवं मेरिल ने लिखा है, "धर्म की कट्टरता एवं हठधर्मिता ने बार-बार सत्य की खोज में बाधा पहुँचाई है एवं जिज्ञासु व्यक्तियों को तथ्यों की खोज करने से रोका है। इसने विज्ञान की प्रगति को अवरुद्ध किया, विद्वानों द्वारा स्वतन्त्र खोज में हस्तक्षेप किया तथा सामान्य लोगों की प्रजातंत्रीय आकांक्षाओं का दमन किया।" भारत में देश का विभाजन धर्म के नाम पर हुआ एवं आज भी धर्म साम्प्रदायिकता के रूप में राष्ट्रीय अखंडता के लिए भय बना हुआ है।

परन्तु विभिन्न हानियों, जो धर्म के नाम पर हुई है, के बावजूद युगों तक इसकी स्थिरता इसके मूल्य का प्रमाण है। यह आधारभूत मूल्यों एवं नैतिक नियमों का प्रतिपादक रहा है जो समाज को संगठन एवं व्यक्तित्व को समाकलन प्रदान करते हैं। समनर एवं कैलर ने निम्नलिखित शब्दों में धर्म पर अपने निर्णय का साररूप दिया—

"यदि कोई धर्म के विरुद्ध आक्षेपों का निष्पक्षतापूर्वक अवलोकन करे एवं उन सभी को सर्वांगीण अथवा कुछ मात्रा में स्वीकार कर ले तथा तदुपरांत धार्मिक प्रणालियों द्वारा मानव जाति पर किए गए अत्याचारों एवं हानियों को भी स्वीकार कर ले, तब भी अन्त में उसे यह मानना पड़ेगा कि धर्म की जो कीमत दी गई है, वह इसके योग्य थी। चाहे धर्म महँगा पड़ा है, तथापि इसके अच्छे प्रभाव भी रहे हैं।"[1]

५. धर्म एवं विज्ञान
(Religion and Science)

धर्म एवं विज्ञान परस्पर-विरोधी हैं (Religion is incompatible with science)—यह प्रश्न कि क्या विज्ञान एवं धर्म परस्पर-विरोधी हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के वाद-विवादों में एक प्रमुख विषय था। कुछ लेखकों का विचार है कि विज्ञान एवं धर्म परस्पर-विरोधी हैं। हैरी एल्मर बार्न्स (Harry Elmer Barnes)

1. Sumner and Keller, *The Science of Society*.

ने लिखा है, "जबकि रूढ़िवादी धर्म एवं आधुनिक विज्ञान के मध्य परस्पर-विरोधी संघर्ष है, उत्तरोक्त एवं मानववाद के मध्य कोई नहीं है, क्योंकि मानववादी स्पष्टतया अपने धर्म को विज्ञान की खोजों पर आधारित करते हैं।" रूढ़िवादी धर्म का निश्चित रूप में विज्ञान के साथ संघर्ष है। इस तथ्य का प्रमाण उपलब्ध है कि रूढ़िवादी धर्म ने विज्ञान का विरोध किया एवं प्रत्येक सम्भव विधि से इसके विकास में हस्तक्षेप किया। कोपरनिकस और गैलिलियो को अपनी खोजें समाज के समक्ष प्रस्तुत करने में बड़ी कठिनाइयाँ हुईं। गैलिलियो को धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध परिणाम के कारण फाँसी पर लटकना पड़ा। गैलिलियो ने सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है, यह धार्मिक विश्वास के विरुद्ध था। इसी प्रकार धर्म ने डारविन और हक्सले के परिणामों को झूठा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। धर्म की रूढ़िवादिता के कारण विज्ञान की प्रगति बहुत समय तक रुकी रही। जैविक विकास के सिद्धान्त का भी पर्याप्त लम्बे समय तक प्रोटेस्टेंट एवं कैथोलिक दोनों सम्प्रदायों द्वारा विरोध होता रहा। साधारण लोग अपना धार्मिक विश्वास छोड़कर वैज्ञानिक सत्य को मानने के लिए शीघ्र तैयार नहीं होते थे और इस प्रकार धार्मिक विश्वास विज्ञान और साधारण जनता में संघर्ष उत्पन्न कर देते थे। समनर और केलर लिखते हैं, "धर्म के किसी ऐसे प्रकार की खोज करना, जिसने स्वतन्त्र खोज का स्वागत किया हो, उतना ही कठिन है जितना सरल धार्मिक सत्ताओं द्वारा प्रसिद्ध खोजकर्ताओं को फाँसी देना अथवा उन पर अत्याचार करना।" ऐण्ड्रयू डी० ह्वाइट (Andrew D. White) का विचार है कि विज्ञान एवं धर्म में संघर्ष वास्तव में रूढ़िवादिता एवं विज्ञान के मध्य संघर्ष है, न कि धर्म एवं विज्ञान के मध्य। परन्तु बार्न्स (Barnes) के अनुसार इस विचार को स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि रूढ़िवादिता धर्म-दर्शन का एक अंग है। अमेरिकन समाजशास्त्री क्लीफोर्ड-कर्क-पैट्रिक (Clifford Kirk-Patrick) का विचार था कि स्वयं विज्ञान की अपेक्षा, विज्ञान के दर्शन एवं उसकी पद्धति का धर्म के साथ संघर्ष है। उसने वैज्ञानिक उपागम एवं धार्मिक उपागम के मध्य अन्तरों की व्याख्या करके उनको विरोधी पाया। विज्ञान पर्यवेक्षण एवं इन्द्रियों अथवा उपकरणों द्वारा प्रयोग पर आधारित है। यह किसी ऐसे निष्कर्ष को मान्यता प्रदान नहीं करता, जिसे परीक्षण एवं आनुभविक मूल्यांकन के आधार पर वैध सिद्ध नहीं किया जा सकता। धर्म का सम्बन्ध अतिप्राकृतिक संसार से है। यह विश्वास एवं दैवी ज्ञान पर आधारित है।

विज्ञान एवं धर्म परस्पर-विरोधी नहीं हैं (Science and religion are not incompatible)—दूसरी ओर सी० ई० एम० जोड (C. E. M. Joad) ने लिखा है, "मैंने इस सामान्य विचार को स्थापित करने का प्रयास किया है कि विज्ञान एवं धर्म में कोई विरोध नहीं है। मनुष्य दो विभिन्न व्यवस्थाओं अथवा मंडलों का सदस्य है, विज्ञान इनमें से केवल एक पर विचार करता है और उस पर भी केवल उसी सीमा तक जिस तक इसे दूसरे से भली प्रकार विलग किया जा सकता है एवं एक समग्र ज्ञान के रूप में इसका अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान अतिप्राकृतिक व्यवस्था के प्रभाव को वर्णित नहीं कर सकता, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्राकृतिक व्यवस्था एवं उसके प्रभाव से है। यदि ऐसा है तो

हमें इस परिणाम को मान लेना चाहिए कि प्राकृतिक व्यवस्था की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती, जब तक उसमें अतिप्राकृतिक प्रभावों को भी ध्यान में न रखा जाए।"[1]

वास्तव में यह समझ पाना कठिन है कि विज्ञान का धर्म के साथ किस प्रकार विरोध हो सकता है। विज्ञान का उद्देश्य विश्व के भौतिक स्वरूप का अध्ययन करना है, जबकि धर्म की तात्कालिक अध्ययन-वस्तु ईश्वर एवं अतिप्राकृतिक जीवन है। नि:संदेह विज्ञान वास्तविकता के अधिकाधिक पक्षों का अध्ययन कर रहा है एवं नक्षत्रों, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है, तथापि यह सभी समस्याओं का समाधान न कर सका है एव न ही यह आशा है कि यह मनुष्य के विश्व के साथ सम्बन्धों से संबंधित सभी समस्याओं का समाधान खोज लेगा। किसी वस्तु को, जो वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र से बाहर है, अस्तित्वहीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। धर्म अवैज्ञानिक नहीं है, यह गैर-वैज्ञानिक है।

धार्मिक व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। चाहे हम विज्ञान के क्षेत्र में कितनी ही उन्नति कर लें, हम धर्म के बिना नहीं रह सकते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक, यथा आईन्सटीन भी धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। ग्रीन (Green) ने लिखा है, "यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य एवं समाज विज्ञान के बिना जीवित रह सकने में समर्थ हैं। परन्तु मनुष्य एवं समाज धर्म के बिना जीवित रह सकते हैं, यह अभी सिद्ध नहीं हुआ है।"[2] आगबर्न एवं निमकाफ ने लिखा है, "कुछ लोग ऐसे हैं जो सोचते हैं कि वे धर्म के बिना निर्वाह कर सकते हैं, परन्तु वे धार्मिक अनुभव के मूल्य से अपरिचित हैं। धर्म की आवश्यकता व्यक्ति अथवा काल के अनुसार कम अथवा अधिक हो सकती है। आधुनिक जीवन में तनाव अत्यधिक है। हमारे अस्पताल मानसिक रोगियों से भरे पड़े हैं। इसका कदाचित् एक कारण जीवन के बढ़ते हुए तनाव को दूर करने में धर्म की असफलता है। दुर्भाग्यवश, धार्मिक विश्वास को किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से संयुक्त कर दिया जाता है, नए ज्ञान द्वारा उत्तरोक्त को जब धक्का लगता है तो उसमें अनेक व्यक्तियों का विश्वास भी समाप्त हो जाता है। वे इस तथ्य को नहीं समझ पाते कि धार्मिक अनुभूति विशिष्ट विश्वासों से स्वतंत्र वस्तु है एवं वे नए ज्ञान के संदर्भ में अपने विश्वासों की पुनर्रचना कर सकते हैं। चर्च भी इस स्थिति के लिए उत्तरदायी है, क्योंकि उसने अपने धार्मिक मत को नवीन तथ्यों एवं दृष्टिकोणों से अनुकूलित नहीं किया है।"[3] यदि धर्म आत्मा को शांति देता है, आत्म का अनन्त तक विस्तारण करता है, जीवन को सहनीय बनाता है और हमारे अंदर श्रेष्ठ लक्ष्यों को जागृत करता है तो विज्ञान की प्रगति के बावजूद इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। धर्म का अतार्किक स्वरूप समाज एवं व्यक्ति, दोनों के लिए महत्वपूर्ण कार्य करता है, जिसे विश्व की धार्मिक व्याख्या के स्थान पर वैज्ञानिक व्याख्याओं को प्रस्थापित करके समाप्त नहीं किया जा सकता। धर्म को विज्ञान की निर्जीव भूमि को पुरित एवं ठीक करने हेतु आवश्यक दिव्य अंतर्दृष्टि समझा जा सकता है। धर्म एवं विज्ञान में कोई विरोध नहीं है, अपितु मनुष्य एवं विश्व की प्रकृति को अधिक पूर्ण रूप से समझने के लिए धर्म की अधिक आवश्यकता

1. Joad, C. E. M., *The Recovery of Belief*, p. 151.
2. Green, Arnold, *Sociology*, p. 459.
3. Ogburn and Nimkoff, *op. cit.*, p. 488.

है। इसके अतिरिक्त, धार्मिक विश्वासों का सामाजिक मूल्य उनके सही होने पर निर्भर नहीं है। यह तो केवल विश्वास पर आधारित है। यह तथ्य कि वे मानवीय तर्क से परे की वस्तु हैं, उनके सामाजिक मूल्य को समझने की प्रमुख कुंजी है। उनका प्रभाव इसी बात पर निर्भर है कि वैज्ञानिक रूप से वे असत्य हैं।

आधुनिक समाज में धर्म की आवश्यकता कम महत्वपूर्ण नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, आधुनिक जीवन मे अत्यधिक तनाव है। मानसिक रोगियों की संख्या वृद्धि की ओर है। आत्महत्या के मामले भी बढ़ रहे हैं। विज्ञान आधुनिक जीवन की सभी समस्याओ का समाधान नहीं कर सकता। यदि कोई जनसंख्या अपनी मनोवृत्तियों में अत्यधिक तथ्यात्मक, अपने व्यवहार में अत्यधिक विचारशील एवं अपने मूल्यों में अत्यधिक कूटनीतिक बन जाती है तो सम्भवत: व्यवस्था एवं संरक्षण बनाए रखने हेतु यह यथेष्ठ रूप मे संयुक्त नहीं रह सकती। धर्म-निरपेक्षता की सीमा होती है। यह असम्भव-सा दिखाई देता है कि विज्ञान धर्म को अथवा धर्म विज्ञान को पूर्णतया विस्थापित कर देगा।

निःसंदेह यह सही है कि कभी-कभी धर्म को अपर प्रकृतिवाद एवं हठधर्मिता से अत्यधिक संबद्ध कर दिया जाता है, परन्तु धर्म की अर्वाचीन प्रवृत्ति रूढ़िवादिता की अपेक्षा सामाजिक मूल्यो पर अधिक बल देने की ओर है। इसने अपने सिद्धान्तों को वैज्ञानिक ज्ञान के साथ संयत करने का प्रयत्न किया है। धर्मशास्त्री सामाजिक के सिद्धान्तो की पचास वर्ष पूर्व की अपेक्षा अब कम आलोचना करते हैं। धार्मिक नेता भौतिक एवं सामाजिक घटना-वस्तु की व्याख्या में अब अधिक वैज्ञानिक तथ्यों का प्रयोग करते हैं। वे स्वास्थ्य को बनाए रखने, जन्म-दर घटाने, रोगो का उपचार करने, काम-भावना को नियंत्रित करने एवं आर्थिक गतिविधियों को नियमित करने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान के प्रभावी प्रयोग को प्रोत्साहित करते हैं। मानववादियो ने 'ईश्वर की पूजा की अपेक्षा मनुष्य की सेवा' के आधार पर धर्म का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। आधुनिक प्रवृत्ति धर्म के समाजीकरण एवं लौकिकीकरण की ओर है। यदि एक बार धर्म रूढ़िवादिता एवं अपर-प्रकृतिवाद से ऊपर उठ गया तो यह प्रबल सृजनात्मक शक्ति बन जाएगा जो बनाए रखने योग्य होगी। भविष्य के लिए इसे स्वयं को जीवन की परिवर्तित दशाओं के अनुकूल बना लेना चाहिए। जितना अधिक यह वर्तमान दशाओं एवं तथ्यात्मक ज्ञान के साथ समजित होगा, उतनी ही अधिक संस्था के रूप में इसके प्रभावी बनने की सभावना होगी। बार्न्स (Barnes) ने ठीक ही कहा है, "संरक्षण-योग्य धर्म ईश्वर को प्रसन्न करने की अपेक्षा समाज के लाभ हेतु लोगों को संगठित एवं उनकी गतिविधियों का *मार्गदर्शन करने वाला होना चाहिए।"*

६. भारत में लौकिकीकरण
(Secularization in India)

लौकिकीकरण का अर्थ (Meaning of Secularisation)

भारत जो किसी समय आध्यात्मिकता पर बल देने वाला धार्मिक देश था, अब लौकिकीकरण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। एम० एच० श्रीनिवास (*M. H. Srinivas*) के अनुसार, "शब्द 'लौकिकीकरण' का तात्पर्य है कि पहले जिसे धार्मिक

समझा जाता था, उसे अब ऐसा नहीं समझा जाता एवं इसमें विभेदीकरण की प्रक्रिया भी निहित है जिसके अंतर्गत समाज के विभिन्न स्वरूप—आर्थिक, राजनीतिक, विधिक एवं नैतिक एक-दूसरे से अधिक पृथक् होते जाते हैं।" इस प्रकार, लौकिकीकरण धर्मवाद का विपरीत है। दूसरे शब्दों मे, जैसे-जैसे लौकिकीकरण का विकास होता है, धर्मवाद का ह्रास होता है। अनेक धार्मिक क्रियाएँ एवं सांस्कारिक उत्सव जो किसी समय भारतीय लोगों के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के अंग थे, उनका अब परित्याग कर दिया गया है। न केवल नगरों मे, अपितु देहातों में भी लौकिकीकरण की प्रक्रिया को कार्यशील देखा जा सकता है। हमारे दैनिक जीवन में धर्म का स्थान निश्चय ही कम हो गया है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के उत्सवों पर अब पुराने सभी संस्कारों को नहीं किया जाता। हिन्दू धर्म पर अन्य धर्मों की अपेक्षा लौकिकीकरण का प्रभाव अधिक है। लौकिकीकरण की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) धर्मवाद का ह्रास (Decrease of religionism)—जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, लौकिकीकरण की वृद्धि में धर्मवाद का ह्रास निहित है। हिन्दू समाज में जीवन के विभिन्न पक्षों पर धर्म के गिरते हुए प्रभाव के कारण लौकिकीकरण का अधिक प्रभाव पड़ रहा है।

(ii) विभेदीकरण (Differentiation)—लौकिकीकरण की वृद्धि सामाजिक जीवन के विभिन्न स्वरूपों में विभेदीकरण उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार, वर्तमान समाज में आर्थिक, राजनीतिक, विधिक एवं नैतिक प्रश्नों को एक-दूसरे से पृथक् रखा जाता है। धर्म उनके समाधान को प्रभावित नहीं करता। आर्थिक प्रश्नों का समाधान आर्थिक नियमों के आधार पर किया जाता है; इसी प्रकार राजनीतिक प्रश्नों का समाधान राजनीतिक नियमों के आधार पर होता है। इस प्रकार, धर्म जो पहले जीवन के विभिन्न स्वरूपों को एक सूत्र में संयुक्त रखता था, का महत्व अब समाप्त हो गया है। राजनीतिक को नैतिक से विलग रखा जाता है; नैतिक को आर्थिक से।

(iii) विवेकशीलता (Rationality)—विवेकशीलता लौकिकीकरण की अगली विशेषता है। मानव-जीवन की समस्याओं की अब विवेकशील व्याख्या की जाती है एवं उनका तर्कयुक्त समाधान खोजने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन प्रथाओं एवं परम्पराओं का अनुसरण शिक्षित व्यक्ति द्वारा उसी दशा में किया जाता है यदि ये उसे युक्तिसंगत दिखाई देती हैं।

(iv) वैज्ञानिक दृष्टिकोण (Scientific attitube)—लौकिकीकरण की अन्य विशेषता यह है कि वैज्ञानिक खोजों ने पुरानी प्रथाओं एवं क्रियाओं में लोगों के विश्वास को समाप्त कर दिया है। अनेक प्राकृतिक घटनाओं एवं सामाजिक परिघटना की धार्मिक व्याख्याओं का स्थान वैज्ञानिक व्याख्याओं ने ले लिया है।

लौकिकीकरण के कारण (Causes of Secularization)

लौकिकीकरण के कारणों में निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं—

(i) आधुनिक शिक्षा (Modern education)—भारत में लौकिकीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण पाश्चात्य शिक्षा है जिसने पाश्चात्य संस्कृति का सूत्रपात

किया एवं भारतीय संस्कृति के प्रभाव को कम कर दिया। कहा जा सकता है कि भारत में लौकिकीकरण की प्रक्रिया इस देश में अंग्रेजों के आगमन से आरम्भ हुई। आधुनिक शिक्षा ने मानवी समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया। शिक्षित वर्ग ने अनेक परम्परागत विश्वासों एवं क्रियाओं के लिए वैज्ञानिक व्याख्याओं की खोज करने का प्रयत्न किया। सहशिक्षा-प्रणाली ने समाज में स्त्रियों की भूमिका के बारे में अनेक विश्वासों को समाप्त कर दिया। विवाह, व्यवसाय एवं अन्य मानवी क्रियाओं के प्रति धर्म-निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया गया।

(ii) यातायात एवं संचार के साधनों का विकास (Development of the means of transport and communication)—यातायात एवं संचार के साधनों में परिवर्तनों ने शारीरिक गतिशीलता को बढ़ा दिया है। देश के विभिन्न भागों में रहने वाले व्यक्तियों के अंतर्मिश्रण से अधिकांश भ्रांतियाँ दूर हो गयी एवं उदार विचारों का विकास हुआ। जाति-प्रणाली को धक्का लगा एवं अस्पृश्यता-सम्बन्धी विचारों में भी परिवर्तन आया। यातायात के साधनों की वृद्धि ने ग्रामीण समुदाय के लौकिकीकरण में काफी सहायता की है।

(iii) सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन (Social and religious reform movements)—भारतीय नेताओं, यथा राजा राममोहन राय, सर सैयद अहमद खाँ, केशवचन्द सेन, स्वामी दयानन्द, देवेन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए विभिन्न सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने भी भारत में लौकिकीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान की।

(iv) नगरीकरण (Urbanization)—लौकिकीकरण ग्रामीण जीवन की अपेक्षा नगरीय जीवन में अधिक प्रमुख है। मकानों की कमी, यातायात एवं संचार के साधनों की बहुलता, आर्थिक समस्याओं, शोभाचार, शिक्षा, नगरीय सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना, पाश्चात्य संस्कृति का नगरीय जीवन पर प्रभाव, व्यक्तिवाद —इन सभी तत्वों ने नगरीय दृष्टिकोण को धर्म-निरपेक्ष बना दिया।

(v) विधान (Legislation)—अंग्रेज शासकों ने अनेक अधिनियम, यथा विधवा पुनर्विवाह कानून, १८५६; जाति अयोग्यताएँ उन्मूलन अधिनियम, १८५०, विशेष विवाह कानून, १८७२ पारित किए जिन्होंने भारतीय लोगों के रूढ़िगत विचारों पर प्रहार किया। आधुनिक समय में हिन्दू विवाह कानून, १९५५; हिन्दू उत्तराधिकार कानून, १९५६; हिन्दू-विधवा पुनर्विवाह कानून, १९५६; पालन-पोषण कानून एवं दत्तक-ग्रहण कानून ने विवाह एवं परिवार की हिन्दू संस्थाओं के लौकिकीकरण में योग दिया है।

(vi) भारतीय संविधान (Indian constitution)—भारत के संविधान ने लौकिकीकरण की प्रक्रिया को द्रुत बनाया है। संशोधित प्रस्तावना में भारत को धर्म-निरपेक्ष घोषित किया गया है। सभी नागरिकों को जाति, लिंग अथवा सम्प्रदाय के भेदभाव के बिना समान अधिकारों का विश्वास दिलाया गया है। सार्वजनिक कुएं एवं विनोद-स्थान सभी जातियों के लिए समान रूप से खुले हैं। नागरिकों को कोई भी व्यवसाय करने की छूट है। अस्पृश्यता को अपराध घोषित किया गया है।

धर्म की स्वतंत्रता से सम्बन्धित धाराएँ २७-३० भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाती हैं। भारतीय संविधान ने भारतीय जीवन के लौकिकीकरण मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(vii) पाश्चात्य संस्कृति (Western culture)—पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने भारतीय जीवन का लौकिकीकरण किया है। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, विषयासक्ति, अधर्मवाद एवं स्वच्छदता पर बल देती है। इसने भारत मे लोगों के पारिवारिक सम्बन्धों एवं दृष्टिकोण को प्रभावित किया है। केवल धर्म ही अब विवाह, शिक्षा, लिंग एवं पारिवारिक जीवन अथवा आर्थिक गतिविधियों से संबंधित विषयों का निर्धारण नही करता। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावाधीन भारतीय संस्कृति ने नए विचारों को आत्मसात् कर लिया है। सांस्कृतिक गतिविधियों की धार्मिक व्याख्या का स्थान धर्म-निरपेक्ष व्याख्या ने ले लिया है। लौकिकीकरण के प्रभाव को साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है जिनके विषय अब धर्म-निरपेक्ष, वैज्ञानिक, तर्कयुक्त एवं प्रजातंत्रीय विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं। भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है, अतएव राज्य द्वारा प्रचार के सभी साधन धर्म-निरपेक्षता का प्रचार करते हैं।

लौकिकीकरण ने *किसी अन्य धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म को अधिक प्रभावित* किया है। इसका कारण यह मालूम होता है कि हिन्दू धर्म में कोई ऐसी स्थायी अकेली धार्मिक प्रणाली नहीं है जिसका ऐसे सभी लोगों द्वारा जो स्वयं को हिन्दू कहते हैं, पालन किया जाना अनिवार्य हो। हिन्दुत्व एक व्यापक धर्म है जिसमे अनेक सम्प्रदाय सम्मिलित हैं जो विभिन्न देवताओं मे विश्वास करते हैं एवं विभिन्न धार्मिक नेताओं का अनुसरण करते हैं। इन सभी सम्प्रदायों से संबंधित लोग हिन्दू हैं, परन्तु उनका कोई अकेला विश्व-हिन्दू-संगठन अथवा जीवन का सामान्य ढंग नही है। अनेक लोग ऐसे हैं जो हिन्दुत्व के किसी नियम का पालन नही करते, तथापि हिन्दू कहलाते हैं। उनका शाकाहारी होना आवश्यक नहीं है। उनका एकपत्नीत्व होना आवश्यक नही है। उनके लिए ईश्वर में विश्वास करना भी आवश्यक नही है। उनका मंदिर जाना भी आवश्यक नही है। जन्म, विवाह अथवा हिन्दू पर्वों के अवसर पर उनके लिए धार्मिक क्रियाओं का करना भी आवश्यक नही है। मुसलमान से कुरान पढ़ने एवं उसमें विश्वास करने की अपेक्षा की जाती है, ईसाई से बाइबिल पढ़ने की आशा की जाती है, परन्तु ऐसा कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं है जिसको पढने अथवा जिसमे विश्वास करने की हिन्दू धर्म मे अपेक्षा की जाती हो। मुसलमान प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक नमाज के लिए मस्जिद में जाते हैं; ईसाई रविवार को धार्मिक मंडली में सम्मिलित होते हैं, परन्तु हिन्दू धर्म में ऐसा कोई नियम नही है जिसके अंतर्गत हिन्दुओं द्वारा किसी निश्चित दिवस को धार्मिक सभा में भाग लेने की व्यवस्था हो। हिन्दू-संगठन की शिथिलता एवं हिन्दू धर्म के नियमों की विरोधी विविधता ने अन्य धर्मों की अपेक्षा हिन्दुत्व के लौकिकीकरण को तीव्र गति प्रदान की है।

७. नैतिकता का अर्थ

(The Meaning of Morality)

नैतिकता का सम्बन्ध अच्छे अथवा बुरे से है (Morality is concerned

with good and evil)—प्रत्येक मानवी सम्बन्ध दो विचारों से निर्यमित होता है—एक, क्या है एवं दूसरा, क्या होना चाहिए। प्रत्येक समूह अपने सदस्यों के लिए आचरण के कुछ नियमों को निर्धारित करता है जिनके पालन की उनसे अपेक्षा की जाती है। परिवार निर्धारित करता है कि बच्चों को अपने माता-पिता की आज्ञा-पालन करना चाहिए। पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति श्रद्धावान् हों। पाठशाला निर्धारित करती है कि विद्यार्थियों को अपने शिक्षकों का सम्मान करना चाहिए। राज्य निर्धारित करता है कि राजनीतिज्ञ अपने पदों को सार्वजनिक दायित्व समझें। गोष्ठी अथवा संघ निर्धारित करता है कि सदस्य इसके हितार्थ कार्य करें। संक्षेप में, प्रत्येक समूह में सामाजिक व्यवहार के कुछ नियम पाए जाते हैं जिनका इसके सदस्यों द्वारा पालन किया जाता है अथवा किया जाना चाहिए। अच्छे अथवा बुरे से संबंधित इन नियमों को जिनका बोध हमारी आत्मा द्वारा कराया जाता है, नैतिकता कहते हैं। इन नियमों को समुदाय मान्यता प्रदान करता है। ईमानदारी, वफादारी, सत्यता, नेकी आदि कुछ नैतिक अवधारणाएँ हैं। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति नैतिक रूप से अच्छा है तो हमारा अभिप्राय यही होता है कि वह विश्वास-योग्य, ईमानदार, वफादार एवं नेक है।

नैतिकता की अवधारणा को समझने के लिए इसका धर्म एवं सामाजिक संहिता से सम्बन्ध समझना ठीक होगा।

धर्म एवं नैतिकता (Religion and Morality)

धर्म एवं नैतिकता सहगामी हैं (Religion and morality go together)—धर्म एवं नैतिकता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो कुछ अच्छा है, वह ईश्वर की भी इच्छा है। अतएव, ईश्वर की इच्छा की पूर्ति एवं नैतिक कार्यों का पालन एक ही प्रक्रिया के दो स्वरूप हैं। नैतिकता एवं धर्म दोनों आंतरिक होते हैं जिनका उच्चतर विधान, जो राज्य-क्षेत्र एवं राज्य-नियंत्रण की सीमा से बाहर है, से सम्बन्ध है। नैतिकता धार्मिक विश्वासों की स्थिरता के लिए मार्ग प्रशस्त करता है, जब कि धर्म अपनी अपर-प्राकृतिक सपुष्टियों द्वारा नैतिकता को प्रबलीकृत करती है। कुछ नैतिक मूल्यों का स्रोत अपर-प्राकृतिक बतलाया जाता है। निर्वाण एवं परमानन्द की व्याख्या नैतिक लक्ष्यों के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध के संदर्भ में की जाती है। जीवन के क्रम में व्यक्ति द्वारा अनुभूत नैतिक मूल्यों को धर्म में विनियुक्त एवं समाविष्ट कर लिया जाता है। इन मूल्यों को विनियुक्त करके धर्म उनको शक्ति प्रदान करता है तथा लोगों को उत्कृष्ट एवं शुद्ध रूप में लौटा देता है। 'दस आदेश' यहूदी-ईसाई धर्म का अंग बनने से पूर्व लोकाचार थे। इस विश्वास ने, कि वे ईश्वर से प्राप्त हुए हैं, इन आदेशों को अधिक बाध्यकारी शक्ति प्रदान कर दी। धर्म एवं नैतिकता दोनों मानव-आचरण को नियंत्रित करते हैं। मैथ्यू आर्नाल्ड (Mathew Arnold) के शब्दों में धर्म, भावना से मिश्रित नैतिकता है। बेंजामिन किड (Benjamin Kidd) एवं अन्य लेखकों का विचार है कि धर्म एवं नैतिकता सहगामी हैं तथा धर्म के अवलम्ब के बिना नैतिकता का कोई आधार नहीं है। एफ० एच० ब्रैडले (F. H. Bradley) के शब्दों में, "धार्मिक बनना हमारा नैतिक कर्तव्य है।"

मैकाइवर जैसे लेखकों का विचार है कि धर्म एवं नैतिकता की उत्पत्ति एक-साथ हुई तथा उन्होंने एक-दूसरे को शक्ति प्रदान की है। वह लिखता है, "हम यह नहीं कह सकते कि पहले धार्मिक नियम उत्पन्न हुए या नैतिक नियम। सामाजिक तथा नैतिक चिन्तन के तत्वों को धर्म अपने में मिला लेता है और नैतिक नियम तो धार्मिक धारणाओं से बहुत कुछ प्रभावित होता है। नैतिक नियमों के निर्देशों ने धार्मिक विश्वासों के स्थायित्व का पथ प्रशस्त किया। धार्मिक नियमों ने अपनी अति-प्राकृतिक सम्पुष्टियों के सहारे एक समूह की नीति को स्थायी बना दिया है।"

नैतिकता एवं धर्म को विलग किया जाना चाहिए (Morality and religion should be dissociated)—परन्तु अन्य लेखक, यथा स्पेंसर, बर्ट्रेंड रसेल, हक्सले एवं चार्ल्स बूगले (Charles Bougle) का विचार है कि धर्म एवं नैतिकता सहगामी नहीं हैं तथा दोनों को विलग किया जाना चाहिए। उनके अनुसार, धर्म एवं नैतिकता की उत्पत्ति भिन्न स्रोतों से हुई है। उनके विचारानुसार, नैतिक संहिता तभी विकसित एवं प्रभावी हो सकती है जब इसे धर्म से पृथक् रखा जाए।

धर्म एवं नैतिकता के मध्य अंतर स्पष्ट हो जाता है यदि हम स्मरण रखें कि कोई कार्य धार्मिक रूप में ठीक होता हुआ नैतिक रूप में गलत हो सकता है। कभी-कभी धर्म सामाजिक हितों के लिए घातक आचरण को अभिप्रेरित करता है। हिंदू धर्म अस्पृश्यता की शिक्षा देता है जो नैतिक दृष्टि से गलत है। कुछ समय पूर्व 'सती' की प्रथा हिंदू धर्म में न केवल प्रचलित थी, अपितु प्रोत्साहित की जाती थी, यद्यपि यह सामाजिक रूप में हानिकारक है। यूनान का रूढ़िवादी चर्च रूसी जारों के अत्याचार का आलंब था। जर्मनी में यहूदियों पर धार्मिक अत्याचार नैतिक दृष्टि से गलत था। इसी प्रकार, नरबलि अथवा मानव-हत्या को नैतिक रूप से ठीक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार, धर्म द्वारा स्वीकृत क्रियाएँ नैतिकता को मान्य नहीं होतीं। इसी प्रकार, सभी नैतिक नियमों को धर्म में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। नैतिक नियम तर्कयुक्त निर्णय पर आधारित होते हैं, जबकि धर्म मुख्यतया संवेगात्मक एवं अतार्किक होता है।

धर्म की अपर-सामाजिक स्वीकृति (The supra-social sanction of religion)—पुनः धर्म में न केवल मनुष्यों का परस्पर सम्बन्ध, अपितु मनुष्य का किसी उच्चतर शक्ति के साथ सम्बन्ध भी निहित है, जबकि नैतिकता केवल मनुष्य के बीच सम्बन्ध को सूचित करती है। धर्म अपर-सामाजिक संपुष्टि की व्यवस्था करता है। यह संपुष्टि दैवी क्रोध, प्रेतात्माओं का भय अथवा नरक की यातना हो सकती है। इसकी संपुष्टि का स्रोत आत्मा, उपहास अथवा बल है। 'पाप' का सम्बन्ध धर्म से है, 'गलत' का सम्बन्ध नैतिकता से है। धर्म का सामाजिक स्थिति से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यह ऐसे सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करना चाहता है जिसमें मानव के उद्देश्य अति-मानुषिक शक्तियों की काल्पनिक इच्छा से सम्बद्ध और बहुधा उसके अधीन किए जाते हैं। मैकाइवर का कथन है, "नियम धार्मिक ही है, चाहे इसके उपदेश ईश्वर के प्रति मानव के सम्बन्धों से सम्बन्धित हों। जैसा कि प्रथम चार आदेशों में है या मानव के मानव से सम्बन्धों से, जैसे कि अन्तिम छः आदेशों में है। नियम जब आचरण के स्तर को प्रसारित करता है तो वह नैतिक है

जो अच्छे एवं बुरे के मानवीय स्पष्टीकरण से अपना पर्याप्त औचित्य प्राप्त करता है।"

मानववादी धर्म (The humanistic religion)—यद्यपि धर्म एवं नैतिकता विभिन्न वस्तुएँ हैं, तथापि यह नही समझा जाना चाहिए कि उनमें ध्रुवीय अन्तर है। यद्यपि कोई व्यक्ति धार्मिक हुए बिना नैतिक हो सकता है, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि धर्म के महत्व को घटा दिया जाए। नैतिकता को धर्म से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। सच्चे धर्म की शिक्षाएँ नैतिकता की शिक्षाओं के समान हैं। केवल कूटधर्म, मिथ्या रहस्यवाद ही नैतिकता से पृथक् हैं। नैतिकता का धर्मवाद से विरोध है, धर्म से नहीं। श्री अरविन्द घोष का कथन है, "सच्चा धर्म आध्यात्मिक धर्म है जो आत्मा मे निवास करता है जो बुद्धि से परे मनुष्य के कलात्मक, आचारात्मक एवं व्यावहारिक जीवन से परे है। इसका प्रयास मनुष्यो को आत्मा के उच्चतर प्रकाश एवं विधान से सूचित एवं शासित करना होता है। दूसरी ओर, धर्मवाद स्वय को निम्न प्राणियो के संकुचित अतिधर्म-परायणिक उत्कषण तक ही सीमित रखता है अथवा बौद्धिक अंधविश्वास, रूपों एवं संस्कारो, किन्ही स्थायी एव अनमनीय नैतिक नियमों, किसी धार्मिक-राजनीतिक अथवा धार्मिक-सामाजिक प्रणाली पर अनन्य बल देता है।" एक व्यक्ति जो नैतिक नियमो का पालन करता है, परन्तु किसी धर्म में विश्वास नही करता, वह भी धार्मिक पुरुष है क्योंकि उसके मन मे विश्व-एकता की अर्द्धचेतन इच्छा होती है। जब धर्म अति-रूढ़िवादी बन जाता है तो उसका नैतिकता से विरोध हो जाता है, परन्तु जब यह स्वर्ग तथा नरक के अथवा अतिप्राकृतिक विश्वासों को रद्द करके तथा विश्वास अथवा श्रद्धा के स्थान पर सामाजिक नैतिकता के नियमों के आधार पर लोगों को संयुक्त करने का प्रयास करता है तो इसका नैतिकता के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध हो जाता है।

अनेक समाजशास्त्रियो का विचार है कि धर्म को जहाँ तक सम्भव हो, स्वय को रूढ़िवादिता एवं अतिप्रकृतिवाद से मुक्त कर लेना चाहिए तथा स्वयं को नैतिक मूल्यों के उत्थान से सम्बद्ध करे। आगस्त काम्टे (Auguste Comte) जो रूढ़िवादी धर्म का कट्टर आलोचक था, ने ऐसे धर्म का समर्थन किया जो ईसा की आचारात्मक शिक्षाओं पर मुख्यतः आधारित हो। काम्टे के विचार से सहमत होते हुए अनेक समाजशास्त्रियों ने भी एक प्रकार के मानववादी धर्म का समर्थन किया है। हाबहाउस (Hobhouse) ने धर्म को 'भावनामय आचारशास्त्र' बतलाया। उसने किसी अवतारवादी ईश्वर में किसी प्रकार के विश्वास एवं देववाद के विचार का खण्डन किया। उसके अनुसार, अतिप्राकृतिक धर्म आधुनिक सभ्यता के अनुकूल नही है, वस्तुतः यह सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा है। मानववादी धर्म तर्क, युक्ति एवं वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित होता है। इसका लक्ष्य ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें स्वार्थ के स्थान पर परहितवाद प्रबल होगा एवं जिसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होगा। भगवान मानव का निर्माता होने के बजाय स्वयं मानवों से निर्मित हो।

नैतिकता एवं सामाजिक नियम (Morality and Social Code)

कुछ लेखक, जिनमे दुर्खीम एव समनर प्रमुख है, नैतिकता एवं सामाजिक नियमों को समानार्थक समझते हैं। उनके अनुसार वस्तुएँ अच्छी अथवा बुरी होती हैं यदि उन्हे समाज अथवा जनमत ऐसा समझता है। **दुर्खीम** (Durkheim) के अनुसार, "हम किसी कार्य की निन्दा इसलिए नही करते कि यह अपराध है, परन्तु यह अपराध है क्योंकि हम इसकी निन्दा करते है।" **समनर** (Sumner) के अनुसार, लोकाचार ही, जो तथ्यो की सत्ता पर आधारित होते है, 'सही' एव 'गलत' के मापदंड हैं। दूसरे शब्दो मे, कोई भी कार्य सहज रूप मे अच्छा अथवा बुरा नही होता, अपितु समाज ही उसे ऐसा बनाता है। नैतिकता सामाजिक मत पर आधारित है।

नैतिकता एवं सामाजिक नियमो मे अन्तर (Moral code and social code differ)—परन्तु अवलोकन करने पर ज्ञात होगा कि वस्तुस्थिति ऐसी नही है। मनुष्य नैतिक नियमों एवं सामाजिक परिपाटियो के उल्लघन के बीच अवश्य विभेद करता है। यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक सभा मे शात नही रहता तो उसे उसी प्रकार लज्जित नही किया जाता, जैसे किसी कन्या के साथ दुराचार करने वाले व्यक्ति को। नैतिक नियमो का उल्लंघन सदा अपमान एव असतुष्टि लाता है, परन्तु सामाजिक नियमो के उल्लघन से कभी-कभी सम्मान एव सतुष्टि प्राप्त हो सकते है। एक उदाहरण लीजिए, नैतिकता प्रत्येक व्यक्ति को सत्य बोलने का उपदेश देती है। क्या इसका अर्थ यह है कि भारत के प्रधानमत्री को पूर्ण सत्य बोलना चाहिए तथा उसे भारत की सेना के बारे में स्थिति प्रत्येक को बतला देनी चाहिए? क्या व्यक्ति को एक चोर को बतला देना चाहिए कि उसका धन कहाँ पर रखा है? क्या पत्नी किसी पागल व्यक्ति को, जो उसके पति की हत्या करना चाहता है, बता दे कि उसका पति कहाँ छिपा हुआ है? इस प्रकार के उदाहरण और भी दिए जा सकते हैं। ऐसी स्थितियो में यदि व्यक्ति नैतिक नियमो का पालन नही करता तो उसे सतुष्टि मिलेगी।

यदि नैतिकता का सामाजिक नियमो के साथ तादात्म्य कर दिया जाए तो इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति ने न्याय, शाति एव प्रेम के लिए जो बलिदान किए हैं, वे किसी प्रकार वस्तुतः युक्तिसंगत नही थे। इससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, जिसमे न नैतिकता का और न सामाजिक नियमो का ही कोई अर्थ होगा। समाज मे नैतिकता का लोप एवं धोखेबाजी तथा कुटिलता का शासन हो जाएगा। अतएव नैतिकता का आधार 'अच्छे' अथवा 'बुरे' के बारे में व्यक्तिगत निर्णय नही हो सकता।

नैतिक मूल्य आंतरिक, सामाजिक मूल्य बाह्य होते है (Moral values are internal, social values are external)—नैतिकता का सम्बन्ध मानव-प्रकृति की आन्तरिकता से है। नैतिक नियमो के बिना समाज समाप्त हो जाएगा। नैतिक नियम ही व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करते हैं, ताकि वह समूह द्वारा उचित समझे गए कार्यों को करता रहे। सामाजिक नियम सतही एवं बाह्य होते हैं। सामाजिक नियमों की संपुष्टि बाह्य एवं भौतिक होती है, जबकि नैतिक नियमों की संपुष्टि आतरिक एव आध्यात्मिक है। नैतिक नियम सभी युगो मे समान रहते हैं, जबकि

सामाजिक नियम समय-समय पर तथा भिन्न-भिन्न समाज में विभिन्न होते हैं। सत्यता एक नैतिक नियम है, यह ऐसा सदैव रहा है। नैतिक विश्वासों को मानवी संस्थाओं एवं परिपाटियों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। जबकि मानवी संस्थाओं में परिवर्तन हो जाता है, नैतिक नियमों में परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि संस्कृतियों एवं संस्थानों की अत्यधिक विविधता के बावजूद मानव-मस्तिष्क मानव-इतिहास में समान रहा है। यदि मानव-मन की ऐसी समानता न होती तो मनुष्य को समझना ही अति कठिन होता।

सामाजिक नियमों की आवश्यकता (Need for social code)—यद्यपि सामाजिक नियमों का सम्बन्ध बाह्य एवं सतही विषयों से होता है, तथापि इसका अर्थ यह नहीं है कि वे व्यर्थ हैं तथा समाज में नैतिक नियम ही पर्याप्त एवं उचित हैं। सामाजिक नियमों के बिना व्यक्ति विवश व व्याकुल रहेगा। उनके बिना निर्णय का भार असह्य होगा और आचरण के विभ्रम व्याकुल होंगे। मैकाइवर ने लिखा है, "सामाजिक नियम एक सशक्त भित्ति प्रदान करते हैं जिसके आधार पर एक मनुष्य दूसरे के साथ व्यवहार करता है। वे मनुष्य की अपने सहयोगियों के प्रति चाह व एकता का भाव व्यक्त करते हैं। वे व्यक्ति के मन में समूह की सदस्यता का भाव, मनुष्य की जाति के अतीत व भविष्य की निरन्तरता में उसके भागी होने का भाव तथा समूचे समाज के जीवन के प्रति उसके योगदान का विचार आदि लाते हैं।"

यद्यपि सामाजिक नियम व्यक्तिगत निर्णय के भार को कम कर देते हैं, तथापि ये उसका स्थानापन्न हो सकते हैं। आचरण के मार्गदर्शन के लिए सामाजिक नियम अपर्याप्त हैं। यह उस संपूर्ण विशिष्ट स्थिति को ध्यान में नहीं रखते जिसके बल पर ही आचरण को निर्देशित किया जाता है। सामाजिक नियम प्रत्येक स्थिति में जीवन के क्रियामार्ग का विस्तृत रूप से निर्धारण नहीं कर सकते। जीवन के विभिन्न असीम विन्यास में दो संदर्भ कभी एक बराबर नहीं होते। विनीत एवं अनुसेवी व्यक्ति भी केवल उनकी सहायता से जीवन का संचालन नहीं कर सकते। सामाजिक नियम हमें अपने व्यवहार में उचित होने का निर्देश देते हैं, परन्तु सम्बद्ध व्यक्ति के अलावा कौन निर्णय कर सकता है कि कार्य के समय को देखते हुए क्या उचित है? कौन इस बात का निर्णय कर सकता है कि विभिन्न नियमों में से कौन-सा नियम स्थिति के अनुरूप एवं सम्बद्ध है? संक्षेप में, व्यक्ति द्वारा ही निर्णय होना चाहिए कि स्थिति का सामना करने के लिए किस नियम का निर्वचन किया जाए। इस प्रकार, सामाजिक नियमों के बाद भी व्यक्तिगत निर्णय की अपेक्षा बनी रहती है।

यह भी ध्यान रखा जाए कि सामाजिक नियमों की मात्र स्वीकृति ही व्यक्ति के अभिक्रम एवं उसके चारित्रिक गुण को निर्धन कर देती है। कोई भी मानव जीव केवल स्वचालित यंत्र नहीं है जो अपने आचरण में सामाजिक नियमों के निर्देशों को केवल प्रतिबिम्बित करता है। आदिम व्यक्ति भी ऐसा नहीं था। पूर्णतया सामाजिक एवं मानवी बनने के लिए व्यक्ति को सामाजिक रूप में उत्तरदायी बनना होगा। व्यक्ति को संपूर्ण सामाजिक स्थिति अपनी अन्तःचेतना के केन्द्र में रखकर तदनुसार व्यवहार करना चाहिए।

प्रश्न

१. धर्म की प्रकृति का वर्णन कीजिए तथा इसकी अतिप्रकृतिवाद एवं भूत-प्रेतवाद से तुलना कीजिए।

२. भूत-प्रेतवाद की अवधारणा की व्याख्या कीजिए तथा इससे संबंधित विभिन्न विश्वासों का वर्णन कीजिए।

३. टोटमवाद क्या है? आदिम सामाजिक जीवन में इसके महत्व का वर्णन कीजिए।

४. धर्म की सामाजिक भूमिका का वर्णन कीजिए।

५. "धर्म लोगों के लिए अफीम है।" समाज मे धर्म की सेवाओं का मूल्यांकन कीजिए।

६. धर्म मे आधुनिक प्रवृत्तियो पर एक टिप्पणी लिखिए।

७. जादू तथा धर्म में अन्तर बतलाइए।

८. समाज में जादू से संबद्ध विभिन्न विश्वासो का उल्लेख कीजिए।

९. धर्म एवं विज्ञान के बीच सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।

१०. नैतिकता का क्या अर्थ है? सामाजिक नियमों से इसकी किस प्रकार भिन्नता है?

११. क्या नैतिकता को धर्म से विलग किया जा सकता है? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क प्रस्तुत कीजिए।

१२. "सामाजिक और नैतिक मूल्यो का सश्लेषण ही सामाजिक जीवन को गतिशील एवं उच्च तत्व प्रदान करता है।"—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

१३. धर्म के अनिवार्य तत्वों का वर्णन कीजिए तथा सामाजिक नियंत्रण मे इसकी भूमिका का उल्लेख कीजिए।

१४. धर्म के सामाजिक महत्व पर एक निबन्ध लिखिए।

अध्याय ३६

सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण

[AGENCIES OF SOCIAL CONTROL]

पिछले तीन अध्यायों में हमने सामाजिक नियंत्रण के साधनों पर विचार किया है तथा बतलाया है कि मनुष्यों के पारस्परिक संबंध लोकरीतियों, लोकाचारों, प्रथाओं, कानूनों, शिष्टाचार, धर्म एवं नैतिकता द्वारा किस प्रकार प्रभावित होते हैं। हमने प्रमुख सामाजिक संहिताओं के मध्य अन्तर का भी अध्ययन किया एवं सामाजिक जीवन में उनके प्रकार्यात्मक महत्व पर भी प्रकाश डाला। अब हमारे सम्मुख सामाजिक नियंत्रण के अभिकरणों की व्याख्या करने का प्रश्न अवशेष है। इन अभिकरणों में राज्य सर्वाधिक स्पष्ट एवं शक्तिशाली अभिकरण है जो सामाजिक जीवन के पर्याप्त विशाल क्षेत्र पर नियंत्रण करता है। हमने राज्य का वर्णन चौबीसवें अध्याय में कर दिया है, अतः इस पर पुनः विचार नहीं करेंगे। अन्य अभिकरणों में परिवार, पड़ोस एवं आर्थिक समूहों का वर्णन क्रमशः अध्याय सत्रह, पच्चीस एवं सत्ताईस में किया जा चुका है। इस अध्याय में हम जनमत, प्रचार एवं शिक्षा की संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

१. जनमत का अर्थ

(The Meaning of Public Opinion)

जनता क्या है ? (What is Public)

'जनता' शब्द का साधारणतया प्रयोग लोगों के विशाल समूह को निर्दिष्ट करने के लिए किया जाता है। इसे कभी-कभी 'भीड़' का समानार्थक समझा जाता है। 'जनता' के सदस्यों का एक स्थान पर एकत्रित होना अनिवार्य नहीं है। वे तितर-बितर एवं एक-दूसरे से अपरिचित हो सकते हैं। एंडरसन एवं पार्कर (Anderson and Parker) के अनुसार, "जनता सामूहिकता का वह रूप है जिसमें बिखरे हुए एवं असंगठित व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जिनके सम्मुख कोई विषय होता है और जिसके बारे में उनमें मतभेद पाया जाता है।"[1] किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार, "जनता एक अधिक ढीले-से व्यक्तियों के सामान्य अभिरुचि के साथ सुव्यवस्थित एवं संयुक्त समूह की ओर संकेत करता है।"[2] गिन्सबर्ग

---

1. "A public is that form of collectivity which includes a number of dispersed and non-organized individuals who are *faced* with an issue about which there *may* be differences of *opinion*."—Anderson and Parker, *Society*, p. 282.

2. "Public refers to a rather loosely organized and conjoined grouping of people with a common interest."—Kimball Young, *Handbook of Social Psychology*, p. 333.

(Ginsberg) लिखता है, "जनता को उन व्यक्तियों का एक असंगठित और आकारहीन समुदाय कहा जा सकता है जो समान विचारों और इच्छाओं के द्वारा एक-साथ बंधे रहते हैं, लेकिन जो संख्या में इतने अधिक होते हैं कि एक-दूसरे से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते ।"[1] मजूमदार के अनुसार, "जनता व्यक्तियों का समूह है जिनके सम्मुख कोई विषय अथवा मूल्य है, जिस पर वे विचार-विमर्श कर रहे हैं तथा जिसके बारे में उनके मध्य मतभेद पाया जाता है ।"[2] उपर्युक्त परिभाषाएँ इस तथ्य को स्पष्ट करती हैं कि 'जनता' का प्रमुख निर्माणकारी तत्व किसी विषय पर उनकी सामान्य अभिरुचि है । निकट शारीरिक संपर्क जनता का अनिवार्य निर्माणकारी तत्व नहीं है । जनता बिखरी हुई हो सकती है । उनका व्यवहार भीड़ की अपेक्षा अधिक तर्कयुक्त होता है ।

मत क्या है ? (What is Opinion)

किम्बल यंग के अनुसार, "मत एक विश्वास है जो केवल मात्र धारणा अथवा ख्याल से अधिक शक्तिशाली अथवा प्रबल परन्तु पूर्ण अथवा समुचित प्रमाण पर आधारित तथ्यात्मक ज्ञान से कम शक्तिशाली होता है । मत किसी विवादग्रस्त विषय पर विश्वास है ।"[3] साधारणतया अनुभव, भावना अथवा पूर्वाग्रह को मत की संज्ञा दे दी जाती है । 'मत' शब्द में सतर्क विचार निहित हैं । यह किसी सूचना अथवा साक्ष्य पर आधारित होता है । 'मत' का सदैव ठीक होना आवश्यक नहीं है, यह दोषयुक्त भी हो सकता है ।

'जनता' एवं 'मत' दोनों शब्दों की परिभाषा कर लेने के उपरान्त 'जनमत' की परिभाषा की जा सकती है । जान डेवी (John Dewey) के अनुसार, "जनमत एक निर्णय है जो उनके द्वारा निर्मित एवं अनुभव किया जाता है जो जनता और जनता के विषयों से सबंधित है ।"[4] गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "जनमत का अभिप्राय समुदायों में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों से है जिनका निर्माण बहुत कुछ निश्चयात्मक रूप से किया जाता है जिनमें कुछ स्थायित्व पाया जाता है और

1. "... individuals but are to ... others."

2. "The public is an aggregation of persons, moving in a common ... value, divided in ... to appraise the ... T., *The Grammar* ...

3. "An opinion is a belief somewhat stronger or more intense than a mere notion or impression but less stronger than positive knowledge based on complete or adequate proof. Opinions are really beliefs about a controversial topic."—Kimball Young, *op., cit.*, p. 430.

4. "Public opinion is judgement which is formed and entertained by those who constitute the public and is about public affairs."—John Dewey, *The Public and its Problems*, p. 177.

जिनके निर्माता इन्हें इसलिए सामाजिक समझते हैं कि ये बहुत से व्यक्तियों के सामूहिक निर्णयों का परिणाम है।"[1] जेम्स टी० यंग (James T. Young) ने लिखा है, "जनमत स्वयं-सचेत समुदाय का किसी सामान्य अभिप्राय के प्रश्न के ऊपर विवेकपूर्ण सार्वजनिक विवेचन के बाद का सामाजिक निर्णय है।"[2] लिपमैन (Lippman) ने लिखा है, "मनुष्य के मस्तिष्क के अंदर चित्र, उनके स्वयं का चित्र, दूसरों का उनकी आवश्यकताओं का प्रयोजन और सम्बन्ध ही उनके जनमत हैं।"[3] पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) ने लिखा है, "वहाँ कोई जनमत नहीं है जहाँ सारपूर्ण सहमति नहीं है, परन्तु वहाँ कोई जनमत नहीं है जहाँ कोई असहमति नहीं है। जनमत में जनता द्वारा विचार-विमर्श की पूर्वकल्पना निहित है।"[4]

लोकमत की विशेषताएँ (Characteristics of Public Opinion)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर जनमत की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है—

(i) जनमत लोक-महत्व के विषय से सम्बन्धित होता है। यह किसी विशेष समूह के हितों से सम्बन्धित नहीं होता।

(ii) जनमत सामाजिक कल्याण के लिए होता है। समाज का कल्याण *जनमत का अनिवार्य तत्व है।*

(iii) जनमत सोच-विचार के उपरांत बनाया जाता है। यह किसी समस्या के प्रति विचारपूर्ण निर्णय है जो विवेचन द्वारा पहुँचा जाता है। परन्तु इसका तर्कयुक्त अथवा सही होना अनिवार्य नहीं है।

(iv) यह एक सामूहिक उपज है। यह मानवों मस्तिष्कों की अन्तर्क्रिया की उपज है।

(v) जनमत किसी विशेष काल अथवा समय से सम्बन्धित होता है। इसका मूल्यांकन उस विशेष स्थिति के संदर्भ में किया जाना चाहिए।

(vi) जनमत का सांस्कृतिक आधार होता है। समाज की संस्कृति जनमत को प्रभावित करती है।

---

1. "By public opinion is meant the mass of ideas and judgments [illegible] in a community which are more or less definitely formulated [illegible] entertain [illegible] of many [illegible]

2. "Public opinion is a social judgment of a self-conscious community on a question of general importance after rational public discussion." —Quoted by W. B. Greaves, *Reading in Public Opinion*, p. 102.

3. "The pictures in side the heads of human being, the pictures of themselves of others, of their needs, purposes and relationships are their public opinions."—Walter Lippman *public opinion*, p. 29.

4. "There is no public opinion where there is no substantial agreement. But there is no public opinion where there is no *disagreement*. Public opinion proposes public discussion."—Park and Burgess, "*Introduction to the Science of Sociology*," p. 832.

(vii) जनमत के निर्माण-हेतु किसी निश्चित संख्या का होना आवश्यक नहीं है। एक अकेले व्यक्ति का मत भी जनमत हो सकता है, भले ही वह बहुसंख्या का मत न हो। महात्मा गांधी के मत को उचित रूप से जनमत कहा जा सकता था, यद्यपि कभी-कभी वह उनका अकेले का मत होता था। परन्तु अल्पसंख्यक के मत को बहुमत द्वारा विश्वास, न कि बल के आधार पर स्वीकार किया जाना चाहिए। बहुसंख्या चाहे उससे सहमत न हो, परन्तु उसे इस बात का विश्वास होना चाहिए कि वह मत सामाजिक हित के लिये है। जैसा कि एक लेखक ने कहा है, "बहुसंख्या पर्याप्त नहीं है एवं मतैक्य की आवश्यकता नहीं है, परन्तु मत ऐसा होना चाहिए कि यद्यपि अल्पसंख्या इसकी भागी न भी हो, तथापि वह विश्वास के आधार पर, न कि भय के आधार पर, इसे स्वीकार करने को बाध्य हो। व्यवहारवादी दृष्टिकोण से मतैक्य अथवा बहुसंख्या की स्वीकृति जनमत की परिभाषा का आवश्यक तत्त्व नहीं है।

इस प्रकार जनमत की परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि यह किसी विषय पर समग्र समुदाय के कल्याण-हेतु लोगों का मत है। यह एक सामूहिक उपज है। यह ऐसा मत है जिससे जनता किसी भी कारण से सहमत होने को विवश हो जाती है। यह एक संमोजित मत है, लोगों के वास्तविक विभिन्न मतों से निर्मित एक प्रकार का संश्लिष्ट सामान्य मत। यह 'पक्ष' एवं 'विपक्ष' में विभिन्न मतों की अंतर्क्रिया से उत्पन्न होता है। ब्राइस (Bryce) का कथन है, "कुछ विचारधाराएं दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होती हैं, क्योंकि उनके समर्थक बहुसंख्या में हैं अथवा उनके पीछे विश्वास की अधिक दृढ़ता है तथा जब कोई मत स्पष्टतया सबसे शक्तिशाली होता है तो उसे जनमत कह दिया जाता है जो अधिकांश लोगों के विचारों को अभिव्यक्त करता है।" गिन्सबर्ग ने "इसे सहकारी उपज (cooperative product) बतलाया है। सहकारी उपज होने के रूप में यह अवश्य ही संपूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है। जनमत सदैव किसी निर्णय की ओर अग्रशील रहता है, यद्यपि यह कभी सर्वसम्मत नहीं होता।" श्मोलर (Schmoller) ने जनमत का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है, "जनमत लाखों तारवाली एक वीणा की भांति है जिसको सभी दिशाओं से आने वाली हवाएँ छेड़ती हैं। इससे जो स्वर निकलते हैं, वे सदा आपस में एकता नहीं रखते। आपस में बहुत भिन्नता रखने वाली स्वर-धाराएँ एक-दूसरी को काटती है। जनमत निरन्तर बदलता रहता है, जिन चीजों को यह अपना विषय बनाता है, उसकी दृष्टि से भी और जिन मानसिक तत्वों के द्वारा यह काम करता है, उनकी दृष्टि से भी। अभी इसकी एक माँग रहती है और कुछ समय बाद दूसरी हो जाती है। आज यह संवेगों को उभारता है, कल धैर्य के साथ विचार करने के लिए कहता है।"[1]

---

1. "Public opinion is like a harp of million strings upon which there play winds from all directions. The sounds that emerge are not always unitary or hormonious. The most varied streams of melody cut through each other. It is subject to constant change both in [illegible] d and in regard to the [illegible] ow it demands this, now [illegible] row it makes appeal to [illegible] in the *psychology of society*, p. 143.

२. जनमत का निर्माण

(The Formation of Public Opinion)

चूँकि जनमत एक प्रकार का संश्लिष्ट सामान्य है, अतः प्रश्न उठता है कि इसका निर्माण किस प्रकार होता है। जनमत के निर्माण में तीन चरण हैं—(i) समस्या का प्रकट होना; (ii) विचार-विमर्श एवं पक्ष तथा विपक्ष में प्रस्तावित समाधान; (iii) मतैक्य। जैसे ही कोई समस्या प्रकट होती है, उस पर विचार-विमर्श आरम्भ हो जाता है। समस्या की परिभाषा और खोज-बीन की जाती है। इसके समाधान की खोज का प्रयास किया जाता है। सम्बन्धित व्यक्ति उस समस्या पर अपने विचारों को प्रकट करते हैं एवं विभिन्न तथा बहुधा विरोधी समाधान प्रस्तुत करते हैं। प्रचार के विभिन्न साधनों, यथा पत्रों, ज्ञापन-पत्रों, पत्रिकाओं, सम्पादकीय पत्रों, इश्तहार आदि का प्रयोग किया जाता है। कुछ समय उपरांत तीसरा चरण आरम्भ हो जाता है, जब मत स्पष्ट होने लगता है तथा लोग अपने पक्ष को निश्चित कर लेते हैं। कभी-कभी पूर्वप्रस्तावित दो अथवा अधिक योजनाओं के बीच किसी मिली-जुली योजना का निर्णय हो जाता है, परन्तु कभी-कभी मतभेद काफी तीव्र हो जाते हैं।

जनमत का निर्माण अनेक तत्वों पर निर्भर करता है। प्रतीक मत-निर्माण की प्रक्रिया में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रतीक से अर्थ शब्दों के मिश्रण, व्यक्तियों, संगीत, नाटक, भव्य प्रदर्शन तथा अन्य ऐसी ही विधियों से है जो जनता पर प्रभाव डालती हैं। वे नारे हो सकते हैं; यथा, 'देश के मजदूरों, एक हो जाओ, देश पहले, जाति बाद में', 'उत्पादन करो अथवा विनष्ट हो जाओ', 'समृद्धि हेतु नियोजन', 'हिन्दू धर्म खतरे में है', अथवा ये लोकप्रिय भावनाओं से संयुक्त तत्व हो सकते हैं जो कल्पना को उभारते हैं तथा व्यक्तियों को तुरन्त प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित करते हैं, यथा प्रजातंत्र, स्वतंत्रता, रेड फेयरडील (Red Fair Deal), पर्ल हार्बर (Pearl Harbour), याकी (Yankee), साम्यवाद (Communism), मार्क्स, लेनिन, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदि।

ये सभी अस्पष्ट सामान्य अर्थ वाले बहुप्रयोजनीय शब्द अथवा प्रतीक हैं, परन्तु जिनका विशेष समूहों के लिए विशिष्ट अर्थ है। वे प्रभावित करने वाले प्रतीक हैं, ऐसी विधियाँ हैं जिनके द्वारा किसी विचार को एक अच्छी अथवा बुरी वस्तु से सम्बन्धित कर विचार-विनिमय को कम करने तथा लोगों द्वारा साक्ष्य की परीक्षा किए बिना किसी प्रस्ताव को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का प्रयास किया जाता है। ये शब्द लोगों को प्रभावित करते हैं तथा उन्हें क्रियाशील बना देते हैं।

यह ध्यान रहे कि प्रतीक ऐसे व्यक्तियों पर अधिक प्रभाव डालते हैं जिनकी आधारमूल प्रवृत्तियाँ पूर्व ही प्रचाराधीन विषयों से मेल खाती हैं। इस प्रकार, रूढ़िवादी प्रवृत्तियों के लोग उदारवादी प्रवृत्तियों वाले लोगों से कम उदार होंगे। मत-निर्माण अधिकांशतया पूर्व अनुभवों एवं मनोवृत्तियों का परिणाम होता है। यह भी ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि जिस मत को अंततः जनमत कहा जाता है, वह ऐसा मत होता है जिसमें अल्पसंख्या का क्रियाशील हित होता है। *अधिकांश लोग सार्वजनिक*

क्रियों के प्रति उदासीन होते हैं। उनके पास इन विषयों पर विचार-विनिमय करने के लिए कम समय होता है। वे दूसरों के तैयार किए मत को स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि वे न तो विचारक के रूप में मत का निर्माण करते हैं, न आलोचक के रूप में इसे प्रभावित करते हैं, वे केवल इसके घनत्व में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार, मत जो कुछेक व्यक्तियों से उद्‌भूत होता है, अन्य लोगों को संचरित हो जाता है जो इसे जनमत का रूप दे देते हैं। अल्पसंख्यक समूह द्वारा मत का निरन्तर प्रतिपादन बहुसंख्या को यह विश्वास करा देता है कि वह मत पर्याप्त सार्वभौमिक है। परिणामस्वरूप वे भी इस मत को अंगीकार कर लेते हैं और यह जनमत बन जाता है।

जनमत के निर्माण में विवेक एवं अविवेक दोनों ही कार्य करते हैं। कभी किसी तत्व की प्रधानता रहती है तो कभी किसी की। वर्तमान समाज में प्रचार का महत्व बढ़ता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप जनमत के निर्माण मे अविवेकों एवं उद्वेगों का हाथ भी बढ़ता जा रहा है। जनमत की तर्कहीनता कभी-कभी तो बड़ी आश्चर्यजनक होती है। कुप्पूस्वामी (Kuppuswamy) ने लिखा है, "इस प्रकार जनमत के निर्माण मे तार्किक एवं अतार्किक, दोनों विचार पाए जाते हैं।"

३. जनमत के अभिकरण

(Agencies of Public Opinion)

लोकमत के निर्माण एवं इसकी अभिव्यक्ति के अनेक अभिकरण हैं। बहुत कम व्यक्ति समाचार-पत्रों, साहित्य, रेडियो एवं चलचित्रों के नियंत्रक महत्व को समझ पाते हैं। परन्तु विभिन्न समूहो पर इन अभिकरणों का समान प्रभाव नहीं होता तथा यह कहना कठिन है कि क्या उपदेश समूहों के मतों को बदल सकता है, यदि उनके मत दृढ़ हों। तथापि यह कथन ठीक नही होगा कि विवेक लोगों को किसी नीति अथवा नियम के औचित्य का विश्वास दिलाने में कोई भाग नहीं लेता, जिसके प्रति उनके विचार आरम्भ में अनुकूल नहीं थे। विवेक को पूर्वाग्रह एवं स्वार्थ के साथ टक्कर लेनी पड़ती है।

प्रेस (Press)

प्रेस एक सामान्य शब्द है। इसमे समाचार-पत्र, दैनिक, साप्ताहिक, अर्द्ध-साप्ताहिक, विभिन्न प्रकार की पत्रिकाएँ एवं सरकारी प्रकाशन सम्मिलित हैं। प्रेस अपेक्षतया एक अर्वाचीन विकास है। इसका विकास मुद्रणालय के आविष्कार के उपरांत ही हुआ। इससे पूर्व मुद्रणालय का कार्य संचार के अन्य साधनों का कार्य था जो धीमी गति वाले थे एवं जिनका क्षेत्र सीमित था।

भारत मे ३१ दिसम्बर १९७२ को ११,९२६ समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएँ थीं। अधिकांश समाचार-पत्र हिन्दी में हैं। उनकी संख्या ३,०८३ है। अंग्रेजी भाषा के २,३६८ समाचार-पत्र प्रकाशित होते हैं। महाराष्ट्र में समाचार-पत्रों की अधिकतम संख्या प्रकाशित होती है। समाचार-पत्रों का स्वामित्व निजी है। उन्हें विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। उनके ऊपर सरकार का कोई नियंत्रण नहीं है। भारत

सरकार कोई दैनिक समाचार-पत्र प्रकाशित नहीं करती।

समाचार-पत्रों का महत्व सम्पादकीय में इतना अधिक नही होता, जितना कि दैनिक वार्तालाप के लिए विषय प्रदान करने में होता है। समाचार-पत्र दैनिक घटनाओं एवं नीतियो के बारे मे जनमत की सामग्री प्रकाशित करते हैं। यह ऐसा स्रोत है जिससे लोग अपने तथ्यो का संचयन करते हैं। अनेक लोगों के अनेक निर्णय एवं दीर्घकालीन नीतियाँ प्रेस से प्राप्त सूचना द्वारा प्रभावित होते हैं। इस दृष्टिकोण से शीर्षकों की भाषा एवं कुछेक विषयों को प्रदत्त प्रमुखता का अत्यधिक महत्व है।

सामाजिक नियत्रण के अभिकरण रूप में प्रेस विज्ञापनों के माध्यम से अपने पाठकों की रुचियों एवं प्राथमिकताओं को प्रभावित करता है। यह सूचनाओ को वैचारिक रूप देकर लोगों के विचारों को प्रभावित करता है। सावजनिक भंडाफोड के रूप में दबाव के भय से यह नैतिकता को आरोपित करता है। यह लोगों को 'सम्पादक के नाम पत्र' द्वारा अपनी निराशाओं को प्रकट करने का भी अवसर देता है।

प्रेस के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात ध्यान रखने योग्य यह है कि जहाँ यह एक ओर सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण अभिकरण है, वहाँ दूसरी ओर यह स्वय सामाजिक नियंत्रणों के अधीन होता है। ये नियत्रण तीन स्तरो—आंतरिक, बाह्य एवं पाठकों के स्तर पर कार्य करते हैं। वे इसके कार्यक्षेत्र को सीमित करते हैं, विशेष समाचार-पत्रों की नीतियों को निश्चित करने में सहायता देते हैं तथा उनके द्वारा अनुसरित लक्ष्यों को इंगित करते हैं। आंतरिक नियत्रणों मे अलिखित आचार-नियम; पत्रकारिता के लोकाचार एव लोकरीतियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार, इन नियमों मे पत्रकारो से निष्पक्षता, ईमानदारी, कुलीनता एवं लोक-नैतिकता की अपेक्षा की जाती है। सम्पादकीय लेख विशेष व्यापारिक समूहो के हितों से प्रभावित नही होने चाहिए। प्रेस को अपने अन्नदाताओ के प्रभाव से स्वयं को सुरक्षित रखना चाहिए। प्रत्येक प्रकाशन के दूसरे प्रकाशन से भिन्न आतरिक नियम होते हैं। इस प्रकार, कोई प्रकाशन विशेष प्रकार की सामग्री, यथा अपराध की सूचना प्रकाशित नही करता। यह निर्धारित कर सकता है कि समुदाय में विख्यात कुछ व्यक्तियों के नाम इसके समाचार-स्तम्भों मे प्रकाशित नही होंगे।

बाह्य नियत्रणो में देश के कानूनो द्वारा आरोपित नियंत्रण, संगठनों द्वारा बहिष्कार एवं राजनीतिक प्रभाव सम्मिलित हैं। प्रत्येक देश अपने समाचार-पत्रों को अश्लील अथवा अपमानजनक अथवा सरकार के विरुद्ध भड़काने वाला अथवा सार्वजनिक कर्मचारियों की हत्या करने को प्रेरित करने वाला साहित्य प्रकाशित करने पर प्रतिबंध लगता है। राष्ट्रीय संकट-काल के समय समाचार-पत्रो को सेन्सर (censor) किया जाता है। प्रेस ऐसे समाचार प्रकाशित नही कर सकता जिनसे विधानमंडल अथवा न्यायालय का अपमान होता हो। बहिष्कार प्रेस के इतिहास में कम पाए जाते हैं। ऐसे समाचार-पत्र जो किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध होते हैं, 'दल की नीति' के प्रति कटिबद्ध होते हैं।

पाठकों का समाचार-पत्रो के ऊपर कोई प्रत्यक्ष नियत्रण नही होता, परन्तु यदि वे पाठको की रुचियों की पूर्ति नही करते तो पाठकगण अपना समर्थन देना बंद

कर देंगे, जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर मे समाचार-पत्र बंद हो जाएगा। बहुधा, ऐसे समाचार-पत्र जिन्हें विज्ञापनकर्ताओं से कोई विशेष वित्तीय बल प्राप्त नहीं होता, अत्यधिक प्रचलन के कारण सफल हो जाते हैं जिस तथ्य की विज्ञापनकर्ता भी बाद में अवहेलना नहीं कर सकते। इस प्रकार विज्ञापनों की अपेक्षा 'पाठक-रुचि' को प्राथमिकता मिलती है।

रेडियो (Radio)

रेडियो सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण अभिकरण है। जनमत के निर्माण में यह तात्कालिक अभिकर्ता है। यह हमारी भाषा, प्रथाओं एवं संस्थाओं को, जो नियंत्रण-प्रतिमानों से सम्बन्धित हैं, भी प्रभावित करता है। इस तथ्य ने, कि रेडियो के माध्यम से मनुष्य की वाणी एकसाथ ही करोड़ों व्यक्तियों तक पहुँच सकती है, इसे प्रेस की अपेक्षा संचार के क्षेत्र मे अधिक लाभप्रद बना दिया है। यह प्रेस एवं जनता के मध्य जीवित सम्पर्क स्थापित करता है। यह विचारों एवं घटनाओं को इस प्रकार नाटकीय एवं लोकप्रिय बना सकता है जो प्रेस नही कर सकता। इसमें निहित क्षमता निश्चित रूप से अधिक है। यही कारण है कि युद्ध-काल में रेडियो स्टेशन आक्रमणकारियों का प्रथम लक्ष्य होता है। स्पष्टतया, जो साधन एक ही समय मानव वाणी को असंख्य लोगो तक पहुँचा सकता है, जो मनोरंजन एवं प्रचार दोनों कर सकता है, जो अभिप्रेरित एवं वर्णन कर सकता है, जो शिक्षित एवं विवश कर सकता है, समाज मे व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए उसकी शक्तिशाली सम्भाविताएँ होनी चाहिए।

१९४७ में भारत मे केवल सात मुख्य सूचना प्रसार रेडियो स्टेशन थे। आज उनकी संख्या ६९ है। अखिल भारतीय आकाशवाणी सरकारी संस्था है जिस पर भारत सरकार का नियंत्रण एवं स्वामित्व है। सूचना-प्रसार की नीति सरकार द्वारा निश्चित की जाती है। जनता इसका उपयोग नहीं कर सकती। पहले राजनीतिक दलों को रेडियो के माध्यम से सामान्य निर्वाचनों के समय लोगों के सम्मुख अपने विचार रखने की अनुमति नहीं दी जाती थी, परन्तु विधानसभाओं के पिछले चुनावों में उन्हें ऐसी अनुमति दी गई। पाँच दूरदर्शन-केन्द्रों की स्थापना से लोकमत को प्रभावित करने में रेडियो के महत्व में और अधिक वृद्धि हो गई है। इंग्लैंड में रेडियो एक निजी संस्था है।

चलचित्र (Motion Pictures)

चलचित्र जनमत पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं। अनेक वर्तमान लोकाचारों का स्रोत बम्बई-भारत के हालीवुड द्वारा प्रस्तुत उदाहरण हैं। चलचित्र मतों के परिवर्तन में एक प्रभावी तथा प्रचार का सुन्दर माध्यम है। सिनेमाहाल में श्रोतागण बन्दी होते हैं जो प्रचार से बचने के लिए विषय को परिवर्तित नहीं कर सकते। प्रवेश-शुल्क की अदायगी दर्शक को ध्यान से सुनने पर विवश कर देती है। चित्र को देखने मे व्यक्ति को एकाग्र होना पड़ता है। भवन में पूर्ण शांति होती है। पर्दे पर जो-कुछ हो रहा है, उसके प्रति सबका ध्यान केन्द्रित रहता है। परिवार अथवा आगन्तुकों के कारण कोई ध्यान-विचलन नहीं होता। ध्वनि एवं चित्रों का माध्यम

सुगमतापूर्वक ग्राह्य एवं अत्यधिक नाटकीय होता है। चलचित्रों के प्रभावों के विषय में किए गए अध्ययनों से ज्ञात होता है कि इनसे लोगों के व्यवहार एवं उनकी मनोवृत्तियों को प्रभावी रूप से बदला है। लाखों व्यक्तियों के व्यवहार एवं उनकी मनोवृत्तियों को नियंत्रित करने में चलचित्रों की प्रभाविता के तीन मुख्य कारण हैं—

(i) दर्शक विश्राम की स्थिति में होते हैं तथा इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि उन पर चलचित्र में अभिव्यक्त विचारों एवं मूल्यों का प्रभाव पड़ रहा है।

(ii) लोग स्वयं का प्रमुख अभिनेताओं से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, जिससे वे अचेत रूप में उनकी भूमिका में निहित मनोवृत्तियों को स्वीकार कर लेते हैं।

(iii) दुखित व्यक्ति अपनी समस्याओं के समाधान की खोज में चेतन अथवा उचित रूप में बहुधा चलचित्रों द्वारा प्रस्तुत समाधान को अपनी समस्याओं का भी समाधान मान लेते हैं।

भारत में चलचित्रों की संख्या प्रत्येक वर्ष बढ़ती जा रही है। यदि चलचित्रों के कथानक का सर्वेक्षण किया जाए तो ज्ञात होगा कि उनका सम्बन्ध प्रेम, अपराध अथवा लिंग से है। फिल्म उद्योग अवास्तविकता के स्वप्न-लोक में विचरण करता है तथा कथानक एवं पात्रों की घिसी-पिटी एवं अत्यधिक सरलीकृत तस्वीर प्रस्तुत करता है। यह उद्योग "एक मूर्ख दानव के लिए चमकते हुए खिलौने से अधिक श्रेष्ठ अन्य कुछ" प्रदान नहीं करता। यह भारतीय जीवन का नितांत असत्य रूप तथा भारतीय संस्कृति का अवास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है। उनमें बहुत कम बातें शिक्षाप्रद एवं स्वस्थ होती हैं। वे अत्यधिक लैंगिक, प्रेम एवं अपराध की बातें प्रदर्शित करती हैं जो बच्चों के लिए संतुलित आहार नहीं बन सकता। जहाँ तक शिक्षा एवं संस्कृति का प्रश्न है, वे अत्यधिक अपर्याप्त होती हैं। उनका प्रमुख लक्ष्य मनोरंजन, न कि शिक्षा होता है। फिल्म उद्योग एक विशाल उद्योग है। संपूर्ण उद्योग तक लक्ष्य रुपया कमाना है। यह व्यापार के अत्यधिक लाभप्रद प्रकार के नियमों का पालन करता है तथा जनता को जो वह चाहती है, देता है और जनता चाहती है मनोरंजन। अतएव फिल्म-निर्माताओं का कथन है कि उनका कोई दोष नहीं है, दोष दर्शकों का है जो उन्हें उनकी रुचि के अनुसार चलचित्र बनाने के लिए विवश करते हैं।

परन्तु यदि इस बात को स्वीकार भी कर लिया जाए कि चलचित्रों का लक्ष्य मनोरंजन है, तथापि यह कहा जा सकता है कि लोगों की रुचियों को श्रेष्ठ बनाया जा सकता है तथा मनोरंजन भी शिक्षाप्रद एवं अर्थपूर्ण हो सकता है। जिन चलचित्रों को अंतर्राष्ट्रीय अथवा राज्य पुरस्कार प्राप्त हुए हैं, वे ऐसे चलचित्र हैं जिनमें सामाजिक समस्याओं को विचारपूर्ण एवं विवेकशील ढंग से प्रदर्शित किया गया है। फिल्म उद्योग की कठिनाइयाँ समझ में आने योग्य हैं। चित्र-निर्माण का मूल्य अत्यधिक है जिसको पूरा करने के लिए अधिक से अधिक दर्शक इसकी ओर आकर्षित होने चाहिए एवं उन्हें आकर्षित करने के लिए इसका कथानक प्रत्येक के लिए प्रसन्नतादायक हो। गम्भीर कथानक वाला चलचित्र बहुधा असफल हो जाता है। अतएव सबको प्रसन्न करने वाले कथानक की खोज सांस्कृतिक मानकों को गिरा देती है। परन्तु यदि

निरन्तर एवं गम्भीर प्रयत्न किए जाएँ तो श्रेष्ठ चलचित्र कालान्तर में दर्शकों की रुचि को उत्कृष्ट बना देंगे। यदि उसके भावनात्मक स्तर से श्रेष्ठतर चलचित्र उसे देखने के लिए निरन्तर दिए जायेंगे तो उसका स्तर भी उठ जाएगा। उसकी रुचि का परिष्कार हो सकता है और चलचित्र भी, यद्यपि धीरे-धीरे परन्तु निश्चित।

विधानमंडल (Legislature)

आधुनिक समय मे विधानमंडल जनमत के निर्माण एवं इसकी अभिव्यक्ति का सर्वाधिक प्रभावी अभिकरण है। जैसा अन्य किसी स्थान पर वर्णित किया गया है, राज्य आजकल मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश कर गया है। यह न केवल सामाजिक संरचना, अपितु हमारे विश्वासो एवं हमारी रुचियो का भी निर्धारण करता है। हम क्या कार्य कर सकते है अथवा क्या पठन कर सकते हैं, यह इस विषय पर कानून बनाता है। विधान राज्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्रिया है। विधानमंडल के वाद-विवाद लोकमत को प्रभावित करते हैं। प्रस्ताव, यथा काम रोको प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव विधानमंडल मे चल रहे वाद-विवाद में जनता की रुचि को जागृत करते हैं जिसका जनमत पर प्रभाव पड़ता है।

परन्तु विधानमंडल पर भी जनमत का प्रभाव होता है। अनेक ऐसे ढंग हैं, जिनके द्वारा लोग अथवा समूह विधानमंडल को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। 'लाबीइंग' (lobbying) एक ऐसा ढंग है। लाबीइंग किसी समूह अथवा हित के अनुकूल विधायी मत को निर्मित करने की एक विधि है जिस समूह अथवा हित की ओर से 'लाबी' क्रियाशील होती है। लाबीकर्ता विधायको को प्रभावित करने के लिए अनेक विधियो को प्रयुक्त करता है। वह घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु उन्हे किसी सामाजिक मनोरंजन के कार्यक्रम में आमंत्रित कर सकता है जिसके पीछे मान्यता यह होती है कि किसी परिचित व्यक्ति को अनजान व्यक्ति की अपेक्षा इंकार करना कठिन होता है। कभी-कभी यह सम्बन्ध अन्य विधायकों को अप्रत्यक्ष ढंग से प्रभावित कर देता है जो लाबीकर्ता एवं किसी अमुक विधायक के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हैं। सामाजिक लाबीइंग विधान को प्रभावित करने का प्रत्यक्ष ढंग है। विधान को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने के प्रयत्नों के स्थान पर लाबीकर्ता दबाव-समूह लाबीइंग की विधि को अपना सकता है, जिसके अंतर्गत दबाव-समूह अपने लक्ष्यों के लिए व्यापक जन-समर्थन का दिखावा प्रस्तुत करता है। वह दिखावा वास्तविक अथवा कृत्रिम हो सकता है, परन्तु किसी भी प्रकार लक्ष्य विधायी नीति को प्रभावित करना होता है। दबाव-समूह प्रेस की शक्ति से परिचित होते है, अतएव वे इसका भी अपने उद्देश्यो के लिए भरपूर प्रयोग करते है।

विधान-सम्बन्धी मत को प्रभावित करने का एक अन्य ढंग विभिन्न प्रकार के साहित्य द्वारा है जो लाबीकर्ताओ द्वारा विधायको को भेजा जाता है। पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तिकायें, विवरण-पुस्तिकायें इस साहित्य के भाग होते हैं। इसे 'दबाव-डाक' (pressure mail) कहा जाता है। इस डाक मे इस बात की व्याख्या की जाती है कि अमुक प्रस्ताव-लेखक को उपभोक्ता, कृषक, श्रमिक, नियोक्ता, व्यापारी अथवा अन्य किसी भूमिका में किस प्रकार प्रभावित करेगा। लाबीकर्ता तार, टेलीफोन

एवं वैयक्तिक सम्पर्कों द्वारा भी अपने विचारों को विधायकों तक पहुँचाते हैं। कुछ समूह राजधानी में प्रदर्शन-हेतु प्रतिनिधि मंडलों को संगठित करते हैं।

विभिन्न दबाव-समूह जो लाबीइंग विधियों को प्रयुक्त करते हैं, अपने तर्क तथ्यों पर आधारित बतलाते हैं जिन्हें वे अनुसंधान एवं सूचनात्मक क्रिया द्वारा एकत्रित करते हैं। परन्तु इन तथ्यों को स्वाभाविकतया दबाव-समूहों द्वारा अपने हित को बल-प्रदान हेतु तोड़ा-मरोड़ा जाता है अथवा इनकी अतिशयोक्ति की जाती है। परन्तु जब विभिन्न दबाव-समूह विभिन्न तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं तो सही तथ्यों की ध्यानपूर्वक परीक्षण द्वारा खोज की जा सकती है।

लाबीइंग की विभिन्न विधियों में, विधायकों को भोज एवं अधिक आरम्भिक एवं घनिष्ठ संपर्क महत्वपूर्ण अंग हैं। साधन-सम्पन्न दबाव-समूह रिश्वत द्वारा अथवा विधायक को राजधानी में मकान प्राप्त करने में सहायता द्वारा अथवा उसके सम्बन्धियों अथवा सिफारिशी व्यक्तियों को अच्छे वेतन वाले पद दिलवाकर भी अपने हितों की सिद्धि करने का प्रयत्न करते हैं।

जनमत-मापन के प्रयत्न (Attempts to measure public opinion)—पिछले कुछ वर्षों में जनमत को मापने के प्रयत्न किए गए हैं। अमेरिका में 'गैलप पोल' (Gallup Poll) तथा इंग्लैन्ड में 'जनमत संस्थान', (Institute of Public Opinion) इसके उदाहरण हैं। परन्तु जनमत के मापने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम, कोई ऐसी विधि अपनानी होगी जिसके द्वारा विरोधी वर्गों के मत को समुचित रूप से मालूम किया जा सके। विभिन्न श्रेणियों को अलग-अलग करना होता है, संपूर्ण जनसंख्या में उनके अनुपात का अनुमान लगाना होता है तथा उचित संख्या में व्यक्तियों से बातचीत करनी होती है। दूसरी कठिनाई उपयुक्त प्रश्नावली तैयार करने में आती है, ताकि उत्तर स्पष्ट मिल सके और पूर्ण सूचना प्राप्त हो सके। तीसरी कठिनाई यह होती है कि अधिकांश व्यक्तियों के पास सरकारी समस्याओं के बारे में यथेष्ठ ज्ञान नहीं होता जिससे वे बुद्धिपूर्ण निर्णय उनके ऊपर नहीं दे सकते। ये समस्यायें इतनी जटिल एवं विविध होती हैं कि विशेषज्ञों को भी कुछ प्रकार की समस्याओं में निपुणता प्राप्त करनी होती है। यदि ऐसे विषयों पर मतों को एकत्रित किया जाए तो आशंका है कि लोग ऐसे विषयों के बारे में जिनके सम्बन्ध में वे कुछ नहीं जानते, मत प्रकट करें। इन कठिनाइयों के बावजूद संयुक्त राज्य अमेरिका में कुछ लोकमत-संग्रह ठीक सिद्ध हुए हैं। जार्ज गैलप (George Gallup) के अनुसार, "लोकमत-संग्रह न केवल दबाव-समूहों एवं विशेषाधिकार माँगने वाले अल्पसंख्यकों के दावों को निर्बल बना सकते हैं, अपितु इससे अधिक महत्वपूर्ण वे असंगठित एवं मूक बहुसंख्या की इच्छा की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।" अतएव आवश्यक है कि उन्हें क्रमगत एवं बुद्धिपूर्ण ढंग से कराया जाए।

४. प्रचार का अर्थ

(The Meaning of Propaganda)

जनमत, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, विवादग्रस्त विषय के दोनों पक्षों का बुद्धिमानी से परीक्षण के उपरान्त जनता का विवेकपूर्ण निर्णय है। परन्तु अनेक

समूह अपने स्वार्थी हितो की पूर्ति अथवा अपने उद्देश्य को उन्नत करने हेतु सामाजिक समूहों अथवा लोगों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए प्रचार का आश्रय लेते हैं। साधारण रूप में शब्द 'प्रोपागण्डा' को बुरे अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसे आत्मारहित लेखकों एवं वक्ताओं द्वारा झूठों का पुलिन्दा कहा जाता है। एच० टी० मजूमदार (H. T. Mazumdar) के अनुसार, "प्रचार अपर्याप्त तथ्यों अथवा विकृत विचारों अथवा दोनों का एक ऐसी विधि अथवा ध्वनि से संचरण है जिससे श्रोता अथवा पाठक में प्रचारक के सन्निहित पूर्वग्रह के प्रति अनुकूल भावनात्मक अनुक्रिया उत्पन्न हो सके।"[1] ल्यूनार्ड डब्ल्यू० डूब (Lenard W. Doob) ने भी प्रचार को अवैज्ञानिक विचारों को प्रसारित करने का प्रयत्न कहा, ऐसे विचार जो तथ्यों के प्रतिकूल हैं। परन्तु प्रचार को केवल झूठे तथ्यो के प्रसार का प्रयत्न परिभाषित करना गलत है। प्रचार 'अच्छा' अथवा 'बुरा', 'वांछनीय' अथवा 'अवांछनीय', 'सत्य' अथवा 'असत्य' हो सकता है जो इस पर आश्रित है कि व्यक्ति अथवा समूह किस बात को सही अथवा गलत समझता है अथवा स्वीकृति देता है अथवा अस्वीकृत करता है। क्लाइड आर० मिलर (Clyde R. Miller) के अनुसार, "प्रचार किसी पूर्वनिर्धारित स्वार्थ के प्रति अन्य व्यक्तियो के विचारो एवं उनकी भावनाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न है।" रूसेक (Roucek) के अनुसार, "प्रचार सामाजिक समूहों के सम्बन्ध एवं व्यवहार को ऐसी विधियों के द्वारा नियंत्रित करने का विचारशील प्रयत्न है जो समूहों का निर्माण करने वाले व्यक्तियों की मनोवृत्तियों एवं भावनाओं को प्रभावित करता है।"[2] हेराल्ड डी० लासवेल (Harold D. Lasswell) के अनुसार, "प्रचार प्रतिनिधित्वों की चपलता द्वारा मानव-क्रिया को प्रभावित करने की प्रविधि है।"[3] एंडरसन एवं पार्कर (Anderson and Parker) के अनुसार, "प्रचार किसी पूर्वनिर्धारित विचार अथवा कार्यरेखा के समर्थन-हेतु लोगों को अभिप्रेरित करने के लिए संचार-साधनों का विचारशील प्रयोग है।"[4] किम्बल यंग (Kimball Young) ने लिखा है, "अपने

---

1. ...ideas or inadequate ... to create in the ...r) an emotional ...e propagandist." ...p. 376.

2. ... the behaviour and ...e of methods which ... who make up the ...

3. "Propaganda is the technique of influencing human action by the *manipulation of representations* "—*Encyclopaedia of Social Sciences,* Vol. VI., pp. 521-526.

4. "Propaganda is the deliberate use of communication to induce people to favour one predetermined line of thought or action over another."—Anderson and Parker, *Society*, p. 285.

उद्देश्यो के लिए हम प्रचार की परिभाषा मुख्य रूप से सुझाव एवं सम्बन्धित मनोवैज्ञानिक प्रविधियों द्वारा प्रतीक का न्यूनाधिक विचारपूर्ण ढंग से नियोजित एवं क्रमबद्ध प्रयोग के रूप में करेंगे, जिसका उद्देश्य प्रथम मतों, विचारों एवं मूल्यों को परिवर्तित अथवा नियंत्रित करना होता है तथा अन्ततः उद्देश्य पूर्वनिर्धारित रेखाओं के अनुकूल स्पष्ट क्रिया को परिवर्तित करना होता है।"[1] वस्तुतः प्रचार तर्क अथवा तथ्यों का प्रयोग हैं, जिसका उद्देश्य अन्य व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार के कार्य को समर्थित करने के लिए प्रवृत्त करना है जिसे वह अन्यथा समर्थित नहीं करेगा। इसे जागरूक झूठे व्यक्ति का कुटिल व्यवसाय कहना एक व्यर्थ एवं भयानक का सामान्यीकरण करना है। यह आवश्यकतया गलत विचारो का प्रशनीय विधियों द्वारा प्रसार नहीं है। समूहों एवं संगठनों, जिनका उद्देश्य सामाजिकतया निर्माणकारी एवं परोपकारी रहा है, ने भी प्रचार के साधन को प्रयुक्त किया है। इस प्रकार, स्वास्थ्य विभाग संक्रामक रोगों को फैलने से रोकने के लिए प्रचार के साधनो का प्रयोग करता है। रेडक्रास प्रत्येक सम्भव तरीकों से भावनाओं को जागृत करने का प्रयत्न करता है। नियोजन विभाग ने जन्म-दर को नियंत्रित करने के लिए प्रचार की सभी विधियो का प्रयोग किया है। इन उदाहरणों में, कुटिल उद्देश्यों अथवा विनाशकारी लक्ष्यों की प्राप्ति को प्रचार का उद्देश्य नहीं बतलाया जा सकता। इसी प्रकार, व्यावसायिक समूहों को झूठा नहीं कहा जा सकता, जब वे प्रचार के साधनों का प्रयोग करते हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रचार उस अवस्था में अधिक प्रभावी होता है जब यह पुष्टि-योग्य सूचना पर आधारित हो, जब यह लक्ष्यगत समूहों के वास्तविक हितों के संदर्भ में स्वयं को तुरन्त युक्तियुक्त बना लेता है तथा समूह का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के मध्य हितों की सच्ची समानता को दिखला सकता है। अनुत्तरदायी साधारण प्रचारकों की गतिविधि से 'प्रचार' शब्द को बुरा अर्थ मिल गया है। प्रचार दूसरे व्यक्तियों को किसी वांछनीय उद्देश्य की ओर प्रभावित करने का केवल एक साधन है। यह प्रतीकों द्वारा प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। लोगो से अंधानुसरण नहीं कराया जा सकता। सेट (Sait) ने लिखा है, "प्रचार उसी सीमा तक सफल होता है जहाँ तक यह सामान्य मन की पूर्ण अवस्थित प्रवृत्तियों अथवा सहानुभूतिपूर्ण सामाजिक प्रवृत्तियो के अनुकूल होता है।" प्रत्येक सरकार स्वीकृत प्रतिमानों की दिशा में लोगों को प्रभावित करने के लिए एक विभाग स्थापित करती है जिसे 'लोक-संपर्क' अथवा 'प्रसारण' विभाग, न कि 'प्रचार' विभाग कहा जाता है।

---

1 "For our purposes we shall define propaganda as the more or less deliberately planned and systematic use of symbol chiefly through suggestion and related psychological techniques, with a view first to altering and controlling opinions, ideas and values and ultimately to changing overt action along predetermined lines."—Young, K., *Handbook of Social Psychology*, p. 457.

५. शिक्षा एवं प्रचार

(Education and Propaganda)

बहुधा प्रश्न उठता है कि प्रचार एवं शिक्षा में क्या अन्तर है ? वूडी (Woddy) ने अपने लेख 'Education and Propaganda' (मई, १९३५) जो 'American Academy of Political and Social Service' की वार्षिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, में इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित बिंदुओं की ओर संकेत किया है—

(i) शिक्षा बच्चों का सिद्धान्त-बोधन है, प्रचार वयस्कों का।

(ii) शिक्षा वह है जो स्कूलों में दी जाती है, प्रचार विचार को बदलने हेतु अन्य कोई प्रयास है।

(iii) शिक्षा सत्य को सिखलाती हैं, प्रचार असत्य की शिक्षा देता है।

(iv) शिक्षा तार्किक होती है, प्रचार अतार्किक।

(v) शिक्षा की विषय-वस्तु वांछनीय होती है, प्रचार की अवांछनीय।

(vi) शिक्षा सामान्य कल्याण की वृद्धि करती है, प्रचार विशेष हितों को अग्रुन्नत करता है।

(vii) शिक्षा समाज के नैतिक मूल्यों एवं मानकों का समर्थन करती है, प्रचार उन पर आक्रमण करता है।

(viii) शिक्षा उन्मुक्त मनवाली होती है, प्रचार संकुचित मन वाला होता है।

(ix) शिक्षा प्रचार के विरुद्ध प्रतितर्क है।

उपर्युक्त अन्तरों की व्याख्या करते हुए वूडी ने 'प्रचार' शब्द का इसके कुटिल अर्थ में प्रयोग किया गया है।

लासवेल (Lasswell) के अनुसार, शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानसिक अथवा शारीरिक निपुणता को उत्पन्न करना होता है, जबकि प्रचार अपनी विषय-वस्तु को सदा गौण, व्यवहार के किसी तात्कालिक वांछनीय प्रकार को प्राप्त करने का एक साधन समझता है। बर्ड (Bird) के अनुसार, प्रचार किसी भावनात्मक उद्देश्य की ओर मुख्यतः सुझाव के प्रयोग द्वारा अग्रसरित होता है, जबकि शिक्षा प्रमुखतया खोजबीन अथवा जाँच-पड़ताल की मानसिक प्रक्रिया का प्रयोग करती है। स्पष्टतया, शिक्षा का लक्ष्य स्पष्टीकरण होता है, न कि प्रबोधन।

चूंकि शिक्षा वयस्क बनने वाले नागरिकों की सामाजिक मनोवृत्तियों एवं उनके व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करती है, अतएव इसे प्रचार के समीप माना जा सकता है, क्योंकि प्रचार भी लोगों अथवा समूहों के व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करता है। शिक्षा की आधुनिक विधियों में पांडित्यसूचक प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें प्रचारात्मक प्रविधियाँ कहा जा सकता है। परन्तु ये विधियाँ केवल आकस्मिक होती हैं। उनके बीच क्रियाशील अंतर यह कहकर किया जा सकता है कि शिक्षा का लक्ष्य प्रचार के लक्ष्य की अपेक्षा अधिक विशाल

होता है। उत्तरोक्त का प्रमुख उद्देश्य एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार को करवान होता है एवं इसका प्रयोग किसी भी उद्देश्य हेतु किया जा सकता है। प्रचार प्रचारव के अनुकूल विधियों द्वारा निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयास है, जबकि शिक्षा ऐर्स सूचना प्रदान करती है जिसके आधार पर निर्णय किए जा सकते हैं।

परन्तु जब शिक्षक विद्यार्थियों को उनके व्यवहार को प्रभावित करने की दृष्टि से अपनी अभिरुचियों एवं धारणाओं को संचरित करता है तो शिक्षा प्रचार का रूप धारण कर लेती है। रूस में सोवियत शिक्षक शिक्षा के द्वारा साम्यवाद का प्रचार करता है। परन्तु इसके लिए शिक्षक दोषी नहीं है। यदि शिक्षक वांछनीय समझे जाने वाले सामाजिक उद्देश्यों को सम्मुख रखकर ऐसा करता है तो उसकी गतिविधि भी वांछनीय है। परन्तु यदि दूसरी ओर, उसके उद्देश्य वांछनीय नहीं हैं तो उसकी गतिविधियों की निंदा की जानी चाहिए, भले ही वे मुख्यतः शैक्षिक अथवा प्राचारिक हो। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का मूल्यांकन इसके लक्ष्यों एवं परिणामों के परिप्रेक्ष्य मे ही किया जा सकता है। जैसा कि रूसेक (Roucek) ने कहा है, शिक्षा की भाँति प्रचार अच्छा अथवा बुरा हो सकता है, परन्तु पुनः शिक्षा की ही भाँति यह आवश्यकतया दोनों में से एक नहीं होता। उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को देखकर ही इसे अच्छा अथवा बुरा कहा जा सकता है।

प्रचार सदा आक्रमणकारी होता है। यह किन्हीं पूर्व अवस्थित मनोवृत्तियों अथवा भावनाओं को बल प्रदान करने अथवा मनोवृत्तियों एवं भावनाओं को जनित करने का प्रयास करता है। यह नकारात्मक अथवा सकारात्मक हो सकता है। यदि इसका उद्देश्य लक्ष्यगत समूह को दुर्बल बनाना अथवा समाप्त करना होता है तो इसे नकारात्मक कहा जाता है, परन्तु यदि यह लक्ष्यगत समूह की एकता को दृढ़ बनाने एवं उसके मनोबल को उन्नत करने का प्रयास करता है तो यह सकारात्मक होता है।

६. प्रचार की उपयोगिता
(Utility of Propaganda)

प्रचार एक शक्तिशाली साधन है। आधुनिक काल में यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। आधुनिक संचार विशेषतया इसके ऊपर आश्रित है। सरकार, व्यापारी, राजनीतिक दल तथा समाज के अन्य विभिन्न वर्ग अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु इसको प्रयुक्त करते हैं। लोगों को प्रभावित करने के साधन-रूप में प्रचार कोई नया साधन नहीं है। यह उतना ही प्राचीन है जितने मानव-समूह। अधिकांश प्राचीन प्रामाणिक ग्रीक एवं रोमन साहित्य प्रचार का न्यूनाधिक आकस्मिक अवशेष है। पोंपी (Pompeii) की दीवारों पर निर्वाचन अपीलें लिखी हुई मिली हैं। नेपोलियन लंदन के किसी समाचारपत्र को आर्थिक सहायता देता था। मैल्टरनिश एवं रोथसचील्ड (Melternich and Rothschilds) ने फ्रैडरिक वोनगेंज (Friedrich Von Gentz) तथा बिस्मार्क (Bismark) ने मोरिज बुश (Moritz Busch) को अनुकूल प्रेस-टिप्पणी प्रसारित करने के लिए सेवा में रखा था। अमेरिकन क्रांति में अंग्रेजों के विरुद्ध भावनाओं को उत्पन्न करने के लिए

समितियाँ संगठित की गई थीं। अनुमान है कि १९०५ में जार (Czar) सरकार ने केवल फ्रांस में लगभग १, ७०,००० फ्रांक (francs) प्रतिक्रांतिकारी प्रचार पर व्यय किए। दो विश्वयुद्धों में प्रचार के स्तर पर युद्ध इतना ही तीव्र था जितना रणक्षेत्र मे। भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान कांग्रेस दल ने ब्रिटिश-विरोधी जनमत तैयार करने के लिए अथाह प्रचार किया। हम प्रत्येक राज्य एवं देश की राजधानी मे संगठनो एवं अभिकर्ताओ को निहित समूहो के लिए प्रचार करते देख सकते हैं। प्रत्येक युग एवं प्रत्येक देश में प्रचार का व्यापक प्रयोग इसकी उपयोगिता के बारे में विश्वस्त करा देता है।

(i) सरकार की नीति में परिवर्तन लाने हेतु (To bring change in the Govt's policy)—प्रचार सरकार की नीति मे परिवर्तन कराने हेतु लाभदायक हो सकता है। संयुक्त राज्य में मद्यनिषेध कानून प्रचार के प्रभाव के कारण ही वापस कर लिया गया था। भारत में दहेज-प्रथा एवं लैंगिक भेदभाव के विरुद्ध प्रचार ने सरकार को दहेज-विरोधी एवं उत्तराधिकार तथा विवाह-विच्छेद के मामलों में स्त्रियो को समान अधिकार देने के लिए कानून बनाने को विवश किया। अनिवार्य वंध्यकरण के विरुद्ध प्रचार ने सरकार को न केवल परिवार-नियोजन-सम्बन्धी नीति को, अपितु अपने मंत्रालय का नाम परिवार नियोजन मंत्रालय से परिवार कल्याण मंत्रालय बदलने के लिए बाध्य किया।

(ii) जन-सहयोग प्राप्त करने हेतु (To win public co-operation)—सरकार अपनी नीतियों एवं प्रोग्रामों के प्रति जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए भी प्रचार का प्रयोग करती है। इस प्रकार, परिवार नियोजन प्रोग्राम को खूब प्रचारित किया गया जिसके लिए विशाल स्तर पर प्रचार, उपकरण लोगो को इसके पक्ष मे प्रभावित करने के लिए दिए गए। प्रतीकों का व्यापक प्रयोग किया गया।

(iii) सामाजिक परिवर्तन हेतु (To bring about social change)—प्रचार सामाजिक परिवर्तन लाने हेतु एक शक्तिशाली यंत्र है। लोगों के स्वभाव एवं उनकी मनोवृत्तियों को बदलना कठिन है। प्रचारक मनोवैज्ञानिक सहायकों के प्रयोग द्वारा अभिप्रेरणा के स्रोतों पर प्रत्यक्ष पहुँच करता है। वह सरकारी प्रतिमानों का केवल कालोचित निर्देशों के रूप मे प्रयोग करता है। वह व्यक्तित्व का सम्मान करता है तथा मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धो का ध्यान रखता है। प्रचारक लक्ष्य-प्रतीकों का आविष्कार करता है जो व्यवहार में परिवर्तन लाकर स्थायी रूप ग्रहण कर लेते हैं। कानूनी सहायता केन्द्र एवं रेडक्रास आंदोलन प्रचार की उत्पत्ति हैं।

(iv) परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के बंधनों को तोड़ने के लिए (To break the bonds of the traditional social order)—प्रचार उन दबावों, जो परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के बंधनों को तोड़ने में सहायक होते हैं, को हस्तांतरित करने का महत्वपूर्ण माध्यम है। यह दीर्घकाल से चला आया है कि जो व्यक्ति किसी निश्चित भू-प्रदेश पर रहते हैं, वे अपने हितों के स्वयं-निर्धारक होते हैं तथा अन्य स्थानों पर रहने वाले व्यक्तियों के मामलों में हस्तक्षेप नही करते। परन्तु यह मान्यता आजकल कम वैध है, क्योंकि आर्थिक प्रणाली संसार-स्तर पर

समन्वित हो गई है। प्रत्येक राज्य में विदेशी हित पाए जाते हैं जो प्रचार द्वारा विदेशी भूमि पर स्वयं को प्रभावी बनाए रखते हैं। इस प्रकार प्रचार ने राष्ट्रीय राज्य के विचार को कल्पना मात्र बना दिया है तथा प्राचीन नियंत्रण-क्षेत्रों के स्थान पर नए क्षेत्रों की उत्पत्ति कर दी है।

(v) युद्धकाल में उपयोगिता (*Utility during war time*)—अन्त में, प्रचार युद्धकाल में अति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। दोनों विश्वयुद्धों में दोनों पक्षों ने प्रचार का व्यापक प्रयोग किया। युद्ध में प्रचार शत्रु देश जनता एवं सेना के मनोबल को कुचलने, उन्नत रखने में सहायता देता है। यह शत्रु के विरोध को कम करने, तटस्थ राज्यों को शत्रु के पक्ष में मिलने से रोकने अथवा मित्र राष्ट्रों एवं अन्य देशों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। दोनों महायुद्धों में प्रचार चरम सीमा पर था।

इस प्रकार, आधुनिक समय में राज्य प्रचार के बिना अपना कार्य नहीं कर सकते। रूस ने साम्यवाद का प्रसार करने हेतु प्रचार के सर्वोत्तम एवं अतिकुशल प्रविधि का विकास किया है। प्रजातंत्रीय देशों, यथा संयुक्त राज्य में विशाल प्रचार-यंत्र पाया जाता है। अतएव, कोई भी राज्य, प्रजातंत्रीय अथवा स्वेच्छाचारी, प्रचार के मूल्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। भारत में जून २५, १९७५ को उद्घोषित संकटकालीन परिस्थिति के लाभों को प्रचारित करने हेतु प्रचार के साधन विशाल स्तर पर प्रयोग किए गए। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि प्रचार अच्छा अथवा बुरा, सृजनात्मक अथवा विध्वंसक, सकारात्मक अथवा नकारात्मक, क्रांतिकारी अथवा प्रतिक्रांतिकारी, सुधारवादी अथवा प्रति सुधारवादी हो सकता है, अतएव इसकी उपयोगिता इसके उद्देश्यों पर आधृत है।

७. प्रचार की प्रविधि

(The Technique of Propaganda)

प्रचार आजकल विज्ञान एवं कला दोनों बन गया है। व्यक्ति व्यवसाय के रूप में इसमे विशिष्टता प्राप्त करते हैं। यद्यपि प्रचार को शैक्षिक एवं लोक-कल्याण उद्देश्यों के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है, परन्तु प्रचार के इस सृजनात्मक प्रकार का अभी तक उचित रूप में प्रयोग नहीं किया गया है। बहुधा इसका उद्देश्य जन-कल्याण की अपेक्षा विशेष समूहों के हितों की वृद्धि करना होता है। एलफ्रेड एम० ली एवं एलिजाबेथ बी० ली (Alfred M. Lee and Elizabeth B. Lee) ने प्रचार की विधियों को सात प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत किया है—(i) नाम देना (name-calling); (ii) चमकते हुए सामान्यीकरण (glittering generalities); (iii) हस्तांतरण (transfer); (iv) प्रमाण-पत्र (testimonial); (v) साधारण जन (plainfolk); (vi) छल विज्ञापन सिद्धान्त (card-stacking); (vii) एवं बैंड वैगन (bandwagon)। इनमें से प्रत्येक विधि विवेक की अपेक्षा भावनाओं की अपील करती है। वे इस मान्यता पर आधारित हैं कि विवेक को अपील करने की अपेक्षा भावना अथवा संवेग को अपील करने के कुछेक सामयिक

साम हैं। इन विधियों का पृथक्-पृथक् प्रयोग करना आवश्यक नहीं है, उनको इकट्ठा भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

इन विधियों में अल्फ्रेड० एम० ली (Alfred M. Lee) ने बाद में कुछ अन्य को भी जोड़ दिया जिनमें संगति से दोषी (Guilty-by-Association) तथा आनुवंशिकता से दोषी (Guilty-by-Heredity); एवं इनके विपरीत, संगति से नेकी (Virtue-by-Association) एवं आनुवंशिकता से नेकी (Virtue-by-Heredity) प्रमुख हैं। उसने प्रचारक द्वारा प्रयुक्त आधारमूल प्रक्रिया की प्रविधियो का भी विश्लेषण किया। इनमें मुख्य रूप से विषय का चयन, विषय तैयार करना एवं सरलीकरण सम्मिलित हैं—

उपर्युक्त सात विधियों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(i) नाम-देना (Name-calling)—इस प्रविधि मे किसी व्यक्ति, समूह, विचार अथवा घटना को एक बुरा नाम दे दिया जाता है। यह नाम विरोध एवं अधिकृत भावनात्मक मनोवृत्ति को उत्पन्न करता है। शब्द 'पूँजीवादी', 'फ़ासिस्ट', 'गुंडा', 'व्यवसायी', 'प्रतिक्रियावादी', 'वामपंथी', 'साम्यवादी' आदि व्यक्ति के प्रति घृणा की भावनात्मक मनोवृत्ति को उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार कांग्रेस ने श्री जय प्रकाश नारायण को प्रतिक्रियावादी कहा है।

(ii) चमकते हुए सामान्यीकरण (Glittering generality)—इस प्रविधि के अंतर्गत प्रचारक कुछ आकर्षक अथवा प्रभावकारी शब्दों अथवा विचारों का प्रयोग करता है जो व्यक्ति को भ्रमित कर देते हैं। वह अपने दल को 'हिन्दू धर्म का रक्षक' कह सकता है अथवा 'समानता', 'न्याय', 'प्रजातंत्र' के शब्दों का प्रयोग कर सकता है।

(iii) हस्तांतरण (Transfer)—इस विधि मे, प्रचारक अपने हित को व्यापक हित का आवश्यक भाग बनाकर जनता को स्वीकृत सामूहिक हित के साथ तादात्म्य करके प्रस्तुत करता है। इस प्रकार, लोगों के प्रजातंत्र की सुरक्षा-हेतु साम्यवादी सभी असाम्यवादियों को 'प्रतिक्रांतिकारी' कहते हैं। कांग्रेस अपनी स्थिति को उच्च बनाने के लिए गांधी जी का नाम प्रयुक्त करती है।

(iv) प्रमाण-पत्र (Testimonial)—इस विधि के अंतर्गत प्रचारक किसी वस्तु का किसी विख्यात व्यक्ति के नाम से प्रचार करता है। इस प्रकार अभिनेता दिलीप कुमार के नाम का सिगरेट बेचने के लिए प्रयोग किया जाता है। विज्ञापन में इस विधि का प्रयोग बहुत होता है।

(v) साधारण जन (Plainfolk)—इस विधि का राजनीतिज्ञ द्वारा व्यापक प्रयोग किया जाता है। राजनीतिज्ञ कहता है कि वह भी दूसरों की भाँति साधारण व्यक्ति है जिसमें उनके समान ही गुण अथवा दोष हैं। इस प्रकार, कोई नेता हरिजन बालक को गोद में उठाकर प्यार कर लेता है। लोगों पर यह प्रभाव डालने हेतु कि उसे हरिजनों से बड़ा प्यार है तथा वह भी उनमें से एक है, उनसे अलग नहीं।

(vi) छल-विज्ञापन (Cardtiactcs)—इसमे एकदम झूठ बोला जाता है एव धोखा दिया जाता है। सही तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा जाता है जिन्हें प्रचारक अपने उद्देश्य की पूर्तिहेतु यथानुसार रंग देता है। इस प्रकार, राजनीतिज्ञ कोई कहानी गढ़कर इसे वास्तविक घटना कहकर प्रस्तुत करता है।

(vii) बैंड बैगन (Band-wagon)—इसका अर्थ है कि 'प्रत्येक ऐसा करता है, इसलिए आप भी ऐसा ही करो।' इस प्रकार, यह विज्ञापन कि 'भारत मे पाँच करोड़ व्यक्ति एटलस बाईसिकिल प्रयोग कर रहे हैं, अतएव आप भी आज एक एटलस बाईसिकिल क्रय करो' बैंड बैगन विधि का उदाहरण है। आलपोर्ट (Allport) ने इसे 'सार्वभौतिकता का भ्रम' (illusion of universality) कहा है।

प्रचारक के मार्गदर्शन हेतु निम्नलिखित कुछ बातें हैं[1]—

प्रथम, अपने विचार को निरंतर एवं यथाक्रम दोहराते रहो। झूठ भी जब बार-बार दोहराया जाता है, सत्य दीखने लगता है। अतएव अपने पक्ष को बार-बार दोहराओ।

द्वितीय, कभी मत मानो, यह सुझाव भी मत दो कि तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत *पक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई पक्ष भी हो सकता है। दूसरे शब्दों मे, तुम्हें साक्ष्य* को विकृत करना होगा।

तृतीय, अपने हित को नायक की भूमिका मे तथा अपने विरोधी के हितों को खलनायक की भूमिका मे प्रस्तुत करो। सामान्यीकरणों, भावनात्मक प्रतीकों एवं सगठित शब्दो का प्रयोग करो। अपने पक्ष की विशाल हृदयता, मानवता एवं कुलीनता को सिद्ध करो तथा अपने विरोधी के उद्देश्यों की हीनता, उसकी गतिविधियो की स्वार्थपरता एवं उसकी बुराइयों को प्रदर्शित करो।

चतुर्थ, अपने पक्ष के समर्थन में महान् पुरुषों के प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करो।

पंचम, स्थायी परिणामों की प्राप्ति के लिए तुम्हारे प्रचार के लक्ष्य सच्चे होने चाहिए तथा शैक्षिक पाठ्यक्रम मे अपने विश्वासों का सम्मिश्रण करो। अधिकांश निरंकुश राज्यों की यही विधि है।

परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, इन सभी विधियो का प्रयोग उस प्रचारक के *द्वारा किया जाता है जो अपने* समूहों के हितों की प्राप्ति-हेतु लोगों को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। ऐसे प्रचार में झूठ का निश्चित महत्व होता है। तृतीय रीच (Reich) के प्रचार मंत्रालय ने झूठ का अनेक उद्देश्यों के लिए सफलतापूर्वक प्रयोग किया। आजकल, रूसवासियों ने प्रचार की अत्यधिक कुशल प्रविधि का *विकास किया है जो विदेशों मे साम्यवाद का* प्रचार करने हेतु उनका आधारमूल उपकरण है। साम्यवादियों द्वारा प्रभावी प्रचार ही उनकी सफलता का महत्वपूर्ण कारण है। *कहा जा सकता है कि संसार के प्रजातंत्रीय* देश, यथा संयुक्त राज्य—रूस के निरन्तर आक्रमण एवं प्रचार-अभियानो से पीछे रह गए हैं।

1. Dunlop, Knight, *Civilised Life*, pp. 360-61.

पुनः बल देने के लिए, प्रचार वैज्ञानिक अर्थ में न अच्छा है न बुरा। कैथेराईन गेरोल्ड (Katherine Gerould) के अनुसार, "प्रचार एक अच्छा शब्द है जो गलत चल गया है।" प्रचार की अच्छाई अथवा बुराई समूह द्वारा प्रतिपादित उद्देश्य पर निर्भर है। एक अमरीकी व्यक्ति रूसी व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित हित को गलत कह सकता है, तथापि तथ्य यह है कि आधुनिक काल में एक उचित उद्देश्य का यदि प्रचार द्वारा उसका पोषण न किया जाए, तो वस्तुतः उसका खो जाना अथवा पंगु हो जाना निश्चित है। अतएव एक प्रजातंत्रीय राज्य को भी मत के क्षेत्र में स्वयं को अरक्षित नहीं छोड़ना चाहिए, इस प्रचार का उत्तर प्रचार से, झूठ एवं नकारात्मक के विरुद्ध सत्य एवं उचित को दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करके देना चाहिए।

७. शिक्षा का अर्थ

(The Meaning of Education)

सभी मानव-समाजों में शिक्षा एक आधारमूलक गतिविधि है। शब्द 'Education' की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'educare' से हुई है जिसका अर्थ है 'पालन-पोषण करना।' शिक्षा का उद्देश्य बालकों को कुछेक को विषयों का ज्ञान करा देना मात्र नहीं है, अपितु उसका पोषण करना अथवा उसमें ऐसी आदतों एवं मनोवृत्तियों का विकास भी करना है जिससे वह भविष्य का अच्छी प्रकार सामना कर सके। प्लेटो (Plato) का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य शरीर एवं आत्मा में सभी पूर्णता एवं सौन्दर्य का विकास करना है, जिसके वे योग्य हैं। अरस्तू के अनुसार, शिक्षा का अर्थ है, "मनुष्य की क्षमताओं, विशेषतया उसकी मानसिक शक्तियों का विकास करना, ताकि वह सर्वोच्च सत्य, सौन्दर्य एवं श्रेष्ठता की अनुभूति का आनन्द प्राप्त कर सके।" समनर के अनुसार, "शिक्षा शिशु में समूह के लोकाचारों को हस्तांतरित करने का प्रयत्न है, ताकि वह सीख सके कि "क्या आचरण स्वीकृत है अथवा क्या वर्जित; उसे किस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में व्यवहार करना चाहिए; उसके विश्वास क्या होने चाहिए एवं क्या नहीं होने चाहिए।" ब्राउन तथा रूसेक (F. J. Brown and J. S. Roucek) के अनुसार, "शिक्षा अनुभव की वह सम्पूर्णता है जो किशोर और वयस्क दोनों की अभिवृत्तियों को प्रमाणित करती है तथा अनेक व्यवहारों का निर्धारण भी करती है।" एंडरसन (Anderson) के अनुसार, "शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति ऐसी बातें सीखता है जो उसे समाज के जीवन के प्रति स्वयं को समायोजित करने के योग्य बनाती है।" दुर्खीम (Durkheim) ने शिक्षा को 'किशोर पीढ़ी का समाजीकरण' (socialization of the younger generation) बतलाया है। उसने लिखा है, "यह वास्तव में शिशु के ऊपर सोचने, अनुभव करने, कार्य करने के ढंगों को आरोपित करने का निरन्तर प्रयास है जिसे वह सहज रूप में नहीं सीख सकता था।"[1]

शिक्षा सामाजिक विरासत के हस्तांतरण की प्रक्रिया है (Education is a aprocess of transmission of social hertiage)—अपने व्यापक अर्थ में

1. Sumner, *Folkways*, p. 45.

क्षा को एक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा किसी
मूह की सामाजिक विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती
एवं शिशु सामाजिक व्यवहार के नियमों को सीखता है। यह वयस्क भूमिकाओं
ो बाद में अपनाने हेतु किशोर का सचेतन प्रशिक्षण है। यह समाजीकरण का
समानार्थक है। यह भावी पीढ़ी के विकास को जीवन के सामाजिक आदर्शों के
अनुरूप बनाता है। गांधी जी के शब्दों में, "शिक्षा से अभिप्राय है बालक अथवा
मनुष्य में जो कुछ भी श्रेष्ठतम है, उसका सम्पूर्ण विकास करना, अर्थात् शरीर, बुद्धि
तथा आत्मा तीनों का सम्पूर्ण विकास।" परन्तु हम अपने उद्देश्य-हेतु शिक्षा को
इसके संकुचित अर्थ में प्रयुक्त करेंगे, अर्थात् विद्यालयों में शिक्षकों द्वारा प्रदत्त
औपचारिक प्रशिक्षण।

८. शिक्षा का विकास
(Development of Education)

पूर्वसाक्षर समाजों में शिक्षा (Education in preliterate societies)—पूर्वसाक्षर समाजों में शिक्षा प्रायः अनौपचारिक प्रकार की थी तथा वयस्क-संबंधी अनिवार्य समझे जाने वाले सामाजिक मूल्यों के हस्तांतरण में भाग लेते थे। पर्यवेक्षण एवं प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा बालक लोकरीतियों एवं लोकचारों के ज्ञान तथा व्यावहारिक प्रविधियो एवं कुशलताओं का प्रशिक्षण अर्जित कर लेता था। यद्यपि यह अधिकांशतया अनौपचारिक होती थी, तथापि यह औपचारिक तत्वों से पूर्णतया रहित नहीं थी। प्रशिक्षण के औपचारिक प्रकार में दीक्षा-संस्कार सम्मिलित थे। दीक्षा-संस्कार प्रायः विशद होते थे जिनमें शिक्षण, दिव्य परीक्षा एवं परीक्षण-काल सम्मिलित होता था। मारगरेट मीड (Margaret Mead) के अनुसार, कुछ आदिम समाजों, यथा माओरी में पुरोहितों के औपचारिक प्रशिक्षण-हेतु धार्मिक विद्यालय होते थे। उनमें शारीरिक दंड का नितान्त अभाव था, तथापि अनुशासन अनुकरणीय होता था। वे आज्ञाकारी होते थे एवं बाह्य अनुशासन की कोई आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि औपचारिक प्रकार की शिक्षा का प्रागैतिहासिक समाजों में पूर्णतया अभाव नहीं मिलता, तथापि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की भाँति विशाल शिक्षण-कक्षों, विशाल अध्यापक-वर्ग, परीक्षा-प्रणाली, प्रमाण-पत्र आदि की व्यवस्था नहीं होती थी। आधुनिक औपचारिक शिक्षा के विपरीत, उस समय शिक्षा का अभिप्राय था कि एक संतति का भावी संतति के साथ सम्पर्क स्थापित रखा जाए। कृषक के बालक को जमींदार अथवा जमींदार के बालक को वकील नहीं बना दिया जाता था।

मध्य युग (Middle ages)—सभ्य समाजों में ही शिक्षा ने संस्थायीकृत रूप धारण किया। औपचारिकता की मात्रा, विषय-वस्तु एवं उद्देश्य सभ्यता के प्रकार के अनुसार विभिन्न थे। यूनान में, पाठ्यक्रम साहित्य, संगीत एवं व्यायाम पर आधारित था जिसमें गणित एवं इतिहास के विषय जोड़ दिए गए। रोम में व्याकरण, साहित्य एवं अलंकारशास्त्र का अध्ययन उच्च शिक्षा का अंग था। मध्य युग में सात उदार कलाओं—व्याकरण, अलंकारशास्त्र, शास्त्रीय विषय, गणित, रेखागणित, संगीत एवं ज्योतिष की शिक्षा मठों, ईसाई आश्रमों एवं गिरजाघरों के

स्कूलों में दी जाती थी। सोलहवीं शताब्दी में ईसाई समाज के सदस्यों ने पाठ्यक्रम में इतिहास, भूगोल, पुरातत्वशास्त्र, पुरावशेष विद्या को जोड़ दिया। दर्शनशास्त्र एवं धर्मशास्त्र उच्चतर अध्ययन की अंतिम अवस्था में सम्मिलित थे।

भारत में (In India)—भारत में विद्यार्थियों को जिन विषयों का प्रशिक्षण दिया जाता था, उनमें छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, साहित्य, इतिहास, दर्शनशास्त्र, धर्म, गणित एवं ज्योतिष के विषय सम्मिलित थे। तक्षशिला के विख्यात विश्वविद्यालय में विज्ञान, कला एवं तीनों वेदों तथा अठारह कलाओं की शिक्षा का संपूर्ण पाठ्यक्रम प्रचलित था।

पाठ्यक्रम का अन्तर विभिन्न लोगों की सामान्य सांस्कृतिक समाकृति में विभिन्नताओं के कारण था। शिक्षा अति अल्पसंख्यक वर्ग तक सीमित थी। अधिकांश लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं था। विद्यालयों की स्थापना प्रमुखतया धार्मिक संप्रदायों द्वारा की जाती थी।

धर्म-निरपेक्ष शिक्षा (Secular education)—विज्ञान, वाणिज्य एवं उद्योग के विकास एवं पुनर्जागरण तथा प्रोटेस्टैन्ट सुधार आंदोलन के साथ-साथ शिक्षा का लौकिकीकरण आरम्भ हुआ। परन्तु इस प्रकार की धर्म-निरपेक्ष शिक्षा को उन्नीसवी शताब्दी मे ही स्वीकार किया गया। धर्म-निरपेक्ष के साथ-साथ शिक्षा लोकप्रिय भी हुई। यह अब केवल कुछेक लोगों तक ही सीमित नहीं रही। उन्नीसवीं शताब्दी में शिक्षा के लौकिकीकरण एवं लोकप्रिय बनने के दो कारण थे—दृढ़ राष्ट्रीय राज्यों का विकास तथा प्रजातंत्र का प्रसार। प्रजातंत्र ने शिक्षा के उद्देश्यों को व्यापक बनाया। प्रजातंत्र के अस्तित्व के लिए सार्वलौकिक शिक्षा को अनिवार्य समझा गया। प्रजातंत्र का शिक्षा पर एक प्रभाव इसे जन-रूप प्रदान करना था। लोग जनशिक्षा के महत्व से परिचित हुए, जिसने बाद में अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के विचार को जन्म दिया। शिक्षा-प्रणाली को बदलने में प्रजातंत्र की विशेष भूमिका रही है। इसके साथ ही प्रौद्योगिकी के विकास ने भी पाठ्यक्रम में अनेक परिवर्तनों को आवश्यक बना दिया। विस्तारशील नौकरशाही, पूंजीवाद एवं इसकी प्रौद्योगिकी ने विविध प्रकार से कौशलों एवं अनुकूलनों की आवश्यकता को उत्पन्न किया जिसके लिए भूतकालीन व्यवस्था में कोई मार्गदर्शन उपलब्ध नहीं था। अब शिक्षा विशिष्ट प्रशिक्षण बन गई है जिसमें उदार शिक्षा के स्थान पर व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। इसे विस्तारशील एवं परम्परा-ध्वंसक अर्थ-व्यवस्था की नई मांगों को पूरा करने के लिए अनुकूलित किया जा रहा है। हमारे विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षक होते हैं, उनमें काफी धन लगा हुआ है तथा विद्यार्थियों का विशाल समूह होता है। उनका उद्देश्य केवल वर्तमान ज्ञान को संचरित करना ही नहीं है, अपितु नए ज्ञान की खोज करना भी है।

९. शिक्षा के उद्देश्य

(The Objectives of Education)

शिक्षा का अपार सामाजिक महत्व है। प्रारम्भिकतम काल से दार्शनिकों ने इसके स्वरूप एवं उद्देश्यों को परिभाषित करने में पर्याप्त सोच-विचार ... ।

आधुनिक समय मे भी विख्यात शिक्षाशास्त्रियों एवं शिक्षकों ने शिक्षा को अपनी कृतियो मे महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।

विभिन्न विचार (Various views)—सत्रहवी शताब्दी के चेक (Czech) शिक्षा-विशारद जोहान आमोस कामनियस (Johann Amos Comnious) को आधुनिक समय का प्रथम महान् शिक्षाशास्त्री समझा जाता है । उसने तर्कविद्या एवं शास्त्रीय विधाओ पर प्रचलित बल की आलोचना की और इस बात पर बल दिया कि शिक्षा की विधि बालक के मानसिक विकास के अनुरूप तथा विषय-वस्तु उसकी रुचि के अनुसार होनी चाहिए । अग्रेज दार्शनिक, जान लाक (John Locke) ने लिखा कि शिक्षा का प्रयोजन मानसिक अनुशासन का विकास करना होना चाहिए तथा यह धार्मिक न होकर धर्म-निरपेक्ष हो । रूसो (Rousseau) ने बतलाया कि शिक्षा का उद्देश्य बालक की प्राकृतिक प्रवृत्तियों को उसे उचित रूप से प्रशिक्षित करने हेतु बुद्धिमत्तापूर्वक निर्देशित करना है । उसने जन-शिक्षा का भी समर्थन किया । फ्रोबेल (Froebel) जो किंडरगार्टन प्रणाली का प्रवर्तक था, का विश्वास था कि शिक्षा का उद्देश्य 'पूर्णजीवन' है । पेस्टालोजी (Pestalozzi) के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य सभी क्षमताओ का सतुलित विकास करना होना चाहिए । इसका अंतिम उद्देश्य जनता की दशा मे उन्नति करना है । जान डीवी (Joan Dewy) जो प्रगतिशील शिक्षा के आंदोलन का पिता था, का विचार था कि शिक्षा जीवन की तैयारी नही, अपितु जीवन का जीना है । आगस्ट काम्टे (Auguste Comte), समाजशास्त्र के पिता का विचार है कि शिक्षा का उद्देश्य अपने साथियो के प्रति सद्भावना एव सहानुभूति उत्पन्न करना होना चाहिए । हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियो को समाज में समुचित जीवन के लिए तैयार करना है । लेस्टर एफ० वार्ड (Lester F. Ward) शिक्षा को सामाजिक प्रगति का साधन समझता था । समनर (Sumner) का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में सुविकसित समालोचनात्मक क्षमता का विकास करना है जो उसे केवल सुझाव अथवा भावना के आधार पर कार्य करने एव परम्परागत रीतियों का अन्धानुकरण करने से रोकेगी तथा उसे तर्क एवं विवेक से निर्णय लेने के योग्य बनाएगी । परन्तु वह शिक्षा को रामबाण ओषधि नही समझता था । गिडिंग्स (Giddings) का विचार था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में "आत्म-विश्वास एवं आत्म-नियंत्रण उत्पन्न करना, उन्हें अंधविश्वासों एवं अज्ञानता से छुटकारा दिलाना, उन्हें ज्ञान प्रदान करना, उन्हें वास्तविकतापूर्वक विचारने के योग्य बनाना तथा प्रबुद्ध नागरिक बनने में सहायता करना" होना चाहिए । दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार, शिक्षा का उद्देश्य किशोर पीढ़ी का समाजीकरण है ।

इस प्रकार, लेखकों ने शिक्षा के उद्देश्यों का उल्लेख विभिन्न प्रकार से किया है । आर्नोल्ड (Arnold) के अनुसार, हम इन उद्देश्यों को निम्नलिखित ढंग से वर्णित कर सकते है—

(१) समाजीकरण-प्रक्रिया की पूर्ति करना (To complete the socialization process)—शिक्षा का सर्वप्रमुख एवं प्रथम उद्देश्य समाजीकरण

प्रक्रिया की पूर्ति करना है। यद्यपि परिवार समाजीकरण का महान् स्रोत है, तथापि आधुनिक युग में यह इस कर्तव्य को भली प्रकार नही निभा पा रहा है। परिवार बच्चों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करने मे असफल रहा है। इसका कारण एक समाजशास्त्री ने निम्नलिखित शब्दों मे व्यक्त किया है—

"इस स्थिति का आंशिक कारण यह है कि हम नगरीय जीवन की ओर झुक गए हैं जिसे समाजशास्त्री समाज का गौण समूह-संगठन कहते हैं, अर्थात् ऐसा समाज जो घर एवं उद्यान के लोप, व्यावसायिक विशिष्टता के प्रभुत्व; मित्रों, धार्मिक जीवन एवं विनोद के प्रकारों के चयन मे व्यक्तिवादिता; सामान्य प्रकार के औपचारिक सम्बन्ध अवैयक्तिक प्रकार के सामाजिक सम्पर्क से चिह्नित हैं। नगरों का जीवन, कुछ शताब्दियों पूर्व के ग्रामीण जीवन की तुलना में कृत्रिम-सा लगता है।"[1]

'परिवार' के अध्याय में हमने बतलाया था कि आधुनिक परिवार किस प्रकार समाजीकरण के अभिकरण के रूप मे कार्य करने में असफल रहा है। विद्यालय ने रिक्त स्थान में प्रवेश किया है। अब यह अनुभव किया जाता है कि यह विद्यालय का दायित्व है कि वह बालक मे ईमानदारी, न्याय, सहानुभूति, सही एवं गलत की भावना के विचारों का विकास करे। माता-पिता जिनका अपने किशोर बालकों पर नियंत्रण समाप्त हो गया है, अब विद्यालय से अपेक्षा करते हैं कि वह शिष्टाचार एवं नैतिकता को सिखलाने में परिवार की अपूर्णताओ को पूरा करे। अब विद्यालय पर समाजीकरण करने के लिए जो किसी समय परिवार का कार्य था, अत्यधिक दबाव डाला जा रहा है। नवयुवक के समाजीकरण के अतिरिक्त, विद्यालय सहयोग, श्रेष्ठ नागरिकता एवं कर्तव्य-पालन के विषयों पर भी पर्याप्त समय एव शक्ति लगाता है। विद्यार्थियों में देश-भक्ति के गुणों का विकास किया जाता है।

(ii) सांस्कृतिक विरासत का हस्तांतरण (Transmission of cultural heritage)—द्वितीय, शिक्षा का उद्देश्य सांस्कृतिक बपौती का हस्तातरण करना है। सांस्कृतिक बपौती से अभिप्राय है भूतकाल, इसकी कलाओं, इसके साहित्य, दर्शन, धर्म एवं संगीत का ज्ञान। इतिहास की पाठ्य पुस्तकों एवं देश-भक्ति से सम्बन्धित पर्व एवं छुट्टियों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से बालक को उसकी सांस्कृतिक बपौती से परिचित कराया जाता है। परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्न शिक्षा के उच्चतर स्तरों पर ही होते हैं।

(iii) मनोवृत्तियों का सुधार (Reformation of attitudes)—तृतीय, शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि वह बालक में पूर्वनिर्मित गलत प्रवृत्तियों का सुधार करे। परिवार में बालक अनेक प्रकार की मनोवृत्तियों, विश्वासों, भक्तियों एवं पूर्वाग्रहों को ग्रहण कर लेता है। इन विश्वासों एवं पूर्वाग्रहों को सुधारना शिक्षा का कार्य है। यद्यपि विद्यालय इस दिशा में अधिक नही कर सकता, क्योंकि विद्यालय में बालक की उपस्थिति अनियमित होती है, तथापि उसको मनोवृत्ति के सुधार की ओर विद्यालय को सतत् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

1. Kimball Young, Quoted by Arnold, *Sociology*, p. 458.

(iv) व्यवसायिक स्थापन (Occupational placement)--शिक्षा का उपयोगितावादी उद्देश्य भी है। इसे नवयुवक को जीवन-यापन अर्जित करने योग्य बनाना चाहिए। शिक्षा उसे कोई उत्पादक कार्य करने के समर्थ बनाए जिससे वह स्वयं तथा अपने परिवार के लिए पर्याप्त धन अर्जित कर सके। युवक को समाज में उत्पादनात्मक भूमिका निभाने योग्य हो जाना चाहिए।

(v) प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करना (To instil the sense of competition)—विद्यालय का प्रमुख बल वैयक्तिक प्रतियोगिता पर होता है। प्रत्येक विषय के अध्ययन में बालक की उसके सहपाठियों के साथ प्राप्तांकों के आधार परतुलना की जाती है। शिक्षक अच्छे विद्यार्थियों की प्रशंसा तथा हीन विद्यार्थियों की निन्दा करता है। विद्यालय न केवल अपने सभी विद्यार्थियों को उनकी उपलब्धियों के अनुसार श्रेणीबद्ध करता है, अपितु बुद्धि एवं अध्यवसाय के आधार पर विद्यार्थियों की छँटनी भी, कुछ को उत्तीर्ण करके तथा अन्य को अनुत्तीर्ण करके, कर देता है।

सम्भवत:, शिक्षा के उद्देश्यों का सर्वोत्तम विवरण कार्डीनल न्यूमैन (Cardinal Newman) ने दिया है। यूनीवर्सिटी शिक्षा के बारे में उन्होंने कहा है—

"यूनीवर्सिटी शिक्षा एक महान् परन्तु साधारण लक्ष्य की प्राप्ति का एक महान् परन्तु साधारण साधन है। इसका उद्देश्य है समाज के बौद्धिक स्तर को उन्नत करना, लोकचेतना की सृष्टि करना, राष्ट्रीय अभिरुचियों को परिष्कृत करना, लोक-उत्साह के लिए सही सिद्धान्तों एवं लोक-आकांक्षाओं के लिए निश्चित लक्ष्य प्रस्तुत करना, युग के विचारों को औदार्य एवं गांभीर्य प्रदान करना, राजनीतिक शक्ति के प्रयोग को सुलभ बनाना तथा व्यक्तिगत जीवन के समागम को सुसंस्कृत करना।"

भारत में यूनीवर्सिटी शिक्षा के बारे में राधाकृष्णन रिपोर्ट में लिखित विचार इस प्रकार हैं: "सभी शिक्षा का उद्देश्य, जिसे पूर्व एवं पश्चिम के विचारकों ने स्वीकार किया है, विश्व का समन्वित चित्र एवं जीवन की एकीकृत शैली का उपबन्ध करना है।" वास्तव में, यदि शिक्षा इस उद्देश्य की सिद्धि कर ले तो शैक्षिक संस्थाओं का कोई भी विद्यार्थी जीवन मे अपनी भूमिका को अच्छी प्रकार निभा सकेगा तथा। श्रेष्ठ संसार के निर्माण में भी सहायता दे सकेगा।

शिक्षा को चुनौतियाँ (Challenges to Education)

हमारी सभ्यता के संदर्भ में शिक्षा के सामने अनेक चुनौतियाँ हैं—

(i) प्रथमतया, इसके सम्मुख पाठ्यक्रम तथा इसके क्रियान्वन की समस्या है। स्कूल एवं महाविद्यालय के स्तर पर क्या विषय पढ़ाये जाने चाहिए? विद्यार्थी को कितने और कौन से विषय लेने होंगे? प्रत्येक विषय की क्या विषय-सूची होगी? हम विश्वविद्यालयों एवं बोर्डों को प्राय: पाठ्यक्रम बदलते हुए देखते हैं जिसने शिक्षा के क्षेत्र में भ्रांति उत्पन्न कर दी है।

(ii) द्वितीय, शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए? जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि शिक्षा के उद्देश्यों को विभिन्न प्रकार से वर्णित किया गया है। वर्तमान

शिक्षा विद्यार्थी की केवल स्मरण-शक्ति को तेज करती है। यह उसकी शारीरिक एवं आध्यात्मिक क्षमताओं का विकास नहीं करती। शिक्षा तभी अर्थपूर्ण होगी जब यह शरीर, मन एवं हृदय का सर्वांगीण विकास करे।

(iii) तृतीय, शिक्षा-विशारदों को निम्नलिखित विवादों का भी समाधान खोजना होगा—

(i) औपचारिक शिक्षा सामाजिक शिक्षा आंदोलन के नेतृत्व का किस सीमा तक अनुसरण करेगी जिसके अंतर्गत आदर्श नियमों को सिद्धान्त-बोधन एवं प्रचार के माध्यम द्वारा सिखाने का प्रयत्न किया जाता है।

(ii) क्या औपचारिक शिक्षा में सहपठनीय अथवा अतिरिक्त पठनीय गतिविधियाँ सम्मिलित हैं ?

(iii) क्या औपचारिक शिक्षा से नैतिक शिक्षा को निकाला जा सकता है ?

(iv) क्या सोवियत रूस में शिक्षा-प्रणाली ने मन, शरीर एवं हृदय के समुचित विकास का सूत्र खोज लिया है ?

(vi) चतुर्थतया, कुछेक विषयों का ज्ञान बालक को बिल्कुल नहीं कराया जाता, क्योंकि ऐसे विषयों को उसकी ग्रहण-शक्ति से बाहर बतलाए जाते हैं। इन वर्जित विषयों को माध्यमिक अथवा महाविद्यालीय स्तर पर पढ़ाया जाता है। जो बालक महाविद्यालय में प्रवेश नहीं लेता, उसके भविष्य का क्या होगा ? क्या स्कूल के पाठ्यक्रम से कुछ विषयों का निकास बालक के पूर्ण मनुष्य के रूप में विकास को अवरुद्ध नहीं करता ?

(v) पंचम, हमारी शिक्षा-प्रणाली में व्यावसायिक शिक्षा का क्या स्थान होना चाहिए ? क्या शिक्षा का उद्देश्य कुशल कारीगरों का उत्पादन करना है अथवा चरित्र के विकास पर बल देना है ?

(vi) अंतिम, शिक्षा हमारी संस्कृति का संरक्षण, साथ ही नए मूल्यों की खोज में लोगों को किस प्रकार प्रशिक्षित कर सकती है ?

१०. भारतीय शिक्षा में संकट
(Crisis in Indian Education)

शिक्षा की वर्तमान भारतीय प्रणाली में अनेक दोष हैं। शिक्षा-प्रणाली में कुछेक सुधारों के बावजूद तथ्य यही है कि भारतीय शिक्षा-प्रणाली अभी तक उसी रूप में अधिकांशतया वर्तमान है जिसमें इसे ब्रिटिश शासकों से प्राप्त किया गया था। ब्रिटिश शासकों ने भारत में अपने साम्राज्य को स्थायी बनाने के उद्देश्य से भारतीय शिक्षा-प्रणाली के प्रारूप का निर्धारण किया था। इसे देश की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप बनाने अथवा इसे लोगों में प्रबुद्ध नागरिकता के विकास का साधन बनाने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। प्रौद्योगिकी अथवा

व्यावसायिक शिक्षा पर कोई बल नहीं दिया गया। यह नवयुवकों को व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करने में असमर्थ थी। वे जीवन के संघर्ष में असफल रहे। इसके अतिरिक्त, साहित्यिक शिक्षा इतनी महँगी थी कि यह भी कुछ ही समृद्ध व्यक्तियों का विशेषाधिकार बन कर रह गई। इसमें स्त्री-शिक्षा की उपेक्षा की गई तथा यह अत्यधिक परीक्षाधारित थी। शिक्षकों के वेतन अल्प थे तथा उन्हें समाज में कोई सम्मान प्राप्त नहीं था।

हमें स्वतंत्र हुए बत्तीस वर्ष हो गए हैं, परन्तु अभी तक भारतीय शिक्षा प्रणाली के उपर्युक्त दोष वर्तमान हैं। ऐसा मालूम होता है कि कदाचित् कुछ दोष और आ गए हैं। स्कूलों की संख्या बहुत कम है, अध्यापक भी कम हैं, उपकरण अत्यधिक जीर्ण हैं, स्कूल-भवन कम हैं। प्रत्येक वर्ष सैकड़ों विद्यार्थियों को स्कूलों एवं महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं मिल पाता। शिक्षित युवा-वर्ग में व्याप्त बेरोजगारी ने विकट रूप धारण कर लिया है। इंजीनियरिंग एवं अन्य प्रौद्योगिक योग्यता-प्राप्त युवक देश में बेरोजगार हैं। देश की राजनीतिक एवं आर्थिक संरचना के अनुरूप शिक्षा-प्रणाली की कोई योजना निर्मित नहीं की गई है। साहित्यिक शिक्षा पर अभी तक अधिक बल है, पाठ्य-क्रम घिसे-पिटे हैं, परीक्षा-प्रणाली प्राचीन है, शिक्षकों की दशा शोचनीय है, विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता व्याप्त है तथा उनमें जीवन की ठोस वास्तविकताओं का सामना करने के लिए सामर्थ्य नहीं है। अब विद्यार्थी हिंसा पर भी उतर आए हैं। वे मोटर-गाड़ियों को आग लगाते हैं, सार्वजनिक कर्मचारियों पर पथराव करते हैं, तार एवं टेलीफोन की तारें उखाड़ फेंकते हैं, अधिकारियों का घिराव करते हैं तथा उन्हें संस्थाएँ बन्द करने को विवश कर देते हैं। राष्ट्रीय कैडेट कोर (N. C. C.) एवं राष्ट्रीय सेवा योजना (N. S. S.) भी उनको अच्छे नागरिक बनाने में असफल रही हैं। शिक्षण-संस्थाएँ विभिन्न राजनीतिक दलों की मंच बन गई हैं।

वास्तविक संकट (The real crisis)—आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के दोषों का कारण शिक्षकों के अपर्याप्त वेतन, टूटे-फूटे स्कूल-भवन, जीर्ण-शीर्ण उपकरण एवं स्कूलों की कम संख्या नहीं है। ये तो केवल संकट की अभिव्यक्ति हैं, न कि इसका वर्णन। वास्तविक संकट तो स्कूल की यह निर्णय करने में असमर्थता है कि इतने विद्यार्थियों का क्या करना है एवं उन्हें क्या पढ़ाना है? दूसरे शब्दों में, उद्देश्य की अनिश्चितता एवं द्वैध वृत्ति संकट का कारण है। आधुनिक शिक्षा भूतकाल पर आधृत है तथा इसने हमारी सभ्यता में आने वाले परिवर्तनों के साथ स्वयं को अनुकूलित नहीं किया है। हमारे विद्यालय शिक्षा की वह अन्तर्वस्तु प्रदान करने में असफल हैं जो लोगों को प्रजातन्त्र की अपेक्षाओं को पूरा करने में समर्थ बना सके। प्रजातंत्रीय उद्देश्यों एवं राष्ट्रीय आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त पाठ्य-क्रम तैयार करने की अपेक्षा हमारे शिक्षक शिक्षण एवं परीक्षा की प्रणाली को चला रहे हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी में लिपिकों की श्रेणी तैयार करने के लिए, ऐसे लिपिक जो "रक्त एवं रंग में भारतीय हों, परन्तु रुचि, विचार, वाणी एवं मत में अंग्रेज हों" आरम्भ की गई थी। शिक्षा की अन्तर्वस्तु अब भी भूतकाल की ओर अभिमुखी है। औपचारिक प्रकार की शिक्षा प्रायः आनन्दरहित एवं उकता देने वाली होती है। इतिहास के

कुछ तथ्यों को कंठस्थ कर लेना, गणित की कुछ जटिलताओं में उलझे रहना, सहारा के भूगोल का अध्ययन कर लेना विद्यार्थी को उन कार्यों को करने के लिए भली प्रकार तैयार नहीं करता जो वह कर रहा है अथवा भविष्य में करेगा। विद्यार्थी जो कुछ अध्ययन करता है तथा जिन समस्याओं का उसे अपने जीवन, यथा विवाह-साथी का चयन करने अथवा समाज में स्थान ढूंढने में सामना करना पड़ेगा, इन दोनों के मध्य कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। विद्यालयों में भीड़ है, क्योंकि किशोरों के लिए अन्य कोई स्थान नहीं है। विचित्र बात यह है कि भारत मे विद्यार्थी शिक्षण-हेतु अधिक कार्य-दिवसों की माँग न करके अधिक छुट्टियों की माँग करते हैं।

स्वतंत्रता के उपरांत भारतीय शिक्षा-प्रणाली में सुधार के प्रयत्न (*Post-Independence efforts to reform educational system*)—स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से शिक्षा-प्रणाली को सुधारने की दिशा में निश्चित प्रवृत्ति प्रत्यक्ष है। समय-समय पर भारतीय शिक्षा-प्रणाली के दोषों पर विचार करने हेतु आयोगों की स्थापना की गई है। माध्यमिक शिक्षा पर नियुक्त मुदालियर समिति (१९५२) ने इस बात पर बल दिया कि भारतीयों को जीवन के प्रजातंत्रीय ढंग में प्रशिक्षित किया जाए। रिपोर्ट में कहा गया, "प्रजातंत्र मे नागरिकता एक चुनौतीपूर्ण एवं अत्यन्त कठोर दायित्व है जिसके लिए प्रत्येक नागरिक को सावधानीपूर्वक प्रशिक्षित किया जाता है। इसमें अनेक बौद्धिक, सामाजिक एवं नैतिक गुण निहित हैं जो स्वयं विकसित नहीं हो सकते। किसी निरंकुश सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति को स्वतंत्र चिंतन की आवश्यकता नही होती, परन्तु प्रजातंत्र में यदि यह केवल मात्र मतदान के विचाररहित प्रयोग से अधिक है, प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्रकार के जटिल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विषयों पर अपने स्वतंत्र मत का निर्माण करना चाहिए तथा अधिकांशतया अपने कार्य की दिशा का भी स्वयं निर्णय लेना चाहिए।" इसी प्रकार, विश्वविद्यालयीय शिक्षा पर नियुक्त राधाकृष्णन रिपोर्ट में कहा गया कि शिक्षा का उद्देश्य विश्व का समन्वित चित्र एवं जीवन का एकीकृत ढंग प्रदान करना है। इन रिपोर्टों के आधार पर भारतीय शिक्षा-प्रणाली में कुछेक सुधार किए गए थे, यथा त्रिवर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम, उच्च माध्यमिक शिक्षा-व्यवस्था तथा व्यावसायिक एवं प्रौद्योगिक संस्थानों की संख्या मे वृद्धि। भारत सरकार ने जुलाई, १९६४ में एक अन्य शिक्षा आयोग की स्थापना की जिसने जून, १९६६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस आयोग ने प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयीय एवं प्रौद्योगिकी. सभी प्रकार की शिक्षा की वर्तमान प्रणाली पर पुनर्विचार किया। मुख्य रूप से, आयोग का विचार था कि भारतीय शिक्षा-प्रणाली में घोर पुनर्निर्माण, प्रायः क्रांति की आवश्यकता है। आयोग ने कहा है कि प्राथमिक शिक्षा की प्रभावशीलता में प्रमुख सुधार की आवश्यकता है; कार्य के अनुभव को सामान्य शिक्षा का अनिवार्य अंग बनाया जाए; माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण हो; सभी स्तरों पर शिक्षकों की गुणता मे सुधार किया जाए तथा उनकी संख्या में वृद्धि की जाए; उच्च शिक्षा के केन्द्रों को दृढ बनाया जाए; उच्च अंतर्राष्ट्रीय

मानकों को प्राप्त करने के प्रयत्न किए जाएं; शिक्षण एवं अनुसंधान के योग पर विशेष बल दिया जाए तथा कृषि एवं सम्बद्ध विज्ञानों में शिक्षा एवं अनुसंधान पर विशेष ध्यान दिया जाए। आयोग का कथन है कि यदि भारत में शिक्षा का समुचित विकास होना है तो आगामी बीस वर्षों में शिक्षा पर व्यय बढ़ना चाहिए।

अभी पिछले दिनों एक नई योजना १०+२+३ के नाम से भारतीय शिक्षा की उपयोगिता एवं इसकी क्षमता को बढ़ाने के लिए प्रस्तावित की गई है। विद्यार्थी को दस वर्ष तक स्कूल का पाठ्यक्रम पढ़ना होगा। इस पाठ्यक्रम में कार्य-अनुभव, विज्ञान, गणित पर अधिक बल दिया गया है। तदुपरांत वह माध्यमिक पाठ्यक्रम दो वर्ष तक पढ़ेगा। इस पाठ्यक्रम में उसे उसके पर्यावरणीय दृष्टि से लाभदायक एवं जो उसे जीवन-यापन के योग्य बना सके, किसी व्यापार-धन्धे का प्रशिक्षण दिया जाएगा। दो वर्ष के इस पाठ्यक्रम के उपरांत त्रिवर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम ऐसे विद्यार्थियों के लिए है जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं तथा जिनमें तदर्थ अभिक्षमता है। स्नातक पाठ्यक्रम को राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित किया जाएगा, जिससे एकरूपता रहे। यद्यपि स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार साधारण परिवर्तन किया जा सकता है। यह नई प्रणाली सभी राज्यों में समान रूप से क्रियान्वित की जानी थी। परन्तु अब भारत सरकार ने इस प्रणाली पर पुनर्विचार करके राज्यों को इसे क्रियान्वित करने में पूर्ण स्वतंत्रता दे दी है; वह इसे स्वीकार करें अथवा न करें। त्रिवर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम के बारे में भी विश्वविद्यालयों को स्थानीय अवस्थाओं के अनुकूल पाठ्यक्रम निर्धारित करने का अधिकार दे दिया गया है। इस प्रकार, दस प्लस दो (१०+२) प्रणाली का विपर्यास पुनः इस तथ्य को दर्शाता है कि शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक उद्देश्य की अनिश्चितता एवं द्वैध वृत्ति वर्तमान है, यद्यपि शिक्षा को समवर्ती सूची में हस्तांतरित कर दिया गया है। भारतीय शिक्षा में वास्तविक संकट इसका समाधान करने हेतु हमारे प्रयत्नों के बावजूद अभी तक स्थिर है।

प्रश्न

१. जनमत का क्या अर्थ है ? जनमत सामाजिक नियंत्रण कैसे करता है ?

२. शिक्षा से आप क्या समझते हैं ? व्याख्या कीजिए।

३. शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं ?

४. "शिक्षा का उद्देश्य विश्व का समन्वित चित्र एवं जीवन की एकीकृत शैली को प्रदान करना है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. आधुनिक एवं आदिम व्यक्तियों की शिक्षा में तुलना कीजिए।

६. भारत की शिक्षा-प्रणाली में प्रमुख दोषों का वर्णन कीजिए।

७. भारतीय शिक्षा-प्रणाली में सुधार-हेतु क्या प्रयत्न किए गए हैं ?

८. "शिक्षक शिक्षा की आत्मा है।" भारत में शिक्षक की दशा के संदर्भ में इस कथन की समीक्षा कीजिए।

९. आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का समालोचनात्मक वर्णन कीजिए।

१०. शिक्षा एवं प्रचार में अंतर बतलाइए।

११. 'प्रचार' की क्या परिभाषा है ? प्रचार की प्रविधि का वर्णन कीजिए।

षष्टम खण्ड

सामाजिक परिवर्तन

[SOCIAL CHANGE]

"एक गतिशील सिद्धान्त अधिकांश सिद्धान्तों की भाँति दावे को ही प्रमाण समझकर आरम्भ होता है। यह प्रगति को शक्तियों की मितव्ययिता एवं उनके विकास के रूप में तथा शक्ति को कोई भी वस्तु, जो कार्य करती है अथवा कार्य करने में सहायता देती है, के रूप में परिभाषित करता है। मनुष्य एक शक्ति है, सूर्य भी शक्ति है, गणितीय बिंदु भी शक्ति है, यद्यपि उसका कोई आकार अथवा परिचित अवस्थिति नहीं है।"

—हैनरी एडम्स

[A dynamic theory, like most theories, begins by begging the question; it defines Progress as the development and economy of Forces. Further, it defines force as anything that does, or helps to do work. Man is a force; so is the sun; so is a mathematical point, though without dimensions or known existence.] —Henry Adams.

अध्याय ३७

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त

[THEORIES OF SOCIAL CHANGE]

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जो आज है, वह भावी कल से भिन्न होगा। सामाजिक संरचना में सदैव परिवर्तन होता रहा है। आज से चालीस वर्ष उपरांत सरकार समाज में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर देगी। परिवार एवं धर्म की संस्थाओं का रूप वही नहीं रहेगा जो आजकल है, क्योंकि जैसा कि पिछले अध्यायों में वर्णित किया गया है, इन संस्थाओं में परिवर्तन हो रहे हैं। चाहे व्यक्ति स्थायित्व के लिए प्रयत्न करते रहे, समाज स्थिरता का भ्रम उत्पन्न करते रहे, निश्चितता की खोज अबाधित बनी रहे, तथापि इस तथ्य से इंकार नहीं जा सकता कि समाज सदैव परिवर्तनशील परिघटना है जिसका विकास, ह्रास एवं नवीनीकरण होता रहा है और जो परिवर्तनशील दशाओं के अनुरूप स्वयं को अनुकूलित करता रहा है तथा जिसमें इस दौरान विशाल परिवर्तन हुए हैं। हम समाज को इसके परिवर्तनशील स्वभाव को समझे बिना पूर्ण रूप से नहीं समझ सकते। हमें यह समझना होगा कि परिवर्तन किस प्रकार होते हैं तथा परिवर्तन की दिशा को देखना होगा। इस अध्याय में हम सामाजिक परिवर्तन की इस परिघटना का अध्ययन कर इसकी दिशा की खोज करने का प्रयत्न करेंगे।

१. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

(The Meaning of Social Change)

शब्द 'परिवर्तन' काल की किसी अवधि मे किसी वस्तु मे दृश्यमान परिवर्तन को इंगित करता है। अतएव, सामाजिक परिवर्तन का अर्थ होगा—किसी निश्चित कालावधि में किसी सामाजिक परिघटना में पर्यवेक्षणीय अंतर। इसकी कुछेक परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(i) "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंतःक्रिया अथवा सामाजिक संगठन के किसी अंग मे अन्तर अथवा रूपान्तर को वर्णित करने के लिए प्रयोग किया जाता है।"[1] —जोन्स

(ii) "सामाजिक परिवर्तन समाज की क्रिया अथवा लोगों के जीवन में प्राचीन ढंग को विस्थापित अथवा परिवर्तित करने वाला नवीन शोभाचार अथवा ढंग है।"[2] —एच० टी० मजूमदार

1. "Social change is a term used to discribe variations in, or modifications of, any aspect of social processes, social patterns, social interaction or social organisation."—Jones, *Basic Sociological Principles*, p. 96.

2. "Social change may be defined as a new fashion or mode, either modifying or replacing the old, in the life of a people—or in the operation of a society."—Mazumdar, H. T., *A Grammer of Sociology*, p. 473.

(x) "सामाजिक परिवर्तन में समाजकीय प्रकारों अथवा प्रक्रियाओं की संरचना अथवा क्रिया में परिवर्तन निहित है।"[1] —एंडरसन एवं पार्कर

(xi) "सामाजिक परिवर्तन से मैं सामाजिक संरचना में परिवर्तन समझता हूँ। उदाहरणतया, समाज के आकार में उसकी बनावट अथवा भागों के संतुलन में अथवा उसके संगठन के स्वरूपों में।"[2] —गिन्सबर्ग

(xii) "सामाजिक परिवर्तन के द्वारा हम उसे संकेत करते हैं जो समय के साथ-साथ कार्यों, संस्थाओं अथवा उन व्यवस्थाओं में होता है जो सामाजिक संरचना एवं उनकी उत्पत्ति, विकास एवं पतन से संबंधित है।"[3] —गर्थ तथा मिल्स

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन-प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तनों को निर्दिष्ट करता है। यह समाज में हो रहे सभी परिवर्तनों का द्योतक नहीं है। कला, साहित्य, प्रौद्योगिकी, दर्शन आदि में आए परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। 'सामाजिक परिवर्तन' शब्द को संकुचित अर्थ मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए जो सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में परिवर्तनों को सूचित करता है। सामाजिक सम्बन्धों से अभिप्राय सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों एवं सामाजिक अंत:क्रियाओं से है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन का अर्थ होगा—सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंत:क्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी स्वरूप में अंतर। यह समाज की संस्थागत एवं आचारात्मक संरचना में परिवर्तन है।

२. सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप

(Nature of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) **सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक है (Social change is a universal phenomenon)**—सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में घटित होता है। कोई भी समाज सदा गतिहीन नहीं होता। आदिम तथा आधुनिक, दोनों समाजों में परिवर्तन होते रहे हैं। समाज अनेक गतिशील प्रभावों के अधीन अवस्थित है। जनसंख्या बदलती रहती है, प्रौद्योगिकी का विस्तार होता रहता है, भौतिक पदार्थों में परिवर्तन आता रहता है, विचारधाराएँ एवं आदर्श मूल्यों मे नए तत्व सम्मिलित हो जाते हैं

1. "Social change involves alteration in the structure or functioning of societal forms or processes themselves"—Anderson and Parker, *Socitey*, p 385.
2. "[illegible] change in social structure *e g.*, the [illegible] its parts or the type [illegible] *ange in British Journal* [illegible]
3. [illegible] happen in the course [illegible] orders comprising a social stucture; there emergence, growth and decline."—H. Gerth and C. W. Mills, *Character and Social Structure*, p. 398.

(iii) "सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत रीतियों में परिवर्तन को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तन से हुए हों अथवा सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना अथवा विचारधाराओं के परिवर्तनों से हुए हों अथवा समूह के अन्दर हुए आविष्कारों अथवा प्रसार से हुए हों।"[1]
—गिलिन एवं गिलिन

(iv) "सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं, अर्थात् समाज की संरचना और समाज के कार्यों में।"[2]
—डेविस

(v) "सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में संलग्न हैं जो उनके पूर्वजों से भिन्न हैं।"[3]
—मैरिल एवं एल्ड्रिज

(vi) "समाजशास्त्री के रूप में हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धों से है, अत. केवल सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही हम सामाजिक परिवर्तन कह सकते हैं।"[4]
—मैकाइवर एवं पेज

(vii) "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने और विचार करने की पद्धतियों में होने वाला परिवर्तन कहकर परिभाषित किया जा सकता है।"[5]
—जेन्सन

(viii) "सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन-प्रतिमानों मे घटित होने वाले अन्तरो को सूचित करता है।"[6]
—कोइनिग

(ix) "सामाजिक परिवर्तन अन्तःमानवीय संबंधों एवं आचरण के स्थापित मानकों मे किसी परिवर्तन को निर्दिष्ट करता है।"[7]
—लुंडबर्ग एवं अन्य

---

1. "Social changes are variations from the accepted modes of life whether due to alteration in geographical conditions, in cultural equipment, composition of the population, or ideologies and whether ... about by diffusion or inventions within the group."—Gillin ... p. 561.
2. ... alterations as occur in social ... functions of society."—Davis,
3. ... mber of persons are engaging ... which they or their immediate ... before."—Merrill and Eldredge
4. ... is with social relationships. It ... which alone we shall regard as ... Society, p. 511.
5. ... modification in ways of doing and ... D., *Introduction to Sociology*, p. 199.
6. "Social change refers to the modifications which occur in the life patterns of a people."—Koenig, S., *Sociology*, p. 279.
7. "Social change refers to any modification in established patterns of interhuman relationships and standards of conduct."—Lundberg and Others, *Sociology*, p. 583.

(x) "सामाजिक परिवर्तन में समाजकीय प्रकारों अथवा प्रक्रियाओं की संरचना अथवा क्रिया में परिवर्तन निहित है।"[1] —एंडरसन एवं पार्कर

(xi) "सामाजिक परिवर्तन से मैं सामाजिक संरचना में परिवर्तन समझता हूँ। उदाहरणतया, समाज के आकार में उसकी बनावट अथवा भागों के संतुलन में अथवा उसके संगठन के स्वरूपों मे।"[2] —गिन्सबर्ग

(xii) "सामाजिक परिवर्तन के द्वारा हम उसे संकेत करते हैं जो समय के साथ-साथ कार्यों, संस्थाओं अथवा उन व्यवस्थाओं मे होता है जो सामाजिक संरचना एवं उनकी उत्पत्ति, विकास एवं पतन से संबंधित है।"[3] —गर्थ तथा मिल्स

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन-प्रतिमानो में होने वाले परिवर्तनों को निर्दिष्ट करता है। यह समाज में हो रहे सभी परिवर्तनों का द्योतक नहीं है। कला, साहित्य, प्रौद्योगिकी, दर्शन आदि में आए परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। 'सामाजिक परिवर्तन' शब्द को संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया जाना चाहिए जो सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में परिवर्तनों को सूचित करता है। सामाजिक सम्बन्धों से अभिप्राय सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों एवं सामाजिक अंतःक्रियाओं से है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन का अर्थ होगा—सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अंतःक्रियाओं अथवा सामाजिक संगठन के किसी स्वरूप में अंतर। यह समाज की संस्थागत एवं आचारात्मक संरचना में परिवर्तन है।

२. सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप

(Nature of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) **सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक है** (Social change is a universal phenomenon)—सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में घटित होता है। कोई भी समाज सदा गतिहीन नहीं होता। आदिम तथा आधुनिक, दोनों समाजों में परिवर्तन होते रहे हैं। समाज अनेक गतिशील प्रभावों के अधीन अवस्थित है। जनसंख्या बदलती रहती है, प्रौद्योगिकी का विस्तार होता रहता है, भौतिक पदार्थों में परिवर्तन आता रहता है, विचारधाराएँ एवं आदर्श मूल्यों में नए तत्व सम्मिलित हो जाते हैं

1. "Social change involves alteration in the structure or functioning of societal forms or processes themselves."—Anderson and Parker, *Socitey*, p. 385.
2. "By social change, I understand a change in social structure *e.g.*, the size of a society, the composition or balance of its parts or the type of its organization."—Ginsberg, M., *Social change in British Journal of Sociology*, (Sept., 1958), p. 205.
3. "By social change we refer to what ever may happen in the course of time to the roles, the institutions, or the orders comprising a social stucture; there emergence, growth and decline."—H. Gerth and C. W. Mills, *Character and Social Structure*, p. 398.

तथा संस्थागत संरचनाओं एव कार्यों का आकार भी बदल जाता है। परिवर्तन की गति एवं सीमा समाजो मे भिन्न-भिन्न हो सकती है। कुछ समाजों में परिवर्तन शीघ्र हो जाता है, अन्य में धीरे-धीरे होता है।

(ii) **सामाजिक परिवर्तन सामुदायिक परिवर्तन है** (Social change is community change)—सामाजिक परिवर्तन किसी एक व्यक्ति के जीवन अथवा कुछेक व्यक्तियों के जीवन-प्रतिमानो में परिवर्तन नहीं है, अपितु यह संपूर्ण समुदाय के जीवन मे घटित होता है। दूसरे शब्दों में, केवल वही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाएगा, जिसका प्रभाव सामुदायिक रूप मे पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन वैयक्तिक न होकर सामाजिक होता है।

(iii) **सामाजिक परिवर्तन की गति समरूप नहीं होती** (Speed of social change is not uniform)—जबकि सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों मे घटित होता है, इसकी गति प्रत्येक समाज में समरूप नही होती। अधिकांश समाजों मे इसकी गति इतनी धीमी होती है कि लोगो को इसका आभास तक नही होता। आधुनिक समाजों में भी अनेक क्षेत्रों में बहुत कम परिवर्तन अथवा कोई परिवर्तन नहीं आता। नगरीय क्षेत्रों मे ग्रामीण क्षेत्रो की अपेक्षा सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र है।

(iv) **सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप एवं इसकी गति काल के तत्व से प्रभावित होती है तथा इससे संबधित है** (Nature and speed of social change is affected by and related to time factor)—सामाजिक परिवर्तन की गति उसी समाज मे प्रत्येक काल अथवा युग में समान नहीं होती। आधुनिक काल में सामाजिक परिवर्तन की गति १९४७ से पूर्व काल की अपेक्षा तीव्रतर है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन की गति युग-युग में भिन्न-भिन्न होती है। इसका कारण यह है कि परिवर्तनकारी कारण समय के परिवर्तन के साथ एकरूप नही रहते। १९४७ से पूर्व भारत कम औद्योगीकृत था, १९४७ के उपरात यह अधिक औद्योगीकृत हो गया है। अतएव १९४७ के उपरांत सामाजिक परिवर्तन की गति १९४७ से पूर्व की अपेक्षा तीव्रतर थी।

(v) **सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य घटना है** (Social change occurs as an essential aw)—परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सामाजिक परिवर्तन भी प्राकृतिक है। यह प्राकृतिक क्रम में अथवा सुनियोजित प्रयत्नों के परिणामस्वरूप घटित हो सकता है। हम प्रकृतिवश परिवर्तन चाहते हैं। हमारी आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं। परिवर्तन की स्वाभाविक इच्छा तथा परिवर्तनशील आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए हमारी आवश्यकताएँ भी बदल जाती हैं। तथ्य यह है कि हम परिवर्तन की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करते हैं। ग्रीन (Green), के अनुसार, "परिवर्तन के प्रति उत्साही अनुक्रिया प्रायः जीवन का ढंग बन गयी है।"

(vi) **सामाजिक परिवर्तन की निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती** (Definite prediction of social change is not possible)—सामाजिक परिवर्तन के सुनिश्चित स्वरूप के बारे में कोई भविष्यवाणी करना कठिन है। सामाजिक परिवर्तन का कोई ऐसा अन्तर्निहित नियम नहीं है जिसके अनुसार यह विभिन्न रूप

ग्रहण करेगा। अधिक-से-अधिक हम कह सकते हैं कि सामाजिक सुधार-आंदोलन के कारण अस्पृश्यता भारतीय समाज से समाप्त हो जाएगी; विवाह के आधार एवं आदर्शों में सरकार द्वारा पारित कानून के कारण परिवर्तन आ जाएगा; औद्योगीकरण नगरीकरण की गति में वृद्धि करेगा, परन्तु हम यह नहीं कह सकते कि भविष्य में सामाजिक सम्बन्धों का निश्चित रूप क्या होगा। इसी प्रकार यह भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती कि भविष्य में हमारी मनोवृत्तियाँ, हमारे विचार-प्रतिमान एवं आदर्श मूल्य क्या होंगे।

(vii) सामाजिक परिवर्तन श्रृंखला-प्रतिक्रिया-अनुक्रम को दर्शाता है (Social change shows chain-reaction sequence)—समाज का जीवन-प्रतिमान अंतःसंबंधित अंगों की गतिशील व्यवस्था है। अतएव इनमें से किसी एक अंग में परिवर्तन दूसरे अंगों पर प्रतिक्रिया करते हैं। इस श्रृंखला-प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप अनेक लोगों के जीवन की संपूर्ण विधि में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरण-तया, औद्योगीकरण ने उत्पादन की कुटीर प्रणाली को नष्ट कर दिया है। उत्पादन की कुटीर प्रणाली के विनाश ने स्त्रियों को घर से बाहर ला कर उनको कर्मशाला एवं कार्यालय में रोजगार दिलवा दिया है। स्त्रियों द्वारा नौकरियाँ कर लेने से उन्हें मनुष्य की दासता से मुक्ति मिल गई है। इसने उनकी अभिवृत्तियों एवं विचारों को भी प्रभावित किया है। इसका अर्थ था स्त्रियों के लिए नया सामाजिक जीवन। परिणामस्वरूप, इसका प्रभाव पारिवारिक जीवन के प्रत्येक अंग पर पड़ा है।

(viii) सामाजिक परिवर्तन अनेक तत्वों की अंतक्रिया का परिणाम होता है (Social change results from the interaction of a number of factors)—साधारणतया, यह विचार किया जाता है कि कोई विशेष तत्व, यथा प्रौद्योगिकी में परिवर्तन, आर्थिक विकास अथवा जलवायु-सम्बन्धी दशाएँ सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करती हैं। इसे एकलवादी सिद्धान्त कहा जाता है जो सामाजिक परिवर्तन की किसी एक अकेले तत्व के संदर्भ में समीक्षा करता है। परन्तु एकलवादी सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन की जटिल परिघटना की समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन अनेक तत्वों का परिणाम होता है। कोई विशेष तत्व चिन्गारी का कार्य कर सकता है, परन्तु अन्य तत्व भी संबंधित होते हैं जो उस चिन्गारी को सम्भव बना देते हैं। सामाजिक परिघटना पारस्परिक अन्योन्याश्रित होती है। कोई भी तत्व अकेला परिवर्तन को घटित नहीं करा सकता। वस्तुतः प्रत्येक तत्व प्रणाली का एक तत्व होता है। एक अंग में परिवर्तन दूसरे अंगों को प्रभावित करता है तथा ये प्रभाव शेष को प्रभावित करते हैं जब तक कि संपूर्ण प्रणाली प्रभावित नहीं हो जाती।

(ix) सामाजिक परिवर्तन प्रमुखतया प्रतिस्थापन अथवा रूपान्तरण प्रकार के होते हैं (Social changes are chiefly those of modification or of replacement)—सामाजिक परिवर्तनों को व्यापक रूप में प्रतिस्थापनों अथवा रूपान्तरों में वर्गीकृत किया जा सकता है। यह भौतिक पदार्थों अथवा सामाजिक सम्बन्धों का रूपान्तरण हो सकता है। उदाहरणतया, हमारे नाश्ते का रूप बदल गया है। यद्यपि हम वही आधारमूल पदार्थ खाते हैं जो पहले खाते थे, यथा गेहूँ,

अंडा, अन्न; परन्तु उनका रूप बदल गया है। अब तैयारशुदा कार्नफ्लेक्स, ब्रेड, आमलेट ने पिछले वर्षों में खाए जाने वाले इन पदार्थों के रूपों को प्रतिस्थापित कर दिया है। इसी प्रकार, सामाजिक सम्बन्धों में भी रूपान्तरण आ सकता है। प्राचीन सत्ताप्रधान परिवार अब एक छोटा समानाधिकृत परिवार बन गया है। स्त्रियों के अधिकारों, धर्म, सरकार एवं सहशिक्षा के बारे में हमारे विचार आज रूपान्तरित हो गए हैं।

परिवर्तन प्रतिस्थापन का रूप भी ले सकता है। कोई नया पदार्थ अथवा अभौतिक वस्तु प्राचीन को प्रतिस्थापित कर देती है। घोड़ों का स्थान स्वचालित वाहनों ने ले लिया है। इसी प्रकार पुराने विचारों का स्थान नए विचारों ने ले लिया है। ओषधि के कीटाणु सिद्धान्त ने रोग के कारण के बारे में पुराने विचारों को प्रतिस्थापित कर दिया है। प्रजातन्त्र ने कुलीनतंत्र को प्रतिस्थापित कर दिया है।

३. सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त
(Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों के अंतर्गत हम (१) सामाजिक परिवर्तन की दिशा; एवं (२) सामाजिक परिवर्तन के कारणों से संबंधित सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

(१) सामाजिक परिवर्तन की दिशा (The Direction of Social Change)

प्रारम्भिक समाजशास्त्री आदिम लोगों की संस्कृति को नितान्त गतिहीन समझते थे, परन्तु पूर्व-साक्षर समाजों के वैज्ञानिक अध्ययन से यह विचार त्याग दिया गया है। मानवशास्त्री अब इस बात पर सहमत हैं कि आदिम संस्कृतियों में भी परिवर्तन हुए हैं, यद्यपि उनकी गति इतनी धीमी थी कि वे गतिहीन दीखते थे। पिछले वर्षों में सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से हुआ है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक देशों की न केवल राजनीतिक संस्थाओं, अपितु उनकी वर्गीय संरचनाओं, आर्थिक व्यवस्थाओं एवं जीवन-ढंगों में गहन परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन की दिशा की व्याख्या करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। प्रत्येक सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है—

(i) **अपकर्षण का सिद्धान्त (Theory of deterioration)**—कुछ विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन का ह्रास अथवा अपकर्षण के साथ तादात्म्य किया है। उनके अनुसार, प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य स्वर्णयुग-सुख की पूर्ण अवस्था में रहता था। कुछ समय के उपरांत अपकर्षण आरम्भ हो गया जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपेक्षाकृत पतित अवस्था में पहुँच गया। प्राचीन पूर्व में यही विचार प्रचलित था। भारत, फारस एवं सुमेरिया के महाकाव्यों में इसी विचार का प्रतिपादन किया गया। इस प्रकार, भारतीय पुराणों के अनुसार मनुष्य चार युगों—सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग, के बीच से गुजरा है। सतयुग सर्वोत्तम चरण था जिसमें मनुष्य ईमानदार, नेक एवं पूर्णतया सुखी था। तदुपरांत पतन आरम्भ हो गया। आधुनिक युग कलियुग

का युग है जिसमें मनुष्य धोखेबाज, झूठा, बेईमान, स्वार्थी और परिणामतः दुखी है। प्रारम्भ में इतिहास की ऐसी विचारधारा थी, यह समझने योग्य है, क्योंकि आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम पतन देख रहे हैं।

(ii) **चक्रिक सिद्धान्त (Cyclic Theory)**—सामाजिक परिवर्तन के पूर्वोक्त सिद्धान्त के साथ-साथ खोजा गया एक अन्य प्राचीन सिद्धान्त यह है कि मानव-समाज कुछेक चक्रों से गुजरता है। दिन के बाद रात्रि एवं रात्रि के बाद दिन तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चक्र को देखकर कुछ समाजशास्त्रियों, यथा स्पेंगलर (Spengler) का विश्वास है कि समाज का भी पूर्वनिर्धारित जीवन-चक्र है और प्रत्येक सभ्यता जन्म, युवावस्था और मृत्यु के चक्र से गुजरती है। आधुनिक समाज का अपकर्ष प्रारम्भ हो गया है। यह अपनी वृद्धावस्था में है। परन्तु चूँकि इतिहास अपने को दोहराता है; अतएव समाज सभी चरणों से गुजरने के बाद अपनी प्रारम्भिक अवस्था को लौट आता है, जिसमें चक्र पुनः आरम्भ हो जाता है। हिंदू पुराणों में यही विचार मिलता है जिसके अनुसार कलियुग समाप्त होने के पश्चात् धर्मयुग पुनः आरम्भ होगा। जे० बी० बरी (J. B. Bury) ने अपनी पुस्तक 'The Idea of Progress' में इंगित किया है कि यह अवधारणा यूनान के स्टोइक (Stoic) दार्शनिकों एवं कुछ रोमन दार्शनिकों, विशेषतया मार्क्यूस आरिलियस (Marcus Aurelius) की शिक्षाओं में भी पाई जाती है।

यह विचार कि परिवर्तन चक्रिक ढंग से घटित होता है, कुछ आधुनिक लेखकों की रचनाओं में भी मिलता है जिन्होने चक्रिक सिद्धान्त की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। फ्रांसीसी मानवशास्त्री वेचर डी लापूज (Vacher de Lapouge) का विचार था कि प्रजाति संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्धारक है। उसके अनुसार, जब समाज में श्रेष्ठ प्रजातियों के लोग निवास करते हैं तो उस समय सभ्यता का विकास होता है एवं इसकी प्रगति होती है, परन्तु जब प्रजातीय रूप से निम्न व्यक्ति इसमें घुल-मिल जाते हैं तो इसका पतन होने लगता है। उसके अनुसार पाश्चात्य सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है, क्योंकि विदेशी निम्न व्यक्ति इसमें निरन्तर प्रवेश कर रहे हैं तथा इस पर उनका नियंत्रण भी बढ़ता जा रहा है। जर्मन के मानवशास्त्री, आटो आमोन (Otto Ammon), अंग्रेज व्यक्ति हाउस्टन स्टीवर्ट चेम्बरलेन (Houston Stewart Chamberlain) एवं अमरीकन मैडीसन ग्रांट (Madison Grant) तथा लोथ्राप स्टोडार्ड (Lothrop Stoddard) भी लापूज (Lapouge) के विचार से सहमत हैं, जिसे जीवशास्त्रीय चक्र का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

स्पेंगलर ने सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक सिद्धान्त की एक अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है। उसने आठ बड़ी एवं उच्च सभ्यताओं, यथा मिस्री, यूनानी एवं रोमन आदि का अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि सभी सभ्यताएँ जन्म, विकास एवं मृत्यु के समान चक्र से गुजरती हैं। उसके अनुसार पाश्चात्य सभ्यता का पतन आरम्भ हो गया है जो अपरिहार्य है।

विल्फ्रेडो पैरेटो (Vilfredo Pareto) ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि समाज राजनीतिक शक्ति एवं पतन के काल से गुजरते हैं जिनकी चक्रिक

ढंग से पुनरावृत्ति होती है। उसके अनुसार, समाज में दो प्रकार के लोग होते हैं—एक वे जो पारंपरिक ढंगों का अनुसरण करना पसंद करते हैं जिनको उसने 'Rentiers' कहा है एव दूसरे वे जो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु जोखिम उठाना चाहते हैं जिन्हें उसने 'Speculators' कहा है। राजनीतिक परिवर्तन शक्तिशाली कुलीन वर्ग के प्रत्याशियों द्वारा आरम्भ किया जाता है जिनकी शक्ति का बाद में ह्रास हो जाता है एव चतुर छल-साधनों का आश्रय लेता है तथा उसमे 'Rentier' मानसिक वृत्ति के लोग प्रवेश कर जाते हैं। समाज का पतन आरम्भ हो जाता है, परन्तु इसके साथ ही 'Speculators' प्रत्याशी पराधीन लोगों में से नया शासक वर्ग बनने के लिए सर उठाते हैं तथा पुराने वर्ग को उखाड़ फेंकते हैं। उसके बाद पुनः चक्र प्रारम्भ हो जाता है।

एफ० स्टुअर्ट चेपिन (F. Stuart Chapin) ने चक्रिक परिवर्तन की अन्य व्याख्या प्रस्तुत की है। उसने संग्रह की अवधारणा को सामाजिक परिवर्तन के अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। उसके अनुसार, सांस्कृतिक परिवर्तन समय की दृष्टि मे चयित रूप में संग्रहात्मक (selectively accumulative in time) होता है। उसने लिखा, "सांस्कृतिक परिवर्तन की अवधारणा का सर्वाधिक आशापूर्ण उपागम परिवर्तन की प्रक्रिया को समय की दृष्टि से चयित रूप में संग्रहात्मक एवं स्वरूप मे चक्रिक अथवा प्रदोलकीय समझना होगा।" इस प्रकार, चेपिन के अनुसार, सांस्कृतिक परिवर्तन चयित रूप मे संग्रहात्मक तथा स्वरूप मे चक्रिक दोनों है। उसने समकालिक चक्रिक परिवर्तन (synchronological change) की कल्पना का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार, संस्कृति के विभिन्न अंग विकास, उत्कर्ष एवं पतन के चक्र से गुजरते हैं। यदि प्रमुख अंगों का चक्र, यथा सरकार एवं परिवार एक समय मे समकालिक हैं तो संपूर्ण संस्कृति संगठन की स्थिति में होगी। यदि वे समकालिक नही है तो संस्कृति विघटन की स्थिति मे होगी। चेपिन के अनुसार, विकास एवं पतन का चक्र सांस्कृतिक स्वरूपों पर भी उतना ही अपरिहार्य है, जितना जीवित वस्तुओं के लिए।

विभिन्न सभ्यताओ के इतिहास से प्राप्त तथ्यों के आधार पर सोरोकिन (Sorokin) ने निष्कर्ष निकाला कि सभ्यताओं की तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं, अर्थात् काल्पनिक (ideational), आदर्शात्मक (idealistic) एव संवेदनात्मक (sensate)। काल्पनिक प्रकार की सभ्यता में वास्तविकता एवं मूल्यों की अतीद्रिय एवं परातार्किक ईश्वर के संदर्भ में व्याख्या की जाती है, जबकि इंद्रिय ससार मिथ्या प्रतीत होता है। संक्षेप में, काल्पनिक संस्कृति में समस्त घटनाओ का एकमात्र कारण भगवान को समझा जाता है। आध्यात्मिक कल्पना जीवन का आधार बन जाती है तथा वास्तविकता एवं व्यावहारिकता उसी कल्पना-लोक मे खो जाती हैं। आदर्शात्मक प्रकार की संस्कृति में वास्तविकता एवं मूल्यों को इंद्रिय एवं अतींद्रिय, दोनों समझा जाता है। यह सवेदनात्मक एवं काल्पनिक दोनों का समन्वय होता है। इसमें न ईश्वर की अवहेलना की जाती है और न इहलोक की। न तो भौतिक सुख को ही सब कुछ मान लिया जाता है और न ही आध्यात्मिक कल्पना के बहाव में डूबा जाता है। संवेदनात्मक प्रकार की संस्कृति में जीवन का संपूर्ण ढंग भौतिकवादी

मनोवृत्ति से प्रभावित होता है। इसमें इन्द्रियजनित आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के साधनों की प्रधानता होती है। धर्म, प्रथा, परंपरा का स्थान गौण होता है, विज्ञान व प्रौद्योगिकी का महत्व अधिक होता है। वास्तविकता एवं मूल्य केवल इन्द्रियों तक सीमित हैं। इन्द्रियों से परे किसी वास्तविकता को नहीं माना जाता। सोरोकिन के अनुसार, पाश्चात्य सभ्यता संवेदनात्मक अवस्था की अतिपरिपक्व अवस्था में है जिसे नई काल्पनिक अवस्था में आना चाहिए।

अधुनातन समय में आर्नाल्ड जे० टायनबी (Arnold J. Toynbee) एक विख्यात अंग्रेज दार्शनिक ने भी विश्व-सभ्यता के इतिहास का चक्रिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसके अनुसार, सभ्यता तीन अवस्थाओं—यौवन, प्रौढ़ता एवं पतन से गुजरती है। उसने 'आवाहन' (challenge) और 'प्रत्युत्तर' (response) की धारणाओं का विकास किया है। प्रत्येक समाज के सामने 'आवाहन' होते हैं, और प्रत्येक अवस्था उसका प्रत्युत्तर है। टायनबी ने तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—(i) आवाहन को प्रत्युत्तर (response to challenge)—यह युवावस्था का काल है; (ii) संकट का समय (time to troubles)—यह वृद्धावस्था का समय होता है; (iii) अंतिम रूप से पतन (final downfall)—यह मृत्यु का समय है। टायनबी का विचार था कि हमारी सभ्यता, यद्यपि यह अंतिम पतन की अवस्था में है, को मरने से बचाया जा सकता है। उसका कहना है कि रचनात्मक अल्पसंख्यक अपने को रोगी सभ्यता से दूर रख सकते हैं और ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों से ज्ञान एवं शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ये लोग जनता में उत्साह भर सकते हैं और पुनः शक्ति का संचार कर सकते हैं तथा आवाहन को प्रत्युत्तर दे सकते हैं। इस प्रकार सभ्यता को नष्ट होने से बचाया जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक स्वभाव के उपर्युक्त सिद्धान्तों को सांस्कृतिक चक्रों के सिद्धान्त कहा जा सकता है। वस्तुतः वे वैज्ञानिक अध्ययनों की अपेक्षा दार्शनिक चिंतन की उपज हैं। इन अवधारणाओं के लेखक कुछेक पूर्वमान्यताओं को लेकर विचार आरम्भ करते हैं जिनको वे इतिहास से प्राप्त तथ्यों द्वारा समर्थित करने का प्रयत्न करते हैं। ये दार्शनिक सिद्धान्त हैं जिन्हें विकृत ऐतिहासिक साक्ष्य द्वारा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है। बार्न्स (Barnes) ने टायनबी की अवधारणा के बारे में लिखा है, "यह वस्तुपरक अथवा व्याख्यात्मक सिद्धान्त तक नहीं है। यह धर्मशास्त्र है जिसमें ईश्वर की इच्छा को स्पष्ट करने के लिए इतिहास से चयित तथ्यों का प्रयोग किया गया है, ठीक उसी प्रकार, जैसे मध्ययुगीन पशु-विषयक उपदेशात्मक कथाओं के संग्रह में प्राणिशास्त्रीय कल्पनाओं को समान परिणाम प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया था। टायनबी द्वारा एकत्रित विशाल सामग्री इतिहास की वास्तविक प्रक्रिया की अपेक्षा उसके मस्तिष्क की प्रक्रियाओं पर अधिक प्रकाश डालती है। उसने इतिहास को जैसा यह मुक्ति के लक्ष्य को बढ़ावा देने के लिए होना चाहिए, अपने विचारानुसार वैसा लिखा है, न कि जैसा कि यह वास्तविकता में रहा है।"[1]

(iii) रेखीय सिद्धान्त (Linear theory)—कुछ लेखकों ने सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार, समाज धीरे-

1. Quoted by Koenig, *Sociology*, pp. 295-96-

धीरे सभ्यता की उच्च से उच्चतर अवस्था की ओर बढ़ता जाता है तथा यह सदैव उन्नति की दिशा मे अग्रसर होता है। यह जहाँ से प्रारम्भ होता है, वहीं से आगे बढ़ता है, पीछे लौटकर उस स्थान को कभी नहीं आता। आगस्त काम्टे (Auguste Comte) ने सामाजिक परिवर्तन की तीन अवस्थाओं की कल्पना की—धार्मिक (theological); आध्यात्मिक (metaphysical) एवं साक्षाद्वादी (positive)। मनुष्य ने प्रथम दो अवस्थाएँ पार कर ली हैं, यद्यपि जीवन के कुछेक क्षेत्रों मे वे अभी तक वर्तमान हैं तथा तीसरी निश्चयात्मक अवस्था की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है। प्रथम अवस्था में मनुष्य का विश्वास था कि पारलौकिक शक्तियों ने इस संसार को निर्मित किया है तथा वे इसे नियंत्रित कर रही हैं। वह देवताओं एवं जड़पूजावाद में विश्वास करता था जिससे वह धीरे-धीरे एकेश्वरवाद की ओर बढ़ा। इसने आध्यात्मिक अवस्था को जन्म दिया जिसके दौरान मनुष्य ने घटनावस्तु की व्याख्या काल्पनिक वस्तुओं का आश्रय लेकर की। साक्षाद्वादी अवस्था में मनुष्य परम कारणों की खोज व्यर्थ समझकर व्याख्यात्मक तथ्यों की खोज करता है जो आनुभविक रूप में पर्यवेक्षणीय हैं। यदि मनुष्य प्राकृतिक एवं सामाजिक घटनावस्तु को समझने में साक्षाद्वादी दृष्टिकोण अपना ले तो यह प्रगति की अवस्था होगी।

हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) जिसने समाज को जीव के समान बतलाया, का विचार था कि मानव-समाज धीरे-धीरे श्रेष्ठतर अवस्था की ओर बढ़ रहा है। आदिम अवस्था मे सैन्यवाद प्रधान था। मनुष्य कुछेक युद्धरत समूहों में विभक्त थे जिनके मध्य घोर जीवन-संघर्ष चलता था। सैन्यवाद से समाज उद्योगवाद की अवस्था की ओर बढा। उद्योगवाद की अवस्था में समाज अपने अंगों के अधिक विभेदीकरण एवं एकीकरण से चिह्नित है। एकीकृत व्यवस्था की स्थापना से समाज के विभिन्न वर्गों सामाजिक, आर्थिक एवं प्रजातीय, के लिए शांति से रहना सम्भव हुआ है। स्पेंसर के अनुसार, समाज सदा प्रगति की ओर बढ़ता है।

कुछ रूसी समाजशास्त्रियों ने भी सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। निकोलाई के० मिखेलोव्स्की (Nikolai K. Mikhailovsky) का विचार था कि मानव-समाज तीन अवस्थाओं में से गुजरता है: (i) वस्तुपरक मानव-केन्द्रित (objective anthropocentric), (ii) समकेन्द्रित (eccentric), एवं (iii) आत्मपरक मानव-केन्द्रित (subjective anthropocentric)। प्रथम अवस्था में मनुष्य स्वयं को विश्व का केन्द्र समझता है तथा पराभौतिक व रहस्यवादी विश्वासों में तल्लीन रहता है। दूसरी अवस्था में मनुष्य अमूर्तिकरणों में विश्वास करने लगता है। वह अमूर्त को मूर्त की अपेक्षा अधिक वास्तविक समझता है। तीसरी अवस्था में मनुष्य आनुभविक ज्ञान पर विश्वास करने लगता है जिसके द्वारा वह स्वलाभ-हेतु प्रकृति पर अधिक से अधिक नियंत्रण करता है। सोलोवीव (Soloviev) ने इन तीन अवस्थाओं को जनजातीय, राष्ट्रीय एवं विश्व-बंधुत्व का नाम दिया है।

वास्तविक तथ्य यह है कि समाजशास्त्रीय ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे सामाजिक परिवर्तन के स्वरूप अथवा उसकी दीर्घकालीन प्रवृत्ति के बारे में सिद्धान्तों का निर्माण नहीं किया जा सकता। क्या समकालीन सभ्यता आंतरिक विघटन अथवा

आणविक युद्ध के मार्ग से विनाश की ओर अग्रसर हो रही है अथवा इसका स्थान सामाजिक सम्बन्धों की किसी अधिक स्थायी अथवा आदर्शात्मक व्यवस्था द्वारा लिया जाएगा, विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। उपलब्ध वास्तविक साक्ष्य के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन की भविष्य में जो भी दिशा होगी, उसका निर्धारण स्वयं मनुष्य द्वारा होगा।

(२) सामाजिक परिवर्तन के कारण (The Causes of Social Change)

ऊपर हमने लेखकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन द्वारा गृहीत दिशा का वर्णन किया है। परन्तु उपर्युक्त कोई भी सिद्धान्त परिवर्तन के कारणों का उल्लेख नहीं करता। सामाजिक परिवर्तन के कारणसूचक सिद्धान्तों में नियतिवादी सिद्धान्त सर्वप्रमुख है। हम अब इस सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

नियतिवादी सिद्धान्त (Deterministic Theory)

सामाजिक परिवर्तन का नियतिवादी सिद्धान्त समकालीन लेखकों द्वारा व्यापक रूप में स्वीकृत किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार, कुछेक तत्व सामाजिक अथवा प्राकृतिक अथवा दोनों, सामाजिक परिवर्तन के कारण होते हैं। विवेक अथवा बुद्धि नहीं, अपितु कुछेक शक्तियों अथवा परिस्थितियों की उपस्थिति सामाजिक परिवर्तन के क्रम को नियत करती है। समनर एवं कैलर (Sumner and Keller) का विचार था कि सामाजिक परिवर्तन आर्थिक तत्वों द्वारा स्वयमेव निर्धारित होता है। कैलर ने कहा है कि सचेत प्रयत्न एवं प्रबुद्ध नियोजन से परिवर्तन लाने की बहुत कम संभावना है, यदि लोकाचार एवं लोकरीतियाँ इसका समर्थन न करें। सामाजिक परिवर्तन अनिवार्यतः अतार्किक एवं अचेत प्रक्रिया है। लोकरीतियों की विभिन्नताएँ नियोजित नहीं होतीं। मनुष्य परिवर्तन में केवल सहायता दे सकता है अथवा अधिक से अधिक हो रहे परिवर्तन में बाधा उत्पन्न कर सकता है। जर्मन दार्शनिक हीगल (Hegel) के पराभौतिक आदर्शवाद से प्रभावित होकर कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने कहा है कि जीवन की भौतिक अवस्थाएँ ही सामाजिक परिवर्तन के निश्चयात्मक कारण हैं। उसके सिद्धान्त को 'आर्थिक नियतिवाद' (theory of economic determinism) अथवा 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' (materialistic interpretation of history) का सिद्धान्त कहा जाता है।

संक्षिप्त रूप में, मार्क्स का विचार था कि समाज विभिन्न अवस्थाओं से गुजरता है। प्रत्येक अवस्था की अपनी सुपरिभाषित संगठनात्मक व्यवस्था होती है। प्रत्येक उत्तरोत्तर अवस्था अपनी पूर्ववर्ती अवस्था के साथ संघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन का कारण आर्थिक तत्वों, अर्थात् उत्पादन एवं वितरण के ढंगों में परिवर्तन है। उत्पादन के भौतिक तत्व परिवर्तनीय हैं, अतएव उत्पादन के अंतर्निहित तत्वों एवं उन पर निर्मित सम्बन्धों के मध्य दरार उत्पन्न हो जाती है। जीवन की भौतिक अवस्थाओं में परिवर्तन सभी सामाजिक संस्थाओं, यथा राज्य, धर्म एवं परिवार में परिवर्तन ला देता है। यह आधारमूल सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों को बदल देता है।

मार्क्स के शब्दों में, "वैधानिक सम्बन्धों और राज्य के रूपों को न तो अपने आप में समझा जा सकता है, न ही मानवीय मस्तिष्क की तथाकथित प्रगति द्वारा ही वर्णित किया जा सकता है। वह तो जीवन की भौतिक अवस्थाओं में जड़ जमाए हुए रहते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि, जीवन की सामाजिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के सामान्य स्वरूप को निश्चित करती है। यह मनुष्य की चेतना नहीं है जो उनके अस्तित्व को निश्चित करती है, अपितु इसके विपरीत उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निश्चित करता है।" इस प्रकार, आर्थिक तत्व समाज में प्रमुख तत्व है, क्योंकि जीवन के सभी रूप इस पर आश्रित हैं और इसके द्वारा निश्चित होते हैं। मार्क्स के साथी एन्जिल्स (Engels) के अनुसार, "सभी सामाजिक परिवर्तनों एवं राजनीतिक क्रांतियों का परम कारण मनुष्यों के मस्तिष्कों में, सनातन सत्य एव न्याय मे, उनकी उन्नतिशील अंतर्दृष्टि में जाकर उत्पादन एवं विनिमय के ढंग में परिवर्तनों में खोजा जाना चाहिए। आर्थिक व्यवस्था प्रत्येक देश की राजनीतिक संस्थाओं, उसकी सामाजिक संरचना, व्यापार एवं उद्योग, विधि एवं परम्पराओं, कला एव दर्शन, धर्म एवं नैतिकता को निश्चित करती है।"

मार्क्स के अनुसार, सामाजिक व्यवस्था पाँच अवस्थाओं—प्राच्य, प्राचीन, सामन्ती, पूँजीवादी एवं साम्यवादी, से गुजरी है। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था अपने विनाश की ओर अग्रसर हो रही है, क्योंकि इसके द्वारा उत्पन्न अवस्थाओं तथा इसके द्वारा उन्मुक्त शक्तियों ने इसके विनाश को अपरिहार्य बना दिया है। इसके वर्ग-संघर्ष सरलीकृत हो गया है जिसमे दो वर्गों, पूँजीपति एवं सर्वहारा, के मध्य प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट संघर्ष अभिलक्षित है। मार्क्स ने लिखा है, "जिन शस्त्रों से पूँजीवादियों ने सामन्तवाद को गिराया था, वही शस्त्र अब स्वयं पूँजीवादियों के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। पूँजीवादियों ने न केवल अपनी मृत्यु के जनक शस्त्रों को उत्पन्न किया है, अपितु उस वर्ग (सर्वहारा वर्ग) को भी जन्म दिया है जो इन शस्त्रों का प्रयोग करेंगे।" कोकर (Coker) ने पूँजीवाद की प्रवृत्तियों का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित शब्दों में किया है—

"इस प्रकार, पूँजीवादी व्यवस्था श्रमिकों की संख्या में वृद्धि करती है, उन्हें सुसंगठित समूहों में एकत्र कर देती है, उनमे वर्ग-चेतना का प्रादुर्भाव करती है, उनमें परस्पर सम्पर्क एवं सहयोग स्थापित करने के लिए विश्व-व्यापी स्तर पर साधन प्रदान करती है तथा उनकी क्रय-शक्ति को कम करती है और उनका अधिकाधिक शोषण करके उन्हें संगठित प्रतिरोध करने के लिए प्रोत्साहित करती है। अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते हुए और लाभ के आधार पर स्थिर व्यवस्था की सतत् रक्षा करते हुए, पूँजीपति सदैव ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते रहते हैं जिससे श्रमिकों को श्रमिक-समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रणाली स्थापित करने के लिए तैयारी करने के अपने स्वाभाविक प्रयत्नों से प्रोत्साहन तथा बल मिलता है।"

मार्क्स के अनुसार, अन्तिम सामाजिक व्यवस्था अपने पूर्ण विकास को तुरन्त प्राप्त नहीं कर लेगी, अपितु यह दो अवस्थाओं से गुजरेगी। प्रथम अवस्था में,

सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र होगा जिसके दौरान सर्वहारा वर्ग निरंकुश रूप में शासन करेगा तथा पूंजीवाद के सभी अवशेषों को समाप्त कर देगा। दूसरी अवस्था में, वास्तविक साम्यवाद आएगा जिसमें न कोई राज्य होगा, न वर्ग, न संघर्ष एवं न शोषण। मार्क्स एक ऐसे समाज की कल्पना करता था जिसमें सामाजिक व्यवस्था ने पूर्णता की स्थिति प्राप्त कर ली है, उस समाज में "प्रत्येक से उसकी सामर्थ्यानुसार प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार" का नियम प्रचलित होगा।

नियतिवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त में निःसंदेह एक महान् सत्य का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु इसमें सम्पूर्ण सत्य निहित नहीं है। इस तथ्य को कम लोग ही अस्वीकृत करेंगे कि आर्थिक तत्व जीवन की सामाजिक अवस्थाओं को प्रभावित करते हैं, परन्तु कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति इस मान्यता को स्वीकार नहीं करेगा कि आर्थिक तत्व अकेले ही मानव-इतिहास के एक मात्र सक्रिय कारण हैं। अन्य तत्व भी इतिहास को प्रभावित करते रहते हैं। इस बात का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है कि समाज मार्क्स द्वारा परिकल्पित अवस्थाओं में से अवश्य ही गुजरता है। उसकी यह धारणा कल्पनात्मक है। मूल्य एवं अतिरिक्त मूल्य के बारे मे भी मार्क्स का सिद्धान्त आधुनिक अर्थशास्त्रियों को मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक प्रक्रिया के मध्य सम्बन्ध की मार्क्सवादी व्याख्या अपर्याप्त मनोविज्ञान पर आधारित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अपर्याप्त मनोविज्ञान कदाचित् सभी नियतिवादों की विनाशक दुर्बलता है। मार्क्स हमें यह नहीं बतलाता कि उत्पादन के ढंगों में परिवर्तन किस प्रकार होता है। वह ऐसा समझता है कि जैसे उत्पादन की परिवर्तनशील प्रविधि स्वयं अपनी व्याख्या कर रही है। वह सामाजिक परिवर्तन की सरल व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा जीवन की जटिलताओं की अवहेलना करता है। वह संस्थाओं के इर्द-गिर्द एकत्रित मनोवृत्तियों का सरलीकरण करता है; परिवार के प्रति भक्ति एवं इसकी दृढ़ता को, व्यवसाय एव चिन्तन को आर्थिक वर्ग के अधीन कर देना है। वस्तुतः उसने सामाजिक परिवर्तन के कारणों के जटिल प्रश्न का न्यायोचित रूप में सामना नहीं किया है। आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन परस्पर-सम्बद्ध हैं, इस तथ्य से कोई इंकार नहीं करेगा, परन्तु यह कथन कि सामाजिक सम्बन्धों की अधिरचना आर्थिक संरचना द्वारा निश्चित होती है, अतिशयोक्तिपूर्ण है। रसेल (Russell) ने लिखा है, "मनुष्य सत्ता चाहते हैं। वे अपने अहं एव आत्म-सम्मान हेतु संतुष्टियाँ चाहते हैं। वे प्रतिद्वन्द्वी पर इतनी तीव्रता से विजय पाना चाहते हैं कि विज[illegible] प्रतिद्वन्द्विता को उत्पन्न कर लेंगे। ये स[illegible] देते हैं।" सामाजिक [illegible]

आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्त की आलोचना करने वाले कुछ सामाजिक विचारकों की धारणा है कि संस्कृति के अभौतिक तत्व सामाजिक परिवर्तन के मूलभूत स्रोत हैं। वे विचारों को सामाजिक जीवन के आधारभूत चालक समझते हैं। आर्थिक अथवा भौतिक घटनावस्तु को अभौतिक के अधीन समझा जाता है। गुस्तेव ली बान (Gustave Le Bon), जार्ज सोरल (George Sorel), जेम्स जी० फ्रेजर (James G. Frazer) एवं मैक्स वेबर (Max Weber) का विचार था कि

धर्म सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख बाधक है। इस प्रकार हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म एव यहूदी धर्म का अपने अनुयायियों की आर्थिक गतिविधियों पर निर्धारक प्रभाव पड़ा है।

सोरोकिन (Sorokin) ने अपनी पुस्तक 'Contemporary Sociological Theories' मे धार्मिक नियतिवाद के सिद्धान्त की आलोचना की है। उसने प्रश्न रखा, "यदि सभी सामाजिक संस्थायें धर्म में परिवर्तन के प्रभावाधीन बदलती हैं तो स्वयं धर्म मे कब और क्यो परिवर्तन आता है?" सोरोकिन के अनुसार, परिवर्तन संस्कृति के अनेक अंगो की अन्तर्क्रिया द्वारा उत्पन्न होता है जिनमें से किसी को भी प्रमुख नहीं कहा जा सकता। इसका अर्थ है कि परिवर्तन एकलवादी न होकर बहुलवादी है। परन्तु सिम्स (Sims) ने सामाजिक परिवर्तन के बहुलवादी सिद्धान्त की आलोचना की है। उसका कथन है कि परिवर्तन भौतिक संस्कृति में प्रारम्भ होता है, जहाँ से वह अन्य क्षेत्रों में फैल जाता है। परिवर्तन न केवल आर्थिक तत्वों द्वारा उत्पन्न होता है अपितु अधिकांशतया स्वरूप में स्वचालित भी है।

अनेक समाजशास्त्रियो का विचार है कि सामाजिक परिवर्तन चेतन एवं सुव्यवस्थित प्रयत्नो द्वारा लाए जा सकते हैं। इस प्रकार लेस्टर एफ० वार्ड (Lester F. Ward) ने कहा है कि चेतन नियोजन के उद्देश्यात्मक प्रयत्नो द्वारा प्रगति प्राप्त की जा सकती है। शिक्षा एवं ज्ञान के माध्यम से बुद्धि भावना को जीत सकती है, ताकि प्रभावी नियोजन सम्भव हो सके। वार्ड के अनुसार, प्राकृतिक उद्‌विकास धीमी प्रक्रिया है, जबकि बुद्धियुक्त नियोजन प्रकृति की प्रक्रियाओ की गति को तीव्र कर देता है। चार्ल्स ई० एलवुड (Charles E. Ellwood) वार्ड के विचार से सहमत था कि शिक्षा एव ज्ञान प्रगति को समुन्नत करते हैं। जर्मन समाजशास्त्री एवं दार्शनिक लुडविग स्टीन (Ludwig Stein) एव एल० टी० हाबहाउस (L. T. Hobhouse) अंग्रेज समाजशास्त्री ने भी वार्ड के सिद्धान्त के समरूप अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उनका विचार था कि विवेक द्वारा भौतिक तत्वों पर नियंत्रण पाकर प्रगति को प्राप्त किया जा सकता है। मानवी प्रयास विवेक के नियंत्रणाधीन होते हैं, अतएव हमारी प्रकृति मे बौद्धिक तत्व को विकसित किया जाए, ताकि इसे उद्‌विकासीय प्रक्रिया में तत्व के रूप मे प्रयुक्त किया जा सके।

४. सामाजिक उद्‌विकास एवं प्रगति
(Social Evolution and Progress)

शब्द 'सामाजिक परिवर्तन' जहाँ तक इसकी दिशा अथवा इसके नियम का प्रश्न है, स्वयं सूचित नही करता। यह एक साधारण शब्द है जो निरुपाधिक प्रक्रियाओं में से एक का वर्णन करता है। यह केवल निर्दिष्ट पदार्थ के काल-सम्बन्धी विभेद को सूचित करता है। सामाजिक परिवर्तन अनेक प्रकार के होते हैं जिनकी व्याख्या विभिन्न शब्दों, यथा प्रक्रिया (process), वृद्धि (growth), प्रगति (progress), उद्‌विकास (evolution), क्रांति (revolution), अनुकूलन (adaptation) एवं समंजन (accommodation) से की जा सकती है। यहाँ पर हम केवल दो शब्दों, अर्थात् प्रगति (progress) एवं उद्‌विकास (evolution) की चर्चा करेंगे।

उद्‌विकास का अर्थ (The Meaning of Evolution)

उद्‌विकास विभेदीकरण एवं समेकन की प्रक्रिया है (Evolution is a process of differentiation and integration)—अंग्रेजी भाषा का शब्द 'evolution' लैटिन शब्द 'evolvere' से बना है जिसका अर्थ है 'विकसित होना' (to develop) अथवा 'प्रकट करना' (to unfold)। यह संस्कृत शब्द 'विकास' का समानार्थक है। 'विकास' में 'वृद्धि' (growth) से कुछ अधिक सम्मिलित है। शब्द 'growth' परिवर्तन की दिशा को निर्दिष्ट करता है, परन्तु परिमाणात्मक गुण की। उदाहरणतया, हम कहते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि होती है। उद्‌विकास में कुछ अधिक आंतरिक भाव निहित हैं, केवल आकार-सम्बन्धी परिवर्तन ही नहीं, अपितु संरचना-सम्बन्धी भी। उदाहरणतया, जब हम जैविक उद्‌विकास की चर्चा करते हैं तो हम कुछ जीवों की क्रमशीलता में उत्पत्ति को निर्दिष्ट करते हैं। यह परिवर्तन की एक व्यवस्था है जो परिवर्तनशील वस्तु की प्रकृति के विविध पहलुओं को प्रकट करती है। हम विकास की बात नहीं कर सकते, जब वस्तु या पद्धति बाह्य रूप से उस पर प्रभाव डालने वाली शक्तियों द्वारा ही परिवर्तित हो जाती है। परिवर्तन इस परिवर्तनशील इकाई के भीतर होना चाहिए जो इसके अन्दर कार्यशील शक्तियों के प्रकटीकरण का रूप होगा। चूंकि कोई भी वस्तु विश्व से स्वतंत्र नहीं है, विकास एक प्रक्रिया है जिसके भीतर वातावरण के प्रति वस्तु का परिवर्तनशील अनुशीलन तथा उसका और प्रकृति का प्रकाशन अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार उद्‌विकास विभेदीकरण एवं समेकन की निरन्तर प्रक्रिया है।

उद्‌विकास विभेदीकरण एवं समेकन की प्रक्रिया है, इस विचार का प्रतिपादन सर्वप्रथम जर्मन समाजशास्त्री वान बेयर (Von Baer) ने तथा उसके बाद डार्विन, स्पेंसर एवं अन्य लेखकों ने किया था। स्पेंसर (Spencer) ने लिखा है, "समाज जन-समूह की साधारण वृद्धि एवं उनके संश्लेषण तथा पुनःसंश्लेषण द्वारा समेकन को प्रदर्शित करते हैं। समजातीयता से विजातीयता में परिवर्तन को साधारण जनजातियों से लेकर सभ्यकृत राष्ट्रों, जिनमें सभी अंगों में संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक विभिन्नताएँ भरपूर हैं, के असंख्य उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है। जैसे-जैसे समेकन एवं विजातीयता बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ससक्तता भी बढ़ती जाती है और इसके साथ ही निश्चितता भी बढ़ती है। सामाजिक संगठन आरम्भ में अस्पष्ट होता है; वृद्धि निश्चित व्यवस्थाओं को जन्म देती है जो धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट हो जाती हैं, प्रथाओं का स्थान कानून ले लेते हैं जो स्थिरता प्राप्त करने के साथ-साथ सभी प्रकार के कार्यों एवं संस्थाओं में लागू किए जाने पर अधिक विशिष्ट हो जाते हैं। सामाजिक संगठन जो आरम्भ में भ्रामक रूप से अंतर्मिश्रित था, धीरे-धीरे अपने विभिन्न अंगों की संरचनाओं को एक-दूसरे से अधिक स्पष्ट रूप में विलग कर लेता है। इस प्रकार उद्‌विकास का सूत्र सभी अर्थों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है। अधिक विशाल आकार, संसक्तता, रूप-बाहुल्य एवं निश्चितता की ओर प्रगति होती है।"[1]

इस प्रकार हर्बर्ट स्पेंसर ने विकास के चार नियम निश्चित किए हैं। ये हैं—

(i) सामाजिक उद्‌विकास विश्वीय विकास के नियम का एक सांस्कृतिक अथवा मानवी स्वरूप है;

1. Spencer, H, Principles of Sociology, Vol. p. 585.

(ii) सामाजिक उद्विकास उसी प्रकार घटित होता है, जैसे विश्वीय विकास;
(iii) सामाजिक उद्विकास धीमी प्रक्रिया है;
(iv) सामाजिक उद्विकास प्रगतिशील है।

सामाजिक उद्विकास में विभेदीकरण अनिवार्य नहीं है (Social evolution does not always proceed by differentiation)—परन्तु प्रश्न यह है कि क्या विभेदीकरण एव समेकन की प्रक्रिया समाज की सामान्य गति की व्याख्या करने के लिए अन्य किसी प्रकार की व्याख्या को बहिष्कृत करके यथेष्ठ है। गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने लिखा है, "यह विचार सर्वथा विवादास्पद है कि विकास सरल से जटिल की ओर गति है।" प्रत्येक क्षेत्र में जहाँ विभेदीकरण की शक्तियाँ क्रियारत हैं, वहाँ विरोधी प्रवृत्तियाँ भी क्रियाशील होती हैं। इस प्रकार भाषाओं के विभेदीकरण मे जहाँ विभेदीकरण की प्रक्रिया पर बल दिया गया है, हमें विलक्षण तथ्य मिलते हैं। संस्कृत से उद्भूत आधुनिक भाषाओं, यथा बंगाली अथवा गुजराती की तुलना संस्कृत की सम्पन्नता एवं विविधता के साथ नहीं की जा सकती। यहाँ प्रक्रिया विभेदीकरण की ओर नहीं, अपितु सरलीकरण की ओर रही है। धर्म के विकास मे भी संश्लेषण से विभेदीकरण की ओर परिवर्तन परिलक्षित नहीं है। जो संस्थाएँ चर्च के अधीन थी, वे अब राज्य के अधीन आ गई हैं। चर्च द्वारा किए जाने वाले कार्य आज राज्य द्वारा पूरित किए जा रहे हैं। राज्य एवं धर्म में विभेदीकरण की अपेक्षा संश्लेषण अधिक है। आर्थिक प्रणाली में भी अहस्तक्षेप का युग समाप्त हो गया है। राज्य लोगों की आर्थिक गतिविधियों में प्राचीन समय की तुलना में अधिक हस्तक्षेप कर रहा है। समग्र रूप मे यह कहा जा सकता है कि सामाजिक उद्विकास सदा विभेदीकरण की प्रक्रिया द्वारा नही बढ़ता, अपितु सरलीकरण एव संश्लेषण भी इसमे कार्यशील रहता है। परिभाषा के रूप में, सामाजिक विकास वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति प्राचीन समूह-प्रतिमान से विलग अथवा उनसे सम्बद्ध रहने में असफल हो जाते हैं, ताकि अन्ततः नए प्रतिमान का जन्म हो जाता है।

यह भी ध्यान रहे कि सामाजिक उद्विकास केवल निरन्तर सम्बन्धित निश्चित दिशा में परिवर्तन को कहते हैं। परन्तु यह परिवर्तन उत्थान भी हो सकता है और पतन भी, या दोनों। कहने का तात्पर्य यह है कि सामाजिक उद्विकास मूल्यों पर आधारित नही होता। हाउस (House) के अनुसार, "सामाजिक उद्विकास, नियोजित अथवा अनियोजित विकास को कहते हैं जो संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों अथवा सामाजिक अन्तःक्रियाओं के स्वरूपों का होता है।" सामाजिक उद्विकास को समरेखिक (unilined) समझना उचित नही है। कुछ लेखकों ने सामाजिक उद्विकास के स्तरों को निश्चित किया है, परन्तु यह मानना उचित नहीं है कि प्रत्येक संस्था इन स्तरों से होकर पारित होती है। विभेदीकरण अनेक रूप धारण कर सकता है और संश्लेषण का कोई भी प्रकार हो सकता है। मैकाइवर ने लिखा है, "बिल्लियाँ कुत्तों से विकसित नहीं होती हैं, परन्तु कुत्ते और बिल्लियाँ दोनों ही उद्विकास के प्रतिफल हैं।" इसके अतिरिक्त, उद्विकास की उत्पत्तियाँ ढूँढना भी व्यर्थ है। उत्पत्तियाँ सदैव अगम्य होती हैं। क्लाड-लेवी-स्ट्रास

Claude-Levi-Strauss) ने कहा है, "समाजशास्त्र को विकास के रूपों एवं उसकी त्पत्तियों की खोज के सभी प्रयत्न त्याग देने चाहिए।" परन्तु इस तथ्य से इंकार ाही किया जा सकता कि उद्‌विकास की अवधारणा अपनी उपयोगिता को प्रतिधारित केए हुए है। सामाजिक उद्‌विकास के नियम को काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। ाडेल (Nadel) ने लिखा है, "दार्शनिक चेतना की संतुष्टि के लिए उद्‌विकास की वधारणा हमारे लिए आवश्यक है, परन्तु उद्‌विकास का नियम समाजों एवं ंस्कृतियों मे पाए जाने वाले प्रत्येक टोम, डिक एव हेरी के व्यवहार की व्याख्या करने में हमारी सहायता नहीं कर सकता। कदाचित् उद्‌विकास के कोई विशेष नेयम नहीं है, केवल एक नियम है और वह यह कि विकास होता अवश्य है।"[1]

ागति की अवधारणा (The Idea of Progress)

जैविक विकास के प्रारम्भिकतम सिद्धान्तों में प्रगति की अवधारणा उद्‌विकास ी अवधारणा के साथ निकट रूप से सम्बद्ध थी। उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक वेकासशास्त्रियों के लिए *सामाजिक उद्‌विकास वस्तुतः सामाजिक प्रगति थी।* उसी ताब्दी की औद्योगिक उन्नति ने अनेक विचारकों एव समाजशास्त्रियों को इस निष्कर्ष र पहुँचाया कि सामाजिक घटनावस्तु की प्रमुख प्रवृत्ति सामाजिक प्रगति की ओर ै। परन्तु पिछले पृष्ठों में की गई चर्चा से यह स्पष्ट है कि प्रगति की अवधारणा उद्‌विकास की अवधारणा से भिन्न है।

उद्‌विकास तथा प्रगति में अन्तर (Differentiation between evolution and progress)—यदि उद्‌विकास प्रगति नहीं है तो प्रगति का क्या अर्थ है। गिन्स-बर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "किसी दिशा मे ऐसा विकास अथवा उद्‌विकास प्रगति कहलाता है जो मूल्य की तार्किक कसौटी पर खरा उतरता हो।"[2] आगबर्न (Ogburn) के अनुसार, "प्रगति किसी साधारण समूह द्वारा दर्शनीय भविष्य के लिए वांछित समझे गए उद्देश्य की ओर गति है।"[3] मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "जब हम प्रगति की चर्चा करते हैं तो हम केवल दिशा को सूचित नहीं करते, अपितु उस दिशा को जो किसी अन्तिम लक्ष्य, किसी उद्देश्य की ओर ले जाती है जिसे आदर्श रूप में निश्चित किया गया है, न कि कार्यरत शक्तियों के वस्तुपरक विचार से।"[4] पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) के अनुसार, "कोई परिवर्तन अथवा किसी उपस्थित पर्यावरण के प्रति अनुकूलन जो व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के लिए जीवन की

---

1. Ginsbeg, Studies in Sociology, p. 78.
2. "Progress is a development or evolution in a direction which satisfies rational criteria of value."—Ginsberg, *The Idea of Progress*, p. 42.
3. "Progress is a movement towards an objective, thought to be desirable by the general group, for the visible future."—*Ogburn* and Nimkoff, *op. cit*, p. 605.
4. "By progress we imply not merely direction, but direction towards some final goal, some destination determined ideally not simply by the objective consideration at work."—MacIver, *Society*, p. 526.

सरलता उत्पन्न करे, प्रगति का प्रतिनिधित्व करती है।"[1] लुम्ले (Lumley) के विचारानुसार, "प्रगति परिवर्तन है, परन्तु यह इच्छित अथवा मान्य दिशा में परिवर्तन है, न कि प्रत्येक दिशा मे।"[2] गुरविच तथा मूर (Gurvitch and Moore) के अनुसार, "प्रगति स्वीकृत मूल्यों के सदर्भ मे इच्छित उद्देश्य की ओर बढ़ना है।" वार्ड (Ward) का मत है कि "प्रगति वह है जो मानव-सुख की वृद्धि करती है।" हाबहाउस (Hobhouse) लिखता है, "सामाजिक प्रगति से मैं सामाजिक जीवन के उन गुणों की वृद्धि समझता हूँ जिन्हे मनुष्य मूल्यो से आँक सके अथवा तर्कपूर्ण रीति से मूल्य जोड़ सके।"[3]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रगति की अवधारणा मे दो बातें प्रमुख हैं—(i) लक्ष्य का स्वरूप; एव (ii) उस लक्ष्य की हमसे दूरी। इस प्रकार, जब हम कहते है कि हम प्रगति कर रहे हैं तो हमारा अभिप्राय होता है कि हम भौतिक एवं नैतिक दोनो प्रकार से समृद्ध हो रहे है। उद्‌विकास केवल परिवर्तन को सूचित करता है, परिवर्तन अच्छा अथवा बुरा हो सकता है। उद्‌विकास में किसी संस्था का जन्म निहित होता है, परन्तु कुछ लोग उस संस्था का स्वागत कर सकते हैं जबकि अन्य इसे बुरा समझ सकते हैं। उद्‌विकास से किसी वस्तुपरक स्थिति का बोध होता है जिसे अच्छा अथवा बुरा नही आँका जाता। इसमे मूल्यों का समावेश नहीं होता। परन्तु जब हम प्रगति की बात करते हैं तो केवल दिशा सूचित नहीं करते, किन्तु विशिष्ट साध्य की ओर तथा आदर्श द्वारा निश्चित लक्ष्य की ओर सूचित करते हैं। प्रगति में श्रेष्ठतर की ओर परिवर्तन का विचार निहित है। इसमें मूल्यांकन किया जाता है। मानको के सदर्भ के बिना प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती। हाबहाउस ने इसीलिए प्रगति को गुणों की वृद्धि के अर्थ मे परिभाषित किया है। मजूमदार के अनुसार, प्रगति मे छ: तत्वों का होना आवश्यक है—(i) मनुष्य के सम्मान की वृद्धि, (ii) प्रत्येक मानव-व्यक्तित्व के लिए आदर, (iii) आध्यात्मिक खोज एव सत्य के अन्वेषण के लिए अधिक स्वतत्रता; (iv) प्रकृति एवं मनुष्य की कृतियों के सौंदर्यात्मक आनन्द एव सृजनात्मकता-हेतु स्वतत्रता; (v) एक सामाजिक व्यवस्था जो प्रथम चारों मूल्यों को उन्नत करती है; एवं जो (vi) सभी के लिए न्याय एवं समता सहित सुख, स्वतंत्रता एवं जीवन की वृद्धि करती है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि जहाँ प्रगति में मूल्यों की अवधारणा निहित है, वहाँ मूल्यों का मापदण्ड करना कठिन है। मूल्य आत्मपरक वस्तु है। इसका कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है। मूल्य का निर्माण संस्कृति द्वारा होता है और चूँकि समाजों की

---

1. "Any change or adaptation to an existent environment that makes it easier for a person or group of persons or other organised form of life to live may be said to represent progress."—Park and Burgess, *An Introduction to the Science of Sociology*, p. 382.
2. "Progress is change, but it is change in a desired or approved direction, not any direction."—Lumley, F., *Principles of Sociology*, p. 387.
3. "By evolution, I mean any sort of growth by social progress the growth of social life in respect of those qualities to which human being can attach or can rationally attach values."—L. T. Hobhouse, *Social Evolution and Political theory*, p. 8.

संस्कृतियाँ विभिन्न होती हैं, अतएव प्रगति के मापदण्ड भी भिन्न होते हैं। 'अच्छा' अथवा 'बुरा' की कोई सार्वभौमिक व्याख्या नहीं की जा सकती। मैकाइवर के अनुसार, प्रगति की अवधारणा गिरगिट के समान है।

अब इस तथ्य को समझा जा सकता है कि उद्‌विकास प्रगति क्यों नहीं होता। इसकी तार्किक आवश्यकता नहीं है कि उद्‌विकासीय प्रक्रिया सदा प्रगति की दिशा में बढ़े। समाज ने विकास किया है, सभी एकमत हैं। परन्तु समाज ने प्रगति की है, इस बात को सभी नहीं मानते, क्योंकि प्रगति की कसौटी कुछ ऐसे मापदण्ड हैं जो मुख्य रूप से आत्मपरक होते हैं। यदि उद्‌विकास की प्रक्रिया मूल्यों के प्रति हमारी भावना की संतुष्टि करती है एवं यदि यह हमारे द्वारा इच्छित मूल्यों की पूर्णतर सिद्धि को सुलभ बनाती है तो इसे प्रगति भी कहा जा सकता है। विभिन्न लोग समान सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन विभिन्न प्रकार से कर सकते हैं; कुछ उसे प्रगति कहेंगे तो अन्य पतन। कुछ लोग उद्‌विकासीय परिवर्तनों का स्वागत करते हैं तो अन्य विरोध। सिविल विवाह, सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों द्वारा भाग लेना, नवयुवकों एवं नवयुवतियों का अबाध मिलन कुछेक व्यक्तियों को प्रगति का सूचक दिखाई देगा तो अन्य को अध:पतन, क्योंकि उनके मूल्य भिन्न हैं। रूढ़िवाद के समर्थक सदा रहे हैं और आज भी हैं। ऐसी अनेक दशाएँ जिन पर संतुष्टि, आर्थिक सुरक्षा, ईमानदारी एवं स्वतंत्रता निर्भर है, बहुधा अधिक विकसित समाज में अधिक यथेष्ट रूप में वर्तमान नहीं होती। औद्योगीकरण ने नगरीकरण को जन्म दिया तथा नगरीकरण ने भीड़-भाड़, संक्रामक रोगों, कुस्वास्थ्य एवं दुर्घटनाओं की वृद्धि की है। इसी प्रकार, प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, भ्रष्टाचार एवं बेईमानी आदि भी औद्योगीकरण के अन्य दुष्परिणाम हैं। वास्तव में, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के आधार पर वर्तमान सभ्यता के विरुद्ध घोर आक्षेप लगाए गए हैं। स्पष्टतया प्रगति को उद्‌विकास के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में, प्रगति के निम्नलिखित लक्षण हैं—

(i) प्रगति परिवर्तन है, परन्तु किसी विशिष्ट दिशा में परिवर्तन;

(ii) परिवर्तन को प्रगति उसी अवस्था में कहा जा सकता है, जब यह वांछित लक्ष्य की पूर्ति करे;

(iii) प्रगति सामूहिक होती है;

(iv) प्रगति संकल्पिक होती है। इसके लिए इच्छा एवं संकल्प आवश्यक है;

(v) प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है। जिसे आज प्रगति का चिह्न समझा जाता है, वह कल अवनति का चिह्न बन सकता है।[3]

उद्‌विकास तथा प्रगति में अन्तर (Distincion between Evolution and Progress)

उद्‌विकास तथा प्रगति के मध्य अन्तर के बिन्दुओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है—

3. Mazumdar, H. T., The Grammar of Sociology, p. 493.

(i) उद्विकास एक वैज्ञानिक अवधारणा है, प्रगति एक नैतिक अवधारणा है।

(ii) उद्विकास की प्रक्रिया सुनिश्चित है, प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है।

(iii) उद्विकास स्वयमेव होता है, प्रगति सचेत प्रयत्नों का परिणाम है।

(iv) उद्विकास में इच्छा का प्रश्न नहीं होता, प्रगति इच्छित उद्देश्य के अनुरूप होती है।

(v) उद्विकास किसी भी दिशा में परिवर्तन है, प्रगति अच्छाई के लिए परिवर्तन है।

इस प्रकार प्रगति सामाजिक उद्विकास की अनेक सम्भावनाओं में से एक सम्भावना है।

क्या हमने प्रगति की है ? (Have we progressed)—इस प्रश्न का कोई पूर्ण निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता कि क्या हम प्रगति कर रहे हैं अथवा नहीं तथा क्या हम अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक संस्कृत हैं ? काम्टे (Comte) समाज की पूर्णता में विश्वास करता था। यद्यपि उसका विचार था कि मनुष्य पूर्णता को विज्ञान के मार्ग से प्राप्त करेंगे। मार्क्स की भी धारणा थी कि प्रगति समाज का नियम है। साम्यवाद के आगमन को कोई शक्ति नहीं रोक सकती, जहाँ सभी लोग समान एवं संतुष्ट होंगे। उस समय प्रगति को 'सांस्कृतिक अनिवार्यता' समझा जाता था।

परन्तु अब सामाजिक विचारकों ने अपनी मनोभावना बदल ली है। वे आधुनिक सभ्यता को असफलता अथवा ऐसा प्रयोग जिसकी असफलता निश्चित है, समझते हैं। नैतिकता के मापदंड प्रौद्योगिक उपलब्धि का लिहाज नहीं करते। क्या हमने प्रगति की है, इसका उत्तर नैतिक मूल्यों के हमारे मापदंडों पर आश्रित है। हमारे माता-पिता हमारे मापदंडों को ठीक नहीं समझते, क्योंकि मापदंड आत्मपरक होते हैं। कुछ समय पूर्व सभी स्वीकार करते थे कि प्रगति हुई है, परन्तु अब प्रगति का नाम लेने पर कुछ क्षेत्रों में रोष उत्पन्न हो जाता है। ऐसे क्षेत्र मानव के सामाजिक आचरण में असंख्य दोषों को इंगित करते हैं। देश की राष्ट्रीय संपत्ति में वृद्धि हुई है, परन्तु क्या अधिक सम्पत्ति की प्राप्ति प्रगति है ? हमने वायुयानों तथा अन्य अनेक प्रकार के द्रुतगामी वाहनों का आविष्कार कर लिया है, परन्तु क्या इससे जीवन की सुरक्षा में वृद्धि हुई है ? हमारा देश औद्योगीकरण के मार्ग पर बढ़ रहा है, परन्तु क्या देश में शांति, वैभव, सुख, स्वास्थ्य की वृद्धि हुई है ? कुछ लोग हमारी भौतिक उन्नति की प्रशंसा करते हैं, परन्तु क्या यह वास्तव में प्रगति का प्रतिनिधित्व करती है ? इस प्रकार इस प्रश्न के उत्तर में पर्याप्त मतभेद हो सकता है कि क्या हमने प्रगति की है ? विज्ञान में प्रगति सम्भव है, परन्तु विज्ञान की प्रत्येक प्रगति को स्वयमेव अच्छा समझना उचित नहीं है। ...

साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। अनेक ... हुई है, इसका

कर्षक बाधाओं के बावजूद तथ्य यह ... एवं चिन्ता-

... हिंसा, रोग,

अनुशासनहीनता कम नहीं हुए हैं। हम राजनीतिक रूप से पाखण्डी, आर्थिक रूप से भ्रष्ट, सामाजिक रूप से धूर्त तथा नैतिक रूप से कपटी हैं। हमारे सामाजिक आचरण के इन दोषों को देखते हुए यह कहना कठिन होगा कि हमने प्रगति की है। महात्मा गांधी एवं अरविन्द घोष जैसे विचारकों ने मानव जाति को नैतिक पतन से सावधान किया है।

परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि प्रगति के कोई सार्वभौमिक मापदण्ड नही हैं। यह मनुष्य की स्वयं नैतिक विचारधारा एवं मनोवृत्ति का प्रश्न है। यदि हम यह मानते हो कि कुछेक लोगों के लिए अवसर की अपेक्षा अधिक व्यक्तियो के लिए वैयक्तिक विकास के अधिक अवसर वास्तव मे श्रेष्ठतर है, यदि हम यह स्वीकार करें कि शिक्षा प्रमुख निर्णय पर पहुँचने मे सहायक होती है तथा हम यह स्वीकार करें कि अब भारत मे अधिक व्यक्तियो को विकास के अवसर सुलभ हैं तो हम उचित रूप से कह सकते हैं कि हमने प्रगति की है। कोई भी इस तथ्य से इंकार नही करेगा कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र मे हमने प्रगति की है। औद्योगिक क्षेत्र मे हमारे उपकरण अधिक श्रेष्ठ हैं। परन्तु इन उपकरणों का समाज पर प्रभाव मानव-सुख के लिए पड़ा है अथवा नहीं, इसका कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता, क्योंकि मानव-सुख को मापने हेतु विभिन्न लोगो के मापदण्ड भिन्न-भिन्न है। सुख के विषय मे विचार इस मान्यता पर आधारित है कि क्या अच्छा है अथवा क्या बुरा। सक्षेप मे, सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित मापदण्डो की खोज कठिन है जो सभी व्यक्तियो को स्वीकार्य हों। अतएव प्रगति की निश्चित अवधारणाएँ निर्मित करना कठिन है जो सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हो। जबकि सामान्य नियम हमे अभिप्रेत दिशा में कार्य करने हेतु विचार करने मे सहायता देते है, वे विशिष्ट मार्ग-दर्शन नही करते। सामाजिक प्रगति के बारे मे विचार करते समय हमे काल एवं स्थान के तत्वों को ध्यान मे रखना होगा। इस प्रकार, रात्रि के समय स्त्रियो को कारखानों आदि में श्रम पर लगाने की प्रथा का उन्मूलन प्रगति की दिशा मे एक चरण कहा जा सकता है, परन्तु सम्भव है कि आज से एक सौ वर्ष उपरात ऐसा न समझा जाए।

इस अध्याय के अंत मे भविष्य मे परिवर्तन की सम्भाविता पर कल्पना करना रुचिकर होगा। कुछ विचारको की धारणा है कि मनुष्य को जितनी भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता है, वे सभी उसके पास हैं, अतः भविष्य मे आविष्कारों की कोई आवश्यकता नही है। परन्तु यह कथन मूर्खतापूर्ण होगा कि सभी आविष्कारो को बन्द कर दिया जाए, क्योंकि मानव जाति के पास सभी अपेक्षित भौतिक वस्तुएं हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नही होती। भविष्य मे भी परिवर्तन जारी रहेगा।

प्रश्न

१. सामाजिक परिवर्तन से आप क्या समझते हैं? विभिन्न प्रकार के सामाजिक परिवर्तनों का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

२. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

३. सामाजिक परिवर्तन के नियतिवादी सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या कीजिए।

४. सामाजिक परिवर्तन के चक्रिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

५. सामाजिक परिवर्तन, उद्विकास एव प्रगति के मध्य सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।

६. क्या हम अपने पूर्वजों से अधिक संस्कृत एवं सभ्य हैं ? व्याख्या कीजिए।

७. प्रगति की अवधारणा आत्मपरक है अथवा वस्तुपरक ? स्पष्ट कीजिए।

८. सामाजिक उद्विकास के बारे में स्पेंसर एवं मैकाइवर के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

९. प्रगति की अवधारणा मूल्यों पर किस प्रकार आधारित है ? क्या कोई सार्वभौमिक अथवा स्थिर मूल्य होते हैं ?

अध्याय ३८

सामाजिक परिवर्तन के कारक

[FACTORS OF SOCIAL CHANGE]

सामाजिक परिवर्तन प्रत्येक समाज में प्रत्येक युग में होता रहा है। परन्तु सामाजिक परिवर्तन की गति विभिन्न समाजों में विभिन्न होती है। किसी समाज में परिवर्तन द्रुत गति से होते हैं तो अन्य में धीमी गति से। अनेक कारक सामाजिक परिवर्तन की दिशा एवं गति को निर्धारित करते हैं। इस अध्याय में हम इनकी संक्षिप्त व्याख्या करेंगे।

१. जैविक कारक

(Biological Factors)

जैविक कारकों से अभिप्राय उन कारकों से है जो भावी संततियों की संख्या, रचना, चयन एवं आनुवंशिक गुणों को निर्धारित करते हैं। समाज का मानवीय तत्व सदैव परिवर्तनशील रहता है। प्रत्येक प्राणी के गुण एवं उसकी क्षमताएँ भिन्न होती हैं। यदि हम अपनी तुलना अपने पूर्वजों से करें तो हम स्वयं को उनसे अपनी शरीर-रचना, विचारों एवं अन्य अनेक बातों में विभिन्न पायेंगे। कोई भी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी की प्रतिकृति नहीं होती। प्रत्येक नई पीढ़ी एक नया प्रारम्भ है।

जनसंख्या एवं उसकी रचना में परिवर्तन का समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। जिस समाज में कन्याओं की संख्या पुरुष बालकों की संख्या से अधिक होती है, उसमें प्रेम, विवाह एवं पारिवारिक संगठन का रूप उस समाज से भिन्न होगा जिसमें पुरुष बालकों की संख्या अधिक है। जनसंख्या-सम्बन्धी अध्याय में हमने यह स्पष्ट किया था कि पिछले एक सौ वर्षों में अनेक देशों की जनसंख्या में अत्यधिक तीव्र वृद्धि हुई है। अतीत में जन्म-दर एवं मृत्यु-दर दोनों में द्रुत एवं बराबर ह्रास सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। समुन्नत स्वच्छता-सम्बन्धी अवस्थाओं, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की सहायता से जनसंख्या में ह्रासशील जन्म दर के बावजूद वृद्धि हुई है। जनसंख्या की वृद्धि ने अनेक सामाजिक समस्याओं, यथा बेकारी, बालश्रम, गर्भ-निरोधकों का प्रयोग, युद्धों, प्रतियोगिता एवं संश्लिष्ट वस्तुओं आदि के उत्पादन को जन्म दिया है। इसने नगरीकरण को जन्म देकर इसके दोषों को भी ला खड़ा कर दिया है। मृत्यु-दर कम हो जाने के कारण वृद्धतर लोगों की संख्या एक शताब्दी पूर्व की तुलना

में वर्तमान समाज मे अधिक है। परिणामत: सामाजिक मनोवृत्तियों एवं विश्वासो मे भी काफी परिवर्तन आ गया है।

दूसरी ओर, यदि जनसख्या की वृद्धि को रोक दिया जाए तो इसका परिणाम होगा जीवन-स्तर मे उन्नति, स्त्रियो की बार-बार प्रसव से मुक्ति, बालकों का श्रेष्ठतर पालन-पोषण एवं परिणामत: एवं श्रेष्ठतर समाज। जिन देशो में जनसंख्या की वृद्धि होती रहती है तथा जिनके प्राकृतिक स्रोत सीमित होते हैं, उनमे साम्राज्यवाद एवं सैनिकवाद की प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। जब जनसंख्या की वृद्धि जीवन-स्तर के लिए भयावह बन जाती है तो यह मनोवृत्तियो मे परिवर्तन का कारण बनती है। इस प्रकार, उन्नीसवी शताब्दी मे गर्भनिरोधकों को अनैतिक कहा जाता था, परन्तु आज उनके प्रयोग को समाज द्वारा प्रोत्साहित एवं प्रशंसित किया जाता है। परिवार का आकार घट जाने से विवाह एवं तलाक की सुविधा, पति-पत्नी के सम्बन्धो, माता-पिता एवं बच्चो के संबंधो, बच्चों के पालन-पोषण के ढंगो, घर में माता की स्थिति तथा परिवार की आर्थिक आत्म-निर्भरता की मात्रा आदि सभी में परिवर्तन हो रहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जनसंख्या के आकार एवं उसकी रचना मे परिवर्तनो ने सामाजिक सम्बन्धों मे अनेक परिवर्तनों को जन्म दिया है।

इसके अतिरिक्त, जनसंख्या की वृद्धि एव लोगो के शारीरिक स्वास्थ्य एवं क्षमता मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। चूंकि बहुतो का पेट भरना होता है, अतएव किसी को भी भरपेट भोजन नही मिल पाता, जिसके परिणामस्वरूप गंभीर कुपोषण एवं तत्संबंधित रोग व्याप्त हो जाते है और लोगो की शारीरिक क्षमता, उत्साह एवं उद्यम मे कमी आ जाती है। यह ध्यान रहे कि संसार की सभी ऐसी जनसख्याएँ जो निर्वाह-स्तर पर गुजारा करती है, सामाजिक रूप मे पिछड़ी हुई एव अप्रगतिशील होती हैं। अपनी भौतिक समृद्धि को उन्नत करने के प्रति उनकी उदासीनता का कारण उनके शारीरिक स्वास्थ्य का निम्न स्तर होता है। अध.पोषित एवं रोगग्रस्त व्यक्ति आलसी होते हैं।

जनसंख्या के दोष निम्नलिखित हैं—

(i) उच्च जन्म-दर, (ii) उच्च मृत्यु-दर, (iii) शिशुओं की अधिक सख्या, (iv) वृद्धो की अधिक संख्या, (v) विधुर एवं विधवाओं की अधिक सख्या, (vi) पुरुष एवं नारी जनसख्या की अनुपातहीन सख्या, (vii) विकलांग लोगों की अधिक संख्या, (viii) ग्रामीण व्यक्तियों की अधिक संख्या, (ix) उच्च बाल-मृत्यु-दर (x) आयु की कम सीमा। ये सभी दोष जनसंख्या के गुण को प्रभावित करके सामाजिक सरचना एवं सामाजिक सस्थाओं पर बुरा प्रभाव डालते हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि भारत की जनसंख्या में उपर्युक्त सभी दोष वर्तमान हैं जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज निर्धनता, बेकारी, नैतिक पतन, अपराध-वृत्ति एवं पिछड़ेपन के संकटमय काल से पारित हो रहा है।

प्राकृतिक एवं सामाजिक प्रवरण (Natural and Social Selection)

आगे बढ़ने से पूर्व हम इस स्थान पर प्राकृतिक एव सामाजिक प्रवरण के दो सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। सामान्य अर्थ में, "प्रवरण एक क्रिया अथवा प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रदत्त लक्ष्य अथवा आदर्श नियम के अनुसार किसी वस्तु को प्रतिधारित अथवा प्रोत्साहित तथा अन्य का परित्याग किया जाता है।" यह कुछेक वस्तुओं के लिए वरीयता की क्रिया है। उदाहरणतया, हम समाजशास्त्र के विषय पर मैकाइवर की पुस्तक 'Society' को वरीयता प्रदान करते हैं। प्रवरण परिवर्तन नही होता, क्योंकि परिवर्तन में एक वस्तु अन्य द्वारा विस्थापित कर दी जाती है।

प्राकृतिक प्रवरण (Natural selection)—प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त काफी प्राचीन है, परन्तु इसका समाजशास्त्रीय विवेचन हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने किया, जिसने डार्विन के 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (struggle for existence) के सिद्धान्त को इसका आधार बनाया। डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार, प्रकृति में अस्तित्व के लिए सदैव संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष में केवल योग्यतम जीवित रहते हैं। स्पेंसर ने इस सिद्धान्त को मानव-समाज पर प्रयुक्त किया। उसके अनुसार, मानव-समाज मे केवल वही व्यक्ति जीवित रहते हैं जो योग्यतम हैं, अर्थात् जिन्होने स्वयं को प्रकृति से अनुकूलित कर लिया है तथा जो ऐसा अनुकूलन नहीं कर सकेंगे, उनका निरसन या विलयन हो जायेगा। हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार, प्राकृतिक प्रवरण सामाजिक विकास का मूलमंत्र है। प्रत्येक प्राणी एवं संस्था को अपने पर्यावरण के प्रति अनुकूलित होना पड़ता है। यह अनुकूलन समरूप संरचनात्मक परिवर्तनों द्वारा ही लाया जा सकता है। पर्यावरण की अत्यपेक्षाएँ स्वयं संस्था मे इन परिवर्तनों को ला देती है जिससे अनुकूलन सभव हो जाता है। जो सस्थाएं स्थिति के प्रति सुखद अनुक्रियाएं नही करती, वे नष्ट हो जाती हैं। केवल योग्यतम ही जीवित रहती हैं। प्राकृतिक पर्यावरण का कार्य उन संस्थाओं का प्रवरण करना है जो जीवित रहने योग्य हैं तथा अयोग्य का निरसन करना है। प्रकृति शारीरिक रूप से अथवा अनुकूलन की समर्थता की दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों का निर्दयतापूर्वक निरसन कर देती है। शारीरिक रूप से दुर्बल अथवा रोगी व्यक्तियों को संरक्षित करने के प्रयत्न, जिन्हे अन्यथा प्राकृतिक शक्तियाँ नष्ट कर देंगी, योग्यतम व्यक्तियों की कीमत पर जैविक रूप से अयोग्य व्यक्तियों को चिरस्थायी बनाना है। कुपोषण, रोग, मकान-सम्बन्धी असुविधा एवं कठोर शारीरिक श्रम मानव-प्रजाति के लिए एक अर्थ मे अच्छे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रवरण के दो रूप हैं—निरसन (elimination); एवं विलयन (absorption)। जो प्राणी प्रकृति के साथ सफलतापूर्वक अनुकूलन नही कर पाते हैं, उनका निरसन हो जाता है। इसके विपरीत जो प्राणी प्रकृति के साथ अनुकूलन करने में समर्थ हो जाते हैं, उनका दूसरे जीवित प्राणियों के साथ विलयन हो जाता है। प्राकृतिक प्रवरण मृत्यु-दर द्वारा ही कार्य करता है। जो व्यक्ति स्वयं को प्रकृति से अनुकूलित नहीं कर पाते, प्रकृति उन्हें समाप्त कर देती है। प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया में जन्म-दर किसी भी रूप में प्रभावित नही होती, क्योंकि अनुकूलन की प्रक्रिया जन्म के बाद ही आरम्भ होती है

पियर्सन (Pearson) ने प्राकृतिक प्रवरण के चार मुख्य आधारों का वर्णन किया है—

(i) गुण परिवर्तनशील हैं,
(ii) गुण पित्रागत होते हैं;
(iii) प्रकृति मृत्यु द्वारा कार्य करती है;
(iv) मृत्यु-दर प्रवरणात्मक होती है।

प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। (i) प्रथम, योग्यता सदैव पर्यावरण-सापेक्ष होती है। सम्भाव्य पर्यावरण अनेक होते हैं तथा उनके प्रति अनुकूलन के मार्ग भी अनेक है। (ii) द्वितीय, जीवन के संघर्ष में योग्यतम सिद्ध होने वाला व्यक्ति सम्भव है, सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक गुणो मे हीनतम हो। जीवित रहने की जैविक क्षमता का सामाजिक गुणों से कोई सम्बन्ध नही है। हो सकता है यह उत्तरोक्त के विपरीत हो। जीवित रहने की जैविक क्षमता के स्थान पर मानव-मूल्य की अवधारणा को स्थान दिया जाना चाहिए, जिसका अधिक सामाजिक महत्व है। (iii) तृतीय, यह तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि जहाँ पशु-जगत् में संघर्ष एवं निरसन द्वारा जीविता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है, वही सहयोग एवं शान्तिपूर्ण सहवास भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मनुष्य-जगत् में तो सहयोग का इतना महत्वपूर्ण स्थान है कि समाज इसके बिना जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग, संघर्ष के बजाय समरसता, मतभेद के बजाय सहमति पर आधारित है, (iv) चतुर्थ, मनुष्य अनुकूलन की प्रक्रिया में केवल मात्र निष्क्रिय तत्व नही है। यह सत्य है कि प्रत्येक जीव को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, अपने पर्यावरण के प्रति अनुकूलित होना पड़ता है, परन्तु मनुष्य स्वयं इस बात का निश्चय करता है कि अनुकूलन किस प्रकार किया जाए। एक स्वस्थ मानव जीव प्राकृतिक प्रतियोगिता का अवशेष नहीं, अपितु सामाजिक संरक्षण की उपज है। (v) पंचम, प्राकृतिक मनुष्य की शारीरिक पूर्णता का विचार केवल एक कथा है। प्रकृति मे कुपोषण एव रोगो से मुक्ति नियम की अपेक्षा केवल अपवाद है। जब तक व्यक्ति अपनी संख्या को इस प्रकार नियंत्रित नहीं कर लेते कि उन्हे जीवित रहने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता न करनी पड़े, वे संख्या में थोड़े एवं आकार मे लघु होंगे। (vi) छठे, सामाजिक विरासत हर कहीं प्राकृतिक प्रवरण के दृढ़ विकल्पों का परिष्कार करती है। सामाजिक विरासतहीन जीवों के लिए समाज प्राकृतिक पर्यावरण द्वारा निर्देशित कुछ विधियों का तिरस्कार कर सकता है। लॉयड मोर्गन (Loyd Morgan) के शब्दों मे, "जबकि मानसिक विकास अभी आंगिक विकास पर आधारित है, वह पूर्णत: आंगिक आवश्यकताओं के अधीन कदापि नहीं है। एक सीमित मात्रा को छोड़ दें तो प्राकृतिक प्रवरण द्वारा उसका नियन्त्रण भी नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक प्रवरण की दासता से कुछ दूर तक मन स्वतंत्र है और एक नए वातावरण के सम्बन्ध में तथा अपने ही नियमों के

अनुसार उसका विकास हो सकता है। यद्यपि प्रजाति में मानसिक विकास की निरन्तरता अब भी आंशिक वांशिकता द्वारा सम्भव है, किन्तु मानसिक प्रगति केवल मानसिक सामर्थ्य की प्राप्ति एवं वृद्धि के कारण ही नहीं है। परम्परा से मानव-उपलब्धि के परिणाम के रूप मे मानसिक प्रगति सम्भव है। (vii) सातवें, प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त पशु-समाज एवं मनुष्य-समाज के बीच अन्तर को पूर्णतया भुला देता है।

सक्षेप में, सभ्य मनुष्य के उद्विकास में प्राकृतिक प्रवरण एक निरन्तर घटता हुआ कारक है।"[1]

लोकरीतियों एवं लोकाचारो के क्षेत्र में भी प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त कम दृश्यमान है। निःसंदेह समूह के लिए अत्यन्त हानिकारक लोकरीतियो का जो पर्यावरण में परिवर्तन के कारण अपनी उपयोगिता खो देती हैं अथवा जो समूह की जीविता का शोषण कर देंगी, उचित समय में ही दूरीकरण होना चाहिए। परन्तु कुछ लोकरीतियाँ उज्जीवित रहती हैं। उनका उज्जीवन उनकी योग्यता का विश्व-प्रमाण नही है। अज्ञान तथा अन्धविश्वास में पोषित प्रतिकूल लोकरीतियाँ स्थापित होकर अनुकूल परिवर्तन के विरुद्ध भयंकर अवरोध खड़ा कर सकती हैं। भारत में बाल-विवाह, ईश्वर के प्रकोप को शात करने हेतु ऐन्द्रजालिक उपाय, अस्पृश्यता तथा कुछेक प्रकार के भोजनो के विरुद्ध ऐसी लोकरीतियों के उदाहरण हैं। लोकरीतियों के बीच प्राकृतिक प्रवरण दृढता से काम नही करता। युद्ध या आक्रमण में समूहों द्वारा समूहों का निरसन हो जाता है, परन्तु यह लोकरीतियों के क्षेत्र में प्राकृतिक प्रवरण के प्रयोग का परीक्षण नही है क्योंकि लोकरीतियो की प्रकृति के अतिरिक्त अन्य अनेक कारक, यथा आर्थिक साधन, श्रेष्ठ शस्त्रो, सैनिक संगठन, नेतृत्व आदि की अधिकृति भी प्रविष्ट होते हैं। विदेशी सभ्यता की स्थितियों के आरोपण के कारण आदिम जातियो का लोप हो गया है, परन्तु इसे प्राकृतिक प्रवरण कदाचित् ही कहा जा सकता है। सक्षेप मे, विभिन्न जातियो के विविध आचारों एवं संस्थाओ का सर्वेक्षण हमे इसी निष्कर्ष पर ले जाता है कि सभ्य मनुष्य के उद्विकास मे प्राकृतिक प्रवरण का कम प्रमाण उपलब्ध है।

सामाजिक प्रवरण (Social selection)—सामाजिक प्रवरण समाज में मनुष्यों द्वारा नियंत्रित अथवा उन्मुक्त क्रियमाण शक्तियों का परिणाम है। मैकाइवर ने लिखा है, "जहाँ तक मानव-समाज के भीतर उत्पन्न शक्तियाँ सामाजिक सम्बन्धो द्वारा क्रियमाण होकर जनसंख्या की उज्जीवन-दरों तथा प्रजनन को प्रभावित करने वाली शक्तियों का निर्माण करती हैं, इस प्रक्रिया को सामाजिक प्रवरण का नाम दे सकते हैं।" सामाजिक प्रवरण की क्रिया संस्कृति एवं सभ्यता की उन शक्तियों के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होती है जो मनुष्य के सेवार्थ उपलब्ध हैं। मनुष्य उन योजनाओं एवं उपकरणों की खोज में भी संलग्न है जिनसे प्राकृतिक प्रवरण के संभाव्य प्रभावों को बदला जा सकता है। जैसे-जैसे सभ्यता की प्रगति होती है,

1. "Natural selection is a constantly diminishing factor in the evolution of civilized man."—Morgan, Lloyd, *Habit and Instinct*, pp. 333-34.

प्रकृति के ऊपर मनुष्य के नियंत्रण में वृद्धि होती है तथा प्राकृतिक प्रवरण निरन्तर घटता हुआ कारक बन जाता है एवं सामाजिक प्रवरण अधिक से अधिकतर प्रमुख बन जाता है। मनुष्य पर्यावरण का मुकाबिला एक बुद्धिमान व्यक्ति के रूप में करता है, जिस पर वह अपनी बुद्धि एवं प्रविधि के द्वारा काबू पा लेता है। सामाजिक प्रवरण की क्रियाशीलता की विधियाँ प्राकृतिक प्रवरण से भिन्न हैं। मैकाइवर ने लिखा है, "वर्तमान सत्ताओं के बीच वरण करते हुए प्राकृतिक प्रवरण मरण द्वारा कार्यशील होता है और इस तरह निश्चय होता है कि किनका अस्तित्व रहना चाहिए। सामाजिक प्रवरण भी मरण-दर पर कार्यशील होता है, किन्तु उसकी प्रत्यक्ष क्रिया तो जन्म-दर के सम्बन्ध मे है। प्राकृतिक प्रवरण केवल मरण के विकल्प या सफल रूपग्रहण प्रस्तुत करता है; सामाजिक प्रवरण कई विकल्प प्रस्तुत करता है। वह प्रधान या केवल रूप मे निरसनकारी नही है; आशिक रूप मे वह विरोधक एवं सृजनात्मक भी है तथा निश्चय करता है कि किन्हे जन्म लेना एवं उज्जीवित रहना चाहिए।"[1] जैसा कि हमने ऊपर देखा है, प्राकृतिक प्रवरण के कोई स्तर नहीं होते। यह तो केवल प्रदत्त पर्यावरण के प्रति अनुकूलन की माँग करता है। सामाजिक प्रवरण समाज के अनुसार अपने स्तरों का निर्माण करता है। प्राकृतिक प्रवरण के सम्मुख व्यक्ति निष्क्रिय अथवा संयमी रह जाता है, परन्तु सामाजिक पवरण के सम्मुख वह उन मूल्यों के निर्धारण मे क्रियात्मक योगदान होता है जिनके अनुसार व्यक्ति न केवल उज्जीवित रह सकता है, अपितु जीवन मे एक निश्चित स्थिति को भी प्राप्त कर सकता है।

सामाजिक प्रवरण का क्षेत्र प्राकृतिक की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। यह एक ही स्थिति के विभिन्न समाधान प्रस्तुत करता है। शारीरिक रूप में दुर्बल व्यक्ति जीवित रहने के अब अयोग्य नहीं है, अपितु वह अपनी नैतिक एव बौद्धिक प्राप्तियों द्वारा समाज का एक योग्यतम प्राणी बन सकता है। अनेक व्यक्ति जो प्राकृतिक पर्यावरण मे दूभर जीवन व्यतीत करते, अब समाज के योग्यतम सदस्य बनकर जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक प्रवरण द्वारा अपेक्षित गुण, यथा शारीरिक योग्यता एव बल सामाजिक प्रवरण में अधिक महत्व-पूर्ण नहीं हैं, क्योंकि उत्तरोक्त सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्व प्रदान करता है। वस्तुत: प्रकृति कोई प्रवरण नही करती। यह किसी निश्चित स्तर का अनुसरण किए बिना अधाधुंध निरसित या उज्जीवित करती है। दूसरी ओर, सामाजिक जीवन में कुछ आदर्श नियम होते हैं, जिनको सोच-समझ कर निर्मित किया जाता है अथवा स्वीकार किया जाता है तथा जिनके अनुसार कुछेक वस्तुओं को अच्छा समझ कर प्रतिधारित कर लिया जाता है एवं अन्य को निरसित कर दिया जाता है।

---

1. "In so far as forces generated within human society and operating through social relationships create conditions which affect the reproduction and survival rates of the population as a whole and differentially of the various groups within it, [illegible] n term the process social selection."—MacIver and Page, S[illegible] 3.

संक्षेप में, प्राकृतिक प्रवरण एवं सामाजिक प्रवरण में अंतर की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(i) प्राकृतिक प्रवरण केवल मृत्यु-दर के द्वारा कार्य करता है, जबकि सामाजिक प्रवरण जन्म-दर पर बल देता है।

(ii) प्राकृतिक प्रवरण केवल दो मार्ग—अनुकूलन एवं मृत्यु प्रदान करता है, जबकि सामाजिक प्रवरण अनेक विकल्प प्रदान करता है। यह अवरोधक एवं सृजनात्मक दोनों है।

(iii) प्राकृतिक प्रवरण में मनुष्य को प्रकृति से अनुकूलन करना पड़ता है जिसे वह बदल नहीं सकता, परन्तु सामाजिक प्रवरण मनुष्य के प्रयत्नों का परिणाम होता है।

(iv) प्राकृतिक प्रवरण प्रतियोगिता एवं संघर्ष का मार्ग है, जबकि सामाजिक प्रवरण सहयोग एवं परोपकार का मार्ग है।

(v) प्राकृतिक प्रवरण में व्यक्ति के सम्मुख केवल एक पर्यावरण होता है जिसके साथ उसे अनुकूलित होना पड़ता है, जबकि सामाजिक प्रवरण में अनेक पर्यावरण होते हैं।

(vi) प्राकृतिक प्रवरण प्राकृतिक दशाओं पर आधारित होता है, जबकि सामाजिक प्रवरण सामाजिक दशाओं पर आधारित होता है।

(vii) प्राकृतिक प्रवरण मानव-विकास की सीमाओं को निश्चित करता है, जबकि सामाजिक प्रवरण इन सीमाओं के अंतर्गत रहते हुए दिशा-निर्धारण करता है।

सामाजिक प्रवरण के प्रकार (Modes of Social Selection)

सामाजिक प्रवरण, जैसा कि मैकाइवर ने बतलाया है, दो प्रकार से कार्य करता है। एक तो विभिन्न लक्ष्यों को दृष्टि में रखकर स्थापित सामाजिक स्थितियों का केवल परिणाम है। यह अप्रत्यक्ष ढंग है। दूसरा, इस प्रकार निर्मित लक्ष्य के लिए सामाजिक योजना का प्रत्यक्ष परिणाम है। यह प्रत्यक्ष ढंग है। दोनों प्रकार एक-दूसरे से परस्पर-संबंधित हैं।

(i) अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण (Indirect social selection)—कभी-कभी समाज का संगठन जन्म तथा उज्जीवन का संतुलन बिना किसी इच्छित परिणाम के बदल देता है। उदाहरणतया, कर्मशाला में कार्य करने की दोषयुक्त दशाएँ श्रमिक-वर्ग में उच्च मरणशीलता उत्पन्न कर सकती हैं अथवा गन्दी बस्तियों में रहने से यक्ष्मा के कारण मृत्यु-दर अधिक ऊँची हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रकृति की दाहक शक्तियाँ उस दशा के कारण कार्यरत हुईं जिसके लिए समाज उत्तरदायी है। यदि मरणशीलता पौष्टिक भोजन, आरोग्य-व्यवस्था तथा चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं के उच्च हो जाने से कम हो गई है तो प्राकृतिक शक्तियों को सामाजिक दृष्टि से निर्मित स्थितियों द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया है। इस प्रकार

जब आर्थिक रोजगार, काम के घंटों, प्रौद्योगिकी-उन्नति के अनुसार व्यवसायों के वितरण, कर्मशाला में कार्यदशाओं से संबंधित नियम बदलते हैं तो वे सामाजिक प्रवरण के प्रकारों को भी प्रभावित करते हैं।

(ii) प्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण (Direct social selection)—परन्तु प्रायः समाज प्रकृति की शक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित करता है। इस प्रकार, यह स्वच्छता एवं आरोग्य सम्बन्धी नियमों का निर्माण करता है, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करता है, श्रमिकों को भयावह स्थिति से बचाने के लिए काम की दशाओं को नियमित करता है तथा शिशुहत्या, आत्महत्या एवं गर्भपात के लिए दंड की व्यवस्था करता है। विवाह की आयु निर्धारित करके यह विवाह को नियंत्रित करता है, द्वि-विवाह की मनाही करता है, तलाक को अवैधानिक घोषित करता है तथा कभी-कभी विवाह से पूर्व स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रमाणपत्र माँगता है। यह परिवार नियोजन-सम्बन्धी सूचना का प्रसारण करता है, आयकर में कटौती देकर जन्म-नियंत्रण को प्रोत्साहित करता है तथा परिवार के आकार को सीमित करने हेतु अन्य युक्तियों का प्रयोग करता है। इस प्रकार, हम समाज को प्रजनन एवं उज्जीवन दर को विचारयुक्त सामाजिक नियोजन द्वारा नियंत्रित करते देखते हैं।

परन्तु यह ध्यान रहे कि राज्य-विधान द्वारा नियंत्रणों की अपेक्षा प्रत्येक समूह के रीति-रिवाजों एवं लोकाचारों द्वारा नियंत्रण अधिक प्रभावी होता है। लोकाचार द्वारा स्तर स्थापित किए जाते हैं जिन पर सम्भोग, वैवाहिक स्थितियाँ एवं परिवार के आकार आधारित होते हैं। सामाजिक व्यवस्था केवल स्थितियाँ स्थापित करती है जिनके भीतर ये स्तर क्रियाशील होते हैं। लोकाचार सामाजिक प्रवरण के एक महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप मे कार्य करते हैं। समूह प्रवरणात्मक लोकाचारों के प्रति विशिष्ट शैली से प्रतिक्रिया करता है। अनेक शोध इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि प्रजनन-उर्वरता विशिष्ट सामाजिक समूहों के लोकाचारों एवं दशाओं के अनुरूप बदलती रहती है। विभेदक उर्वरता-दर स्पष्ट रूप से इंगित करती है कि उर्वरता के सम्बन्ध में सामाजिक तत्व जैविक तत्व की अपेक्षा अधिक प्रभुत्वशाली हैं। उर्वरता-सम्बन्धी परिवर्तनों में किसी भी प्रकार के जैविक परिवर्तन निहित हों, वे लोकाचारों के भीतर परिवर्तनों द्वारा ही गतिशील किए जाते हैं। संक्षेप में, सामाजिक प्रवरण सर्वत्र कार्यशील है, चाहे हम इसके परिणामों को देख न सकें। सामाजिक प्रवरण के कारण स्पष्ट हैं, परन्तु इसके परिणाम छिपे रहते हैं, क्योंकि सामाजिक प्रवरण के प्रभावों को प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभावों से विलग करना कठिन होता है।

सामाजिक प्रवरण के स्वरूप (Forms of Social Selection)

सामाजिक प्रवरण के अनेक स्वरूप हैं जो निम्नलिखित हैं—

(i) सैनिक सामाजिक प्रवरण (Military social selection)—युद्ध एक अत्यधिक प्रवरणात्मक शक्ति है। स्वस्थ एवं साहसी व्यक्ति युद्ध के लिए प्रवरणित किए जाते हैं जिसके फलस्वरूप समाज को हानि होती है। इसके अतिरिक्त,

युद्ध मे सैनिकों की मृत्यु समाज मे विधवाओ की संख्या मे वृद्धि करती है। सैनि दीर्घकाल तक अपने परिवारो से दूर रहते है जिससे जन्म-दर भी प्रभावि होती है।

(ii) राजनीतिक स्वरूप (Political form)—गृहयुद्धों एव स्वतंत्र आंदोलनो मे बुद्धिमान एव ईमानदार व्यक्ति मारे जाते है। लाला लाजपत राय चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुभाष चन्द्र बोस जैसे महान् व्यक्ति भारतीय स्वतंत्रत आंदोलन के दौरान मारे गए।

(iii) धार्मिक स्वरूप (Religious form)—कुछ धर्म ब्रह्मचर्य पर बल देते हैं। धार्मिक नेता जीवन-पर्यन्त विवाह नही करते। प्रायः ऐसे नेता शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं। उनके अविवाहित रहने से समाज को उच्च सन्तानें प्राप्त नही होती।

(iv) सामाजिक स्वरूप (Social form)—लोकरीतियाँ, लोकाचार एवं प्रथाएँ भी सामाजिक प्रवरण को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, वस्त्र पहनने के सामाजिक नियम के कारण हमे वस्त्र पहनने पड़ते है जिससे सूर्य की किरणें तथा स्वच्छ वायु हमारे शरीर को प्राप्त नही हो पाती और हमे रोग घेर लेते है। इससे मृत्यु-दर प्रभावित होती है। सामाजिक प्रथाएँ, यथा पर्दा-प्रणाली, बाल-विवाह, विधवा-पुर्नविवाह पर प्रतिबन्ध आदि समाज को विविध प्रकार से प्रभावित करते हैं। अपने नैतिक नियमों के कारण हम विकलाग, पागल एव कुष्ठ रोग के व्यक्तियो को प्रजनन की अनुमति देते हैं जिससे समाज का भार बढता है।

(v) कानूनी स्वरूप (Legal form)—देश के कानून भी सामाजिक प्रवरण को प्रभावित करते हैं। हत्यारों को मृत्युदंड दिया जाता है जो जन्म-दर को प्रभावित करता है। कभी-कभी कानून वेश्यावृत्ति, संतति-नियत्रण, तलाक एवं गर्भपात आदि को स्वीकृति प्रदान करता है। संतति-नियंत्रण एवं गर्भपात जन्म-दर को प्रभावित करते हैं।

(vi) आर्थिक स्वरूप (Economic form)—कुछेक आर्थिक व्यवसाय मृत्यु-दर की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार, अल्पवयस्कों एवं खतरनाक उद्योगों मे काम करने वाले कर्मचारियों को मृत्यु का अधिक भय होता है। इससे मृत्यु-दर प्रभावित होती है। देखा गया है कि सफेदपोश कर्मचारियों की अपेक्षा अकुशल श्रमिको की संतानें अधिक होती हैं।

(vii) नगरीय स्वरूप (Urban form)—नगरीय क्षेत्रों मे रहने वाले लोगों की संतानें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियो की अपेक्षा कम होती हैं। इसके अतिरिक्त, नगरो में मृत्यु-दर ग्रामीण क्षेत्रो की अपेक्षा गन्दी बस्तियों, स्वच्छ वायु एवं धूप के अभाव एवं अस्वच्छ अवस्थाओं के कारण अधिक ऊँची होती है। साथ ही शहरी लोग सन्तति-निरोध के विविध उपायों को अपना कर जन्म-दर को कम करते हैं।

२. प्राकृतिक कारक

(The Physical Factors)

हमारे ग्रह का तल सदैव गतिशील रहता है। इस पर धीमे-धीमे भौगोलिक परिवर्तन के साथ-साथ कभी-कभी तूफान, भूकम्प एवं बाढ़ आदि के रूप में प्राकृतिक घटनायें भी अपना रौद्र रूप दिखलाती रहती हैं। ऋतु-सम्बन्धी परिवर्तनों के अतिरिक्त कभी-कभी युगीन परिवर्तन भी होते हैं जो भूतल के कुछ भागों को पानी में डुबो देते हैं अथवा उभार देते हैं। प्राकृतिक पर्यावरण के ये परिवर्तन समाज में

महत्वपूर्ण परिवर्तनों
करके उनके स्थान
के निर्माण को जन्म
ने जापान में भवन-नि
भी उस आग्नि का घर
हो गया था। कुछ

सभ्यताओं के नष्ट होने का कारण उनकी आदर्श जलवायु का ह्रास था जिसने इनको पोषित किया था। भौगोलिक सम्प्रदाय के लेखक इस बात पर बल देते हैं कि प्राकृतिक पर्यावरण ही मानव-समाज के विकास को सम्भव बनाता है। सर्वश्री बकल तथा हंटिंगटन के अनुसार, जलवायु सम्पूर्ण सभ्यता के विकास और विनाश का कारण हो सकती है। बकल ने लिखा है कि प्राकृतिक अवस्था के अनुसार ही मनुष्य की कल्पना, भौतिक विकास आदि सम्भव होता है। जहाँ प्रकृति का भयंकर रूप, जैसे अकाल, बाढ़, तूफान आदि बहुधा देखने को मिलते हैं, वहाँ मनुष्य प्रकृति की शक्ति के सम्मुख नतमस्तक होकर उसकी आराधना करने लगता है। वहाँ धर्म एवं कविता की प्रधानता हो जाती है। दूसरी ओर, जहाँ प्रकृति शांत रहती है, वहाँ विज्ञान पनपता है।

यह भी ध्यान रहे कि प्राकृतिक पर्यावरण सामाजिक स्थितियों को शासित करता है। प्रत्येक संस्कृति का विकास एक विशेष प्राकृतिक पर्यावरण में होता है। जैसा हमने पहले अध्ययन किया है पर्यावरण सभ्यता के विकास को सीमित अथवा सम्भव बनाता है। मरुस्थलों एवं ध्रुवीय क्षेत्रों में नगरों का विकास नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ आर्थिक विपुलता नहीं होती। प्रत्येक सभ्यता का जन्म एवं इसकी अवस्थिति कुछेक प्राकृतिक स्रोतों की वर्तमानता एवं इन स्रोतों का स्थानापन्न ढूंढने अथवा उन्हें संरक्षित रखने की क्षमता पर निर्भर है। ध्रुवीय एवं मरुस्थलीय क्षेत्रों में ज्ञान एवं कला का कोई विकास नहीं हो पाता, क्योंकि इन क्षेत्रों के लोगों का सारा समय रोटी की तलाश में व्यतीत हो जाता है। इनका जीवन स्थिर बना रहता है जिसमें साधारण-सा परिवर्तन कभी-कभी आ जाता है। अधिक समशीतोष्ण देशों में समाज में परिवर्तन द्रुत गति से होते हैं। कुछ तत्वों की अनुपस्थिति किसी विशेष दिशा में परिवर्तन को रोक सकती है। कोयला, लोहा एवं तेल की दुर्लभता के कारण एक विशाल जनसंख्या वाला देश महान सैनिक शक्ति बनने से वंचित रह जाता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि प्राकृतिक वास स्वयं संस्कृति का

कारण नहीं हो सकता। यह तो केवल सामाजिक जीवन के लिए मंच की व्यवस्था करता है जो विशद एवं विशाल अथवा लघु एवं अनुपजाऊ, जैसा भी प्राकृतिक पर्यावरण है, हो सकता है। चूंकि भौगोलिक पर्यावरण में मनुष्य की सहायता के बिना परिवर्तन अति धीमे होते हैं, अतएव वह अधिकांश सामाजिक परिवर्तनों की व्याख्या नहीं कर सकता। गत पाँच शताब्दियों में यूरोप की जलवायु में कोई विशेष घटना घटित नहीं हुई है, तथापि वहाँ की सामाजिक व्यवस्था में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप महान् परिवर्तन आए हैं। समान भौगोलिक पर्यावरण में नितान्त विभिन्न सभ्यताओं का पोषण हो सकता है तथा इसी प्रकार नितान्त विभिन्न पर्यावरणों में समान सभ्यताएँ विकसित हो सकती हैं। अधिकांश मामलों में जिनमें भौगोलिक परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का कारण बतलाया जाता है, देखने पर यह ज्ञात होगा कि तथाकथित भौगोलिक पर्यावरण आंशिक रूप से मानव-निर्मित है, अतः यह स्वयं सामाजिक रूप से निर्धारित हुआ है।

३. प्रौद्योगिकीय कारक

(The Technological Factors)

प्रौद्योगिकी समाज को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है, क्योंकि प्रौद्योगिकी में कोई भी परिवर्तन किसी न किसी संस्था अथवा समूह में परिवर्तन का कारण बनता है। ऊर्जा के नए स्रोतों की खोज के फलस्वरूप यंत्र प्रौद्योगिकी के आगमन के इतने महत्वपूर्ण परिणाम हुए कि इसे बहुधा क्रांति का नाम दिया जाता है। आविष्कार एवं खोज हमारे युग के प्रमुख लक्षण हैं। वर्तमान युग को 'विज्ञान का युग'—'ऊर्जा' का युग' कहा जाता है। यह ठीक ही कहा जाता है कि "हमारे युग का सर्वाधिक नवीन एवं सर्वव्यापी लक्षण पूंजीवाद नहीं, अपितु यन्त्रीकरण है। पूंजीवाद तो यन्त्रीकरण की स[...] उपज मात्र है।" यंत्रीकरण ने न केवल समाज की आर्थिक संरचना को बदल दिया[...] अपितु सामाजिक संगठन के प्राचीन स्वरूपों एवं प्राचीन विचारधाराओं [...] धीरे-धीरे अवमूल्यन कर दिया है। आगबर्न (Ogburn) का कथन है, "प्रौ[...] समाज को हमारे पर्यावरण में परिवर्तन द्वारा जिसके प्रति हमें अनुकूल[...] होना पड़ता है, बदलती है। यह परिवर्तन प्रायः भौतिक पर्यावरण में आता [...] तथा हम इन परिवर्तनों के साथ जो अनुकूलन करते हैं, उससे प्रथाओं एवं सामाजि[क] संस्थाओं में परिवर्तन हो जाता है।"

उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तन (Changes in the prod[uc]tion technology)—यन्त्रीकरण की उन्नति के सम्मुख हमारी मनोवृत्तियाँ [औ]र विश्वास एवं रीति-रिवाज चूर-चूर हो गए हैं। कारीगरी की चेतना, साम[ा]जिक वर्गों की ऊँची व्यवस्था, लैंगिक क्षेत्र से सम्बन्धित रीति-रिवाज, जन्म की प्रतिष्ठा सभी यन्त्रीकरण के शिकार हुए हैं। औद्योगिक युग में स्त्रियों की प्रस्थिति [क]ा उदाहरण लिया जा सकता है। औद्योगिकतावाद ने उत्पादन की घरेलू प्रणाली का नाश कर स्त्रियों को घर से कर्मशाला व कार्यालय में पहुँचा कर उनकी आय [क]ो विभेदित कर दिया है। इसने स्त्रियों को नवीन सामाजिक जीवन प्रदान किया है। बारूद के आविष्कार से युद्ध की प्रविधि ही बदल गई है। आधुनिक प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप वस्तुओं

के स्तरीकरण ने न केवल वस्तुओं के उत्पादन को सस्ता बना दिया है, अपितु वस्तुओं के वितरण को भी उच्च ढंग से संगठित, कुशल एवं व्यापक बना दिया है। सूती उद्योग ने श्रमिकों को संगठित कर दिया है तथा उत्पादन एवं वितरण की जटिल व्यवस्था को जन्म दिया है। उद्योग में उन्नत उत्पादन-क्षमता ने जनसंख्या के अधिकाश भाग को सेवाकार्यों के लिए मुक्त कर दिया है। अभियंताओं, लेखाकारों, कच्चे पदार्थों के क्रेताओं एवं निर्मित वस्तुओं के विक्रेताओं, जो वास्तविक रूप में उत्पादन का कार्य नहीं करते, की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। उत्पादन एवं व्यापार की विधि में परिवर्तन के कारण राजनीतिक नियमन की नई समस्याओं का जन्म हुआ। कानून के कार्यों का विस्तार हुआ। कानून-निर्माताओं, कानून को क्रियान्वित करने वाले नौकरशाहों तथा कानून की व्याख्या करने वाले वकीलों की संख्या में विशाल वृद्धि हुई। उद्योग, कृषि एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में विज्ञान के प्रयोग से अनेक नवीन सेवागत कार्यों का जन्म हुआ। औद्योगिक श्रमिक की सामाजिक प्रस्थिति में ह्रास हुआ, जबकि सामाजिक कार्यकर्ताओं के सामाजिक मान में वृद्धि हुई। यदि हम अपने चारों ओर देखें तो हमें प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के फलस्वरूप समाज में हो रहे विशाल परिवर्तनों का आभास हो जाएगा। हमारे युग का सर्वाधिक विशिष्ट अन्वेषण अणु-शक्ति है जिसने हमारे जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। युद्ध के अभिकर्ता के रूप में इसने हीरोशिमा एवं नागासाकी में भीषण नर-संहार किया। शांति के अभिकर्ता के रूप में वह अन्ततः समृद्धि का अभूतपूर्व युग ला सकता है। स्वचालित वाहनों ने सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र को व्यापक बना दिया है तथा पड़ोस के सामुदायिक स्वरूप को कम कर दिया है। जीवन-स्तर में वृद्धि, वर्ग-संरचना एवं वर्ग-मानकों में परिवर्तन, मध्यम वर्ग का उत्थान, स्थानीय लोकरीतियों की महत्वहीनता, पड़ोस का विघटन, प्राचीन पारिवारिक व्यवस्था की ध्वस्तता, ग्राम्य ढंगों पर शहरी जीवन-क्रम की बढ़ती हुई प्रबलता, स्त्रियों की दशा में उन्नति, नवीन विचारधाराओं एवं आंदोलनों, यथा साम्यवाद एवं समाजवाद का जन्म, औद्योगिक समूहों विशेषतया श्रमिक संघों की चुनौती तथा शोभाचार का प्रसार उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के परिणाम हैं। मनुष्यों की विचारधाराएँ अधिक अनुभववादी हो गई हैं। वे गुण की तुलना में परिमाण के प्रति तथा मूल्यांकन की अपेक्षा मापन के प्रति अधिक निष्ठावान् हैं। उनकी मनोवृत्ति यांत्रिक है। चिन्तन-प्रधान जीवन का अभाव है।

कृषिक प्रविधियों में परिवर्तनों ने ग्राम्य समुदाय को प्रभावित किया है। नवीन कृषिक उपकरणों एवं रासायनिक उर्वरकों के अन्वेषण से कृषिक उत्पादन में वृद्धि हुई है जिससे ग्रामीण लोगों का जीवन-स्तर उन्नत हो गया है। अब कृषि के के लिए अपेक्षाकृत कम लोगों की आवश्यकता है। परिणामतः, अनेक कृषिक श्रमिकों ने नगरों की ओर काम की तलाश में प्रवास किया है।

संचार-साधनों में परिवर्तन (Changes in the means of communication)—न केवल उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों ने सामाजिक सम्बन्धों में अनेक परिवर्तनों को जन्म दिया है, अपितु संचार-साधनों में परिवर्तनों ने भी सामाजिक जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। आधुनिक संचार-प्रविधियों में

परिवर्तनों का सामाजिक जीवन पर प्रभाव उत्पादन-प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के प्रभाव के समान है। परन्तु संचार-साधनों में परिवर्तनों का अतिरिक्त प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि जिस प्रयोग में वे लाए जाते हैं, उनका स्वयं महान् सामाजिक महत्व होता है।

सभी संचार-विधियों का मूल कार्य समय एवं दूरी पर विजय पाना है। संचार की प्रविधियाँ उन संगठनों, जिनका मनुष्य विकास कर सकता है, के क्षेत्र को तथा पर्याप्त सीमा तक उनके स्वरूप को सीमित कर देती हैं। संचरण हमारे सामाजिक जीवन को निर्धारित करने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व है। इसकी प्रविधियाँ निश्चित रूप से संगठित जीवन के प्रकारों को सीमित करती हैं। संचरण की प्राथमिक प्रविधियाँ वाणी एवं संकेत हैं क्योंकि संचरण के अन्य सभी ढंग इन पर आधारित हैं। लेखन वाणी का लिखित स्वरूप है; रेडियो संचरण-दूरी को मिटाते हुए वाणी का संचार है। सांकेतिक एवं भाषायी अन्तर विभिन्न समूहों एवं समाजों के लोगों के बीच सद्भावना एवं सम्पर्क की वृद्धि करने में विशिष्ट बाधक हैं। गत कुछ शताब्दियों में संचार की अनुगामी प्रविधियों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुए हैं। प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने इन विकासों को प्रोत्साहित किया है। भावचित्रों द्वारा लेखन, जो ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से लेखन-प्रतीकीकरण का प्रथम रूप था, की अपेक्षा वर्णमाला द्वारा लेखन श्रेष्ठतर है। लेखन की नमनीय एवं सरल प्रणाली राजनीतिक संगठन के आनुषंगिक रूपों के जन्म को सुगम बना देती है। जब व्यक्ति संचार की प्राथमिक प्रविधियों पर पूर्णतया आश्रित होते हैं तो स्थायी, जटिल एवं उच्च रूप से एकीकृत संगठनों की उत्पत्ति कठिन होती है। वर्णमालात्मक लेखन सांस्कृतिक तत्वों के अन्वेषण एवं विसरण को सुलभ बना देता है।

मुद्रणालय के आविष्कार ने सस्ती पाठ्य-सामग्री के उत्पादन को सुगम बना दिया है। विज्ञान की उन्नति को मुद्रणालय के विकास ने प्रोत्साहित किया है। वैज्ञानिक खोजों के मुद्रण ने ज्ञान के संचय को सम्भव बनाया। इस प्रकार, भावी अन्वेषक ज्ञान के इस मुद्रित भंडार का अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। मुद्रित शब्द अन्वेषणों एवं खोजों को किसी समाज के सदस्यों एवं समाजों के बीच द्रुत गति से विसरित कर देता है। इससे ज्ञान, जो केवल कुछेक लोगों की सम्पत्ति बनकर रह जाता, अनेक लोगों में व्याप्त हो जाता है। जिस द्रुत गति से आधुनिक युग में सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनका श्रेय संचरण के रूप में मुद्रित शब्द के बढ़ते हुए प्रयोग को दिया जा सकता है। मुद्रणालय ने मनोरंजन, शिक्षा, राजनीति एवं व्यापार को प्रभावित किया है। इसने ग्रामवासी को शहरी जीवन का ज्ञान कराया है तथा उसमें नगरीय वस्तुओं की इच्छा उत्पन्न की है अथवा उसे नगर में प्रवास करा दिया है।

इसी प्रकार रेडियो, दूरभाष एवं तार के आविष्कार ने व्यापार, मनोरंजन एवं जनमत को प्रभावित किया है तथा संगठन के नए ढंगों के विकास को आगे बढ़ाया है। आवर्तन ने संस्कृति की एकरूपता एवं इसके विसरण, मनोरंजन एवं आमोद-

प्रमोद, यातायात, शिक्षा, सूचना-प्रसारण, धर्म, उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, शासन-प्रणाली, राजनीति एवं अन्य आविष्कारों पर रेडियो के १५० तात्कालिक एवं अन्य दूरगामी सामाजिक प्रभावों को सूचीबद्ध किया है।

यातायात के साधनों में परिवर्तन (Changes in the means of transportation)—यातायात के साधनो मे परिवर्तन ने हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विविध प्रकार से प्रभावित किया है। यातायात दूरी पर भौतिक विजय है। यातायात के साधन एव ढग इस बात का निर्धारण करते हैं कि मनुष्य कितनी सुगमता से आ जा सकते हैं तथा कितनी सुगमता से दूसरे स्थानों अथवा समाजो के लोगो विचारो अथवा वस्तुओं के आदान-प्रदान हेतु संपर्क स्थापित कर सकते हैं। आधुनिक सामाजिक जीवन मे यातायात का महत्व स्पष्ट है जिस पर बल देने की कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिक मनुष्य पहियों पर इतना अधिक आश्रित है कि यदि स्थानीय यातायात न होता तो वह उपनगरों में रहकर नगर में कार्य नही कर सकता था, यदि स्वचालित वाहन न होते तो वह स्टेशन पर रेलगाड़ी पकड़ने के लिए कुछ ही मिनट पूर्व घर को नही छोड़ सकता था, यदि रेलगाड़ियाँ अथवा जहाज न होते जो संसार के विभिन्न भागों को व्यापारिक रूप में संयुक्त करते हैं, तो वह अनेक वस्तुओं को अपने नाश्ते में नही ले सकता था। यदि यातायात के पहिए एक दिन के लिए भी रुक जाएँ तो आधुनिक समाज का जीवन विशृंखलित हो जाएगा।

यातायात सामाजिक सम्बन्धों के स्थानिक स्वरूप को निर्धारित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। जैसे यातायात के साधनो में परिवर्तन हुआ है, वैसे ही समूह के सदस्यों के स्थानिक सम्बन्धो मे भी परिवर्तन आया है। यातायात के द्रुतगामी साधनो की सुविधा से अन्तःद्वीपीय व्यापार एवं देशो की आयोन्याश्रितता मे वृद्धि हुई है। विभिन्न देशों के लोगों के परस्पर मिलने मे अधिकांश गलतफहमियाँ दूर हो गई है तथा घृणा एव ईर्ष्या का स्थान सहानुभूति एवं सहयोग ने ले लिया है। इससे सार्वभौमिक भ्रातृत्व की भावना का विस्तार हुआ है। वायुयानों के आविष्कार ने वस्तुओं के परिदान को और भी अधिक द्रुत बना दिया है। नगरो का विकास इसकी सभी समस्याओं सहित यातायात के साधनो के विकास का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम है। आजकल जनसंख्या अति गतिशील है जिसमें यातायात के आधुनिक द्रुत साधनो ने योगदान दिया है। [illegible] सास्कृतिक पृथकता के अवरोधक चर-चर हो गए हैं। वे लोग जो [illegible] सास्कृतिक रूप

इस प्रकार, प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों ने सामाजिक मूल्यो एव आदर्शों को [प्रभ]ावित किया है। लोग परिवार एवं समुदाय के प्रति भक्ति से दूर जा रहे हैं। [उन]में व्यक्तिवाद की जड़ें गहरी होती जा रही हैं। इन परिवर्तनों ने सामाजिक एवं [मन]ोवैज्ञानिक निर्मूलता को गहनतम बना दिया है। व्यक्तिवाद ने परम्परावाद का [स्था]न ले लिया है। नौकरशाही की सत्ता एवं उसकी संख्या मे वृद्धि हुई है। मानवी [सम्ब]न्ध अवैयक्तिक अथवा आनुषंगिक बन गए हैं।

अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रभाव (Derivative social effects)—यह भी [ध्या]न रहे कि जब एक आविष्कार किसी संस्था अथवा प्रथा पर प्रभाव डालता [है त]ो वह वहीं पर समाप्त नही हो जाता है। आगबर्न ने इस बिन्दु की व्याख्या [एक] उदाहरण से की है। संयुक्त राज्य मे रूई ओटने की मशीन का प्रभाव [उत्प]ादन को बढ़ाना था, क्योंकि रूई शीघ्रता से एव कम श्रम द्वारा ओटी जा [सक]ती थी। परन्तु रूई के उत्पादन को अधिक संख्या मे श्रमिक लगाए बिना नही [बढ़ा]या जा सकता था, अतएव बाहर से हब्शी श्रमिकों को लाया गया। इससे दास-[प्रथा] मे शीघ्रता से वृद्धि हुई। दासप्रथा में वृद्धि रूई ओटने की मशीन का दूसरा [अप्र]त्यक्ष प्रभाव था। दासप्रथा की वृद्धि ने गृहयुद्ध को जन्म दिया जो रूई [ओट]ने की मशीन का तीसरा अप्रत्यक्ष प्रभाव था। परन्तु, जैसा आगबर्न ने बतलाया [रू]ई के उत्पादन में वृद्धि, दासप्रथा व गृहयुद्ध का एक मात्र कारण रूई ओटने [की] मशीन नही समझा जाना चाहिए; इसके अन्य अनेक कारण थे। अतः किसी [अन्वे]षण के प्रभाव का सही चित्र प्राप्त करने के लिए यह बात भलीभाँति ध्यान [में र]खी जानी चाहिए कि किसी विशेष परिणाम की उत्पत्ति मे वह अन्वेषण [अनेक] कारको मे से केवल एक कारक है एव इसी प्रकार किसी अन्वेषण का [प्राथ]मिक परिणाम अप्रत्यक्ष आनुषंगिक प्रभाव को उत्पन्न करने वाले अनेक कारको [में] केवल एक कारक है। यह सर्वविदित है कि कोई भी सामाजिक परिघटना [कभी] भी केवल एक कारक की उत्पत्ति नही होती। दूसरे एवं तीसरे स्तर के [अप्रत्य]क्ष प्रभावों के उपरात किसी आविष्कार के अप्रत्यक्ष प्रभाव भी बहुधा नगण्य [हो ज]ाते हैं। वस्तुतः हमे किसी अकेले अन्वेषण के प्रभाव की खोज मे दूरस्थ [परिस्थि]तियों तक नहीं जाना चाहिए।

अभिसारी भौतिक आविष्कारों के सामाजिक प्रभाव (Social effects [of] converging material inventions)—जब अनेक आविष्कार एक ही [बिन्दु] पर संगृहीत अथवा अभिसृत हो जाते हैं तो उनका प्रभाव भी विशिष्ट हो [जाता] है। उत्पादन, यातायात एव सचार-सम्बन्धी आविष्कारों, यथा कर्मशाला-यन्त्रों, [भाप]-रेल, दूरभाष, रेडियो, चलचित्र आदि ने नगर को जन्म दिया। ये आविष्कार [भि]न्न भौतिक वस्तुएँ हैं एवं इनके विभिन्न प्रयोग हैं, परन्तु सभी एक केन्द्र [पर सं]गृहीत हो जाने से एक अन्य परिणाम, नगर का विकास हुआ है। टेलीफोन के [आविष्कार]कर्ता का उद्देश्य नगरों का विकास करना नहीं था, न ही ऐसा उद्देश्य विद्युत् [के] निर्माता का था। परन्तु सामाजिक शक्तियों ने इन आविष्कारों के प्रयोगों [को इक]ट्ठा करके उन्हे नगरों के विकास में सहायक बना दिया। जिस प्रकार [एक] अकेले आविष्कार का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार अभिसारी

आविष्कारों के समूह का भी सयुक्त रूप से अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। इस प्रकार, नगरीय समुदायो के विकास, जो उत्पादन, संचार एवं यातायात सम्बन्धी आविष्कारों का न्यूनाधिक प्रत्यक्ष प्रभाव था, ने प्रौद्योगिकीय समस्याओं, यथा कृत्रिम प्रकाश के सुरक्षित एवं कुशल साधनो की व्यवस्था को जन्म दिया। आधुनिक प्रकाशीय प्रौद्योगिकी के विकास ने मिट्टी के तेल का विकास किया। मिट्टी के तेल, स्रवण की सह-उपज गैसोलीन थी जो ऊर्जा का एक साधन था तथा, जिससे, आंतरिक दहन मोटर का आविष्कार हुआ। आतरिक दहन मोटर के आविष्कार ने संपर्ण स्वचालित वाहनों की प्रणाली को जन्म दिया एव जैसे प्रकाशीय प्रौद्योगिकी मे विकास के कारण मिट्टी के तेल की माँग कम हो गई तो अतिरिक्त तेल ने प्रौद्योगिकी मे अन्य विकासो को प्रोत्साहित किया। इसे गैसोलीन में बदल दिया गया जिससे श्रेष्ठतर मोटर ईंधन का उत्पादन हुआ। इस ईंजन का प्रयोग करने के लिए अन्य श्रेष्ठ प्रकार के मोटरों का आविष्कार किया गया। इस प्रकार, प्रौद्योगिकी की एक प्रणाली मे परिवर्तनो ने अन्य प्रणालियों में परिवर्तनों को जन्म दिया है। इसके अतिरिक्त यह नगर-अपराध, पारिवारिक विघटन, आत्म-हत्या, कुरूपता एवं विस्तृत राज्य-नियन्त्रण का कारण है। सामाजिक कार्यकर्ताओं को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपराध जो नगरीय जीवन की परिघटना है, वास्तव में ऊर्जा के आविष्कार, जिसने नगरो के विकास को सम्भव बनाया, से उत्पन्न हुआ है। नगरीय जीवन के अनेक दोष सही अर्थ में बीसवीं शताब्दी के यातायात एव संचार संबंधी नवीनतर आविष्कारों के प्रभाव हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि परिवर्तन पहले प्रविधियो की एक प्रणाली में उत्पन्न होकर बाद मे दूसरी प्रणालियों में आए हैं। जब कभी प्रविधियों की प्रणाली के किसी तत्व मे परिवर्तन हुआ है तो उससे संपूर्ण प्रणाली मे उथल-पुथल हुई जिससे इसके सभी तत्वो में परिवर्तन आए।

प्रमुख सामाजिक सस्थाओ पर प्रौद्योगिकी के प्रभावो को निम्न प्रकार से संक्षेपित किया जा सकता है—

(१) **पारिवारिक जीवन पर प्रभाव (Effects on family life)**— आधुनिक प्रौद्योगिकी ने पारिवारिक सगठन एवं सम्बन्धो को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(*i*) इसने संयुक्त परिवार-प्रणाली के विघटन में योगदान दिया है।

(*ii*) कर्मशालाओं एव कार्यालयों में स्त्रियों द्वारा नौकरी ने पति-पत्नी के सम्बन्धो के स्वरूप को बदल दिया है तथा अन्य अनेक प्रकार से पारिवारिक संरचना एवं कार्यों को प्रभावित किया है।

(*iii*) इसने स्त्रियों को मुक्ति दिलवाई है। 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन' प्रौद्योगिकी का परिणाम है।

(*iv*) प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब से विवाह, प्रौद्योगिकी के अन्य प्रभाव हैं।

(v) संतति-नियंत्रण के साधनों के आविष्कार ने परिवार के आकार को कम कर दिया है।

(२) आर्थिक जीवन पर प्रभाव (Effects on economic life)—ये प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(i) उद्योग घरेलू नहीं रह गए हैं। अब कर्मशालाओं, एजेन्सियों, भंडारों, बैंकों आदि जैसे आर्थिक संगठनों का विकास हुआ है।

(ii) इसने पूंजीवाद एवं इसकी सब बुराइयों को जन्म दिया है।

(iii) इसने जीवन-स्तर में वृद्धि की है।

(iv) श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण प्रौद्योगिकी की उपज हैं।

(v) इसने आर्थिक मंदी, बेकारी, औद्योगिक संघर्षों, दुर्घटनाओं एवं रोगों को जन्म दिया है।

(vi) इसने श्रमिक संघ आंदोलन को जन्म दिया है।

(३) सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Effects on social life)—कुछ प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(i) इससे सामुदायिक जीवन का ह्रास हुआ है।

(ii) इसने व्यक्तिवादिता की भावना में वृद्धि की है।

(iii) इसने नगरों में मकानों एवं गन्दी बस्तियों की समस्या को उत्पन्न किया है।

(iv) मनोरंजन का व्यापारीकरण हो गया है।

(v) इसने जन्म से लेकर मृत्यु तक सामाजिक स्तरीकरण के आधार को बदल दिया है।

(vi) इसने जाति-व्यवस्था की दूरी को कम कर दिया है।

(vii) इसने सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन किया है। मनुष्य यंत्र बन गया है, सामाजिक संपर्क आनुषंगिक हो गए हैं। सम्बन्धों की घनिष्ठता समाप्त हो गई है। मनुष्य का सम्मान उसके धन से कि उसके गुणों से किया जाता है।

(viii) इसने मानसिक चिंताओं एवं रोगों में वृद्धि की है। आधुनिक व्यक्ति मानसिक तनाव, भावनात्मक अस्थिरता एवं आर्थिक अरक्षा से पीड़ित है।

(४) राज्य पर प्रभाव (Effects on state)—प्रौद्योगिकी ने राज्य को निम्न प्रकार से प्रभावित किया है—

(i) अनेक कार्य परिवार से राज्य को हस्तांतरित हो गए हैं। समाज कल्याण की अवधारणा प्रौद्योगिकी की उपज है। राज्य के कार्यक्षेत्र में भी वृद्धि हुई है।

(ii) राज्य पर दबाव-समूहों का प्रभाव बढ़ गया है।
(iii) स्थानीय शासन के कार्य केन्द्रीय सरकार के पास आ गए हैं।
(iv) राष्ट्रवाद के अवरोधक चूर-चूर हो गए हैं तथा विश्वराज्य का विचार बल पकड़ रहा है।
(v) प्रजातंत्र शासन का सामान्य रूप बन गया है।

(५) धार्मिक जीवन पर प्रभाव (Effects on religious life)—वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि होने से अंधविश्वास समाप्त हो रहे हैं। अब धार्मिक सहनशीलता अधिक मात्रा मे पाई जाती है। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों ने अपनी रूढ़िवादिता को समाप्त करके दूसरे धर्मों के लोगों के साथ उठना-बैठना आरम्भ कर दिया है। धर्म अब अधिक वैज्ञानिक एवं लौकिकीकृत बन गया है। उपर्युक्त सभी प्रभाव भारतीय जीवन मे भी देखे जा सकते हैं।

प्रौद्योगिकीय आविष्कारों का विरोध (Opposition to technological inventions)—प्रौद्योगिकीय आविष्कारों का समय-समय पर प्रसिद्ध व्यक्तियों द्वारा विरोध किया गया है। १८२६ मे एक दक्ष अभियंता का विचार था कि छः मील से अधिक गति विनाश की ओर ले जाएगी। १९०६ मे साइमन न्यू काम्ब (Simon Newcomb) एक खगोलशास्त्री ने विचार व्यक्त किया था कि बहुत दूर तक उड़ान के प्रयत्न सफल नहीं हो सकेंगे, क्योंकि भौतिकी के नियम एवं औद्योगिक कलाओं की स्थिति ऐसे विचार को अव्यावहारिक बनाते हैं। औषधि के क्षेत्र में रक्त-संचार के बारे मे विलियम हार्वे की खोज का न्यूरमबर्ग के कास्पर हौफमैन द्वारा यह कहकर परिहास किया गया कि यह प्रकृति के नियम मे हस्तक्षेप है। इसी प्रकार, कीटाणुविज्ञान में पाश्चर (Pasteur) की खोजों का घोर विरोध किया गया। फायड, एक मनोवैज्ञानिक, का आज भी विरोध किया जाता है। इंग्लैंड में रेल-गाड़ी के आरम्भिक दिनों में, रेल को 'पहिए पर चलता-फिरता नरक' एवं 'शैतान का डिब्बा' कहा गया था। यातायात के आविष्कारों का भी घोर विरोध किया गया, यहाँ तक कि उनको अवैध घोषित कर दिया गया। १८६१ में ब्रिटिश संसद ने 'घोड़ाहीन गाड़ी' को अवैध घोषित किया। संयुक्त राज्य मे रेलगाड़ी को जीवन एवं अंगों के लिए खतरा एवं समाज के लिए विघटनकारी तत्व कहकर निंदा की गई। अभी हाल ही मे भारत में जीवन बीमा निगम के कर्मचारियों ने 'गणक यंत्रों' (computing machines) का यह कहकर विरोध किया कि इससे उनकी छँटनी हो जाएगी। लोगों द्वारा ऐसे आविष्कारों, जो बाद मे न केवल उपयोगी, अपितु मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध हुए, का विरोध आज एकदम विचित्र मालूम होता है।

सामाजिक आविष्कार (Social inventions)—प्रौद्योगिकीय आविष्कार आगबर्न द्वारा तथाकथित सामाजिक आविष्कारों को जन्म दे सकते हैं। सामाजिक आविष्कारों से उसका तात्पर्य ऐसे आविष्कारों से है जो भौतिक नहीं होते एवं जिनका प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्ध नहीं है। बहिष्कार, नारी-मतदान, असहयोग आंदोलन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, वृद्धायु पेंशन, बाल-न्यायालय, विवाहीय ब्यूरो, सिविल सर्विस, श्रमिकों को लाभांश, आगन्तुक अध्यापक, मनोवैज्ञानिक

उपचारालय, रोटरी क्लब, शोध-संस्थान, संयुक्त राष्ट्र संघ, सामाजिक आविष्कारो के कुछेक उदाहरण हैं। अतएव अभौतिक आविष्कारो को सामाजिक आविष्कार कहा जा सकता है। यद्यपि सामाजिक आविष्कारों की उत्पत्ति मे कभी-कभी भौतिक आविष्कारों का हाथ होता है, तथापि प्रायः भौतिक प्रभाव नगण्य हो सकता है। उदाहरणतया, बहिष्कार जो एक सामाजिक आविष्कार है, किसी तात्कालिक यांत्रिक आविष्कार पर आश्रित नही है, अतएव यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सामाजिक आविष्कारो के लिए यांत्रिक आविष्कार पूर्व-आवश्यकता है। तथापि यांत्रिक आविष्कारों की भाँति सामाजिक आविष्कार भी समंजन की किसी आवश्यकता के सहज ज्ञान से उद्भूत होते हैं।

सामाजिक आविष्कार सामाजिक परिवर्तन लाते हैं (Social inventions bring social changes)—सामाजिक आविष्कार सामाजिक परिवर्तनों का कारण बनते हैं, यह स्पष्ट है। भाषा के आविष्कार ने जो कदाचित् सबसे महान् आविष्कार है, विज्ञानो के विकास को संभव बनाया, जिन्होने महत्वपूर्ण आधुनिक भौतिक आविष्कारों को जन्म दिया है। वर्तमान आयकर का धन के पुनर्वितरण पर सामाजिक प्रभाव पड़ता है। श्रमिकों को लाभांश उनके जीवन-स्तर को उन्नत करता है। नारी-मतदान ने स्त्रियो को राजनीतिक क्षेत्र में लाकर पारिवारिक जीवन को प्रभावित किया है। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करके राज्य ने बच्चों के ऊपर माता-पिता के नियंत्रण को कम कर दिया है। मद्य-निषेध ने लोगों की आदतों मे परिवर्तन ला दिया है। हिन्दू विवाह अधिनियम ने हिन्दू विवाह-सम्बन्धी प्रथाओ को बदल दिया है। नियंत्रण-प्रणाली ने चोरबाजारी एवं भ्रष्टाचार को जन्म दिया है। दो विश्वयुद्धों ने भी सामाजिक सस्थाओं के विशाल क्षेत्र को प्रभावित किया है। कदाचित् ही कोई उद्योग ऐसा हो जो प्रभावित न हुआ हो। कृषकों ने श्रमिकों का अभाव महसूस किया, विवाह एवं जन्म-दर कम हो गई, समाचारों पर प्रतिबन्ध लगाया गया, मूल्य चढ गए। अतएव निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि सामाजिक आविष्कार भी यांत्रिक आविष्कारों की भाँति समाज पर व्यापक प्रभाव डालते हैं।

सामाजिक आविष्कारों का विरोध (Opposition to social inventions)—जिस प्रकार लोग यांत्रिक आविष्कारों का विरोध करते हैं, उसी प्रकार वे सामाजिक आविष्कारों का भी विरोध करते हैं। प्राचीन प्रकारों का प्रयोग नवीन प्रकारों को अपनाने की अपेक्षा सरलतर होता है। सयुक्त राज्य में दास-प्रथा के उन्मूलन एवं ब्रिटेन में नारी-मतदान का प्रारम्भ में घोर विरोध किया गया। लंबे एवं संहारक गृहयुद्ध के उपरांत ही दासप्रथा का अन्त हो सका। प्रजातंत्रीय प्रकार के शासन को स्थापित होने में अनेक शताब्दियाँ लगी। भारत में लोगों ने हिन्दू विवाह कोड के निर्माण का विरोध किया। फ्रांस मे शासकीय सुधारों का इतना तीव्र विरोध हुआ कि वहाँ १७८९ की क्रांति हुई। आगबर्न ने लिखा है, "यह परिघटना कितनी विलक्षण है कि मानव मात्र के लिए जो आविष्कार वरदान सिद्ध हुए, उनका घोर विरोध हुआ और कितना रक्तपात हुआ। ऐसा लगता है कि जैसा मानवता के शत्रु पूर्व ही घर के अन्दर उपस्थित थे; जैसे कि हममें से अनेक इन वरदानों से वंचित रहना चाहते थे।"

लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध क्यों करते हैं (Why People Oppose Social Change)

अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। निम्नलिखित कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(i) स्थिरता की इच्छा (Desire for stability)—प्रथम कारण यह है कि मनुष्य स्थिरता-प्रेमी होते हैं। व्यक्ति को दूसरे लोगों के साथ सहयोग करने से पूर्व अपनी भावी प्रत्याशाओं के बारे में सुरक्षित अनुभव करना होगा। परिवर्तन विद्यमान संतुलन को विशृ खलित कर देता है जिससे मनुष्य भविष्य के प्रति संशयालु हो जाते हैं। उन्हे नए का भय होता है। ऐसी नई वस्तुओं, जिनकी उपयोगिता संदिग्ध है, को अपनाने की अपेक्षा वे विद्यमान स्थिति से चिपके रहना पसन्द करते हैं, क्योंकि भविष्य का किसी को क्या मालूम कि नवीन वस्तु प्राचीन की अपेक्षा अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी। स्वाभाविकतया, स्थिरता किसी भी समाज की पूर्व-आवश्यकता है, अतएव प्रत्येक समाज परिवर्तन के प्रति [illegible] रहता है।

(ii) आविष्कार की अपर्याप्तता (Inadequacy of invention)—दूसरे, आविष्कृत वस्तुएँ अपनी प्रथम अवस्था में किसी कारणवश अपर्याप्त होती हैं। कुछ प्रयोग करने पर शीघ्र टूट जाती हैं। कभी-कभी उनकी मरम्मत करना कठिन होता है, क्योंकि तदर्थ विशिष्ट कौशल की आवश्यकता होती है। कुछेक में गुणों की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं, यथा अत्यधिक शोर या कम्पन। कुछ अवस्थाओं में उनके मूल्य ऊँचे होते हैं। सामाजिक आविष्कारों में भी आरम्भिक त्रुटियाँ होती हैं। यदि जनता धैर्यवान्, सहानुभूतिपूर्ण एवं सहयोगी हो तो इन त्रुटियों को कालान्तर में दूर किया जा सकता है।

(iii) अज्ञानता (Ignorance)—विरोध का एक अन्य कारण अज्ञानता है। प्रायः किसी आविष्कार के दोषों एवं गुणों को समझने में काफी समय लग जाता है। रोग-सम्बन्धी नए कीटाणु सिद्धान्त को समझने मे पर्याप्त समय लगा। यह भी कुछ समय तक समझा गया कि लोहे का प्रयोग भूमि एवं बीज की उर्वरता को समाप्त कर देगा। इसी प्रकार, नए आविष्कार का भय भी लोगों के विरोध का कारण बन सकता है। अब भी अनेक लोगों को वायुयात्रा से भय लगता है। प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के प्रति विरोध को नए आविष्कारों के विषय में लोगों के भय को प्रयोगों द्वारा दूर करके समाप्त किया जा सकता है। परन्तु सामाजिक आविष्कारों के क्षेत्र मे प्रयोगीकरण कठिन होता है, अतएव उनके प्रति विरोध दीर्घकाल तक बना रहता है।

(iv) स्वभाव एवं रीति-रिवाज (Habit and tradition)—स्वभाव सामाजिक परिवर्तन के मार्ग की एक अन्य बाधा है। व्यक्ति प्रायः आदतवश एवं प्रथावश अधिकांश कार्य करते हैं। वे अपरिचित को पसन्द नहीं करते। नए आविष्कार को अंगीकार करने का अर्थ है—पुरानी आदत के स्थान पर नई आदत डालना जो विशेषतया वृद्ध लोगों के लिए कठिन कार्य होता है। रीति-रिवाज, अतीत के प्रति आदर होते हैं तथा अपर-प्राकृतिक शक्ति में विश्वास लोगों को नवीन मनोवृत्तियाँ अपनाने से रोकता है। इस प्रकार, वे संतति-नियमन की विधियों एवं

अन्य असंख्य अन्वेषणों का विरोध कर सकते हैं। मनुष्य अनिवार्यतः रूढ़िवादी प्राणी है। मानव-स्वभाव मे धार्मिक रूढ़िवादी प्रवृत्तियाँ परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों से अधिक दृढ़ होती हैं। किसी संस्था के प्रति भावना सगृहीत हो जाती है जिसके प्रति भक्ति का अनुभव किया जाता है। नवीनता ऐसे मन को प्रेरित करने में असफल रहती है। यही कारण है कि स्थिर समाज में सामाजिक परिवर्तन का अधिक विरोध किया जाता है। सामाजिक पृथकत्व आविष्कार का विरोधी है। दोनों परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। आविष्कारों के अंगीकरण हेतु धर्म निरपेक्ष-कृत पर्यावरण आवश्यक होता है जिसे अन्तःसांस्कृतिक उर्वरण द्वारा, अर्थात् विभिन्न विचारों एवं प्रथाओं के प्रसार द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है।

(v) आर्थिक मूल्य (Economic costs)—आर्थिक मूल्य भी आधुनिक काल में किसी आविष्कार के अंगीकरण में बाधा उत्पन्न कर सकते हैं। किसी आविष्कार, सामाजिक अथवा यांत्रिक, को आरम्भ करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा की योजना को क्रियान्वित करने हेतु अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। अतएव आविष्कार को अपनाने मे व्यय की धनराशि ही बाधा उत्पन्न कर सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि गत अनुभव यह दर्शाता है कि कोई आविष्कार अत्यधिक महँगा एवं सामाजिक रूप मे विघटनकारी सिद्ध हुआ था तो नए आविष्कार का विरोध और अधिक कठोर हो जाएगा।

(vi) निहित स्वार्थ (Vested interests)—छठे, निहित स्वार्थों की सत्ता भी अन्वेषण के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। जो लोग अनुभव करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन से उनके हितों को भय उत्पन्न हो जाएगा, वे प्रत्येक ऐसे प्रस्ताव का घोर विरोध करते हैं जिनसे उनके अधिकारों को भय उत्पन्न होता है। उदाहरणतया, जमींदारी उन्मूलन का विरोध ऐसे लोगों द्वारा किया गया जो जमींदारी व्यवस्था से लाभ उठा रहे थे। इसी प्रकार, रेलवे पटरी के निर्माण का ऐसे लोगों द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी भूमि तदर्थ अधिग्रहण कर ली जाएगी। उनका विरोध उनके विशुद्ध स्वार्थ पर आधारित होता है। भारत मे ब्राह्मणों ने हिंदू कोड के निर्माण का विरोध किया, क्योंकि यह उनके हितों पर प्रहार करता था। पाठ्यक्रम मे परिवर्तन का ऐसे लोगों द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी पुरानी पुस्तकें अभी अवशेष हैं। यह भी ध्यान रहे कि स्वार्थ परिवर्तन भी चाहता है जब इससे सत्ता, धन एवं सम्मान प्राप्ति की आशा हो।

आज समाज में निहित स्वार्थों की संख्या सर्वथा विशाल है। इसके अतिरिक्त, उनकी स्थिति एवं उनके साधनों के कारण सरकार पर उनका अत्यधिक प्रभाव है। जब कभी कोई सामाजिक परिर्तन उनके हितों को हानि पहुँचाता है तो वे इसका कठोर विरोध करते हैं। निहित स्वार्थों के विरोध का कठोरता से सामना करना चाहिए।

(vii) बौद्धिक आलस्य (Intellectual laziness)—अंतिम, निष्क्रियता एवं बौद्धिक आलस्य भी परिवर्तन का विरोध करा देते हैं। मनुष्य अन्वेषण करने की अपेक्षा उधार लेना, नए मार्ग को आजमाने की अपेक्षा पुराने मार्ग पर चलते रहना अधिक पसन्द करता है।

लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध क्यों करते है (Why People Oppose Social Change)

अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। निम्नलिखित कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(i) **स्थिरता की इच्छा** (Desire for stability)—प्रथम कारण यह है कि मनुष्य स्थिरता-प्रेमी होते हैं। व्यक्ति को दूसरे लोगों के साथ सहयोग करने से पूर्व अपनी भावी प्रत्याशाओ के बारे मे सुरक्षित अनुभव करना होगा। परिवर्तन विद्यमान सतुलन को विश्रृ खलित कर देता है जिससे मनुष्य भविष्य के प्रति संशयालु हो जाते हैं। उन्हे नए का भय होता है। ऐसी नई वस्तुओं, जिनकी उपयोगिता सदिग्ध है, को अपनाने की अपेक्षा वे विद्यमान स्थिति से चिपके रहना पसन्द करते है, क्योकि भविष्य का किसी को क्या मालूम कि नवीन वस्तु प्राचीन की अपेक्षा अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी। स्वाभाविकतया, स्थिरता किसी भी समाज की पूर्व-आवश्यकता है, अतएव प्रत्येक समाज परिवर्तन के प्रति शंकित रहता है।

(ii) **आविष्कार की अपर्याप्तता** (Inadequacy of invention)—दूसरे, आविष्कृत वस्तुएँ अपनी प्रथम अवस्था में किसी कारणवश अपर्याप्त होती हैं। कुछ प्रयोग करने पर शीघ्र टूट जाती हैं। कभी-कभी उनकी मरम्मत करना कठिन होता है, क्योंकि तदर्थ विशिष्ट कौशल की आवश्यकता होती हैं। कुछेक में गुणो की अपेक्षा दोष अधिक होते है, यथा अत्यधिक शोर या कम्पन। कुछ अवस्थाओं मे उनके मूल्य ऊँचे होते हैं। सामाजिक आविष्कारों मे भी आरम्भिक त्रुटियाँ होती हैं। यदि जनता धैर्यवान्, सहानुभूतिपूर्ण एवं सहयोगी हो तो इन त्रुटियो को कालान्तर में दूर किया जा सकता है।

(iii) **अज्ञानता** (Ignorance)—विरोध का एक अन्य कारण अज्ञानता है। प्राय: किसी आविष्कार के दोषों एवं गुणों को समझने में काफी समय लग जाता है। रोग-सम्बन्धी नए कीटाणु सिद्धान्त को समझने मे पर्याप्त समय लगा। यह भी कुछ समय तक समझा गया कि लोहे का प्रयोग भूमि एव बीज की उर्वरता को समाप्त कर देगा। इसी प्रकार, नए आविष्कार का भय भी लोगों के विरोध का कारण बन सकता है। अब भी अनेक लोगों को वायुयात्रा से भय लगता है। प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के प्रति विरोध को नए आविष्कारों के विषय में लोगों के भय को प्रयोगों द्वारा दूर करके समाप्त किया जा सकता है। परन्तु सामाजिक आविष्कारों के क्षेत्र मे प्रयोगीकरण कठिन होता है, अतएव उनके प्रति विरोध दीर्घकाल तक बना रहता है।

(iv) **स्वभाव एवं रीति-रिवाज** (Habit and tradition)—स्वभाव सामाजिक परिवर्तन के मार्ग की एक अन्य बाधा है। व्यक्ति प्राय: आदतवश एव प्रथावश अधिकांश कार्य करते हैं। वे अपरिचित को पसन्द नही करते। नए आविष्कार को अंगीकार करने का अर्थ है—पुरानी आदत के स्थान पर नई आदत डालना जो विशेषतया वृद्ध लोगो के लिए कठिन कार्य होता है। रीति-रिवाज, अतीत के प्रति आदर होते हैं तथा अपर-प्राकृतिक शक्ति में विश्वास लोगों को नवीन मनोवृत्तियाँ अपनाने से रोकता है। इस प्रकार, वे संतति-नियंत्रण की विधियों एव

अन्य असंख्य अन्वेषणों का विरोध कर सकते हैं। मनुष्य अनिवार्यतः रूढिवादी प्राणी है। मानव-स्वभाव में धार्मिक रूढ़िवादी प्रवृत्तियाँ परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों से अधिक दृढ़ होती हैं। किसी सस्था के प्रति भावना संगृहीत हो जाती है जिसके प्रति भक्ति का अनुभव किया जाता है। नवीनता ऐसे मन को प्रेरित करने में असफल रहती है। यही कारण है कि स्थिर समाज मे सामाजिक परिवर्तन का अधिक विरोध किया जाता है। सामाजिक पृथकत्व आविष्कार का विरोधी है। दोनों परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। आविष्कारो के अगीकरण हेतु धर्म निरपेक्ष-कृत पर्यावरण आवश्यक होता है जिसे अन्तःसास्कृतिक उर्वरण द्वारा, अर्थात् विभिन्न विचारो एव प्रथाओ के प्रसार द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है।

(v) आर्थिक मूल्य (Economic costs)—आर्थिक मूल्य भी आधुनिक काल मे किसी आविष्कार के अगीकरण मे बाधा उत्पन्न कर सकते हैं। किसी आविष्कार, सामाजिक अथवा यांत्रिक, को आरम्भ करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा की योजना को क्रियान्वित करने हेतु अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। अतएव आविष्कार को अपनाने मे व्यय की धनराशि ही बाधा उत्पन्न कर सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि गत अनुभव यह दर्शाता है कि कोई आविष्कार अत्यधिक महँगा एव सामाजिक रूप मे विघटनकारी सिद्ध हुआ था तो नए आविष्कार का विरोध और अधिक कठोर हो जाएगा।

(vi) निहित स्वार्थ (Vested interests)—छठे, निहित स्वार्थों की सत्ता भी अन्वेषण के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है। जो लोग अनुभव करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन से उनके हितो को भय उत्पन्न हो जाएगा, वे प्रत्येक ऐसे प्रस्ताव का घोर विरोध करते हैं जिनसे उनके अधिकारो को भय उत्पन्न होता है। उदाहरणतया, जमीदारी उन्मूलन का विरोध ऐसे लोगो द्वारा किया गया जो जमींदारी व्यवस्था से लाभ उठा रहे थे। इसी प्रकार, रेलवे पटरी के निर्माण का ऐसे लोगो द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी भूमि तदर्थ अधिग्रहण कर ली जाएगी। उनका विरोध उनके विशुद्ध स्वार्थ पर आधारित होता है। भारत मे ब्राह्मणों ने हिंदू कोड के निर्माण का विरोध किया, क्योंकि यह उनके हितों पर प्रहार करता था। पाठ्यक्रम मे परिवर्तन का ऐसे लोगो द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी पुरानी पुस्तकें अभी अवशेष हैं। यह भी ध्यान रहे कि स्वार्थ परिवर्तन भी चाहता है जब इससे सत्ता, धन एव सम्मान प्राप्ति की आशा हो।

आज समाज में निहित स्वार्थों की संख्या सर्वथा विशाल है। इसके अतिरिक्त, उनकी स्थिति एवं उनके साधनों के कारण सरकार पर उनका अत्यधिक प्रभाव है। जब कभी कोई सामाजिक परिर्तन उनके हितों को हानि पहुँचाता है तो वे इसका कठोर विरोध करते हैं। निहित स्वार्थों के विरोध का कठोरता से सामना करना चाहिए।

(vii) बौद्धिक आलस्य (Intellectual laziness)—अंतिम, निष्क्रियता एवं बौद्धिक आलस्य भी परिवर्तन का विरोध करा देते हैं। मनुष्य अन्वेषण करने की अपेक्षा उधार लेना, नए मार्ग को आजमाने की अपेक्षा पुराने मार्ग पर चलते रहना अधिक पसन्द करता है।

लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध क्यों करते हैं (Why People Oppose Social Change)

अनेक ऐसे कारण हैं जिनसे लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध करते हैं। निम्नलिखित कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(i) स्थिरता की इच्छा (Desire for stability)—प्रथम कारण यह है कि मनुष्य स्थिरता-प्रेमी होते है। व्यक्ति को दूसरे लोगों के साथ सहयोग करने से पूर्व अपनी भावी प्रत्याशाओं के बारे में सुरक्षित अनुभव करना होगा। परिवर्तन विद्यमान सतुलन को विशृखलित कर देता है जिससे मनुष्य भविष्य के प्रति संशयालु हो जाते हैं। उन्हे नए का भय होता है। ऐसी नई वस्तुओं, जिनकी उपयोगिता सदिग्ध है, को अपनाने की अपेक्षा वे विद्यमान स्थिति से चिपके रहना पसन्द करते है, क्योंकि भविष्य का किसी को क्या मालूम कि नवीन वस्तु प्राचीन की अपेक्षा अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी। स्वाभाविकतया, स्थिरता किसी भी समाज की पूर्व-आवश्यकता है, अतएव प्रत्येक समाज परिवर्तन के प्रति शंकित रहता है।

(ii) आविष्कार की अपर्याप्तता (Inadequacy of invention)—दूसरे, आविष्कृत वस्तुएँ अपनी प्रथम अवस्था में किसी कारणवश अपर्याप्त होती हैं। कुछ प्रयोग करने पर शीघ्र टूट जाती हैं। कभी-कभी उनकी मरम्मत करना कठिन होता है, क्योंकि तदर्थ विशिष्ट कौशल की आवश्यकता होती है। कुछेक में गुणो की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं, यथा अत्यधिक शोर या कम्पन। कुछ अवस्थाओं में उनके मूल्य ऊँचे होते हैं। सामाजिक आविष्कारों में भी आरम्भिक त्रुटियाँ होती हैं। यदि जनता धैर्यवान्, सहानुभूतिपूर्ण एवं सहयोगी हो तो इन त्रुटियो को कालान्तर में दूर किया जा सकता है।

(iii) अज्ञानता (Ignorance)—विरोध का एक अन्य कारण अज्ञानता है। प्रायः किसी आविष्कार के दोषों एवं गुणों को समझने में काफी समय लग जाता है। रोग-सम्बन्धी नए कीटाणु सिद्धान्त को समझने मे पर्याप्त समय लगा। यह भी कुछ समय तक समझा गया कि लोहे का प्रयोग भूमि एव बीज की उर्वरता को समाप्त कर देगा। इसी प्रकार, नए आविष्कार का भय भी लोगों के विरोध का कारण बन सकता है। अब भी अनेक लोगों को वायुयाता से भय लगता है। प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के प्रति विरोध को नए आविष्कारो के विषय मे लोगो के भय को प्रयोगों द्वारा दूर करके समाप्त किया जा सकता है। परन्तु सामाजिक आविष्कारों के क्षेत्र में प्रयोगीकरण कठिन होता है, अतएव उनके प्रति विरोध दीर्घकाल तक बना रहता है।

(iv) स्वभाव एवं रीति-रिवाज (Habit and tradition)—स्वभाव, सामाजिक परिवर्तन के मार्ग की एक अन्य बाधा है। व्यक्ति प्रायः आदतवश एव प्रथावश अधिकांश कार्य करते हैं। वे अपरिचित को पसन्द नहीं करते। नए आविष्कार को अंगीकार करने का अर्थ है—पुरानी आदत के स्थान पर नई आदत डालना जो विशेषतया वृद्ध लोगों के लिए कठिन कार्य होता है। रीति-रिवाज, अतीत के प्रति आदर होते हैं तथा अपर-प्राकृतिक शक्ति मे विश्वास लोगों को नवीन मनोवृत्तियाँ अपनाने से रोकता है। इस प्रकार, वे संतति-नियंत्रण की विधियों एवं

अन्य असंख्य अन्वेषणों का विरोध कर सकते हैं। मनुष्य अनिवार्यतः रूढ़िवादी प्राणी है। मानव-स्वभाव मे धार्मिक रूढ़िवादी प्रवृत्तियाँ परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों से अधिक दृढ़ होती हैं। किसी संस्था के प्रति भावना सगृहीत हो जाती है जिसके प्रति भक्ति का अनुभव किया जाता है। नवीनता ऐसे मन को प्रेरित करने मे असफल रहती है। यही कारण है कि स्थिर समाज में सामाजिक परिवर्तन का अधिक विरोध किया जाता है। सामाजिक पृथकत्व आविष्कार का विरोधी है। दोनो परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। आविष्कारो के अगीकरण हेतु धर्म निरपेक्ष-कृत पर्यावरण आवश्यक होता है जिसे अन्त.सांस्कृतिक उर्वरण द्वारा, अर्थात् विभिन्न विचारो एव प्रथाओ के प्रसार द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है।

(v) आर्थिक मूल्य (Economic costs)—आर्थिक मूल्य भी आधुनिक काल में किसी आविष्कार के अंगीकरण मे बाधा उत्पन्न कर सकते हैं। किसी आविष्कार, सामाजिक अथवा यांत्रिक, को आरम्भ करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार, अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा की योजना को क्रियान्वित करने हेतु अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। अतएव आविष्कार को अपनाने में व्यय का धनराशि ही बाधा उत्पन्न कर सकती है। इसके अतिरिक्त, यदि गत अनुभव यह दर्शाता है कि कोई आविष्कार अत्यधिक महँगा एव सामाजिक रूप मे विघटनकारी सिद्ध हुआ था तो नए आविष्कार का विरोध और अधिक कठोर हो जाएगा।

(vi) निहित स्वार्थ (Vested interests)—छठे, निहित स्वार्थों की सत्ता भी अन्वेषण के मार्ग मे बाधा उत्पन्न करती है। जो लोग अनुभव करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन से उनके हितो को भय उत्पन्न हो जाएगा, वे प्रत्येक ऐसे प्रस्ताव का घोर विरोध करते हैं जिनसे उनके अधिकारों को भय उत्पन्न होता है। उदाहरणतया, जमीदारी उन्मूलन का विरोध ऐसे लोगो द्वारा किया गया जो जमीदारी व्यवस्था से लाभ उठा रहे थे। इसी प्रकार, रेलवे पटरी के निर्माण का ऐसे लोगों द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी भूमि तदर्थ अधिग्रहण कर ली जाएगी। उनका विरोध उनके विशुद्ध स्वार्थ पर आधारित होता है। भारत मे ब्राह्मणों ने हिंदू कोड के निर्माण का विरोध किया, क्योंकि यह उनके हितों पर प्रहार करता था। पाठ्यक्रम में परिवर्तन का ऐसे लोगो द्वारा विरोध किया जाता है जिनकी पुरानी पुस्तकें अभी अवशेष हैं। यह भी ध्यान रहे कि स्वार्थ परिवर्तन भी चाहता है जब इससे सत्ता, धन एवं सम्मान प्राप्ति की आशा हो।

आज समाज मे निहित स्वार्थों की संख्या सर्वथा विशाल है। इसके अतिरिक्त, उनकी स्थिति एवं उनके साधनों के कारण सरकार पर उनका अत्यधिक प्रभाव है। जब कभी कोई सामाजिक परिर्तन उनके हितों को हानि पहुँचाता है तो वे इसका कठोर विरोध करते हैं। निहित स्वार्थों के विरोध का कठोरता से सामना करना चाहिए।

(vii) बौद्धिक आलस्य (Intellectual laziness)—अंतिम, निष्क्रियता एवं बौद्धिक आलस्य भी परिवर्तन का विरोध करा देते हैं। मनुष्य अन्वेषण करने की अपेक्षा उधार लेना, नए मार्ग को आजमाने की अपेक्षा पुराने मार्ग पर चलते रहना अधिक पसन्द करता है।

विरोध सदैव हानिकारक नहीं होता (Opposition not always harmful)—उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि सामाजिक परिवर्तन का विरोध अवांछनीय है। कभी-कभी अनेक परिवर्तनों के गुणों के बारे में पर्याप्त संदेह होता है। यह प्रस्ताव कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था के स्थान पर निरंकुश व्यवस्था को स्थापित किया जाए, ऐसे सुधार का उदाहरण है जो निश्चित रूप से हानिकारक है। प्रौद्योगिकीय अन्वेषणों का विरोध उचित होगा, यदि वे अव्यावहारिक अथवा लाभदायक की अपेक्षा हानिकारक अधिक हैं। वैज्ञानिकों का यह कार्य नहीं है कि वे यह निष्कर्ष दें कि अमुक अन्वेषण से होने वाले परिवर्तन अच्छे हैं अथवा बुरे। अन्वेषणों के प्रभावों पर ध्यान देना तथा सामाजिक सम्बन्धों पर उनके संभावित परिणामों का पूर्वकथन करना सामाजिक वैज्ञानिकों का कार्य है। जबकि प्रौद्योगिकीय तत्व महत्वपूर्ण हैं, उनका प्रयोग सांस्कृतिक रूप से ग्राह्य मानव-हितों के अनुकूल किया जाना चाहिए। आधुनिक युग में प्रौद्योगिकीय यन्त्रों को नष्ट करना मूर्खता होगी, परन्तु हानिकारक संस्थाओं के बारे में अवश्य विचार किया जा सकता है। किसी अन्वेषण को अंगीकार करने से पूर्व इसके परिणामों का पर्याप्त एवं सतर्क मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

४. सांस्कृतिक कारक—सांस्कृतिक विलम्बना

(The Cultural Factors—The Cultural Lag)

सामाजिक परिवर्तन पर सामाजिक तत्वों के प्रभाव की व्याख्या करने से पूर्व हम 'सामाजिक विलम्बना' (social lag), अथवा 'सांस्कृतिक विलम्बना' (cultural lag) की अवधारणा की व्याख्या करेंगे।

सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा विख्यात समाजशास्त्रियों की कृतियों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। आधुनिक युग में जबकि प्रौद्योगिकीय अन्वेषण एवं अन्य प्रकार के अनेक अन्वेषण जीवन की प्राचीनतर विधियों में निरन्तर विशृंखलता उत्पन्न कर रहे हैं, सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा का विशिष्ट स्थान है। आगबर्न (Ogburn) सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा की विशद व्याख्या करने वाला प्रथम समाजशास्त्री था, यद्यपि अन्य लेखकों, यथा समनर, मूलर, लीयर, वालास एवं स्पेंसर के लेखों में सांस्कृतिक विलम्बना की विचारणा विद्यमान थी।

सांस्कृतिक विलम्बना की व्याख्या (Cultural lag explained)—आगबर्न ने भौतिक (material) एवं अभौतिक (non-material) संस्कृति में विभेद किया है। संस्कृति के भौतिक स्वरूप से उसका तात्पर्य उपकरणों, बर्तनों, यन्त्रों, मकानों, वस्तुओं के निर्माण एवं यातायात से है। इसमें मनुष्य द्वारा निर्मित सभी मूर्त वस्तुएं सम्मिलित हैं। अभौतिक संस्कृति में वह परिवार, धर्म, शासन एवं शिक्षा को सम्मिलित करता है। आगबर्न का विचार है कि जब भौतिक स्वरूपों में परिवर्तन होता है तो वे अभौतिक स्वरूपों में भी परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं। ऊपर हमने दर्शाया है कि स्वचालित वाहनों एवं रेडियो ने पारिवारिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है। आगबर्न के अनुसार, अभौतिक स्वरूप में परिवर्तन

धीमी गति से होते हैं। जब वह भौतिक स्वरूप में हुए परिवर्तनों के साथ स्वयं को समंजित नहीं कर पाती तब यह भौतिक संस्कृति से पिछड़ जाती है, जिसका परिणाम इन दोनों के बीच विलम्बना (lag) होता है। भौतिक संस्कृति एवं अभौतिक संस्कृति के मध्य इस विलम्बना को 'सांस्कृतिक विलम्बना' की संज्ञा दी गई है। आगबर्न ने लिखा है, "वह तनाव जो संस्कृति के दो परस्पर-सम्बन्धित भागों, जो असमान गति की दर से परिवर्तित होते हैं, में रहता है, उस भाग में विलम्बना समझी जा सकती है जो अत्यधिक मन्द दर से परिवर्तित हो रहा है क्योंकि एक वस्तु दूसरी के पीछे रह जाती है (विलम्ब करती है)।"[1] भौतिक संस्कृति में अन्वेषण एवं खोज शीघ्रता से होते हैं जिनके साथ अभौतिक संस्कृति को समंजित होना पड़ता है। यदि यह समंजित होने में असफल रहती है तो उसका परिणाम 'विलम्बना' होता है। समाज में संतुलन रखने हेतु यह आवश्यक है कि संस्कृति के दोनों भाग, भौतिक एवं अभौतिक, उचित रूप से समंजित होने चाहिए। अतएव आगबर्न इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आधुनिक समाज में समंजन की प्रमुख समस्या यह है कि संस्कृति के अभौतिक स्वरूपों का भौतिक स्वरूपों के साथ समंजन होना चाहिए। इसके लिए उच्च प्रकार के सामाजिक नियोजन की आवश्यकता है। भौतिक संस्कृति में परिवर्तनों के साथ समंजन करने मे आधुनिक समाज की विफलता का कारण प्रविधिक अयोग्यता नहीं है, अपितु विचारधारात्मक व्यवस्था की अनमनीयता है। गत कुछ सौ वर्षों मे हमारे समाज में जो विलम्बनाएं प्रकट हुई हैं, वे साधारणतया तीव्रगति से प्रकट हो रही प्रौद्योगिकी तथा विश्वास एवं संगठन के प्राचीन तत्वों के मध्य आई हैं। दूसरे शब्दों में, संस्कृति के दोनों भागों के मध्य विलम्बनाओं को दूर करने के लिए मनुष्य को अपनी विचारधारा एवं अपना व्यवहार अपनी प्रौद्योगिकी के अनुरूप रूपान्तरित कर लेने चाहिए।

विविध उदाहरण (Various examples)—एक अर्थ मे, आधुनिक समाज अत्यधिक परिवर्तन की अपेक्षा अतिन्यून परिवर्तन से ग्रस्त है। लोगों ने कृषि के साधनों में परिवर्तन कर लिया है, परन्तु भूमि के स्वामित्व में कोई परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने अपने निवास-स्थानों को बदल लिया है, परन्तु अपने जीवन को नहीं। उन्होंने युद्ध के ढंगों में परिवर्तन कर लिया है, परन्तु राजनीतिक सगठन के स्वरूपों को नहीं बदला है। पितृसत्तात्मक परिवार जो कृषिक स्थितियों के अनुकूल था, वर्तमान औद्योगिक नगरीय समाज में भी विद्यमान है। आधुनिक परिवार के सम्मुख अनेक समस्याओं का कारण इसके पुरातन रूप की अभी तक विद्यमानता है। इसी प्रकार, प्रभुसत्ता-सम्बन्धी प्राचीन अवधारणाएं भी अभी तक प्रचलित हैं, तथापि प्रौद्योगिक परिवर्तनों ने राष्ट्रों को एक-दूसरे के निकट ला दिया है तथा उन्हें अधिक अन्योन्याश्रित बना दिया है। 'अणु बम' से सभ्यता के भविष्य को भय नहीं है, भय तो अठारहवी शताब्दी के राष्ट्रवाद के प्रकार से है जो अणु बम के अस्तित्व में यह भय बनाए हुए है। विलंबना का एक अन्य उदाहरण जनसंख्या की वृद्धि एवं पुलिस कर्मचारियों की संख्या के बीच असंगति में देखा जा सकता है। विकासशील नगरों ने पुलिस कर्मचारियों की संख्या को

1. Ogburn, A Handbook of Sociology, p. 592.

उतनी तीव्रता से नहीं बढ़ाया है जिस तीव्रता से इनकी जनसंख्या में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार जिन नगरों की जनसंख्या कम हो रही है, उन्होंने पुलिस कर्मचारियों की संख्या को कम नही किया है। पुलिस कर्मचारियों की संख्या में परिवर्तन जनसंख्या में परिवर्तन से पीछे है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उद्योगो में परिवर्तन पहले हुआ तथा परिवार पीछे रह गए। घर से बाहर कार्य करने में स्त्रियाँ देर से निकलीं। इस प्रकार, अनेक उदाहरण देकर आगबर्न ने निष्कर्ष निकाला कि "हमारे आधुनिक युग के अनेक औद्योगिक परिवर्तनों ने सामाजिक परिवर्तनों से पूर्व घटित होकर समाज मे अनेक सांस्कृतिक विलम्बनाओं को उत्पन्न किया है।" विभिन्न प्रौद्योगिक विकासो एवं अन्वेषणों, जो समकालीन समाज में सांस्कृतिक विलम्बनाओं को उत्पन्न कर रहे हैं, मे आगबर्न ने टेलीफोन, मोटरगाड़ी, बेतार, चलचित्र, ऊर्जा द्वारा चलने वाले कृषिक यंत्रों, मुद्रण, फ़ोटोग्राफ़ी, मिश्रधातु विद्युत्-वस्तुएँ, धातु द्वारा संयोजन, वायुयान, वातानुकूलन, कृत्रिम प्रकाश, गर्भ-निरोधकों, दूरदर्शन आदि को सम्मिलित किया है। इनका समाज, सामाजिक संस्थाओ, प्रथाओ एवं विचारधारा पर गहनतम प्रभाव पड़ रहा है। जब कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में परिवर्तन तीव्रता से हो रहे हैं, सम्बन्धित व्यवस्थाएँ अधिकांश उदाहरणों मे स्वयं को तदनुसार समजित करने में विफल रही हैं अथवा देरी की है। वर्तमान युग को विज्ञान एवं युक्तिकरण का युग कहा जाता है, परन्तु विश्वासो एवं संस्कारों मे यह अधिक वैज्ञानिक एवं युक्तियुक्त नही है। परिणामस्वरूप, सांस्कृतिक विलम्बनाओं का अत्यधिक संग्रह हो गया है। लुम्ले (Lumley) ने लिखा है, "ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक पैदल सैनिक अथवा संपूर्ण सेना ही कदम मिलाकर नही चल रही है अथवा जैसे कि कुछ संगीतवादक पिछले वर्ष की तथा कुछ गत शताब्दी की अथवा कुछ अधिक प्राचीन धुन एकसाथ बजा रहे हैं।"

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, सांस्कृतिक विलम्बना का कारण यह है कि संस्कृति के विभिन्न तत्वों की परिवर्तनशीलता की मात्राएँ विभिन्न होती हैं। भौतिक संस्कृति अभौतिक की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तित होती है। परन्तु सांस्कृतिक विलम्बना का कारण मनुष्य की मनोवैज्ञानिक हठवादिता भी है। मनुष्य परम्परा-प्रेमी होता है। वह लिंग, शिक्षा एवं धर्म के बारे में कुछेक विचारों से जकड़ा हुआ होता है। अपनी इस हठवादिता के कारण वह अपनी संस्थाओं को बदलने के लिए तत्पर नही होता। सामाजिक संस्थाओं को भौतिक संस्कृति मे परिवर्तनों के साथ समंजित करने में विफलता के कारण सास्कृतिक विलम्बना उत्पन्न हो जाती है।

आगबर्न की आलोचना (Ogburn criticised)—आगबर्न के सांस्कृतिक विलंबना के सिद्धान्त को जहाँ अनेक समाजशास्त्रियों ने स्वीकृत किया है, वहीं अन्य ने इसकी आलोचना की है। आलोचना की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं—

(i) भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में अन्तर वैज्ञानिक नहीं है (The distinction between material and non-material culture is not scientific)—प्रथमतया, यह कहा जाता है कि भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति के

स्वयं को अनुकूलित नहीं करती, अपितु यह स्वयं निदेशक शक्ति है। यह स्वयं अपनी उत्पत्ति करती है और स्वयं विकसित होती है। लोग ही योजना बनाते हैं, प्रयास करते हैं तथा क्रियाशील होते हैं। सामाजिक विरासत का लोग अंधाधुंध पालन नहीं करते। संस्कृति सामाजिक व्यवहार को दिशा एवं निदेशन प्रदान करती है। मनुष्य मानसिक तनावों एवं भारों से ग्रस्त है जिसके लिए अतीत कोई मार्ग-दर्शन प्रस्तुत नहीं करता। नवीन विचारधाराएँ समूह-जीवन के ढंगों में महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न कर देती हैं। मार्क्सवाद के सामाजिक दर्शन ने रूस की आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था पर अधिकार जमा लिया। भारत में गांधीवाद ने आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था को काफी सीमा तक प्रभावित किया है। अपनी कृति 'Sociology of Religion' में मैक्स वेबर (Max Weber) ने दर्शाया है कि किसी *समुदाय की व्यावहारिक नीति-संहिता एवं उसकी आर्थिक व्यवस्था के बीच प्रत्यक्ष* सम्बन्ध होता है। उसने प्रोटेस्टेण्टवाद के कुछेक स्वरूपों एवं आरम्भिक पूँजीवाद के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध को देखा। हिंदूवाद एवं बुद्धवाद का भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हमारे धार्मिक विश्वास हमारी संस्थाओं की संरचना को निर्धारित करते हैं। कोई भी संस्था, यदि समकालीन विश्वास एवं मनोवृत्तियाँ अनुरूप न हों, एक पल भी जीवित नहीं रह सकती। सामाजिक पद्धतियाँ परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष सांस्कृतिक मूल्यों की सृष्टि होती हैं तथा सामाजिक समूहों के मूल्यों में प्रत्येक परिवर्तन संस्थात्मक परिवर्तन को प्रभावित करता है। हाबहाउस (Hobhouse) ने उचित ही कहा है कि "संस्थाओं की पद्धति तथा उनके पीछे वर्तमान मानसिकता के बीच एक विशाल सह-सम्बन्ध होता है।" संस्थाएँ जीवन की अभिव्यक्ति हैं जो समूह के जीवन के साथ बदल जाती हैं। संस्थाएँ सीप की तरह नहीं हो सकतीं जिसके भीतर जीव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील प्रवृत्तियों, विश्वासों तथा सामाजिक रूपों के बीच सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

यह भी ध्यान रहे कि संस्कृति न केवल हमारे सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती है, अपितु यह प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की दिशा एवं इसके स्वरूप को भी निर्धारित करती है। केवल यही सत्य नहीं है कि हमारे विश्वासों और सामाजिक संस्थाओं को प्रौद्योगिकी में परिवर्तनों के समरूप अनुकूलित होना चाहिए, अपितु यह भी सत्य है कि हमारे विश्वास एवं सामाजिक संस्थाएँ इस बात को निर्धारित करते हैं कि प्रौद्योगिकीय आविष्कारों का किस उद्देश्य-हेतु उपयोग किया जाए। सभ्यता के उपकरण हमारे द्वारा उनके उपयोग के प्रति विमुख होते हैं। अणुशक्ति का प्रयोग विध्वंसक अथवा उत्पादन कार्यों के लिए किया जा सकता है। प्रौद्योगिक यंत्रों का प्रयोग शस्त्रों के निर्माण-हेतु किया जा सकता है अथवा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। लोहे एवं इस्पात का प्रयोग युद्धपोत अथवा ट्रैक्टरों का निर्माण करने हेतु किया जा सकता है। उत्पादन के अभिकरणों की बढ़ती हुई अपेक्षा यह व्यक्त करती है कि किस अंश में हमारी संस्कृति एक निर्णायक कारक है। डासन एवं गेटिस (Dowson and Gettys) ने उचित ही लिखा है, "संस्कृति सामाजिक परिवर्तन की दिशा निश्चित करती है और उसे

गति प्रदान करती है तथा उन सीमाओं को निर्धारित करती है जिनके बाहर सामाजिक परिवर्तन नही जा सकते।" प्रौद्योगिकी ने हमें जहाज दिया, परन्तु यह इसका निर्णय नहीं करती कि जहाज किस बन्दरगाह को जाएगा। वह बन्दरगाह जहाँ जहाज जाएगा, एक सांस्कृतिक चुनाव होता है।

इसके अतिरिक्त मनुष्यों को यह ज्ञान होना चाहिए कि भौतिक वस्तुओं का निर्माण एवं प्रयोग किस प्रकार होता है, इससे पूर्व कि उन्हें रखा जाए। भौतिक वस्तुओं के प्रयोग का ज्ञान उनको केवल संगृहीत कर लेने से अधिक महत्वपूर्ण है। यदि संसार के सभी लोग किसी महान् संकट मे सभी भौतिक वस्तुओ को खो भी वैठें तो इसका अर्थ संसार के सभी समाजो का अन्त नही होगा। जो लोग जीवित रह जाएँगे, उनमें मकानों, सड़को, नगरों, यंत्रों को निर्मित करने एवं खेतों को ठीक करने की योग्यता तब भी रहेगी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब तक संस्कृति के अभौतिक तत्व उज्जीवित हैं, समाज भी उज्जीवित रहेगा। अतएव कहा जा सकता है कि संस्कृति का अभौतिक स्वरूप इसके भौतिक स्वरूपों से अधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन रोम मे आग लग जाने से रोमन समाज का अन्त नही हो गया, न ही यूरोप का भौतिक संहार यूरोपीय सभ्यता को नष्ट कर सका।

बहुधा यह विचार किया जाता है कि नवीन औद्योगिक सभ्यता ने प्राचीन संस्कृति को अपदस्थ कर दिया है। निस्सदेह इस विचार की पुष्टि में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। प्रत्येक नया अन्वेषण प्राचीन अनुकूलन को विशृंखल कर देता है। वर्गीय संरचनाओं का कायाकल्प, परम्परागत परिवार का विघटन तथा सामाजिक निकटता का खंडन प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के कुछ परिणाम हैं जो हमारी संस्कृति के शत्रु प्रतीत होते हैं। यंत्रो ने कुरूपता, भ्रष्टता, जल्दबाजी और स्तरीकरण को जन्म दिया। उन्होने भीड़, गंदी बस्तियों, नए रोगों, नए संकटों एव औद्योगिक थकान को भी जन्म दिया है, परन्तु संस्कृति ने सभ्यता को निदेशित करने का पुन. एक बार अपना अधिकार दिखलाया। उसने नई सभ्यता की अमानुषिकता को सहन करना बन्द कर दिया तथा यंत्रों को सौंदर्य प्रदान किया। प्राचीन कलाओं के भग्नावशेषों पर नई कलायें पुष्पित हुईं।

प्रश्न

१. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

२. सामाजिक परिवर्तन पर प्रौद्योगिकीय कारकों के प्रभाव का उल्लेख कीजिए।

३. सामाजिक प्रवरण के स्वरूप एवं इसकी क्रिया का वर्णन कीजिए।

४. प्राकृतिक प्रवरण से आप क्या समझते हैं? व्याख्या कीजिए।

५. "प्राकृतिक प्रवरण में प्रयुक्त शब्द 'प्रवरण' केवल एक उपमा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

६. प्राकृतिक तथा सामाजिक प्रवरण के बीच तुलना कीजिए ।

७. सांस्कृतिक विलंबना का क्या अर्थ है ? भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के बीच अन्तर क्या मान्य है ?

८. लोग सामाजिक परिवर्तन का विरोध क्यों करते हैं ?

९. स्पष्ट व्याख्या कीजिए—(i) प्रौद्योगिकीय परिवर्तन किस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन लाते हैं; (ii) सांस्कृतिक स्थिति किस प्रकार प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों की दिशा एवं उसके स्वरूप को प्रभावित करती है ?

१०. प्रौद्योगिकीय कारक सामाजिक परिवर्तन को किस सीमा तक नियंत्रित करते हैं ? उपयुक्त उदाहरण दीजिए ।

अध्याय २९

संस्कृति एवं सभ्यता

[Culture and Civilization]

पिछले अध्याय में हमने सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों का अध्ययन किया है। सामाजिक जीवन पर संस्कृति के प्रभाव को उस अध्याय में भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया है। समाज के अध्ययन में संस्कृति के अर्थ को पूर्णतया समझना इतना आवश्यक है कि तदर्थ एक अलग अध्याय की आवश्यकता है। अतएव इस अध्याय में हम अपना ध्यान संस्कृति तथा सभ्यता पर केन्द्रित रखेंगे।

१. संस्कृति का अर्थ

(The Meaning of Culture)

विभिन्न परिभाषाएँ (Various definitions)—संस्कृति को लेखकों द्वारा विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। कुछेक विचारक संस्कृति में उन सभी प्रमुख सामाजिक तत्वों को सम्मिलित करते हैं जो मनुष्यों को समाज में परस्पर संयुक्त करते हैं। अन्य लेखक संकुचित अर्थ लेते हैं तथा इसमें केवल अभौतिक अंगों को ही सम्मिलित करते हैं। कुछेक परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) "संस्कृति एक ऐसा जटिल समग्र है जिसमे ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, कानून, प्रथा एवं समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा अर्जित अन्य दूसरी समर्थताएँ सम्मिलित हैं।"[1] —टायलर

(२) "संस्कृति मनुष्य की कृति है तथा एक साधन है जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करता है।"[2] —मैलिनोव्स्की

(३) "संस्कृति ऐसे परम्परागत विश्वासों के संगठित समूह को कहते हैं जो कला एवं कलाकृतियों मे प्रतिबिम्बित होते है तथा जो परम्परा द्वारा चलते रहते हैं और किसी मानव-समूह की विशेषता को चित्रित करते हैं।"[3] —रैडफील्ड

(४) "संस्कृति संसार की सभी भौतिक वस्तुओं तथा उन उपहारों एवं गुणों का सार है जो मनुष्य की सम्पत्ति होते हुए भी उसकी आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के तात्कालिक क्षेत्र से परे हैं।"[4] —जोसेफ पाईपर

---

1. "Culture is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, law, custom and any other capabilities acquired by man as a member of society."—Tylor, E. B., *Primitive Culture*, p. 1
2. "Culture is the handiwork of man and the medium through which he achieves his ends."—Malinovski, B., *A Scientific Theory of Culture*, p. 67.
3. "Culture is an organised body of conventional understandings manifest in art and artifact, which, persisting through tradition, characterises a human group."—Quoted by Ogburn, *A Handbook of Sociology*, p. 15.
4. "Culture is the quintessence of all natural goods of the world and of those gifts and qualities which, while belonging to man, lie beyond the immediate sphere of his needs and wants."—Pieper Joseph, *Leisure, the Basis of Culture*, p. 20.

(५) "संस्कृति में मनुष्य द्वारा निर्मित वे उपकरण सम्मिलित हैं जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करते हैं।"[1] —सी० सी० नार्थ

(६) "संस्कृति विचार एवं ज्ञान दोनों, व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक, का समूह है जो केवल मनुष्यों के पास ही हो सकता है।"[2] —ई० वी० डी-राबर्टी

(७) "संस्कृति पराजैविक पर्यावरण है जो अजैविक अथवा भौतिक एवं जैविक, पौधों एवं पशुओं के संसार से भिन्न है।"[3] —स्पेंसर

(८) "संस्कृति विचारों, मूल्यों एवं पदार्थों का संग्रह है। यह सीखने की प्रक्रिया द्वारा पूर्व पीढ़ियों से प्राप्त सामाजिक विरासत है जो शुक्राणु द्वारा स्वचालित रूप से हस्तांरित जैविक विरासत से भिन्न है।"[4] —ग्राहम वालास

(९) "संस्कृति ज्ञान, व्यवहार एवं विश्वास के आदर्शकृत ढंगों की सामाजिक रूप से हस्तांरित प्रणाली इसकी कलाकृतियों सहित, जिन्हें ज्ञान एवं व्यवहार समय के परिवर्तन के अनुसार उत्पन्न एवं रक्षित रखता है।"[5] —आर्नाल्ड ग्रीन

(१०) "संस्कृति पीढियों से प्राप्त किसी सामाजिक समूह की शिक्षा; जो रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि मे अभिव्यक्त होती है, का नाम है।"[6] —लापीयर

(११) "संस्कृति हमारे जीवन-क्रमों, चिन्तन-पद्धतियो, दैनिक सम्पर्कों, कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन, विनोद आदि में हमारी प्रकृति की ही अभिव्यक्ति है।"[7] —मैकाइवर

(१२) "संस्कृति मनुष्य द्वारा स्वयं को अपने पर्यावरण के साथ अनुकूलित करने एवं अपने जीवन के ढंगो को उन्नत करने के प्रयत्नों का सम्पूर्ण योग है।"[8] —क्योनिग

---

1. "Culture consists in the instruments constituted by men to assist him in satisfying his wants."—North, C. C., *Social Problems and Social Planning*, p. 10.
2. "[illegible] the *body* of thought and knowledge, both theoretical [illegible] possess."—*E V de-Roberty.*
3. " [illegible] tinguished from the [illegible] world of plants and [illegible] I, p. 89.
4. "Culture is an accumulation [illegible] and *objects, it* is the social heritage acquired by us from preceding generations through *learning*, as *distinguished from the biological* heritage which is passed on to us automatically through the genes." —*Graham Wallas.*
5. "Culture is the socially transmitted system of idealised ways in knowledge, practice, and belief, along with the artifacts that knowledge and practice produce and maintain as they change in time." —*Arnold W. Green*
6. "Culture is the embodiment in customs, traditions, etc., of the learning of a social group over the generation."—Lapiere. *Sociology*, p. 68.
7. "Culture is the expression of our nature in our modes of living and our thinking, intercourse, in our literature, in religion, in recreation and enjoyment."—*MacIver, the Society*, p. 499.
8. "Culture is the sum total of man's efforts to adjust himself to his environment and to improve his modes of living"—Koenig, *Sociology*, p. 43.

(१३) "संस्कृति व्यवहार की सामाजिक प्रणालियों तथा इन व्यवहारों की भौतिक एवं प्रतीकात्मक कृतियों को निर्दिष्ट करती है।"[1] —लुंडबर्ग

(१४) "संस्कृति सीखे हुए एकीकृत व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषताओं को बतलाता है, अतएव जो जैविक विरासत का परिणाम नहीं होते।"[2] —हाबेल

(१५) "संस्कृति लोगों के समूह द्वारा स्वीकृत एवं अनुसरित विचार एवं क्रिया के सामूहिक ढंगों का योग है।"[3] —ए० एफ० वाल्टर पाल

(१६) "संस्कृति उन भौतिक एव बौद्धिक साधनों या उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी जैविक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[4] —पिडिंगटन

(१७) "संस्कृति मानव द्वारा उत्पन्न भौतिक-सामाजिक, जैवी-सामाजिक, मनोवैज्ञानिक-सामाजिक सार्वभौमिकताओं तथा सामाजिक रूप से निर्मित प्रणालियो, जिनके माध्यम से ये सामाजिक कृतियाँ क्रियाशील होती हैं, की सम्पूर्ण अंतर्वस्तु है।"[5] —एंडरसन एवं पार्कर

(१८) "संस्कृति उन सब वस्तुओं का जटिल सम्पूर्ण है जिनमें वह सब निहित है जो कुछ हम समाज का सदस्य होने के नाते सोचते और कहते हैं।"[6] —बीरस्टेड

(१९) "संस्कृति मे वे सामान्य मनोवृत्तियाँ, जीवन-दृष्टिकोण तथा सभ्यता की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ सम्मिलित हैं जो संसार में किसी विशेष समूह को विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं।"[7] —सपीर

---

1. "Culture refers to the social mechanisms of behaviour and to the physical and symbolic products of these behaviours"—Lundberg and Others, *Sociology*, p 299.
2. "Culture is the sum total of integrated learned behaviour patterns which are characteristics of the members of a society and which are therefore not the result of biological inheritence."—E. A. Hoebel, *Man in the Primitive World*, p. 7.
3. "Culture is the totality of group ways of thought and action duly accepted and followed by a group of people."—*A F Walter Paul.*
4. "The culture of a people may be defined as the sum total of the [illegible] whereby they satisfy their [illegible] themselves to their environ- [illegible] *[illegible]uction to Social Anthropology*, pp. 3-4.
5. "Culture is the total content of the physico-social, bio-social, and psycho-social universes man has produced and the socially created mechanisms through which these social products operate,"—Anderson and Parker, *Society*, p. 40.
6. "Culture is the complex whole that consists of everything we think and do and have as members of society."—Bierstedt, Robert, *The Social Order*, p. 106.
7. "Culture includes those general attitudes, views of life, and specific manifestations of civilization that give a particular people its distinctive place in the world."—Sapir, E., *Culture, Genuine and Spurious*, p. 405.

(२०) "संस्कृति कृत्रिम वस्तुओं, दशाओं, यंत्रों, प्रविधियों, विचारों, प्रतीकों एवं व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण संग्रह है जो किसी मानव-समूह की सम्पत्ति होते हैं, जिनमें कुछ स्थिरता पाई जाती है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किए जाने योग्य हैं।"[1]
—कूले, आर्गल एवं कार्र

(२१) "संस्कृति मानव-उपलब्धियों, भौतिक तथा अभौतिक, का सम्पूर्ण योग है जो समाजशास्त्रीय रूप से, अर्थात् परम्परा एवं संचरण द्वारा, क्षितिजीय एवं लम्ब रूप में हस्तांतरणीय है।"[2]
—मजूमदार, एच० टी०

(२२) "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।"[3] —हर्सकोविट्स

(२३) "संस्कृति व्यक्ति की भाँति विचार और क्रिया का सुस्थिर प्रतिमान है।"[4]
—रूथ बेनेडिक्ट

(२४) "संस्कृति कृषि-सम्बन्धी तथ्यों (agri-facts), प्राविधिक तथ्यों (arti-facts), सामाजिक तथ्यों (soci-facts) तथा मानसिक तथ्यों (menti-facts) की उपज है।"
—बिडने

(२५) "संस्कृति कार्यकलापो (व्यवहार के प्रतिमानों), वस्तुओ (उपकरणों, व उपकरणो से निर्मित वस्तुओ), विचारों (विश्वास, ज्ञान) और उद्वेगों (मनो-वृत्तियों, मूल्यों) से उत्पन्न परिस्थिति का संगठित स्वरूप है जो प्रतीकों के प्रयोग पर आधारित होता है। जब मनुष्य ने प्रतीको का प्रयोग आरम्भ किया, तब संस्कृति का आविर्भाव हुआ।"
—लैस्ली ए० ह्वाइट

(२६) "संस्कृति उन तरीकों का कुल योग है जिनके द्वारा मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करते हैं जो सीखने की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है।"
—कून

(२७) "संस्कृति शब्द न्यूनाधिक रूप में उन आदतों, विचारो, मनोवृत्तियों एव मूल्यों के संगठित और सुदृढ़ प्रतिमानो की ओर संकेत करता है जो एक नवजात शिशु को उसके पूर्वजो अथवा बड़े होने पर अन्य व्यक्तियो द्वारा हस्तांतरित होते हैं।"
—यंग

---

1. [illegible] ...ficial objects, conditions, ... viour-patterns peculiar to ... isistency of its own, and ... on to another"—*Cooley*, ... 81.

2. "Culture is the sum total of human achievements, material as well as non-material, capable of transmission, sociologically, *i.e.* by tradition and communication, vertically as well as horizontally." —Mazumdar, H. T., *Grammar of Sociology*, p. 519.

3. "Culture is the man made part of environment."—M. J. Herskovits, *Man and His Works*, p 17.

4. "Culture, like an individual, is more or less consistent pattern of thought and action."—Ruth Benedict, *Pattern of Culture*, p. 46.

मिट्टी प्रदान करती है, परन्तु जब मानव मिट्टी से बर्तन बनाता है तो वह उसकी संस्कृति को अभिव्यक्त करती है। अतः संस्कृति का सृजन मानव-मस्तिष्क में ही होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर संस्कृति के आधारभूत लक्षणों की गणना निम्नलिखित प्रकार की जा सकती है—

(i) संस्कृति सीखी गई योग्यता है (Culture is an acquired quality)—संस्कृति नैसर्गिक नहीं होती। समाजीकरण, आदतों एवं विचारों द्वारा सीखे गए लक्षणों को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति सीखी जाती है।

(ii) संस्कृति मनुष्य की व्यक्तिगत विरासत नहीं, अपितु सामाजिक विरासत होती है (Culture is not the individual but the social heritage of man)—यह समूह के सदस्यों की प्रत्याशाओं का सम्मिश्रण है। यह सामाजिक कृति होती है। मनुष्य का निजी व्यवहार जब सामाजिक व्यवहार का प्रतिमान बन जाता है तो वह संस्कृति का रूप धारण कर लेता है।

(iii) संस्कृति आदर्शात्मक होती है (Culture is idealistic)—संस्कृति में समूह के आदर्श-नियमों एवं विचारों का समावेश होता है। यह समूह के व्यवहार के आदर्श-नियमों एवं प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है।

(iv) संस्कृति सम्पूर्ण सामाजिक विरासत है (Culture is the total social heritage)—संस्कृति अतीत से संयुक्त होती है। अतीत जीवित रहता है, क्योंकि यह संस्कृति मे समावेशित है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को परम्पराओं एवं प्रथाओं द्वारा हस्तांतरित होता रहता है।

(v) संस्कृति कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करती है (Culture fulfils some needs)—संस्कृति समूहों की उन नैतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है जो स्वयं में लक्ष्य हैं।

(vi) संस्कृति एक समन्वित प्रणाली है (Culture is an integrated system)—संस्कृति मे व्यवस्था वर्तमान होती है। इसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के साथ समन्वित होते हैं तथा किसी नए तत्व को इसमे समन्वित कर लिया जाता है।

(vii) भाषा संस्कृति का मुख्य वाहन है (Language is the chief vehicle of culture)—मनुष्य केवल वर्तमान में ही नहीं, अपितु भूत एवं भविष्य में भी जीवित रहता है। ऐसा भाषा के माध्यम से होता है जो उसे अतीत में सीखे गए व्यवहार को हस्तांतरित करती है तथा संगृहीत ज्ञान को भविष्य को हस्तांतरित करने में समर्थ बनाती है।

(viii) संस्कृति श्रम-विभाजन द्वारा अधिक जटिल स्वरूपों में विकसित हो जाती है (Culture evolves into more complex forms through division of labour)—संस्कृति श्रम-विभाजन द्वारा अधिक जटिल स्वरूपों एवं अन्तःसंम्बन्धों में विकसित होकर समाज के सदस्यों की अन्योन्याश्रितता में वृद्धि करती है।

संस्कृति तथा सभ्यता में अन्तर (Difference between Culture and Civilization)

सभ्यता उपकरण-रूप में प्रयुक्त उपयोगी वस्तुओं का बोध कराती है (Civilization denotes utilitarian things used as apparatus)—संस्कृति के अर्थ को भली-भाँति समझने के लिए इसका 'सभ्यता' से विभेद करना वाछनीय होगा। लेखकों ने सभ्यता की विभिन्न अवधारणाओ का उल्लेख किया है। ऐसा विचार किया जाता है कि सभ्यता का आरम्भ उस समय हुआ जब लेखन एवं धातु का आविष्कार हुआ। क्योंकि इतिहास का आरम्भ लेखन के साथ हुआ, अतएव सभ्यता का आरम्भ भी उसी प्रकार हुआ। आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार, सभ्यता अति-जैविक (super-organic) संस्कृति का उत्तरीय पक्ष है। कुछ लेखकों ने सभ्यता का आधार नातेदारी अथवा कुलीन संगठन को न मानकर सिविल संगठन को माना है। क्योकि सिविल संगठन बड़े नगरों में अधिक पाया जाता था, अतएव इन नगरों के निवासियों को 'सभ्य' कहा जाने लगा। ए० ए० गोल्डनवीजर (A. A. Goldenweiser) ने 'सभ्यता' को 'संस्कृति' का समानार्थक माना है तथा इस शब्द का प्रयोग अशिक्षित लोगों के लिए किया।

अन्य लेखक 'सभ्यता' शब्द को संस्कृति के कुछ चयित भाग के लिए प्रयुक्त करते हैं। ब्रुक्स एडम (Brooks Adam) सभ्यता को अनिवार्य रूप से एक अतिविकसित संगठन मानता है। उसकी अवधारणा मे शासकीय सत्ता द्वारा किसी क्षेत्र पर स्थिर व्यवस्था का विचार निहित है। आर्नाल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) के विचारानुसार, सभ्यता अनिवार्यतः एक धार्मिक एवं नैतिक प्रणाली है जो राज्य अथवा राष्ट्र से प्रायः विशालतर क्षेत्र में प्रचलित है। ऐसी प्रणाली प्रथाओं, संस्थाओं एवं विचारधाराओ द्वारा एकीकृत होती है। कुछ समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को दो भागों में विभक्त किया है—भौतिक तथा अभौतिक। भौतिक संस्कृति से तात्पर्य मूर्त वस्तुओं, यथा आवासों, लेखन-उपकरणो, रेडियो, वस्त्रों, बर्तनों, यन्त्रों, पुस्तकों एवं चित्रों से है; जबकि अभौतिक भाग में मनुष्य की अमूर्त कृतियाँ, यथा भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला, कानून एवं धर्म सम्मिलित हैं। गिलिन एवं गिलिन ने 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग मूर्त वस्तुओं मे अभिलक्षित विचारों एवं प्रविधियों का बोध कराने हेतु किया, जबकि स्वयं वस्तुओं का बोध कराने के लिए उसने 'सांस्कृतिक उपकरण' शब्द को प्रयुक्त किया। उसके अनुसार, सभ्यता संस्कृति का अधिक जटिल एवं विकसित रूप है। मैकाइवर ने 'सभ्यता' शब्द का प्रयोग उपयोगी वस्तुओं, जीवन की स्थितियों को नियन्त्रित करने के लिए मानव द्वारा योजित समस्त संगठन तथा यान्त्रिकता के लिए किया। ये वस्तुएँ लक्ष्यों की सिद्धि-हेतु साधन रूप में प्रयुक्त होती हैं। उनकी इच्छा इसलिए की जाती है, ताकि साधनों के रूप में उनका उपयोग करके हम कुछ संतुष्टियाँ प्राप्त कर सकें। इस अर्थ में 'सभ्यता' रेडियो, मतदान-पेटिका, टेलीफोन, रेल की सड़कें, विद्यालयों, बैंकों एवं ट्रैक्टर आदि सभी को अन्तर्भूत करती है। ये सभी वस्तुएँ सभ्यता के क्षेत्र मे आती हैं। ए० डब्ल्यू० ग्रीन (A. W. Green) का विचार है, "संस्कृति उसी समय सभ्यता बनती है जब यह

लिखित भाषा, विज्ञान, दर्शन, विशिष्ट श्रम-विभाजन तथा एक जटिल प्रौद्योगिकी एवं राजनीतिक प्रणाली को अधिकृत कर लेती है।"

मैकाइवर के अनुसार, सभ्यता तथा संस्कृति के मध्य मुख्य विभिन्नताओं को निम्न प्रकार वर्णित किया गया है—

(i) सभ्यता के लिए मापन का एक स्फुट स्तर है, संस्कृति का नहीं (Civilization has a precise standard of measurement, but not culture)—सभ्यता का कुशलता के आधार पर परिमाणात्मक रूप से मापन किया जा सकता है। सभ्यता की उपजों की तुलना करके उनकी सापेक्ष श्रेष्ठता व हीनता को प्रमाणित किया जा सकता है। उनकी कुशलता की मात्रा का अनुमान भी आसानी से किया जा सकता है तथा वस्तुतः उसका मापन भी किया जा सकता है। मोटर-गाड़ी बैलगाड़ी से तेज दौड़ती है, वायुयान मोटरगाड़ी से तेज दौड़ता है, खड्डी की अपेक्षा शक्तिचालित यन्त्र अधिक उत्पादन करता है। ट्रैक्टर प्राचीन हल की अपेक्षा श्रेष्ठ है। आधुनिक मुद्रा-प्रणाली विनिमय की अपेक्षा श्रेष्ठ है। कोई भी व्यक्ति इन तथ्यों पर आपत्ति नहीं उठा सकता। दूसरी ओर, सांस्कृतिक वस्तुओं की सापेक्षतया श्रेष्ठता को मापने का कोई यंत्र नहीं है। विभिन्न युगों एवं विभिन्न समूहों के पृथक्-पृथक् मान होते हैं। रुचि के बारे मे कोई वाद-विवाद सम्भव नहीं है। इस प्रकार, पिकासो (Picasso) की चित्रकलाएँ किसी व्यक्ति को तिरस्कार की वस्तुएँ दिखाई दे सकती हैं, जबकि अन्य लोगों के लिए वे कला की अमूल्य निधि हो सकती है। कुछेक व्यक्तियों के विचार में, शेक्सपियर की अपेक्षा बर्नार्ड शा अधिक श्रेष्ठ नाटककार हो सकता है। कुछ लोग फिल्मी गीतों की अपेक्षा लोक-गीतों को अधिक पसन्द करते हैं।

(ii) सभ्यता सदैव प्रगति कर रही है, परन्तु संस्कृति नहीं (Civilization is always advancing, but not culture)—मैकाइवर के अनुसार, "सभ्यता न केवल उन्नति करती है, बल्कि यह सदैव उन्नति करती है, बशर्ते कि सामाजिक निरन्तरता का विपत्तिजनक अवरोध न हो।" सभ्यता निरन्तर उत्कर्ष की ओर बढ़ती है। यह समरेखीय एवं संचयात्मक होती है तथा अनिश्चित काल तक बढ़ती रहती है। जब से मनुष्य ने मोटर का आविष्कार किया, उसमें लगातार सुधार होता आया है। यही बात यातायात के अन्य साधनों, यथा रेलवे, जलयान, वायुयान के बारे में है जो निरन्तर अधिक द्रुतगामी, अधिक कुशल एवं अधिक सुन्दर बनते जा रहे हैं। वे हमारे पूर्वजों द्वारा प्रयुक्त वाहनों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। दूसरी ओर, संस्कृति की उन्नति अत्यन्त धीमी गति से होती है। विश्वस्त रूप से यह उच्च अथवा उन्नत स्तरों की ओर नहीं जाती। हमारी चित्रकलाएं अजन्ता गुफाओं की कलाओं से अधिक श्रेष्ठ नहीं हैं। क्या हम दावा कर सकते हैं कि हमारी कविता, नाटक एवं साहित्य प्राचीन काल की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है? संस्कृति *उन्नति एवं अवनति दोनों के* अधीन होती है। उसका भव्य अतीत भविष्य का आश्वासन नहीं दे सकता।

(iii) सभ्यता प्रयास के बिना आगे बढ़ जाती है, संस्कृति नहीं (Civilization is passed on without effort, but not culture)—संस्कृति का

हस्तांतरण एक विभिन्न सिद्धान्त का अनुगमन करता है जो सभ्यता के हस्तांतरण के सिद्धान्त से भिन्न होता है। पूर्वोक्त को समान मन वाले ही आत्मसात् कर सकते हैं। केवल इसके समर्थक लोग ही इसको गृहीत कर सकते हैं। कलाकार के गुण के बिना कोई भी व्यक्ति कला की प्रशंसा नहीं कर सकता; न कोई कान के बिना संगीतज्ञ के संगीत की ही प्रशंसा कर सकता है। दूसरी ओर, सभ्यता ऐसी कोई अपेक्षा नहीं रखती। हम उसके उत्पादनों का बिना उसके निर्माण की क्षमता के भोग कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति विद्युत्-चालित पंखे की हवा का आनन्द उठा सकता है, भले ही वह उसकी यांत्रिकी से परिचित न हो। ए० जे० टायनबी (A. J. Toynbee) ने लिखा है, "व्यापार के लिए किसी नवीन पाश्चात्य प्रविधि को नियत करना संसार में सरलतम कार्य है। परन्तु किसी पाश्चात्य कवि अथवा सन्त के लिए अपाश्चात्य आत्मा में आध्यात्मिकता का दीप जो उसके अंदर प्रदीप्त है, प्रज्ज्वलित करना कठिन है।"[1]

(iv) सभ्यता की उपजों को किसी व्यक्ति द्वारा उन्नत किया जा सकता है, परन्तु ऐसा संस्कृति में सम्भव नहीं है (The works of civilization can be improved by any body but that is not possible in the case of culture) —महान् आविष्कर्ताओं के कार्य का कम बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति उत्कर्ष कर सकते हैं, परन्तु कम प्रतिभाशाली व्यक्ति मिल्टन अथवा टैगोर की कविताओं को उन्नत करने मे उनके सौंदर्य को विनष्ट कर सकते हैं। कलाकार की उपज उसके व्यक्तित्व की की अपेक्षा अभिव्यक्ति होती है जो उसी के द्वारा उन्नत की जा सकती है, अन्य के द्वारा नहीं। संस्कृति मानवी चेतना की तात्कालिक अभिव्यक्ति है, इसलिए वह तभी उत्कर्ष कर सकती है जब उस चेतना में सुन्दर प्रयत्न की क्षमता तथा अभिव्यक्ति के लिए कुछ है।

(v) सभ्यता बाह्य एवं यांत्रिक है, जबकि संस्कृति आंतरिक एवं जैविक है (Civilization is external and mechanical while culture is internal and organic)—सभ्यता मे बाह्य वस्तुएँ सम्मिलित होती हैं, संस्कृति का सम्बन्ध आंतरिक विचारों, अनुभूतियों, आदर्शों, मूल्यों आदि से होता है। मैकाइवर ने कहा है, "हमारे पास जो कुछ है, वह सभ्यता है; हम जो कुछ हैं, वह संस्कृति है।"[2] मैथ्यू आर्नाल्ड के शब्दों मे, "संस्कृति पूर्णता एवं समन्वित पूर्णता; सामग्र्य पूर्णता का अध्ययन है; पूर्णता का अभिप्राय है 'कुछ बनना', 'कुछ लेना नहीं' तथा 'कुछ बनने' का अभिप्राय चेतना अथवा आत्मा की आंतरिक अवस्था से है, बाह्य परिस्थितियों से नहीं।"

(vi) सभ्यता को परिवर्तन अथवा हानि के बिना उधार ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु संस्कृति को नहीं (Civilization is borrowed without change or loss, but not culture)—एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सभ्यता का हस्तांतरण सरल एवं शीघ्र होता है। संचरण के पर्याप्त साधनों के भीतर सभ्यता की वस्तुएँ ही सारे संसार में व्याप्त हो सकती हैं। रेडियो, दूरदर्शन, एक्स-रे, स्वचालित वाहन पर अब किसी एक राष्ट्र का एकाधिपत्य नहीं है। उद्योगो की निगमित व्यवस्था ने

1. Toynbee, A. J., *A Study of History*, p. 305.
2. Civilization is what we have, culture is what we are.

पुराने ढंगों को प्रत्येक स्थान पर विस्थापित कर दिया है। कर्मशाला-प्रणाली ने उत्पादन की घरेलू प्रणाली को समाप्त कर दिया है। बर्बर भी तीर और बरछी की उपेक्षा कर बन्दूक को अपनाने के लिए तैयार है। भवनों एवं सड़कों के निर्माण की *नवीन प्रविधियों को सभी स्थानों पर अपना लिया गया है। दूसरी ओर, संस्कृति* का अपना आंतरिक गुण होता है जिसका प्रभाव सीमित होता है। भारत में हमने पाश्चात्य सभ्यता को पर्याप्त मात्रा में उधार लिया है, परन्तु पाश्चात्य संस्कृति को नही। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में सांस्कृतिक 'ऋण' भी देखे जा सकते हैं, परन्तु सभ्यता के ऋणों की तुलना में वे नगण्य हैं। कोई भी जाति अपनी संस्कृति का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसा करना अपनी मौलिक विशेषता को नष्ट करना है। केवल कुछेक सांस्कृतिक लक्षणों को ही उधार लिया जाता है, परन्तु इस ऋण-ग्रहण को भी ऋण-ग्राहकों के व्यक्तित्व द्वारा रूपान्तरित कर दिया जाता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि सभ्यता के विस्तार के सिद्धान्त सांस्कृतिक विकास के नियमों से भिन्न होते हैं। *सभ्यता का विस्तार अधिक शीघ्रता से अधिक सरल रीति से, कम वरणात्मकता* से होता है तथा यह सदैव प्रौद्योगिकीय प्रगति के केन्द्र के बाहर की ओर प्रसरित होती है।

संस्कृति एवं सभ्यता अन्योन्याश्रित हैं (Culture and civilization are interdependent)—*संस्कृति एवं सभ्यता भले ही एक-दूसरे से पृथक् हैं, वे एक-दूसरे से विलग होकर जीवित नही रह सकतीं।* दोनों केवल अन्योन्याश्रित ही नहीं हैं, अपितु अन्तर्क्रियाशील भी हैं। सभ्यता की वस्तुएँ जिन्हे 'artifacts' कहते हैं, सांस्कृतिक वस्तुओं 'mentifacts' से प्रभावित होती हैं तथा संस्कृति सभ्यता की वस्तुओं से प्रभावित होती है। मनुष्य केवल किसी वस्तु को प्राप्त करना ही नही चाहता, अपितु वह ऐसी वस्तु भी चाहता है जो सुन्दर एवं लुभावनी भी हो। यहाँ पर संस्कृति सभ्यता को प्रभावित करती है। मोटरगाड़ी अथवा रेडियो एक उपयोगी वस्तु हो सकती है, परन्तु उसका मॉडल अथवा रंग संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। इसी प्रकार हमारे दर्शन, उपन्यास एवं सभी शिक्षा पर मुद्रणालय का प्रभाव स्पष्ट अंकित है।

सभ्यता की वस्तुएँ कुछ समय उपरांत सांस्कृतिक स्वरूप को ग्रहण कर लेती हैं। आदिम जातियों के उपकरण केवल उपकरण मात्र नहीं हैं, वे इससे कुछ अधिक हैं। *वे संस्कृति के प्रतीक हैं।* विभिन्न वस्तुएँ, यथा बर्तन, वस्त्र, सिक्के, यंत्र आदि जो खुदाई में प्राप्त हुए हैं, आदिम जन-समुदायों की संस्कृति को अभिव्यक्त करते हैं। इसी प्रकार, *संविधान या कानून की संहिता केवल शासन का साधन मात्र नहीं है अपितु साथ ही किसी जाति की चेतना की अभिव्यक्ति है जिसकी संस्कृति का प्रतीक* होने के नाते रक्षा की जाती है। इस प्रकार जो वस्तुएँ मुख्य रूप से सभ्यता की वस्तुएँ कहलाती हैं, उनका सांस्कृतिक स्वरूप भी होना है।

अब उन उत्पादनों पर भी *ध्यान दें जो प्रधानतः सांस्कृतिक होते हैं।* सभी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ किसी-न-किसी प्रौद्योगिकी माध्यम तथा प्रक्रिया पर निर्भर करती हैं। कला की अभिव्यक्ति प्रौद्योगिकी अपेक्षाओं द्वारा सीमित व संशोधित होती है। कविता का सम्पूर्ण आशय, अर्थ तथा लय का दूसरे माध्यम में अनूदि

करना असम्भव होता है। बहुधा कलाकार किसी अनुभूत या देखी हुई घटना का वर्णन करते हुए अभिव्यक्ति की कठिनाई अनुभव करता है। उसे अपने माध्यम पर पूर्ण अधिकार करने के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है। हम जो कुछ कहते हैं, यह हम सोच सकते है; किन्तु जो कुछ सोचते हैं, उसे कहना कठिनतर होता है। इस प्रकार सभ्यता परिसीमाएँ लगा देती है जिनके अधीन हमें रहना होता है और अपनी संतुष्टियों की खोज करनी होती है। यह उस सीमा को निर्धारित करती है जिसके भीतर सांस्कृतिक क्रिया का विस्तार अथवा संकुचन होता है।

दोनों परस्पर प्रभावशाली हैं (Both are interactive)—सभ्यता एवं संस्कृति न केवल अन्योन्याश्रित हैं, अपितु अंतर्क्रियात्मक भी हैं। संस्कृति प्रौद्योगिक विकास के स्तर के प्रति अनुक्रिया करती है। इस प्रकार साहित्यिक कला का स्वरूप मुद्रण-यन्त्र के विकास से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। चलचित्रों के आविर्भाव से पूर्व नाटकीय प्रदर्शन महंगे होते थे जिन्हें केवल कुछ धनी लोग ही देख सकते थे। परन्तु चलचित्रों के माध्यम से आजकल असंख्य लोग सुदूर स्थानों पर बैठे हुए इन प्रदर्शनों का आनन्द लेते हैं। संचरण के साधनों के विकास ने अभिव्यक्ति के ढंगों पर गहन प्रभाव डाला है। सभ्यता, जैसा मैकाइवर ने कहा है, संस्कृति का वाहन है। भूत-काल में संस्कृति पर सभ्यता का प्रभाव इतना अधिक स्पष्ट नही था, परन्तु आधुनिक युग में जबकि प्रौद्योगिक उन्नति तीव्रगति से हो रही है, यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। हमारी विचारधारा, कला एवं नैतिकता सभ्यता द्वारा रूपान्तरित एवं अपसरित हो रही हैं। वैज्ञानिक उपकरणों से विश्व के प्रति हमारा दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक हो जाने के कारण हमारा अन्धविश्वास कम हो गया है।

संस्कृति सभ्यता को भी प्रभावित करती है (Culture affects also civilization)—मानव को चाहिए कि वह अपने अन्वेषणो, नवीन प्रविधियों, एवं योजनाओं का अपने मूल्यांकनों के प्रकाश में निर्वचन करे। प्रत्येक मानव-समुदाय एवं प्रत्येक युग का वस्तु-निरीक्षण का अपना दृष्टिकोण होता है; इसकी अपनी विशिष्ट मनोवृत्तियाँ एवं विचारों के रूप एवं दर्शन होते हैं। सभ्यता युग की शैलियों, मापदंडो एवं विचार-धारा से प्रभावित हुए बिना नही रह सकती। संस्कृति की अपनी निरन्तरता होती है जिसे तोड़ना कठिन होता है। दोनो के बीच संघर्ष मे संस्कृति सभ्यता पर विजयी हो जाती है। सांस्कृतिक मूल्याकनों में किसी परिवर्तन का प्रभाव समूह की सभ्यता-गत संरचनाओं पर पड़ता है। **मैकाइवर** के शब्दों में, "सभ्यता एक जहाज है जो विभिन्न बंदरगाहों पर पहुँच सकता है। किस बंदरगाह पर हमे पहुँचना चाहिए, यह सांस्कृतिक प्रवरण का प्रश्न है। जहाज के बिना हम प्रस्थान नही कर सकते। जहाज की प्रकृति के अनुसार हम मन्द या तेज गति से भ्रमण करते हैं। हमारी जीवन-पद्धतियाँ भी जहाजी वातावरण के अनुकूल बदल जाती हैं। हमारे अनुभव तदनुसार भिन्न होते हैं। परन्तु जहाज द्वारा हमारे भ्रमण की दिशा पूर्वनिश्चित नही होती। जहाज जितना शक्तिशाली होगा, उतने ही प्रवरण-क्षेत्र के भीतर बन्दर-गाह भी होंगे।" संक्षेप में, सभ्यता समाज की चालक शक्ति है, जबकि संस्कृति दिशावाहक है।

२. संस्कृति की संरचना
(The Structure of Culture)

सभी समाजों की अपनी संस्कृति भौतिक एवं अभौतिक पदार्थों की प्रतिमानित समग्रता होती है। सभी संस्कृतियों का समान मूलाधार संगठन होता है, यद्यपि समाजों की संस्कृतियाँ विभिन्न होती हैं। संस्कृति के उपादान अथवा अंग निम्न-लिखित हैं—

(i) सांस्कृतिक तत्व (Cultural traits)—सांस्कृतिक तत्व संस्कृति की लघुतम इकाइयाँ अथवा अकेले तत्व होते हैं। इन इकाइयों को मिलाकर संस्कृति का निर्माण होता है। हावेल (Hoebel) के अनुसार, "सांस्कृतिक तत्व व्यवहार का एक प्रकार या इस प्रकार के व्यवहार से उत्पन्न एक भौतिक वस्तु है जिसे सांस्कृतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई माना जा सकता है। हर्सकोविट्ज़ (Herskovits) ने सांस्कृतिक तत्व को एक संस्कृति-विशेष मे सबसे छोटी पहचानी जा सकने वाली इकाई कहा है। क्रोबर ने इसे 'संस्कृति का न्यूनतम परिभाष्य' तत्व के रूप में स्वीकार किया है। संक्षेप मे, संस्कृति की सबसे छोटी इकाई जो किसी काम आ सके, को सांस्कृतिक तत्व कहते हैं। किसी भी संस्कृति में अनेक ऐसी छोटी इकाइयों को देखा जा सकता है। इस प्रकार, हाथ मिलाना, चरण स्पर्श करना, टोप उतारना, गालों का चुम्बन लेना, स्त्रियों को आवास-स्थान प्रदान करना, झंडे को सलामी देना, शोक के समय श्वेत साड़ी पहनना, शाकाहारी भोजन खाना, नंगे पाँव चलना, मूर्तियों पर जल छिड़कना, कृपाण धारण करना, केश बढ़ाना, पीतल के बर्तनों का उपयोग करना आदि सांस्कृतिक तत्व हैं। इस प्रकार, तत्व संस्कृति की प्रारम्भिक इकाइयाँ होती है। ये तत्व एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति से विलग कर देते हैं। किसी संस्कृति का कोई तत्व दूसरी संस्कृति के लिए महत्वहीन हो सकता है। इस प्रकार सूर्य को जल चढ़ाना हिंदू संस्कृति में महत्व रखता है, परन्तु इसका पाश्चात्य संस्कृति में कोई महत्व नहीं है।

सांस्कृतिक तत्व की तीन प्रमुख विशेषताएँ होती हैं—

(i) प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का उसकी उत्पत्ति-विषयक एक इतिहास होता है, चाहे वह इतिहास छोटा हो अथवा बड़ा।

(ii) सांस्कृतिक तत्व स्थिर नहीं होता। गतिशीलता उसकी विशेषता है।

(iii) सांस्कृतिक तत्वों मे संयुक्तीकरण की प्रकृति होती है। वे फूलों के गुलदस्ते की भाँति घुल-मिलकर रहते हैं।

सांस्कृतिक तत्वों का अध्ययन किसी भी संस्कृति के स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है, क्योंकि वे प्राथमिक आधार होते हैं जिन पर सम्पूर्ण सांस्कृतिक संरचना निर्भर होती है। गिफोर्ड तथा क्रोबर (Gifford and Kroeber), रे (Ray), टायलर (Tylor), बोआस (Boas) आदि लेखकों ने संस्कृति का अध्ययन सांस्कृतिक तत्वों के माध्यम से किया है।

(ii) संस्कृति-संकुल (Culture complex)--हाबेल (Hoebel) के अनुसार, "संस्कृति-संकुल परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित प्रतिमानों का एक जाल है।"[1] सदरलैंड तथा वुडवर्ड (Sutherland and Woodward) के शब्दों में, "संस्कृति-संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो एक अर्थपूर्ण अन्तःसम्बन्ध में परस्पर गुंथे होते हैं।"[2] सांस्कृतिक तत्व, प्रायः अकेले अथवा स्वतन्त्र रूप में प्रकट नहीं होते। वे एक-दूसरे से घुले-मिले रहते हैं। मानव-समाज में एक अकेले सांस्कृतिक तत्व का कोई महत्व नहीं होता। प्रायः अनेक तत्व मिलकर मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। जब कुछ या अनेक तत्व मिलकर मानव-आवश्यकता की पूर्ति करते हैं तो मानव-उपयोग में उनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। इस प्रकार, मूर्ति के सम्मुख नतमस्तक होना, उस पर पवित्र जल छिड़कना, उसके मुंह में कुछ भोजन रखना, हाथ जोड़ना, पुजारी से 'प्रसाद' लेना तथा आरती गाना आदि सभी तत्व मिलकर धार्मिक-सांस्कृतिक संकुल का निर्माण करते हैं। भाषा भी एक सांस्कृतिक संकुल है, क्योंकि इसमें शब्दों, वाक्यों, लोकोक्तियों, व्याकरण आदि का समावेश होता है। यह ध्यान रहे कि सांस्कृतिक तत्वों का अर्थपूर्ण मिलन ही सांस्कृतिक संकुल को जन्म देगा। पिडिंगटन ने सांस्कृतिक संकुल को सांस्कृतिक तत्वों का प्रकार्यात्मक सम्मिलन (functional association) कहा है। उसके अनुसार, सांस्कृतिक तत्वों का संयोग आकस्मिक सह-अवस्थान (accidental co-existence) भी हो सकता है। सौन्दर्य-संकुल में सांस्कृतिक तत्वों का समावेश आकस्मिक सह-अवस्थान होता है, क्योंकि सौंदर्य के किसी भी सांस्कृतिक तत्व, बिंदी, सिन्दूर, चूड़ी, नाखूनों की लाली, सेन्ट आदि में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध नहीं है। फैशन के साथ-साथ सौंदर्य-संकुल के उपर्युक्त तत्वों में परिवर्तन सम्भव है। परन्तु कुछ भी हो, संस्कृति-संकुल में सांस्कृतिक तत्व परस्पर क्रिया करते हुए एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान को जन्म देते हैं। अतएव संस्कृति-संकुल को सांस्कृतिक तत्वों की अन्तःक्रिया का प्रतिमान भी कहकर परिभाषित किया गया है।

(iii) संस्कृति-प्रतिमान (Culture pattern)—जब सांस्कृतिक तत्व एवं संकुल मिलकर प्रकार्यात्मक भूमिकाओं में परस्पर संबंधित हो जाते हैं तो उनसे संस्कृति-प्रतिमान का जन्म होता है। प्रत्येक संस्कृति-संकुल समाज में कोई न कोई भूमिका अदा करता है। इसे निश्चित स्थान प्राप्त होता है। समाज के संस्कृति-प्रतिमान में अनेक संस्कृति-संकुल सम्मिलित होते हैं। सांस्कृतिक ढांचे के अन्तर्गत संस्कृति-संकुलों की उस व्यवस्था को जिससे सम्पूर्ण संस्कृति की विशेषताएं अभिव्यक्त हों, संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं। सदरलैंड तथा वुडवर्ड के शब्दों में, "संपूर्ण संस्कृति के एक प्रकार का सामान्यीकृत चित्र के रूप में संकुलों का एक संग्रह संस्कृति-प्रतिमान है।"[3] हर्सकोविट्ज (Herskovits) ने संस्कृति-प्रतिमान को विस्तृत रूप

---

1. "Culture complex is a network of closely related patterns."—Hoebel, *op cit* p 167
2. "Culture complex is a whole set of culture traits that cluster together in a meaningful interrelationships."—Sutherland and Woodward. *Introductory Sociology*, p 34
3. "The culture pattern is a grouping of trait complexes into a sort of generalised picture of the culture as a whole."—Sutherland and Woodward, *op. cit.*, p. 36.

में परिभाषा दी है। उसके मतानुसार, "संस्कृति-प्रतिमान एक संस्कृति के तत्वों का वह डिजाइन है जो उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के तरीके को संबद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टता प्रदान करता है।"[1] संस्कृति-प्रतिमान के अध्ययन से किसी संस्कृति की प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान हो जाता है। उदाहरणार्थ, गांधीवाद, अध्यात्मवाद, जाति-व्यवस्था, संयुक्त परिवार, ग्रामीणवाद भारतीय संस्कृति के संस्कृति-संकुल हैं जो भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का परिचय देते हैं। क्लार्क विसलर (Clark Wissler)[2] ने ९ आधार-मूलक सांस्कृतिक तत्वों का उल्लेख किया है जो संस्कृति-प्रतिमान को जन्म देते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(१) वाणी एवं भाषा;
(२) भौतिक तत्व :
   (i) भोजन की आदतें; (ii) निवास; (iii) यातायात; (iv) पोशाक; (v) बर्तन, उपकरण आदि; (vi) शस्त्र; (vii) व्यवसाय एवं उद्योग;
(३) कला;
(४) पुराण-विद्या एवं वैज्ञानिक ज्ञान;
(५) धार्मिक क्रियाएँ;
(६) पारिवारिक एवं सामाजिक प्रणालियाँ;
(७) सम्पत्ति;
(८) शासन;
(९) युद्ध।

किम्बल यंग[3] ने संस्कृति के १३ तत्वों को सार्वभौमिक प्रतिमानों में सम्मिलित किया है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) संचरण के प्रतिमान : संकेत एवं भाषा;
(२) मनुष्य के भौतिक कल्याण हेतु वस्तुएँ एवं ढंग;
   (i) भोजन की तलाश; (ii) वैयक्तिक पालन; (iii) निवास; (iv) उपकरण आदि;
(३) यात्रा तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के यातायात के साधन एवं ढंग;
(४) वस्तुओं एवं सेवाओं का विनिमय, व्यापार, वाणिज्य, व्यवसाय;

---

1. "Culture pattern is the design taken by the elements of a culture which, as consensus of the individual behaviour pattern manifest by the members of a society, give to this way of life coherence, continuity and distinctive form."—M. J. Herskovits, *Man and His Works*, p. 202.
2. Wissler, Clark, Man and Culture, p. 74.
3. Young, Kimball, Sociology, p. 39.

(५) सम्पत्ति के प्रकार : वास्तविक एवं वैयक्तिक;

(६) लैंगिक एवं पारिवारिक प्रतिमान :

(i) विवाह एवं तलाक; (ii) नातेदारी सम्बन्धों के प्रकार; (iii) उत्तराधिकारिता; (iv) संरक्षकता;

(७) सामाजिक नियंत्रण तथा शासकीय संस्थाएँ :

(i) लोकाचार; (ii) जनमत; (iii) राज्य : कानून एवं अधिकारी; (iv) युद्ध;

(८) कलात्मक अभिव्यक्ति : निर्माण कला; चित्रकला; संस्कृति; गायन; साहित्य नृत्य;

(९) विनोदात्मक एवं विश्राम के समय गतिविधियाँ एवं अभिरुचियाँ;

(१०) धार्मिक एवं जादूगीरी विचार एवं अभिरुचियाँ;

(११) पुराणशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र;

(१२) विज्ञान;

(१३) मूलाधार अंतर्क्रियात्मक प्रक्रियाओं की सांस्कृतिक संरचना ।

लिंटन ने बतलाया है कि कुछ सांस्कृतिक तत्व समाज के सभी सदस्यों के लिए आवश्यक होते हैं, जबकि अन्य तत्वों का केवल कुछेक सदस्यों द्वारा ही अनुसरण किया जाता है । जो तत्व सभी सदस्यों द्वारा अनुसरित किए जाते हैं, उन्हें सार्वभौमिक (universal) कहा जा सकता है । उदाहरणतया, मनुष्य को अपने शरीर के कुछ अंगों को वस्त्रों से ढकना चाहिए । व्यक्ति को एकपत्नीत्व होना चाहिए, उसे सड़क की बायीं ओर चलना चाहिए, उसे उन्मुक्त प्रेम एवं शिशुहत्या की निंदा करनी चाहिए—ये कुछेक भारतीय संस्कृति के सार्वभौमिक तत्व हैं । दूसरी ओर, व्यक्ति किसी भी प्रकार की धार्मिक उपासना को अंगीकार कर सकता है । वह बैलगाड़ी, मोटरकार, वायुयान किसी में यात्रा कर सकता है, वह घर पर अथवा होटल में भोजन खा सकता है—ये विकल्पात्मक तत्व हैं । यह ध्यान रहे कि किसी समाज के विकल्पात्मक तत्व अन्य समाज में सार्वभौमिक तत्व हो सकते हैं अथवा इसके विपरीत भी सम्भव है ।

विशिष्टताएँ (specialities) संस्कृति के ऐसे तत्व हैं जिनमें समाज के केवल कुछेक समूह ही भागीदार होते हैं । शिशुपालन स्पष्टतया स्त्री की विशेषता है, पुरुष की नहीं । समाज में लगभग प्रत्येक समूह—आयु-समूह, लिंग-समूह, व्यावसायिक समूह, धार्मिक समूह—की अपनी विशिष्टताएँ होती हैं जिनका दूसरे समूह अनुसरण नहीं करते ।

उपसंस्कृतियाँ (Sub-cultures)—उपसंस्कृतियाँ किसी विशेष समूह के सांस्कृतिक तत्व होती हैं । वे निःसंदेह समाज की सामान्य संस्कृति से सम्बन्धित होती हैं, तथापि इससे विभेदित भी होती हैं । इस प्रकार, व्यावसायिक समूहों, धार्मिक

समूहों, जातियो, सामाजिक वर्गों, आयु-समूह, लैंगिक समूह तथा अन्य अनेक समूहों की संस्कृतियाँ उपसंस्कृतियाँ कही जा सकती हैं। हिन्दू संस्कृति भारतीय संस्कृति की उपसंस्कृति है। इसी प्रकार, वयस्क संस्कृति, नवयुवक संस्कृति, सैनिक संस्कृति, महाविद्यालयीय संस्कृति भी उपसंस्कृतियाँ हैं। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि सार्वभौमिकताओं के अतिरिक्त किसी समाज में अनेक उपसंस्कृतियाँ होती हैं।

विपरीत संस्कृतियाँ (Contra-cultures)--विपरीत संस्कृति उन समूहो की सस्कृति को इंगित करती है जो विद्यमान प्रतिमान से केवल विभिन्न ही नहीं है, अपितु इसे चुनौती देती है। इस प्रकार, डाकुओं के समूह के अपने प्रतिमान हैं जो इसके सभी सदस्यो पर बाध्यकर हैं, परन्तु ये प्रतिमान परम्परागत प्रचलित प्रतिमानों से पूर्ण भिन्न होते हैं। इन प्रतिमानो मे प्रशिक्षित व्यक्ति प्रभावी सांस्कृतिक प्रतिमानो के विरुद्ध होते हैं। अतएव उनकी सस्कृति को विपरीत संस्कृति कहा जाता है। 'हिप्पी' सस्कृति विपरीत संस्कृति है।

सांस्कृतिक क्षेत्र (Cultural area)--सास्कृतिक क्षेत्र से तात्पर्य उस भौगोलिक क्षेत्र से है जिसमे संस्कृति के समान तत्व अथवा संकुल विशेष रूप से पाए जाते है। हर्सकोविट्ज़ के शब्दो में, "उस क्षेत्र को, जिसमे समान संस्कृतियाँ पाई जाती हैं, एक सास्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।" जैसा हमने अध्ययन किया है, विभिन्न समूहो की संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। विभिन्न क्षेत्र पर रहने वाली जातियाँ भिन्न संस्कृति का विकास करती हैं, क्योंकि उनका पर्यावरण आदि भिन्न होता है। भारत की सस्कृति इंग्लैंड अथवा रूस की संस्कृति से भिन्न है। भारत को हिन्दू सस्कृति का सास्कृतिक क्षेत्र कहा जा सकता है। किसी संस्कृति का फैलाव एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में ही विशेष रूप से होता है। यह सम्भव है कि किसी संस्कृति के कुछ तत्व दूसरी संस्कृतियो मे भी पाए जाते हों, परन्तु कुछेक तत्वो की समानता होते हुए भी प्रत्येक सस्कृति की अपनी प्रमुख विशिष्टताएँ होती हैं जो इसे स्वतन्त्र स्थान प्रदान कर देती हैं। सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर क्षेत्रों का वर्गीकरण सास्कृतिक क्षेत्र है। यह ध्यान रहे कि सास्कृतिक क्षेत्र की कोई निश्चित सीमारेखा नही होती। यद्यपि हिन्दू संस्कृति का क्षेत्र भारत है, तथापि अन्य देशों, यथा इंडोनेशिया, तिब्बत तथा अन्य पूर्वी द्वीपों में भी हिन्दू सस्कृति के कुछेक चिह्न प्रचलित हैं। अतएव यह स्पष्टतया नही कहा जा सकता है कि हिन्दू सस्कृति केवल भारत मे ही विद्यमान है। यह कहना कठिन है कि अमुक स्थान पर एक सांस्कृतिक क्षेत्र समाप्त हो जाता है तथा दूसरा क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। आधुनिक युग में यातायात एव संचार के साधनो के विकास से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अवसरो मे वृद्धि हो गई है जिनके कारण सास्कृतिक क्षेत्र की सीमारेखाएँ धुंधली होती जा रही हैं। अब केवल आदिम जातियों की सस्कृति को ही कुछ हद तक सीमाबद्ध कहा जा सकता है।

३. संस्कृति का उद्विकास
(The Evolution of Culture)

एक शताब्दी से अधिक काल से पुरातत्ववेत्ताओं ने मृत लोगों के उपकरणों

शस्त्रों, मिट्टी के बर्तनों, मूर्तियों, सिक्कों तथा अन्य भौतिक वस्तुओं को खोदा है, ताकि उनके सामाजिक जीवन का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सके। परन्तु ऐसे प्रमाण संस्कृति की उत्पत्ति को उद्घाटित नहीं करते; वे केवल इसकी प्राचीनता को इंगित करते हैं। यदि वे संस्कृति के उद्विकास के बारे में कुछ बतलाते हैं तो वह केवल इसके भौतिक स्वरूप के बारे में होता है। किसी विशिष्ट सांस्कृतिक तत्व की उत्पत्ति की खोज करना कठिन है। यह प्राचीनता की धुंध में लुप्त हो चुकी है, तथापि सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण मूल प्रक्रिया अन्वेपण एवं आविष्कार है। सभी सांस्कृतिक तत्वों (भौतिक एवं अभौतिक) को किसी न किसी समय किसी स्थान पर किसी व्यक्ति द्वारा आविष्कृत किया गया है। परन्तु कोई भी अकेला अन्वेपण संस्कृति के विकास में कोई अधिक योगदान नहीं करता, यह तो पूर्व-अवस्थित संस्कृति में केवल एक वृद्धि होता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि अन्वेपक कोई एक व्यक्ति होता है, परन्तु वह अन्वेषण स्वयं संस्कृति से उत्पन्न शक्तियों का परिणाम होता है। अतएव अन्वेपक अन्वेपण का कारण नहीं होता, वह तो केवल सांस्कृतिक दशाओ का, जो संस्कृति को रूपान्तरित करती हैं, अभिकर्ता होता है।

यद्यपि संस्कृति का विकास एक-एक तत्व द्वारा होता है, संस्कृति वास्तव में अन्योन्याश्रित तत्व-संकुलनों का प्रतिमान है। किसी तत्व का विकास उस सम्पूर्ण संकुलन, जिसका यह अंग है, से स्वतन्त्र रूप में नहीं होता तथा न ही यह अन्य तत्वो से मुक्त होकर क्रियाशील होता है। प्रचलित सास्कृतिक तत्व नए तत्व के अन्वेषण को प्रभावित करते हैं। कोई अन्वेपण (भौतिक अथवा अभौतिक) प्रचलित सांस्कृतिक तत्वों पर एक सुधार के रूप में होता है। यह केवल आंशिक रूप में नया है। यह तो एक नया संश्लेपण होता है। सर्वत्र ऐसा ही पाया जाता है। एक नए गीत का रचयिता अनेक पूर्वरचनाओं से थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर उनको संयुक्त करके एक नए गीत की रचना कर देता है। अन्वेषक जीवन के प्राचीन अथवा प्रचलित ढगों की विविधता से तत्व लेकर उन्हें जीवन के नए ढगों में रूपान्तरित कर देता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्वेपक के स्थान को महत्वहीन कर दिया जाए। भले ही उसका अन्वेपण पूर्वस्थित सांस्कृतिक तत्वो का संश्लेपण अथवा सुधार मात्र हो, तथापि वह इसमें उद्देश्य एवं प्रयत्न का योगदान देता है। किसी नए विचार अथवा नई यांत्रिक विधि की उत्पत्ति के प्रयत्न में वह सांस्कृतिक तत्वो को भिन्न-भिन्न ढंग से संयुक्त करके देखता है जिससे उसमें उपक्रम एवं अध्यवसाय का प्रमाण मिलता है। यदि समाज में अपेक्षित उपक्रमी व्यक्ति न हों तो नया सांस्कृतिक विकास नहीं हो सकेगा तथा समाज दूषित हो जाएगा।

यह भी ध्यान रहे कि सांस्कृतिक विकास के लिए मनुष्यों को कुछ पूर्वस्थित वस्तुओं से असंतुष्टि होनी चाहिए। असंतुष्टि से उत्तेजित होकर वे नए मार्ग की खोज करते हैं। उन्हे यह महसूस करना होगा कि वस्तुएँ जैसी होनी चाहिए, वैसी नही हैं। यदि वे यह अनुभव करें कि रोग, अकाल, युद्ध, राजनीतिक भ्रष्टाचार, बढ़ती हुई कीमतें एवं नैतिक पतन 'ईश्वरेच्छा' हैं जिसे रोका नही जा सकता तो समाज की शक्ति का लोप हो जाएगा। यदि लोग इन सभी दोषो के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं तो इसका यही अभिप्राय होगा कि लोग किसी प्रकार की प्रगति के अयोग्य हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि संस्कृति का उद्विकास उस अर्थ में नहीं होता जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उद्विकासवादी लेखक स्पेंसर, मॉर्गन, टायलर, हड्डन आदि लेखकों ने किया है। संस्कृति सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा जीवित मानव का आविष्कार है। समाज की परम्परा संस्कृति को जीवित रखती है जिसके निर्माण में अनेक पीढ़ियों का योग रहता है। प्रत्येक पीढ़ी में नवीन ज्ञान, विचार, वस्तुएँ आदि निरन्तर संस्कृति को विकसित, परिमार्जित तथा विस्तृत करते रहते हैं। संस्कृति के विकास में केवल इसके आकार में ही परिवर्तन नहीं होता, अपितु इसके गुण में भी परिवर्तन होता है।

संस्कृति का सम्बन्ध मानव-जगत् से है, पशु-जगत् मे इसकी कोई प्रासगिकता नही है। मनुष्य ही सस्कृति का निर्माता है, पशुओ की कोई संस्कृति नहीं होती। इसका कारण यह है कि मनुष्य पशु से भिन्न है। वह विचारो के संसार मे रहता है। वस्तुओं एवं जीवों के प्रति उसकी क्रिया एव प्रतिक्रिया विचारों की शब्दावली में होती है। पशु केवल वर्तमान में ही जीवित हैं, वे भूतकाल से कुछ प्राप्त नही करते और न ही भविष्य के लिए कोई विरासत छोड़ जाते हैं। उनमे भाषा का अभाव है, उनका ज्ञान संवेदना तक प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त शिक्षा तक सीमित है। ऐसी शिक्षा का सचय नही किया जा सकता। केवल मनुष्य ही भूत, वर्तमान एवं भविष्य मे एकसाथ रहता है। उसमे स्वरोच्चारण करने, अनुक्रिया करने, प्रतिनिधित्व करने तथा उद्दीपन अनुक्रिया सम्बन्ध से सीखने की योग्यता होती है। मनुष्य में इन विशेष तत्वों के कारण सस्कृति के विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि पाई जाती है। गत पीढ़ी द्वारा विकसित संस्कृति के मूलांग भावी पीढी के लिए आधारशिला का कार्य करते हैं जो इसमें अपनी ओर से भी कुछ वृद्धि कर देती है। मनुष्य संस्कृति की धारा में जन्म लेता है, जिसमे उसे समाज के सदस्य रूप में जीवित रहने के लिए निरन्तर तैरना होगा।

४. संस्कृति की प्रकारान्तरता

(Variability of Culture)

संस्कृति को हमने समूह द्वारा अर्जित व्यवहार के रूप में परिभाषित किया है। यदि ऐसा है तो जितने समूह होंगे, उतनी ही संस्कृतियाँ होंगी। सस्कृति किसी राष्ट्र, समूह अथवा ऐतिहासिक युग की विशिष्ट अभिव्यक्ति होती है। इसी कारण हम भारतीय संस्कृति, जापान की संस्कृति अथवा प्राचीन संस्कृति की बात करते हैं। तीन राष्ट्रों के सदस्यो के बारे मे एक लोकप्रिय परिहास हमे उनकी विभिन्न संस्कृतियो का परिचय देता है। एक बार तीन विद्यार्थी—जापानी, भारतीय एवं अमेरिकी—न्यागरा जलप्रपात देखने गए। जापानी युवक भव्य दृश्य के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया, जबकि भारतीय विद्यार्थी प्रकृति की इस घटना-वस्तु मे अभिव्यक्त ईश्वर के विषय में दार्शनिक चिंतन करने लगा। इन दोनों पूर्वी विद्यार्थियों के शांत भावों को अमेरिकी विद्यार्थी ने यह पूछकर भंग कर दिया कि 'मित्रो' इस जलप्रपात में घोड़ा-शक्ति की क्या मात्रा है ?'

संस्कृति में प्रकारान्तरता के क्या कारण हैं ? इसका क्या कारण है कि सरल विषयों, यथा लैंगिक सम्बन्धों मे भी विभिन्न समूहों की संस्कृति विभिन्न होती है ? कुछेक समूह एकपत्नीव में विश्वास करते हैं तो अन्य बहुपत्नीत्व अथवा बहुपतित्व की अनुमति देते हैं। कुछ समाजों में वर वधू के घर मे रहने जाता है तो अन्य समूहों में वधू वर के घर में रहने जाती है। कुछ समूहों मे संयुक्त परिवार-प्रथा पाई जाती है तो अन्य मे नवविवाहित दम्पत्ति अपना स्वतन्त्र घर बसा लेते हैं। कुछ जातियो मे चुम्बन सांस्कृतिक शिष्टाचार का अंग है, जबकि अन्य मे यह वर्जित है। कुछ लोग नंगे रहते हैं, जब कि अन्य सिर से पैर तक पूर्णतया वस्त्र पहने रहते हैं। क्रो भारतीय युद्धप्रेमी हैं तो एस्किमों शांतिप्रिय हैं। कुछेक समूह युद्ध को पुरुषत्व का चिह्न मानते हैं तो अन्य इसे बर्बरता समझते हैं। भारत मे अहिंसा एक महान् गुण समझा जाता है, जब कि रूस मे हिंसा रूसी संस्कृति का भाग है। कुछेक समूहो मे स्त्री-पुरुष उन्मुक्त रूप से सड़कों पर घूमते-फिरते हैं, जबकि अन्य समूहों मे पुरुषों एवं स्त्रियों का उन्मुक्त मिलन निंदनीय समझा जाता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि संसार के भिन्न-भिन्न समूहों का आचरण भिन्न होता है तथा इतना ही नही, एक ही स्थान के लोगों का आचरण भिन्न-भिन्न समय मे भिन्न पाया जाता है। इन विभिन्नताओं को केवल विनोदात्मक अथवा अभिप्रेरित कहकर उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। वे गहन रूप से अभिप्रेरित आचरणों को प्रभावित एवं पुन:निर्देशित करते हैं।

सांस्कृतिक प्रकारान्तरता के तत्व (Factors of Cultural Variability)

सांस्कृतिक प्रकारान्तरता का क्या कारण है ? निम्नांकित तत्वों को इसकी व्याख्या-हेतु प्रस्तुत किया गया है—

(i) **ऐतिहासिक संयोग** (Historical accidents)—कुछ प्रथाएँ जिनके उद्गम की खोज करना कठिन है, किसी वैयक्तिक अथवा समूहगत अचेत व्यवहार के कारण उत्पन्न हुई होंगी। किसी व्यक्ति ने अचेत रूप में कोई विशेष कार्य कर दिया होगा; दूसरे लोगों ने उसका अनुकरण किया जो अनुकरण द्वारा प्रसरित होकर एक प्रथा, एक संस्कृति का भाग बन गया।

(ii) **भौगोलिक पर्यावरण** (Geographical environment)—भारत में सर्पपूजा सर्पों की बहुलता के कारण प्रचलित हुई होगी। विवाह की तिथियाँ लोगों के कृषिक व्यवसायो तथा फसल-कटाई के समय के अनुसार नियत की जाती हैं। एस्किमो जाति अपने घर बर्फ से बनाती है, दक्षिणी अफ्रीका मे बुशमैन जाति के लोगों के कोई घर नही होते। न्यू गायना के मनु लोग समुद्र में गड़े हुए बल्लो पर लकड़ी के घर बनाकर रहते हैं। भारतीय कच्ची ईंटों के मकानों में रहते हैं। एस्किमों शील मछली पर निर्वाह करते हैं, भारतीय अन्न खाते हैं। मिट्टी के बर्तनों का उत्पादन उचित प्रकार की मिट्टी की उपलब्धता पर निर्भर है। यूफ्रेट घाटी की मिट्टी छोटे-छोटे मिट्टी के ब्लाक बनाने के अनुकूल थी जिस पर फन्नी लिपि का विकास हुआ। मिस्र मे 'पापाइरस' (Papyrus) नाम का पौधा होता था जो कागज बनाने के लिए प्रयुक्त किया गया। प्रकृति संस्कृति द्वारा प्रयोग हेतु पदार्थ प्रदान करती है। इस तथ्य ने कि संसार के विभिन्न भागों मे संस्कृति के प्रयोग-हेतु

विभिन्न पदार्थ पाए जाते हैं, विभिन्न सस्कृतियों को जन्म दिया है। जिन स्थानों पर विशाल समतल चरागाह भूमि उपलब्ध थी, वहाँ लोगों ने पशुपालन का कार्य किया जिससे उनका जीवन खानाबदोश बना और उन्होंने प्रभावी सैनिक संगठन का विकास किया। उनकी संस्कृति मे पुरुषों का प्रभुत्व था। नदी घाटियों की कुदाली संस्कृति ने देहातों तथा निरुद्योगी जीवन को जन्म दिया। इस प्रकार भौगोलिक पर्यावरण ने विभिन्न सस्कृतियों का आधार तैयार किया है।

(iii) **मानव जीव की गतिशीलता** (Stability of human organism)—मानव जीव की नमनीयता एवं गतिशीलता भी सास्कृतिक विभिन्नता का कारण है। मनुष्य ने सदा स्वय को अपने पर्यावरण, अपने समूह एवं अपने साथियों के साथ अनुकूलित किया है। इस निरन्तर अनुकूलन के कारण सांस्कृतिक आचरण में समय-समय पर परिवर्तन आता रहता है।

(iv) **अन्वेषण एवं खोज** (Inventions and discoveries)—अन्वेषण एवं खोज भी सास्कृतिक विभिन्नता को जन्म देते हैं। पिछले अध्याय में हमने सामाजिक परिवर्तन पर प्रौद्योगिकीय कारको के प्रभाव का वर्णन किया है। उस अध्याय मे हमने बतलाया है कि प्रगति हमारे रीति-रिवाजों, प्रथाओं, विश्वासों एवं विचारो को किस प्रकार प्रभावित करती है। यहाँ पर उन सभी बातों की पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि आविष्कार एव खोज हमारे सांस्कृतिक पर्यावरण पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। जो देश प्रौद्योगिक स्तर पर उन्नत होगा, उसकी संस्कृति पिछड़े हुए देश से भिन्न होगी।

(v) **व्यक्तिगत विशिष्टताएँ** (Individual peculiarities)—कभी-कभी व्यक्तिगत विशिष्टताएँ अथवा वैयक्तिक सनक भी सांस्कृतिक आचरण को प्रभावित करती हैं। 'गांधी टोपी' को भारतीय संस्कृति में स्थान व्यक्तिगत विशिष्टता के कारण प्राप्त हुआ है। प्रायः व्यक्ति के चेतन प्रयत्न आचरण की प्रचलित विधियों को परिवर्तित कर देते हैं। इन प्रयत्नों का कारण कुछ पुरानी कुरीतियों को दूर करना अथवा कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक कारण भी हो सकता है। भारतीय मुसलमानों में 'फैज' टोपी के स्थान पर 'जिन्नाह' टोपी का प्रयोग देश की आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं द्वारा सुगम बना दिया गया। खादी धारण करने का कारण भी आर्थिक है।

(vi) **उत्पादन के ढंगों में परिवर्तन** (Change in the modes of production)—कार्ल मार्क्स का विचार था कि उत्पादन का ढग लोगों की संस्कृति है; उनकी कला, नैतिकता, प्रथाओं, कानूनो, साहित्य आदि का एक मात्र निर्धारक है। उत्पादन-विधि में कोई भी परिवर्तन संस्कृति को प्रभावित करता है। पूँजीवादी देशों की संस्कृति समाजवादी देशों की संस्कृति से भिन्न है।

(vii) **प्रभावी सांस्कृतिक लय** (Dominant cultural themes)—मारिस आपलर (Maurice Opler) का विचार है कि अभिरुचि का केन्द्रीय बिन्दु अथवा प्रभावी लय संस्कृति का गतिशील तत्व है। स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषों की

श्रेष्ठता प्रमुख लय है जिस पर भारतीय संस्कृति आधारित है। मिस्र 'नरक' के लय पर संगठित था। अमेरिकी समाज उन्मुक्त व्यापार एवं समानता के लयो पर आधारित है। रूसी संस्कृति का प्रभावी लय मार्क्सवाद है।

जबकि उपर्युक्त तत्व संस्कृतियों की विभिन्नता के कारणो की व्याख्या करते हैं, वे इस बात को भी इंगित करते हैं कि विश्वव्यापी संस्कृति का आदर्श अनुभवगम्य नही है, यद्यपि सभी समाजों मे समान प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं, तथापि वे इन आवश्यकताओ को विभिन्न पर्यावरणात्मक स्थितियो के कारण विभिन्न प्रकार से सतुष्ट करते रहेंगे।

यह भी कह देना वांछनीय होगा कि यद्यपि संस्कृतियो में भिन्नताएँ होती हैं, तथापि उनमें कुछेक सार्वभौमिकताएं भी पाई जाती हैं। संस्कृति का कोई रूप क्यों न हो, प्रत्येक संस्कृति मे लोग प्यार करते हैं, झगड़ते हैं, मिलते-जुलते हैं तथा प्रजनन करते हैं। केवल कुछ नगण्य समाजो मे ही लोग अविवाहित रहते है। मुरडाक (Murdock) ने सभी मानवी संस्कृतियो के अध्ययन के आधार पर इन सार्वभौमिकताओं की सूची तैयार की है। इन सार्वभौमिकताओ की अवस्थिति उनकी उपयोगिता को प्रकट करती है तथा यह भी दर्शाती है कि कुछेक क्रियाएं ऐसी हैं जिनकी मनुष्य को आवश्यकता होती है एवं जिनका वह अभ्यस्त होता है।

५. संस्कृति के कार्य

(The Functions of Culture)

संस्कृति के कार्यों का वर्णन दो शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है—(i) व्यक्ति के लिए; एवं (ii) समूह के लिए।

व्यक्ति के लिए महत्व (Importance to the Individual)

व्यक्ति के लिए संस्कृति का अपार मूल्य है। यह उसके सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। व्यक्ति के लिए संस्कृति के निम्नलिखित लाभों का वर्णन किया जा सकता है—

(i) **संस्कृति मनुष्य को मानव बना देती है (Culture makes man a human being)**—*संस्कृति मनुष्य को मानव बना देती है।* यह उसके आचरण को नियमित करती है तथा उसे समूह-जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करती है। यह उसे जीवन का पूर्ण 'डिजाइन' प्रदान करती है। यह बतलाती है कि उसे किस प्रकार का भोजन खाना चाहिए, किस प्रकार के वस्त्र पहनने चाहिए, अपने साथियों से कैसा व्यवहार करना चाहिए, लोगो से उसे कैसे बातचीत करनी चाहिए तथा उसे दूसरो के साथ कैसे सहयोग अथवा प्रतियोगिता करनी चाहिए। संस्कृति से हीन व्यक्ति पशु के समान है। मानव कहलाने के लिए उसे सांस्कृतिक धारा मे प्रवाहित होना चाहिए। जिस प्रकार मछली के लिए जल मे रहना आवश्यक है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए सांस्कृतिक संरचना मे रहना स्वाभाविक एवं आवश्यक है। संक्षेप में, सामाजिक जीवन व्यतीत करने हेतु अपेक्षित गुणों को

मनुष्य अपनी संस्कृति से प्राप्त करता है। इसके बिना वह एकान्तिक हो जाता है तथा उसकी संपूर्ण शक्ति आरम्भिक आवश्यकताओं की संतुष्टि में ही व्यय हो जाएगी।

(ii) **संस्कृति जटिल स्थितियों का समाधान प्रस्तुत करती है** (Culture provides solutions for complicated situations)—द्वितीय, संस्कृति मनुष्य को जटिल स्थितियों के समाधान-हेतु व्यवहार का ढंग प्रस्तुत करती है। यह मनुष्य को इतना अधिक प्रभावित किए रहती है कि उसे स्वयं को सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप रखने में किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। उसके कार्य स्वचालित बन जाते हैं। उदाहरणतया, टिकट की खिड़की पर भीड़ होने की दशा में 'क्यू' बनना, सड़क पर बायीं ओर चलना आदि। संस्कृति के अभाव में उसे सरलतम स्थितियों में भी अपार कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उसे क्या भोजन खाना चाहिए, जैसे साधारण मामलों में भी उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यह जानने के लिए कि उसे क्या भोजन खाना चाहिए, स्वयं को विष देकर 'प्रयत्न एवं भूल' की विधि अपनाने की आवश्यकता नहीं है। उसके सामने प्रतिमानों का संग्रह तैयार होता है जिसे उसे केवल सीखना एवं पालन करना होता है। हार्टन एव हंट (Horton and Hunt) ने लिखा है, "मनुष्य जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु के पश्चात् तक संस्कृति का बन्दी होता है। उसकी संस्कृति उसके व्यवहार को निर्देशित एवं सीमित करती है, उसके लक्ष्यों का परिसीमन करती है एव उसके पुरस्कारों का मापन करती है। उसकी संस्कृति उसके मन में घर बना लेती है तथा उसकी दृष्टि को बन्द कर देती है, ताकि वह केवल वही देख सके जो उससे अपेक्षित है, वही स्वप्न ले सके जिसकी उससे प्रत्याशा है एव वही भूख अनुभव करे जिसके लिए उसे प्रशिक्षित किया गया है। वह यह कल्पना भले ही करे कि वह प्रवरण कर रहा है, अथवा वह अपने भाग्य का स्वयं शासक है, परन्तु सामान्य व्यक्ति की रुचियाँ सदैव उन सभावितओं, जिन्हें संस्कृति सहन करती है, के क्षेत्र से होती हैं।"[1]

(iii) **संस्कृति कुछ परिस्थितियों का परम्परागत निर्वचन प्रस्तुत करती है** (Culture provides traditional interpretations to certain situations)—अन्तिमतया, संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति अनेक परिस्थितियों के परम्परागत निर्वचन से परिचित हो जाता है जिसके अनुसार वह अपने व्यवहार को निश्चित करता है। यदि बिल्ली उसका रास्ता काट जाए तो वह अपनी यात्रा को स्थगित कर देता है। यदि उसे घर की छत पर उल्लू दिखाई दे तो यह अपशकुन होता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि ऐसे परम्परागत निर्वचन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ संस्कृतियाँ उल्लू को बुद्धि का, न कि मूर्खता का प्रतीक समझती हैं।

समूह के लिए (For the Group)

(i) **संस्कृति सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर रखती है** (Culture keeps the social relationship intact)—संस्कृति न केवल व्यक्ति, अपितु समूह के लिए भी महत्वपूर्ण है। संस्कृति के अभाव में किसी प्रकार का समूह-जीवन सम्भव नहीं

1. Horton and Hunt, Sociology, p 73.

है। संस्कृति मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना करती है। यह लोगों के व्यवहार को नियमित करके तथा क्षुधाशमन, निवास एवं कामभावना-सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताओं की संतुष्टि द्वारा समूह-जीवन को स्थिर रखने में समर्थ होती है। वस्तुत: यदि सांस्कृतिक विनिमय न होते तो मनुष्य का जीवन एकाकी, क्षुद्र एवं पशुवत् होता। मनुष्य समाज में व्यवहार करते समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनका व्यवहार निंदनीय न हो। तर्कहीन आचरण एवं संसूच्यता पर सस्कृति ने अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। सांस्कृतिक यंत्र, यथा शिक्षण अथवा वैज्ञानिक प्रशिक्षण मनुष्य द्वारा अनुत्तरदायी अथवा तर्कहीन ढंग से कार्य करने की सम्भावनाओं को कम कर देते हैं। समूह के सदस्यों में यद्यपि चेतना की समानता पाई जाती है, तथापि वे जीवन की उत्तम वस्तुओं एव श्रेष्ठ प्रस्थिति को प्राप्त करने हेतु निरन्तर प्रतियोगिता करते रहते हैं। इस प्रतियोगिता मे संस्कृति उनको सीमाओ के भीतर रखती है। इस प्रकार, संस्कृति सामाजिक सम्बन्धों को स्थिर रखती है। समूह की एकता संस्कृति की आधारशिला पर निर्भर है।

(ii) सस्कृति व्यक्ति के दृष्टिकोण को विस्तृत कर देती है (Culture broadens the vision of the individual)—द्वितीय, संस्कृति ने व्यक्तियों के सहयोग-हेतु नियमों की व्यवस्था द्वारा व्यक्ति को नई दृष्टि प्रदान की है। वह न केवल स्वयं, अपितु दूसरो के बारे मे भी सोचता है। संस्कृति उसे स्वयं को एक विशाल समूह का अंग समझने का प्रशिक्षण देती है। यह उसे परिवार, राज्य, राष्ट्र एवं वर्ग की अवधारणाओं से परिचित कराती है तथा समन्वय एव श्रम-विभाजन को संभव बनाती है। यह उसमें सामूहिक भावना उत्पन्न करती है।

(iii) संस्कृति नई आवश्यकताओं को उत्पन्न करती है (Culture creates new needs)—अंतिम, सस्कृति नई आवश्यकताओं एवं नयी प्रेरणाओं, यथा ज्ञान की पिपासा, को उत्पन्न करती है तथा उनकी संतुष्टि की व्यवस्था भी करती है। यह समूह के सदस्यों के सौंदर्यात्मक, नैतिक एवं धार्मिक हितो की सतुष्टि करती है। इस प्रकार, समूह संस्कृति का ऋणी होता है। सास्कृतिक मूल्यों मे कोई परिवर्तन व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं समूह की संरचना को व्यापक रूप से प्रभावित करेगा।

६. सांस्कृतिक प्रसार
(Cultural Diffusion)

सांस्कृतिक प्रसार वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समाज में आविष्कृत अथवा शोधित सांस्कृतिक तत्वों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अन्य समाजों में विस्तार होता है। यद्यपि किसी विशिष्ट सास्कृतिक तत्व के ठीक उद्भव की खोज करना कठिन है, तथापि किसी तत्व के प्रसार को भलीभाँति खोजा जा सकता है। ऐतिहासिकतया संस्कृति के उद्गम की अपेक्षा इसके विस्तार के बारे में जानकारी उपलब्ध है।

इतिहास में कुछ समाज ऐसे केन्द्र रहे हैं जहां से सांस्कृतिक तत्वों का अन्य समाजों में विस्तार हुआ है। प्रसार के ये केन्द्र अधिक उन्नत समाज थे जो

आविष्कार एव खोज द्वारा शीघ्र उन्नति कर गए। मिस्र अनेक शताब्दियो तक सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा जहाँ से कला एव राजनीतिक संगठन सम्बन्धी अनेक सांस्कृतिक तत्व यूरोप के उत्तर-पूर्व तथा पूर्व में भारत तक फैले। तदुपरांत, रोम सांस्कृतिक केन्द्र बना जहाँ से रोमन विधि यूरोप के अनेक देशों में फैली। एशिया मे चीन का मध्ययुगीन साम्राज्य प्रभावी सास्कृतिक केन्द्र था जहाँ से संस्कृति एशिया की भूमि पर फैली। चौदहवी शताब्दी के लगभग पश्चिमी यूरोप प्रभावी सास्कृतिक केन्द्र बना। अब अमेरिका अपनी संस्कृति दूसरे देशो को निर्यात कर रहा है।

परन्तु यह नही समझना चाहिए कि सांस्कृतिक प्रसार के केन्द्र सदा वे ही स्थान रहे हैं जो सास्कृतिक विकास के स्थल थे। कुछेक दशाओं मे ऐसे केन्द्र सांस्कृतिक विकास के केन्द्र न होकर केवल सास्कृतिक विनिमय के स्थान थे। इस प्रकार, प्राचीन यूनान सस्कृति का उद्भवकर्ता न होकर केवल इसका व्यापारी था। विभिन्न देशो के लोग ग्रीक नगरो में वस्तुओं के विनिमय के लिए एकत्रित होते थे जिसके परिणामस्वरूप उनके बीच सास्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता था। यूनानियों ने सगठन की नगर-राज्य-व्यवस्था को विकसित करने में अनेक सस्कृतियो से सामग्री प्राप्त की। यूनान से सांस्कृतिक प्रणालियाँ पश्चिम मे फैली। इसी प्रकार, इंग्लैंड ने वैनीशियन, पुर्तगाली एव स्पेनी लोगो से जो जर्मनी, बाल्टिक एवं स्कैण्डिनेवियन लोगों से वस्तुओं का विनिमय करने के लिए आते थे, विभिन्न सांस्कृतिक तत्व ग्रहण किए।

सास्कृतिक रूप मे व्यापारिक केन्द्र कालान्तर मे सांस्कृतिक विकास का केन्द्र बन जाता है। विभिन्न संस्कृतियों के गुणो के विलय एवं मिलन द्वारा यह नए तत्वो अथवा सकुलों को जन्म देता है जिनमें विचित्र नवीनता होती है। इंग्लैंड दीर्घकाल तक सास्कृतिक व्यापारिक स्थल रहा जिससे यह बाद मे सांस्कृतिक विकास का महान् केन्द्र बन गया।

अनेक तत्व संस्कृति के प्रसार को प्रभावित करते हैं। प्रथम तत्व भौगोलिक एकान्तिकता है। यातायात के समुचित साधन न होने के कारण लोग दूसरे देशो की संस्कृति को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाते हैं। उच्च स्थलों पर रहने वाले लोग अपने जीवन-ढगों में अधिक रूढिवादी होते हैं जिसका कारण उनका समतलीय लोगों से एकान्तीकरण दूर हो गया है। अब सांस्कृतिक आदान-प्रदान मे सबसे शक्तिशाली बाधा सामाजिक एकान्तीकरण, एक समूह द्वारा दूसरे समूह से ग्रहण करने की अनिच्छा है। ऐसा समूह देशीय संस्कृति का द्वीप बन जाता है जिस पर पड़ोसी लोगों के सास्कृतिक विकासों का कोई प्रभाव नही पड़ता। कुछ उदाहरणों में सास्कृतिक द्वीप एक विशालतर सांस्कृतिक द्वीप के अदर अवस्थित होता है। इस प्रकार, हिंदू लोग अपने सांस्कृतिक एकान्तीकरण का युक्तिकरण धार्मिक आधारों पर कर सकते हैं अथवा ब्राह्मण जाति अपनी कल्पित जैविक श्रेष्ठता के आधार पर अपने जीवन-ढंगों को दूसरी जातियों से विलग रखने में अडी रह सकती है। कभी-कभी लोग विदेशी संस्कृति के उस रूप को ग्रहण करने से

इंकार कर देते हैं जिसकी स्वीकृति उन्हें अपने प्रचलित नैतिक प्रतिमानों एवं सामाजिक मूल्यों में नहीं मिलती। संक्षेप में, निम्नलिखित तत्व प्रसार की क्रिया को प्रभावित करते हैं—

(i) सम्बन्ध एवं संचरण व्यवस्था;
(ii) नए तत्वों को ग्रहण करने की इच्छा एवं आवश्यकता;
(iii) प्राचीन तत्वों से प्रतियोगिता;
(iv) नए तत्व प्रदान करने वालों के प्रति आदर एवं मान।

ग्रैबनर (Graebner), एंकरमान (Ankermann) एवं सेह्मिट (Sch-int) जैसे जर्मन विद्वानों ने प्रसार के सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने की दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनके अनुसार, संस्कृति का विकास किसी स्थान-विशेष से नहीं हुआ, जैसा कि ब्रिटिश प्रसारवादी सोचते थे, अपितु विभिन्न स्थानों से हुआ है।

यह भी ध्यान रखा जाए कि प्रत्येक समाज एक सांस्कृतिक द्वीप होता है, जिसकी अपनी जीवन-शैली होती है, और जिसे यह दूसरी संस्कृतियों के प्रहार से सुरक्षित रखना चाहता है। संस्कृति, जैसा कि पहले बतलाया गया है, किसी सामाजिक समूह की एकता एवं दृढता को स्थिर रखने में एक महत्वपूर्ण तत्व है। यह व्यक्ति के हित को सामूहिक कल्याण के अधीन बनाकर समूह को उज्जीवित रहने मे सहायता देती है। परन्तु जहाँ यह समूह को संगठित रहने में सहायता देती है, वहाँ यह दूसरी ओर अन्य संस्कृतियों से तत्वों के ग्रहण को प्रतिरोधित भी करती है। अतएव ऐसी संस्कृति जो इस प्रतिरोध पर डटी रहती है तथा जो अपनी प्राचीन सांस्कृतिक क्रियाओं से चिपकी रहती है, कालान्तर मे अपनी गतिशीलता खो बैठती है तथा संपदा के स्थान पर भार बन जाती है।

यह कहने की आवश्यकता नही है कि जब कोई समाज दूसरी संस्कृतियों के तत्वों को ग्रहण करता है तो यह केवल उन्ही तत्वों को जो इसकी अपनी संस्कृति के उपयुक्त हों, अपनाता है। दूसरे शब्दों में, ग्राह्यता प्रवरणात्मक होती है; यह कभी भी अव्यवस्थित प्रक्रिया नही होती। ग्रहणकारी समूह अपनी संस्कृति के सापेक्ष में ग्रहणीय तत्व की उपयोगिता को निर्धारित करता है तथा यह उस तत्व को तभी अपनाएगा जब यह लाभकारी हो। कभी-कभी, ग्राह्य तत्व को ग्रहणकारी समाज की संस्कृति में नया प्रयोग एवं नया स्थान प्रदान कर दिया जाता है। कोई समूह किस सीमा तक दूसरी संस्कृतियों से उनके तत्वों को ग्रहण करता है, यह उस समूह की संजाति-केन्द्रीयता तथा ग्रहणीय तत्व की उसकी संस्कृति में संगतता पर निर्भर है।

प्रश्न

१. आप संस्कृति से क्या अर्थ समझते हैं ? पूर्णतया व्याख्या कीजिए।

२. संस्कृति तथा सभ्यता के बीच अंतरों को स्पष्ट कीजिए तथा दोनों के सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

३. "संस्कृति वह है जो हम हैं, सभ्यता वह है जो हमारे पास है।"—इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

४. "संस्कृति एवं सभ्यता अन्योन्याश्रित एवं अन्तर्क्रियाशील हैं।"—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. सांस्कृतिक प्रकारान्तरता का क्या अर्थ है ? इसके विभिन्न कारकों का उल्लेख कीजिए।

६. व्यक्ति तथा समाज के लिए संस्कृति के महत्व का वर्णन कीजिए।

७. सांस्कृतिक प्रसार पर एक टिप्पणी लिखिए।

अध्याय ४०

व्यक्तित्व

[PERSONALITY]

मनुष्य व्यक्ति के रूप में जन्म नहीं लेता। जन्म के समय वह केवल एक शिशु है जिसमें व्यक्ति बनने की क्षमता होती है। जन्म के पश्चात् वह अन्य मानव जीवों के संग मिलता है जिससे उस पर उनकी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। विविध अनुभवों एवं सामाजिक प्रभावों के फलस्वरूप वह व्यक्ति बन जाता है और उसमें व्यक्तित्व का विकास हो जाता है। इस अध्याय में हमारा उद्देश्य व्यक्तित्व के स्वरूप को चित्रित करना तथा व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति एवं सामाजिक अनुभव की भूमिका को प्रदर्शित करना है। चूंकि समाजीकरण व्यक्तित्व के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करता है जिसकी हमने पूर्व ही व्याख्या कर दी है, अतएव वर्तमान व्याख्या संक्षिप्त होगी।

१. व्यक्तित्व का अर्थ

(The Meaning of Personality)

अंग्रेजी का शब्द 'personality' लैटिन भाषा के 'persona' शब्द से विकसित हुआ है जिसका अर्थ 'नकाब' (mask) है। यह 'persona' शब्द ग्रीक शब्द 'prosopon' से लिया गया प्रतीत होता है जिसका अर्थ है 'आकृति' अथवा 'चेहरे का भाव।' इस शब्दार्थ के आधार पर 'व्यक्तित्व' का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूप से है, अर्थात् जैसा हम उसे देखते हैं। परन्तु व्यक्तित्व के इस अर्थ से विद्वान् सहमत नहीं हैं। आलपोर्ट (Allport) का कथन है कि व्यक्ति की बाह्य स्थिति तथा व्यक्तित्व एक नहीं हैं, क्योंकि उसकी बाह्य स्थिति उसके व्यक्तित्व से पूर्णतया भिन्न हो सकती है। उसके अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति के अन्दर उन मनोभौतिक पद्धतियों का एक गतिशील संगठन है जो उस व्यक्ति का उसके पर्यावरण से एक अपूर्व समंजन को निर्धारित करते हैं।"[1] किम्बल यंग (Kimball Young) के शब्दों में, "व्यक्तित्व एक व्यक्ति की आदतों, मनोवृत्तियों, लक्षणों तथा विचारों का एक ऐसा प्रतिमानित योग है जो बाहरी तौर पर तो विशिष्ट एवं सामान्य कार्यों व स्थितियों के रूप मे तथा आन्तरिक रूप से उसकी आत्म-चेतना, अहं की धारणा, विचारों, मूल्यों तथा उद्देश्यो के चारों ओर संगठित होता है।"[2] पार्क एव बर्गेस

1. "Personality is a person's pattern of habits, attitudes, and traits which determine his adjustment to his environment."—Allport, G. W., *Personality*, p. 48.

2. "Personality is a........ patterned body of habits, traits, attitudes and ideas of an individual, as these are organised externally into roles and statuses, and as they relate internally to motivation, goals, and various aspects of selfhood."—Young, Kimball, *Social Psychology*, p. 58.

(Park and Burgess) के अनुसार, "व्यक्तित्व उन लक्षणों का योग एवं संगठन है जो समूह मे व्यक्ति की भूमिका को निर्धारित करते हैं।"[1] हर्बर्ट ए० ब्लाख (Herbert A. Bloch) के अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति की आदतों, मनोवृत्तियों, मूल्यों, संवेदनात्मक लक्षणो का विशिष्ट संगठन है जो व्यक्ति के आचरण को स्थिरता प्रदान करता है।"[2] आर्नल्ड डब्ल्यू० ग्रीन (Arnold W. Green) के अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति के मूल्यो (उसके प्रयास के उद्देश्यो, यथा विचारो, मान, सत्ता एवं लिंग) तथा उसके अभौतिक लक्षणों (क्रिया एवं प्रतिक्रिया के उसके स्वभावगत ढंग) का समूह है।"[3] लिंटन (Linton) के अनुसार, "व्यक्तित्व में मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं और स्थितियों का सारा संगठित समूह समा जाता है जो व्यक्ति से सम्बन्धित है।" मैकाइवर (MacIver) के अनुसार, "व्यक्तित्व, जैसा हम समझते हैं, वह 'सब कुछ' है जिससे व्यक्ति बनता है और जिस 'सब कुछ' को वह अनुभव कर चुका है, जहाँ तक उसको एक इकाई के रूप में समाविष्ट किया जा सकता है।"[4] लुंडबर्ग (Lündberg) के अनुसार, "शब्द 'व्यक्तित्व' किसी व्यक्ति के आचरण की विशेषताओं, उसकी आदतों, मनोवृत्तियों तथा अन्य सामाजिक लक्षणों को सूचित करता है।"[5] आगबर्न (Ogburn) के अनुसार, "व्यक्तित्व का अर्थ है मानव जीव के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आचरण का समाकलन जो क्रिया की आदतों, अनुभूति, मनोवृत्तियों एवं मतों द्वारा अभिव्यक्त होता है।"[6] डेविस (Davis) के अनुसार, "व्यक्तित्व एक मनोवैज्ञानिक परिघटना है जो न जैविक है और न सामाजिक, अपितु दोनों के योग की उत्पत्ति है।"[7] एंडरसन एवं पार्कर (Anderson and Parker) के अनुसार, "व्यक्तित्व आदतों, मनोवृत्तियों एवं लक्षणों का योग है जो समाजीकरण का परिणाम है तथा दूसरों के साथ हमारे सम्बन्धों को प्रभावित करता

1. "Personality is the sum and organization of those traits which determine the role of the individual in the group."—Park and Burgess.
2. "Personality is the characteristic organization of the individual's habits, attitudes, values, emotional characteristics........which imparts consistency to the behaviour of the individual."—Herbert A. Bloch.
3. [illegible]
4. "Personality, as we understand it, is all that an individual is and has experienced for so as this 'all' can be comprehended as unity." —MacIver, *Society*, p. 56.
5. "The term personality refers to the habits, attitudes, and other social traits that are characteristic of a given individual's behaviour." —Lundberg and Others, *Sociology*, p 205
6. "Prrsonality is the integration of the social psychological behaviour of the human being, represented by habits of action and feeling, attitudes and opinions."—Ogburn, *op. cit.*, p. 191.
7. "Personality is a psychic phenomenon which is neither organic nor social but an emergent from a combination of the two"—Davis Kingsley, *op, cit*., p. 236.

है।"[1] एन० एल० मन (N. L. Munn) के अनुसार, "व्यक्तित्व को एक व्यक्ति की संरचना, व्यावहारिक ढंगों, रुचियों, अभिवृत्तियों, समर्थताओं, योग्यताओं एवं अभिरुचियों की सर्वाधिक विशिष्ट सम्पूर्णता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[2] मार्टन प्रिंस (Morton Prince) के अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति की सम्पूर्ण जैविक-नैसर्गिक रुचियों, भावनाओं, प्रवृत्तियों एवं वृत्तियों तथा अनुभव द्वारा अर्जित सभी प्रवृत्तियों एवं रुचियों का सम्पूर्ण योग है।"[3] यंगर (Younger) के अनुसार, "व्यक्तित्व व्यक्ति के आचरण की प्रदत्त प्रवृत्ति-व्यवस्थासहित सम्पूर्णता है जो स्थितियों के क्रम से अंतर्क्रिया करती है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्तित्व के अध्ययन के दो प्रमुख उपागम हैं—(i) मनोवैज्ञानिक; (ii) समाजशास्त्रीय। यद्यपि एक तीसरा उपागम, प्राणिशास्त्रीय उपागम भी है, परन्तु व्यक्तित्व की प्राणिशास्त्रीय परिभाषा जो व्यक्ति के केवल जैविक-शारीरिक तत्वों को ही समाविष्ट करती है, अपर्याप्त है। मनोवैज्ञानिक उपागम के अन्तर्गत व्यक्ति-विशेष की विशिष्ट शैली को व्यक्तित्व कहा जाता है। यह शैली उसकी मानसिक प्रवृत्तियों, संभावों, संवेगो एवं भावनाओं के विशिष्ट संगठन द्वारा निर्धारित होती है। मनोवैज्ञानिक उपागम व्यक्तित्व के विघटन की परिघटना को तथा व्यक्तित्व के विकास में इच्छाओं, मानसिक संघर्ष, दमन एवं उन्नयन (sublimation) की भूमिका को समझने में सहायता करता है। मनोवैज्ञानिकों के विचारानुसार, बच्चा सदैव से ही व्यक्तित्व लिए होता है। वह कुछ रुचियों, अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं को लेकर जन्म लेता है। कुछ बच्चे शैशव-काल से चंचल होते हैं तो कुछ शांत। दूसरी ओर, समाजशास्त्रीय उपागम व्यक्तित्व को, समूह के भीतर व्यक्ति की प्रस्थिति के संदर्भ में मनुष्य-समूह के सदस्य-रूप में अपनी भूमिका के बारे में क्या सोचता है, व्याख्या करता है। दूसरे व्यक्ति हमारे बारे में क्या सोचते हैं, हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। इस प्रकार, समाजशास्त्रीय अर्थ में व्यक्तित्व व्यक्ति के विचारों, अभिवृत्तियों एवं मूल्यों का योग है जो समाज में उसकी भूमिका का निर्धारण करते हैं एवं उसके चरित्र का अभिन्न अंग बन जाते हैं। व्यक्तित्व सामूहिक जीवन में योगदान के फलस्वरूप अर्जित किया जाता है। समूह के सदस्य-रूप में व्यक्ति कुछ आचरण, विधियों एवं प्रतीका-

1. "Personality is the totality of habits, attuitudes, and traits that result from socialization and characterizes us in our relationships with others."—Anderson and Parker, *Society*, p. 71.
2. "Personality may be defined as the most characteristic integration of an individual's structure, modes of behaviour, interests, attitudes, capacities, abilities and aptitudes."—Munn, N. L., *Psychology*, p. 569.
3. "[illegible] biological innate dispositions, [illegible] acquired [illegible] Morton, [illegible]
4. "Personality is the totality of behaviour of an individual with a given tendency system interacting with a sequence of situations." —Quoted by Horton and Hunt, *Sociology*, p. 90.

त्मक कौशल को सीखता है जो उसके विचारों, मनोवृत्तियों एवं सामाजिक मूल्यों को निर्धारित करते हैं। ये विचार, मनोवृत्तियाँ एवं मूल्य जो एक व्यक्ति के होते हैं, उसके व्यक्तित्व को समाविष्ट करते हैं। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व बाह्य संसार के बारे में एक वयस्क की आन्तरिक रचना को इंगित करता है। यह अंतर्क्रिया की प्रक्रियाओं का परिणाम है जिनसे सामाजिक समूहों एवं समुदायों में आचारात्मक मूल्यांकन, विश्वास एवं आचरण के मानकों की स्थापना होती है। डीवर (Dever) ने लिखा है, "मनोवैज्ञानिक एवं सामान्य रूप से 'व्यक्तित्व' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है, परन्तु सबसे अधिक व्यापक और संतोषजनक परिभाषा के अनुसार व्यक्तित्व व्यक्ति के उस शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक गुणों का सुसंगठित एवं गतिशील संगठन है जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ रोज के सामाजिक जीवन के आदान-प्रदान में एक-दूसरे के प्रति प्रदर्शित करते हैं।"[1]

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि—

(i) व्यक्तित्व का सम्बन्ध केवल शारीरिक संरचना से नहीं है।
(ii) व्यक्तित्व एक अविभाज्य इकाई है।
(iii) व्यक्तित्व न अच्छा और न बुरा होता है।
(iv) व्यक्तित्व कोई रहस्यपूर्ण परिघटना नहीं है।
(v) प्रत्येक व्यक्तित्व विचित्र होता है।
(vi) व्यक्तित्व व्यक्ति के स्थिर गुणों को निर्दिष्ट करता है।
(vii) व्यक्तित्व अर्जित किया जाता है।
(viii) व्यक्ति सामाजिक अंतर्क्रिया से प्रभावित होता है।

व्यक्तित्व की संरचना के बाह्य एवं आन्तरिक तत्व निम्न प्रकार हैं—शारीरिक बनावट व स्वास्थ्य, बुद्धि एवं मेधा, स्नायुमंडल, अन्त:स्रावी ग्रंथियाँ, प्रत्यक्ष बोध कल्पना तथा स्मृति, मनोवृत्तियाँ, प्रेरणाएँ, स्थायीभाव, आदर्श तथा मूल्य, 'स्व' या अहं, प्रस्थिति तथा भूमिका।

व्यक्तित्व के प्रकार (Types of personality)—व्यक्तित्व को प्रकारों मे वर्गीगृत करने के कुछ प्रयत्न किए गए हैं। ईसापूर्व पाँचवी शताब्दी में ग्रीक चिकित्सक हिप्पोक्रेटस (Hippocrates) ने मानव प्राणियों को चार प्रकारों मे विभक्त किया—तेजस्वी (sanguine), विषादी (melancholic), मुर्दादिल (phlegmatic) एवं क्रोधी (choloric)। स्विस मनोविश्लेषणशास्त्री कार्ल गुस्ताफ जुंग (Carl Gustac Jung) ने दो प्रमुख प्रकारों–अन्तर्मुखी (*introvert*) तथा बहिर्मुखी (extrovert) में विभेदित किया। अन्तर्मुखी व्यक्ति स्वयं अपनी आन्तरिक अनुभूतियों एवं विचारों मे लीन रहता है। वह अपनी ही कल्पनाओं मे

1. "Personality is a term used in several senses, both popularly and [illegible] satisfactory being the

खोया रहता है। वह आत्मकेन्द्रित होता है। बहिर्मुखी बाह्य जगत् के कार्यों में सक्रिय भाग लेता है। वह अत्यन्त व्यावहारिक होता है। इन दो प्रकारों के मध्य में एक तीसरा प्रकार उभयमुखी (ambivert) भी होता है। उभयमुखी व्यक्ति में अन्तर्मुखी तथा बाह्यमुखी दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुण पाए जाते हैं। अधिकांश लोग उभयमुखी होते हैं। जर्मन मनोविज्ञानशास्त्री अर्नेस्ट क्रेचमर (Ernest Kretchmer) के अनुसार, बहिर्मुखी व्यक्तित्व वाला व्यक्ति साहसी एवं शक्तिशाली होता है, जबकि अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का व्यक्ति लम्बा एवं दुबला-पतला होता है। प्रथम प्रकार के व्यक्तियों को उसने 'pykrice' तथा दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को 'leptsome' कहा। डब्ल्यू० आई० थामस (W. I. Thomas) एवं फ्लोरियन ज्नैकी (Florian Znaniecki) ने स्वेच्छाचारी (Bohemian), असंस्कृत (Philistine) एवं सृजनात्मक (Creative) में विभेदीकृत किया। शेल्डन (Sheldon), टुकर (Tucker) एवं स्टेवेन्स (Stavens) ने कटिप्रवण (Endomorphic), अस्थिपेशीप्रवण (Mesomorphic), तथा आयतास्थिप्रवण (Ectomorphic) में व्यक्तियों को वर्गीकृत किया।

२. व्यक्तित्व के निर्धारक

(Determinants of Personality)

व्यक्तित्व चार तत्वों के योग का परिणाम है। ये तत्व हैं—भौतिक पर्यावरण, आनुवंशिकता, संस्कृति तथा विशिष्ट अनुभव। अब हम प्रत्येक तत्व का वर्णन करेंगे।

व्यक्तित्व एवं पर्यावरण (Personality and environment)—पिछले अध्याय में हमने संस्कृति पर भौगोलिक पर्यावरण के प्रभाव का उल्लेख किया है तथा बतलाया है कि भौगोलिक पर्यावरण सांस्कृतिक प्रकारान्तरता को किस प्रकार निर्धारित करता है। एस्किमो जाति की संस्कृति भारतीयों की संस्कृति से भिन्न है, क्योंकि दोनों की भौगोलिक अवस्थाओं में अन्तर है। व्यक्ति के विचारों एवं मनोवृत्तियों का निर्माण उसके भौतिक पर्यावरण के अनुसार होता है। चूंकि भौगोलिक पर्यावरण संस्कृति को प्रभावित करता है तथा संस्कृति व्यक्तित्व को, अतएव व्यक्तित्व एवं भौगोलिक पर्यावरण का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व अरस्तू ने कहा था कि उत्तरी यूरोप में रहने वाले लोग शीत जलवायु के कारण उत्साही परन्तु कम बुद्धिशील एवं कुशल होते हैं, जबकि दूसरी ओर, एशिया के निवासी बुद्धिमान एवं अन्वेषक परन्तु कम उत्साही हैं। अठारहवीं शताब्दी में मांटेस्क्यू (Montesquieu) ने कहा था कि शीत जलवायु में रहने वाले लोगों की वीरता उनको अपनी स्वतंत्रताएँ सुरक्षित रखने के योग्य बनाती है। अधिक गर्मी शक्ति को नष्ट कर देती है, जबकि शीत जलवायु शरीर एवं मन की शक्ति को उत्पन्न करती है। कहा जाता है कि गर्म प्रदेशों के लोग आलसी होते हैं, अतएव सभ्यताओं का विकास उन्हीं स्थानों पर हुआ है जहाँ तापमान सामान्य अथवा अनुकूलतम रहा है। पर्वतीय एवं मरुस्थलीय लोग प्रायः साहसी, परिश्रमी एवं बलवान होते हैं। मनुष्य की मनोवृत्तियों एवं उसकी मानसिक रचना पर भौतिक पर्यावरण के प्रभावों का

हंटिंगटन ने विशद् विश्लेषण किया है। परन्तु जैसा पहले निर्दिष्ट किया गया है, प्राकृतिक अवस्थाएँ अनुज्ञात्मक एवं परिसीमात्मक तत्व अधिक हैं, कारणात्मक कम। वे उन परिसीमाओं को निश्चित करती हैं जिनके भीतर व्यक्तित्व का विकास हो सकता है।

इस प्रकार, यद्यपि जलवायु एवं भौगोलिक स्थिति लोगों के मानसिक लक्षणों को काफी सीमा तक प्रभावित करते हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि केवल वे ही मानव-व्यवहार को निर्धारित करते हैं। व्यक्तित्व के अधिकांश प्रकार प्रत्येक संस्कृति में पाए जाते हैं। तथ्य तो यह है कि सभ्यताएँ नितान्त भिन्न भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु वाले क्षेत्रों में प्रकट हुई हैं। ईसाई धर्म किसी जलवायु-सम्बन्धी सीमा को नहीं जानता। इसका विस्तार सभी देशों, शीत एवं गर्म में हुआ है। पर्वतों एवं समतलीय क्षेत्रों, उष्ण कटिबंधीय, समशीतोष्ण एवं उत्तरध्रुवीय सभी प्रकार की अवस्थाओं में रहने वाले लोग एकपत्नीत्व हैं। कई बार लोगों के विचार एवं मनोवृत्तियाँ बिना किसी स्पष्ट भौगोलिक परिवर्तन के बदल जाते हैं। भौगोलिक नियतिवाद के समर्थकों के मानव-व्यक्तित्व का अतिसरलीकरण कर दिया है, अतएव उनकी व्याख्याओं को गूढ़ समीक्षा के उपरांत ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

आनुवंशिकता एवं व्यक्तित्व (Heredity and personality)—मानव-व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाला दूसरा महत्वपूर्ण तत्व आनुवंशिकता है। मनुष्य के व्यक्तित्व में कुछेक समानताओं का कारण उसकी सामान्य आनुवंशिकता बतलाया जाता है। प्रत्येक मानव-समूह समान जैविक आवश्यकताओं एवं समर्थताओं को पूर्वजों से प्राप्त करता है। ये सामान्य आवश्यकताएँ एवं समर्थताएँ व्यक्तित्व-सम्बन्धी समानताओं की व्याख्या करती हैं। मनुष्य का जन्म स्त्री एवं पुरुष के जीवकोष्ठों के मिलन से होता है। वह शारीरिक आकृति एवं बुद्धि में अपने माता-पिता के समान होता है। स्नायुतंत्र, जैविक प्रवृत्तियाँ एवं नाड़ीरहित ग्रंथियाँ उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। वे निर्धारित करते हैं कि क्या अमुक व्यक्ति शक्तिशाली अथवा निर्बल, उत्साही अथवा आलसी, बुद्धिमान अथवा मूर्ख, साहसी अथवा कायर होगा।

स्वस्थ एवं सुन्दर शरीर वाले मनुष्य का व्यक्तित्व आकर्षक होता है। अस्वस्थ, नाटे एवं कुरूप शारीरिक लक्षणों वाले मनुष्य में हीनभावना का विकास हो जाता है जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। समाज द्वारा तिरस्कृत एवं घृणित होकर वह डाकू, चोर अथवा शराबी बन सकता है। यह भी सम्भव है कि ऐसा व्यक्ति नेता अथवा सुकरात एवं नेपोलियन की भाँति प्रतिभाशाली बन जाए। स्नायुतन्त्र व्यक्ति की बुद्धि एवं मेधा को प्रभावित करता है। **हार्मोन (Hormones)** व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं। हार्मोनों की अधिकता अथवा न्यूनता हानिप्रद है। *कुछ लोग अतिसंतोषी, अति-उत्साही, अति-*क्रियाशील एवं अति-उत्तेजी होते हैं, जबकि दूसरे सुस्त, आलसी एवं दुर्बल होते हैं। इसका कारण पूर्वोक्त में हार्मोनों का अधिक स्राव तथा उत्तरोक्त में कम स्राव हो सकता है। *सामान्य व्यक्तित्व-हेतु हार्मोनों का संतुलित स्राव होना चाहिए।* ए० डब्ल्यू० गार्डन (A. W. Gordon) के अनुसार, व्यक्तित्व का कोई लक्षण आनुवंशिक प्रभाव से अछूता नहीं होता।

परन्तु, फिर भी आनुवंशिकता अकेले तथा अन्य तत्वों की सहायता के बिना मानव-व्यक्तित्व को पूर्णतया निर्मित नहीं करती। वर्तमान स्थिति में केवल इतना कहा जा सकता है कि सामान्य व्यक्तित्व के कुछ जन्मसूत्र (genes) होते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे मानव-रचना एवं क्रियाशीलता के अन्य स्वरूपों के जन्मसूत्र होते हैं। जब हम समान परिवार के सदस्यों में जो समान पर्यावरण में रहते हैं, व्यक्तित्व-सम्बन्धी महान् अन्तर देखते हैं तो इसका कारण आंशिक रूप मे उनके भिन्न जन्मसूत्रों में खोजा जा सकता है। हम यह भी अनुमानित कर सकते हैं कि व्यक्तित्व में कुछ पारिवारिक समानताएँ आनुवंशिक रूप से प्रवाहित होती हैं। परन्तु हम अभी तक विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्बन्धी जन्मसूत्रों की खोज नहीं कर सके हैं जिससे हम यह पूर्वकथन कर सकें कि माता-पिता के बारे मे उपलब्ध जानकारी के आधार पर उनके बच्चे का व्यक्तित्व किस प्रकार का होगा। संक्षेप में, आनुवंशिकता किसी मनुष्य के व्यक्तित्व की निश्चित एवं स्थिर दिशा को निर्धारित नहीं करती। अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति आनुवंशिकता से विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों के विकास-हेतु कुछ क्षमताएँ प्राप्त करता है, जबकि व्यक्तित्व का यथार्थ रूप परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। आगबर्न एवं निमकाफ ने लिखा है, "यह सोचना महान् भूल होगी, जैसा अन्तःस्रावी समर्थक सोचते हैं कि ग्रंथियाँ सम्पूर्ण व्यक्तित्व, मनुष्य के विचारों, उसकी आदतों एव उसके कौशल को निर्धारित करती हैं।" इनमें से कुछ ग्रंथियों को कुछ प्रकार के 'हार्मोन' इंजेक्शन द्वारा अंदर भेजकर अतिक्रियाशील अथवा निम्नक्रियाशील बनाना तथा इस प्रकार मानव-व्यक्तित्व को प्रभावित करना संभव है। उपलब्ध साक्ष्य इस सिद्धांतीय धारणा को प्रमाणित नहीं करता कि व्यक्तित्व आनुवंशिकतया हस्तांतरित होता है। निःसंदेह कुछ लक्षण ऐसे अवश्य हैं जिन पर आनुवंशिकता का प्रभाव अधिक पड़ता है। शारीरिक कौशल, बुद्धि एवं संवेदनात्मक विभेदीकरण कुछ ऐसी योग्यताएँ हैं जो कुछ परिवारों में *अन्य की अपेक्षा अधिक विकसित पाई जाती हैं।* परन्तु अन्य लक्षण, यथा विश्वास, श्रद्धा, पूर्वाग्रह एवं शिष्टाचार अधिकांशतया प्रशिक्षण एवं अनुभव के परिणाम होते हैं। आनुवंशिकता केवल कच्चा माल प्रदान करती है जिससे अनुभव व्यक्तित्व का निर्माण करता है। अनुभव इस कच्चे माल के प्रयोग के ढंग को नियत करेगा। कोई व्यक्ति आनुवंशिकता के कारण उत्साही हो सकता है, परन्तु क्या वह स्वहेतु अथवा परहित में उत्साह-प्रदर्शन करता है, यह उसके प्रशिक्षण पर निर्भर करता है। वह धन अर्जित करने अथवा विद्या प्राप्त करने हेतु परिश्रम करता है, यह उसके पालन-पोषण पर निर्भर है। यदि व्यक्तित्व आनुवंशिक प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष परिणाम होता तो एक ही माता-पिता के सभी बच्चों, जिनका समान पर्यावरण में पालन-पोषण हुआ है, का व्यक्तित्व भी समान अथवा लगभग समान होता। परन्तु शोध से यह बात ज्ञात हुई है कि तीन अथवा चार वर्ष की आयु मे भी उनका व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न होता है। अतएव स्पष्ट है कि केवल आनुवंशिकता के आधार *पर ही व्यक्ति के लक्षणो एवं गुणों का पूर्वकथन नहीं किया जा सकता।*

व्यक्तित्व एवं संस्कृति (Personality and culture)—इस बात में कोई संदेह नहीं है कि संस्कृति किसी समूह विशेष में प्रभावी व्यक्तित्व के प्रकारों

को निर्धारित करती है। कुछ विचारकों के अनुसार, व्यक्तित्व संस्कृति का आत्मपरक स्वरूप है। वे व्यक्तित्व एवं संस्कृति को एक ही सिक्के के दो पक्ष समझते हैं। स्पाइरो (Spiro) ने कहा है, "व्यक्तित्व का विकास एवं संस्कृति का अर्जन विभिन्न प्रक्रियाएँ नहीं हैं, अपितु समान शिक्षण-प्रक्रिया है।" व्यक्तित्व संस्कृति का व्यक्तिगत स्वरूप है, जबकि संस्कृति व्यक्तित्व का सामूहिक स्वरूप। प्रत्येक संस्कृति व्यक्तित्व के विशिष्ट प्रकार अथवा प्रकारों को जन्म देती है। सन् १९३७ में मानवशास्त्री लिंटन (Linton) एवं मनोविश्लेषक अब्राम कार्डीनर (Abram Kardinar) ने अनेक आदिम समाजों एवं एक आधुनिक अमेरिकन देहात के वृत्तान्तों के सूक्ष्म अध्ययन द्वारा संस्कृति एवं व्यक्तित्व के मध्य सम्बन्ध के बारे में संयुक्त खोजों की माला आरम्भ की थी। उनके अध्ययनों ने प्रदर्शित किया है कि प्रत्येक संस्कृति एक आधारभूत व्यक्तित्व-प्रकार को जन्म देती है तथा इसके द्वारा समर्थित होती है। किसी समाज-विशेष के अधिकांश सदस्यों में प्राप्त आधारभूत व्यक्तित्व-प्रकार वृत्तियों अथवा नैसर्गिक प्रवृत्तियों का परिणाम न होकर सांस्कृतिकतया समान प्रारम्भिक शैशवकालीन अनुभवों का परिणाम होता है। बालक का जन्म रिक्तता (vacuum) में नहीं होता, अपितु एक सांस्कृतिक संदर्भ में होता है जो उसकी मानसिक रचना, मनोवृत्तियों एवं आदतों को प्रभावित करता है। एक प्रदत्त सांस्कृतिक पर्यावरण अपने भागी सदस्यों को भिन्न सांस्कृतिक पर्यावरण में कार्यशील व्यक्तियों से पृथक् कर देता है। फ्रैंक (Frank) के अनुसार, "संस्कृति व्यक्ति के ऊपर प्रबल एवं दमनकारी प्रभाव है जो विचारों, अवधारणाओं एवं विश्वासों द्वारा उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।" संस्कृति कच्चा माल प्रदान करती है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। समूह की प्रथाएँ, रीतियाँ, लोकाचार, धर्म, संस्थाएँ, नैतिक एवं सामाजिक मानक सभी समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। जन्म के समय से ही बालक का जिस प्रकार से पालन-पोषण होता है, उसका उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक संस्कृति अपने अधीन सदस्यों पर अनेक सामान्य प्रभाव डालती है।

जैसा हमने ऊपर देखा, आगबर्न ने संस्कृति को 'भौतिक' एवं 'अभौतिक' में विभक्त किया है। उसके अनुसार, भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति, दोनों व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। पूर्वोक्त का उदाहरण देते हुए वह आदतों एवं मनोवृत्तियों के निर्माण में स्वच्छता पर नलों के प्रभाव तथा समयनिष्ठता पर घड़ी के प्रभाव को दर्शाता है। अमेरिकन भारतीयों के पास घड़ियाँ नहीं हैं, अतएव उनके स्वभाव में समयनिष्ठता नहीं पाई जाती। समयनिष्ठता के बारे में अमेरिकन भारतीय का व्यक्तित्व श्वेत व्यक्ति के व्यक्तित्व से भिन्न है जिसका कारण उनकी संस्कृतियों की भिन्नता है। इसी प्रकार, कुछ संस्कृतियों में स्वच्छता को महत्ता प्रदान की जाती है, जैसा कि इस उक्ति से स्पष्ट है कि 'स्वच्छता का स्थान धर्मनिष्ठता से द्वितीय स्थान पर है।' स्वच्छता के इस लक्षण को नलों की प्रौद्योगिकी तथा इससे संबंधित अन्य आविष्कारों से अधिक प्रोत्साहन मिला है। 'एस्किमो' लोग अपनी पीठ पर बर्फ का थैला रखते हैं, ताकि वे आवश्यकता के समय बर्फ पिघला कर पानी ले सकें। उनकी इस संस्कृति ने उनको 'अस्वच्छ' बना दिया है। जो व्यक्ति पानी लेने के लिए केवल नल की टूँटी को घुमा देता है, वह स्वाभाविकतया एस्किमो की तुलना में

अधिक स्वच्छ रह सकेगा। अतएव स्वच्छता आनुवंशिकता की देन नहीं, अपितु संस्कृति की देन है। जहाँ तक अभौतिक संस्कृति एवं व्यक्तित्व के सम्बन्ध का प्रश्न है, भाषा इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। हम जानते हैं कि पशु एवं मनुष्य में एक प्रमुख अन्तर यह है कि उत्तरोक्त वाणी का स्वामी है। भाषा केवल समाज में सीखी जा सकती है। जो लोग बोलना नहीं जानते, उनका व्यक्तित्व विकृत होता है। चूँकि भाषा वह अनिवार्य माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य आवश्यक सूचना एवं अपनी मनोवृत्तियों को प्राप्त करता है, अतएव यह व्यक्तित्व के विकास का प्रमुख साधन है। इसके अतिरिक्त वाणी स्वयं व्यक्तित्व का लक्षण होती है। लकड़हारे की कर्कश वाणी को मनुष्य की मधुर वाणी से एकदम विभेदित किया जा सकता है। संक्षेप में, जर्मन व्यक्ति की संक्षिप्त, कुरकुरी एवं कंठ्य ध्वनि उसके व्यक्तित्व का अंग है, जैसे कि स्पेनवासी की तरल, लच्छेदार एवं वाचाल वाणी। बोलते समय हाथों एवं कन्धों की गति को इटैलियन एवं यहूदी लोगों के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग समझा जाता है। यहूदी संकेतों को केवल बल देने हेतु प्रयुक्त करते हैं, जबकि इटैलियन व्यक्ति उनके द्वारा कुछ अर्थ भी संचरित करते हैं। व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभाव का एक अन्य उदाहरण पुरुषों एवं स्त्रियों के सम्बन्ध से दिया जा सकता है। प्रारम्भिक युग मे जब प्रमुख व्यवसाय कृषि था, स्त्रियों का घर से बाहर कोई व्यवसाय नहीं होता था एवं स्वाभाविकतया वे अपने पिता अथवा पति पर आर्थिक रूप से आश्रित होती थीं। ऐसी परिस्थितियों का आवश्यक परिणाम स्त्रियों की दासता थी। परन्तु आज सैकड़ों स्त्रियाँ घर से बाहर कार्य करके वेतन अर्जित करती हैं। वे मनुष्यों के साथ समान अधिकारों का उपभोग करती हैं तथा प्राचीन काल की भाँति पुरुषों पर आश्रित नहीं हैं। आज्ञाकारिता के स्थान पर स्वतंत्रता की मनोवृत्ति स्त्रियों के व्यक्तित्व का लक्षण बन गई है। व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति के योगदान को अधिक से अधिक स्वीकार किया जा रहा है जिससे कुछ समाजशास्त्रियों ने विशिष्ट संस्कृतियों में उन तत्वों को खोजने का प्रयास किया है, जो समूह के अंदर व्यक्ति को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने तीन आदिम जनजातियों की संस्कृतियों का विश्लेषण करके संस्कृतियों को दो प्रमुख प्रकारों 'अपोलोनियन' (Appollonian) एवं 'डायोनीसियन' (Dionysian) मे विभक्त किया। 'अपोलो' ग्रीकवासियो के कृपालु एवं सुखदायक सूर्य देवता का नाम है। अपोलोसियन संस्कृति के लोग संयमी, संतुलित, उदार एवं सहयोगी होते हैं। 'डायोनीसियन' ग्रीकवासियो के कष्टदायक, मदमस्त देवता का नाम है। अतएव डायोसियन संस्कृति के लोग संवेदनात्मकता, व्यक्तिवादिता, प्रतियोगितात्मकता, अतिवादिता को प्रदर्शित करते हैं। 'ज़ूनी' (Zuni) संस्कृति अपोलोनियन है, जबकि क्वाक्यूती (Kwakiuti) एवं डोब्यून (Dobuian) संस्कृतियाँ डायोनीसियन हैं।

भारत में हिन्दुओं का व्यक्तित्व अंग्रेज व्यक्तित्वों से भिन्न है। क्यो? उत्तर स्पष्ट है, 'हिन्दुओं की भिन्न संस्कृति'। हिन्दू संस्कृति भौतिक एवं सांसरिक वस्तुओं पर बल नही देती; इसमें धार्मिक एवं आध्यात्मिक वस्तुओं को प्रधान समझा जाता है। प्रत्येक हिन्दू परिवार में धार्मिक पर्यावरण पाया जाता है। माता प्रात.काल

उठकर स्नान करती है तथा कुछ समय पूजा-पाठ में व्यतीत करती है। जब बच्चे उठते हैं तो वे माता-पिता के चरण स्पर्श करते हैं तथा पारिवारिक देवता अथवा देवी के सम्मुख नतमस्तक होते हैं। हिन्दू बालक जन्म से ही आंतरिक जीवन पर निर्मित धार्मिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व अर्जित करना प्रारम्भ कर देता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृति व्यक्तित्व के निर्माण पर काफी प्रभाव डालती है। व्यक्ति के विचार एवं उसका व्यवहार मुख्यतया सांस्कृतिक सम्पनुकूलन के परिणाम होते हैं। धर्मनिष्ठ हिंदू तथा रूसी कम्युनिस्ट जो धर्म की निंदा करता है, के बीच महान् अन्तर है। परन्तु यह नहीं सोचना चाहिए कि संस्कृति कोई स्थूल ठप्पा है जो अपने अधीन सभी व्यक्तियों को समान प्रतिमान में ढाल देती है। किसी संस्कृति के सभी लोगों का व्यक्तित्व एकरूप नहीं होता। कुछेक लोग अन्य की अपेक्षा अधिक आक्रमणकारी होते हैं तो दूसरे विनम्र एवं दयालु होते हैं। व्यक्तित्व केवल मात्र संस्कृति से पूर्णतया निर्धारित नहीं होता, यद्यपि प्रत्येक व्यक्तित्व पर इसका प्रभाव पड़ता है। यह तो केवल अन्य निर्धारकों में से एक तत्व है। रुथ बेनेडिक्ट (Ruth Bendict) का कथन है, "किसी भी मानवशास्त्री जिसने अन्य संस्कृतियों का अध्ययन किया है, ने यह विश्वास नहीं किया है कि व्यक्ति स्वचालित यंत्र हैं जो अपनी संस्कृति के आदेशों का यांत्रिक रीति से पालन करते हैं। कोई भी संस्कृति अपने व्यक्तियों के स्वभावों मे अंतर को समाप्त नहीं कर सकी है। यह सदैव आदान-प्रदान की क्रिया होती है।" लिंटन ने सांस्कृतिक प्रभाव को सार्वभौमिक विशिष्टताओ एव विकल्पो में वर्गीकृत किया । उसका यह निष्कर्ष था कि सार्वभौमिको के माध्यम से ही संस्कृति व्यक्तित्व की समरूपता को जन्म देती है। चूंकि सार्वभौमिको की संख्या विशिष्टताओ एवं विकल्पों की तुलना में कम है, अतएव संस्कृति व्यक्तित्व की समरूपता एवं विविधता दोनों को जन्म देती है।

व्यक्तित्व एवं विशिष्ट अनुभव (Personality and particular experiences)—व्यक्तित्व पर एक अन्य तत्व, अर्थात् विशिष्ट एवं विलक्षण अनुभवों का भी प्रभाव पड़ता है। अनुभव दो प्रकार के होते हैं: प्रथम, वे जो अपने समूह के साथ निरन्तर संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। द्वितीय, वे जो सहसा उत्पन्न होते हैं एवं जिनकी पुनरावृत्ति की संभावना नहीं है। जो व्यक्ति बालक के दैनिक सम्पर्क में आते हैं, उनका उसके व्यक्तित्व पर प्रमुख प्रभाव पड़ता है। माता-पिता का व्यक्तित्व बालक के व्यक्तित्व को काफी प्रभावित करता है। यदि माता-पिता दयालु, सहनशील, खेलकूद में रुचि रखने वाले तथा बच्चे की विभिन्न रुचियो को प्रोत्साहित करने वाले होते हैं तो बच्चे को भिन्न अनुभव प्राप्त होगा तथा उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव भी भिन्न होगा, उस बच्चे की अपेक्षा जिसके माता-पिता कठोर, निरंकुश एवं क्रोधी स्वभाव के हैं। घर में व्यक्तित्व की शैली का निर्माण हो जाता है जो व्यक्ति को जीवन भर चिह्नित करती रहेगी। सामाजिक रीतियाँ जो भोजन की मेज पर शिष्टाचार से लेकर लोगों के साथ मिलकर चलने तक संबंधित हैं, बालक को माता-पिता द्वारा सचेत ढंग से सिखाई जाती हैं। बच्चा अपने माता-पिता की भाषा को सीखता है। बालक मनोवैज्ञानिक एवं संवेदनात्मक अनुकूलन की समस्याओं

को पारिवारिक मूल्यों एवं मानकों के संदर्भ में उपयुक्त रूप से सुलझाता है। परिवार बालक को उसके खेल के साथियों एवं शिक्षकों के संपर्क में लाता है। उसके खेल के साथी तथा स्कूल के अध्यापक कैसे हैं, यह भी उसके व्यक्तित्व के विकास को निर्धारित करता है।

समूह का प्रभाव आरम्भिक शैशव-काल में अपेक्षाकृत अधिक होता है। यही वह समय है जब बालक के अपने माता-पिता एवं सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व के अचेतन स्वरूपों, प्रवृत्तियों एवं संवेगों के संगठन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। वयस्क मानकों को समझने से पूर्व बालक में प्रौढ़ता का कुछ अंश आवश्यक है। शैशव-काल में निर्मित आधारभूत व्यक्तित्व-संरचना का बाद के वर्षों में बदलना कठिन होता है। क्या कोई व्यक्ति नेता, कायर, अनुकरणकर्ता बनता है; क्या वह स्वयं को श्रेष्ठ अथवा हीन समझता है; क्या वह स्वार्थी अथवा परमार्थी बनता है—यह दूसरे व्यक्तियों के साथ उसकी अन्तर्क्रिया के प्रकार पर निर्भर है। समूह-अन्तर्क्रिया उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। समूह से विलग होकर वह पागल बन सकता है, अथवा उसमें विच्छिन्न मनोवृत्तियों का विकास हो सकता है। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, उसमें अनुक्रिया एवं मान्यता की इच्छा विकसित होती जाती है। उसकी जैविक आवश्यकताओं के साथ समाजी-जैविक (sociogenic) आवश्यकताओं का योग हो जाता है जो व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण प्रेरक शक्तियाँ हैं।

बालक मे 'स्व' का विचार कैसे विकसित होता है, यह अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। जन्म के समय 'स्व' की भावना नही होती। यह उस समय उत्पन्न होना आरम्भ होती है जब बालक अपने चारों ओर भौतिक संसार को समझने लगता है। वह यह सीख जाता है कि उसकी वस्तुएँ कौन-सी हैं तथा अपनी अधिकृतियों पर वह गर्व करने लगता है। वह सीखता है कि शरीर के अंग उसके अपने हैं। वह अपने नाम तथा माता-पिता से परिचित हो जाता है तथा स्वयं को दूसरों से विभेदित करने लगता है। प्रशंसा एवं निंदा जो वह दूसरो से प्राप्त करता है, उसके आचरण को प्रभावित करते हैं। 'स्व' के विकास से उसमे 'अहं' (ego) एवं चेतन (conscience) का विकास हो जाता है।

'स्व' के बारे में हमारी धारणा हमारे बारे में दूसरे लोगों के मत पर प्रायः आधारित होती है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि हम अपने आचरण के बारे में सभी विचारों को समान महत्व देते हैं। हम केवल ऐसे लोगों के विचारों पर ध्यान देते हैं जिन्हें हम किसी कारण से दूसरो की अपेक्षा अधिक विशिष्टतापूर्ण समझते हैं। हमारे माता-पिता सामान्यतया दूसरे व्यक्तियों की तुलना में अधिक विशिष्ट होते हैं, क्योंकि उनका हमसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तथा उन्हें हमारे ऊपर, विशेषतया जीवन के आरम्भिक वर्षों मे, सर्वाधिक शक्ति प्राप्त होती है। संक्षेप में, हमारे प्रारम्भिक अनुभवों का हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग होता है। आरम्भिक जीवन में ही व्यक्तित्व का शिलान्यास हो जाता है।

एक ही परिवार मे पोषित बच्चों का व्यक्तित्व एक-दूसरे से भिन्न क्यों

होता है, यद्यपि उनके समान अनुभव होते हैं। तथ्य यह है कि उनके अनुभव समान नहीं होते। कुछ समान होते हैं तो कुछ भिन्न। प्रत्येक बालक विभिन्न पारिवारिक इकाई में जन्म लेता है। प्रथम, बालक सर्वप्रथम जन्म लेता है तथा दूसरे, बालक का जन्म होने तक वह परिवार में अकेला रहता है। माता-पिता भी अपनी सभी संतानों के साथ समान व्यवहार नहीं करते। बच्चे विभिन्न खेल-समूहों में प्रवेश करते हैं, उनके अध्यापक विभिन्न होते हैं एवं वे विभिन्न घटनाओं का सामना करते हैं। वे सभी अनुभवों एवं घटनाओं में भागी नहीं होते। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव स्वयं विचित्र अनुभव है, क्योंकि किसी अन्य व्यक्ति को पूर्णतया समान अनुभव नहीं होता। इस प्रकार, प्रत्येक बालक का अनुभव विलक्षण होने के कारण उसका व्यक्तित्व अन्य बालकों के व्यक्तित्व से भिन्न विकसित होता है।

कभी-कभी कोई सहसा अनुभव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अमिट प्रभाव छोड़ जाता है। इस प्रकार, एक छोटा बच्चा हिंसात्मक घटना को देखकर इतना भयभीत हो सकता है कि घटना के बाद भी उसके मन पर भय बना रहता है। कभी-कभी किसी बलात्कार करने वाले के साथ किसी लड़की का अनुभव उसे आयु-पर्यन्त यौन कुसमंजन का शिकार बना सकता है। कोई पुस्तक किसी व्यक्ति को कभी इतना प्रभावित करती है कि वह माया-मोह छोड़कर ईश्वर की भक्ति में लीन हो जाता है। यदि व्यक्ति किसी दुर्घटना में पंगु हो जाए तो उसमें 'अपर्याप्तता' की भावना विकसित हो जाती है। कहा जाता है कि भगवान बुद्ध ने शवयात्रा देखकर संन्यास लेने का निश्चय किया था। इस प्रकार, अनुभव भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को निर्धारित करते हैं।

परन्तु यह भी ध्यान रहे कि जब किसी व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है तो वह यह निर्धारित करता है कि अनुभव पूर्व-अर्जित व्यक्तित्व को किस प्रकार प्रभावित करेंगे। इस प्रकार, यदि कोई बालक तेजस्वी एवं खिलाड़ी है तो वह अपने ऐसे ही माता-पिता को अनुकरणीय पाएगा जो उसके व्यक्तित्व के पूर्व-अर्जित लक्षणों को और भी अधिक प्रभावित करेगा; परन्तु यदि बालक झेंपू, आत्मकेन्द्रित एवं पुस्तकी कीड़ा है तो वह ऐसे माता-पिता को वैयक्तिक रूप से पसन्द नहीं करेगा, जिससे उसमें पूर्व-अवस्थित लक्षणों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

यह भी निर्दिष्ट कर देना आवश्यक है कि व्यक्तित्व सामाजिक स्थितियों का विषय है। सामाजिक शोधकर्ताओं ने दिखलाया है कि व्यक्ति एक स्थिति में ईमानदार होता है, परन्तु दूसरी स्थिति में नहीं। यही व्यक्तित्व के अन्य लक्षणों के बारे में है। व्यक्तित्व के लक्षण स्थिति विशेष के प्रति विशिष्ट अनुक्रियाएँ हैं, न कि सामान्य व्यवहार-प्रतिमान। यह सृजनात्मक निहित शक्ति क्षमता के लिए गतिशील संश्लिष्ट वस्तु होती है।

आनुवंशिकता, प्राकृतिक पर्यावरण, संस्कृति एवं अनुभव विशेष चार तत्व हैं जो व्यक्तित्व के निर्माण, विकास एवं संधारण की व्याख्या करते हैं। परन्तु एक कठिनाई है। अभी तक प्रत्येक तत्व के प्रभाव को पृथक्-पृथक् मापने की कोई विधि ज्ञात नहीं है और न ही यह बतलाना संभव है कि ये तत्व किस प्रकार संयुक्त होकर

भाई स्त्री के अधिकारों का घोर विरोधी एवं कट्टर राष्ट्रवादी हो सकता है, जबकि उसकी बहन स्त्री अधिकारों की घोर समर्थक एवं अंतर्राष्ट्रीयवादी हो सकती है। उसका चाचा कलाप्रेमी एवं अन्य मध्ययुगीन कलाओं का प्रशंसक हो सकता है, जबकि उसकी चाची कला का तिरस्कार करने वाली तथा उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्वघटित प्रत्येक बात का परिहास करने वाली हो सकती है। उसकी दादी मूर्ति-पूजक हो सकती है, जबकि उसका दादा नास्तिक हो सकता है। इसमें उसके मित्रों, अध्यापकों एवं उसके प्रिय लेखकों के विभिन्न मूल्यों को भी यदि सम्मिलित कर लें तो स्थिति आतंकशील बन जाती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक संस्कृति असंगत मूल्यों का विजातीय संग्रह है। यह स्वयं के विरुद्ध विभक्त घर के समान है। मंदिर में हम आध्यात्मिकता का गुणगान करते हैं तो बाजार में भौतिकवाद की प्रशंसा करते हैं। हम सहयोग मे आस्था प्रकट करते हैं, परन्तु गलाकाट प्रतियोगिता का वास्तव में अनुसरण करते हैं। हम अधिकारों की दुहाई देते हैं, परन्तु अस्पृश्यता का अनुपालन करते हैं। इन आंतरिक विरोधों का कारण व्यक्तियों की असंख्य संभावित इच्छाएँ एवं इनमें से कुछ इच्छाओं को संतुष्ट करने के सैकड़ों विकल्पात्मक ढंग हैं। अतएव प्रत्येक संस्कृति में व्यक्तित्व-विघटन एक अनिवार्य घटना है।

अनेक मनोशास्त्रियों का विचार है कि समाजीकरण के प्रमुख काल, अर्थात् शैशवावस्था में तथा समाजीकरण के प्रमुख समूहों, यथा परिवार, क्रीड़ा-समूहों एवं स्कूल में व्यक्तित्व-विघटन का आधार रखा जाता है। बालक ऐसी आदतों को विकसित करने अथवा मनोवृत्तियों को अर्जित करने में असफल रह सकता है जो समस्याओं, जिनका किसी अन्य व्यक्ति ने सुगमतापूर्वक समाधान कर लिया है, के सम्मुख विघटित होने से उसकी रक्षा कर सके।

आदिम समाजों में व्यक्तित्व-विघटन (Personality disorganization in primitive societies)—कहा जाता है कि आदिम समाज विघटित व्यक्तियों से अपेक्षाकृत मुक्त थे। इस प्रकार, एलिसवर्थ फ़ेरिस (Ellisworth Faris) के अनुसार, कांगो बान्टू (Congo Bantu) समाज मे मनोविक्षिप्ति पूर्णतया अनुपस्थित थी। फ़ेरिस को उसके द्वारा निरीक्षित चार अस्पतालों के किसी भी कर्मचारी ने विघटित व्यक्तित्व के किसी भी 'केस' का जिक्र नही किया। इसी प्रकार, रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) को शांतिप्रिय जूनी (Zuni) भारतीयों को आत्महत्या के अर्थ को समझाने में कठिनाई महसूस हुई। वे इस शब्द से पूर्ण अपरिचित थे। आदिम समाजों में पर्याप्त मात्रा में व्यक्तित्व-विघटन की अनुपस्थिति का कारण यह है कि वे श्रेष्ठतर समेकित समाज हैं। व्यक्तित्व-विघटन की मात्रा सामाजिक नियंत्रण की सीमा एवं नियामक अभिकरणों की संख्या की अपेक्षा समाज के समेकन की मात्रा पर निर्भर है। आधुनिक समाज में व्यक्ति अनेक नियामक अभिकरणों के अधीन है। उसके जीवन का प्रत्येक स्वरूप किसी न किसी अभिकरण द्वारा नियंत्रित है। जैसा हमने किसी गत अध्याय में देखा है, आधुनिक समाज में सामाजिक नियंत्रण कम प्रभावी होता हुआ भी अधिक व्यापी है। राज्य के कानूनों का आकार कई गुना बढ़ गया है, व्यक्ति प्रत्येक पग पर किसी न किसी कानून के नियंत्रण में है,

तथापि औपचारिक नियामक अभिकरणों की अत्यधिक संख्या एवं विस्तृत सामाजिक नियंत्रण के बावजूद आधुनिक समाज मे व्यक्तित्व-विघटन की मात्रा अधिक है। इस प्रकार, वैयक्तिक विघटन को जन्म देने अथवा रोकने में सामाजिक नियंत्रण की सीमा अथवा नियामक अभिकरणों की संख्या इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि समाज के विघटन की मात्रा को कम करना महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति का जीवन सुचारु रूप से संगठित है, यदि उसके जीवन का प्रत्येक भाग—आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सौंदर्यात्मक—एक महत्वपूर्ण समग्र में परिबंधित है और वह केवल निष्क्रिय बंधक व्यक्ति नहीं है तथा यदि वह संस्कृति की रचना मे प्रभावशाली भूमिका अदा करता है तो वह वैयक्तिक विघटन का कदापि शिकार नहीं होगा।

आदिम समाजों के निवासी उसी दशा में विघटित होते हैं जब उनका समाज एवं उनकी संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क में आती है एवं उनके लोकाचारों एवं लोकरीतियों की प्रणाली भंग हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति 'संस्कृति के स्नेहयुक्त आलिंगन को छोड़कर खण्डात्मक जीवन की शीतल वायु में' विचरण करने लगता है। समाज में समेकन के अभाव एवं वैयक्तिक विघटन के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। थामस एवं जनेकी (Thomas and Znaniecki) के अनुसार, संयुक्त राज्य में पोलिश (Polish) समुदाय में वैयक्तिक विघटन का कारण जटिल नगरीय सभ्यता थी, जबकि पोलैण्ड के कृषक-समुदाय मे व्यक्तित्व-विघटन की समस्याएँ नगण्य थी। यही कारण है कि शहरी लोग देहाती लोगों की अपेक्षा व्यक्तित्व-विघटन से अधिक ग्रस्त होते हैं। व्यक्तियों का सादा जीवन से जटिल नगरीय सभ्यता में प्रवेश उनके व्यक्तित्व के विघटन की संभावितांओं मे वृद्धि कर देता है। मैन्डेल शर्मन (Mandel Sherman) एवं थामस आर० हैनरी (Thomas R. Henry) दो अमेरिकन मनोवैज्ञानिकों ने, पाँच पर्वतीय समुदायों का अध्ययन करने के उपरांत यह खोज की कि सभ्यता के प्रभाव से दूर समुदायों मे आधुनिक नगरीय जीवन के घनिष्ठ संपर्क में समुदायों की अपेक्षा अधिक स्थिर व्यक्तित्व पाए जाते हैं। इसी प्रकार, अनेक मनोवैज्ञानिकों, मनोचिकित्सकों एवं मनोविश्लेषकों ने समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों के विचार से सहमत होते हुए, समाज को व्यक्तित्व-सम्बन्धी समस्याओं का प्रमुख स्रोत माना है। संक्षेप मे, आधुनिक समाज की जटिलता एवं इसकी सहचरी समस्याएँ व्यक्तित्व-विघटन के प्रमुख कारण हैं।

परन्तु, बात यही समाप्त नहीं हो जाती, क्योंकि सामाजिक कारणों के अतिरिक्त जैविक तत्व भी कारण बनते हैं। व्यक्तित्व-विघटन के जैविक पक्ष को नितांत भुलाया नहीं जा सकता। यह सत्य है कि व्यक्तित्व के समेकन एवं विघटन में जीवरचना आवश्यक दशा है, तथापि कुछ दबाव ऐसे हैं जिन्हें कोई भी व्यक्ति चाहे कितना सुसंतुलित क्यों न हो, सहन नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति को कहीं न कहीं दम तोड़ना पड़ता है। प्रश्न केवल यह है कि व्यक्ति अपनी स्थिति का सामना किस प्रकार करता है। अतएव निर्धारक तत्व स्थिति है। व्यक्तित्व-विघटन की समस्या पर विचार करते समय जैविक तत्वों को अतिप्रधानता देकर स्थितिगत तत्वों को कम प्रधानता नहीं दी जानी चाहिए।

व्यक्तित्व-पुनर्गठन (Personality reorganisation)—आधुनिक समाज मे

व्यक्तित्व-विघटन के मामले वृद्धि पर हैं, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। समाजशास्त्री इसके कारण एव इसको दूर करने के उपाय खोजने में व्यस्त हैं। परन्तु अभी तक सर्वोत्तम उपाय के बारे मे मतभेद है। जो विचारक जैविक तत्वों को सामाजिक व्यवहार का मुख्य निर्धारक समझते हैं, वह सुप्रजननीय साधनों द्वारा इसे उन्नत करना चाहते हैं। मनोवैज्ञानिक, मनोचिकित्सक एव मनोविश्लेषक केवल व्यक्ति के अंदर ही विघटन के कारण खोजते हैं मानो कि व्यक्ति रिक्तता में रहता हो। इनके अतिरिक्त पर्यावरणवादी हैं जो सामाजिक पर्यावरण को व्यक्तित्व-विघटन का प्रमुख कारक मानकर पर्यावरण-सम्बन्धी सुधार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। परन्तु ये सभी एकांगी विचार हैं। व्यक्तित्व-विघटन की समस्या बहुपक्षीय है जिसके प्रभावी निदान-हेतु आनुवंशिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं पर्यावरणीय तत्वों को ध्यान में रखना होगा तथा पारस्परिक संगति एवं सामान्य मूल्यों द्वारा परस्पर संयुक्त संस्कृति के एकीकरण की आवश्यकता होगी।

प्रश्न

१. 'व्यक्तित्व' शब्द की सुस्पष्ट व्याख्या कीजिए।

२. 'व्यक्तित्व' शब्द को किस अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है ?

३. पर्यावरणीय प्रभाव संस्कृति को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ?

४. संस्कृति एवं व्यक्तित्व के बीच सम्बन्ध का वर्णन कीजिए। व्यक्तित्व के निर्धारक तत्व के रूप में संस्कृति के महत्व को व्याख्या कीजिए।

५. "व्यक्तित्व-विघटन आधुनिक समाज का लक्षण है।" व्यक्तित्व-विघटन के कारणों की व्याख्या कीजिए।

अध्याय ४१

विचलित व्यवहार एवं विसंगति

[DEVIAT BEHAVIOUR AND ANOMIE]

१. विचलित व्यवहार का अर्थ

(The Meaning of Deviant Behaviour)

सामाजिक जीवन का एक अनिवार्य तत्व आदर्श-नियमों का पुंज है जं व्यक्तिगत सदस्यो के व्यवहार को नियमित करता है। सभी समाजो में मानव-व्यव हार के कुछेक मानको की व्यवस्था होती है। व्यवहार के इन मानकों को जैसा हमने पहले अध्ययन किया है, आदर्श-नियम (norms) कहा जाता है। परन्तु कोई भी समाज अपने सभी सदस्यों से सामाजिक आदर्श-नियमो के अनुरूप व्यवहार कराने में सफल नही होता। कुछ सदस्य इन आदर्श-नियमों के अनुरूप व्यवहार करने में असफल रहते हैं। समाज के परम्परागत आदर्श-नियमों के प्रतिकूल व्यवहार को विचलित व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार, विचलित व्यवहार एक ऐसा व्यवहार है जो किसी विशिष्ट मानक के समरूप नहीं है। पार्सन्स (Pasons) ने विचलन को दो ढंग से परिभाषित किया है। प्रथम, वह इसे "एक अथवा अधिक संस्थायीकृत आदर्शात्मक प्रतिमानों के उल्लंघन में किसी कर्ता की व्यवहार करने की अभिप्रेरित प्रवृत्ति" के रूप मे परिभाषित करता है। द्वितीय, वह इसे "एक या अधिक अंगभूतकर्ताओं की अंतर्क्रियात्मक प्रक्रिया के संतुलन को विश्रृंखल करने हेतु व्यवहार की प्रवृत्ति" कहता है। विचलित व्यवहार सामाजिक संतुलन को भंग कर देता है। यह सामाजिक आदर्श-नियमों का उल्लंघन है। यह व्यवहार की सामान्य विधियो से अपसरण है। इसमें अस्वीकृत क्रियाएँ सम्मिलित होती हैं। धोखाधड़ी, अनौचित्य, बदनाम करना, अपराध, अनैतिकता, बेईमानी, विश्वासघात, भ्रष्टाचार, दुष्टता एवं पाप विचलित व्यवहार के उदाहरण हैं। अपराधी, सन्त, योगी, हिप्पी, नेता एवं कंजूस सभी परम्परागत सामाजिक आदर्श-नियमों से विचलित होते हैं।

विचलन सापेक्ष है, असापेक्ष नहीं (Deviation is relative, not absolute)—विचलन उन प्रत्याशाओं एवं परम्परा-सिद्ध अधिकारों के सापेक्ष हैं जो विशिष्ट स्थानों एवं काल में व्यवहार के विशेष प्रतिमानों को शासित करते हैं। समाजों मे निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। सामाजिक परिवर्तन के साथ सामाजिक आदर्श-नियम भी बदल जाते हैं। जो किसी समय असहनीय समझा जाता है, वह अन्य समय मे आदर्श-नियम बन जाता है। इस प्रकार, स्त्रियों के प्रति मनोवृत्तियों में गत कुछ दशकों में नाटकीय परिवर्तन हुए हैं। पहले, स्त्रियों को घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी, परन्तु आज वे कार्यालयों में कार्य करती हैं तथा क्लब में

मनोरंजन करती हैं। इस प्रकार जिसे कुछ समय पूर्व विचलित व्यवहार समझा जाता था, वह आज व्यवहार का स्वीकृत मान बन गया है।

इसके अतिरिक्त, आदर्श-नियम भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार, किसी समाज मे समझा जाने वाला अविचलित व्यवहार दूसरे समाज मे स्वीकृत व्यवहार समझा जा सकता है। हिंदू समाज बहुविवाह को विचलित व्यवहार समझता है, परन्तु मुस्लिम समाज इसकी अनुमति देता है। पाश्चात्य समाज युवक-युवती के मुक्त मिलन की अनुमति देता है, परन्तु पूर्वी समाज इसकी स्वीकृति नही देता। इसी प्रकार, विभिन्न समूहों में आदर्श-नियमो द्वारा नियमित व्यवहार का क्षेत्र भी भिन्न-भिन्न होता है। कुछ समूहों के आदर्श-नियम मुख्यतया आचारात्मक विषयों तक सीमित होते है, जबकि अन्य समूहों में वे जीवन के विशालतर क्षेत्र को सन्निहित करते हैं। इस प्रकार, आदर्श-नियमों की असमनुरूपता समाज के सापेक्ष होती है।

यह भी ध्यान रहे कि विचलित व्यवहार प्राय: विशिष्ट स्थितियों से संबंधित होता है। व्यक्ति कुछ ढंगों मे विचलित तथा दूसरो मे समनुरूपित हो सकता है। लैंगिक रूप मे विचलित व्यक्ति वस्त्र-परिधान, भोजन की आदतो एव अन्य अनेक क्रियाओं में पर्याप्त परम्परावादी हो सकता है। इसी प्रकार किसी असमनुरूपी व्यक्ति को जिसे किसी समय मूर्ख समझा जाता है, दूसरे समय में उसे प्रतिभाशाली समझा जा सकता है। सभी युगो के प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपने ही समुदायो के विरोधी मनोवृत्ति का शिकार होना पड़ा है। सुकरात, ईसा एवं गेलीलियो को ऐसा शिकार बनना पड़ा, यद्यपि उन्हे अब अपने समय का प्रमुख बुद्धिजीवी समझा जाता है। कहा जाता है कि लोग न तो पूर्णतया समनुरूपी होते हैं एव न पूर्णतया विचलित। पूर्णतया विचलित व्यक्ति के लिए समाज में जीवित रहना अत्यन्त कठिन होगा तथा लगभग सभी व्यक्ति यदा-कदा विचलित होते हैं। अधिकांश लोग किसी न किसी समय मे किसी न किसी रूप में विचलित व्यवहार के दोषी रहे हैं। हमारे समाज में लगभग प्रत्येक व्यक्ति कुछ मात्रा तक विचलित है। किसी व्यक्ति का विचलित घोषित किया जाना किसी विशिष्ट समाज की विशिष्ट परिस्थितियो, मनोवृत्तियों, रुचियो एव सहनशीलता की सीमाओं पर निर्भर है।

यह भी ध्यान रहे कि जहाँ विचलन की निंदा की जाती है, कुछ मामलों में इसकी प्रशंसा भी होती है। प्रतिभाशाली, नायक, नेता एवं सन्त सांस्कृतिकतया स्वीकृत विचलितों की श्रेणी में सम्मिलित हैं। संस्कृति के मूल्य यह निर्धारित करते हैं कि किसी विचलित विशेष की प्रशंसा होगी अथवा उसकी निंदा। प्रत्येक संस्कृति कुछ विचलनों को प्रोत्साहित करती है तो अन्य को निरुत्साहित।

२. विचलित उपसंस्कृतियाँ
(Deviant Sub-cultures)

जब कोई व्यक्ति अपनी उपसंस्कृति के आदर्श-नियमों से विचलित हो जाता है तो वह विचलित व्यक्ति होता है, परन्तु एक जटिल समाज में अनेक विचलित

उपसंस्कृतियाँ हो सकती हैं। विचलित उपसंस्कृति से अभिप्राय विचलित व्यक्तियों के समूह के आदर्श-नियमों से है। इस प्रकार, हम किसी क्षेत्र में अपराधी उपसंस्कृति, जिसमें अनेक युवक भाग लेते हैं, की खोज कर सकते हैं। ऐसे क्षेत्रों में विचलित व्यवहार कानून के पाबंद व्यवहार के समान सामान्य है। व्यक्ति नहीं, अपितु समूह समाज के परम्परागत आदर्श-नियमों से विचलित है। एक अपराधी गिरोह की विचलित उपसंस्कृति होती है। ऐसे गिरोह के सदस्य विचलित उपसमूह के अंदर समनुरूपी होते हैं, परन्तु उसके साथ ही वे प्रमुख संस्थागत संरचना से विलग होते हैं।

विचलित व्यक्ति प्रायः अन्य समान व्यक्तियों के साथ मिलकर विचलित समूहों को जन्म देते हैं अथवा अन्य व्यक्तियों को उनका साथ देने के लिए बाध्य करते हैं। महाविद्यालय में अभद्र लड़के अपनी मंडली बना लेते हैं। हिप्पी, मदिरा-सेवी अथवा समलिंग कामी व्यक्ति विचलितों के समूहों में इकट्ठे हो जाते हैं। ऐसे समूह विचलन को संपुष्टि प्रदान करते हैं एवं उसे दृढ़ बनाते हैं तथा अपने सदस्यों को आलोचकों के विरुद्ध संवेगात्मक सुरक्षा प्रदान करते हैं। विचलितों के ये समूह व्यवहार-सम्बन्धी अनमनीय आदर्श-नियमों को विकसित कर लेते हैं जिन्हें विचलित उपसंस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है। हिप्पी संस्कृति को विचलित उप-संस्कृति कहा जा सकता है।

३. विचलित व्यवहार के कारण
(Causes of Deviant Behaviour)

विचलित व्यवहार के कारणों की व्याख्या करने हेतु निम्नलिखित सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है—

(i) शारीरिक प्रकार के सिद्धान्त (Physical-type theories)—ये सिद्धान्त विचलित व्यवहार को शारीरिक रचना से संबंधित करते हैं। लोम्ब्रासो (Lombroso) का विचार था कि कुछ प्रकार की शारीरिक रचनाएँ अन्य की अपेक्षा विचलित व्यवहार अधिक करती हैं। विचलितों को उनके व्यवहार की व्याख्या-हेतु शारीरिक प्रकारों में विभक्त किया गया था, परन्तु शारीरिक प्रकार के सिद्धान्तों को अब मान्यता नहीं दी जाती। उनके वर्गीकरण में अनेक गंभीर त्रुटियों को इंगित किया गया है।

(ii) मनोविश्लेषक सिद्धान्त (Psycho-analytic theories)—इस सिद्धान्त के अनुसार, विचलित व्यवहार का कारण मानव-व्यक्तित्व के द्वन्द्वों में खोजा जा सकता है। फ्रायड (Freud) एक प्रमुख मनोविश्लेषक था। उसने अबोधात्मा (id), बोधात्मा (ego) एवं आदर्शात्मा (super-ego) की अवधारणाओं का विकास किया। विचलित व्यवहार अबोधात्मा एवं बोधात्मा अथवा अबोधात्मा एवं आदर्शात्मा के बीच द्वन्द्व का परिणाम है। मनोविश्लेषक सिद्धान्त अभी तक आनुभविक खोज द्वारा अप्रमाणित है। कभी-कभी संस्कृति जैविक प्रवृत्तियों एवं

आवेगों को निष्फल कर देती है जिससे विचलित व्यवहार का जन्म होता है। इस प्रकार हमारी संस्कृति में अविवाहित, विधुर एवं सम्बन्ध-विच्छेदित व्यक्तियों की लैंगिक प्रवृत्तियों की तुष्टि-हेतु कोई स्वीकृत व्यवस्था नहीं है। यदि कोई व्यक्ति ऐसी प्रवृत्तियों की संतुष्टि सामाजिक वर्जना का उल्लंघन करके करता है तो उसका व्यवहार विचलित कहा जाएगा।

(iii) **समाजीकरण की विफलताएँ** (Failures in socialization)—उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त विचलित व्यवहार की समुचित व्याख्या नहीं करते। शारीरिक अथवा मानसिक रोग से पीड़ित प्रत्येक व्यक्ति विचलित नहीं बन जाता। इसी प्रकार, समाज के प्रत्येक सदस्य की जैविक प्रवृत्तियों का उसकी संस्कृति के वर्जनों से संघर्ष होता है जिससे वह हताश होता है, परन्तु वह विचलित नहीं बन जाता। समाजवैज्ञानिकों का मत है कि कुछ व्यक्ति इस कारण विचलित बन जाते हैं, क्योंकि समाजीकरण की प्रक्रिया किसी प्रकार से सांस्कृतिक आदर्श-नियमों को व्यक्ति के व्यक्तित्व में समेकित करने में विफल रही है। जहाँ समाजीकरण की प्रक्रिया सफल रहती है, व्यक्ति सामाजिक आदर्श-नियमों को आंतरीकृत कर लेता है और वह प्रत्याशित ढंग से व्यवहार करता है। उसके विचलन नगण्य होते हैं। परिवार, जैसा हमने अध्ययन किया है, समाजीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिकरण है। व्यवहार के आदर्श-नियम मुख्यतया परिवार में सीखे जाते हैं। यद्यपि पारिवारिक पर्यावरण एवं विचलित व्यवहार में प्रत्यक्ष सम्बन्ध को प्रमाणित करना कठिन है, तथापि व्यवहार के विभिन्न विचलनों का कारण माता-पिता एवं बच्चे के सम्बन्धों में किसी व्याघात में पाया गया है।

(iv) **सांस्कृतिक द्वन्द्व** (Cultural conflicts)—समाज अतिविजातीय होता है। इसमें विविध प्रकार के आदर्श नियम एवं मूल्य एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते हैं। पारिवारिक आदर्श सिद्धान्तों का श्रमिक-संघ के प्रतिमानों से संघर्ष हो सकता है। एक धर्म कुछ शिक्षा देता है तो दूसरा धर्म भिन्न प्रकार की शिक्षा देता है। विद्यालय आज्ञापालन एवं आदर के भाव सिखाता है तो राजनीतिक दल विरोध एवं विद्रोह की शिक्षा देता है। परिवार ईश्वर की उपासना करना सिखाता है तो राज्य धर्मनिरपेक्षता पर बल देता है। धार्मिक व्यवस्था हमें सहनशील एवं आत्म-त्यागी बनना सिखाती है तो आर्थिक व्यवस्था स्वार्थी एवं निर्दयी व्यक्ति को पुरस्कृत करती है। हमारे लोकाचार विवाह से पूर्व संयत रहना सिखाते हैं तो हमारे चलचित्रों में अत्यधिक कामुकता पाई जाती है। नवयुवक को कामुक साहित्य पढ़ने को खूब मिलता है। इस प्रकार, सांस्कृतिक द्वन्द्व आधुनिक जटिल समाज की प्रमुख विशेषता है। ऐसे द्वन्द्व प्रायः सभी समाजों में पाए जाते हैं एवं जहाँ कहीं वे वर्तमान हैं, वहाँ सांस्कृतिक द्वन्द्व विचलित व्यवहार को प्रोत्साहित करते हैं। कहा जा सकता है कि विचलन की उच्च दर वह मूल्य है जो हमें जटिल एवं द्रुत परिवर्तनशील समाज के लिए देना पड़ता है।

(v) **विसंगति** (Anomie)—विसंगति आदर्श-नियमहीनता की अवस्था है। आदर्श-नियमहीनता का तात्पर्य यह नहीं है कि आधुनिक समाजों में कोई

आदर्श-नियम नहीं होते, अपितु इसका अर्थ यह है कि उनमें आदर्श-नियमों के अनेक पुंज होते हैं जिनमें से कोई भी व्यक्ति का स्पष्ट मार्गदर्शन करने में असमर्थ होता है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, आधुनिक जटिल समाजों में आदर्श-नियमों का द्वन्द्व पाया जाता है। व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता कि वह किस नियम का अनुसरण करे एवं किसका नहीं। क्या वह पारिवारिक नियमों का पालन करे अथवा विद्यालय के नियमों का। विसंगति इस प्रकार आदर्श-नियमों के द्वन्द्व एवं भ्रान्ति से उत्पन्न होती है। आधुनिक समाज में व्यक्तियों की गति अत्यधिक द्रुत है, वे स्वयं को किसी विशिष्ट समूह के नियमों से बाधित नहीं समझते। परम्परागत समाजों में व्यक्ति रीतियों की निश्चित प्रणाली से बाधित थे, जिसका वे किसी विचलन के बिना पालन करते थे। परन्तु आधुनिक समाज में सश्लिष्ट रीतियों का अभाव है, विभिन्न समूहों के विभिन्न नियम हैं। समाज उसका कोई मार्गदर्शन करने में असमर्थ होता है। परिणामस्वरूप उसके व्यवहार में स्थिरता का अभाव होता है जो किसी निश्चित नियम के अनुसार नहीं होता। दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार, "जब सहसा परिवर्तन होता है तो समाज के नियामक नियमों की आदर्शात्मक संरचना में शिथिलता आ जाती है, अतएव व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता कि क्या उचित है अथवा अनुचित, उसके संवेग अत्यधिक होते हैं जिनकी संतुष्टि हेतु वह विसंगति करता है।" मर्टन (Morton) के शब्दों में, "विसंगति को सांस्कृतिक संरचना का विघटन समझा जा सकता है जो विशेष रूप से उस समय घटित होता है जबकि सांस्कृतिक नियमों एवं लक्ष्यों तथा समूह के सदस्यों की सामाजिकतया संरचित समर्थताओं के बीच वियोजन होता है जिससे वे इनके अनुसार कार्य करने में विफल रहते हैं। श्री मर्टन ने लिखा है कि सामाजिक संरचना सांस्कृतिक लक्ष्यों तथा संस्थागत आदर्श नियमों में एक क्रियात्मक संतुलन तब तक ही बना रहता है, जब तक कि सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति-हेतु पर्याप्त व सामान्य संस्थागत प्रणालियाँ भी समाज के सदस्यों के लिए उपलब्ध हों। परन्तु बहुधा ऐसा नहीं होता। कभी-कभी व्यक्ति को सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक उद्वेगात्मक सहायता नहीं मिलती। ऐसी अवस्था में वह अपना रास्ता ढूँढ निकालता है जो उसकी विसंगति को प्रकट करता है।

(vi) **वैयक्तिक कारक** (Personal factors)—कभी-कभी विचलन के उद्भव में वैयक्तिक कारकों का भी भाग हो सकता है। अपने विशिष्ट अनुभवों के कारण अनेक लोग विचलित मनोवृत्तियों अथवा आदतों को अपना लेते हैं। कुरूप आकृति व्यक्ति को समुदाय के कार्यों में भाग लेने के अवसर से वंचित रख सकती है। कुछ व्यक्तियों पर किसी अनुभव का इतना अत्यधिक प्रभाव होता है कि वे स्वयं को कुछेक समूहों अथवा स्थितियों से विलग कर लेते हैं। इस प्रकार कुछ व्यक्ति किसी स्व-अनुभूत दुर्घटना के कारण रेलगाड़ियों अथवा मोटर में यात्रा करने से इंकार कर सकते हैं। शवयात्रा को देखकर महात्मा बुद्ध ने अपने राज्य का परित्याग करने का निर्णय किया। चूहे को मूर्ति को अर्पित भोजन खाते देखकर स्वामी दयानन्द मूर्तिपूजा के विरोधी बन गए। कुछ मामलों में विचलित व्यवहार को पौराणिक कथाओं से समर्थन प्राप्त होता है।

४. विचलित व्यवहार का महत्व
(Significance of Deviant Behaviour)

संस्थागत विचलन (Institutionalised evasion)—जब लोकाचार किसी ऐसे कार्य का करने की मनाही करते हैं जिसे अनेक व्यक्ति करने के प्रबल इच्छुक हैं तो विचलन के नियमों का विकसित होना संभव है। ऐसी दशा में किसी विशिष्ट नियम का उल्लंघन किया जाता है। जब इस प्रकार के उल्लंघन को किसी समूह द्वारा मान्यता एवं स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है तो वह विचलन का प्रतिमान बन जाता है। समूह की स्वीकृति प्राप्त कर लेने पर, विचलन की नैतिक निंदा समाप्त हो जाती है। कुछ समूहों में, स्त्रीविलोमन प्रशंसा प्राप्त कर सकता है। मदिरा-सेवित समारोहों में उच्च प्रस्थितीय लोगों एवं नवयुवतियों के बीच चतुर कामुक अपराध सुगम हो जाते हैं। विचलन के प्रतिमान इस प्रकार संस्थायीकृत बन जाते हैं जिसे हम संस्थायीकृत विचलन कह सकते हैं।

विचलित व्यवहार साधारणतया सामाजिक स्थिरता को भय उत्पन्न करता है। संस्कृति तभी दक्षतापूर्वक कार्य कर सकती है जब सामाजिक जीवन में पूर्व-कथनीयता एव व्यवस्था हो। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि हम दूसरो से किस प्रकार के व्यवहार की प्रत्याशा रखें, उन्हें हमसे क्या प्रत्याशा रखनी चाहिए तथा हमारे बच्चों को किस प्रकार के समाज में रहने के लिए तैयार होना चाहिए। विचलित व्यवहार ऐसी व्यवस्था एवं पूर्वकथनीयता को भय उत्पन्न करता है। जब अनेक लोग उनसे प्रत्याशित व्यवहार को करने में असफल रहते हैं तो संस्कृति का विघटन हो जाता है तथा सामाजिक व्यवस्था भंग हो जाती है। इससे आर्थिक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न हो सकती है, लोकाचार अपनी शक्ति खो देते हैं, व्यक्ति असुरक्षित एव भ्रमित महसूस करता है, समाज दक्षतापूर्वक कार्य करने में विफल रहता है।

परन्तु विचलित व्यवहार कभी-कभी सामाजिकतया लाभदायक होता है। यह संस्कृति को सामाजिक परिवर्तन के साथ अनुकूलित करने का एक ढंग है। जैसा हम जानते है, कोई भी समाज स्थायी नहीं होता। सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक परिघटना है। प्रौद्योगिकीय परिवर्तन व्यवहार के नए प्रतिमानों को आवश्यक बना देते हैं, परन्तु नए प्रतिमानों का जन्म लोगों की सभाओं में विचार-विमर्श द्वारा नहीं होता। इनका जन्म तो लोगों के दैनिक व्यवहार से होता है। कुछेक व्यक्तियों का विचलित व्यवहार नए प्रतिमान का आरम्भ हो सकता है। ज्यों ही अधिक से अधिक व्यक्ति विचलित व्यवहार मे सम्मिलित हो जाते हैं, तब प्रतिमान की अन्तस्थापना हो जाती है। विचलित व्यवहार के माध्यम से नए प्रतिमानों का जन्म पारिवारिक सम्बन्धों में देखा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री के लिए घर से बाहर जाकर कार्यालय में कार्य करना एवं स्वतंत्र जीविका अर्जित करना विचलित व्यवहार समझा जाता था, परन्तु आजकल यह सामान्य है। इस प्रकार एक पीढ़ी का विचलित व्यवहार अगली पीढ़ी का प्रतिमान बन सकता है। परिवर्तनशील समाज में नए प्रतिमानों के उद्गमन-हेतु विचलित व्यवहार की आवश्यकता होती है, यदि उस समाज को दक्षतापूर्वक कार्य करना है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि सभी प्रकार के विचलन सामाजिकतया लाभदायक नहीं होते। अपराधी, शराबी एवं कामुक व्यक्ति के व्यवहार का सामाजिक रूप से लाभदायक प्रतिमान के निर्माण मे नगण्य योगदान होता है। विचलित व्यवहार के केवल कुछेक रूप ही भावी प्रतिमान बन सकते हैं।

प्रश्न

१. विचलित व्यवहार से आप क्या अर्थ समझते हैं ? व्यक्ति एवं समूह विचलितों के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए।

२. "विचलन सापेक्ष होता है, असापेक्ष नहीं।"—इस कथन की व्याख्या कीजिए।

३. विचलित उपसंस्कृतियों की अवधारणा का स्पष्टीकरण कीजिए।

४. विचलित व्यवहार के क्या कारक हैं ?

५. "विचलित व्यवहार समाज के स्थायित्व के लिए भय है।" तथा "विचलित व्यवहार समाज की स्थिरता को सुरक्षा है।" इन दोनों कथनों की समीक्षा कीजिए।

६. 'संस्थायीकृत विचलन' शब्द की व्याख्या कीजिए।

अध्याय ४२

सामाजिक विघटन

[SOCIAL DISORGANIZATION]

जीवन निरन्तर समजन एवं पुन.संमंजन की प्रक्रिया है। जैसा कि पिछले अध्यायो में बतलाया गया है, सामाजिक संरचना में सदैव परिवर्तन होता रहता है जिससे इसके विभिन्न अंगों मे समजन की आवश्यकता पडती रहती है। जब समाज के विभिन्न अंग सुचारु रूप से समंजित होते हैं तो हमारा समाज सुसंगठित होता है, परन्तु जब वे स्वयं को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल समजित करने में विफल रहते हैं तो परिणाम सामाजिक असंतुलन अथवा विघटन होता है जो सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है। चूंकि सामाजिक विघटन समाज को अव्यवस्थित कर देता है, अतएव समाजशास्त्र में यह अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है।

१. सामाजिक विघटन का अर्थ

(The Meaning of Social Disorganization)

सामाजिक विघटन सामाजिक संगठन के विपरीत प्रक्रिया है। सामाजिक संगठन, जैसा पहले बतलाया गया है, अगो का व्यवस्थित सम्बन्ध है। इस व्यवस्थित संगठन का महत्व इसकी क्रिया में निहित है। जब सामाजिक सरचना के अंग अपने कार्यों को दक्षतापूर्वक एव प्रभावी ढंग से पूरित नही करते अथवा उनको गलत ढंग से करते हैं तो समाज में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है तथा समाज अव्यवस्थित हो जाता है। दुर्खीम (Durkheim) के अनुसार, "सामाजिक विघटन समाज के सदस्यों में मतैक्य अथवा सामाजिक दृढता के अभाव एवं सामाजिक असंतुलन की स्थिति है।"[1] डब्ल्यू० आई० थामस एवं जनेकी (Thomas and Znaniecki) के अनुसार, "सामाजिक विघटन समूहो के सदस्यों पर व्यवहार के प्रचलित नियमो के प्रभाव का ह्रास है।"[2] मोवरर (Mowerer) के अनुसार, "सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया है जो समूह के सदस्यों के बीच सम्बन्धों को विशृंखलित कर देती है।"[3] आगबर्न एवं निमकाफ (Ogburn

1. "Social disorganisation is a state of disequilibrium and a lack of social solidarity or consensus among the members of a society." —Koenig, p. 306.
2. "Social disorganization is a decrease of the influence or existing rules of behaviour upon individual members of the groups." —Quoted, *Ibid.*
3. "Social disorganisation is the process by which the relationship between members of a group are shaken."—Mowerer.

and Nimkoff) के अनुसार, "जब संस्कृति के विभिन्न अंगों के बीच सम्बन्धों की मधुरता अव्यवस्थित हो जाती है तो सामाजिक विघटन उत्पन्न होता है।"[1] आर० ई० एल० फैरिस (R. E. L. Faris) के अनुसार, "सामाजिक विघटन मानव-सम्बन्धों के प्रतिमानों एवं उनकी रचनाओं का भंग होता है।"[2] इलियट एवं मेरिल (Elliott and Merrill) के अनुसार, "सामाजिक विघटन वह प्रक्रिया है, जिसके कारण एक समूह के बीच स्थापित सम्बन्ध टूट जाते हैं अथवा समाप्त हो जाते हैं।"[3] निउमेयर (Neumeyer) के अनुसार, "समाज तब विघटित होता है जब मतैक्य अथवा उद्देश्यों की एकता भंग हो जाती है, सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं में असामंजस्य उत्पन्न होता है तथा जब सामाजिक अवस्थाओं अथवा सामाजिक परिवर्तन की दिशा का अपर्याप्त नियंत्रण हो जाता है।"[4] लैंडिस (Landis) के अनुसार, "सामाजिक विघटन मुख्यतः सामाजिक नियंत्रण के भंग होने को कहते हैं जिससे अव्यवस्था और गड़बड़ी उत्पन्न होती है।"[5] स्टुअर्ट ए० क्वीन, बी० बोडनहाफर एवं अर्नेस्ट बी० हार्पर (Stuart A. Queen, B. Bodenhafer and Ernest B. Harper) ने अपनी पुस्तक 'Social Organisation and Disorganisation' में सामाजिक विघटन को सामाजिक संगठन का प्रतिरूप बतलाया है। उनके अनुसार, जिस प्रकार सामाजिक संगठन उन साधनों की व्यवस्था करता है जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों पर प्रभावी नियंत्रण के माध्यम से अपनी एकता एवं दृढ़ता स्थिर रखता है एवं सुचारु रूप से कार्य करता है, सामाजिक विघटन समूह को शिथिल बनाता है, इसकी दृढ़ता को भंग करता है, इसके सदस्यों पर नियंत्रण को समाप्त कर देता है तथा संघर्ष एवं अपखण्डन को जन्म देता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक विघटन समाज में असमायोजनों की अपेक्षा गंभीर कुसमायोजनों को निर्दिष्ट करता है जिससे व्यक्तियों की आवश्यकताओं की संतोषप्रद संतुष्टि नहीं होती। समाज, जैसा कि हमें ज्ञात है, सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है। संगठित समाज में सामाजिक सम्बन्धों के प्रतिमान एवं उनकी रचनाएँ होती हैं। जब ये सम्बन्ध

1. "When the harmonious relationship between the various parts of culture is disturbed, social disorganization ensues."—Ogburn and Nimkoff, *A Handbook of Sociology*, p. 597.
2. "Social disorganisation is a disturbance in the patterns and mechanisms of human relations."—Faris, E. L., *Social Disorganisation*, p. 4.
3. [illegible] relationships [illegible] "—Elliot and [illegible]
4. [illegible] consensus or [illegible] s of the social [illegible] s or direction [illegible] *y In Modern Society*, p. 21.
5. "Social disorganization consists essentially of a breakdown of social control so that disorder and confusion prevail."—P. H. Landis. *An Introduction to Sociology*, p. 612.

अव्यवस्थित अथवा विघटित हो जाते हैं तो परिणाम सामाजिक विघटन होता है। सुसंगठित समाज में विभिन्न संस्थाओं के बीच मधुर समायोजन होता है अथवा दूसरे शब्दों में सामाजिक संरचना के विभिन्न तत्वों के बीच प्रकार्यात्मक संतुलन वर्तमान होता है। जब समायोजन एवं संतुलन का अभाव हो जाता है तथा संस्थाएँ संतोषपूर्वक कार्य नहीं करतीं जिससे व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तो सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार, सामाजिक विघटन को प्रकार्यात्मक असंतुलन के अर्थ में समझा जाना चाहिए। यह प्रथाओं, संस्थाओं, समूहों, समुदायों एवं समाजों के भीतर असंतुलन होता है। क्वीन एवं हार्पर (Queen and Harper) ने सामाजिक विघटन की सामाजिक संगठन से तुलना करते हुए कहा है, "यदि सामाजिक संगठन मनुष्यों एवं समूहों के बीच पारस्परिक संतोषप्रद सम्बन्धों का विकास है तो असंगठन का अर्थ है इन सम्बन्धो की ऐसे सम्बन्धों द्वारा प्रतिस्थापना जो निराशा, कुंठित इच्छाओं, दुख एवं क्षोभ को जन्म देते हैं। सामाजिक विघटन प्रायः वैयक्तिक विघटन को जन्म देता है क्योंकि व्यक्ति एक सामाजिक कृति है एवं उसका 'स्व' एक सामाजिक उपज है। परन्तु यह ध्यान रहे कि विघटन की मात्रा को मापने हेतु कोई वस्तुपरक मापदंड उपलब्ध नहीं है। क्या कोई स्थिति संगठन अथवा असगठन का परिचायक है यह प्रायः आत्मपरक निर्णय का विषय है। उदाहरणतया, सम्बन्ध विच्छेद को पारिवारिक विघटन का चिह्न समझा जा सकता है, जबकि वास्तव में इसका कारण तलाक-सम्बन्धी कानूनों का श्रेष्ठतर ज्ञान एव विवाह के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण हो सकता है।

सामाजिक विघटन के लक्षण (Characteristics of Social Disorganization)

सामाजिक विघटन के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

(i) लोकाचारों एवं संस्थाओं का संघर्ष (Conflict of Mores and of Institutions)—जैसा कि हमने पहले अध्ययन किया है, प्रत्येक समाज के अपने लोकाचार एवं इसकी संस्थाएँ होती है जो इसके सदस्यों के जीवन को नियमित करती हैं। कुछ समय उपरांत ये लोकाचार एवं संस्थाएँ पुराने हो जाते हैं। नए विचारों का जन्म होता है तथा नई संस्थाओं का निर्माण किया जाता है। प्रचलित लोकाचारो का नए लोकाचारों से संघर्ष होता है। कुछेक लोग प्राचीन लोकाचारो एवं संस्थाओं को स्थिर रखना चाहते हैं तो अन्य उनको बदलने के पक्ष में होते हैं। इससे समाज में मतैक्य भंग हो जाता है, सामाजिक संगठन टूट जाता है एवं सामाजिक विघटन का जन्म होता है। भारतीय समाज में हम लोकाचारों एवं संस्थाओं का ऐसा संघर्ष देख सकते हैं। यदि एक ओर जाति-व्यवस्था के आलोचक हैं तो दूसरी ओर उसके प्रशंसक भी हैं। अन्य अनेक विषयों, यथा तलाक, परिवार नियोजन, अस्पृश्यता, प्रेम-विवाह, संयुक्त परिवार-प्रथा, स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह, सहशिक्षा आदि पर भी गंभीर मतभेद है। हमारे समाज मे लोकाचारों के क्षेत्र में पर्याप्त भ्रांति है, अतएव हम सामाजिक विघटन की स्थिति से गुजर रहे हैं। इलियट एवं मैरिल (Elliott and Merrill) ने सामाजिक संगठन को मूलतः मतैक्य की स्थिति बतलाया है। अतएव जब लोकाचारों एवं संस्थाओं के बारे में मतभेद होता है तो सामाजिक विघटन के बीज बोए जाते हैं।

(ii) एक समूह से दूसरे समूह को कार्यों का हस्तांतरण (Transfer of functions from one group to another)—संगठित समाज में विभिन्न समूहों के कार्य परिभाषित एवं पूर्वनिश्चित होते हैं। परन्तु चूंकि समाज गतिशील है, अतएव एक समूह के कार्य दूसरे को हस्तांतरित होते रहते हैं। इस प्रकार पहले परिवार के जो महत्वपूर्ण कार्य थे, वे अब शिशुगृहों, विद्यालयों एवं गोष्ठियों को हस्तांतरित हो गये हैं जिसने पारिवारिक विघटन को जन्म दिया है। इस प्रकार, एक समूह से दूसरे समूह को कार्यों का हस्तांतरण सामाजिक विघटन का लक्षण है।

(iii) वैयक्तीकरण (Individuation)—मनुष्य आजकल स्वार्थ के दृष्टिकोण से विचार करता है। विभिन्न समूहों के कार्यों को विशुद्धतया व्यक्तिगत संदर्भ में निर्धारित किया जाता है। व्यक्तिवाद के प्रभाव के अधीन प्रत्येक व्यक्ति जीवन के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विचार करता है। नवयुवक एवं नवयुवतियाँ महत्वपूर्ण विषयों, यथा विवाह, व्यवसाय, मनोरंजन एवं नैतिकता पर अपने व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों, अभिरुचियों एवं मनोवृत्तियों के अनुसार निर्णय लेना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति ने सामाजिक विघटन की व्यापक प्रक्रिया को जन्म दिया है। जब 'हम' की भावना का स्थान 'मैं' की भावना ले लेती है, तभी सामाजिक विघटन प्रारम्भ हो जाता है।

(iv) व्यक्तियों की भूमिका एवं प्रस्थिति में परिवर्तन (Change in the role and status of the individuals)—संगठित समाज में व्यक्तियों की भूमिकायें एवं प्रस्थितियाँ परिभाषित एवं निश्चित होती हैं। उनके कार्य सुपरिभाषित होते हैं, जिन्हें वे करते रहते हैं। उन्हें समाज में अपनी भूमिका के अनुसार प्रस्थिति प्राप्त होती है। आदिम समाज विघटन से कम ग्रस्त होता है, क्योंकि यह स्थिर होता है एवं इसके सदस्य अपने निर्धारित कार्यों को करते हैं। परन्तु कालान्तर में हमारे प्रतिमान बदल जाते हैं जिससे लोगों की भूमिकाओं एवं प्रस्थितियों में भी परिवर्तन आता है। उन्हें अब स्थिर नहीं समझा जाता तथा लोग विभिन्न व्यवसायों में से अपनी इच्छानुसार व्यवसाय का चयन करना आरम्भ कर देते हैं जिससे असंतुलन उत्पन्न होता है। इस प्रकार, स्त्रियाँ अब घरों तक परिसीमित नहीं रहीं; वे कार्यालयों में नौकरी करती हैं। स्त्रियों की भूमिका-सम्बन्धी इस परिवर्तन ने पारिवारिक विघटन को जन्म दिया है। भारत सरकार निम्न जातियों की प्रस्थिति को उन्नत करने का प्रयास कर रही है जिससे जाति-व्यवस्था में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो गई है। फेरिस (Faris) ने लिखा है, "सामाजिक विघटन व्यक्तियों के प्राकृतिक सम्बन्धों का उस मात्रा तक भंजन है जो समूह के स्वीकृत कार्यों की पूर्ति में हस्तक्षेप करता है।"[1]

यह भी ध्यान रहे कि सामाजिक विघटन एक प्रक्रिया है, न कि कोई स्थिर अथवा अन्तिम अवस्था। प्रत्येक समाज में विघटन की कुछ न कुछ स्थिति सदैव बनी रहती है। कोई भी समाज ऐसा नहीं होता जो पूर्णतया संगठित अथवा विघटित हो। संगठन एवं विघटन दोनों एकसाथ ही अवस्थान करते हैं। इस प्रकार, सामाजिक विघटन कोई 'विशेष' अवस्था नहीं है; यह सामाजिक संगठन की ही एक 'स्वाभाविक' (normal) प्रक्रिया है।

1. Faris, Robert, *op. cit.*, p. 19

सामाजिक विघटन के चिह्न (Symptoms of social disorganisation)—सामाजिक विघटन समाज में रुग्ण अथवा भंजक तत्वों के अस्तित्व का द्योतक है। जिस प्रकार रोग को उसके चिह्नों से जाना जाता है, उसी प्रकार सामाजिक विघटन को भी इसके चिह्नों से जाना जा सकता है। ईलियट एवं मैरिल (Elliott and Merrill) के अनुसार, सामाजिक विघटन तीन प्रकार का, अर्थात् व्यक्ति, परिवार एवं समुदाय का विघटन हो सकता है। वैयक्तिक विघटन में उन्होंने बाल अपराध, विभिन्न प्रकार के अपराध, पागलपन, मदिरा-सेवन, आत्म-हत्या एवं वेश्यावृत्ति को सम्मिलित किया है। पारिवारिक विघटन में उन्होंने तलाक, अवैध बच्चों का जन्म, परित्याग एवं यौन रोगों को सम्मिलित किया है। समुदाय के विघटन में उन्होंने निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध एवं राजनीतिक भ्रष्टाचार को सम्मिलित किया है। परन्तु यह ध्यान रहे कि विघटन के इन तीनों प्रकारों में कोई निश्चित विभेद करना कठिन है, क्योंकि ये अन्योन्याश्रित हैं।

काल्विन एफ० श्मिड (Calvin F. Schmid) के अनुसार, विघटित समुदायों के चिह्न निम्नलिखित हैं—जनसंख्या की गतिशीलता की उच्च दर, तलाक की उच्च दर, परित्याग, अवैधता, आश्रितता, बाल अपराध एवं अपराध-वृत्ति, पुरुषों की स्त्रियों के अनुपात में अधिक संख्या, मकान-स्वामित्व की कम दर, आत्म-हत्याओं की उच्च दर, व्यापारीकृत बुराइयाँ, रोगों एवं मदिरा-सेवन से मृत्यु।

हर्बर्ट ए० ब्लाच (Herbert A. Bloch) ने सामाजिक विघटन के चिह्नों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—(i) समाजशास्त्रीय एवं (ii) साहित्यिक-आदर्शात्मक। उसने समाजशास्त्रीय चिह्नों को तीन वर्गों में रखा : व्यक्ति, परिवार एवं समुदाय। साहित्यिक-आदर्शात्मक चिह्नों से उसका अभिप्राय साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों में प्रकट होने वाली कुछ प्रवृत्तियों से था जो विक्षिप्त मानसिक अवस्था को सूचित करती हैं। इन प्रवृत्तियों में उसने भूतकाल को लौट जाने की इच्छा एवं वैयक्तिक भग्नाशा, विद्रोह अथवा विरोध से सम्बन्धित विषयों को सम्मिलित किया। **क्वीन, बोडेनहाफर एवं हार्पर** (Queen, Bodenhafer and Harper) ने सामाजिक विघटन की सूची में बेरोजगारी, निर्धनता, बीमारी, आवासहीनता, पागलपन एवं दुर्बल मन को सम्मिलित किया है। फेरिस (Faris) ने सामाजिक विघटन के निम्नलिखित चिह्नों की गणना की है—(i) औपचारिकवाद, (ii) पवित्र तत्वों का ह्रास, (iii) अभिरुचियों का व्यक्तिपन, (iv) वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं व्यक्तिगत अधिकारों पर बल, (v) सुखवादी आचरण, (vi) जनसंख्यात्मक विजातीयता, (viii) पारस्परिक अविश्वास, (viii) गड़बड़ी की स्थिति।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर सामाजिक संगठन व सामाजिक विघटन के बीच अंतरों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

(i) सामाजिक संगठन सामाजिक जीवन की व्यवस्थित अवस्था का द्योतक है। सामाजिक विघटन अव्यवस्था की स्थिति का संकेत करता है।

(ii) सामाजिक संगठन की स्थिति में समाज के सदस्यों में मतैक्य होता है, जबकि विघटन की स्थिति में इसका अभाव होता है।

(iii) सामाजिक संगठन की स्थिति में सामाजिक जीवन को व्यवस्थित एवं प्रगतिशील बनाने वाली शक्तियाँ प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करती हैं, परन्तु सामाजिक विघटन की स्थिति में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ प्रभावी हो जाती हैं।

(iv) सामाजिक संगठन में सामाजिक नियंत्रण उचित ढंग से चलता है, परन्तु सामाजिक विघटन की स्थिति में सामाजिक नियंत्रण शिथिल हो जाता है।

(v) सामाजिक संगठन की स्थिति में समाज के विभिन्न अंगों के बीच सामंजस्यपूर्ण प्रकार्यात्मक सम्बन्ध बना रहता है, परन्तु सामाजिक विघटन की स्थिति में यह सम्बन्ध तनावपूर्ण हो जाता है।

(vi) सामाजिक संगठन की स्थिति में लोगों की आवश्यकताएँ अधिकतम मात्रा में संतुष्ट होती हैं, परन्तु विघटन की स्थिति में सामान्य आवश्यकताओं की संतुष्टि के मार्ग में बाधायें उत्पन्न होती हैं।

(vii) सामाजिक संगठन की अवस्था प्रगति की ओर एक क्रियाशील अवस्था है, जबकि सामाजिक विघटन पतन की ओर ले जाने वाली स्थिति है।

२. सामाजिक विघटन के कारण
(Causes of Social Disorganization)

(i) श्रम-विभाजन (Division of labour)—सामाजिक विघटन समाज में सदैव वर्तमान रहा है और रहता है। जैसा ऊपर बतलाया गया है, मनुष्य को सभ्यता के आरम्भ-काल से विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। एक ऐसा समाज जिसका प्रत्येक संरचनात्मक अंग अन्य सभी अंगों से प्रकार्यात्मक रूप से समन्वित हो, केवल कल्पना है। यदि सामाजिक विघटन सार्वभौमिक परिघटना है तो प्रश्न उठता है कि इसका क्या कारण है। दुर्खीम (Durkhiem) के अनुसार, श्रम का अति-विभाजन सामाजिक विघटन का कारण है। श्रम-विभाजन सामान्य रूप से सामाजिक दृढ़ता का उत्पादक है, परन्तु जब यह अतिशय एवं जटिल हो जाता है तो दृढ़ता का ह्रास या लोप हो जाता है एवं सामाजिक सतुलन भग हो जाता है। श्रम का अतिशय विभाजन सभी प्रकार के आर्थिक संकटों, वर्ग-संघर्ष एवं औद्योगिक कलह को जन्म देता है तथा व्यक्तियों, परिवार एवं समुदाय के मनोबल को समाप्त कर देता है। सक्षेप में, जैसा क्योनिग (Koenig) ने लिखा है, "यह एक असामान्य एवं असंगत स्थिति उत्पन्न करता है जिसमें विभिन्न अंगों का समुचित समेकन नहीं होता, अपितु वे एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करते हैं तथा विसंगति की स्थिति होती है।"[1]

(ii) सामाजिक नियमों का उल्लंघन (Violation of social rules)—थामस एवं जनेकी (Thomas and Znaniecki) के अनुसार, जब समाज के नियम एवं विनियम व्यक्तियों को नियंत्रणाधीन रखने में असफल रहते हैं तो सामाजिक विघटन प्रारम्भ हो जाता है। समाज में कुछ व्यक्ति सदा ऐसे होते हैं जो सामाजिक नियमों का उल्लंघन करते हैं। यदि उल्लंघनों को रोका न जाए, तो

1. Koenig, *Sociology*, p. 306.

सामाजिक संस्थाओं पर विघटनकारी प्रभाव पड़ता है। इलियट एवं मैरिल के अनुसार, "सामाजिक मूल्यों के बिना न तो सामाजिक संगठन एवं न सामाजिक विघटन विद्यमान होगा।" सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन का पुराने मूल्यों के साथ संघर्ष होता है। नए मूल्यों को समाज मे समायोजित होने में समय लगता है, परन्तु इसी बीच में सामाजिक विघटन का विस्तार हो जाता है। भारतीय समाज के परम्परागत मूल्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है जिसके फलस्वरूप पुराने एवं नए मूल्यों के बीच घोर संघर्ष उत्पन्न हो गया है। परिणामतः हम सामाजिक विघटन की प्रक्रिया को द्रुत गति से क्रियाशील होते देखते हैं।

(iii) औद्योगीकरण (Industrialization)—औद्योगीकरण भी सामाजिक विघटनकारी स्थितियों को उत्पन्न करता है। हम 'परिवार' के अध्याय मे पारिवारिक संरचना एवं सम्बन्धों पर औद्योगीकरण के प्रभावों का अध्ययन कर चुके हैं। 'आर्थिक संस्थाओं' के अध्याय में हमने देखा कि औद्योगीकरण ने पूंजीवाद, शोषण एवं वर्ग-संघर्षों को जन्म दिया है। इसने बेरोजगारी, अपराध, अनैतिकता, पारिवारिक विघटन, नगरीकरण एव इसके दोषों में योगदान दिया है।

(iv) सांस्कृतिक विलम्बना (Cultural lag)—आगबर्न (Ogburn) का विचार था कि सामाजिक विघटन का प्रमुख कारण संस्कृति के विभिन्न अंगो मे परिवर्तन की असमान दर है जो उनके बीच संघर्ष को जन्म देती है। परिवर्तनशील सामाजिक संरचना के प्रकार्यात्मक रूप से अन्योन्याश्रित विभिन्न अंगों में परिवर्तन की अनुपातहीन दर असंतुलन की स्थिति उत्पन्न कर देती है। इस असमान परिवर्तन का कारण यह है कि संस्कृति के भौतिक पक्ष में इसके अभौतिक पक्ष की अपेक्षा शीघ्र परिवर्तन होते हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी जहाँ एक ओर अधिक कुशल भौतिक संस्कृति, अधिक ज्ञान एवं जीवन के उच्च स्तर को सुलभ बनाते है, वहाँ वे दूसरी ओर सामाजिक विघटन को भी उत्पन्न करते हैं। "जब सिनेमा चलचित्रों में प्रयुक्त ध्वनि के माध्यम से बने संगीत के रिकार्डों के परिणामस्वरूप १०,००० गायकों को नौकरियों से निकाल दिया जाता है तो उसका परिणाम आर्केस्ट्रा एवं गायकों का विघटन होता है जिन्हें रोजगार नहीं मिल सकेगा।" आधुनिक प्रौद्योगिकी अत्यन्त शीघ्रता से बदल रही है एवं महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दे रही है जिनके साथ हमारी संस्थाओं का अभी तक समायोजन नहीं हो सका है। आगबर्न ने विभिन्न सामाजिक समस्याओं, यथा बेरोजगारी, निर्धनता, अपराध, प्रजाति-संघर्ष, पारिवारिक विघटन एवं श्रम-समस्याओं के विश्लेषण द्वारा यह दिखलाया है कि सामाजिक विघटन संस्कृति में अनियमित परिवर्तनों से उद्‌भूत होता है।

(v) प्राकृतिक विपदायें (Natural catastrophes)—आगबर्न के अनुसार, केवल प्रौद्योगिकीय आविष्कारों को ही सामाजिक विघटन का एक मात्र कारण नहीं समझा जाना चाहिए। पारिस्थितिकीय घटनाएँ भी, अर्थात् मनुष्य के प्रकृति के साथ सम्बन्धों में विघ्न, यथा रोग, भूकम्प, बाढ़, ज्वालामुखी-विस्फोट तथा अन्य प्राकृतिक संकट भी समाज पर विघटनकारी प्रभाव डालते हैं। १३४८ मे 'काली मृत्यु' इंग्लैंड में फैली तो कहा जाता है कि एक वर्ष से कुछ अधिक की अवधि मे सम्पूर्ण जनसंख्या

के एक-तिहाई से आधे तक लोग नष्ट हो गए। भूतकाल में समाज पर प्राकृतिक विपदाओं का अधिक प्रभाव होता था। वर्तमान काल में इनको नियंत्रित कर लिया जाता है। हमारे पास पर्याप्त ज्ञान है जिससे हम संक्रामक रोगों को रोक सकते हैं, भूकम्प से प्रभावित न होने वाले मकानों का निर्माण कर सकते हैं तथा बाढ़ से सुरक्षा के लिए बांधों का निर्माण कर सकते हैं। भारत में आई बाढ़ों के अनुभव से प्रकट होता है कि सामाजिक संगठन पर भौगोलिक तत्वों के प्रभाव को कम नहीं आंका जाना चाहिए।

प्राकृतिक विपदाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के संकट भी हो सकते हैं जिनसे सामाजिक विघटन उत्पन्न हो सकता है। महान् नेता की आकस्मिक मृत्यु संकट उत्पन्न कर सकती है जिससे समाज अस्त-व्यस्त हो सकता है। महात्मा गांधी की हत्या ने भारत के लिए ऐसा ही संकट उत्पन्न किया। समय-समय पर होने वाली घटनाओं के परिणामस्वरूप कभी-कभी कोई संकट पुंजीभूत रूप धारण कर सकता है। भारत का विभाजन एक पुंजीभूत संकट था। कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग में मतभेद बढ़ते गए, हिन्दुओं एवं मुसलमानों में घृणा फैलती गई, साम्प्रदायिक दंगे समय-समय पर होते रहे, साम्प्रदायिकता की अग्नि धीरे-धीरे फैलती गई एवं अन्त में देश का विभाजन हुआ। भारतीय एवं पाकिस्तानी दोनों समाजों को गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा जो आज तक भी हल नहीं हो सकी हैं।

(vi) **युद्ध (War)**—जबकि युद्ध सामाजिक विघटन का परिणाम होता है, यह इसका कारण भी है। युद्ध देश की अर्थ-व्यवस्था को भंग कर देता है एवं समाज में कुव्यवस्था एवं भ्रान्ति को जन्म देता है। युद्ध से दुर्लभता उत्पन्न होती है जिससे वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और लोग चोरबाजारी एवं गुप्त संचय करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, युद्ध में देश के नवयुवकों का बलिदान होता है जिसके परिणामस्वरूप नवयुवतियाँ विधवा हो जाती हैं। उनका कोई सहारा नहीं रहता। इससे लैंगिक सम्बन्धों पर प्रभाव प्रभाव पड़ता है। युद्ध पुरुष-स्त्रियों के अनुपात को भी प्रभावित करता है। सामाजिक मूल्यों की भी हानि होती है।

(vii) **आनुवंशिक स्वभाव का संस्कृति से कुसमायोजन (*Maladaptation of inherited nature to culture*)**—आगबर्न ने सामाजिक विघटन के एक अन्य कारण का उल्लेख किया है, और वह है समूह के पर्यावरण एवं संस्कृति के साथ मनुष्य के आनुवंशिक स्वभाव में अनुकूलन का अभाव। जबकि संस्कृति में परिवर्तन तीव्रता से होते हैं, मनुष्य का स्वभाव कोषाणु में परिवर्तन द्वारा अत्यन्त धीरे-धीरे बदलता है। समूह-जीवन में सहयोग तथा दूसरों के अधिकारों के प्रति आदर निहित है, परन्तु मनुष्य की आक्रामक एवं अर्जनशील प्रवृत्तियाँ समूह द्वारा आरोपित प्रतिबंधों के साथ सुगमता से समंजित नहीं होतीं। सामाजिक पर्यावरण मनुष्य पर ऐसी अपेक्षाएँ आरोपित करता है जिनकी पूर्ति करना मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन होता है। आधुनिक नगरीकृत समाज में जीवन अत्यन्त प्रतियोगितात्मक एवं भारयुक्त है जिससे अनेक व्यक्तियों का मनोबल टूट जाता है अथवा वे विघटन के शिकार हो जाते हैं।

यह भी ध्यान रहे कि जहाँ एक ओर आधुनिक समाजों में संक्रामक रोगों पर नियंत्रण कर लिया गया है, वहाँ दूसरी ओर अन्य शारीरिक अयोग्यताएँ, परिसंचारी अव्यवस्थाएं, कैंसर एवं विविध तन्तु-सम्बन्धी रोग अधिक सामान्य हो गए हैं। इन रोगों की संख्या में वृद्धि जीवन की आधुनिक शैली की उपज है। सामाजिक परिवर्तन के तनावों एवं भारों द्वारा जनित स्नायु-सम्बन्धी तनाव, उच्च रक्तचाप, दोषपूर्ण हृदय-क्रिया एवं आमाशयी अलसर के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं। मानसिक विक्षिप्तियाँ भी जीवन की आधुनिक शैली के साथ प्रत्यक्ष रूप से संबंधित हैं। कहा जा सकता है कि इन रोगों के रूप में व्यक्ति सामाजिक परिवर्तन का मूल्य चुका रहे हैं।

अंत में, कहा जा सकता है कि सामाजिक विघटन संसार में सर्वत्र व्यापी है। सभी समाजों मे द्रुत परिवर्तन हो रहे हैं जिनसे विविध सांस्कृतिक विलंबनाओं का समुच्चय हो रहा है। परिवार में, उद्योग में, शासन में, विद्यालय में एवं धर्म में अनेक सांस्कृतिक विलंबनाओं को देखा जा सकता है। अनौपचारिक एवं परम्परागत नियंत्रण आधुनिक समाज मे व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करने में विफल रहे हैं। अनेक लोग मूल्यों एवं व्यवहार सम्बन्धी नियंत्रणों की समन्वित व्यवस्था को आंतरीकृत करने में असफल रहते हैं। परिणामस्वरूप वे विघटित हो जाते हैं तथा मानसिक रोगी कहलाते हैं।

३. सामाजिक समस्याओं का स्वरूप
(The Nature of Social Problems)

सामाजिक समस्याएं समाज के कल्याण को आघात पहुँचाने वाली परिस्थितियाँ होती हैं (Social problems are the conditions threatening the well-being of society)—समाजशास्त्र की अमेरिकन पत्रिका मे लारेंस के० फ्रैंक (Lawrence K. Frank) ने एक लेख 'सामाजिक समस्याओं' में सामाजिक समस्या को अनेक व्यक्तियों की व्यवहार-सम्बन्धी कठिनाई, जिसे हम दूर करना अथवा ठीक करना चाहते हैं, के रूप में परिभाषित किया है।[1] हार्टन एवं लैसली (Harton and Leslie) के अनुसार, "सामाजिक समस्या अवांछनीय समझे जाने वाले ढंगों में पर्याप्त संख्या में लोगों के व्यवहार को प्रभावित करने वाली दशा है, जिसके बारे में यह अनुभव किया जाता है कि सामूहिक सामाजिक क्रिया द्वारा कुछ किया जाना चाहिए।"[2] रिचर्ड सी० फुलर (Richard C. Fuller) एवं रिचर्ड आर० मेयर्स (Richard R. Meyers) के अनुसार, सामाजिक समस्या एक ऐसी

1. 'Social Problems' in the American Journal of Sociology, defined a social problem as "any difficulty of misbehaviour of a fairly large number of persons which we wish to remove or correct."—Lawrence K. Frank.
2. "Social problem is a condition affecting a significant number of people in ways considered undesirable, and about which it is felt something can be done through collective social action."—Paul B. Harton and Gerald R. Leslie.

दशा है जिसे पर्याप्त संख्या में लोग उनके द्वारा मूल्यवान् समझे जाने वाले सामाजिक प्रतिमान से विचलन समझते हैं।"[1] लुंडबर्ग एवं अन्य के अनुसार, "सामाजिक समस्या अस्वीकृत दिशा में उस अंश तक विचलित व्यवहार है कि यह समुदाय की सहनशीलता-सीमा को लाँघ जाता है।"[2] ग्रीन (Green) के अनुसार, "सामाजिक समस्या ऐसी परिस्थितियों का पुंज है जिसे समाज में बहुसंख्यक अथवा पर्याप्त अल्पसंख्यक द्वारा नैतिकतया गलत समझा जाता है।"[3] सामाजिक समस्याएँ ऐसी दशाएँ अथवा परिस्थितियाँ हैं जिन्हें समाज अपने कल्याण अथवा स्थापित प्रतिमानों के लिए आघात समझता है, अतएव जिन्हें दूर करने की आवश्यकता होती है। अनेक व्यक्ति इन स्थितियों की निंदा करते हैं। वे सामाजिक कुसमायोजन के चिह्न हैं। सामाजिक समस्याएँ असंतोष, दुःख एवं कष्ट उत्पन्न करती हैं। समाज सदा समन्वित नहीं होते। वे एक-दूसरे को ईर्ष्या एवं शंका से देखते हैं। अतएव समाज में कुसमायोजन के अनेक मामले उत्पन्न हो जाते हैं। समाजशास्त्र का कार्य यह है कि ऐसे मामलों का अध्ययन करे एवं उनके आधारभूत कारणों की खोज करे।

सामाजिक समस्याओं का आत्मपरक तत्व (Subjective element of social problems)—क्या कोई स्थिति विशेष सामाजिक समस्या है अथवा नहीं, यह अधिकांशतया आत्मपरक निर्णय है। एक समाज में किसी स्थिति को समस्या समझा जा सकता है, जबकि अन्य समाज में हो सकता है, उसे समस्या न समझा जाए। इसके अतिरिक्त उसी समाज में जिसे आज समस्या समझा जाता है, हो सकता है, परिस्थितियाँ एवं मनोवृत्तियाँ बदल जाने के कारण कल उसे ऐसा न समझा जाए। सामाजिक समस्याएँ केवल वही हैं जिन्हें लोग ऐसा समझते हैं तथा यदि किन्हीं परिस्थितियों को उनसे प्रभावित व्यक्तियों द्वारा समस्याएँ नहीं समझा जाता तो ऐसी परिस्थितियाँ इन व्यक्तियों के लिए समस्याएँ नहीं हैं, यद्यपि वे दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए समस्याएँ हो सकती हैं। इस प्रकार, प्राचीन यूनान में जहाँ पुजारिन-वेश्याओं की आय से धार्मिक मंदिरों का निर्माण एवं उनका संरक्षण होता था, वेश्यावृत्ति कोई समस्या नहीं थी। प्राचीन भारत में जातिप्रथा कोई समस्या नहीं थी। अनेक जातियाँ अपना परम्परागत व्यवसाय करती थीं तथा उनकी आनुवंशिक प्रस्थिति को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त थी। अमेरिका में दासप्रथा कभी समस्या न बनती, यदि इसको चुनौती न दी जाती। इस प्रकार कोई परिस्थिति विशेष उस समय तक सामाजिक समस्या नहीं बनती, जब तक उसे बहुमत अथवा पर्याप्त अल्पसंख्यकों द्वारा नैतिक तौर पर गलत न समझा जाए। परन्तु सामाजिक समस्याओं के इस आत्मपरक तत्व के बावजूद

1. "Social problem is a condition which is defined by a considerable number of persons as a deviation from some social norms which they cherish."—Richard C. Fuller and Richard R. Meyers.
2. "A social problem is any *deviant behaviour in a disapproved direction* of such a degree that it exceeds the tolerance limit of the community." —Lundberg & Others, *op. cit.*, p 349.
3. "A social problem is a set of conditions which are defined as morally wrong by the majority or substantial minority within a society." —Green, A., *Sociology*, p. 246.

कुछ सामाजिक समस्याएँ सार्वभौमिक एवं स्थायी होती हैं। युद्ध, अपराध, बेरोजगारी एवं निर्धनता को सदा सभी समाजों द्वारा प्रमुख सामाजिक समस्याएँ समझा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की प्रत्येक स्थान पर समान मूलाधार वृत्तियाँ होती हैं तथा उन्हें समान प्रकार की पर्यावरणीय एवं सामाजिक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इसी कारण से वर्तमान काल की अनेक सामाजिक समस्याएँ प्राचीन काल की समस्याओं के समरूप हैं।

प्रत्येक सामाजिक समस्या में तीन बातें निहित होती हैं। सर्वप्रथम, समस्या को उत्पन्न करने वाली परिस्थिति को बदलने के लिए कुछ किया जाना चाहिए। द्वितीय, प्रचलित सामाजिक व्यवस्था को समस्या के समाधान हेतु बदलना होगा। तृतीय, समस्या समझी जाने वाली परिस्थिति अवांछनीय है, परन्तु अपरिहार्य नहीं है। व्यक्ति उस परिस्थिति की निंदा करते हैं, क्योंकि उनके विचारानुसार उसे सुधारा या समाप्त किया जा सकता है। यह भी ध्यान रहे कि कोई परिस्थिति उसी अवस्था में समस्या का रूप धारण करती है, जब लोगों को अभिज्ञता हो जाए कि परिस्थितियों ने अमुक अभीप्सित मूल्यों को भय उत्पन्न कर दिया है तथा वे संकटमय बन गई हैं। ऐसी अभिज्ञता के बिना कोई परिस्थिति समस्या का रूप धारण नहीं करती। इस अभिज्ञता का ज्ञान उस समय हो जाता है जब लोग कहना आरम्भ कर देते हैं कि 'स्थिति को समाप्त करने हेतु कुछ किया जाना चाहिए'। जब लोग कहते हैं कि 'कुछ किया जाना चाहिए', वे यह भी प्रस्तावित करते हैं कि 'यह अथवा वह किया जाना चाहिए'। ऐसी दशा में साधनों एवं साध्यों के प्रश्न पर विचार किया जाता है एवं विकल्पात्मक समाधानों को प्रस्तावित किया जाता है। भारत में अस्पृश्यता ने उस समय सामाजिक समस्या का रूप धारण किया, जब लोगों द्वारा यह अनुभव किया गया कि यह सामाजिक एकता के लिए भय है।

सामाजिक समस्याओं का वर्गीकरण (Classification of social problems)--कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समस्याओं को वर्गीकृत करने का प्रयास किया है। हैरोल्ड ए० फेल्प्स (Hardd A. Phelps) ने उनको चार श्रेणियों में रखा जो उनके चार प्रमुख स्रोतों, अर्थात् आर्थिक, जैविक, जैवी-मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक के अनुरूप हैं। आर्थिक कारणों से उत्पन्न समस्याओं में उसने निर्धनता, बेरोजगारी, पराश्रितता आदि को सम्मिलित किया। जैविक स्रोतों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं में उसने शारीरिक रोगों एवं न्यूनताओं को सम्मिलित किया। मनोवैज्ञानिक स्रोतों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं में उसने घबराहट, बेहोशी, मिरगी, दुर्बल मानसिकता, आत्महत्या एवं मद्यपता को सम्मिलित किया। सांस्कृतिक स्रोतों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं में उसने बूढ़े, बेघर एवं विधुर व्यक्तियों की समस्याओं, तलाक, अवैधता, अपराध एवं बाल-अपराध आदि को सम्मिलित किया।

अमेरिका में अर्वाचीन सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करने हेतु नियुक्त राष्ट्रपति की समिति ने अपने प्रतिवेदन में सामाजिक समस्याओं का कारण मुख्य रूप से भौतिक विरासत, जैविक विरासत एवं सामाजिक नीति में अपर्याप्तताओं को बतलाया। भौतिक विरासत में उसने प्राकृतिक स्रोतों के ह्रास एवं संरक्षण की

समस्याओं को सम्मिलित किया। द्वितीय श्रेणी, अर्थात् जैविक में उसने जनसंख्या के गुणों एव इसकी संख्या, वृद्धि, गतिशीलता, ह्रास से सम्बन्धित तथा जन्म-नियंत्रण एवं सुप्रजनन की समस्याओं को सम्मिलित किया। तृतीय श्रेणी, सामाजिक विरासत में प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों, बेरोजगारी, व्यापार-चक्रों, शिक्षा, राजनीति, धर्म, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं अल्पसंख्यक समूहों से सम्बन्धित समस्याओं को सम्मिलित किया गया। सामाजिक नीति के अंतर्गत आयोजन तथा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन तथा संस्थाओं के पुनर्गठन से सम्बन्धित समस्याओं को सम्मिलित किया गया।

परन्तु उपर्युक्त समस्याओं में से किसी समस्या को किसी एक विशिष्ट श्रेणी के अधीन नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार, निर्धनता का कारण बीमारी, एक जैविक स्रोत, अपर्याप्त व्यावसायिक अवसर, सांस्कृतिक कारण हो सकता है। इसी प्रकार किसी भी समस्या के अनेक कारण हो सकते हैं। बेरोजगारी का कारण सामाजिक नीति अथवा भौतिक साधन हो सकता है। युद्ध का कारण आर्थिक अथवा सांस्कृतिक स्रोत हो सकते हैं। प्रत्येक सामाजिक समस्या के कारण एक अकेले स्रोत में नहीं, अपितु अनेक स्रोतों मे पाए जा सकते हैं; अतएव किसी सामाजिक समस्या के समुचित समाधान हेतु इन सभी कारणों की खोज करना आवश्यक है।

४. सामाजिक समस्याओं के कारण
(The Causes of Social Problems)

जैसा कि पूर्वोक्त अनुच्छेद में कहा गया है, सामाजिक समस्याओं का कोई अकेला अथवा सरल कारण नहीं होता। प्रत्येक समस्या का जटिल इतिहास होता है एवं इसके प्राय: अनेक कारण होते हैं जिनको निर्धारित करना कभी-कभी कठिन भी होता है। इन अनेक कारणों में किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। युद्ध, निर्धनता, अपराध अथवा बेरोजगारी के कारणों की अकेली अथवा सरल व्याख्या सम्भव नहीं है। कभी-कभी एक समस्या किसी अन्य समस्या के साथ इस प्रकार सम्बद्ध होती है कि पूर्वोक्त को उत्तरोक्त के बिना हल नहीं किया जा सकता। उदाहरणतया, अपराध की समस्या को निर्धनता की समस्या का समाधान किए बिना हल नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, सामाजिक समस्याओं पर उनकी जटिल सम्पूर्णता के सापेक्ष में विचार किया जाना चाहिए, तभी उनको ठीक प्रकार से समझा जा सकता है एवं समुचित रूप से हल किया जा सकता है।

इस तथ्य के बावजूद कि किसी भी समस्या का कोई अकेला विशिष्ट कारण नहीं होता, कुछ समाजशास्त्रियों ने किसी समस्या की एक ही व्याख्या खोजने का प्रयास किया है। साधारण व्यक्तियों में भी यह विचार व्यापक है कि समस्या का कारण एक एवं सरल होता है।

आधुनिक अपराधशास्त्र के पिता, लोम्ब्रोसो (*Lombroso*) का विचार था कि आपराधिक व्यवहार जन्मजात एवं मुख्य रूप से जैविक परिघटना है। उसने कहा कि अपराधी में कुछ निश्चित शारीरिक चिह्न अथवा असंगततायें होती हैं, यथा

सम्यक् खोपड़ी, लम्बा निचला जबड़ा, चपटी नासिका आदि। यह पुरखा रोगी एवं आदिम मनुष्य का प्रतिनिधित्व करता है। लोम्ब्रोसो के विचार को अंग्रेज अंकशास्त्री चार्ल्स गोरिन (Charles Gorin) ने अस्वीकार किया। उसने सिद्ध किया कि शारीरिक लक्षणों के स्तर पर अपराधी तथा गैर-अपराधी व्यक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। एक अमेरिकन मनोवैज्ञानिक हेनरी एच० गोडार्ड (Henry H. Goddard) का विचार है कि अपराध-वृत्ति का कारण मूलतः मानसिक न्यूनता, विशेषतया दुर्बल मानसिकता होती है। परन्तु उसकी इस मान्यता को शीघ्र ही विभिन्न खोजों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि संवेगात्मक असंतुलन अथवा ग्रंथिक बाधा आपराधिक व्यवहार का कारण है। परन्तु उनके इस मत को अनेक अपराधशास्त्रियों द्वारा अमान्य कर दिया गया है। एक अपराधशास्त्री के विचार में पूँजीवादी व्यवस्था के दबाव एवं दोष अपराध को जन्म देते हैं। मान्टेस्क्यू (Montesquieu) के विचारानुसार, भौगोलिक तत्व, यथा जलवायु, ऋतु आदि अपराध के कारण हैं, परन्तु कोहेन (Cohen) ने इस विचार को अस्वीकृत कर दिया है तथा कहा है कि भौगोलिक सम्प्रदाय की अवधारणा तथ्यगत की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है।

आजकल अपराध-सम्बन्धी सामान्यतः मान्य विचार यह है कि अपराध का कोई अकेला कारण नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति विभिन्न कारणों से अपराधी बनते हैं। यद्यपि अनेक मामलों में कुछ सामान्य कारक वर्तमान हो सकते हैं, तथापि लगभग प्रत्येक उदाहरण में कारकों का मिश्रण विचित्र होता है। कोई स्थिति अथवा परिस्थिति एक व्यक्ति को अपराधी बना देती है, परन्तु दूसरे व्यक्ति पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आपराधिक व्यवहार पर्यावरण एवं व्यक्तित्व से सबंधित अनेक अन्तःसंबंधित कारकों के कारण उत्पन्न हो सकता है। वाल्टर सी० रैकलेस (Walter C. Reckless) का विचार था कि अपराधशास्त्र को अपराध के सामान्य कारणों की निराशाजनक खोज का परित्याग कर आपराधिक व्यवहार से सम्बद्ध कुछ परिस्थितियों के सापेक्ष महत्व की स्थापना से संतुष्ट रहना चाहिए।

जो बातें अपराध की समस्या के बारे में ठीक हैं, वही अन्य सामाजिक समस्याओं, यथा बेरोजगारी, निर्धनता, आत्महत्या, युद्ध आदि के बारे में भी ठीक हैं। इन समस्याओं की कोई एक अथवा सरल व्याख्या नहीं की जा सकती। बेरोजगारी का कारण दोषयुक्त आर्थिक नियोजन, औद्योगीकरण अथवा शिक्षा की अपर्याप्त व्यवस्था हो सकता है। निर्धनता प्राकृतिक स्रोतों के अशक्त संरक्षण, लोगों की जैविक अयोग्यताओं अथवा पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम हो सकती है। आत्महत्या का कारण मानसिक असमायोजन, पारिवारिक कलह अथवा कुरीतियाँ हो सकते हैं। इसी प्रकार, युद्ध का कारण लोगों की आक्रामक प्रवृत्ति, आर्थिक दशाएँ अथवा साम्राज्यवाद हो सकता है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याओं की विशिष्टवादी व्याख्या जिसके अंतर्गत किसी एक कारक को समस्या का कारण समझा जाता है, पूर्णतया अपर्याप्त है। सामाजिक समस्याओं का जन्म अनेक कारणों से होता है जिन्हें एक अकेले सिद्धान्त के अधीन सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। समस्या भौतिक, जैविक, मानसिक एवं सांस्कृतिक तत्वों के मिश्रण

अथवा इनमें से किसी एक के कारण उत्पन्न हो सकती है। जैसा ऊपर बतलाया गया है, एक परिस्थिति विभिन्न लोगों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित कर सकती है। समान परिस्थितियों में रहने वाले लोग आवश्यकतया समान ढंग से व्यवहार नहीं करते।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी सामाजिक समस्या के कारण की खोज व्यर्थ है, अपितु इससे तो यह स्पष्ट होता है कि किसी समस्या के सभी कारणों की खोज करना अत्यावश्यक है तथा उसकी किसी एक अथवा सरल व्याख्या से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। समस्या के सभी कारणों की खोज करने के उपरांत ही इसका समुचित समाधान किया जा सकता है। यह सम्भव है कि कोई विशेष कारण प्राथमिक स्रोत हो तथा अन्य आनुषंगिक, परन्तु कौन-सा प्राथमिक है एवं कौन-सा आनुषंगिक, इस पर मतभेद हो सकता है। दुर्खीम के अनुसार, समुदाय के सदस्यों के बीच संचरण में बाधाएं विचलित व्यवहार को जन्म दे सकती हैं। संचरण में बाधाओं के दो कारण हो सकते हैं—(i) वैयक्तिक कारण, यथा दुर्बल मानसिकता, शारीरिक अयोग्यता आदि; एवं (ii) सामाजिक कारण, यथा नगरीकरण, औद्योगीकरण, गतिहीनता, संघर्षशील संहिताएँ एवं प्रतिमान तथा अशक्त सामाजिक संस्थायें। पी० ए० पार्सन्स (P. A. Parsons) का विचार था कि मनुष्य का उसके भौतिक स्रोतों के साथ अपूर्ण समायोजन उसकी समस्याओं के लिए उत्तरदायी है, जबकि ए० बी० वुल्फ (A. B. Wolfe) का मत था कि आधारभूत सामाजिक समस्या जनसंख्या-सम्बन्धी है। आगबर्न (Ogburn) का विचार था कि अनेक सामाजिक समस्याएँ संस्कृति एवं इसकी संस्थाओं में निरन्तर परिवर्तनों के साथ मनुष्य के मौलिक स्वभाव की स्वयं को समायोजित करने की विफलता का परिणाम हैं।

प्रश्न

१. सामाजिक विघटन का क्या अर्थ है ? इसके क्या कारण हैं ?

२. सामाजिक समस्याओं को आप किस प्रकार वर्गीकृत करेंगे ? क्या सामाजिक समस्याओं का संतोषप्रद वर्गीकरण करना व्यावहारिक है ?

३. सामाजिक समस्याओं के क्या कारण हैं ?

४. सामाजिक संगठन एवं सामाजिक विघटन शब्दों के अर्थ को स्पष्ट कीजिए। सामाजिक विघटन के प्रमुख कारणों का उल्लेख कीजिए।

अध्याय ४३

प्रमुख सामाजिक समस्याएँ

[MAJOR SOCIAL PROBLEMS]

हमने परिवार, शिक्षा, धर्म एवं सामाजिक जीवन की अन्य संस्थाओं से संबंधित अध्यायों में कुछ प्रमुख सामाजिक समस्याओं का उल्लेख किया है। इस अध्याय में हम समकालीन समाज के सम्मुख कुछ अन्य समस्याओं, जिनका इस पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है, का वर्णन करेंगे। ये कुछ समस्याएँ हैं—निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध एवं युद्ध।

१. निर्धनता
(Poverty)

निर्धनता अमीरी का सापेक्ष है (Poverty is relative to richness)—निर्धनता भारत एवं अन्य देशों के सम्मुख प्रमुख सामाजिक समस्याओं में से एक समस्या है। जॉन एस० गिलिन (John L. Gillin) के अनुसार, "निर्धनता वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपर्याप्त आय अथवा मूर्खतापूर्ण व्ययों के कारण अपनी शारीरिक एवं मानसिक दक्षता को प्राप्त करने तथा अपने एवं अपने ऊपर आश्रित व्यक्तियों का समाज, जिसका वह सदस्य है, के मानकों के अनुसार कार्य करने योग्य बनाने हेतु आवश्यक जीवन-स्तर को स्थिर नहीं रख सकता।"[1] जब व्यक्ति पर्याप्त भोजन एवं जीवन की अन्य आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में असमर्थ होता है तो उसे निर्धनता कहते हैं। जे० जी० गोडार्ड (J. G. Goddard) के अनुसार, "निर्धनता उन वस्तुओं का अपर्याप्त संभरण है जो व्यक्ति एवं उसके आश्रितों के स्वास्थ्य एवं जीवन-शक्ति को स्थिर रखने हेतु अपेक्षित हैं।"[2] धनी एवं निर्धन समाज में सदा रहे हैं, परन्तु ऐतिहासिक रूप में निर्धनता ने उस समय तक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या का रूप धारण नहीं किया, जब तक विनिमय-प्रणाली एवं मूल्यों के स्तर की स्थापना नहीं हुई। जब व्यापार का विस्तार हुआ तो कुछ लोगों ने धन संचय करना आरम्भ कर दिया जिससे असमान वितरण का जन्म हुआ। वे ऐश्वर्य भोगने लगे, जबकि दूसरे लोगों को सुविधाएँ तक भी प्राप्त नहीं थीं। समाज के सदस्यों ने आर्थिक प्रस्थिति में अंतरों की तुलना करना आरम्भ कर दिया तथा

---

1. "Poverty is that condition [illegible] because of inade- [illegible] ale of living high [illegible] enable him and [illegible] andards of society [illegible] gy, p. 758.

2. "Poverty is the insufficient supply of those things which are requisite for an individual to maintain himself and those dependent upon him in health and vigour."—Goddard, J. G., *Poverty, Its Genesis and Exodus*, p. 5.

स्वयं को समाज के प्रचलित जीवन-स्तरों के अनुसार धनी अथवा निर्धन समझने लगे। अतएव निर्धनता उसी समय समस्या का रूप धारण करती है जब समाज के सदस्यों के बीच आर्थिक प्रस्थिति मे स्पष्ट अन्तरों की स्थापना की जाती है एवं इन अन्तरों की तुलना और इनका मूल्यांकन किया जाता है। इन अन्तरों की अनुपस्थिति में, निर्धनता अवस्थित नहीं होती, चाहे लोग अपना जीवन-यापन अत्यन्त कठिनता से करते हों। इस प्रकार, निर्धनता की कोई समस्या मध्ययुग में नहीं थी, यद्यपि आधुनिक मानकों के अनुसार उस समय का जीवन-स्तर पर्याप्त मात्रा में निम्न था। निर्धनता अमीरी का सापेक्ष है। जब लोग अपने जीवन-स्तर की दूसरे लोगों के जीवन-स्तर से तुलना करके रोष का अनुभव करते हैं, उसी समय निर्धनता उन्हें पीड़ा पहुँचाती है। अतिदरिद्रता की स्थिति में भी वे अपने भाग्य की दूसरों के भाग्य से तुलना किए बिना इस पीड़ा का अनुभव कर सकते हैं। वे, जो उनके पास है, उससे अधिक प्राप्त करने मे विफल रहते हैं तथा इस विफलता की अभिज्ञता उनमें रोष उत्पन्न कर देती है। अतएव, रोष की मनोवृत्ति निर्धनता की समस्या को अग्रपंक्ति में ला देती है। आदिम लोग अधिक संकटमय जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु वे अपनी असुविधा को प्राकृतिक स्थिति समझते थे, न कि सामाजिक जिसका समाधान अपेक्षित था। अतः उन्होंने इसे बिना किसी रोष की भावना के स्वीकार किया। लोग निर्धन हैं, इसलिए नहीं कि उनके कष्टों में वृद्धि हुई है, अपितु रोष की इस भावना के कारण कि जो दूसरों के पास है, वह उनके पास नहीं है। जब वे स्वयं को उन वस्तुओं से वंचित महसूस करते हैं जो दूसरों के पास हैं एवं जिनका वे आनन्द उठा रहे हैं तो वे स्वयं को निर्धन समझते हैं। केवल तभी निर्धनता एक सामाजिक समस्या का रूप धारण करती है।

समरूप स्तर नहीं हैं (No uniform standards)—निर्धनता अंकन के स्तर सभी स्थानों पर एकरूप नहीं हैं। एडम स्मिथ (Adam Smith) के अनुसार, "मनुष्य धनी अथवा निर्धन उस मात्रा मे होता है जिसमे वह जीवन की आवश्यकताओं, सुविधाओं एवं मनोरंजनों का आनन्द प्राप्त कर सकता है।" पश्चिमी समाजों में लोग इसलिए निर्धन नहीं हैं कि उनको जीवन की आवश्यक वस्तुएँ, यथा रोटी, कपड़ा और मकान उपलब्ध नहीं हैं, अपितु इसलिए निर्धन हैं क्योंकि उनके पास जो वस्तुएं हैं, वे प्रचलित मानकों के अनुसार अपर्याप्त समझी जाती हैं। इस प्रकार, रेडियो या मोटरकार आदि को लेने की असमर्थता निर्धनता का सूचक मानी जाती है। भारत में, दूसरी ओर, जीवन की आवश्यक वस्तुओं से वंचन निर्धनता समझा जाता है। रेडियो अथवा कार अमीरी का चिह्न है। भारत की अधिकांश जनसंख्या निर्वाह-स्तर से नीचे गुजारा करती है। अनेक लोगों को दो समय भरपेट भोजन भी नहीं मिलता; वे अपनी रातें फुटपाथों पर व्यतीत करते हैं और अधनंगे रहते हैं।

भारत में निर्धनता सर्वप्रमुख सामाजिक समस्या है। सुविधाओं की बात तो दूर रही, लोगों के जीवन की आवश्यकताओं की भी सन्तुष्टि नहीं होती। दूसरे देशों की तुलना में प्रति व्यक्ति आय अत्यधिक कम है। सन् १९६०-६१ के मूल्यों के स्तर पर इसे ३४३.६ रुपये अनुमानित किया गया है। वर्तमान मूल्यों के संदर्भ में यह

६४५.४ रुपये है। इसके विपरीत एक अमेरिकन ९१९६ रुपये, अंग्रेज ३८५८ रुपये एवं आस्ट्रेलियन ४२०७ रुपये अर्जित करता है। इस प्रकार भारतीय नागरिक की तुलना में अमेरिकन की औसत आय तैंतीस गुना अधिक है। वास्तव में हम कितने निर्धन हैं। कुछ समूहों एवं क्षेत्रों में निर्धनता अन्य समूहों की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। देहाती कृषक परिवार नगरीय परिवारों की तुलना मे अधिक निर्धन हैं। अनुसूचित जातियो तथा श्रमिक वर्ग के लोगो की आय उच्च वर्गों के लोगों की आय से बहुत कम है।

निर्धनता के कारण (Causes of poverty)—निर्धनता के क्या कारण हैं? हैनरी जार्ज (Henry Gerge) के अनुसार, निर्धनता का प्रमुख कारण भूमि का वैयक्तिक स्वामित्व एवं उस पर व्यक्ति का एकाधिकार है। उसने लिखा है, "विशाल नगरों मे जहाँ भूमि का मूल्य इतना अधिक है कि इसे 'फीट' से मापा जाता है, निर्धनता एवं ऐश्वर्य की अति पाई जाती है। सामाजिक स्तर की इन दोनो अतियो के बीच जीवन-दशा की असमानता भूमि के मूल्य से मापी जा सकती है।"[1] मार्क्स (Marx) के अनुसार, निर्धनता का प्रमुख कारण पूंजीपतियो द्वारा श्रमिकों का शोषण है। माल्थस (Malthus) के अनुसार, बढ़ती हुई जनसंख्या निर्धनता का कारण है। परन्तु इन विचारको ने निर्धनता के केवल एक कारण पर बल दिया है। वस्तुतः निर्धनता के अनेक कारण होते हैं। इनमे से कुछ वैयक्तिक हैं तो अन्य भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक हैं। इन कारणों का विस्तृत विश्लेषण करना अर्थशास्त्री का कार्य है। गिलिन्स (Gillins) ने तीन कारको को प्रमुख रूप से निर्धनता के लिए उत्तरदायी बतलाया है। ये हैं—(i) व्यक्ति की असमर्थता, जिसका कारण दोषयुक्त आनुवंशिकता अथवा पर्यावरण हो सकता है; (ii) प्रतिकूल प्राकृतिक दशाएँ, यथा अपर्याप्त प्राकृतिक स्रोत अथवा समृद्ध प्राकृतिक स्रोतों का अपर्याप्त शोषण, खराब जलवायु एवं ऋतु तथा संक्रामक रोग; (iii) धन एवं आय का कुवितरण तथा आर्थिक संस्थाओं की अपूर्ण क्रियाशीलता। इन कारकों में से अंतिम दो कारक भारत में निर्धनता के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं। हमारे देश मे प्राकृतिक स्रोत प्रचुर मात्रा में हैं, परन्तु उनका विदोहन ठीक प्रकार से नहीं किया गया है। भूमि का अधिकांश भाग परती पड़ा हुआ है। कृषि के साधन परम्परागत हैं जिससे उत्पादन कम मात्रा में होता है। उद्योग भी सुविकसित नहीं हैं। श्रमिकों की हड़ताल सामान्य घटना है। जनसंख्या का विशाल भाग कृषि पर आधारित है। इसके अतिरिक्त, धन का वितरण असमान है जिसका कारण दोषपूर्ण आर्थिक नियोजन है। भारत सरकार अनेक साधनों द्वारा निर्धनता को दूर करने के प्रयत्न कर रही है। हम आशा कर सकते हैं कि एक दिन ऐसा आयेगा जब सभी लोगो को जीवन की मूल आवश्यकताएँ सुलभ हो जायेंगी।

२. बेरोजगारी
(Unemployment)

निर्धनता की समस्या से निकट सम्बन्धित बेरोजगारी की समस्या है, क्योंकि जब लोग बेकार रहते हैं तो वे निर्धन हो जाते हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं को यदि संतुष्ट

1. Goddard, Henry G., *Progess and Poverty*, p. 5.

किया जाना है तो उन्हें रोजगार मिलना चाहिए। बेरोजगारी केवल दरिद्रता एवं दुखों को ही जन्म नहीं देती, अपितु सामाजिक संगठन जो समाजशास्त्रियों का प्रमुख विषय है, पर प्रतिकूल प्रभाव भी डालती है। बेरोजगारी की परिभाषा करते हुए कार्ल प्रिब्राम (Karl Pribram) ने लिखा है, "बेरोजगारी श्रमिक बाजार की एक स्थिति है जिसमें श्रमिक की पूर्ति (supply) उपलब्ध अवसरों से अधिक होती है।"[1] फेयरचाइल्ड (Fairchild) के अनुसार, "बेरोजगारी सामान्य क्रियाशील शक्तियों का सामान्य क्रियाशील समय के दौरान, सामान्य वेतन पर एवं सामान्य दशाओं के अधीन पारिश्रमिकपूर्ण कार्य से अनैच्छिक एवं बाध्य पृथक्करण है।"[2]

चैपमैन (Chapman) के अनुसार, बेरोजगारी दो प्रकार की होती है: (i) आत्मपरक (subjective) एवं (ii) वस्तुपरक (objective)। आत्मपरक बेरोजगारी व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के कारण उत्पन्न होती है। वस्तुपरक बेरोजगारी चार प्रकार की होती है—(i) मौसमी बेरोजगारी, (ii) चक्रीय बेरोजगारी, (iii) संरचनात्मक बेरोजगारी, एवं (iv) सामान्य बेरोजगारी। बेरोजगारी के इन प्रकारों के अतिरिक्त कृषिक बेरोजगारी, प्रविधिकीय बेरोजगारी एवं शैक्षिक बेरोजगारी भी हो सकती हैं।

यद्यपि बेरोजगारी सर्वत्र व्याप्त है, तथापि भारत में यह अत्यधिक है। इसके अतिरिक्त, बेरोजगारी का दुखदायी स्वरूप यह है कि पंचवर्षीय योजनाओं के उपरांत भी बेरोजगारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी गम्भीर रूप धारण किए हुए है। रोजगार कार्यालयों द्वारा प्रकाशित आँकड़े बेरोजगारी की समस्या का सही चित्र प्रस्तुत नहीं करते क्योंकि देहातों में कृषिक बेरोजगार अपने नाम दर्ज नहीं कराते तथा नगरों में भी निम्न वर्ग के सहस्रों व्यक्ति रोजगार कार्यालय से दूर ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त, रोजगार कार्यालयों के रिकार्ड पर ऐसे अनेक व्यक्तियों के नाम पड़े होते हैं जिन्हें रोजगार प्राप्त हो चुका होता है परन्तु इसकी सूचना कार्यालय को नहीं भेजते। भारत सरकार ने बेरोजगारों की संख्या को प्रकाशित करना बन्द कर दिया है क्योंकि इनका सही अनुमान लगाना कठिन है। १९७८-८३ की पंचवर्षीय योजना के प्रारूप के अनुसार, सन् १९७८ में ४३.७ लाख व्यक्ति सारा वर्ष बेरोजगार रहे, जबकि साप्ताहिक एवं दैनिक स्तर की बेरोजगारी की अनुमानित संख्या क्रमशः ११२.० एवं २०५.६ लाख है। सन् १९८३ के अन्त तक इन संख्याओं के क्रमशः ४९.७, १२५.३ एवं २२८.८ लाख हो जाने का अनुमान है।

बेरोजगारी के कारण (Causes of unemployment)—अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी के कारणों एवं इसकी मूलभूत प्रवृत्तियों की व्याख्या की है। उन्होंने एक ओर घर्षणात्मक (frictional) बेरोजगारी, जो एक नौकरी छोड़कर दूसरी नौकरी

1. "Unemployment is a condition of the labour market in which the supply of labour is greater than the number of available openings."—Pribram, K., *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. XV, p. 147.

2. "Unemployment is forced and involuntary separation from remunerative work on the part of the normal working force during normal working time, at normal wages and under normal conditions."—Fairchild.

में परिवर्तन एवं ऐसे लोगों की गतिहीनता जो रोजगार हेतु अन्य जिले में जाने को तैयार नहीं होते, के कारण उत्पन्न होती है तथा दूसरी ओर गम्भीर आर्थिक अव्यवस्था के कारण उत्पन्न बेरोजगारी में अन्तर किया है। नए अन्वेषणों से नौकरियाँ घट जाती हैं, इससे पूर्व कि नई नौकरियों की उत्पत्ति हो। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक मंदी के कारण भी काफी बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि क्रय-शक्ति की तुलना में उत्पादन में तीव्रता से वृद्धि होती है। इस प्रकार बेरोजगारी व्यापारिक परिस्थितियों में आए परिवर्तनों का, जो जनसंख्या में परिवर्तनों से शीघ्रतर होते हैं, प्रतिनिधित्व करती है।

भारत में शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी की समस्या विकट रूप धारण किए हुए है। मार्च, १९७८ में लगभग ७ लाख स्नातकों के बेरोजगार होने का अनुमान लगाया गया है। इसके लिए हमारी दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली उत्तरदायी है। हम उच्च शिक्षा केन्द्रों में हजारों की संख्या में युवकों एवं युवतियों को प्रतिवर्ष प्रवेश दे रहे हैं, जबकि उनके लिए रोजगार की कोई आशा नहीं है। प्रौद्योगिक व्यक्ति, यथा इंजीनियर, डाक्टर एवं विशिष्ट कार्यों में प्रशिक्षित भी, बेरोजगार घूमते हैं। बेरोजगारी सामाजिक विघटन का महत्वपूर्ण कारण है। उन लाखों व्यक्तियों जो शिक्षा-संस्थाओं में लक्ष्यहीन प्रवेश लेते हैं तथा इनसे बाहर आकर भग्नाशा से हताश एवं विचलित बन जाते हैं, के लिए उपयुक्त रोजगार की व्यवस्था करना भारतीय समाज में विकट समस्या है।

३. अपराध
(Crime)

अपराध एक महान् सामाजिक समस्या है जिससे प्रत्येक समाज ग्रस्त है। सी० डैरो (C. Darrow) के अनुसार, "अपराध देश के कानून द्वारा प्रतिबन्धित कार्य है जिसके लिए दण्ड की व्यवस्था होती है।"[1] बार्न्स एवं टीटर्स (Barnes and Teeters) के अनुसार, "अपराध समाज-विरोधी व्यवहार का रूप है जिसने लोक-भावना का इस सीमा तक उल्लंघन किया है कि उसे कानून द्वारा प्रतिबन्धित किया गया है।"[2] अपराध किसी ऐसे कार्य को करना है जिसकी कानून अनुमति नहीं देता अथवा ऐसे कार्य को न करना है जिसे कानून करने का आदेश देता है। कानून लिखित अथवा अलिखित हो सकता है। जब कानून लिखित नहीं होता तो अपराध को साधारणतया समुदाय के लोकाचारों एवं उसकी रीतियों का अतिक्रमण कहा जाता है। इसलिए अपराध को व्यक्तियों का ऐसा व्यवहार कहा जा सकता है जिसे समाज मान्यता प्रदान नहीं करता। चूंकि समाजों के उचित एवं अनुचित सम्बन्धी प्रतिमान समरूप नहीं होते तथा ये प्रतिमान समाज में समय-समय पर बदलते रहते हैं, इसलिये आपराधिक व्यवहार सापेक्ष है, असापेक्ष नहीं।

अपराध को आधुनिक सभ्य एवं प्रगतिशील समाजों की प्रमुख सामाजिक परिघटना कहा जाता है। यद्यपि आदिम समाजों में भी अपराध की अवस्थिति थी, परन्तु उस समय यह प्रमुख सामाजिक समस्या नहीं थी। आदिम समाजों में लोकाचार व्यक्तियों

1. Darrow, C., Crime: *Its Causes and Punishment*, p. 1.
2. Barnes and Teeters, *New Horizons* in *Criminology*, p. 70.

के व्यवहार को प्रभावी रूप से नियंत्रित करने हेतु पर्याप्त बलशाली थे तथा थोड़े से व्यक्ति जो नियमों का उल्लंघन करते थे, उनसे समुदाय को कोई विशेष भय नहीं था। आधुनिक सभ्य समाजो में, जैसा हम पहले अध्ययन कर आए हैं, लोकाचारों की शक्ति क्षीण हो गई है एवं अब उनके सार्वभौमिक अनुपालन को बाध्य करना कठिन है। आधुनिक समाजो की जनसंख्या प्रजातीय एवं सांस्कृतिक रूप में विजातीय तथा विभिन्न वर्गों में विभेदित है। उनके व्यवहार-सम्बन्धी नियम विभिन्न हैं, जिनका परस्पर संघर्ष भी होता है। इनका अपने सदस्यों पर सीमित नियंत्रण है। आदिम एवं तथाकथित असभ्य जातियों में विश्वासों एव प्रथाओं की एक अकेली संहिता थी, सस्कृति स्थिर एवं सजातीय थी तथा संस्थागत विघटन नगण्य एवं वर्ग-विभेदीकरण न्यूनतम था। स्वाभाविकतया, आदिम जनजातियों एव सरल लोक-समाजों मे अपराध बहुत कम था। परन्तु हमारे आधुनिक समाज की अन्य अनेक सामाजिक समस्याओं की भाँति अपराध भी एक मूल्य है जो हम सभ्यता के लाभों के लिए चुका रहे हैं।

भारत में अपराध (Crime in India)—भारत में अपराध के बारे मे विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नही हैं। प्राप्त आँकड़े केवल उन्ही अपराधों के बारे मे हैं जिनका पता पुलिस देती है, अथवा जिनके लिए अपराधियों को गिरफ्तार एव दंडित किया जाता है। परन्तु, ये आँकड़े भी विश्वसनीय नही हैं। अधिक गंभीर 'श्वेतपोश' अपराध हैं जो परम्परागत प्रकार के अपराध से कई गुना अधिक हैं। 'श्वेतपोश' अपराध से हमारा तात्पर्य उस अपराध से है जो समाज के उच्च वर्ग के व्यक्तियों द्वारा अपने व्यापार एवं व्यावसायिक क्रियाओं के अंदर किया जाता है। चोरबाजारी, करों से बचना, मिलावट, भ्रष्टाचार, लूट-खसोट आदि कुछेक 'श्वेतपोश' अपराध हैं जिनकी संख्या गंभीरतर रूप धारण करती जा रही है। अधिक गंभीर स्थिति यह है कि 'श्वेतपोश' अपराधियों का पर्याप्त राजनीतिक प्रभाव है तथा जनता भी व्यापक सरक्षण द्वारा उनकी प्रतिविधियों का समर्थन करती है। हमारी नैतिक भावना निम्नतम स्तर पर पहुँच गई है और यही भारतीय समाज के मूलाकोषों को खा रहा है। जिस समाज का नैतिक पतन हो जाता है, उसमे कोई आर्थिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक योजना सफल नही हो सकती। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि भारत में अपराधों की सख्या में स्थिर एवं निरन्तर वृद्धि हो रही है। पिछले दिनों चोपड़ा 'बच्चो' की निर्मम हत्या ने संसद् एवं सारे देश को झकझोर दिया। हत्याएँ एवं डकैती साधारण-सी घटनाएँ बन गई हैं। इसके अतिरिक्त कारागारो से प्राप्त सूचनाएँ प्रकट करती हैं कि कैदियों का अधिकांश प्रतिशत पुराने अपराधियों का होता है जो यह दर्शाता है कि समाज अपराधी को अच्छा नागरिक बनाने में विफल रहा है। देश अपराधी को पकड़ने, दंडित करने एवं कारागार मे उसकी रक्षा करने मे करोड़ों रुपया प्रतिवर्ष व्यय करता है, तथापि अपराध दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है। यदि हम भारत में धन, मान एवं राजनीतिक सत्ता को अधिक महत्व देते हैं, इस बात का विचार किए बिना कि इनको किस प्रकार अर्जित किया जाता है तथा यदि नेता लोग उन कानूनों का स्वयं पालन नहीं करते जिनके पालन की वे अन्य व्यक्तियो से प्रत्याशा करते हैं तो हम अपराध की मात्रा के कम होने की आशा नहीं कर सकते।

अपराध कैसे रोका जाए (How to combat crime)—अपराध किस प्रकार रोका जाए, इस प्रश्न पर समाजशास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। उनके द्वारा प्रतिपादित समाधान अपराध के कारणों से संबंधित किसी विशिष्ट सिद्धान्त पर आधारित हैं। अपराध के कारणों के इन सिद्धान्तों का हमने पिछले अध्याय में उल्लेख किया है। सर्वमान्य विचार यह है कि अपराध के कारण बहुत होते हैं एवं कोई अकेला सिद्धान्त सभी कारणों की समुचित व्याख्या नहीं करता। ये कारण प्राणीशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं आर्थिक होते हैं। प्राणीशास्त्रीय कारणों में हम पागलपन, शारीरिक पंगुता, दोषयुक्त स्नायु एवं ग्रंथि-प्रणाली को सम्मिलित कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिक कारण स्नायुरोग, मनोविकृति एवं संवेगात्मक अस्थिरता हो सकते हैं। सामाजिक कारण सामाजिक प्रतियोगिता, सामाजिक गतिशीलता, संघर्ष, दोषपूर्ण सामाजिक संस्थाएँ, शिक्षा का अभाव, कामुक एवं आपराधिक साहित्य, सांस्कृतिक विलंबना एवं युद्ध हैं। आर्थिक कारणों में सम्मिलित हैं आर्थिक प्रतियोगिता, निर्धनता, बेरोजगारी, धनलिप्सा, असीमित इच्छाएँ, औद्योगीकरण, क्षीण प्राकृतिक स्रोत, मुद्रास्फीति आदि। किसी व्यक्ति द्वारा किए गए अपराध के कारणों का उसके व्यक्तित्व एवं पर्यावरण का अध्ययन करने के उपरांत ही पता लग सकता है। इलियट एवं मैरिल (Elliott and Merrill) के अनुसार, "किसी संतोषप्रद विश्लेषण में अकेले एकान्तिक कारकों के योग की अपेक्षा सम्पूर्ण कारकों पर विचार किया जाना चाहिए।" कुछ अपराधशास्त्री, यथा बोंगर (Bonger) का मत है कि केवल एक पूर्णतया नया समाज जिसमें पूँजीवाद का चिह्न मात्र न हो, अपराध की समस्या का समाधान कर सकता है। दूसरे लेखक, जो इस अतिशय छोर तक नहीं जाते, अपराधियों के साथ प्रतिकारात्मक एवं अपमानात्मक व्यवहार की अपेक्षा सुधारवादी व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं। स्पष्टतया, अपराधियों के साथ व्यवहार में आजकल सुधार पर अधिक बल दिया जा रहा है। भारत में कारागार के अंदर अपराधियों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी जा रही हैं। पर्याप्त भोजन, वस्त्र एवं बिस्तर के अतिरिक्त उसे मनोरंजनात्मक सुविधाएँ भी दी जा रही हैं। घर के अंदर एवं बाहर खेले जाने वाले खेलों का प्रबन्ध किया जाता है तथा टूर्नामेंटों, जिनमें बाहर की टीमें भाग लेती हैं, का भी आयोजन किया जाता है। रेडियो एवं दूरदर्शन भी लगाए गए हैं। वर्तमान कारागार-प्रशासन प्रत्येक बन्दी को उत्तम भोजन, वस्त्र, चिकित्सा एवं मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करता है जो बाहर एक साधारण व्यक्ति को सुलभ नहीं हैं।

इन उपायों की सफलता के बारे में कुछ निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। यह नहीं कहा जा सकता कि इन उपायों ने अपराधियों को सुधारा है जो पुनः अपराध नहीं करते अथवा सामाजिक परिपक्वता आ जाने पर उन्होंने अपराध करना त्याग दिया है। परन्तु यह सर्वत्र मान्य है कि केवल दंड मात्र से अपराधी को नहीं सुधारा जा सकता। क्या यह भावी अपराधियों को भयोपरत करता है, यह विवाद का विषय है।

४. युद्ध
(War)

युद्ध की समस्या संभवतः आज समाज के लिए सर्वाधिक भयावह है।

गत दो विश्वयुद्धों द्वारा उत्पन्न विनाश ने मनुष्यों को इसके प्रति आतंकित कर दिया है। तीसरे विश्वयुद्ध के मेघ आकाश पर मँडरा रहे हैं और यदि यह छिड़ गया तो इसमें आणविक एवं कीटाणु शस्त्रों का प्रयोग होगा जो सभ्यता को ही विनष्ट कर देगा।

युद्ध के कारण (Causes of war)—युद्ध क्यों होता है ? इस सम्बन्ध में दो प्रकार के सिद्धान्त हैं—आर्थिक (economic) एवं मनोवैज्ञानिक (psychological)। पूर्वोक्त के अनुसार, युद्ध का कारण आर्थिक हितों का संघर्ष है, जबकि उत्तरोक्त इन कारणों को मानव-स्वभाव में देखता है। भूतकाल में आर्थिक कारण सापेक्षतया सरल थे। साम्राज्य के विस्तार से लूट का माल एवं पराजित जातियों से धन प्राप्त होता था। उस समय मध्य एशिया से अनेक जातियों ने यूरोप, मिस्र, भारत एवं चीन में प्रवेश किया। आधुनिक काल में आर्थिक कारणों का स्वरूप जटिल है। आधुनिक युद्ध का उद्देश्य माल एवं धन प्राप्त करना नहीं होता, क्योंकि कभी-कभी औपनिवेशिक युद्ध विजित प्रदेश पर अधिकार करने मात्र के उद्देश्य से होता है। हाब्सन (Hobson) एवं मेरियन्स (Marians) का मत है कि युद्ध साम्राज्यवाद की उपज है एवं साम्राज्यवाद पूंजीवाद का अपरिहार्य परिणाम है। बोअर-युद्ध तथा रूस-जापान-युद्ध के कारण साम्राज्यवादी आर्थिक तत्व थे।[1] एक अन्य मत यह है कि व्यापार पर निरंकुश प्रतिबंध तथा एक देश से दूसरे देश में सामान के निर्यात्-आयात पर आरोपित अवरोधक युद्ध के कारण हैं। इस प्रकार, आधुनिक युद्धों के आर्थिक कारणों का स्वरूप प्राचीन युद्धों के स्वरूप से भिन्न है।

परन्तु यह मान्यता गलत होगी कि केवल आर्थिक तत्व ही युद्ध का कारण होता है। इससे पूर्व कि युद्ध आरम्भ किया जाए, लोगों को युद्ध करने के लिए तैयार होना चाहिए। मनुष्य स्वभाव से आक्रमणकारी है, यद्यपि आक्रमणकारिता की मात्रा आदिम एवं सभ्य जातियों, दोनों में पर्याप्त रूप से भिन्न है। फ्रांस अन्य देशों की अपेक्षा अधिक आक्रमणकारी दीखता है। क्विंसी राइट (Quincy Wright) ने अपनी पुस्तक *'The Causes of War and the Conditions of Peace'* में उल्लिखित किया कि सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से यूरोप के राज्यों ने लगभग २३०० युद्ध लड़े, जिनमें से फ्रांस ने ४९ प्रतिशत, आस्ट्रिया-हंगरी ने ३५ प्रतिशत, प्रशिया ने २६ प्रतिशत, ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस प्रत्येक ने २३ प्रतिशत तथा अन्य देशों ने कम मात्रा में भाग लिया। सोरोकिन (Sorokin) ने अपनी पुस्तक 'Social and Cultural Dynamics' में लिखा है कि फ्रांस ९५० वर्षों के ८० प्रतिशत समय में, इंग्लैंड ८७५ वर्षों के ७२ प्रतिशत समय में एवं जर्मनी २७५ वर्षों के २९ प्रतिशत समय में युद्धों से जूझते रहे।[2]

युद्ध के कारण केवल आर्थिक हितों एवं आक्रमणकारी प्रवृत्ति में ही नहीं मिलते, अपितु अन्य तत्वों पर भी आधारित हैं। इन तत्वों में सत्ता एवं यश की इच्छा, व्यक्ति का अपने समूह के मान के साथ तादात्म्य, आधुनिक आर्थिक जीवन में असुरक्षा की भावना, पूर्वयुद्धों से जनित रोष तथा घटनाओं को अपना मार्ग स्वयं अपनाने के लिए छोड़ देने की मानव-प्रवृत्ति सम्मिलित हैं। एच० टी० मजूमदार (H. T.

1. Hobson, *Imperialism*, p. 23.
2. Koenig, *Sociology*, p. 321.

Majumdar) ने युद्ध के सात कारणों का उल्लेख किया है—(i) राज्यों की अबाधित प्रभुता, (ii) सत्ता की राजनीति; (iii) साम्राज्य-व्यवस्था, औपनिवेशिक अथवा निरंकुश अनुयायी सम्बन्ध; (iv) कुछ राष्ट्रों के स्वतंत्रता के अधिकार का बंधन; (v) प्रजातीय असमानता; (vi) सभी व्यक्तियों के लिए समान न्याय की अनुपस्थिति; (vii) शांतिपूर्ण परिवर्तन के लिए संरचना की अविद्यमानता।[1]

युद्ध के प्रभाव (Effects of war)—समाज पर आधुनिक युद्ध के प्रभाव विविध एवं महत्वपूर्ण होते हैं। जबकि पूर्व-आधुनिक काल के युद्ध राजनीतिक एवं सामाजिक, दोनों प्रकार से भिन्न समूहों के बीच संघर्ष होते थे, आधुनिक युद्ध राजनीतिक रूप से भिन्न, परन्तु अन्योन्याश्रित राज्यों के बीच संघर्ष हैं। अतएव उनसे विजित एवं पराजित दोनों को हानि होती है तथा सभी आधुनिक व्यक्तियों पर अत्यधिक भार पड़ता है। निःसंदेह युद्ध मानव-इतिहास की सामान्य घटना रही है और इससे कुछ लाभ भी होते हैं, परन्तु ये लाभ इसके द्वारा उत्पन्न विपदाओं की तुलना में तुच्छ हैं। आधुनिक युद्ध की सामाजिक लागतें अत्यधिक हैं। यह सैनिकों के मन पर भार उत्पन्न करके सैनिक सेवाओं में मानसिक विस्खलन को जन्म देता है। युद्धकाल में सभी महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाएँ, यथा परिवार, विद्यालय एवं चर्च राज्य एवं सेना के अधीनस्थ आ जाते हैं। इन संस्थाओं के पारम्परिक कार्यों को भुला दिया जाता है। परिवार को सर्वाधिक हानि उठानी पड़ती है। युद्ध अनेक पति-पत्नियों को विलग कर देता है, त्वरित एवं प्रायः अविचारी विवाह होने लगते हैं एवं अनेक माता-पिता अपनी संतान के पालन-पोषण को नहीं देख पाते। अनेक कारणों से, युद्धरत राष्ट्र में लैंगिक नैतिकता की शिथिलता आ जाती है। युद्ध-प्रचार व्यक्तियों के मन को विकृत कर देता है, उनको असत्य सूचनाएँ देता है, घृणा की भावना को उभारता है तथा सम्पूर्ण राष्ट्र को भावाविष्ट भीड़ में परिवर्तित कर देता है। परिष्कृत भावनाओं की अपेक्षा युद्ध अत्यधिक हीन एवं निर्दयी लक्षणों को जागृत करता है। युद्ध के कारण मनुष्य क्रूर एवं निर्दयी बन जाते हैं; मानव-जीवन एवं गौरव के प्रति कोई आदर प्रदर्शित नहीं किया जाता। राज्य के विरुद्ध अपराध सामान्य हो जाते हैं। युद्धजनित राजनीतिक प्रतिबंधों की वृद्धि से कानून के प्रति नागरिकों की श्रद्धा को धक्का लगता है। अनेक व्यक्ति इन प्रतिबंधों की आलोचना करते हैं। 'चोरबाजार' फलने-फूलने लगता है। सरकार की दक्षता कम हो जाती है तथा सरकारी नियंत्रणों के विरुद्ध जनविरक्ति हो जाती है।

लोगों के मन एवं हृदय पर उपर्युक्त कुत्सित प्रभावों के अतिरिक्त, युद्ध में अत्यधिक धन का अपव्यय होता है। अनुमान है कि प्रथम विश्वयुद्ध में ४००,०००, ०००,००० डालर से अधिक व्यय हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध का सरकारी तौर पर अनुमानित व्यय १,११६,९९१,४६३,०३४ डालर है जिसमें २३०,९००,००० डालर की सम्पत्ति के नष्ट होने का अनुमानित मूल्य सम्मिलित नहीं है। जेम्स एच० एस० बोसार्ड (James H. S. Borsard) ने अनुमान लगाया है कि एक सैनिक को मारने का व्यय रोमन युद्धों में ७५ सेन्ट, नेपोलियन के युद्धों में ३,०००

1. Mazumdar, H. T., *The Grammar of Socialogy*, p. 515.

डालर, गृहयुद्ध में ५,००० डालर, प्रथम विश्वयुद्ध में २१,००० डालर तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में ५०,००० डालर था। युद्ध के इन व्ययों में और भी अधिक वृद्धि हो जाती है यदि इनमें पेंशनों, बीमा एवं बोनस के अनुवर्ती व्यय को भी सम्मिलित कर दिया जाए। बार्न्स (Barnes) ने अनुमान लगाया कि प्रथम विश्वयुद्ध में व्यय धनराशि से निम्नलिखित शांतिकालीन लाभ प्राप्त किए जा सकते थे—इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, जर्मनी, रूस, संयुक्त राज्य, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया में प्रत्येक परिवार के लिए २,५०० डालर का मकान एवं १००० डालर का मकान में सामान; इन देशों में २,००,००० जनसंख्या वाले प्रत्येक नगर में १०,०००,००० डालर का विश्वविद्यालय एवं ५,०००,००० का पुस्तकालय, एक निधि जिस पर ५ प्रतिशत ब्याज से १,२५,००० शिक्षकों एवं १,२५,००० नर्सों को १,००० डालर वार्षिक देने के लिए पर्याप्त धन प्राप्त हो सकेगा तथा तदुपरांत इतना धन शेष बच जाएगा कि फ्रांस एवं बेल्जियम की संपूर्ण सम्पत्ति एवं धन को क्रय किया जा सके।[1] इसका अनुमान सरल है कि द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित राष्ट्रों द्वारा व्यय किए गए लगभग एक-डेढ़ करोड़ खरब डालरों तथा आर्थिक क्षतियों एवं सम्पत्ति-विनाश की लागत लगभग चार करोड़ खरब डालरों से मानव सेवा एवं सुविधा के लिए क्या कुछ प्राप्त किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त, युद्ध आंतरिक अर्थ-व्यवस्था को विघटित कर देता है। देश में मुद्रास्फीति हो जाती है एवं राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता में वृद्धि हो जाती है। मुद्रास्फीति एवं सार्वजनिक ऋणग्रस्तता उत्पादन को निरुत्साहित करती हैं। लोगों के ऊपर करों का भार बढ़ता है जिससे उत्पादन के प्रयत्नों में बाधा आती है। इसके अतिरिक्त, युद्ध में आहत एवं मृत व्यक्तियों के परिवारों के लिए आर्थिक व्यवस्था करनी पड़ती है जिससे युद्धोपरांत अर्थ-व्यवस्था पर अतिरिक्त भार बढ़ता है। संक्षेप में, युद्ध राष्ट्र की उत्पादकता को कम कर देता है तथा साथ ही ऐसे व्यापारी वर्ग का निर्माण करता हैं जिन्होने युद्ध के दौरान अनुचित वित्तीय लाभ उठाया है। यह नया विलासी वर्ग राष्ट्र की उत्पादकता में कोई योगदान न करके केवल इससे लाभ उठाता है।

जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, युद्ध के विजेता को भी अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है। पराजित पक्ष से युद्ध की लागतों की क्षतिपूर्ति प्राप्त कर लेने की कोई संभावना नहीं होती। प्रदेश मात्र विजित कर लेने से विजेता राष्ट्र की उत्पादकता में अधिक वृद्धि नहीं होती। कभी-कभी पराजित प्रदेश आर्थिक दायित्व बन सकते हैं। विजयी राष्ट्र को आदर्शात्मक कारणों से पराजित राष्ट्र के आर्थिक पुनर्वास में सहायता देनी पड़ती है।

युद्ध से अंतर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का भी विघटन होता है। इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा आती है, प्राचीन व्यापारिक सम्बन्ध टूट जाते हैं और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक असंतुलन के नए स्वरूपों का जन्म होता है। यह अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संरचना को अस्त-व्यस्त कर देता है तथा अदेय एवं व्यापार को निरुत्साहित करने

6. Koenig, *Sociology*, pp. 323-324.

वाले अंतर्राष्ट्रीय ऋणों को जन्म देता है। प्रत्येक आधुनिक युद्ध का परिणाम अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में निर्वगता रहा है।

युद्धों को कैसे समाप्त किया जा सकता है ? (How can wars be abolished ?)—यह विचित्र बात है कि जहाँ एक ओर आधुनिक राज्य अपने नागरिकों के बीच शांति स्थापित रखने का सर्वोत्तम साधन है, वहाँ दूसरी ओर यह विश्व-शांति का प्रमुख उल्लंघनकर्ता है। दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्धों में राज्य की भूमिका नितांत विपरीत हो जाती है। शांतिप्रिय राज्य आक्रमणकारी राष्ट्र बन जाता है तथा इसके नागरिक सामूहिक रूप से शत्रु राज्यों के नागरिकों के विरुद्ध हो जाते हैं। युद्ध का समाधान, यदि कोई है तो वह युद्ध के विभिन्न कारणों के विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन में अंतर्निहित है। युद्ध की समस्या को केवल मात्र शुभ इच्छाओं से हल नहीं किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ इस समस्या को उस समय तक हल नहीं कर सकता, जब तक इस समस्या की वैज्ञानिक शोध न कर ली जाए एवं मानव-सम्बन्धों के बारे में अधिक ज्ञान उपलब्ध न हो जाए। जैसा हमने ऊपर अध्ययन किया है, युद्ध से अधिक भयावह मनुष्यों के सामान्य जीवन में अन्य कोई घटना नहीं है। आधुनिक राज्य सड़कों, सार्वजनिक सेवाओं, शिक्षा एवं अन्य वस्तुओं, जो नागरिकों के कल्याण में वृद्धि करती हैं, पर इतना व्यय नहीं करते जितना युद्ध पर करते हैं, तथापि आश्चर्य है कि युद्ध का वास्तविक वैज्ञानिक अध्ययन कम हुआ है। कुछ लोग युद्ध के लिए किसी अकेले व्यक्ति या राष्ट्र के मान्य नेता को उत्तरदायी ठहराते हैं। इस प्रकार, नेपोलियन को उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप का विनाश एवं संहार करने वाली शैतान प्रतिभा समझा जाता है। इसी प्रकार, कैसर (Kaiser) को प्रथम विश्वयुद्ध एवं हिटलर को दूसरे विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है।

यह स्पष्ट है कि कोई भी अकेला व्यक्ति, चाहे उसकी ऐतिहासिक घटनाओं के निर्माण में कितनी महान् भूमिका रही हो, अपनी इच्छा से युद्ध को जन्म नहीं दे सकता। युद्ध की वैयक्तिक व्याख्या किसी अन्य सामाजिक परिघटना की वैयक्तिक व्याख्या के समान अब युक्तियुक्त नहीं समझी जाती। अतएव किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों जिन्हें युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है, को फाँसी दे देने से युद्ध को समाप्त नहीं किया जा सकता।

युद्ध के कारणों का एक अन्य विवरण यह है कि यह स्वभावतः युद्धप्रिय लोगों की शैतान प्रतिभा का परिणाम होता है। कुछ लोगों में "बुरा रक्त" युद्ध का कारण होता है। अतएव युद्ध को समाप्त करने का उपाय यही है कि ऐसे लोगों का, जो युद्ध आरम्भ करते हैं, मूलोच्छेदन कर दिया जाए। परन्तु यह विचारणा आजकल मान्य नहीं है। यह तथ्य कि जो लोग पहले युद्धप्रिय थे, कुछ समय पश्चात् ऐसे नहीं रहे, इस विचारणा को अप्रमाणित कर देता है। स्विस पन्द्रहवीं शताब्दी में आतंक थे, स्पेन सोलहवीं शताब्दी में सर्वोच्च सैनिक शक्ति था, ब्रिटेन सत्रहवीं तथा फ्रांस अठारहवीं शताब्दी के युद्धों के नेता थे। तदुपरांत जर्मनी ने युद्ध करने आरम्भ कर दिए। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न कालों में विभिन्न राष्ट्र सैन्यवादी रहे हैं, परन्तु इस योद्धापन का इन राष्ट्रों के प्राणीशास्त्रीय लक्षणों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हाल ही में जिन राष्ट्रों ने युद्ध आरम्भ किए हैं, उन्होंने अपने कार्य को युक्तियुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। युद्ध को इस प्रकार युक्तियुक्त सिद्ध करने का प्रयास स्वयं इस तथ्य को प्रकट करता है कि ये राष्ट्र भी युद्ध को बुरा समझते हैं। कुछ राष्ट्रों ने युद्ध को आर्थिक आवश्यकता के आधार पर युक्तिसगत ठहराया है, जबकि अन्य ने इसे स्पष्टतया भाग्य की देन कहा है। आर्थिक युक्तिकरण इस विश्वास पर आधारित था कि युद्ध ही संसार के धन के प्रविद्यमान अंतर्राष्ट्रीय कुवितरण को समाप्त करने का साधन था। उदाहरणतया, १९४० से पूर्व ब्रिटेन एवं अमेरिका मे अनेक लोगों का विश्वास था कि जर्मनी एवं जापान को संसार की सम्पदा में अधिक भाग मिलना चाहिए और यदि उनको यह भाग नहीं मिलता तो उनका इसे युद्ध द्वारा प्राप्त करना युक्तियुक्त होगा।

इस तथ्य से इकार नही किया जा सकता कि राष्ट्रीय सम्पदा एवं जीवन-स्तर के दृष्टिकोण से राष्ट्रों में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। संसार का विभिन्न प्रदेशीय क्षेत्रों में विभाजन ऐतिहासिक संयोग द्वारा हुआ है, न कि आर्थिक न्याय के किसी अमूर्त नियमों के अनुसार। परन्तु निर्धनता (have-not) तर्क के समर्थक तीन बातें भूल जाते हैं। प्रथम, युद्ध लड़ना इतना महँगा है कि निर्धन राष्ट्र के सामर्थ्य से बाहर है। निर्धन एवं भूखे लोग संसार को विजित करने हेतु अभियान आरम्भ नही कर सकते। द्वितीय बात जो इनके द्वारा भुला दी गई है, यह है कि युद्ध-पूर्व जर्मनों का जीवन-स्तर पोल निवासियों अथवा रूसवासियों, जिन पर पूर्वोक्त ने आक्रमण किया, की अपेक्षा उच्चतर था। तीसरी बात यह है कि कोई भी राष्ट्र युद्ध-मार्ग से अपनी आर्थिक स्थिति को उच्च करने में सफल नही हुआ है। प्रत्येक ऐसे राष्ट्र को, जिसने ऐसा करने का प्रयास किया है, गम्भीर हानि उठानी पड़ी है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, युद्ध में विजित पक्ष को भी पर्याप्त हानि होती है।

जो लोग इस आधार पर कि ईश्वर ने किसी राष्ट्र को सर्वोत्तम जाति होने के कारण अन्य हीन जातियों पर शासन करने का दायित्व सुपुर्द किया है, युद्ध को युक्तियुक्त ठहराते हैं, वे भी स्पष्टतः गलत हैं। हम इस विचारणा कि कुछ लोग प्रकृत्या श्रेष्ठतम व्यक्ति हैं, जिन्हें कम भाग्यशाली लोगो पर शासन करने के लिए ईश्वर द्वारा भेजा गया है, के खोखलेपन को पूर्व ही दिखला आए हैं।

इस प्रकार, युद्ध के कारणों एवं इसके समाधान की व्याख्या करने वाला कोई भी एक कारणीय सिद्धान्त सतोषप्रद नहीं है। वास्तव मे आधुनिक युद्ध को जन्म देने वाले कारण विविध एवं अनेक हैं। सबसे अन्तर्भूत कारण तो यह है कि राज्यों के राजनीतिक संगठनों एवं उनके आर्थिक तथा अन्य सम्बन्धों के बीच पर्याप्त प्रकार्यात्मक असंतुलन है। राष्ट्रो की बढती हुई अन्योन्याश्रिता के बावजूद राष्ट्रवाद की भावना अभी तक पूर्णरूपेण विद्यमान है जिसने प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के जन्म को अवरोधित किया है। हम बीसवी शताब्दी में रहते हैं, जो अठारहवीं शताब्दी की राजनीतिक इकाइयों में उपविभक्त है। इसका परिणाम यह है कि राजनीतिक इकाइयों में तथा उनके मध्य तनाव समय-समय पर संघर्ष एवं युद्ध को जन्म देते हैं। जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, संसार का प्रदेशीय विभाजन

ऐतिहासिक संयोग का फल है। इसका प्रौद्योगिकीय, आर्थिक एवं समाज के अन्य स्वरूपों के साथ कोई प्रकार्यात्मक संबंध नहीं है। राष्ट्रों की सीमाएँ आनुमानिक हैं। राष्ट्रीय भावनाओं ने संसार के लोगों को एक अकेली राजनीतिक इकाई में संगठित होने से रोका है। हम पूर्ववर्ती परिस्थितियों, जिन्होंने 'राष्ट्र राज्य' को जन्म दिया एवं जो इसका पोषण करती हैं, के बन्दी बने हुए हैं जिसके कारण हम विश्वशांति की ओर किसी सृजनात्मक उपागम की खोज करने में असफल रहे हैं। अधिकांश व्यक्ति शांति चाहते हैं, परन्तु वे अन्य राष्ट्र के ऐसे उद्देश्यों को स्वीकृति देने को तैयार नहीं हैं जो उनके राष्ट्र की नीतियों को नष्ट कर देंगे। राष्ट्र राज्य के उपासक होने के कारण वे शांति-स्थापना में असफल रहे हैं। शांति एवं युद्ध, दोनों गतिशील प्रक्रियाएँ हैं; इन्हें स्थैतिक घटनाएँ नहीं समझा जाना चाहिए। जब तक राष्ट्रवाद के अवरोधकों को समाप्त नहीं कर दिया जाता एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन के दृढ़ प्रकारों का विकास नहीं हो जाता, राष्ट्रों में निरन्तर संघर्ष होते रहेंगे जो समय-समय पर युद्ध का रूप धारण कर लेंगे। शांतिपूर्ण परिवर्तन लाने हेतु एक नए संगठन एवं पाशविक शक्ति-साधनों की असंगतता के विरुद्ध मतैक्य का निर्माण करने की आवश्यकता है। सी० ई० एम० जोड (C. E. M. Joad) का कथन है, "मेरा विचार है कि युद्ध अपरिहार्य वस्तु नहीं है, अपितु मनुष्य द्वारा निर्मित परिस्थितियों का परिणाम है। मनुष्य जिसने युद्ध को पोषित करने वाली परिस्थितियों को जन्म दिया है, उन्हें समाप्त कर सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे उसने प्लेग को पोषित करने वाली परिस्थितियों का उन्मूलन कर दिया है।"[1] परन्तु चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन, जिसका अपना विश्व-संविधान हो, के निर्माण के मार्ग में गंभीर कठिनाइयाँ हैं जिससे निकट भविष्य में इस आदर्श के साकार होने की संभाविता नहीं है, अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि आगामी कुछ दशकों तक मानवता को युद्ध का भय आतंकित रखेगा।

५. सामाजिक समस्याओं का समाधान
(Solutions to Social Problems)

सभ्यता के प्रभाव से ही मनुष्य उन समस्याओं, जो उसके सम्मुख आती रही हैं, का समाधान खोजने का प्रयास कर रहा है। आदिम काल में उसने 'परीक्षण एवं भूल' (trial and error) की विधि को अपनाया और प्राय: जादू एवं अतिप्राकृतिक शक्तियों का आश्रय लिया। यह अपराध के कारणों से सम्बन्धित उसकी अवधारणा के अनुरूप था।

आधुनिक मनुष्य सामाजिक समस्याओं का समाधान जादू अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियों के माध्यम से नहीं करता, अपितु सामाजिक समस्या का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। आधुनिक उपागम अधिक वास्तविकतावादी एवं प्रभावी हैं। सामाजिक समस्याओं के समाधान की दो प्रचलित विधियाँ हैं—सुधारक (remedial) एवं रोधक (preventive)। सुधारक विधि के अन्तर्गत समस्या के अन्तर्निहित कारणों का उपचार न करके उसके परिणामों अथवा लक्षणों का उपचार किया जाता है। रोधक विधि में प्रत्येक समस्या के आधारभूत तथ्यों की खोज की जाती है। इससे पूर्व कि कोई रोधक

1. Joad, C. E. M., *Why War*, p 247.

उपाय किए जाएँ, निःसंदेह यदि सामाजिक समस्या का उद्भव ही रोक दिया जाए तो यह सर्वोत्तम निदान है; परन्तु आजकल सुधारक विधि अधिक सामान्य है।

सुधारक अथवा रोधक विधि द्वारा सामाजिक समस्या का समाधान खोजने वाले सुधारक इतिहास में विभिन्न प्रकार के हुए हैं। वे कट्टरपंथियों, सद्विचार-युक्त लोगों, अवसरवादियों, भावुकों, जनसाधारणों, विद्वानों, व्यावसायिक संस्थाओं एवं राजनीतिक नेताओं की श्रेणियों में से आए हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित समाधानों के दृष्टिकोण से उन्हें निषेधवादियों, पक्के सनकियों, रूढ़िवादियों, सुप्रजनन-विद्याविदों-, सरकारी पिट्ठुओं, मोक्षवादियों, अध्यात्मवादियों आदि में श्रेणीबद्ध किया जा सकता है। कुछ सुधारक स्वर्णयुग लाने के लिए विभिन्न प्रकार के निदान एवं उपचारों का प्रतिपादन करते हैं। उदाहरणतया, उनमें से कुछ 'शिक्षा' अथवा श्रेष्ठतर शैक्षिक सुविधाओं को हमारी सम्पूर्ण अथवा अधिकांश सामाजिक समस्याओं का समाधान समझते हैं। हेनरी जार्ज (Henry George) ने एकल कर योजना (भूमि पर कर) प्रस्तुत की और ए० ई० विजियन (A. E. Wiggian) ने प्रजाति के प्राणिशास्त्रीय सुधार एवं शारीरिक तथा मानसिक रूप से अयोग्य व्यक्तियों के द्वारा प्रजनन पर प्रतिबन्ध को अधिकांश सामाजिक दोषों का समाधान समझा। कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने पूँजीवादी व्यवस्था को सम्पूर्ण समस्याओं का कारण बतलाया। *वह साम्यवाद को सम्पूर्ण समस्याओं का उपचार समझता था।* उसके अनुसार, साम्यवादी युग स्वर्णयुग होगा जिसमें कोई शोषण अथवा अपराध नहीं होगा और प्रत्येक मनुष्य को उसकी आवश्यकतानुसार सभी वस्तुएँ उपलब्ध होंगी। वार्ड (Ward) सार्वभौमिक शिक्षा एवं ज्ञान के प्रसार को स्वर्णयुग लाने का प्रमुख साधन समझता था। सोरोकिन (Sorokin) के अनुसार, आध्यात्मिक मूल्यों की पुनर्स्थापना में ही व्यक्ति का कल्याण निहित है। टायनबी (Toynbee) के अनुसार, धर्म के सही मूल्यों की क्रियाशील मान्यता ही सर्वनाश से रक्षा एवं पृथ्वी पर रामराज्य की स्थापना कर सकती है।

सामाजिक समस्याओं के समाधान के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। प्रथमतया, किसी समस्या को समाज के सदस्यों द्वारा समस्या माना जाना चाहिए। जैसा हमें विदित है, कुछ कट्टरपंथी किसी स्थिति को समस्या मानने से इंकार कर सकते हैं। कुछ स्वार्थी हित विद्यमान सामाजिक संरचना का समर्थन करते हैं, क्योंकि इससे उनको लाभ प्राप्त होते हैं। कभी-कभी तो ये निहित स्वार्थ यह तर्क प्रस्तुत करते हैं *कि प्रस्तावित उपचार समस्या को दूर करने की अपेक्षा अधिक दोष उत्पन्न कर देंगे।* द्वितीय, कुछ समाज अपनी चिन्तन-पद्धति एवं जीवन-शैली को वैज्ञानिक खोज हेतु अनावृत करना नहीं चाहते। तृतीय, वित्त की भी बाधा हो सकती है। प्रस्तावित सुधारों को क्रियान्वित करने के निमित्त आवश्यक धन उपलब्ध न हो अथवा कुछ लोग संस्थापित लोकाचारों को परिवर्तित करने में किए जाने वाले व्यय का विरोध करें। अन्ततः, क्रियान्वयन-सम्बन्धी समस्या है; हो सकता है हमारे पास सामाजिक समस्या के समाधान-हेतु पर्याप्त ज्ञान हो, परन्तु कार्यान्वयन-हेतु आवश्यक उपकरण एवं साधन न हों।

कुछ विचारक सामाजिक समस्याओं के प्रति लासेज फेयर (Laissez-faire)

उपागम का समर्थन करते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) के अनुसार, मनुष्य स्वयं जीवन की परिस्थितियों के श्रेष्ठतर समायोजन की ओर अग्रसर है, अतएव इस उद्विकासीय प्रक्रिया में हस्तक्षेप उचित नहीं है। समनर एवं कैलर (Sumner and Keller) के अनुसार भी जीवन की परिस्थितियों के साथ मनुष्य का समायोजन स्वाभाविक है। उनके विचारानुसार, विशालस्तरीय प्रभावी आयोजन के परिणाम यदि यह संस्थापित लोकरीतियों एवं लोकाचारों के विपरीत हुआ, गंभीर हो सकते हैं।

इस प्रकार, विचारकों ने सामाजिक समस्याओं के विभिन्न समाधानों को उनके कारणों के बारे में अपनी-अपनी अवधारणा के अनुसार प्रस्तुत किया है। परन्तु जैसा हमने पहले दर्शाया है कि संपूर्ण सामाजिक समस्याओं का एक अकेला समाधान नहीं हो सकता। प्रत्येक सामाजिक समस्या का पृथक् एवं वैज्ञानिक रूप से अध्ययन एवं तदनुरूप उसका समाधान किया जाना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम उस समय तक प्रतीक्षा करते रहें, जब तक सभी कारणों का ज्ञान अथवा उपचार हेतु वैज्ञानिक विधियाँ विकसित न हो जाएँ। सामाजिक समस्याओं का जैसे वे उत्पन्न हों, तुरन्त उपचार किया जाना चाहिए।

६. सामाजिक आयोजन
(Social Planning)

सामाजिक आयोजन एक ऐसा आंदोलन है जिसने हाल में ही महत्ता प्राप्त की है। 'लासेज फेयर' का युग समाप्त हो चुका है; अधिकांश समाजशास्त्रियों का विचार है कि मनुष्य को अपनी समस्याओं के प्रभावी समाधान-हेतु वैज्ञानिक शोध द्वारा खोजित तथ्यों के आधार पर आयोजन करना चाहिए। वे अनुभव करते हैं कि सामाजिक समस्याएं अधिकांशतया मानव-निर्मित होती हैं एवं इनका मनुष्य द्वारा समुचित उपचार किया जा सकता है। अब 'लासेज फेयर' (Laissez-faire) एवं आयोजन के बीच किसी चयन का प्रश्न नहीं है, अपितु श्रेष्ठ एवं अश्रेष्ठ आयोजन का प्रश्न है।

जे० एस० हाइम्स (J. S. Himes) के अनुसार, सामाजिक आयोजन वांछित समझे गए मूल्यों, सम्बन्धों एवं परिस्थितियों को प्राप्त करने हेतु शोध, *विचार-विमर्श, सहमति एवं कार्य को संयुक्त करके विचारशील अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया* है।"[1] एंडरसन एवं पार्कर (Anderson and Parker) के अनुसार, "सामाजिक आयोजन किसी समाज अथवा इसके किसी भाग हेतु पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु निर्मित कार्यक्रम का विकास है।"[2] दूसरे शब्दों में, आयोजन इस बारे में निर्णय है कि हमें क्या करना है, इसे कैसे करना है, इसे किसे करना है तथा इससे प्रभावित लोगों को किस प्रकार सम्मिलित किया जाना है।

1. Himes, Joseph S., *Social Planning in America*, p. 18.
2. Anderson and Parker, *Society*. p. 402.

आयोजन एवं सुधार में अन्तर है। सुधार उपचारीय एवं शोधक होता है, आयोजन अवरोधक एवं सृजनात्मक होता है, यद्यपि इसे प्रायः समुदाय में पूर्व-विद्यमान समस्याओं का उपचार करने हेतु प्रयुक्त किया जाता है। आयोजन निश्चित समय में किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का कार्यक्रम है। आयोजन में कल्पनात्मक प्रत्याशाओं के स्थान पर व्यावहारिक प्रत्याशाओं पर अधिक बल दिया जाता है। भारत सरकार के योजना आयोग के अनुसार, "आयोजन वास्तव में सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने साधनों को संगठित करने तथा उपयोग में लाने की पद्धति है।" सामाजिक आयोजन सामाजिक लक्ष्यों के निर्धारण से आरम्भ होता है; तदुपरात उपलब्ध साधनों को बटोरने एवं उनका प्रयोग करने के बारे में विचार किया जाता है। इस विचारपूर्ण ढंग से निर्मित *कार्यक्रम को आयोजन कहा जाता है।*

अधुनातन काल में आयोजन समस्याओं की जटिलता एवं इसकी बढ़ती हुई संख्या का परिणाम है जो स्वयं प्रौद्योगिकीय सभ्यता की उद्वृद्धि है। अतीत काल मे समस्याओं का स्वरूप इतना जटिल नही था जैसा आजकल है। 'परीक्षण एवं भूल' की विधि द्वारा उनका समाधान कर लिया जाता था। परन्तु सभ्यता की प्रगति एवं विकसित ज्ञान के फलस्वरूप सामाजिक समस्याओं के समाधान-हेतु श्रेष्ठतर एवं अधिक वैज्ञानिक विधियों की खोज की गई। भारत में वैज्ञानिक आयोजन की आवश्यकता स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरांत स्पष्ट हुई। संयुक्त राज्य में इस आवश्यकता को १९३० के मंदी काल में अनुभव किया गया था। फेल्प्स (Phelps) के अनुसार, समकालीन सामाजिक आयोजन (i) सामाजिक समस्याओ की जटिलता एवं महत्ता, (ii) सम्बन्धित लोगों की संख्या, (iii) वित्तीय लागतो की राशि, (iv) पूर्णरूपेण वांछित परिवर्तन एवं (v) विभिन्न समाधानिक विधियों के कारण अभूतपूर्व हैं।

सामाजिक आयोजन का उद्देश्य (Aim of social planning)—सामाजिक आयोजन का स्पष्ट उद्देश्य सामाजिक समस्याओ की पुनरावृत्ति को रोकना एवं समाज के विभिन्न भागो के मध्य सम्बन्धों का समन्वित अनुकूलन उत्पन्न करना है। ओडम (Odum) के अनुसार, सामाजिक आयोजन मूलतः सामाजिक प्रगति का साधन है जिससे उसका अभिप्राय था प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों एवं परिणामित सामाजिक व्यवस्था पर प्रभुत्व, ताकि मानव-उद्विकास की निरन्तरता बनी रहे। सामाजिक आयोजन मानव-जीवन को *श्रेष्ठतर एवं समृद्ध बनाने के* साधनो की व्यवस्था करता है। अतीत के आयोजन, जिसका मुख्य आधार अनुमान एवं प्रबोधन होता था, की तुलना में वर्तमानकालीन आयोजन वैज्ञानिक शोध पर आधारित है और इसका *उद्देश्य कार्यक्रम के रूप में एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत* करना है। सी० सी० नार्थ (C. C. North) के अनुसार, सामाजिक आयोजन का उद्देश्य हमारी संस्कृति को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुसार अनुकूलित करना है। बार्न्स (Barnes) एवं अन्य समाजशास्त्रियों का मत है कि सामाजिक आयोजन का उद्देश्य जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के साथ संस्थाओं के अनुकूलन द्वारा हमारी सामाजिक संस्थाओ को हमारी भौतिक संस्कृति से पृथक् करने वाली *विभाजन-रेखा*

को समाप्त करना है। जैसा हमने ऊपर वर्णित किया है, हमारी अनेक समकालीन समस्याओं का कारण सांस्कृतिक विलम्बना है, प्रौद्योगिकी एवं सामाजिक संस्थाओं के बीच विलम्बना है। प्राकृतिक स्रोतों का दुरुपयोग, धर्म का ह्रास, पारिवारिक जीवन का विघटन, निर्धनता, अपराध एवं मानसिक रोग की उच्च दर मुख्यतः सांस्कृतिक विलम्बना के परिणाम हैं। अतएव सामाजिक आयोजन का प्रथम उद्देश्य भौतिक संस्कृति एवं सामाजिक संस्थाओं के मध्य व्यापक अन्तर को दूर करना है। इस अन्तर को समाप्त करने के उपरांत सामाजिक आयोजन समाज के सम्मुख अन्य समस्याओं का प्रभावी ढंग से समाधान करने पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है।

सामाजिक आयोजन की कठिनाइयाँ (Difficulties of social planning)—आरम्भिक समाजशास्त्रियों, यथा स्पेंसर, का मत था कि नियंत्रण न तो संभव है और न ही वांछनीय। उसके अनुसार, समाज का उदविकास प्राकृतिक-नियमों के अनुसार होता है एवं हस्तक्षेप स्थिति को खराब कर देता है। समनर एवं कैलर (Sumner and Keller) ने लिखा है कि "वस्तुओं का अपना प्राकृतिक क्रम है, मानव-समाज प्राकृतिक नियमानुसार कार्य करता है तथा स्वैच्छिक हस्तक्षेप न तो इन नियमों को बदल सकता है और न प्राकृतिक शक्ति को नष्ट कर सकता है। यह तो केवल इसके मार्ग अथवा इसके प्रभाव में परिवर्तन कर सकता है।" दूसरी ओर, काम्टे (Comte) का विश्वास था कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। वार्ड (Ward) ने सामाजिक वाद (thesis) के अपने सिद्धान्त द्वारा सामाजिक आयोजन के महत्व एवं इसकी संभाव्यता पर बल दिया। अधुनातन वर्षों में आयोजन के क्षेत्र मे अनुभव से निम्नलिखित कुछ कठिनाइयों का पता लगा है—

(i) **भावुक सामग्री** (Emotional raw-material)—प्रथम कठिनाई मानव-समाज की क्रिया को भली प्रकार समझने से संबंधित है। अनेक सामाजिक समस्याओं में अत्यन्त भावुक सामग्री निहित होती है जिसके बारे में बहुधा मतभेद होता है। आर्थिक आयोजन के क्षेत्र में लक्ष्य सुनिश्चित एवं स्थूल होते हैं एवं साधनो का सुगमता से परीक्षण किया जा सकता है, परन्तु सामाजिक आयोजन के क्षेत्र में अनेक सामाजिक प्रश्न, यथा तलाक, विधवा-पुनर्विवाह, वेश्यावृत्ति आदि अतिविवाद-ग्रस्त होते हैं। जब तक हमारे पास समाज के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही होता, सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। समाज का अध्ययन विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक, पूर्णतया वैज्ञानिक होना चाहिए। अध्ययनकर्ता समस्या का पूर्ण अनासक्ति से अध्ययन करे। समाज के वैज्ञानिक अध्ययन में धैर्य एवं कठिन परिश्रम की आवश्यकता है जिसका हमारे अधिकांश सामाजिक आयोजकों में अभाव है। यदि हमारे पास सामाजिक परिघटना से संबधित पर्याप्त वस्तुपरक आंकड़े नही हैं तो हम दूरदर्शी एवं सम्यक् नियोजित कार्यक्रम नही बना सकते।

(ii) **वैज्ञानिक अध्ययन का अभाव** (Scientific study lacking)—दूसरी कठिनाई यह विश्वास है कि मानवी सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है। अनेक लोगो का विचार है कि सामाजिक समस्याओं के समाधान प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात हैं, केवल उन्हें कार्यान्वित करने का प्रश्न है। आवश्यकता सामाजिक समस्याओं

के वैज्ञानिक अध्ययन की नहीं है, अपितु मनुष्यों के हृदय-परिवर्तन की है। परन्तु केवल हृदय-परिवर्तन से सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। मनुष्यों के हृदय में कोई दोष नहीं है, उनमें सदा भूख से स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रही है। बेरोजगारी की समस्या का केवल मात्र इच्छा से समाधान नहीं हो सकता। इसके समाधान-हेतु हमारे स्रोतों के वैज्ञानिक अध्ययन एवं समुचित आयोजन की आवश्यकता है। इसी प्रकार, युद्ध एवं अपराध की समस्याओं का समाधान भी इनके कारणों के वैज्ञानिक अध्ययन तथा उनके उपचार-हेतु सुनिश्चित विधियाँ विकसित करने से ही हो सकता है। बहुधा, आयोजन अत्यधिक उत्साह, परन्तु नगण्य आँकड़ों से आरम्भ होता है। प्रभावी आयोजन में समस्या को जन्म देने वाली परिस्थितियों, प्रस्तावित कार्यक्रम के सम्भाव्य परिणामों एवं बाधाओं के पूर्णरूपेण अध्ययन की आवश्यकता है। समुचित वैज्ञानिक अध्ययन के बिना आयोजन अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल नहीं होगा।

(iii) **कार्यकर्ताओं का अभाव** (Lack of workers)—तीसरी कठिनाई सामाजिक आयोजन के कार्य को करने हेतु संगठन एवं कार्यकर्ताओं का अभाव है। सामाजिक पुनर्गठन के कार्य में सहनशील, सत्यनिष्ठ एवं कल्पनाशील व्यक्तियों की आवश्यकता है। हम एक-दूसरे के गुणों के बारे में बहुत कम जानते हैं। आधुनिक समाज में अत्यधिक निगूढ़ता है। स्वार्थ एवं आत्मवर्धन की भावना इतनी प्रबल कभी नहीं रही, जितनी आजकल है। सत्यनिष्ठा आधुनिक समाज की परम आवश्यकता है। सत्यनिष्ठा समाज का आधार है; जब सत्यनिष्ठा समाप्त हो जाती है, समाज टूट जाता है। सामाजिक कार्यकर्ता ऐसे व्यक्ति होने चाहिए, जिन पर पूर्ण रूप से विश्वास किया जा सके, जो चाँदी के कुछ सिक्कों के लिए अपनी आत्मा को नहीं बेचेंगे तथा जिनकी नैतिक भावना दृढ़ हो। सामाजिक आयोजन में उच्च प्रकार के सेना-जैसे संगठन की आवश्यकता है जिसमें पूर्ण अनुशासन, यद्यपि स्वतन्त्रता का अभाव होता है। योजना के सफल क्रियान्वयन-हेतु सत्ता के केन्द्रीकरण की आवश्यकता होती है। **सर आर्थर सोटर** (*Sir Arthur Sotter*) का मत है कि प्रजातांत्रिक संसदीय सरकार आयोजन नहीं कर सकती, यह केवल कामचलाऊ व्यवस्था कर सकती है।

(iv) **निहित हित** (Vested interests)—हम यह भी देखते हैं कि सामाजिक आयोजन का निहित हितों द्वारा विरोध किया जाता है जिसका शासकीय तंत्र पर शक्तिशाली प्रभाव होता है। सामाजिक आयोजन को क्रियान्वित करते समय समाज में कोई भी परिवर्तन कुछ संस्थापित समूहों के हितों के लिए हानिकारक हो सकता है, परन्तु सम्पूर्ण के हितों को कुछेक लोगों के हितों के लिए बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। निहित हितों का कठोरता से दमन होना चाहिए, ताकि वे विशालतम हित के मार्ग में बाधा न उत्पन्न करें।

(v) **जनता की विरक्ति** (Apathy of the masses)—जनता की विरक्ति एवं उदासीनता सामाजिक आयोजन की अंतिम कठिनाई है। यदि जनता सामाजिक परिघटना को वस्तुपरक दृष्टि से नहीं देखती एवं सामाजिक नीति के

निर्माण एवं प्रशासन में सहयोग नहीं देती तो आयोजन का अधिक लाभ नहीं होगा। यह नहीं भूलना चाहिए कि सामाजिक आयोजन केवल अधिकारियों अथवा विशेषज्ञों का दायित्व नहीं है, अपितु इसमें लोगों का निरन्तर सहयोग भी अपेक्षित है। मनुष्य या तो सामाजिक समस्याओं से परिचित नहीं होते अथवा यदि वे परिचित हैं तो उनका मत अपूर्ण पर्यवेक्षणकारी, पूर्वाग्रहों अथवा जनश्रुति पर आधारित होता है। सामाजिक आयोजन को अर्थपूर्ण बनाने हेतु इसका आधार पर्याप्त संख्या में शिक्षित व्यक्ति होने चाहिए जिन्हे सामाजिक परिघटना को बुद्धिमत्तापूर्वक पर्यवेक्षित करने एवं वैज्ञानिक ढंग से निर्णयों पर पहुँचने में प्रशिक्षित किया गया है।

७. भारत में सामाजिक आयोजन
(Social Planning in India)

सामाजिक आयोजन के मार्ग मे अनेक कठिनाइयों के बावजूद अन्य देशों की भाँति भारत में भी आयोजन-आंदोलन प्रगति कर रहा है। मार्च, १९५० में भारत सरकार द्वारा स्थापित योजना आयोग देश में सामाजिक आयोजन का कार्यक्रम तैयार करता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में 'सामाजिक कल्याण' शीर्षक के अंतर्गत ४ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे १३·४० करोड रुपये सामाजिक कल्याण-हेतु नियत किए गए। तृतीय पंचवर्षीय योजना में यह राशि १९·४० करोड कर दी गई। तीन वार्षिक योजनाओ (१९६६-६९) मे १२.०८ करोड रुपये सामाजिक कल्याण पर व्यय किए गए। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (१९६९-७४) में ८८.९४ करोड़ रुपये 'सामाजिक कल्याण' के लिए निश्चित किए गए। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (१९७४-७९) में ८६.१३ करोड़ रुपये 'सामाजिक कल्याण' के अंतर्गत दिखलाए गए हैं। १९७८-८३ की योजना के प्रारूप मे १३०.५० करोड़ रुपये 'सामाजिक कल्याण' शीर्षक के अधीन उल्लिखित किए गए हैं।

सामाजिक कल्याण विभाग, जिसका १९६४ में केन्द्रीय सरकार के अधीन निर्माण किया गया था, सामान्य सामाजिक कल्याण के लिए उत्तरदायी है। यह सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों की योजना तैयार करता है और भारत सरकार, राज्य सरकारों एवं ऐच्छिक राष्ट्रीय अभिकरणों की सामाजिक सेवाओं के मध्य समन्वय का कार्य करता है।

अगस्त, १९५३ में भारत सरकार द्वारा सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में प्रचलित गतिविधियों को दृढ़ बनाने, उन्नत एवं विस्तृत करने हेतु ऐच्छिक सामाजिक संगठनों में धनराशि विभाजित करने के लिए केन्द्रीय सामाजिक कल्याण परिषद् की स्थापना की गई। यह परिषद् नई कल्याणकारी गतिविधियों की आवश्यकता की खोज एवं उन्हें क्रियान्वित करने की संभाविता को मालूम करने का कार्य भी करती है। परिषद् एक स्वायत्त संस्था है। सभी राज्यों में कल्याणकारी परिषदों की स्थापना की गई है जिनमें स्त्री सामाजिक कार्यकर्ता एवं राज्य-सरकारों के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं।

१५ अगस्त, १९५४ को ग्रामीण कल्याण की एक योजना 'कल्याण विस्तार

परियोजना' के नाम से आरम्भ की गई। प्रत्येक परियोजना में लगभग २५ देहातों एवं २०,००० की जनसंख्या का समूह सम्मिलित है। इन परियोजनाओं के कार्यक्रम एवं गतिविधियों में प्रसूतिका एवं शिशु की स्वास्थ्य-सेवाएँ, अपंगों एवं अपराधियों की सेवाएँ, स्त्रियों के लिए साहित्यिक एवं सामाजिक शिक्षा, कला एवं शिल्प केन्द्रों की स्थापना तथा मनोरंजन-सम्बन्धी गतिविधियाँ सम्मिलित हैं।

नगरीय क्षेत्रों में नारी-कल्याण को उन्नत करने हेतु नगरीय परिवार कल्याण योजना आरम्भ की गई है। इस योजना के अंतर्गत चयित नगरीय क्षेत्रों में लघु उद्योग चलाने हेतु औद्योगिक सहकारी समितियों की स्थापना की गई है। प्रत्येक उद्योग निम्न मध्यवर्गीय परिवारों की लगभग ५०० स्त्रियों को रोजगार देता है। परिषद् ने बच्चों के लिए 'अवकाश-गृहों' (holiday homes), बेघर लोगों के लिए 'रैन बसेरे' (right shelters), जनजातीय स्त्रियों के लिये प्रशिक्षण-केन्द्रों एवं प्रौढ़ स्त्रियों के लिये संक्षिप्त पाठ्यक्रम आदि परियोजनाओं को भी अपने हाथों में लिया है।

अगस्त १९६१ में सुधारक सेवाओं के केन्द्रीय ब्यूरो (Central Bureau of Correctional Services) की स्थापना की गई। इस ब्यूरो के प्रमुख कार्य हैं—अपराध रोकने एवं अपराधियों के उपचार से सम्बन्धित क्षेत्र में शोध, अध्ययन, प्रशिक्षण एवं सर्वेक्षणों को प्रोत्साहित करना; विदेशी सरकारों एवं संयुक्त राष्ट्र अभिकरणों के साथ सूचना का आदान-प्रदान करना; राष्ट्रीय स्तर पर आँकड़ों के एकत्रीकरण का मानकीकरण करना एवं एकरूप नीति का विकास एवं समन्वय करना। यह एक त्रैमासिक पत्रिका 'Social Defence' भी प्रकाशित करता है। कुछ राज्यों में सुधारक सेवाओं पर राज्य-परामर्शदात्री परिषदों की स्थापना भी की गई है।

सुरक्षा-आश्रम (After-care homes)—सुरक्षा-कार्यक्रमों पर नियुक्त परामर्शदात्री समिति तथा सामाजिक एवं नैतिक परामर्शदात्री समिति की सिफारिशों के आधार पर सुधार-गृहों एवं असुधार-गृहों से मुक्त व्यक्तियों तथा बलात् अपहरण से बचाई गई स्त्रियों एवं लड़कियों को समुचित प्रशिक्षण प्रदान करने एवं उनकी अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने तथा उनके आर्थिक पुनर्वास-हेतु आवश्यक सहायता प्रदान करने के लिए सुरक्षा-आश्रमों की स्थापना की गई है। बन्दियों के पुनर्वास में सहायता देने तथा उनके एवं उनके परिवारों के मध्य सम्पर्क बनाए रखने के लिए बंदी-गृहों में कल्याण अधिकारियों की नियुक्ति की गई है।

मद्य-निषेध (Prohibition)—भारतीय संविधान ने राज्यों से अपेक्षा की है कि वे शीघ्र से शीघ्रतर देश में मादक वस्तुओं एवं औषधियों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा कर मद्य-निषेध की नीति को कार्यान्वित करें। योजना आयोग ने तदर्थ एक आंतरिक कार्यक्रम तैयार किया है जिसके अंतर्गत प्रत्येक राज्य को छूट दी गई है कि वह स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी नीति का निर्माण करे एवं लक्ष्यपूर्ति की तिथि नियत करे। पिछले कुछ दिनों मद्य-निषेध के प्रश्न पर गम्भीर विचार-विमर्श किया गया है। जनता दल की सरकार ने

श्री मोरारजी देसाई के प्रधानमंत्रित्व में राज्यों को परामर्श दिया है कि वे आगामी पांच वर्षों तक मद्य-निषेध को पूर्ण रूप से लागू कर दें। कुछ राज्यों ने इस परामर्श के अनुसार कार्य करना आरम्भ कर दिया है और कुछेक क्षेत्रों एवं दिवसों को मद्य-निषेधी घोषित किया है।

बाल-अपराध (Juvenile delinquency)—बाल-अपराध की समस्या के समाधान-हेतु सभी राज्यों ने बाल अधिनियम (Children's Act) पारित किए हैं। लगभग सभी राज्यों ने अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, १९५८ (Probation of Offenders Act) के अंतर्गत नियमों का निर्माण किया है। आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, केरल, मद्रास, मैसूर, पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों मे 'बोर्स्टल स्कूल ऐक्ट' (Borstal School Act) लागू है। १८९७ का 'सुधारक स्कूल ऐक्ट' (Reformatsry Schools Act) भी सभी बड़े राज्यों एवं संघीय प्रदेशों में प्रचलित है। सुधारक एवं बोर्स्टल स्कूलों के निवासियों को औपचारिक शिक्षा के अतिरिक्त अनेक धन्धो में व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है। इनमें से कुछ संस्थाएँ बाल-अपराधियों को उनकी मुक्ति पर उपकरण एवं धन देती हैं, ताकि वे स्कूल मे सीखे गए व्यवसायों को आरम्भ कर सकें एवं अपना जीवन-निर्वाह कर सकें।

हरिजन-कल्याण (Harijan welfare)—अनुसूचित एव पिछड़ी जातियों के लोगों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को उन्नत करने तथा कुछेक सामाजिक अयोग्यताओं को समाप्त करने हेतु हरिजन कल्याण योजनाओं का निर्माण एवं आरम्भ किया गया है। समाज कल्याण विभाग के अंतर्गत पिछड़ी जातियों के सामान्य निदेशक के नियंत्रण मे एक पृथक् संगठन की स्थापना की गई है जिसका कार्य इन जातियों के कल्याण हेतु योजनाओ का निर्माण करना, इनके क्रियान्वयन की प्रगति को देखना एवं राज्यों के साथ आवश्यक सम्पर्क बनाए रखना है। हरिजन कल्याण तथा जनजातीय कल्याण के विषयों पर भारत सरकार को परामर्श देने एवं तदर्थ योजनाएँ बनाने हेतु दो केन्द्रीय परामर्शदात्री निकायों को निर्मित किया गया है। राज्यों मे कल्याण विभाग की स्थापना की गई है जिसका प्रभारी एक मंत्री होता है। राज्यों ने इन जातियो के लिए विभिन्न कल्याणकारी योजनाएँ आरम्भ कर रखी हैं। लोक सभा एव विधान सभाओ में इन जातियो के लिए स्थान आरक्षित हैं। स्थानीय संस्थाओं मे भी आरक्षण की व्यवस्था है। सरकारी सेवाओं मे रिक्त स्थानो का कुछ निश्चित प्रतिशत इन जातियो के लिए आरक्षित रखा जाता है। व्यावसायिक विद्यालयों मे कुछ प्रतिशत प्रवेश इन जातियों के अभ्यर्थियों को दिए जाते है और उन्हें छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं।

बेरोजगारी (Unemployment)—बेरोजगारी की समस्या का अध्ययन एवं समाधान करने हेतु एक पृथक् मंत्रालय, श्रम एवं रोजगार मंत्रालय का निर्माण किया गया है। जैसा कि पूर्व उल्लिखित किया गया है, भारत में बेरोजगारी की स्थिति अत्यधिक गम्भीर है। रोजगार की समस्या को हल करने के लिए १९६५ में रोजगार सेवा का आरम्भ किया गया जिसके अंतर्गत रोजगार कार्यालयो की स्थापना की गई। ये कार्यालय रोजगार ढूंढने वाले व्यक्तियों को सहायता प्रदान करते है। इन कार्यालयो द्वारा प्रदत्त सेवा को उन्नत करने के लिए अनेक योजनाओ, यथा

(i) रोजगार-सम्बन्धी सूचना एकत्रित करना, (ii) व्यावसायिक अनुसंधान एवं विश्लेषण, (iii) प्रशिक्षण-सुविधाओं से सम्बन्धित हस्तपुस्तिकाओं एवं आजीवन लघु पुस्तिकाओं का प्रकाशन, (iv) व्यावसायिक मार्गदर्शन एवं रोजगार-सम्बन्धी परामर्श, तथा (v) मौखिक परीक्षण के विकास को कार्यान्वित किया गया है।

इस प्रकार, भारत में अनेक सामाजिक समस्याओं के समाधान-हेतु विभिन्न योजनाओं का निर्माण किया गया है। आयोजन आंदोलन आगे बढ़ रहा है, परन्तु यह आंदोलन सामाजिक क्षेत्र की अपेक्षा आर्थिक क्षेत्र में अधिक दृश्यमान है। जैसा ऊपर वर्णित किया गया है, योजना आयोग जो मुख्यतः आर्थिक आयोजन के लिए स्थापित किया गया था, सामाजिक आयोजन का कार्यक्रम भी तैयार करता है। यह सामाजिक आयोजन के साथ सौतेला व्यवहार करता है। हमारी सामाजिक समस्याएँ जटिल हैं और उनका आकार भी विशाल है, अतएव उनका समुचित समाधान हतोत्साही प्रयत्नों एवं सौतेले व्यवहार से नहीं किया जा सकता। उन्हें सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना में शीर्ष प्राथमिकता मिलनी चाहिए। तदर्थ एक पृथक् सामाजिक योजना आयोग की स्थापना की जा सकती है जो विविध सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर व्यावहारिक कार्यक्रम का निर्माण करेगा। यथेष्ठ साधनों की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। देश को ऐसे व्यक्तियों की भी अत्यावश्यकता है जो आत्म-निरीक्षण के अभ्यस्त हैं, कपोल-कल्पना की अपेक्षा तथ्यों के आधार पर अपने मत का निर्माण करते हैं एवं सामाजिक समस्याओं का निर्लिप्त एवं वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करते हैं। यदि हम अपनी सामाजिक समस्याओं का वास्तविक रूप मे निवारण चाहते हैं तो आगामी वर्षों में व्यापक, व्यावहारिक, सुसमेकित एवं यथेष्ठ वित्तयुक्त योजनाओं का निर्माण और उन्हें अंतर्विवेकशीलता से कार्यान्वित करना होगा।

प्रश्न

१. सामाजिक आयोजन से क्या तात्पर्य है? सामाजिक आयोजन की अवधारणा के विकास का वर्णन कीजिए।

२. बेरोजगारी, अपराध एव निर्धनता का सोदाहरण संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

३. सामाजिक समस्याओ के समाधान-हेतु आपके क्या सुझाव हैं?

४. 'भारत में सामाजिक आयोजन' पर एक निबन्ध लिखिए।